

वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली



क्रम संख्या

~~222~~

030.5

वा.नं.

काल नं०

खण्ड

जैन-लक्षणावली

(जैन पारिभाषिक शब्द-कोश)

प्रथम भाग (अ-घो)

सम्पादक
बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

प्रकाशक
वीर सेवा मन्दिर
२१, दरियागंज
दिल्ली-६

प्रथम संस्करण
प्रति ११००

}

वी. वि. संवत् २४६७
विष्णु संवत् २०२८
सन् १९७१

}

मूल्य
२५-००

प्रकाशक
वीर-सेवा-मन्दिर
२१, बरियागंज
दिल्ली-६

प्रथम संस्करण

१९००

मूल्य २५-००

मुद्रक :—

रूपवाणी प्रिंटिंग हाऊस

२३, बरियागंज

दिल्ली-६

कॉपीराइट प्रिंटिंग एजेंसी

JAIN LAKṢAṆĀVALI

(An authentic dictionary of Jain technical words)

Vol. I (Vowels' Part)

EDITED BY

BALCHANDRA SIDDHĀNTASHASTRI

PUBLISHED BY

VIR SEWA MANDIR

21, Daryaganj, Delhi

First Edition
1100 Copies

}

Vir Samvat 2497
V. Samvat 2028
A.D. 1971

Price Rs. 25-00

ग्रन्थानुक्रम

प्रकाशकीय	६
Fore Word	VII
बो शब्द	११
सम्पादकीय	१४
प्रस्तावना	१-८८
लक्षणावली की उपयोगिता	१
लक्षणावली में स्वीकृत पद्धति	"
ग्रन्थ-परिचय	२-६६

१ षट्संख्यसंग्रह (२), २ कसायपाहुड (५), ३ समयप्राभृत (५), ४ प्रवचनसार (६), ५ पंचास्तिकाय (६), ६ नियमसार (७), ७ दर्शनप्राभृत (७), ८ चारित्रप्राभृत (७), ९ बोधप्राभृत (८), १० भावप्राभृत (८), ११ योक्षप्राभृत (९), १२ द्वादशानुप्रेक्षा (११), १३ मूलाचार (११), १४ भगवती आराधना (१५), १५ तत्त्वार्थसूत्र (१६) १६ तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (१६), १७ पञ्चमचरित्र (१६), १८ घाप्तमीमासा (१७) १९ युक्त्यनुशासन (१७), २० स्वयंभूस्तोत्र (१८), २१ ग्दन्तकगण्डक (१८), २२ सर्वार्थसिद्धि (१८), २३ समाधितत्र (१९), २४ इष्टोपदेश (१९), २५ तिनोयपण्णत्तो (२०), २६ आचारारंग (२३), २७ सूत्रकृतानां (२५), २८ स्थानानां (२५), २९ समवायाग (२६), ३० व्याख्याप्रज्ञप्ति (२६), ३१ प्रवन्व्याकरणार्णग (२७), ३२ विपाकसूत्राग (२७), ३३ श्रौपपातिकसूत्र (२७), ३४ राजप्रवनीय (२८), ३५ जीवाजीवाभिगम (२९), ३६ प्रज्ञापनासूत्र (२९), ३७ सूर्यप्रज्ञप्ति (३०), ३८ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (३०), ३९ उत्तराध्ययनसूत्र (३०), ४० श्रावण्यकसूत्र (३१), ४१ दशवैकालिक (३२), ४२ पिण्डनियुक्ति (३४), ४३ श्रोत्रनियुक्ति (३४), ४४ कल्पसूत्र (३४), ४५ बृहत्कल्पसूत्र (३६), ४६ व्यवहारसूत्र (३६), ४७ नन्दीसूत्र (३७), ४८ अनुयोगद्वार (३७), ४९ प्रशमरतिप्रकरण (३८), ५० विशेषावश्यकभाष्य (३८) ५१ कर्मप्रकृति (३९), ५२ क्षान्तप्रकरण (४०), ५३ उपदेशरत्नमाला (४१), ५४ जीवसमास (४१), ५५ ऋषिभाषित (४३), ५६ पाक्षिकसूत्र (४३), ५७ ज्योतिषप्रकरण (४४), ५८ वि. प्राकृत पञ्चसंग्रह (४४), ५९ परमात्मप्रकाश (४४), ६० सन्मति-सूत्र (४४), ६१ व्यायावतार (४६), ६२ तत्त्वार्थवातिक (४७), ६३ लघीयस्थय (४७), ६४ न्याय-विनिश्चय (४८) ६५ प्रमाणसंग्रह (४८), ६६ निद्धिविनिश्चय (४८), ६७ पञ्चपुराण (४८), ६८ वरागचरित (४८), ६९ हरिवंशपुराण (४९) ७० महापुराण (४९), ७१ प्रमाणपरीक्षा (५०), ७२ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (५०), ७३ आत्मानुशासन (५०), ७४ धर्मसंग्रहणी (५०), ७५ उपदेशपद (५१), ७६ श्रावकप्रज्ञप्ति (५१), ७७ धर्मबिन्दुप्रकरण (५२), ७८ पञ्चाशक (५२), ७९ षट्संख्य-समुच्चय (५३), ८० शास्त्रवार्तिसमुच्चय (५३), ८१ शोडशकप्रकरण (५४), ८२ श्रष्टकानि (५४), ८३ योगदृष्टिसमुच्चय (५४), ८४ योगबिन्दु (५४), ८५ योगविशिका (५४), ८६ पञ्चवस्तुक (५५), ८७ तत्त्वार्थसूत्रवृत्ति (५६), ८८ भावसंग्रह (५६), ८९ आलापपद्धति (५६), ९० तत्त्वसार (५६), ९१ नेयचक्र (५७), ९२ आराधनासार (५७), ९३ द्वे. पञ्चसंग्रह (५८), ९४ सप्ततिकाप्रकरण (५९),

६५ कर्मविपाक (६०), ६६ गोम्मटसार (६०), ६७ लब्धिसार (६४), ६८ त्रिलोकसार (६५),
६९ स्वे. पंचसंग्रह (६६), १०० जंबूदीपपण्णत्ती (६७), १०१ कर्मस्तव (६९), १०२ षडशीति (६९),

लक्षणबैशिष्ट्य	७०-८५
प्राकृत शब्दों की बिकृति और उनका संस्कृत रूपान्तर	८६-७
शुद्धि-पत्र	८८
जैन-लक्षणावली (अ-श्री)	१-३५२
परिशिष्ट	१-२२
लक्षणावली में उपयुक्त ग्रन्थों की अनुक्रमणिका	१
ग्रन्थकारानुक्रमणिका	१७
शताब्दीक्रम के अनुसार ग्रन्थकारानुक्रमणिका	२०

प्रकाशकीय

जैन लक्षणावली (जैन पारिभाषिक शब्दकोश) नामक कोश के बनाने का विचार सन् १९४० में मुस्तार सा. ने किया था। उसके बाद लक्ष्य शब्द और लक्षणों का संकलन शुरू हुआ, उसके बाद १०-१२ वर्ष तक तो उसका कार्य संशोधन, सम्पादन और हिन्दी अनुवाद के लिए पड़ा रहा। बाद में अन्य कार्यों में संलग्न रहने के कारण मुस्तार साहब को अवसर नहीं मिला, कमेटी में लक्षणावली के प्रकाशनादि के सम्बन्ध में विचार घाने, और प्रेरणा मिलने पर भी अन्य आवश्यक कार्यों में लग जाने से सम्पादन और प्रकाशन का कार्य अनिश्चित समय के लिए टलता ही रहा।

सन् १९५६ में पं. हीरालाल जी सिद्धान्त-शास्त्री की नियुक्ति वीर सेवा मन्दिर में की गई, और लक्षणावली का कार्य उन्हें सौंपा गया। किन्तु पाँच वर्ष के समय में भी उक्त कोश का एक भाग भी प्रकाशन के योग्य नहीं हो पाया। तब सन् १९६१ में बाबू छोटेलाल जी ने पं. दीपचन्द जी पाण्डेया की नियुक्ति लक्षणावली के लिए की, किन्तु वे भी सन् ६२ में अपने कार्यवश बीच में ही चले गए। इससे कार्य कुछ प्रगति न कर सका। लक्षणावली के प्रकाशन की चिन्ता बराबर बनी रही। खेद है कि बाबू छोटेलाल जी और पं. जुगलकिशोर जी मुस्तार अपने जीवनकाल में लक्षणावली का प्रकाशन नहीं देख सके। वीर सेवा मन्दिर की वर्तमान कमेटी ने साहू शान्तिप्रसाद जी की अध्यक्षता में लक्षणावली को प्रकाशित करने का दृढ़ निश्चय किया।

सन् १९६६ में पं. बरबारीलाल जी कोठिया की प्रेरणा से पं. बालचन्द जी सिद्धान्त-शास्त्री की नियुक्ति वीर सेवा मन्दिर में हुई, तब से लक्षणावली के संशोधन, सम्पादन और अनुवाद का कार्य व्यवस्थित चला और प्रथम खण्ड के योग्य सामग्री की प्रेसकापी कराकर उसे प्रेस में दे दिया गया। ३३-३४ फार्म छपने के बाद पं. बालचन्द जी अस्वस्थतावश घर चले गये, और वहाँ बहुत दिनों तक बीमार रहे। अन्त में स्वस्थ होकर १० महीने के बाद वे घर से वापिस आये और तब आगे का प्रकाशनकार्य शुरू हुआ। इस प्रकार अब उसका प्रथम खण्ड छप कर तैयार हो गया है।

इस लाक्षणिक कोश के निर्माण करने और सम्पादनादि में विपुल खर्च हुआ। श्रम और अर्थ-व्यय के साथ परेशानी भी उठानी पड़ी। यह लाक्षणिक कोश दिगम्बर-श्वेताम्बर चार सौ ग्रंथों पर से तैयार किया गया है। प्रस्तुत कोश जहाँ रिसर्च स्कालरों के लिए सुगमता प्रदान करेगा, वहाँ स्वाध्याय-प्रेमियों और तुलनात्मक अध्ययन करने वालों के लिए भी अत्यन्त लाभप्रद होगा।

ऐसे महान् कार्यों में समय और शक्ति अधिक लगानी पड़ती है, तभी ऐसे महान् कार्य सम्पन्न हो सकते हैं। मैंने इस कार्य के लिए बिलम्ब की परवाह नहीं की, और विद्वानों को बराबर प्रेरणा देता रहा तथा जिस तरह भी हो सका, कार्य में यथासाध्य सहयोग दिलाता रहा। यह निश्चित है कि महान् कार्यों में विघ्न-बाधाएँ आती हैं और समाप्त हो जाती हैं, मनुष्य अपने ध्येय की सिद्धि में जुटा रहे तो वह कार्य सम्पन्न हुए बिना नहीं रहता।

इस ग्रन्थ का प्राक्कथन (Foreword) लिखने के लिए कई विद्वानों से प्रेरणा का गई, किन्तु वे समयाभाव से उसे न लिख सकें। तब श्री डा. दयानन्द जी भार्गव, संस्कृत विभागाध्यक्ष रामजस कालेज मोरिस नगर से प्राक्कथन लिखने के लिए निवेदन किया गया, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया और लिखकर मेरे पास उसे भिजवा भी दिया। इसके लिए मैं अपनी ओर से व संस्था की ओर से उन्हें बहुत धन्यवाद देता हूँ।

प्रेमचन्द जैन (कशमीरवाले)

अम्मी वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली

Foreword

The aim of the *Dictionary of the Technical Terms of Jainism (Jaina lakṣaṇavali)* is to provide at one place the different definitions of terms, which have been used in the works of Jainism during the last 2500 years. These definitions have been carefully collected from 351 authoritative works of *Prākṛta* and *Saṃskṛta* and are sometimes so detailed that they can be more appropriately called descriptions rather than definitions. There can be, however, no doubt about their authenticity, because they are taken verbatim from the Scriptures.

The technical terms, included in this Dictionary, can be, broadly speaking, classified into five categories :

- (i) Terms which are exclusively used in the writings of Jainism, e.g. *ṛjusūtranaya*, *avaya* etc.
- (ii) Terms which are used in both, the Jaina and the non-Jaina systems, but the Jainas use them in altogether a different sense, e.g. *adharma* etc.
- (iii) Terms which are used in Jaina and non-Jaina systems in more or less the same sense, e.g. *ahimsa*, *asatya* etc.
- (iv) Terms which are used in Jaina and non-Jaina systems in a sense which is basically the same but the philosophical concepts, they convey, differ, e.g. *anu*, *apavarga* etc.
- (v) Terms which are used in day-to-day language also, but which have been adopted by the Jain thinkers to give a peculiar meaning, e.g. *ārambha*, *upayoga* etc.

All the categories, mentioned above, can be included under one category of technical terms, because they have been adopted or invented by the specialists to give precise expression to certain notions and they convey that notion only to a person who is familiar with the subject and not merely with the language. Though the etymologies of such words are also sometimes helpful in their understanding and are sometimes given by the ancient authors, (e.g. see *Indriya* (p. 233) yet these seldom convey the real sense.

In fact, the words of a language are only symbols, conveying a notion, which has to be understood mentally rather than expressed verbally. It is perhaps with reference to those who stick only to the literal dictionary meaning of a word and cannot mentally picture the notion for which it really stands, that the *R̥gvedic* poets declared : 'one sees not the speech even though seeing it ; one hears Her not

even though hearing it, but to another She reveals Her form like a loving wife, finely robed to her husband'—

उत त्वः परमन् ददर्श वाचमुत त्वः शुक्लन् शुक्लोत्पेनाम् ।

उत त्वस्मै तन्म विस्मये जायेच पत्य जसती सुभासाः ॥

—*Rgveda* 10-171-4

The fact is that our understanding of a word or a sentence is always hindered by our prejudices and pre-concepts about a problem and the proper understanding of a word requires a mind free from all prejudices. This is why the ancient Indian philosophers believed that one who masters the reality of the word, attains the Supreme Reality—*शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति*. If we look at the present work from this point of view, it is not merely a compilation work but a work of independent significance.

Sri Balacandra Sastri, the editor of this *Dictionary*, has done his work in the spirit of a devotee of *śabdabrahman*. This is evident from his introduction running into 87 pages, where he has shown a keen interest in the history of words. The words may expand or contract their meanings by the passage of time. The definitions of words undergo changes as and when they are criticised by the opponent. *Sri Sastri* has critically examined the definitions of about 25 such words or word-pairs, where the definitions have undergone changes. He has shown a rare quality of non-sectarian approach even while dealing with such controversial words as *acelaka* (pp. 70-71).

Sri Sastri has also given a historical account of 102 works, which have been utilised in the preparation of the present work. This account is full of valuable information and is very helpful in making a historical study of the definitions collected in the main body of the *Dictionary*. In this account, however, I feel that ancient texts like *Ācāraṅgasūtra* should have been placed before late works like *Trilokaprajñpti*. In fact, it is a sectarian problem. *Digambara* authors sometimes do not give due importance to the *Svetāmbara āgamas*, even if they are very old. Similarly the *Svetāmbaras* sometimes overlook such eminent and old authors as *Kundakundacārya*. The *Ācāraṅgasūtra*, to the best of my knowledge, has been generally placed in the first part of the 3rd Century B.C. and as such should have been dealt with together with the *Digambara āgamas*.

I am, however, glad to observe that *Sri Balacandra Sastri* is perhaps the first to take an initiative in preparing a *Dictionary of the Technical Terms of Jainism*, in which the works of both the sects of the Jains have been given equal importance. The earlier two works of the similar nature, *Abhidhānarajendrakosa* and *Jainendrasiddhāntakosa* (Vol. I), though excellent in their own ways, are superseded by the present work in the sense that the former is primarily based only on the

Svetāmbara works whereas the latter is primarily based on the *Dīgāmbara* works, whereas this *Dictionary* takes into account works of both the sects. It may be, however, pointed out that the present work is confined only to the definitions whereas the earlier two works deal with all the problems connected with a particular philosophical concept.

The work is mainly philosophical and religious and as such deals with words of metaphysical, ethical, logical, epistemological, psychological and mythological significance. All students of philosophy, whether Eastern or Western, will be benefited by going through the concept of *ākāśa* or space (pp. 166-167) as found in Jainism. Similar is the case with *ahimsa* or non-violence (pp. 163-165). Terms of logical or epistemological importance have been rather more thoroughly dealt with. In case of *avāya* (or *apāya*) or perceptual judgment (p. 142) 33 definitions have been collected. Similar is the case with *Rjustranaya* or straight-expressed point of view (pp. 288-290). If we cast a glance at the descriptions of words like *anihnavācāra* or non-concealing conduct (p. 65) and *anumanitadōṣa* or inferential defect (p. 78), we would see that the Jaina authors have a deep insight into the workings of human mind.

While collecting the definitions, *Śrī Balacandra Sāstrī* had to use his own judgment as to which of them is the most representative. *Śrī Sāstrī* has also given a Hindi translation of one of the most representative definitions. He has been successful in both, selecting the representative definition as well as translating it into Hindi. Moreover his Hindi translation has, at places become an illuminating commentary of the original text and the contribution of the author is very significant in this direction. Let us take, as an example, the case of *antarvyāpti* or internal concomitance (p. 88). The original text reads as follows :

पक्षोक्त एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः । यवानेकान्तात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तत्त्वोपपत्तेरिति ।

The Hindi version of this reads as follows :

“पक्ष के भीतर ही साध्य के साथ साधन की व्याप्ति होने को अन्तर्व्याप्ति कहते हैं । जैसे वस्तु अनेकान्तात्मक है, क्योंकि अनेकान्तात्मक होने पर ही उसकी सत्ता घटित होती है । यहाँ पक्ष के अन्तर्गत वस्तु को छोड़ कर अन्य (अवस्तु) की सत्ता ही सम्भव नहीं है, जहाँ कि उक्त व्याप्ति ग्रहण की जा सके ।”

Here the underlined words are by way of explanation of what has been said in the original text. This certainly facilitates the understanding of *antarvyāpti*.

This *Dictionary* includes many words which are important for the students of history of Jaina literature e.g. *Anuttaraupapātika dāśa* (p. 69)

Acārāṅgasūtra (p. 180) and *Upasakadaśa* (p. 281). Not only this, but the readers will find that there are some passages, which are good examples of prose and poetry from the point of literary style. We quote below a passage from *Sarvāthasiddhi* (p. 148).

यथा भृगुशावकस्यैकान्ते बलवता क्षुधितेनामिषेयिणा व्याघ्रेणाभिभूतस्य न किञ्चिच्छरणमस्ति
तथा जन्म-जरा-मृत्यु-व्याधि-प्रभृतिव्यसनमध्ये परिभ्रमतो जन्तोः शरणं न विद्यते । परिपुष्टमपि शरीरं
भोजनं प्रति सहायोभवति न व्यसनोपनिपाते, यत्नेन संज्ञिता अर्था अपि न भवान्तरमनुगच्छन्ति,
संविभक्तसुख-दुःखाः सुदुदोऽपि न मरणकाले परित्रायन्ते, बान्धवाः समुविताश्च राजा परीतं न परि-
पालयन्ति, अस्ति चेत् सुचरितो धर्मो व्यसनमहागणैः तारणोपायो भवति ।

The following verse from the *Yāśastilakacampū* may also be noted in this connection (p. 148).

बलौदयेऽर्थनिचये हृदये स्वकार्ये
सर्वः समाहितमतिः पुरतः समास्ते ।
जाते स्वपायसमयेऽम्बुपती पतन्नेः
पोतादिषु ब्रुतवतः शरणं न तेऽस्ति ॥

Many of the words are interesting for the students of ancient Indian Culture. The following description of *asikarmārya*, for example, gives the names of ancient weapons (p. 160).

अस्ति-तरवारि-बलुनम्बक-बनुर्बाण-छुरिका-कट्टारक-कुन्त-पट्टिश-हूल-मुसल-गदा-भिन्विपाल-
लोहचप-शक्ति-चक्रायुध-चक्रवदः अस्त्रिकर्माणि उच्यन्ते ।

It is clear from what has been said above, that the utility of the present work is not confined merely to the students of Jainism but extends to the wider field of Indology. I hope that the work will receive appreciation from all scholars of oriental studies.

Head of the Sanskrit Deptt.
Ramjas College
Maurice Nagar, Delhi-7.

}

Dayanand Bhargava

दो शब्द

सन् १९३६ में मेरी नियुक्ति बीर-सेवा-मंदिर सरसावा में हुई। उसके लगभग कोई डेढ़ वर्ष बाद मुस्तार साहब ने एक दिन बुला कर मुझसे कहा कि दिगम्बर-श्वेताम्बर समाज में ऐसा एक भी शब्दकोष नहीं है, जिसमें दोनों सम्प्रदाय के ग्रन्थों पर से लक्षणारम्भक लक्ष्यशब्दों का संकलन किया गया हो। प्राकृत भाषा का 'पाड्य-सद्-महण्वो' नाम का एक श्वेताम्बरीय शब्दकोष अवश्य प्रकाशित हुआ है। पर उसमें दिगम्बर ग्रन्थों में पाये जाने वाले प्राकृत शब्दों का अभाव है—वे उसमें नहीं हैं। दूसरा आगम शब्दकोष है जिसमें धर्ममागधी प्राकृत के शब्दों का अर्थ हिन्दी, अंग्रेजी और गुजराती भाषा में मिलता है। पर दिगम्बर समाज में प्रचलित प्राकृत भाषा का एक भी शब्दकोष नहीं है जिसके बनने की बड़ी आवश्यकता है। मेरा विचार कई वर्षों से चल रहा है कि दिगम्बर प्राकृत-संस्कृत ग्रन्थों पर से एक शब्दकोष का निर्माण होना चाहिए और दूसरा एक 'लाक्षणिक शब्दकोष'। जब उपलब्ध कोशों में दिगम्बर शब्द नहीं मिलते, तब बड़ा दुख होता है। पर क्या कर्क, दिल मसोस कर रह जाना पड़ता है, इधर मैं स्वयं अनवकाश से सदा घिरा रहता हूँ। और साधन-सामग्री भी धर्मो पूर्ण रूप से संकलित नहीं है। इसी से इस कार्य में इच्छा रहते हुए भी प्रवृत्त नहीं हो सका।

अब मेरा निश्चित विचार है कि दो सौ दिगम्बर और इतने ही श्वेताम्बर ग्रन्थों पर से एक ऐसे लाक्षणिक शब्दकोष के बनाने का है जिसमें कम से कम पच्चीस हजार लाक्षणिक शब्दों का संग्रह हो। उस पर से यह सहज ही ज्ञात हो सकेगा कि मौलिक लेखक कौन है, और किन उत्तरवर्ती आचार्यों ने उनकी नकल की है। दूसरे यह भी ज्ञात हो सकेगा कि लक्षणों में क्या कुछ परिस्थितिवश परिवर्तन या परिवर्धन भी हुआ है। उदाहरण के लिए 'प्रमाण' शब्द को ही ले लीजिए। प्रमाण के अनेक लक्षण हैं, पर उनकी प्रामाणिकता का निर्णय करने के लिए तुलनात्मक अध्ययन करने की आवश्यकता है।

आचार्य समन्तभद्र ने 'देवागम' में तत्त्वज्ञान को और स्वयंभूस्तोत्र में स्व-परावभासी ज्ञान को प्रमाण बतलाया है। अनंतर न्यायावतार के कर्ता सिद्धसेन ने समन्तभद्रोक्त 'स्व-परावभासी ज्ञान के प्रमाण होने की मान्यता को स्वीकृत करते हुए 'बाधवर्जित' विशेषण लगाकर स्व-परावभासी भाषा रहित ज्ञान को प्रमाण कहा है। पश्चात् जैन न्याय के प्रस्थापक भकलंकदेव ने 'स्वपरावभासी' विशेषण का समर्थन करते हुए कही तो स्वपरावभासी व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण बतलाया है और कहीं अनधिगतार्थक भविसंवादी ज्ञान को प्रमाण कहा है। आचार्य विद्यानन्द ने सम्यग्ज्ञान को प्रमाण बतलाते हुए 'स्वार्थव्यवसायात्मक' ज्ञान को प्रमाण का लक्षण निश्चित किया है। भाणिकयनन्दी ने एक ही वाक्य में 'स्व' और 'अपूर्वार्थ' पद निविष्ट कर भकलंक द्वारा विकसित परम्परा का ही एक प्रकार से अनुसरण किया है। सूत्र में निविष्ट 'अपूर्व' पद भाणिकयनन्दी का स्वोपज्ञ नहीं है, किन्तु उन्होंने अनिश्चित

१. तत्त्वज्ञान प्रमाण ते युगत्पत्स्वर्वासानम् । देवा. का. १०१.

× × × स्व-परावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् । बृहत्सर्व. ६३.

२. प्रमाणं स्व-परावभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम् । न्यायवा. १.

३. व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्षाहकं मतम् । लघीयस्त्रय ६०.

प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्, अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् । अष्टश. का. ३६.

४. तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञान मानमितीयता ।

लक्षणेन गतार्थत्वात् व्यर्थमन्यद्विशेषणम् ॥ तत्स्वार्थलोकवा. १, १०, ७७; प्रमाणप. पृ. ३३.

को अप्रवर्धित बतलाया है। अतः उसे प्रकलक की देन मानना चाहिए^५। सम्मति टीकाकार भ्रमयदेव ने विद्यानन्द का ही अनुसरण कर 'व्यवसाय' के स्थान में 'निर्णीति' पद रक्खा है^६। वादिदेव सूरि ने प्राचार्य विद्यानन्द के ही शब्दों को दोहराया है और स्व-परव्यवसायी ज्ञान को प्रमाण प्रकट किया है^७। हेमचन्द्र ने पूर्वोक्त लक्षणों में काट-छांट करके 'सम्यक्', 'अर्थ' और 'निर्णय' ये तीन पद जोड़े। इससे स्पष्ट है कि हेमचन्द्र ने प्राचार्य नियोजित लक्षणों में संशोधन कर स्व, अपूर्व और व्यवसायात्मक पद निकाल कर प्रमाण का लक्षण 'सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्' बतलाया है^८। इन लक्षणों को इतिहास की कसौटी पर कसना विद्वानों का कार्य है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर प्रमाण के इन लक्षणों में कहाँ, कब और किस परिस्थिति में उन उन विशेषणों की वृद्धि करनी पड़ी, इस सब का इतिवृत्त भी ज्ञात हो सकेगा और लक्षणावली में संकलित लक्षणों का प्रस्तावना में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जा सकेगा।

लाक्षणिक शब्दों को प्रकारादि क्रम से दिया जायगा। यदि वे लाक्षणिक शब्द कालक्रम से दिये जा सकें तो पाठकों और विद्वानों के लिए अधिक सुविधा हो सकेगी। मैंने कहा कि आपका यह विचार अति उत्तम है। परन्तु यह सब कार्य अत्यन्त परिश्रमसाध्य है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए दिगम्बर-श्वेताम्बर सभी ग्रन्थों के संग्रह करने की आवश्यकता होगी, जिसे पूरा करने का प्रयत्न होना चाहिए। जो ग्रन्थ उपलब्ध हो सकते हों उन्हें सायबेरी में मंगवा लीजिए। अवशिष्ट ग्रन्थ किन्हीं शास्त्र-भण्डारों से मंगवा कर पूरा कर लेना चाहिए। कार्य होने पर उनके वे ग्रन्थ वापिस कर दिये जायें।

साथ ही लक्षणावली की रूप-रेखा भी बननी चाहिए, जिससे लक्ष्य शब्दों का संग्रह उसी रूप में किया जा सके। और बाद में विद्वान उस रूप-रेखा के अनुसार ही लक्षणों का संग्रह करें। मुक्तार साहब ने कहा कि मैं लक्षणावली की रूप-रेखा बना दूँगा, जिससे कार्य योजनाबद्ध और जल्दी शुरू किया जा सके। मैं पहले विद्वानों को बुलाने के लिए आवश्यक विज्ञप्ति पत्र लिखे देता हूँ, उसे आप कापी करके सब जैन पत्रों को भिजवा दीजिये, जिससे नियुक्ति के लिए उन विद्वानों के पत्र आ सकें जो विद्वान इस कार्य में विशेष उत्साह रखते हैं और जिन्हें जैन साहित्य के अध्ययन की रुचि हो, अथवा जिन्होंने शब्द-कोष बनाने का कार्य किया हो या उसका कुछ अनुभव हो। विज्ञप्ति जैन साप्ताहिक पत्रों में भेज दी गई। साथ ही मुक्तार साहब ने एक पत्र बाबू छोटेलाल जी कनकत्ता, डा० ए. एन. उपाध्ये कोल्हापुर और मुनि श्री पुण्यविजय जी को अहमदाबाद भेजा। जिनकी नकल उन्होंने अपने पास रख ली। इन पत्रों के उत्तर से मुक्तार साहब के उत्साह में वृद्धि हुई। इधर विद्वानों के भी पत्र आये। उनमें से पं. ताराचन्द बर्शनशास्त्री और पं. किशोरीलाल जी को नियुक्ति पत्र दे दिया। कार्य की रूप-रेखा के सम्बन्ध में एक पत्र मुक्तार साहब ने बाबू छोटेलाल जी को लिखा और लक्षणावली के कार्य के शुरू करने की सूचना दी। और उसके लिए आर्थिक सहयोग की प्रेरणा करते हुए लक्षणावली के महत्त्व पर भी प्रकाश डाला। लक्षणावली का कार्य ८-९ महीना द्रुत गति से चला, किन्तु बाद में उसमें कुछ शीथिल्य आ गया। मालूम हुआ कि उसमें कुछ आर्थिक कठिनाई भी कारण है। बाबू छोटेलाल जी ने साहू शान्तिप्रसाद जी से कहकर लक्षणावली के लिए पन्द्रह हजार की सहायता की स्वीकृति प्राप्त की और साथ ही पाच हजार का बैंक भी पत्र के साथ भिजवा दिया। उसके बाद लक्षणावली के लक्ष्य शब्दों पर लक्षणों के संग्रह का कार्य होने लगा। लक्षणावली में कुछ शब्द निरुक्त्यर्थ और स्वरूपात्मक शब्द भी संग्रहीत किये गये थे। अब दृष्टि में कुछ परिवर्तन हो जाने पर उन दोनों प्रकार के शब्दों को कम कर दिया।

५. स्वापूर्वव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम्। परीक्षा. १, १.

६. प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावज्ञानम्। सम्मति. टी. पृ. ५१८.

७. स्व-परव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणं। प्रमाणन. १, २. ८. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्। प्रमाणमीमांसा १२.

जैन लक्षणावली या परिभाषात्मक शब्द कोष का एक नमूना ग्रन्थकाल के तीसरे वर्ष की प्रथम किरण में देने का विचार किया। अतः दिगम्बर-श्वेताम्बर के लक्ष्य शब्दों के अनुसार लक्षणों का संकलन करना शुरू किया गया। और उसमें दोनों सम्प्रदाय के लक्षणों को प्रलग-प्रलग दिया, कारण कि एक क्रम करने पर उसमें शताब्दीवार करने में बड़ी कठिनाई उपस्थित होती थी। दूसरे, भाषायों के समय का कालक्रम निर्णय नहीं था। फिर लक्षणों का सम्पादन संशोधन करके उसे प्रकाशन के योग्य बना दिया, पर उसके साथ हिन्दी नहीं दी जा सकी। इस कारण उसमें विवाद होना स्वाभाविक था। इसी से उन्हें प्रलग रखा गया। (देखो, ग्रन्थकाल वर्ष ३ किरण १)

इस नमूने पर से लोगों के अनेक मन्तव्य आये, जिनका संकलन मुस्तार सा० ने रखा।

लक्षणों का कार्य प्रायः समाप्त हो गया, और कुछ ऐसे ग्रन्थ जरूर रह गये जो उस समय प्राप्त नहीं हो सके, जैसे महाबन्ध आदि, उसके कुछ वर्षों बाद उनका भी संग्रह कर लिया गया।

पर लक्षणावली का सम्पादन प्रकाशन पड़ा रहा। क्योंकि मुस्तार सा० अपने को अनवकाश से विरा हुआ बतलाते थे, और दूसरे किसी ऐसे विद्वान की तलाश भी नहीं हुई, जो उस कार्य को सम्पन्न कर सकता, तलाश हुई भी तो उन्होंने उस कार्य की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। अतः वर्षों वह कार्य यों ही पड़ा रहा।

पं. दीपचन्द जी पाण्ड्या लगभग एक वर्ष रहे और पं. हीरालाल जी सिद्धान्त-शास्त्री वीर सेवा-मन्दिर में पौच वर्ष रहे, किन्तु लक्षणावली का कार्य जो हुआ, वह अधूरा और अव्यवस्थित रहा। इसलिए उसका एक भाग भी प्रकाशित नहीं हो सका।

एक बार पं. हीरालाल शास्त्री ने बा. छोटे लाल जी से कहा कि लक्षणावली का एक खण्ड प्रकाशन के योग्य हो गया है। उन्होंने वह उसे मुस्तार सा. को देखने के लिए दिया। मुस्तार साहब ने उसे देखा, तब उन्होंने फुलिस्केप साइज के दो पेजों में उसकी नुटियों को लिखकर दिया और कहा यह सामग्री तो अधूरा और नुटियों से भरी हुई है, अतः प्रकाशन के अयोग्य है। नुटियाँ बता देने के बाद भी उनका सुधार नहीं हुआ, और न मूल लक्षणों का संशोधन ही किया गया। पं. हीरालाल जी घर चले गए और लक्षणावली का वह कार्य यों ही पड़ा रहा। पं. दीपचन्द जी पाण्ड्या ने लक्षणावली का कार्य किया, किन्तु वे भी बीच में चले गए और कार्य तदवस्थ रहा।

बाबू छोटेलाल जी को लक्षणावली के प्रकाशन की बड़ी चिन्ता रही, पर वह उनके जीवन काल में प्रकाशित नहीं हो सकी।

अंत में पं. दरबारीलाल जी की प्रेरणा से पं. बालचन्द जी सि. शास्त्री की वीर सेवा मन्दिर में नियुक्ति हुई। तब उन्होंने लक्षणावली का कार्य सम्हाला और लक्षणावली के मूल लक्षणों का संशोधन तथा अनुवाद कार्य किया। और अब उसका प्रथम खण्ड छप कर तैयार हो गया है।

इसमें दि. श्वे. लक्षणों का क्रम एक रखते हुए भी उनमें ऐतिहासिक क्रम यथाशक्य दिया गया है। अनुवाद किसी एक ग्रन्थगत लक्षण के आधार पर किया गया है। यदि कहीं कुछ विशेषता लक्षणों में दृष्टगोचर हुई तो अन्य ग्रन्थों का भी अनुवाद दे दिया गया है, जिससे पाठकों को कोई भ्रम न हो।

ग्रन्थ की प्रस्तावना में १०२ ग्रन्थों और ग्रन्थकर्ताओं का परिचय इस खण्ड में दिया गया है, और शेष ग्रन्थों का परिचय अगले खंड में दिया जायगा।

परिशिष्टों में ग्रन्थों का अकारादि क्रम दिया गया है, उनमें उनके संस्करणों व प्रकाशन स्थान आदि को भी सूचित कर दिया गया है। संकेत-सूची, भाषायों का ऐतिहासिक कालक्रम भी दे दिया गया है। जिससे पाठकों को किसी तरह की भ्रमविधा न हो।

इस तरह लक्षणावली (पारिभाषिक शब्द कोष) के एक भाग का कार्य सम्पन्न हो पाया है। इस महान कार्य के लिए सम्पादक पं. बालचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री और संस्था के संचालक धन्यवाद के पात्र हैं।

—परमानन्द जैन शास्त्री

सम्पादकीय

लगभग ५ वर्ष पूर्व मैंने पं. दरबारीलाल जी कोठिया न्यायाचार्य, एम्. ए., पी.-एच्. डी. बाराणसी की प्रेरणा से यहाँ आकर प्रस्तुत लक्षणावली के सम्पादन कार्य को हाथ में लिया था। इसकी योजना स्व. अद्वैत पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार द्वारा तैयार की गई थी। उन्होंने इस कार्य को सम्पन्न कराने के लिए कुछ विद्वानों को नियुक्त कर उनके द्वारा दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के बहुत से ग्रन्थों से लक्षणों का संकलन भी कराया था। यह संकलन तब से यों ही पड़ा रहा। जो कुछ भी कठिनाइयाँ रही हो, उसे मुद्रण के योग्य व्यवस्थित कराकर प्रकाश में नहीं लाया जा सका।

अब अब मैंने उसे व्यवस्थित करने के कार्य को प्रारम्भ किया तो इसमें मुझे कुछ कठिनाइयों का अनुभव हुआ। जैसे—

१ उक्त संकलित लक्षणों में से यदि कितने ही लक्षणों में सम्बद्ध ग्रन्थों के नाम का ही निर्देश नहीं किया गया था तो अनेक लक्षणों में केवल ग्रन्थ के नाम मात्र का निर्देश किया गया था—उसके अन्तर्गत अधिकार, सूत्र, गाथा, श्लोक अथवा पृष्ठ आदि का कुछ भी निर्देश नहीं किया गया था। उनके लोचने में काफी कठिनाई हुई।

२ कुछ लक्षणों को ग्रन्थानुसार न देकर उन्हें तोड़-भरोड़कर कल्पितरूप में दिया गया था। उदा-हरणार्थ ध्वला (पृ. ११, पृ. ८६) में से संगृहीत 'अक्रमभूमिक' का लक्षण इस प्रकार दिया गया था—पण्णारसकम्मभूमीसु उपपण्णा कम्मभूमा, ण कम्मभूमा अकम्मभूमा, भोगभूमीसु उपपण्णा अकम्मभूमा इत्यर्थः। परन्तु उक्त ध्वला में न तो इस प्रकार के समास का निर्देश किया गया है और न वहाँ ध्वलाकार का वैसा अभिप्राय भी रहा है। उन्होंने तो वहाँ इतना मात्र कहा है—तत्थ अकम्मभूमा उक्कस्स-ट्ठिदि ण बंभंति, पण्णारसकम्मभूमीसु उपपण्णा चेव उक्कस्सट्ठिदि बंभंति ति जाणावण्हं कम्मभूमियस्स वा ति भगिबं'।

इस प्रकार के अप्रामाणिक लक्षणों का संकलन करना उचित प्रतीत नहीं हुआ। यदि ग्रन्थकार का कहीं उस प्रकार के लक्षण का अभिप्राय रहा है तो ग्रन्थगत मूल वाक्य को—चाहे वह हेतुपरक रहा हो या अन्य किसी भी प्रकार का—उसी रूप में लेकर आगे कोष्ठक में फलित लक्षण का निर्देश कर देना मैंने उचित समझा है।

३ कितने ही लक्षणों के मध्य में अनुपयोगी अंश को छोड़कर यदि आगे कुछ और भी लक्षणोपयोगी अंश दिखा है तो उसे ग्रहण तो कर लिया गया था, पर वहाँ बीच में छोड़े गये अंश की प्रायः सूचना नहीं की गई थी। ऐंम लक्षणों में कहीं-कहीं ग्रन्थकार के आशय के समझने में भी कठिनाई रही है। अतएव मैंने बीच में छोड़े हुए ऐसे अंश की सूचना $\times \times \times$ इस चिह्न के द्वारा कर दी है।

४ संगृहीत लक्षणों का जो हिन्दी अनुवाद किया गया था वह प्रायः भावात्मक ही सर्वत्र रहा है—जिन ग्रन्थों से विवक्षित लक्षण का संकलन किया गया है, उनमें से किसी के साथ भी प्रायः उसका मेल नहीं खाता था। यहाँ तक कि जहाँ लक्षण केवल एक ही ग्रन्थ से लिया गया है उसका भी अनुवाद तदनु रूप नहीं रहा। जैसे 'प्रध्वयु' के लक्षण का अनुवाद इस प्रकार रहा है—

शिवसुखदायक पूजा—यज्ञ—के करनेवाले व्यक्ति को अध्वयु कहते हैं।

इसके अतिरिक्त ऐसे ग्रन्थों में उपलब्ध अधिकंश लक्षणों का अनुवाद तो प्रायः कल्पना के आधार पर किया गया था, ग्रन्थगत अभिप्राय से वह बहिर्भूत ही रहा है।

१. ध्वलाकार को 'अक्रमभूमिक' से क्या अभिप्रेत रहा है, इसे उक्त शब्द के नीचे देखिये।

२. उसका परिवर्तित अनुवाद उक्त शब्द के नीचे देखिये।

इस प्रकार के अनुवाद को न लेकर मैंने उल्लिखित ग्रन्थों में से किसी एक के आधार से—तथा उनमें से भी जहाँ तक सम्भव हुआ प्राचीनतम ग्रन्थ के आधार से—अनुवाद किया है एवं साथ में उसकी क्रमिक संख्या का निर्देश भी उसके पूर्व में कर दिया है। हाँ, यदि ग्रन्थ ग्रन्थगत विवक्षित लक्षण में कहीं कुछ विशेषता दिखी है तो उसके आधार से भी अनुवाद कर दिया है तथा उसके पूर्व में उसकी भी क्रमिक संख्या का निर्देश कर दिया है।

५ कहीं-कहीं ग्रन्थगत विवक्षित लक्षण के स्थल को न देखने के कारण लक्ष्य शब्द व उस लक्षण का अनुवाद दोनों ही असम्भव हो गये थे। जैसे—घबला(पु. १३, पृ. ६२) में परिहार प्रायश्चित्त के इन दो भेदों का निर्देश किया गया है—‘अणवदृष्टो’ और ‘पारंविष्टो’। ‘अणवदृष्टो’ का संस्कृत रूपान्तर ‘अनु-वर्तक’ स्वीकार करते हुए उसका अनुवाद इस प्रकार किया गया था—

जबन्य से छह मास और उत्कर्ष से बारह वर्ष तक कायभूमि से परे ही विहार करने वाला, प्रतिबन्धना से रहित, गुरु के अतिरिक्त शेष समस्त जनों में भीन रखनेवाला; उपवास, भ्राम्भ, एक-स्थान, निविकृति आदि के द्वारा शरीर के रस, रुचिर और मांस का सुखानेवाला साधु अनुवर्तक परिहार-विशुद्धिसंयत कहलाता है।

यह विसंगति ग्रन्थगत ‘परिहारो दुविष्टो’ में केवल ‘परिहार’ शब्द को देखकर उससे ‘परिहार-विशुद्धिसंयत’ समझ लेने के कारण हुई है। पर वास्तव में वहाँ उसका कोई प्रकरण ही नहीं है, प्रकरण वहाँ भ्रालोचनादि दस प्रकार के प्रायश्चित्त का ही है, जिन्हें घबलाकार के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

ऐसी ही कुछ कठिनाइयाँ मेरे सामने रही हैं, जिन्हे दूर करने के लिए विवक्षित लक्षणों से सम्बद्ध अधिकांश ग्रन्थों को देखना पड़ा है। इसी कारण समय कुछ कल्पना से अधिक लग गया।

यद्यपि इस स्पष्टीकरण की यहाँ कुछ भी आवश्यकता नहीं थी, पर चूँकि मेरे सामने कितनी ही बार यही प्रश्न आया है कि ग्रन्थ तो तैयार रखा था, फिर उसके प्रकाशन में इतना बिलम्ब क्यों हो रहा; अतएव इतना स्पष्ट करना पड़ा है।

इसके अतिरिक्त सन् १९६९ के दिसम्बर में मैं अस्वस्थ हो गया और इस कारण मुझे चालू काम को छोड़कर अपने बच्चों के पास चला जाना पड़ा। स्वास्थ्यसुधार के लिए मुझे उनके पास लगभग १० माह रहना पड़ा। इस बीच मैंने अपनी अस्वस्थता के कारण प्रकृत कार्य के सम्पन्न करा लेने के लिए ग्रन्थ कुछ व्यवस्था कर लेने के विषय में भी प्रार्थना की थी, पर वैसा नहीं हुआ। अन्त में कुछ स्वस्थ हो जाने पर अधिकारियों की प्रेरणा से मैं वापिस चला आया व कार्य को गतिशील कर दिया। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ का यह स्वराज्य (अ-प्रो) प्रथम भाग पाठकों के हाथों में पहुँच रहा है।

यद्यपि मैंने यथासम्भव इसे भ्रच्छा बनाने का प्रयत्न किया है, फिर भी वह त्रुटियों से सर्वथा रहित होगा, यह नहीं कहा जा सकता—अल्पज्ञता व स्मृतिहीनता के कारण उसमें अनेक त्रुटियों का रह जाना सम्भव है। वास्तव में ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य अनेक विद्वानों के सहकार की अपेक्षा रखते हैं।

हमें इस बात का विशेष दुःख है कि साहित्य-मगन के सूर्यस्वरूप जिन अद्वेय मुक्तार सा. ने इसकी योजना प्रस्तुत की थी और तदनुसार कुछ कर्म भी कराया था, वे भ्राज अपनी इस कृति को देखने के लिए हमारे बीच नहीं रहे।

आभार

मई १९६७ में सम्पन्न हुए पं. गो. बरैया स्मृति ग्रन्थ के समारम्भ के समय उसके निमित्त से अनेक भूषण्य विद्वानों का यहाँ शुभागमन हुआ था। इस अवसर का लाभ उठाकर उन्हें वीर सेवा मन्दिर के भवन में प्रस्तुत लक्षणावली-विषयक विचार-विमर्श के लिए आमन्त्रित किया गया था। तदनुसार

जैन-लक्षणावली

उनका सम्मेलन श्री पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। जैसी कि धरोहरा भी, इस विद्वत्सम्मेलन ने उक्त लक्षणावली के सम्बन्ध में कुछ उपयोगी सुझाव देते हुए उसके शीघ्र प्रकाशित कराने के लिए प्रेरणा की थी। उक्त विद्वत्सम्मेलन की सद्भावना से मुझे इस कार्य के सम्पन्न कराने में कुछ बल मिला व मार्गदर्शन भी प्राप्त हुआ। तदनुसार ही मैंने यथाशक्ति उसके कार्य के सम्पन्न करने का प्रयत्न किया है।

ग्रन्थ की प्रस्तावना के लिखने में हमें जैन साहित्य और इतिहास, जैन साहित्य और इतिहास पर विषय प्रकाश, पुरातन जैन वाक्य-सूची की प्रस्तावना, सिद्धिविनिश्चय की प्रस्तावना, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, जैन साहित्य का इतिहास—पूर्व पीठिका, तथा जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग १-५) इत्यादि पुस्तकों के साथ सम्बद्ध ग्रन्थों में से कुछ की प्रस्तावना आदि से भी सहायता मिली है। इसके लिए मैं उक्त पुस्तकों के लेखक विद्वानों का ऋणी हूँ।

श्री बाबू पन्नालाल जी अग्रवाल को मैं नहीं भूल सकता, जिनकी कृपा से मुझे समय-समय पर आवश्यकतानुसार कुछ ग्रन्थ प्राप्त होते रहे हैं।

प्रस्तावना के अन्तर्गत ग्रन्थपरिचय के लिखने में श्रीमान् साहू शान्तिप्रसाद जी जैन (अध्यक्ष बीर सेवा मन्दिर) के कुछ सुझाव रहे हैं। साथ ही ग्रन्थकारों की अनुक्रमणिका के दे देने के लिए भी आपकी प्रेरणा रही है। आपके सुझावों पर मैंने यथासम्भव ध्यान दिया है। ग्रन्थकारों में प्रायः बहुतों का समय निश्चित नहीं है। फिर भी उनके समय के सम्बन्ध में जितनी कुछ सम्भावना की जा सकी है, तदनुसार समय के निर्देशपूर्वक उनकी अनुक्रमणिका परिशिष्ट में दे दी गई है। साहू जी की इस कृपा के लिए मैं उनका विशेष आभारी हूँ। माथ ही श्री डॉ. गोकुलचन्द्र जी के भी कुछ उपयोगी सुझाव रहे हैं, उन्हें भी मैं भूल नहीं सकता।

बीर सेवा मन्दिर के एक पुराने विद्वान् श्री पं. परमानन्द जी शास्त्री से मुझे समय-समय पर योग्य परामर्श मिलता रहा है। दूसरे विद्वान् श्री पं. पार्ष्वदास जी न्यायतीर्थ ने प्रेरणा दी करके सहायता की है। तथा प्रूफवाचन में भी आप सहायक रहे हैं। इन दोनों ही विद्वानों का मैं अतिशय कृतज्ञ हूँ।

बीर सेवा मन्दिर के भूतपूर्व उपाध्यक्ष राय सा. ला. उलफतराय जी तथा मंत्री श्री बाबू प्रेमचन्द्र जी जैन (कश्मीर वाले) ने इस गुस्तर कार्य के भार को सौंप कर मेरा बड़ा अनुग्रह किया है। उसके आश्रय से मुझे कितने ही अपरिचित ग्रन्थों के देखने का सुयोग प्राप्त हुआ है। अतएव मैं आप दोनों ही महानुभावों का अत्यन्त आभारी हूँ।

इसी प्रकार की यदि आगे भी अनुकूल परिस्थिति बनी रही तथा स्वास्थ्य ने भी साथ दिया तो आशा करता हूँ कि प्रस्तुत ग्रन्थ का दूसरा भाग भी शीघ्र प्रकाशित हो सकेगा।

दीपावली }
१८-१०-७१ }

{ बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

प्रस्तावना

लक्षणावली व उसकी उपयोगिता

यह एक जैन पारिभाषिक शब्दकोष है। इसमें लगभग ४०० दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रंथों से ऐसे शब्दों का संकलन किया गया है, जिनकी कुछ न कुछ परिभाषा उपलब्ध होती है। सभी सम्प्रदायों में प्रायः ऐसे पारिभाषिक शब्द उपलब्ध होते हैं। उनका ठीक-ठीक अभिप्राय समझने के लिए उन-उन ग्रन्थों का आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु सबके पास इतने अधिक ग्रन्थों का प्रायः संग्रह नहीं रहता। इसके प्रतिरिक्त अधिकांश ग्रन्थ पुरानी पद्धति से प्रकाशित हैं व उनमें अनुक्रमणिका आदि का अभाव है। अतः उनमें से अभीष्ट लक्षण के खोजने के लिए परिश्रम तो अधिक करना ही पड़ता है, साथ ही समय भी उसमें बहुत लगता है। इससे एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता थी, जिसमें पारिभाषिक शब्दों का संकलन हो। प्रस्तुत लक्षणावली इसी प्रकार का ग्रन्थ है। इसमें अकारादि वर्णानुक्रम के अनुसार विविध ग्रन्थों से लक्ष्य शब्दों का संग्रह किया गया है। इससे तत्त्वचिन्तासुप्तो और अनुमन्यान् करने वालों को इस एक ही ग्रन्थ में अभीष्ट लक्ष्य के अनेक ग्रन्थगत लक्षण अनायास ही ज्ञात हो सकते हैं। इस प्रकार उनका समय और शक्ति दोनों ही बच सकते हैं। हम समझते हैं कि पाठकों को प्रस्तुत ग्रन्थ अवश्य ही उपयोगी प्रमाणित होगा। अभी इसका स्वराज्य (अ से ओ तक) प्रथम भाग ही प्रकाशित हो रहा है। आगे का कार्य चालू है।

लक्षणावली में स्वीकृत पद्धति

१. लक्षणावली में उपयुक्त लक्ष्य शब्दों का संस्कृत रूप ग्रहण किया गया है। कहीं-कहीं पर कोष्ठक () में उसका प्राकृत रूप भी दे दिया गया है।
२. लक्ष्यभूत शब्दों को काले टाइप (१४ पा.) में मुद्रित कराया गया है। ग्रन्थों के संकेतों को भी काले टाइप (१२ पा.) में दिया गया है।
३. शब्दों के नीचे विविध ग्रन्थों से जो लक्षण उद्धृत किये गये हैं उनका मुद्रण सफेद टाइप में हुआ है। प्रत्येक शब्द के नीचे जितने ग्रन्थों से लक्षण उद्धृत किये गये हैं उनकी क्रमिक संख्या भी दे दी गई है।
४. हिन्दी अनुवाद को काले टाइप में दिया गया है।
५. अनुवाद किसी एक ग्रन्थ के आधार से किया गया है और वह जिस ग्रन्थ के आश्रय से किया गया है उसकी क्रमिक संख्या अनुवाद के पूर्व में अंकित कर दी गई है। यदि विवक्षित लक्षण में ग्रन्थान्तरों में कुछ विशेषता दृष्टिगोचर हुई है तो कहीं-कहीं २-३ ग्रन्थों के आधार से भी पृथक्-पृथक् अनुवाद कर दिया गया है तथा उन ग्रन्थों की क्रमिक संख्या भी अंकित कर दी गई है।
६. कितने ही लक्षण जयधवला की सम्भवतः अमरावती और भारा या देहली प्रति से उद्धृत किये गये हैं, पर ये प्रतिवां सामने न रहने से उन संकेतों को व्यवस्थित रूप में नहीं दिया जा सका। इसके प्रतिरिक्त कितने ही लक्षण जयधवला से ऐसे भी लिये गये हैं जो कसायपाहुडसुत और धवला में भी कहीं-कहीं टिप्पणों में उपलब्ध होते हैं। उनको प्रस्तुत संस्करण में ग्रहण कर तदनुसार संकेत में

‘जयध.—क. पा.’ का उल्लेख करके उसकी पृष्ठसंख्या और टिप्पणसंख्या दे दी गई है। इसी प्रकार भवला की भी पुस्तक, पृष्ठ और टिप्पण की संख्या अंकित कर दी गई है।

७. कितने ही लक्षण अभिधानराजेन्द्र कोष में उपलब्ध होते हैं, परन्तु वहाँ ग्रन्थ का पूर्ण संकेत न होने से विवक्षित लक्षण किस ग्रन्थ का है, इसकी खोज नहीं की जा सकी। ऐसे लक्षणों के नीचे ‘अभि. रा.’ का संकेत करके उसके भाग व पृष्ठ की संख्या अंकित कर दी गई है।

८. भगवती सूत्र और व्यवहार सूत्र के बहुत से लक्षण संग्रहीत हैं। परन्तु भगवती सूत्र के जिस संस्करण से लक्षण लिये गये हैं, उसके यहाँ न मिस सकने से वैसे ही अंक दे दिये गये हैं। गुजरात विद्यापीठ से प्रकाशित भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) के यहाँ प्रथम, तृतीय और चतुर्थ ये तीन खण्ड हैं, द्वितीय खण्ड नहीं है। इनमें जो लक्षण उपलब्ध हो सके हैं उनका संकेत में उल्लेख कर दिया गया है। व्यवहार सूत्र के १० उद्देश है। उनमें यहाँ द्वितीय उद्देश अपूर्ण है तथा तृतीय सर्वथा ही नहीं है। व्यवहार सूत्र (भाष्य) से जो लक्षण लिये गये हैं वे सम्भवतः किसी दूसरे संस्करण से लिये गये हैं। उनमें से जो यहाँ के संस्करण में खोजे जा सके हैं उनके लिए उद्देश, भाषा और पृष्ठ की संख्या दे दी गई है, परन्तु जो इसमें उपलब्ध नहीं हो सके उनका संकेत उसी रूप में दिया गया है।

९. अनेक ग्रन्थों से उद्धृत लक्षणों में जहाँ शब्दवाः और अर्थतः समानता रही है वहाँ प्रायः प्राचीनतम किसी एक ग्रन्थ का प्रारम्भ में संकेत करके तत्पश्चात् शेष दूसरे ग्रन्थों का अर्धविराम (;) चिह्न के साथ संकेत मात्र कर दिया गया है।

१०. जहाँ प्रकृत लक्षण किसी एक ही ग्रन्थ में कई स्थलों में उपलब्ध हुआ है वहाँ एक ही संख्या में उसके उन स्थलों का संकेत (;) इस चिह्न के साथ कर दिया गया है।

११. तत्त्वार्थवातिक के लक्षणों में वातिक को काले टाइप में और उसके विवरण (स्पष्टीकरण) को सफेद टाइप में मुद्रित कराया गया है। षट्खण्डागम के अन्तर्गत लक्षणों में ‘षट्ख.’ के आगे अंश (—) देकर ‘भव. पु. १-२’ आदि की पृष्ठ संख्या दे दी गई है। भवला टीका से संग्रहीत लक्षणों के लिए मात्र ‘भव. पु.’ संकेत किया गया है।

ग्रन्थ-परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ में जिन ग्रन्थों के लक्षण वाक्यों का संग्रह किया गया है उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. षट्खण्डागम—यह आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा विरचित एक महत्त्वपूर्ण कर्मग्रन्थ है। रचनाकाल इसका विक्रम की प्रथम शताब्दी है। यह छह खण्डों में विभक्त है। छह खण्डों में विभक्त होने से वह ‘षट्खण्डागम’ नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वे छह खण्ड ये हैं—जीवस्थान, क्षुद्रकबन्ध, बन्ध-स्वामित्वविचय, वेदता, वर्गणा और महाबन्ध है। इनमें से प्रथम खण्डभूत जीवस्थान के अन्तर्गत सप्त-रूपणा मात्र के रचयिता आचार्य पुष्पदन्त हैं। शेष सभी ग्रन्थ आचार्य भूतबलि के द्वारा रचा गया है।

निरन्तर जन्म-मरण को प्राप्त करने वाला यह संसारी प्राणी यदि कभी देव होता है तो कभी तारकी होता है, कभी मनुष्य होता है तो कभी तिर्यंच होता है, कभी विशिष्ट जानी होता है तो कभी अल्पज्ञानी होता है, कभी प्रतिशय सुखी होता है तो कभी भयानक दुःख को सहता है, कभी कामदेव जैसा स्वरूप होता है तो कभी बेडोल और कुरूप होता है, कभी उत्तम कुल में जन्म लेकर लोकमाय्य होता है तो कभी नीच कुल में जन्म लेकर धिक्कारा जाता है, तथा कभी बिना किसी प्रकार के परिश्रम के प्रतिशय सम्पत्तिशायी होता है तो कभी दिन-रात परिश्रम करता हुआ कुटुम्ब के भरण-पोषण योग्य भी पैसा नहीं प्राप्त कर पाता है। इस प्रकार सभी संसारी प्राणी सुख तो अल्प, किन्तु दुःख ही अधिक पाते हैं। इस विषय में विचार करने पर प्रतीत होता है कि इसका कारण स्वकृत कर्म है। प्राणी निन्द्य या उत्तम जैसा कुछ भी आचरण करता है, तदनुसार उसके कर्म का बन्ध हुआ करता है। इस प्रकार बन्ध को प्राप्त होने वाले उस कर्म में कषाय की तीव्रता व मन्दता के अनुसार स्थिति

(जीव के साथ उसके सम्बन्ध रहने का काल) व अनुभाग (फलदानक्षिति) पढ़ा करता है। जिस प्रकार धाम आदि फल अपने समय पर परिपाक को प्राप्त होकर मोक्षता को मिठास व खटाई आदि का अनुभव कराया करते हैं, उसी प्रकार वह कर्म भी अपनी स्थिति के अनुसार उदय (परिपाक) को प्राप्त होने पर सुख-दुःखादि रूप हीनाधिक फल दिया करते हैं। साथ ही जिस प्रकार फलों को पाल में देकर कभी समय से पूर्व भी पका लिया जाता है उसी प्रकार तत्पश्चरण के द्वारा कर्म को भी स्थिति पूर्ण होने के पूर्व ही उदय को प्राप्त करा लिया जाता है, तथा इसी प्रकार के उत्तम अनुष्ठान से नवीन कर्मबन्ध को भी रोका जा सकता है। इस प्रकार प्राणी अपने सुख-दुःख का विधाता स्वयं है, दूसरा उसका कोई माध्यम नहीं है। जो आत्महितैषी भव्य जीव शरीर और आत्मा के भेद का अनुभव करता हुआ पर में राग-द्वेष नहीं करता है वह संयम का परिपालन करता हुआ मुक्ति को भी प्राप्त कर लेता है—स्वयं आराध्य या ईश्वर बन जाता है। इस सबका परिज्ञान प्रस्तुत षट्संख्यभाग के अध्ययन से प्राप्त किया जा सकता है।

(१) जीवस्थान—यह उक्त षट्संख्यभाग का प्रथम खण्ड है। पूर्वोक्त कर्म के उदय, उपशम, लयो-पशम और क्षय के आश्रय से जीवकी जो परिणति होती है उसका नाम गुणस्थान है, जो मिथ्यात्व व सासादन आदि के भेद से चौदह प्रकार का है। जिन अवस्थाविशेषों के द्वारा जीवों का मार्गण या भ्रमवेषण किया जाता है उन अवस्थाओं को मार्गणा कहा जाता है। वे चौदह हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भ्रष्टात्व, सम्पत्त्व, सत्री और आहार। प्रकृत जीवस्थान में कौन जीव किस गुणस्थान में है या किन जीवों के कितने गुणस्थान सम्भव हैं, किस-किस गुणस्थानवर्ती जीवों की कितनी संख्या है, कहाँ वे रहते हैं, कहाँ तक जा सकते हैं, किस गुणस्थान का कितना काल है, एक गुणस्थान को छोड़कर पुनः उस गुणस्थान की प्राप्ति में कितना काल लग सकता है, किस गुणस्थान में श्रौतव्यादि कितने भाव हो सकते हैं, तथा विवक्षित गुणस्थानवर्ती जीव किस गुणस्थानवर्ती जीवों से हीन या अधिक हैं, इस सबका विचार यहाँ प्रथमः गुणस्थान के आश्रय से किया गया है। तत्पश्चात् इन्हीं सब बातों का विचार वहाँ गति व इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं के आधार से भी किया गया है। अन्त में अनेक प्रकार की कर्मप्रकृतियों का निर्देश करते हुए उनकी पृथक्-पृथक् स्थिति और उदय में आने योग्य काल को चर्चा करते हुए किस पर्याय में कितने व कौन से गुण प्राप्त हो सकते हैं, तथा आयु के पूर्ण होने पर पूर्व शरीर को छोड़कर कौन जीव कहाँ उत्पन्न हो सकता है, इसका विवेचन किया गया है। इसी प्रसंग में कौन जीव किस प्रकार से सम्पददर्शन और चारित्र को प्राप्त कर सकता है, इसकी भी चर्चा यहाँ की गई है। यह खण्ड शिताबराय लक्ष्मीचन्द जैन साहित्योद्धारक फण्ड भमरावती से प्रारम्भ की ६ जिल्दों में प्रकाशित हुआ है।

(२) क्षुद्रकबन्ध—यहाँ संक्षेप में बन्धक जीवों की चर्चा की गई है। बन्ध की विस्तृत प्ररूपणा इसके छठे खण्ड महाबन्ध में की गई है। यही कारण जो इसे क्षुद्रकबन्ध कहा गया है। पूर्व जीवस्थान खण्ड में जीवों का जो विवेचन गुणस्थानों और मार्गणाओं के आश्रय से किया गया है वह यहाँ कुछ विशेषताओं के साथ गुणस्थान निरपेक्ष केवल मार्गणाओं के आश्रय से इन ११ अनुयोगद्वारों में किया गया है—एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, एक जीव की अपेक्षा काल, एक जीव की अपेक्षा अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, नाना जीवों की अपेक्षा काल, नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर, भागाभागानुगम और अल्पबहुत्वानुगम। यह खण्ड उक्त संस्था द्वारा ७वीं जिल्द में प्रकाशित किया गया है।

(३) बन्धस्वामित्वविचय—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग के द्वारा जो जीव और कर्मपुद्गलों का एकता (अभेद) रूप परिणमन होता है वह बन्ध कहलाता है। किन्तु कर्मप्रकृतियों के बन्ध के कौन जीव स्वामी हैं और कौन नहीं हैं, इसका विचार इस खण्ड में प्रथमः गुणस्थान के आश्रय से और तत्पश्चात् मार्गणाओं के आश्रय से किया गया है। विवक्षित प्रकृतियों का बन्ध जिस गुणस्थान तक होता है, आगे नहीं होता; उन प्रकृतियों का वहाँ तक बन्ध और आगे के गुणस्थानों में उनकी बन्धशुच्छिति

जानना चाहिये। इसी पद्धति से यहाँ प्रश्नोत्तरपूर्वक उसका विचार किया गया है। यह खण्ड उक्त संस्था से ८वीं जिल्द में प्रकाशित हुआ है।

(४) वेदनाखण्ड—इस खण्ड को प्रारम्भ करते हुए प्रथमतः ‘णमो जिणाण, णमो भोहिजिणाण’ आदि ४४ सूचो द्वारा संलग्न किया गया है। पश्चात् अष्टावर्णीय पूर्व के अन्तर्गत पचिबी वस्तु (अधिकार-विशेष) के चतुर्थ प्राभूतभूत कर्मप्रकृति-प्राभूत कृति-वेदनादि २४ अनुयोगद्वारो का निर्देश करते हुए नामकृति, स्थापनाकृति, द्रव्यकृति, गणनाकृति, ग्रन्थकृति, करणकृति और भावकृति इन सात कृतियों की प्ररूपणा की गई है। तत्पश्चात् वेदनानिषेध, वेदनानयविभाषणता, वेदनानामविधान, वेदनाद्रव्यविधान, वेदनाक्षेत्रविधान, वेदनाकालविधान, वेदनाभावविधान, वेदनाप्रत्ययविधान, वेदनास्वामित्वविधान, वेदना-वेदनविधान, वेदनागतिविधान, वेदनाअनन्तरविधान, वेदनासंनिकर्षविधान, वेदनापरिणामविधान, वेदना-भागभागविधान और वेदना-अल्पवहुत्व इन १६ अनुयोगद्वारों के आश्रय से वेदना की प्ररूपणा की गई है। यह खण्ड उक्त संस्था द्वारा ९ से १२ इन चार जिल्दों में प्रकाशित हुआ है।

(५) वर्गणा—इस खण्ड के प्रारम्भ में प्रथमतः नाम-स्थापनादिरूप तेरह प्रकार के स्पर्श की प्ररूपणा स्पर्शनिषेध व स्पर्शनयविभाषणता आदि १६ (वेदनाखण्ड के समान) अनुयोगद्वारो के आश्रय से की गई है। अनन्तर नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अवकर्म, ईर्ष्यापथकर्म, तपकर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म इन दस कर्मों का विवेचन किया गया है। इन कर्मों का निरूपण आचारोंग में भी किया गया है। तत्पश्चात् निषेधादि १६ अनुयोग द्वारों के आश्रय से कर्म की मूल और उत्तर प्रकृतियों की प्ररूपणा की गई है।

कर्म से सम्बन्धित ये चार अवस्थाये हैं—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान। द्रव्य का द्रव्य के साथ अथवा द्रव्य भाव का जो संयोग या समवाय होता है उसका नाम बन्ध है। इस बन्ध के करने वाले जो जीव है वे बन्धक कहलाते हैं। बन्ध के योग्य जो पुद्गल द्रव्य है उन्हें बन्धनीय कहा जाता है। बन्धविधान से अभिप्राय बन्धभेदो का है। वे चार हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रवेश। इनमें यहाँ बन्ध, बन्धक और बन्धनीय इन तीन की प्ररूपणा की गई है। बन्धविधान की प्ररूपणा विस्तार से छठे खण्ड महाबन्ध में की गई है। यह खण्ड उक्त संस्था से १३ और १४ इन दो जिल्दों में प्रकाशित हुआ है।

इन पांच खण्डों पर आचार्य बीरसेन द्वारा विरचित ७२००० श्लोक प्रमाण धवला नाम की टीका है, जो शक सम्वत् ७३८ (वि० स० ८७३) में उनके द्वारा समाप्त की गई है। उक्त संस्था द्वारा इस टीका के साथ ही मूल ग्रन्थ १४ जिल्दों में प्रकाशित हुआ है।

आगे इस धवला टीका में कर्मप्रकृतिप्राभूत के कृति आदि २४ अनुयोगद्वारो में जो निबन्धन आदि शेष १८ अनुयोगद्वार मूल ग्रन्थकार के द्वारा नहीं प्ररूपित हैं, उनकी प्ररूपणा सशेष से बीरसेनाचार्य के द्वारा की गई है। इस प्रकार बीरसेनाचार्य द्वारा प्ररूपित वे अठारह अनुयोगद्वार उक्त संस्था द्वारा १५ और १६ इन दो जिल्दों में प्रकाशित किये गये हैं।

(६) महाबन्ध—यह प्रस्तुत षट्सङ्गागम का अन्तिम खण्ड है। इसमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रवेश इन पूर्वनिर्दिष्ट बन्ध के चार भेदों की प्ररूपणा विस्तार से की गई है। इस पर कोई टीका नहीं है। वह मूलग्रन्थकार आ. भूतबलि के द्वारा इतना विस्तार से लिखा गया है कि सम्भवतः उसके

१. णाम ठवणाकम्म दव्वकम्म पयोगकम्म च । समुदाणिरियावहियं आहाकम्मं तवोकम्मं ॥ किहकम्म भावकम्म दसविहकम्म समासमो होई । आचारांग नि. गा. १२२-६३, पृ. ८३.
२. भूदवलिमडारएण जेणदं सुत्तं देसामासियभावेण लिहिद तेणदेण सुत्तेण सूचिदसेसमद्वारसपणियोग-द्वाराण किचिसंखेवेण पक्खणं कस्सामो । धव. पु. १५, पृ. १ (विशेष के लिए देखिये धनेकान्त बर्ष १६, किरण ४, पृ. २६५-७० में ‘षट्सङ्गागम और शेष १८ अनुयोगद्वार’ शीर्षक लेख) ।

ऊपर टीका लिखने की आवश्यकता नहीं समझी गई। इसका ग्रन्थप्रमाण ३००० श्लोक है, जब कि पूर्वोक्त पांच खण्डों का मूल ग्रन्थप्रमाण ६००० श्लोक ही है।

यह छठा खण्ड भारतीय ज्ञानपीठ काशी के द्वारा सात जिल्दों में प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग निम्न शब्दों में हुआ है—

मूल—अकार्यिक, अजघन्य द्रव्यवेदना, अधःकर्म, आगमभावप्रकृति, आगमभावबन्ध, आलापनबन्ध और आहारद्रव्यवर्णा आदि।

ध. टीका—अकर्मभूमिक, अकपाय, अकृतसमुद्घात, अक्ष (अवख), अक्षपकानुपशामक, अक्षरज्ञान, अक्षर-भृतज्ञान, अक्षरसमास, अक्षरसंयोग, अक्षिप्र, अक्षीणमहानस, अक्षेम, अक्षौहिणी, अश्वकर्णकरण, असातवेदनीय और असातसमयप्रबद्ध आदि।

२. कसायपाट्ट (कषायप्राभूत)—यह आचार्य गुणवर के द्वारा रचा गया है। इसे पेज्ज-दोस-पाट्ट भी कहा जाता है। पेज्ज (प्रेयस) का अर्थ राग और दोस का अर्थ द्वेष होता है। ये (राग-द्वेष) दोनों चूकि कषायस्वरूप ही हैं, अतः उक्त दोनों नाम समान अभिप्राय के सूचक हैं। इसका रचनाकाल सम्भवतः विक्रम की प्रथम शताब्दी से पूर्व है।

यह परमाणम मूलरूप गाथाओं में रचा गया है। समस्त गाथाओं की संख्या २३३ (मूल गा. १८० + भाष्यगा. १५३) है। इसकी गाथायें दुर्लभ व अग्र्यगम्भीर हैं। षट्खण्डागम में जहाँ ज्ञानावरणादि आठो कर्मों का विवेचन किया गया है वहाँ प्रस्तुत कसायपाट्ट में एक मात्र मोहनीय कर्म का ही व्याख्यान किया गया है। इसमें प्रेयोद्वेषविभक्ति, स्थितिबिभक्ति व अनुभागविभक्ति आदि १५ अर्थाधिकार हैं। इसके ऊपर आचार्य यतिवृषभ (विक्रम की छठी शताब्दी) प्रणीत ६००० श्लोक प्रमाण तृणसूत्र और आचार्य वीरसेन व उनके शिष्य जिनसेनाचार्य द्वारा विरचित ६००० श्लोक प्रमाण जयधवला नाम की टीका है। उक्त टीका को २०००० श्लोक प्रमाण रचन के बाद आचार्य वीरसेन स्वयं स्थ हो गए। तब उनकी इस अघृणी टीका की पूर्ति उनके शिष्य जिनसेनाचार्य के द्वारा की गई है। यह टीका जिनसेन स्वामी के द्वारा एक स. ७६६ (वि.सं. ८६४) में पूर्ण की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अभी तक पूर्वोक्त तृण और जयधवला टीका के साथ ११ भाग दि. ० जैन सच मथुरा के द्वारा प्रकाशित हुए हैं। इसके अतिरिक्त केवल उक्त तृणसूत्रों के साथ वह वीर शासन संघ कलकत्ता द्वारा पृथक् से प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

तृण—अकरणोपशामना, अश्वकर्णकरण और असामान्य स्थिति आदि।

ज. टीका—अकरणोपशामना, अकर्मबन्ध, अकर्मोदय, अतिस्थापना, अन्तकृद्वा, अपचयपद और अपवृद्धि आदि।

३. समयप्राभूत यह आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा विरचित एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थ है। कुन्दकुन्दका दूसरा नाम पद्मनन्दी भी रहा है। इनका समय प्रायः विक्रम की प्रथम शताब्दी माना जाता है। ये मूलसंघ के प्रमुख थे और कठोरतापूर्वक निर्मल चारित्र्य का परिपालन स्वयं करते व सचस्व अन्य मुनि जनों से भी कराते थे। ये ८४ पाट्ट ग्रन्थों के कर्ता माने जाते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में शृद्ध निश्चयनय की प्रधानता से शृद्ध आत्मतत्त्व का विचार किया गया है। इसमें ये ६ अधिकार हैं—जीवाजीवाधिकार (प्रथम व द्वितीय रंग), कर्तृ-कर्माधिकार, पुण्य-पापाधिकार, आलस्य, सवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष और सर्वविशुद्ध ज्ञान। इसकी समस्त गाथासंख्या ४४५ है। इसके ऊपर एक टीका (आत्मव्याप्ति) अमृतचन्द्र सूरि (वि. की १०वीं शती) विरचित और दूसरी (सात्पर्यवृत्ति) आ. जयसेन (वि. की १२वीं शती) विरचित है। इसके कई संस्करण निकल चुके हैं। हमारे पास जो संस्करण है वह उक्त दोनों टीकाओं के साथ भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशनी संस्था काशी से प्रकाशित हुआ है।

इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अमृतदृष्टि, आलोचन और उपग्रहण आदि।

आत्मस्याति—अध्यवसाय और अमृतदृष्टि आदि ।

तात्पर्यवृत्ति—अनेकान्त आदि ।

प्रस्तुत लक्षणावली में आ. कुन्दकुन्द विरचित इन अन्य ग्रन्थों का भी उपयोग हुआ है—

‘प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, दर्शनप्राप्त, चारित्रप्राप्त, बोधप्राप्त, भावप्राप्त, मोक्षप्राप्त और द्वादशानुप्रेक्षा ।

४. प्रवचनसार—इसमें ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन और चरणानुसूचिका चूलिका ये तीन श्रुतस्कन्ध (अधिकार) हैं । इनमें अध्यात्म की प्रधानता से ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र का निरूपण किया गया है । इनकी गाथा संख्या ६२+१०=+७५=२७५ है । इसके ऊपर भी आ. अमृतचन्द्र और जयसेन के द्वारा पृथक्-पृथक् टीका लिखी गई है । इसका एक संस्करण परम श्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई से उक्त दोनों टीकाओं के साथ प्रकाशित हुआ है । इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अशुभोपयोग और उपयोग आदि ।

अमृत. टी.—अपवाद, अपवादसापेक्ष उत्सर्ग, अलोक, अशुद्ध उपयोग, अशुभोपयोग, उपयोग ।

जय. टी.—अर्थपर्याय और अलोक आदि ।

५. पंचास्तिकाय—यह प्रथम व द्वितीय इन दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है । जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं । जो गुण और पर्यायों से सहित हो उसे द्रव्य कहते हैं । भूत और अमृत द्रव्यों के जो निर्विभाग भाग हैं वे प्रदेश कहलाते हैं । जो द्रव्य ऐसे प्रदेशों के समूह से संयुक्त हैं उन्हें अस्तिकाय कहा जाता है । वे पाँच हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश । गुण और पर्यायों से संयुक्त होने के कारण यद्यपि काल भी द्रव्य है, पर प्रदेशप्रवचनार्थक न होने से उसे अस्तिकायों में नहीं ग्रहण किया गया है । उसके भी स्वरूप आदि का दिग्दर्शन यहाँ संक्षेप में करा दिया गया है । इस प्रकार पाँच अस्तिकाय और काल इन छह द्रव्यों की प्ररूपणा यहाँ प्रथम श्रुतस्कन्ध में की गई है । इस प्रथम श्रुतस्कन्ध का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है—जो परमाणु के सारभूत पंचास्तिकायों के समूह को जान करके राग और द्वेष को छोड़ता है वह दुःख से छुटकारा पा लेता है । इस शास्त्र के धर्म को—शुद्ध चैतन्यस्वभाव आत्मा को—जान कर उसके अनुसरण में उद्यत होता हुआ जो जीव दर्शनमोह (मिथ्यात्व) से रहित हो जाता है वह राग-द्वेष को नष्ट करता हुआ पूर्णपर बन्ध से रहित हो जाता है—दुःख से मुक्ति पा लेता है ।

आगे द्वितीय श्रुतस्कन्ध में प्रथमतः मोक्षमार्ग के विषयभूत जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इन नौ पदार्थों का विवेचन किया गया है । तत्पश्चात् मोक्षमार्ग स्वरूप ज्ञान, दर्शन और चारित्र के स्वरूप को बतला कर परचरित (परसमय) और स्वचरित (स्वसमय) का विचार करते हुए कहा गया है कि ससारी जीव यद्यपि स्वभावनियत है—ज्ञान-दर्शन में अवस्थित है—फिर भी अनादि मोहनीय कर्म के उदय से वह विभाव गुण-पर्यायों में परिणत होता हुआ परसमय है । यदि वह मोहनीय के उदय से होने वाली विभाव परिणति से रहित होकर अत्यन्त शुद्ध उपयोग वाला हो जाता है तो वह कर्मबन्ध से रहित हो सकता है । इत्यादि प्रकार से यहाँ निदचय-भयवहारस्वरूप मोक्षमार्ग का विचार किया गया है । अन्त में ग्रन्थकार के द्वारा कहा गया है कि मैंने प्रवचनभक्ति से प्रेरित होकर मार्गप्रभावना के लिए प्रवचन के सारभूत पचास्तिप्रसंग सूत्र को कहा है । इस पर भी अमृतचन्द्र सूत्र विरचित तत्त्वदीपिका और जयसेनाचार्य विरचित तात्पर्यवृत्ति नाम की दो टीकायें हैं । इसकी गाथासंख्या १०४+६६=१७० है । इन दोनों टीकाओं के साथ वह परम श्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई से प्रकाशित हुआ है । इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अधर्मद्रव्य, अस्तिकाय और आकाश आदि ।

तत्त्वदी.—अकालुष्य, अचक्षुदर्शन, अजीव, अपक्रमपट्क, अभिनिबोध, अलोक, अशुद्ध चेतना, अस्ति-अवस्तद्रव्य, अस्तित्व, अस्ति-नास्ति-अवस्तव्यद्रव्य और अस्ति-नास्तिद्रव्य आदि ।

तात्पर्य.—अक्षरात्मक, अक्षरसुदर्शन, अजीव, अशर्मद्रव्य, अपक्रमबद्ध और भ्रूलोक आदि ।

६. नियमसार—ग्रन्थकार कुन्दकुन्दाचार्य ने यहाँ सर्वप्रथम बीर जिन को नमस्कार करते हुए केवली एवं श्रुतकेवली द्वारा प्रणीत नियमसार के कहने की प्रतिज्ञा की है । फिर 'नियमसार' के शब्दार्थ को प्रगट करते हुए कहा गया है कि जो कार्य नियम से किया जाना चाहिए वह नियम कहलाता है । वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य स्वरूप है । इस 'नियम' के साथ जो 'सार' शब्द प्रयुक्त है वह विपरीतता के परिहारार्थ है । यह ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यस्वरूप नियम भेद व अभेद विवक्षा से दो प्रकार का है । शुद्ध ज्ञानचेतना-परिणामविषयक ज्ञान व श्रद्धा के साथ उसी में स्थिर रहना, यह अभेद रत्नत्रय स्वरूप नियम है । तथा प्राप्त, प्रागम और तत्त्व के अद्वान के साथ जो तद्विषयक राग-द्वेष की निवृत्ति है, यह व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप नियम है जो भेदाश्रित है । यह नियम मोक्ष का उपाय है और उसका फल निर्वाण है । इन्हीं तीनों की यहाँ पृथक्-पृथक् प्ररूपणा की गई है । इस प्रसंग में यहाँ प्रथमतः उक्त सम्यग्दर्शन के विषयभूत प्राप्त, प्रागम और तत्त्व का विवेचन करते हुए प्राप्तप्रणीत तत्त्वार्थों—जीवादि छह द्रव्यों—का वर्णन किया गया है । इन बीच प्रसंग पाकर पाँच वर्तों, पाँच समितियों और तीन गुणधिरूप व्यवहार चारित्र्य का निरूपण करते हुए अहिंसित, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु का स्वरूप प्रगट किया गया है । इस प्रकार यहाँ आत्मशोधन में उपयोगी प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, परमसमाधि, रत्नत्रय और आवश्यक का विवेचन करते हुए शुद्ध आत्म-विषयक विचार किया गया है । ग्रन्थगत गाथाओं की संख्या १८६ है । इस पर पद्यप्रभ मलचारिदेव (वि. सं. १३वीं शताब्दी—१२४२) के द्वारा टीका रची गई है । इस टीका के साथ वह जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया है । इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अचौर्य महाव्रत, अशर्मद्रव्य, अहंन, अहिंसामहाव्रत, आकाश, आदाननिक्षेपणसमिति, प्राप्त, ईर्ष्यासमिति और एषणासमिति आदि ।

टीका—अशर्मद्रव्य और आकाश आदि ।

७. दर्शनप्राप्त—इसमें ३६ गाथायें हैं । सर्वप्रथम यहाँ सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल बता कर यह कहा गया है कि जो जीव सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है उसे भ्रष्ट ही समझना चाहिए, वह कभी मुक्ति को प्राप्त नहीं हो सकता । किन्तु जो चरित्र में भ्रष्ट है, वह समयानुसार मुक्त हो सकता है । सम्यग्दर्शन से रहित जीव घोर तपश्चरण क्यों न करने रहे, परन्तु वे करोड़ों वर्षों में भी बोधि को नहीं प्राप्त कर सकते । जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वे ज्ञान और चारित्र्य से भी भ्रष्ट हैं । ऐसे जीव स्वयं तो नष्ट होते ही हैं, साथ ही दूसरों को भी नष्ट किया करते हैं । यहाँ सम्यग्दर्शन के स्वरूप को प्रगट करते हुए कहा गया है कि जो छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्व इन जिनप्रणीत तत्त्वों के स्वरूप का अद्वान करता है उसे सम्यग्दर्ष्ट समझना चाहिए । यह व्यवहार सम्यक्त्व है । निश्चय से तो आत्मा ही सम्यग्दर्शन है । भागे कहा गया है कि जो शक्य अनुष्ठान को—जिसे किया जा सकता है—करता है और अशक्य पर श्रद्धा रखता है, उसके सम्यक्त्व है या वह सम्यग्दर्ष्ट है; ऐसा केवली के द्वारा कहा गया है । इस प्रकार यहाँ सम्यग्दर्शन की महिमा को प्रगट किया गया है । इसके ऊपर भट्टारक श्रुत-सागर सूरि के द्वारा टीका रची गई है । इस टीका के साथ वह 'वटप्रास्तादिसंग्रह' में मा० दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित हुआ है । इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—आज्ञासम्यक्त्व और उपदेश सम्यक्त्व आदि ।

८. चारित्र्यप्राप्त—इसमें ४४ गाथायें हैं । यहाँ चारित्र्य के दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—सम्यक्त्वचरणचारित्र्य और संयमचरणचारित्र्य । निःशंकित निःकांक्षित, निर्विकल्पा, अमूढदृष्टि, उप-श्रुत, स्थितिकरण, वास्तव्य और प्रभावना ये जो सम्यक्त्व के आठ गुण या अंग हैं उनसे विशुद्ध उस सम्यग्दर्शन का जो ज्ञान के साथ आचरण किया जाता है इसे सम्यक्त्वचरणचारित्र्य कहा जाता है । जीव

सम्यग्दर्शन से द्रव्य-पर्यायों को देखता है—अज्ञा करता है, ज्ञान से जानता है तथा चारित्र से दोषों को दूर करता है ।

सागार और भ्रनगार के भेद से संयमचरण दो प्रकार का है । दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषण, सच्चित्, रात्रिमन्त्र, ब्रह्म, धारम्भ, पञ्चब्रह्म, अनुमनन और उद्दिष्ट इन ग्यारह प्रतिमाओं का यहाँ संक्षेप में निर्देश करते हुए इस सब धाचरण को वेशविरत (सागरचारित्र) कहा गया है । आगे पाँच भ्रनुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतो का उल्लेख करके सागरसंयमचरण को समाप्त किया गया है । यहाँ इतना विशेष है कि गुणव्रतो में दिशा-विदिशामान, धनर्षदण्डवर्जन और भोगोपभोगपरिमाण को तथा शिक्षाव्रतों में सामायिक, प्रोषण प्रतिथिपूजा और सत्नेखना इन चार को ग्रहण किया गया है ।

दूसरे भ्रनगारसंयमचरण का विचार करते हुए मनोज व भ्रमनोज सजीव व भ्रजीव द्रव्य के विषय में राग-द्वेष के परिहारस्वरूप पाँच इन्द्रियों के संवरण, पाँच व्रत, पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ, इन सबको भ्रनगारसंयमचरण कहा गया है । यहाँ ग्रहिसादि पाँच व्रतों का निर्देश करते हुए उनकी पृथक् पृथक् भावनाओं का भी उल्लेख किया गया है । तत्पश्चात् पाँच समितियों का निर्देश करते हुए घन्त में कहा गया है कि जो भ्रम्य जीव स्पष्टतया रहे गये भावशुद्ध इस चारित्रप्राप्त्युक्त का चिन्तन करते हैं वे शीघ्र ही चतुर्गति परिभ्रमण से छूटकर भ्रयुनर्भव—जन्म-मरण से रहित—हो जाते हैं । इसके ऊपर भी भ. श्रुतसागरकी टीका है व उनके साथ वह पूर्वोक्त ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुआ है । इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है —

टीका—भ्रनुकम्पा, ईयांसमिति और ऐषणाममिति आदि ।

६. **बोधप्राभूत**—इसमें ६२ गाथाएँ हैं । यहाँ सर्वप्रथम आचार्यों को नमस्कार करते हुए समस्त जनों के प्रबोधनार्थ जिनेंद्र के उपदेशानुसार पट्कायहितकर—छह काय के जीवों के लिए हितकर शास्त्र के (बोधप्राभूत के)—कहने की प्रतिज्ञा की गई है । तत्पश्चात् आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनविन्द, जिनमुद्रा, ध्यात्मस्थ ज्ञान, ग्रहिन के द्वारा दृष्ट देव, तीर्थ, ग्रहिन और प्रव्रज्या इन ग्यारह विषयों का यहाँ अध्यात्म की प्रधानता से विचार किया गया है ।

घन्त में ग्रन्थकार कहते हैं कि जिनमार्ग में शुद्धि के लिए जिस प्रकार जिनेंद्रों ने रूपस्थ—निर्गन्धरूपस्थ आचरण—को कहा है उसी प्रकार से भ्रम्य जनों के बोधनार्थ पट्कायहितकर को कहा गया है । भाषासूत्रों में जो शब्दविकार हुआ है व उसे जैसा जिनेंद्र ने कहा है उसे जान करके भ्रब्रबाहु के शिष्य (कुम्भकुम्भ) ने वैसा ही कहा है । बाह्य भागों के ज्ञाता, चौदह पूर्वियों के विशाल विस्तार से युक्त, और गणकों के गुण भगवान् श्रुतज्ञानी (श्रुतकैवली) भ्रब्रबाहु जयवन्त हैं । यह भी श्रुतसागर सूरि विरचित टीका के साथ पूर्वोक्त संग्रह में उक्त सन्धा से प्रकाशित हुआ है । इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—भ्रहृद्भाव और भ्रहृन् आदि ।

टीका—भ्रजगमप्रतिमा आदि ।

१०. **भावप्राभूत**—इसमें १६३ गाथाएँ हैं । यहाँ सर्वप्रथम यही सूचना की गई है कि प्रधान लिङ्ग—साधुत्व की पहिचान—भाव है, न कि द्रव्यलिङ्ग—बाह्य वेष । कारण इसका यह है कि गुण और दोषों का कारण भाव ही है । बाह्य परिग्रह का जो त्याग किया जाता है वह भावविशुद्धि के लिए ही किया जाता है, अग्न्यन्तर परिग्रह-स्वरूप मिथ्यात्वादि के त्याग के बिना बाह्य परिग्रह का वह त्याग निष्फल होता है । यदि नम्रता आदिरूप बाह्य लिङ्ग ही प्रमुख होता तो द्रव्य से नम्र तो सभी नारकी और तिर्यच रहा करते हैं, पर परिणाम से श्रशुद्ध रहने के कारण क्या वे कभी भावव्यमणता—यथार्थ साधुता—को प्राप्त हुए हैं ? नहीं । मुमुक्षु मुनि प्रथमतः मिथ्यात्वादि दोषों से रहित हो करके भाव से नम्र होता है और तत्पश्चात् जिनाज्ञा के अनुसार द्रव्य से लिङ्ग को—बाह्य साधुवेष को—प्रकट करता है । जो साधु शरीर-रादि सब प्रकार के परिग्रह को छोड़कर मान कपायादि से पूर्णतः रहित होता हुआ धारमा में लीन रहता है वह साधु भावलिङ्गी होता है । स्वर्गमुख और मुक्तिमुख का भोक्ता भाव से ही होता है, भाव से रहित

साधु तिर्यङ्गति का पात्र होता है। यहाँ कुछ उदाहरण देते हुए भाव को प्रधान इस प्रकार से सिद्ध किया गया है—

१. शरीरादि से निर्ममत्व होकर भी बाहुबली को मान कषाय से कलुषित रहने के कारण एक वर्ष तक ध्यापनयोग से स्थित रहना पड़ा—तब तक उन्हें केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ। २. मधुपिण नामक मुनि शरीर और आहारादि की प्रवृत्ति को छोड़ करके भी निदान मात्र के कारण भावश्रमण नहीं हो सका। ३. वशिष्ठ मुनि भी निदान के दोष से दुःख को प्राप्त हुआ। ४. भाव के बिना रीत्र परिणाम के वशीभूत हुआ बाहु मुनि जिनर्लिंग से युक्त होकर भी रौरव नरक को प्राप्त हुआ। ५. इसी प्रकार द्वीपायन मुनि दर्शन, ज्ञान और चारित्र से भ्रष्ट होकर अनन्तसंसारी हुआ। ६. बारह अंग और चौदह पूर्वरूप समस्त श्रुत को पढ़कर भी अव्यसेन मुनि भावश्रमणता को—यथार्थ मुनिपने को—नहीं प्राप्त हो सका।

१ इसके विपरीत निर्मलबुद्धि शिवकुमार मुनि युवति जनों से वेष्टित होकर भी भावश्रमण होने से परीतसंसारी—घोड़े ही समय में मुक्ति को प्राप्त करनेवाले हुए। २ तुष-माष की शोषणा करनेवाले—दाल और छिलके के समान आत्मा और शरीर पृथक् पृथक् हैं, इस प्रकार आत्मस्वरूप का निश्चय करने वाले—शिवभूति मुनि प्रतिशय अल्पज्ञानी होकर भी केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं।

शालिसिक्ख (एक क्षुद्र मत्स्य) महामत्स्य के मुख के भीतर जाते-आते अनेक जलचर जन्तुओं को देख कर बिचार करता है कि यह कैसा मूल्य है जो मुख के भीतर प्रवेश करनेवाले जीवों को भी यों ही छोड़ देता है। यदि मैं इतना विशाल होता तो समस्त समुद्र के जन्तुओं को खा जाता। बस इसी पापपूर्ण बिचार से वह जीवहिंसा न करना हुआ भी महानरक को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार से आगे भाव पर अधिक जोर देते हुए अन्त में कहा गया है कि बहुत कहनेसे क्या? धर्म, धर्म, काम और मोक्ष ये पुरुषार्थ तथा अन्य भी व्यापार (प्रवृत्ति) ये सब भाव पर ही निर्भर हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ भी 'षट्प्राभूतादि संग्रह' में श्रुतसागर सूरि विरचित टीका के साथ उक्त संस्था द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

टीका—अधःकर्म, अग्र्यविदोष, अनिच्छाप्रवृत्तदर्शनबालमरण, अनुप्रेक्षा (स्वाध्याय), अभिहित, अवधिमरण, अव्यक्त बालमरण, आवीचिमरण, आसन्न और उद्भिन्न आदि।

११. मोक्षप्राप्त—इसमें १०६ गायार्थ हैं। यहाँ सर्वप्रथम जिसने पर ब्रह्म को छोड़कर कर्म से रहित होते हुए ज्ञानमय आत्मा को प्राप्त कर लिया है उस देव को नमस्कार करते हुए परम पदस्वरूप परमात्मा के कहने की प्रतिज्ञा की गई है। पदचातुर्निर्वाण के स्वरूप को प्रगट करते हुए कहा गया है कि जिस (परमात्मा) को जानकर निरन्तर खोजते हुए योगी अव्याबाध, अनन्त व अनुपम सुख को प्राप्त करता है, उसका नाम निर्वाण (मोक्ष) है। आगे जीवभेदों का निर्वण करते हुए बतलाया है कि बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से जीव तीन प्रकार के हैं। इनमें बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। बहिरात्मा इन्द्रियाँ हैं, अर्थात् आत्मस्वरूप को न जानकर बाह्य इन्द्रियविषयों में जो आसक्त रहता है वह बहिरात्मा कहलाता है। आत्मा की कल्पना होना—उसे शरीर से भिन्न समझना, यही अन्तरात्मा का स्वरूप है। समस्त कर्ममल से जो रहित हो चुका है उसे परमात्मा या देव कहा जाता है।

जो आत्मस्वरूप को न जानकर अचेतन शरीर के विषय में स्वकीय व परकीय की कल्पना किया करते हैं, उनका मोह पुत्र और स्त्री आदि के विषय में उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। निर्वाण उसी को

१ इन कथानकों को श्रुतसागर सूरि विरचित टीका से इस प्रकार जानना चाहिये—(१) बाहुबली गा. ४४, (२) मधुपिण ४५, (३) वशिष्ठ मुनि ४६, (४) बाहु मुनि ४६, (५) द्वीपायन ५०, (६) अव्यसेन ५२.

२. (१) शिवकुमार मुनि ५१, (२) शिवभूति मुनि ५३.

प्राप्त होता है जो शरीर के विषय में निरपेक्ष होकर निर्द्वन्द्व (निराकुल), निर्मम (निःस्पृह) और धारम्भ से रहित होता हुआ आत्मस्वभाव में निरत हो चुका है। जो स्त्री-पुत्रादि व वन-वृह आदि चेतन-अचेतन पर द्रव्यों में आसक्त रहता है वह अनेक प्रकार के कर्मों से सम्बद्ध होता है और जो उक्त पर द्रव्यों से विरक्त (पराङ्मुख) होता है वह उन कर्मों के बन्धन से छूटता है; यही संक्षेप में बन्ध और मोक्ष का उपदेश है। इसे कुछ और स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो अमण स्वद्रव्य—परद्रव्यनिरपेक्ष शुद्ध आत्मस्वरूप—में रत है वह सम्यग्दृष्टि है व सम्यक्त्व से परिणत होकर आठ कर्मों का क्षय करता है तथा जो साधु आत्मद्रव्य से अनभिज्ञ होकर परद्रव्य में निरत होता है वह मिथ्यादृष्टि है और मिथ्यात्व से परिणत होकर उक्त आठ कर्मों से बंधता है।

यहां यह आशंका हो सकती है कि जो शुद्ध आत्मद्रव्य में रत न होकर ग्रहंदादि पंच गुरुओं की भक्ति करता है, वनों का परिपालन करता है, और तप का आचरण करता है; उसका यह सब पुण्य कार्य क्या निरर्थक रहेगा? इसके उत्तरस्वरूप यहां (भा. २५) यह कहा गया है कि पाप कार्यों से जो नरकगति का दुःख प्राप्त होनेवाला है उसकी अपेक्षा उक्त शुभ कार्यों से यदि स्वर्गीय सुख प्राप्त होता है तो वह कहीं उत्तम है—स्तुत्य है। उदाहरणार्थ—जो व्यक्ति तीर्थ वृष में स्थित होकर किसी आत्मीय जन की प्रतीक्षा कर रहा है, उसकी अपेक्षा जो किसी वृक्ष की शीतल छाया में बैठ कर उसकी प्रतीक्षा कर रहा है वह सराहनीय है^१।

आगे ज्ञान, दर्शन और चारित्र का स्वरूप प्रगट करते हुए यह बतलाया है कि जो जानता है वह ज्ञान, जो देखता है वह दर्शन, और जो पुण्य व पाप दोनों का ही परित्याग है वह चारित्र है। प्रकारान्तर से तत्त्वचर्चि को सम्यक्त्व, तत्त्वग्रहण को सम्यग्ज्ञान और परिहार—परित्याग या उपेक्षा—को चारित्र कहा गया है। इस प्रकार यहां मोक्ष के उपायभूत सम्यग्दर्शनादि का विवेचन करने हुए परद्रव्य की ओर से विमुख होकर स्वद्रव्य में निरत होने का उपदेश विविध प्रकार से दिया गया है।

आगे (२६) श्रावक को लक्ष्य करके कहा गया है कि जो निर्मल सम्यक्त्व मेरु पर्वत के समान स्थिर है उसका दुःखविनाशार्थ ध्यान करना चाहिए। जो जीव सम्यक्त्व का ध्यान करता है वह सम्यग्दृष्टि है और वह आठ कर्मों का क्षय करता है। वहां उस सम्यक्त्व का स्वरूप यह बतलाया है कि हिसारहित, धर्म, अठारह दोषों से रहित देव और निर्ग्रन्थ प्रावचन—परिग्रहहित होकर आगम के आश्रित गुरु; इन तीनों पर श्रद्धा रखना, इसका नाम सम्यक्त्व है। जो कुत्सित देव, कुत्सित धर्म और कुत्सितलिंग (कुलिंगी साधु) को लज्जा, भय, प्रयत्न महत्त्व के कारण नमस्कार करता है वह मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि श्रावक जिनोपदिष्ट धर्म का ही आचरण करता है, यदि वह उसमें विपरीत आचरण करता है तो उसे मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए।

जो साधु मूलगुण को नष्ट कर बाह्य कर्म को—मंत्र-तंत्रादि क्रियाकाण्ड को—करता है वह जिन-लिंग का विराधक होने से मोक्षमुख को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। कारण यह कि आत्मस्वभाव के विपरीत बाह्य कर्म, बहुत प्रकार का क्षमण—उपवासादि, और आनाप—आतापनादि योग; यह सब क्या कर सकता है? कुछ नहीं। अन्त में कहा गया है कि अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांच परमेष्ठ। तथा सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और समोचीन तप ये चार भी चूक आत्मा में स्थित हैं; अतएव आत्मा ही मुझे शरण है।

आचार्य पूज्यपाद ने इसकी अनेक गाथाओं को छायानुवाद के रूप में अपने समाधितंत्र और इष्टोपदेश में स्वीकार किया है^२। इसका प्रकाशन जी श्रुतसागर सूरि विरचित टीका के साथ उक्त सस्या

१. वरं व्रतैः पदं दैवं नास्तैर्वत नारकम् । छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥ इष्टोपदेश ३.

२. इन गाथाओं का समाधितंत्र के इन श्लोकों से मिलान कीजिए—

मो. प्रा.—४, ६, १०, २६, ३१.

समाधि—४, १०, ११, १८, ७८ इत्यादि

द्वारा हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अन्तरात्मा आदि।

टीका—आत्मसंकल्प आदि।

(१२) द्वादशानुप्रेक्षा—इसमें ६१ गाथाये हैं। इसमें अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्वत्त्व, ससार, लोक, अशुचित्व, आक्षेप, सबर, निर्जरा, धर्म और बोधि इन १२ भावनाओं का विवेचन किया गया है। अन्तिम ४ गाथाओं में अनुप्रेक्षाओं के माहात्म्य को प्रगट करते हुए कहा गया है कि अनुप्रेक्षा से चूँकि प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना और समाधि सम्भव हैं; अतएव अनुप्रेक्षा का चिन्तन करना चाहिए। यदि अपनी शक्ति है तो रात्रि व दिन सम्बन्धी प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि, सामायिक और आलोचना करना चाहिए। अनादिकाल से जो मोक्ष गये हैं वे बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करके ही गये हैं। बहुत कहने से क्या? जो पुरुषोत्तम सिद्ध हुए हैं, होंगे, और हो रहे हैं; यह उसका (अनुप्रेक्षा का) माहात्म्य है। अन्त में अपने नाम का निर्देश करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार कुन्दकुन्द मुनिनाथ ने निश्चय-व्यवहार को कहा है। जो शुद्ध मन से उसका विचार करता है वह परम निर्वाण को प्राप्त करता है। इसका प्रकाशन मूलरूप में पूर्वोक्त संग्रह में मा. दि. जैन ग्रन्थमाला से ही हुआ है। इसका उपयोग आर्जव धर्म और एकत्वानुप्रेक्षा आदि शब्दों में हुआ है।

(१३) मूलाचार—यह मुनियों के आचार की प्ररूपणा करने वाला एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके रचयिता बटुकेशाचार्य हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि प्रस्तुत ग्रन्थ की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में ग्रन्थकर्ता के रूप में आचार्य कुन्दकुन्द के नाम का निर्देश पाया जाता है। इससे इसके रचयिता आ. कुन्दकुन्द ही प्रतीत होते हैं। दूसरे, बटुकर नाम के कोई आचार्य हुए भी नहीं दिखते, इत्यादि। कर्ता कोई भी हो पर ग्रन्थ प्राचीन है व पहली दूसरी शताब्दी में रचा गया प्रतीत होता है।

इसमें ये १२ अधिकार हैं—मूलगुण, बृहत्प्रत्याख्यानसंस्तरस्तव, संक्षेपप्रत्याख्यानसंस्तर, समाचार, पञ्चाचार, पिण्डशुद्धि, षड्वाक्यक, द्वादशानुप्रेक्षा, अनगारभावना, समयसार, शीलगुण और पर्यागति। इनमें गायत्र्याख्या क्रम से इस प्रकार है—३६+७१+१४+७६+२२२+८२+१६३+७६+१२५+१२८+२६+२०६=१२५१।

(१) मूलगुणाधिकार—इस अधिकार में अहिंसादि पाँच व्रत, पाँच समितियाँ, पाँच इन्द्रियनिरोध, छह प्रावश्यक, लोच, आचेलक्य (नग्नता), अस्तान, भूमिगयन, दन्तघर्षण का अभाव, स्थितिभोजन (खड़े रहकर भोजन) और एकभक्त (एक बार भोजन); इन मुनियों के २८ मूलगुणों का विवेचन किया गया है।

(२) बृहत्प्रत्याख्यानसंस्तरस्तव—मरण के उपस्थित होने पर साधु को दिला अथवा लकड़ी के पाटे आदि रूप विस्तर को स्वीकार करते हुए किस प्रकार से पाप का परित्याग करना चाहिए तथा उभ समय आत्मस्वरूप आदि का चिन्तन भी किस प्रकार करना चाहिए, इस सबका यहाँ विचार किया गया है।

(३) संक्षेपप्रत्याख्यानसंस्तरस्तव—किसी भयानक उपद्रव के कारण अकस्मात् मरण की सम्भावना होने पर आराधक जिन एवं गणधरादि को नमस्कार करते हुए संक्षेप से हिंसादि पाँच पापों के माँग सब प्रकार के आहार, चार सजाओं, आशा और कषायों का परित्याग करता है तथा सबसे महत्त्वपूर्ण को छोड़ कर समाधि को स्वीकार करता है। वह यह नियम करता है कि यदि इस उपद्रव के कारण जीवित का नाश होता है तो उक्त प्रकार से मैं सर्वदा के लिए परित्याग करता हूँ और यदि उस उपद्रव में बच जाता हूँ तो पारणा करूँगा। इस प्रसंग में यह कहा गया है कि यदि जीव एक भवग्रहण में समाधिमरण को प्राप्त करता है तो वह सात आठ भवग्रहण में निर्वाण को पा लेना है।

(४) समाचार—समता अर्थात् राग-द्वेष का अभाव, सम्यक्-आचार—धूलगुणादि का सम्यक् अनुष्ठान, सम आचार—ज्ञानादिरूप पांच प्रकार का आचार अथवा निर्दोष भिक्षाग्रहणरूप आचार तथा सब संयतों का क्रोधादि की निवृत्तिरूप या दशलक्षण धर्मरूप समान आचार; इस प्रकार समाचार या सामाचार के उक्त चार अर्थ निदिष्ट किये गये हैं। यह समाचार भौषिक और पदविभाग के भेद से दो प्रकार का है। इनमें भौषिक के दस और पदविभाग के अनेक भेद कहे गये हैं। इन सबका वर्णन प्रकृत अधिकार में किया गया है।

पदविभाग के प्रसंग में यहां यह कहा गया है कि कोई सर्वसमर्थ साधु अपने गुरु के पास यथा-योग्य श्रुत का ज्ञान प्राप्त करके विनीत भाव से पूछता है कि मैं आपके पादप्रसाद से अन्य ध्यायतन को जाना चाहता हूँ, इस प्रसंग में वह पांच छह प्रश्नों को पूछता है। इस प्रकार पूछने पर जब गुरु अन्यत्र जाने की आज्ञा दे देता है तब वह अपने से अतिरिक्त तीन, दो अथवा एक अन्य साधु के साथ वहां से निकलता है। यहाँ एक विहार तो गृहीतार्थ का और दूसरा विहार किसी गृहीतार्थ के साथ अगृहीतार्थ का ही बतलाया गया है, तीसरे किसी विहार की अनुज्ञा नहीं दी गई है। एकविहारी होने की अनुज्ञा उसी को दी गई है जो तप, सूत्र (द्रावशांगश्रुत), सत्त्व (बल), एकत्व—शरीरादि से भिन्न आत्मा—में अनु-राग, शून्य परिणाम, योग्य सहनन और धर्म से युक्त हो। इसके विपरीत स्वेच्छाचारी के विषय में तो यहाँ तक कहा गया है कि स्वच्छन्दतापूर्ण आचरण करने वाला तो मेरा शत्रु भी एकविहारी न हो। गृहीतार्थ के विहार के विषय में भी यह कहा गया है कि जहाँ आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्वविर और गणधर ये पांच आचार न हों वहाँ रहना उचित नहीं है।

इस प्रकार से जब कोई समर्थ साधु अन्य संघ में पहुँचता है तो सद्यस्थ साधु उसका यथायोग्य स्वागत करते हुए रत्नत्रयविषयक पूछताछ करते हैं। तत्पश्चात् वे उससे नाम, कुल, गुरु और बीजा आदि के विषय में प्रश्न पूछते हैं। इस प्रकार से यदि वह योग्य प्रतीत होता है तो उसे वे ग्रहण करते हैं, अन्यथा छोड़ देते हैं। और यदि आचार्य योग्य प्रमाणित न होते हुए भी उसे ग्रहण करता है तो वह स्वयं प्रायश्चित्त का भागी होता है।

इस प्रकार से इस अधिकार में मुनि व आचार्यादि के आचरणविषयक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चर्चा की गई है, जो साधुसंस्था के लिए मननीय है।

(५) पंच-आचार—यहाँ दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तप और वीर्य इन पांच प्रकार के आचारों और तद्विषयक अतिचारों की प्ररूपणा की गई है।

(६) पिण्डशुद्धि—पिण्ड का अर्थ आहार होता है। साधु के ग्रहण योग्य शुद्ध आहार किस प्रकार का होता है, इसका विचार प्रकृत अधिकार में किया गया है। सर्वप्रथम उद्गम, उत्पादन, एषण (अशन), संयोजन, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण इस प्रकार से आठ प्रकार की पिण्डशुद्धि निदिष्ट की गई है^१।

१. उद्गम—दाता गृहस्थ भोजनसामग्री को किस प्रकार के योग्य-अयोग्य साधनों के द्वारा प्राप्त करता है तथा उसे किस प्रकार से तैयार किया जाता है। इसका विचार १६ उद्गमदोषों में किया गया है। इन उद्गम दोषों से रहित होने पर ही साधु को आहार ग्रहण करना चाहिए।

२. उत्पादन—पान (मुनि आदि) जिन मार्गविरोधी अभिप्रायों से आहार को प्राप्त करता है, वे उत्पादनदोष माने जाते हैं। ये उत्पादन दोष भी १६ हैं।

३. अशनदोष—परोसनेवाले आदि की अशुद्धियों को अशनदोष में गिना जाता है। ये संख्या में १० हैं।

४. संयोजना दोष—शीत-उष्ण एवं सचित्त-अचित्त आदि अल्प वस्तुओं का परस्पर में संमिश्रण करना, इसे संयोजना दोष माना जाता है।

१. विशेष के लिए देखिये 'पिण्डशुद्धि के अन्तर्गत उद्दिष्ट आहार पर विचार' शीर्षक लेख। अनेकान्त वर्ष २१, किरण ४, पृ. १५५-६१.

५. प्रमाण दोष—अधिक आहार के ग्रहण करने पर साधु प्रमाण दोष का भागी होता है। उदर के चार भागों में से दो भागों को भोजन से और एक भाग को पानी से पूर्ण करना चाहिए तथा शेष एक भाग को वायुसंचार के लिए रिक्त रखना चाहिए। इस नियम का उल्लंघन करने पर साधु प्रमाण दोष से लिप्त होता है। पुरुष का प्राकृतिक आहार ३२ भास प्रमाण और महिला का वह २८ भास प्रमाण होता है। एक भास का प्रमाण एक हजार (१०००) चावल है।

६. अंगार दोष—आसन्नितपूर्वक आहार के ग्रहण करने पर साधु अंगार दोष से दूषित होता है।

७. धूम्र दोष—भोजन को प्रतिकूल मान कर निन्दा का अभिप्राय रखना, यह धूम्र दोष का लक्षण है।

८. कारण—भोजन ग्रहण करने के छह कारण हैं—भूख की पीडा, वैय्यावृत्त्य करना, आवश्यक क्रियाओं का परिपालन करना, संयम की रक्षा, प्राणों की स्थिति और धर्म की चिन्ता। धर्म का आचरण करने के लिए साधु को उक्त छह कारणों के होने पर ही आहार को ग्रहण करना चाहिए। इनके अतिरिक्त छह कारण ऐसे भी हैं जिनके होने पर भोजन का परित्याग करना चाहिए, अग्न्या धर्म का विघात अवश्यभावी है। वे छह कारण ये हैं—रोग का सद्भाव, देव-मनुष्यादिकृत उपद्रव, ब्रह्मचर्य का संरक्षण, जीवबया, तप और समाधिभरण। इनके अतिरिक्त बलवृद्धि, आयुवृद्धि, स्वादोलुपता और शरीरपुष्टि के लिए किये जाने वाले आहार का यहा सर्वथा निषेध किया गया है। इस प्रकार से यहाँ भोजनशुद्धि के निमित्त उक्त दोषों और अन्तराश्यों को दूर करने की प्रेरणा की गई है।

९. आवश्यक—यहाँ आवश्यक का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि जो इन्द्रियों और राग द्वेषादिरूप कषायों के द्वारा बधीभूत नहीं किया जाता है उसे 'अवश्य' नामसे कहा जाता है। ऐसे अवश्य (साधु) का जो आचरण है वह आवश्यक कहलाता है। 'निर्युक्ति' शब्दके अन्तर्गत 'युक्ति का अर्थ उपाय और 'निर्' का अर्थ निःशेष या सम्पूर्ण होता है। इस प्रकार इस अर्थिकार में चूँकि साधु के अनुष्ठानविषयक उपायोंका सम्पूर्ण विवेचन किया गया है, अतः इसे अग्न्यकार ने आवश्यकनिर्युक्ति कहते हुए आरम्भ में उसके निरूपण करने की प्रतिज्ञा की है। वे आवश्यक छह हैं—सामायिक, अनुविश्विस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। इन छह का यहाँ क्रमसे निरूपण किया गया है। अन्त में यहाँ अग्न्यकार द्वारा कहा गया है कि इस निर्युक्ति की निर्युक्ति को यहाँ मैंने संक्षेप से कहा है, विस्तार का प्रसंग अनुयोग से जानना चाहिए। टीकाकार वसुनन्दी ने अनुयोग का अर्थ आचारांग किया है।

अनुविश्विस्तव के प्रसंग में यहाँ प्रथमतः लोक को उद्योतित करने वाले तथा धर्मतीर्थ के कर्ता अरिर्हृत्तों को कीर्तन के योग्य बतलाते हुए उनसे उत्तम बोधि की याचना की गई है। लगभग ऐसा ही सूत्र आवश्यकसूत्र के भी इस प्रकरण में उपलब्ध होता है। आगे लोक की निर्युक्तिपूर्वक उसके तीर्थों का निर्देश किया गया है। आवश्यक निर्युक्तिकार ने वहाँ लोक के आठ भेदों का निर्देश किया है। प्रकृत में एक चिह्नलोक और कषायलोक का भी निर्देश किया गया है, ये दोनों आवश्यकसूत्र में नहीं हैं। वहाँ एक काललोक अधिक है। इसके पश्चात् और भी जो प्ररूपणा यहाँ और आवश्यकसूत्र में की गई है, दोनों में बहुत कुछ समानता है। इतना ही नहीं कुछ गाथायें भी यहाँ और आवश्यक-सूत्र में निर्युक्ति या भाष्य के रूप में कुछ शब्दभेद के साथ समानरूप से पायी जाती हैं। जैसे—

१. लोमुज्जोए धम्मतिथयरे जिणवरे य अरहंते । किस्स केवलमेव य उत्तमर्होहि मम दिस्सु ॥

सूला. ७-४२.

लोमस्सुज्जोमयरे धम्मतिथयरे जिणे । अरिहंते किस्सइस्सं चउवीसं वि केवली ॥ भाव. १, पृ. ४६.

२. नाम दुवणं दब्बं खेत चिह्णं कसायलोपो य ।

अवलोगो भावलोगो पज्जवलोगो य णादब्बो ॥ सूला. ७-४४.

नामं ठवणा दविए सिस्से काले भवे स भावे ध ।

पज्जवलोगे य तहा अट्टविहो लोमणिक्खेवो ॥ भाव. नि. १०५७.

मूलाचार— ७-४७, ७-५४, ५५, ५६, ५८,
 श्राव. नि. या भा. १६५ (भा.), २०२ (भा.), १०५६, १०६०, १०६२,
 मूलाचार— ६२, ६८, ६९, ७०, ७२.
 श्राव. नि. या भा. १०६६, १०६३, १०६४, १०६५, १०६७.

इसी प्रकार बन्धना श्रावश्यक के प्रकरण में भी उक्त दोनों शब्दों में कुछ गाथाये साधारण शब्द-भेद व अर्थभेद के साथ समान रूप से उपलब्ध होती हैं।

८. **द्रावज्ञानप्रेक्षा**—इस अधिकार में अनित्यादि १२ अनुप्रेक्षाओं का निरूपण किया गया है। इसमें ७६ गाथायें हैं।

९. **अनगारभावना**—इस अधिकार में लिंगशुद्धि, व्रतशुद्धि, बलशुद्धि, विहारशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, उज्ज्वल (स्वाग) शुद्धि—शरीर से अनुराग का परित्याग, वाक्यशुद्धि, तपःशुद्धि और ध्यानशुद्धि; इन सब की प्ररूपणा की गई है। उज्ज्वलशुद्धि के प्रसंग में साधु के लिए भूंह, नेत्र और दातों के धोने, पावों के धोने, संवाहन—प्रंगमर्दन, परिमर्दन—हाथ की मुठ्टियों आदि से ताड़न और शरीरसंस्कार की निषिद्ध बताया गया है। इस अधिकार में १२५ गाथायें हैं।

१०. **समयसार**—समय शब्द से गुण-पर्यायों के साथ एकता (अभेद) को प्राप्त होने वाले सभी पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं। प्रकृत में 'समय' शब्द से जीव अपेक्षित है। उसके सारभूत जो समयवर्धन, ज्ञान, चारित्र्य और ध्यान आदि हैं उनके परिपालन में भुमुक्ष को सतत सावधान रहना चाहिए; इत्यादि की चर्चा इस अधिकार में की गई है।

यहाँ क्रियाविहीन ज्ञान को, संयमविहीन लिंग के ग्रहण को और समयवत्त्वविहीन तप को निरर्थक कहा गया है। आगे यहाँ आचार्यकुल को छोड़कर एकाकी विहार करने वाले को पारश्रमण कहा गया है। इस अधिकार में १२४ गाथायें हैं।

११. **श्रीलक्षणधिकार**—इस अधिकार में प्रथमतः योग ३, करण ३, सजा ४, इन्द्रिय ५, पृथिवीकायादि १० और श्रमणधर्म १०; इनके परस्पर गुणन से निष्पन्न होने वाले १८००० शीलों का निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् प्राणिबवादि २१, अतिक्रमण, व्यतिक्रमण, अतिचार और अनाचार ये चार; पृथिवी, अप, अग्नि, वायु, प्रत्येक, साधारण, द्रोन्द्रिय, क्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय इन दस को परस्पर में व्यथा करने के कारण परस्पर गुणित करने पर १०० (१० × १०); अन्नह्रा के कारण १०, आलोचना दोष १०, श्रद्धा के साथ आलोचना-प्रतिक्रमणादि १०, इन सब को परस्पर गुणित करने से (२१ × ४ × १०० × १० × १० × १० = ८४०००००) समस्त गुण चौगुनी लाख होते हैं। आगे इनके भंगों के उत्पत्तिक्रम को भी बताया गया है।

१२. **पर्याप्ति अधिकार**—इस अधिकार में क्रम से पर्याप्तियाँ, वेद, सस्थान, काय, इन्द्रिय, योगि, धायु, प्रमाण (द्रव्य-क्षेत्रादिप्रमाण), योग, वेद, लेख्या, प्रवीचार, उपपाद, उद्धर्तन, स्थान, कुल, अल्प-बहुत्व और प्रकृत्यादि बन्ध; इन विषयों की प्ररूपणा की गई है।

यहाँ उपपाद और उद्धर्तन (गति-अगति) प्रकरण का उपसंहार करते हुए अन्त्यकार ने यह निर्देश किया है कि इस प्रकार से सारसमय में प्ररूपित गति-आगति का यहाँ मैंने कुछ वर्णन किया है। टीकाकार वसुनन्दी ने सारसमय का अर्थ व्याख्याप्रशप्ति किया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

१. देखिये मूलाचार अधिकार ७, गा. ७६-८०, ८१, ८५, ८८, १०३ और १०४ आदि तथा श्राव. नियुक्ति गा. ११०२-३, १२१७, ११०५, ११०६, १२०१, १२०२ आदि।

२. आचार्यकुल मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एमागो।

ण य मेण्हनि उवदेस पावस्समणो त्ति वुच्चदि दु ॥ १०-६८.

अधिकार ८ को गा. २६-३३ भी द्रष्टव्य हैं (पृ. १२८-३८)।

मूल—अङ्गारदोष, अत्यासादना, अदन्तमनव्रत, अघ्यवि दोष, अनन्तसंसारी, अनुभाषणाशुद्ध-प्रत्याख्यान, अलोक, आशाविचय और आवश्यकनिर्भूत आदि ।

टीका—अकिञ्चनता, अचक्षुदर्शन, अत्यासादना और अदत्तग्रहण आदि ।

१४ भगवती आराधना—इसके रचयिता आचार्य शिवार्थ हैं । उनका समय निश्चित नहीं है । पर ग्रन्थ के विषय और उसकी विवेचन-पद्धति को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उसका रचनाकाल दूनो-तीसरी शताब्दी होना चाहिए । इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र्य और तप इन चार आराधनाओं की प्ररूपणा की गई है । वैसे तो रत्नत्रय सदा ही आराधनीय है, पर मरण के समय उसके आराधन का विशेष महत्त्व है । इस प्रसंग में यहाँ यह कहा गया है कि जो मरणसमय में उसकी विराधना करता है वह अनन्तसंसारी होता है^१ । साथ में यह भी कहा गया है कि चारित्र्य की—रत्नत्रय की—आराधना करने वाले भनादि मिथ्यादृष्टि भी थोड़े ही समय में मुक्ति को प्राप्त करने देखे गये हैं^२ । इसको स्पष्ट करते हुए पं. आशाधर ने अपनी टीका में बतलाया है कि भरत चक्रवर्ती के भद्र-विवर्धनादि नौ सौ तेईस पुत्र नित्यनिगोद से आकर मनुष्य हुए और भगवान् आदिनाथ के पादमूल में रत्नत्रय को धारण करते हुए थोड़े ही समय में मुक्ति को प्राप्त हुए हैं ।

यहाँ मत्तरह मरण भेदों की^३ सूचना करके उनमें से समयानुकूल पण्डित-पण्डितमरण, पण्डितमरण, बाल-पण्डितमरण, बालमरण और बाल-बालमरण इन पाँच भेदों की प्ररूपणा की गई है । भक्तप्रत्याख्यान के भेदभूत सविचार भक्तप्रत्याख्यान के प्रसंग में आराधक की योग्यता के परिचायक अर्हलिंग आदि ४० पदों का विवेचन यहाँ ग्रन्थ प्रासंगिक चर्चा के साथ बहुत विस्तार से (गा. ७१-२०१०) किया गया है । यहाँ आराधक को स्थिर रखने के लिए अनेक पौराणिक उदाहरणों द्वारा उपदेश दिया गया है ।

अन्त में प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने यह कहा है कि पाणितलभोजी जैन (शिवार्थने) आर्य जिनन्दी गणी के पादमूल में अलीभांति सूत्र और अर्थ को जानकर पूर्वार्चार्थनिबद्ध—पूर्वार्चार्थपरम्परा से प्राप्त—इस भगवती आराधना को उपजीवित किया है—उसे संकलित या उद्धृत किया है । छद्मम्भ होने में यदि हममें कुछ आगमविरुद्ध सम्बद्ध हो गया हो तो विशेषज्ञानी प्रवचन-वत्सलता से उसे शुद्ध कर ले । मेरे द्वारा भक्ति से वर्णित यह भगवती आराधना संघ और शिवार्थ के लिए उत्तम समाधि प्रदान करे । ग्रन्थ की गाथासंख्या २१७० है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के ऊपर अपराजितसूरि (अनुमानतः विक्रम की ९वीं शताब्दी के पूर्व^४) द्वारा विजयो-दया नाम की टीका और पं. आशाधर (विक्रम की १३वीं शताब्दी) द्वारा मूलाराधनादर्पण नाम की टीका रची गई है । इनके अतिरिक्त आ. अमितगत द्वि. (विक्रम की ११वीं शताब्दी) के द्वारा उसका पञ्चानुवाद भी किया गया है । कुछ ग्रन्थ भी टीका-टिप्पण इसके ऊपर रचे गये हैं ।

विजयोदया टीका के निर्माता अपराजित सूरि थे. सम्मत आगमों के महान् विद्वान् थे । उन्होंने नम्रता का प्रबल समर्थन करते हुए आचारप्रणिधि, आचारांग, पायसणी, भावना, सूत्रकृतांग, उत्तरा-ध्ययन और दशवैकालिका आदि कितने ही आगम ग्रन्थों के उद्धरणों को उक्त नम्रता के प्रसंग में वहाँ उपस्थित किया है^५ । दशवैकालिक सूत्र के ऊपर तो उन्होंने विजयोदया नाम की टीका भी लिखी है, जिसका उल्लेख प्रस्तुत टीका में उन्होंने स्वयं भी किया है^६ । अपराजितसूरि ने इस टीका के अन्त में उसका

१. गा. १५.

२. गा. १७.

३. इन १७ मरणों का उल्लेख उत्तराध्ययन नियुक्ति में उपलब्ध होता है । उत्तरा. ५, पृ. ६६.

४. देखिये 'जैन साहित्य और इतिहास' पृ. ७६-८०.

५. देखिये गा. ३२१ की विजयो. टीका, पृ. ६११-१३.

६. दशवैकालिकटीकायां श्रीविजयोदयायां प्रपञ्चिता उद्गमाददोषा इति नेह प्रत्यन्त । विजयो. टीका गा. ११६७ ।

परिचय देते हुए इतनी मात्र सूचना की है—चन्द्रनन्दी महाकर्मप्रकृत्याचार्य के प्रशिष्य, भारातीयसूरि-ज्जलामणि नागनन्दी गणी के चरण-कमल की सेवा से प्राप्त बुद्धि के लेख से सहित और बलदेव सूरि के शिष्य प्रख्यात अपराजित सूरि के द्वारा नागनन्दी गणी की प्रेरणा से रची गई विजयेदेव्या नामकी भाराधना टीका समाप्त हुई। उक्त टीकाओं के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ बलात्कारण जैन पब्लिकेशन सोसायटी कारंजा से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—भक्तसमुद्घात, प्रणुत, अव्यक्त दोष, आचारवान्, प्राज्ञाविचय, प्रादानविशेषणसमिति और धार्तध्यान आदि।

विजयो.—धनभिगृहीत मिध्यात्व, अव्यक्तमरण, आकिञ्चन्य, आचार्य, प्राज्ञाविचय, प्रान्नाय और उन्मिश्रदोष आदि।

मूला.—अतिचार, धनभिगृहीतमिध्यात्व, आचार्य, उपश्रुत और उद्भिन्न आदि।

१५. तत्त्वार्थसूत्र—यह एक ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जो दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में प्रतिष्ठित है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यह तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसके रचयिता आचार्य उमास्वाति हैं। रचनाकाल इसका २-३री शताब्दी है। जैन परम्परा में सम्भवतः यह संस्कृत में प्रथम ही रचना है। यह दस अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय भूमिका रूप है। दूसरे, तीसरे व चौथे इन तीन अध्यायों में जीवतत्त्व का, पाँचवें में अजीवतत्त्व का, छठे व सातवें इन दो अध्यायों में आत्मका, आठवें में बन्ध का, नौवें में संवर और निर्जरा का तथा दसवें में मोक्षका; इस प्रकार इसमें प्रयोजनीयत सात तत्त्वों की प्रकृषणा की गई है। ग्रन्थ यद्यपि शब्दशरीर से लघु है, पर अर्थ से गम्भीर व विशाल है। सूत्रसंख्या इसकी दि. परम्परा में ३५७ और श्वे. परम्परा में ३४४ है। इसका उपयोग अधर्मग्रन्थ, अनृत और आत्मव आदि शब्दों में हुआ है।

१६. तत्त्वार्थाधिगम भाष्य—यह उपर्युक्त तत्त्वार्थसूत्र पर रचा गया भाष्य है, जो स्वोपज्ञ माना जाता है। पर कुछ विद्वान् इसे स्वोपज्ञ न मान कर पीछे की रचना मानते हैं। इसमें मूल सूत्रों की व्याख्या करते हुए यथाप्रसंग ग्रन्थ भी कितने ही विषयों का विवेचन किया गया है।

यहाँ प्रथम सूत्र की व्याख्या में मोक्ष के साधनभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों में पूर्व के प्राप्त होने पर उत्तर को भजनीय (बहु हो, अथवा न भी हो) तथा उत्तर के प्राप्त होने पर पूर्व की प्राप्ति नियम से बतलाई गई है। परन्तु सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवातिक ये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति सम काल में ही निरिष्ट की गई है। भाष्य के उक्त कथन का स्पष्टीकरण करते हुए सिद्धसेन गणी ने यह बतलाया है कि देव, नारक और तिर्यक तथा मनुष्यों में किन्हीं के सम्यग्दर्शन के आधिभूत हो जाने पर आचारादि अग्रप्रविष्टका ज्ञान नहीं होता और न देश या सर्व चारित्र भी होता है, अतः ये दोनों सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में भजनीय है। यह सिद्धसेनगणि विरचित टीका के साथ देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड बम्बई से दो भागों में प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है।

भाष्य—अग्निकुमार, अङ्गप्रविष्ट, अङ्गवाह्य, अतिचार, धार्तिसंविभाग, अधिकाश, अधिगम सम्यग्दर्शन, अनपित, अनीक, अनृत और अनृतानन्द आदि।

सि. वृत्ति—अगुलधु नामकर्म, अङ्गप्रविष्ट, अङ्गवाह्य, अतिधिसंविभाग, अधिकाश, अनिविच-तावग्रह, अनीक और अनृतानन्द आदि।

१७. पञ्चमचारिय—इसके रचयिता विमल सूरि हैं। ये नाइलकुलवंश को प्रमुदित करने वाले विजयसूरि के शिष्य और स्वसमय-परसमय के ज्ञाता राहू नामक आचार्य के प्रशिष्य थे। प्रस्तुत राम-

१. देखिये 'श्वे. तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य की जाँच' शीर्षक लेख—जैन साहित्य और इतिहास पर विवाद प्रकाश पु. १२५-४८.

२. पञ्चमच. ११८, ११७-१८.

चरित्र के मूल रचयिता वीर जिन हैं। तत्पश्चात् उसका व्याख्यान शिष्यों के लिए आखण्डतभूति (इन्द्र-भूति—गौतम) ने किया। फिर उसी को विमलसूरि ने गाथाओं में निबद्ध किया। वीर जिनेंद्र के सिद्धि को प्राप्त करने के पश्चात् दुःषमाकाल के ३३० वर्ष बीतने पर इस चरित्र की विमलसूरि के द्वारा रचना की गई।

भगवान् महावीर से धर्म श्रवण कर राजा श्रेणिक के मन में रामचरित्र के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न उत्पन्न हुए। जैसे—वानरों ने अतिशय बलवान् राक्षसों को कैसे मार डाला? रावण का भाई कुम्भकर्ण छह मास तक सोता था, अनेक वादिनों के शब्द होने पर कठिनाई से वह जागता था, उठने पर वह हाथी और भैंसा आदि को खा जाता था, ऐसा सुना जाता है; सो वह कैसे सम्भव है? इत्यादि। इनके समाधान के लिए वह गौतम गणधर के पास पहुँचा और उनसे रामचरित्र के कहने की प्रार्थना की। तदनुसार गौतम गणधर ने जिस रामचरित्र को कहा वही परम्परा से प्राप्त प्रस्तुत ग्रन्थ में निबद्ध किया गया है। इसमें ११८ उद्देश हैं। यहाँ रामचरित्र का वर्णन करते हुए प्रसंगानुसार विपुला-चल पर महावीर का धर्मोपदेश, इन्द्रभूति के द्वारा श्रेणिक के प्रति कही गई कुलकरवंश की उत्पत्ति, ऋषभजन्मादि, राक्षस व वानर वंश; इत्यादि अनेक विषयों की ख्याती की गई है। इन वर्णनीय विषयों की सूचना ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने ही कर दी है।

यह जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर के द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—अक्षोहिणी, अघोलोक और आचार्य आदि।

१८. **आप्तमीमांसा (देवायम-स्तोत्र)**—इसके रचयिता आचार्य समन्तभद्र हैं। समन्तभद्र का समय श्री ५. जुगनकिशोर जी मुष्तार द्वारा विक्रम की दूसरी शताब्दी निश्चित किया गया है। आ. समन्तभद्र असाधारण दार्शनिक विद्वान् थे। उन्होंने शास्त्रार्थ में अनेक प्रतिवादियों के मान का भर्न किया था। उनकी यह दार्शनिक कृति स्तुतिपरक है। इसमें केवल ११४ ही कारिकाएँ (सूत्ररूप श्लोक) हैं। पर ने इतने गम्भीर अर्थ को लिए हुए है कि साधारण विद्वान् की तो बात ही क्या, विशेष विद्वान् भी कभी-कभी उनके अर्थ की गम्भीरता का अनुभव करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ १० परिच्छेदों में विभक्त है। इसमें प्रथमतः सामान्य से सर्वज्ञता को सिद्ध करते हुए वह सर्वज्ञता युक्ति एवं शास्त्र से अविरोध भाषण करने वाले भगवान् अरिहंत ने ही सम्भव है, इसे स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् भावाभावैकान्त में दोषों को दिखला कर कथंचित् सत् व कथंचित् असत् आदि सत्प्रभंगी को सिद्ध किया गया है। आगे इसी क्रम से अद्वैत और द्वैत, भेद और अभेद, नित्य और अनित्य, कार्य-कारणादि की भिन्नता और अभिन्नता तथा आपेक्षिक और अनापेक्षिक आदि विविध एकान्तवादों को दूषित किया गया है।

इसपर आचार्य अकलंकदेव (वि. की ८वीं शती) के द्वारा ८०० श्लोक प्रमाण 'अष्टशती' और आ. विद्यानन्द (वि. की ९वीं शती) के द्वारा ८००० श्लोक प्रमाण 'अष्टसहस्री' नाम की व्याख्या रची गई है। आ. वसुनन्दी द्वारा एक संक्षिप्त वृत्ति भी लिखी गई है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

अष्टशती—अभ्यापोह आदि।

अष्टसहस्री—अधिगम आदि।

वसु. वृत्ति—अकिंचित्कर, अनुशाल, अनुमेय और अन्तरितार्थ आदि।

१९. **युक्त्यनुशासन**—यह आचार्य समन्तभद्र विरचित स्तुत्यात्मक एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक

१. वही ११८, १०२-४.

२. देखिये उ. १, भा. ३२-८६,

३. देखिए 'समन्तभद्र का समय निर्णय' शीर्षक उनका लेख—जैन साहित्य और इतिहास पर विमल प्रकाश, पृ० ६८६-६७.

ग्रन्थ है। इसमें ६५ पद्यों के द्वारा महावीर जिनेन्द्र की स्तुति की गई है। इसकी सूचना प्रथम पद्य में ही कर दी गई है। देवागम स्तोत्र में वीर जिनके महत्त्वविषयक ऊहापोह करते हुए भजानादि दोषों और ज्ञानावरणदि कर्मों का संबंधा भभाव हो जाने के कारण महावीर जिनमें सर्वज्ञता व वीतरागता सिद्ध की जा चुकी है। यही उनकी महानता है। यहाँ चतुर्थ पद्य में इसी की धीर संकेत करते हुए कहा गया है कि हे वीर जिन, आप चूंकि ज्ञानावरण धीर दर्शनावरण के नाश से प्रगट हुए निर्मल ज्ञान-दर्शन रूप शुद्धि के साथ अन्तराय के क्षय से उत्पन्न वीर्यविशेष रूप शक्ति की भी चरम सीमा को प्राप्त हो चुके हैं, अतएव आप मोक्षार्थों के नेता होते हुए महान् (परमात्मा) हैं, यह कहने के लिए हम सर्वथा समर्थ हैं। इस प्रकार से स्तुति करते हुए आगे भेद-अभेद धीर नित्य-अनित्य आदि एकान्तवादों की समीक्षा-पूर्वक स्याद्वादसम्मत उन भेदाभेद आदि को सुप्रतिष्ठित किया गया है। इसके ऊपर आचार्य विद्यानन्द (विक्रम की १३वीं शताब्दी) विरचित टीका है जो ग्रन्थगत गृह अर्थ के प्रगट करने में सर्वथा समर्थ है। इस टीका के साथ वह मा. दि. जैन ग्रन्थमाला समिति बम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग अनेक व अर्थ (द्रव्य) आदि शब्दों में हुआ है।

२०. स्वयम्भूस्तोत्र—यह कृति भी उक्त आचार्य समन्तभद्र की है। इसमें १४३ पद्यों के द्वारा वृषभादि २४ तीर्थंकरों की पृथक् पृथक् स्तुति की गई है। यह स्तोत्र भी अर्धगम्भीर है। इसे बृहत्-स्वयम्भूस्तोत्र भी कहा जाता है। आचार्य समन्तभद्र जहाँ अपूर्व दार्शनिक थे, वहाँ वे एक महान् कवि भी थे। यह उनकी कृति विविध अलंकार युक्त सुन्दर पद्यों से अलंकृत है। अन्तिम महावीरस्तुति के तीसरे (८) ही पद्य यमकालंकार से सुशोभित हैं। इसके ऊपर भा. प्रभाचन्द्र (वि. की १३वीं शती) विरचित एक संस्कृत टीका भी है जो दोषी सत्ताराम नेमिचन्द्र शोलापुर द्वारा प्रकाशित की जा चुकी है। इसका उपयोग अजित और अनेकान्त आदि शब्दों में हुआ है।

२१. रत्नकरण्डक—यह एक आचकाचार सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके रचयिता भी उक्त समन्तभद्राचार्य है। ग्रन्थ पाच परिच्छेदों में विभक्त है। श्लोकसंख्या १५० है। प्रथम परिच्छेद में धर्म के स्वरूप का निर्देश करते हुए सम्यग्दर्शन का महत्त्व प्रगट किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में सम्यग्ज्ञान का, तृतीय परिच्छेद में पांच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों का, चतुर्थ परिच्छेद में चार सिद्धा-ग्रन्थों का, तथा पांचवें परिच्छेद में अन्तिम सत्त्वेखना के साथ ग्यारह प्रतिमाधों का भी निरूपण किया गया है। इनके ऊपर प्रभाचन्द्राचार्य (वि. की १३वीं शती) विरचित एक सक्षिप्त संस्कृत टीका भी है। इन टीका के साथ मूल ग्रन्थ मा. दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अचौर्याणुव्रत, अणुव्रत, अघर्म, अनर्थदण्डविरति और अपघ्नान आदि।

टीका—अतिभारवहन, अतिभारारोपण, अतिलोभ, अतिवाहन और अनगर आदि।

२२. सर्वार्थसिद्धि—यह आचार्य पूज्यपाद द्वारा विरचित तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या है। आचार्य पूज्यपाद का दूसरा नाम देवनन्दी भी रहा है। इनका समय विक्रम की छठी शताब्दी है। आचार्य पूज्यपाद सिद्धान्त के मर्मज्ञ थे। उनके द्वारा षट्खण्डागम आदि सिद्धान्त ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया गया था। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के 'सत्संख्या-क्षेत्र ..' आदि सूत्र (१-८) की जो विस्तृत व्याख्या की है वह षट्खण्डागम के आधार से ही की है। इसमें कितने ही सन्दर्भ उक्त षट्खण्डागम के छायाभुवाद के समान हैं। भा. पूज्यपाद ने 'तत्प्रमाणे' (१-१०) और 'अर्थस्य' (१-१७) आदि सूत्रों की व्याख्या दार्शनिक पद्धति से की है। उनका 'जैनेन्द्र व्याकरण' भी प्रसिद्ध है। इस प्रकार भा. पूज्यपाद बहुश्रुत विद्वान् रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का नवीन संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

प्रकामनिर्जरा, प्रसारीकृत शब्द, प्रगारी, प्रमुखलघु गुण, प्रमुखलघु नामकर्म, प्रतिक्रियायिक, प्रज्ञो-पाह्य नामकर्म और प्रचीर्यापुत्रत आदि ।

२३. समाधितन्त्र—यह भी उपर्युक्त पूज्यपादाचार्य द्वारा विरचित है । इसमें १०५ श्लोक हैं । ग्रन्थ आध्यात्मप्रधान है । सर्वप्रथम यहाँ कम से सिद्धात्मा और सकलात्मा (अहंरूप) को नमस्कार करते हुए प्रागम्य, युक्ति और स्वानुभव के अनुसार बुद्ध आत्मस्वरूप के कथन की प्रतिज्ञा की गई है । पश्चात् आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन भेदों का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि बहिरात्मपने को छोड़कर अन्तरात्मारूप उपाय के द्वारा परमात्मावस्था को प्राप्त करना चाहिये । जो भ्रमवश शरीरादि को ही आत्मा समझता है—शरीरादि से भिन्न ज्ञायकस्वभाव आत्मा का अनुभव नहीं करता है - वह बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि) है । यह जड़ शरीर को आत्मा समझने के कारण उससे सम्बद्ध अन्य जीवों को पुनः व स्त्री भावि मानता है । यहाँ तक कि वह जो धन व गृह आदि शरीर से भी भिन्न दिखते हैं उन्हें भी वह अपना मानता है । इस भ्रमबुद्धि के कारण वह पुनः पुनः शरीर को धारण करता हुआ चतुर्नैतिस्वरूप संसार में परिभ्रमण करता रहता है ।

जिसने जड़ शरीर से ज्ञाता-दृष्टा आत्मा को पृथक् समझ लिया है—उसे अन्तरात्मा कहा जाता है । इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा का निश्चय हो जाने के कारण वह स्त्री-पुत्रादि तथा धन-सम्पत्ति आदि चेतन-अचेतन परिग्रह में भ्रम नहीं होता । वह इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग में व्याकुल तथा इष्ट के संयोग और अनिष्ट के वियोग में हर्षित भी नहीं होता । आचरित्रमोह के उदयवश वह इन्द्रिय-विषयों का उपाभोग करता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता ।

हिंसा आदि कृम प्रसदाचरण से पाप और अहिंसादि व्रतों के आचरण से पुण्य होता है । पर पाप जहाँ नरकादि दुर्गति का कारण है वहाँ पुण्य देवादि उत्तम गति का कारण है । इस प्रकार यद्यपि पाप को प्रेक्षा पुण्य उत्तम है, फिर भी वह संसारबन्धन का ही कारण है । इसीलिए मुमुक्षु जीव का भ्रमरों के समान व्रतों को भी छोड़ देना चाहिए । कारण कि पाप और पुण्य दोनों के ही विनाश का नाम मोक्ष है । इस कारण यह आवश्यक है कि जो जीव आत्महित का अभिलाषी है उसे भ्रमरों को छोड़ कर व्रतों पर निष्ठा रखते हुए उनका परिपालन करना चाहिए । तत्पश्चात् परम पद—वीतराग भवस्था—को पाकर उन व्रतों को भी छोड़ देना चाहिए । यह वस्तुस्थिति है । इसी को पुनः स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि जो भ्रमरती है—व्रतों से रहित है—वह व्रत को ग्रहण करके व्रती हो जाता है । फिर ज्ञान-भावना में तत्पर होकर जब उत्कृष्ट आत्मज्ञान से सम्पन्न हो जाता है तब वह स्वयं ही परमात्मा हो जाता है । इस प्रकार यहाँ मुमुक्षु जीवों को परम राग-द्वेष को छोड़ कर शुद्ध—कर्ममल विमुक्त—आत्मा के स्वरूप में रत होने की प्रेरणा की गई है ।

इस पर आचार्य प्रभावचन्द्र^१ (विक्रम की १३वीं शती) द्वारा सन्निपत्त संस्कृत टीका रची गई है । इस टीका के साथ ग्रन्थ वीर सेवा मन्दिर सोसाइटी दिल्ली से प्रकाशित हुआ है । इसका उपयोग अन्त-रात्मा और आत्मज्ञान आदि शब्दों में हुआ है ।

२४. इष्टोपदेश—इसके रचयिता उपर्युक्त आचार्य पूज्यपाद हैं । समाधितन्त्र के समान यह भी उनकी आध्यात्मिक कृति है । इसमें ५१ श्लोक हैं । यहाँ सर्वप्रथम समस्त कर्मों का अभाव हो जाने पर स्वयं निज स्वभाव (स्वरूप) को प्राप्त होने वाले परमात्मा को नमस्कार करते हुए यह कहा गया है कि योग्य उपादान के सम्बन्ध से जिस प्रकार पत्थर सोना हो जाता है इसी प्रकार योग्य द्रव्य-श्रेयादि रूप

१. आ. प्रभावचन्द्र सोमदेव सूरि और पं. आशाधर के मध्यवर्ती हैं । इसका कारण यह है कि उन्होंने आत्मानुशासन की टीका में सोमदेव सूरि विरचित उपासकाध्ययन के अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है (देखिये आत्मानु. की प्रस्तावना पृ. २५-२६ आदि), तथा पं. आशाधर ने अनयाधर्मामृत की स्त्री. टीका (८-६३) में आदर के साथ उनके नामोल्लेखपूर्वक रत्नकरण्डक की टीकागत वाक्य को उद्धृत किया है ।

उत्तम साधनसामग्री के प्राप्त होने पर जीव भी ध्यात्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यहाँ यह ध्याशंका हो सकती थी कि ब्रह्मादिरूप सामग्री के प्राप्त होने पर जीव जब स्वयं परमात्मा बन जाता है तब उसके लिये किया जाने वाला वताचरण निरर्थक सिद्ध होता है। इस ध्याशंका का समाधान करते हुए ग्रन्थकार स्वयं यह कहते हैं कि भ्रष्टों से—हिंसादि के परित्याग के बिना—जो नारक पर्याय प्राप्त होती है उसकी अपेक्षा ब्रह्मों से प्राप्त होनेवाली देव पर्याय कहीं उत्तम है। इसके लिए वहाँ यह उदाहरण दिया गया है कि जो व्यक्ति धूप से स्थित होकर किसी इष्ट जन की प्रतीक्षा कर रहा है उसकी अपेक्षा वह बुद्धिमान् व स्तुत्य माना जाता है जो कि किसी वृक्ष की सीतल छाया में स्थित होकर उस इष्ट वस्तु की प्रतीक्षा कर रहा हो।

यह धमिप्राय केवल पुन्यपादाचार्य का ही नहीं रहा, बल्कि उनके पूर्ववर्ती ध्याध्यात्मिक सन्त ध्याचार्य कुन्दकुन्द का भी वही धमिप्राय रहा है^१। वर्चनमोह के उदय में जीव का ज्ञान वयार्थ स्वरूप को प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार उन्मादजनक कोदों के उपयोग से अथवा मद्य के पीने से मनुष्य पदार्थों को वयार्थ न जानकर उन्हें ग्रन्थया जानता है उसी प्रकार मिथ्यात्व के वशीभूत हुआ जीव जो शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु और धन आदि भिन्न स्वभाव वाले हैं उन्हें अपना मानकर उनसे राग-द्वेष किया करता है। पर जिस प्रकार पक्षी विभिन्न दिशाओं से आकर रात में वृक्ष-वृक्ष पर स्थित होते हैं और फिर सबेरा हो जाने पर वे अपने-अपने प्रयोजन के अनुसार विविध दिशाओं को चले जाते हैं उसी प्रकार ये संसारी प्राणी अपने-अपने कर्म के अनुसार विभिन्न कुटुम्बों में धाँस्य लेते हैं और प्रायु के समाप्त होने पर ग्रन्थान्य अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं।

कुछ मनुष्यों का धन के संग्रह में यह धमिप्राव रहता है कि धन का सचय हो जाने पर उससे कल्याणप्रद दानादि सरकारी को करेगे। पर उनका यह विचार कितना मूर्खतापूर्ण है, इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए यह बतलाया गया है कि उनका वह विचार उस मूर्ख व्यक्ति के समान है जो यह सोचकर कि स्नान कर लूँगा, अपने शरीर को कीचड़ से लिप्त करता है।

इस प्रकार अपने उदाहरणों द्वारा यहाँ मुमुक्षु जीवों को ध्यात्म-परका विवेक उत्पन्न कराकर राग-द्वेष को छुड़ाते हुए उन्हें ध्यात्मस्वरूप में स्थित होने का उपदेश किया गया है। अन्त में यह कहा गया है कि जो बुद्धिमान् इस इष्टोपदेश को अनीभांति पढ़कर तदनुसार मानापमान में समताभाव को वृद्धिगत करता है व कदाग्रह को छोड़ देता है वह चाहे जनाकीर्ण कुटुम्बादि में रहे और चाहे वन में भी रहे, वह भव्य अनुपम मुक्ति-लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है। इस पर प. आशाधर (बिक्म की १३वीं शती) ने ग्रन्थ के रहस्य को स्पष्ट करने वाली टीका मिली है। इन टीका सहित वह पूर्वोक्त समा-चितम्न के साथ उक्त संस्था द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—ध्यात्मा धादि।

टीका—अज्ञ धादि।

२५. तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोकप्रज्ञप्ति)—इसके रचयिता आचार्य यतिवृषभ हैं। ये विक्रम मवत् के अनुसार सम्भवतः ५३०-६६६ (ई. ४७३-६०६) के मध्य में किसी समय हुए हैं^२। इसमें ये नौ महाविचार हैं—सामान्यलोक, नारकलोक, भावनलोक, नरलोक, तिर्यग्लोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिर्लोक, कल्पवासिलोक और सिद्धलोक। इनमें गाथासंख्या^३ इस प्रकार है—२०३+३६७+२४३+२६६१+३२१+१०३+६१६+७०३+७७=५६७७। मध्य में कुछ गद्यभाग भी हैं। जैसे—वातचलय क्षेत्रों के

१. वर वय-तवेहि सगो मा दुषलं होउ निरह इयेरेहि।

छायतबद्धियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥ मोक्षप्राभूत २५.

२. ति. प. भा. २, प्रस्तावना पृ. १५.

३. धार्या छन्द के अतिरिक्त कहीं-कहीं कुछ थोड़े से ग्रन्थ छन्दों का भी उपयोग हुआ है। जैसे—इन्द्र-वज्रा, स्वागता, उपजाति, दोषक, शार्दूलविक्रीडित और वसन्ततिलका आदि।

लाने का विधान (पृ. ४३-४०), उत्कृष्ट सख्यात एवं तीन-तीन प्रकार के असंख्यात व अनन्त की प्रकृषणा (पृ. १७९-१८३), द्वीप-सागरों का बाहर क्षेत्रफल आदि (पृ. ५६०-६१०), भवगाहनाविकल्प (पृ. ६१८-६४०) तथा मानुषोत्तर पर्वत के आगे स्थित चन्द्र-सूर्यादि के विन्यास व सख्या आदि की प्रकृषणा (पृ. ७६१-६७)।

उक्त गद्य भाग में से कुछ भाग बद्धलब्धागम की टीका बबला में जैसा का तैसा उपलब्ध होता है। जैसे—त्रि. प्र. पृ. ४३-४६ व बबला पु. ४, पृ. ५१-५५ तथा त्रि. पृ. ७६४ से ७६६ व बबला पु. ४, पृ. १५१-१५५। यहाँ विशेषता यह है कि जैसे बबलाकार के द्वारा यह कहा गया है कि यह तत्प्रायोग्य संख्यात रूपों से अधिक जम्बूद्वीप के अर्धच्छेद सहित द्वीप-सागरों के रूप मात्र राजु के अर्धच्छेदों के प्रमाण की परीक्षाविधि अन्य आचार्यों के उपदेश की परम्परा का अनुसरण नहीं करती है, उसकी प्रकृषणा केवल हमने त्रिलोकप्रशस्ति सूत्र के अनुसार ज्योतिषी देवों के भागहार के प्रतिपादक सूत्र का आलम्बन करने वाली युक्ति के बल से प्रकृत गच्छ को सिद्ध करने के लिए की है' जैसे ही त्रिलोकप्रशस्ति में भी यह कहा गया है कि यह तत्प्रायोग्य संख्यात रूपों से अधिक जम्बूद्वीप के अर्धच्छेद सहित द्वीप-समुद्रों के रूप प्रमाण राजु के अर्धच्छेद प्रमाण की परीक्षा-विधि अन्य आचार्यों के उपदेश की परम्परा का अनुसरण नहीं करती है। वह केवल त्रिलोकप्रशस्ति सूत्र का अनुसरण करने वाली है, ज्योतिषी देवों के भागहार के प्रतिपादक सूत्र का आलम्बन लेने वाली युक्ति के बल से प्रकृत गच्छ को सिद्ध करने के लिए यह प्रकृषणा कही गई है'। विशेष इतना है कि बबला के उक्त सन्दर्भ में जो 'अम्हेहि (हमने)' पद उपलब्ध होता है वह वहाँ नहीं पाया जाता। इसके आगे बबला में जो 'प्रतिनियतसुत्रावष्टम्भ' आदि लगभग दो पंक्तियाँ हैं वे भी यहाँ नहीं उपलब्ध होती हैं। आगे का 'तदो ण एत्थ' इत्यादि सन्दर्भ (३-४ पंक्तियाँ) भी प्रायः दोनों में समान हैं।

इस प्रकार त्रिलोकप्रशस्ति के इस गद्यभाग की स्थिति को देखते हुए यह निश्चित प्रतीत होता है कि उक्त गद्यभाग त्रिलोकप्रशस्तिकार के द्वारा नहीं रचा गया है, पीछे यथाप्रसंग वह किसी अन्य के द्वारा इसमें जोड़ दिया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में तीनों लोक सम्बन्धों बहुत्वपूर्ण विषयों की प्रकृषणा इस प्रकार की गई है—

१. सामान्यलोक—वहाँ प्रथमतः मंगल स्वरूप पंच गुरुओं की स्तुतिपूर्वक शास्त्रविषयक मंगल, कारण (निमित्त), हेतु, प्रमाण, नाम और कर्ता इन छह का व्याख्यान किया गया है' (७-८४)। तत्पश्चात् लोक के प्रसंग में पत्न्योपम, सागरोपम, सूचि-अगुल, प्रतरांगुल, बानांगुल, जगध्वज, जगप्रतर और लोक इन आठ प्रमाणभेदों का वर्णन किया गया है। अन्त में लोक के आचारभूत तीन बातवलयों के आकार व मोटाई आदि का प्रमाण दिलाते हुए इस महाविकार को समाप्त किया गया है।

२. नारकलोक—इस महाविकार में १५ अधिकारों के द्वारा क्रम से नारकियों के निवास-क्षेत्र, उनकी सख्या, आयु का प्रमाण, शरीर की ऊँचाई, धवधिशान का प्रमाण, उनमें सम्भव गुणस्थानादि (२० प्रकृषणार्थों), वहाँ उत्पन्न होने वाले जीवों की सम्भावना, जन्म और मरण का अन्तर, एक समय में उत्पन्न होने वाले व मरने वाले नारकियों की संख्या, नरकों से आगमन (बिन पर्यायों को वे प्राप्त कर सकते हैं), नारक आयु के बन्धयोग्य परिणाम, जन्ममृमियाँ, नरकों में प्राप्त होने वाला दुःख और सम्य-वर्णनग्रहण के कारण; इन सब की प्रकृषणा की गई है।

१. बबला पु. ४, पृ. १५७ (एसा तत्प्रायोग्यसंज्ञेज्ज.....)।

२. ति. प. २, पृ. ७६६ (एसा तत्प्रायोग्यसंज्ञेज्ज.....)।

३. इस प्रकार की पद्धति प्राचीन आचार्यपरम्परा में रही है। बबलाकार आचार्य बीरसेन स्वामी ने भी इस पद्धति को अपना कर उक्त मंगलादि छह की बबला के प्रारम्भ में प्रकृषणा की है। बबला पु. १, पृ. ८-७२.

३. **भवनलोक**—यहां २४ भविक्षेत्रों के द्वारा क्रम से भवनवासी देवों के निवासक्षेत्र, उनके भेद, चिह्न, भवनों की संख्या, इन्द्रों की संख्या व उनके नाम, दक्षिण व उत्तर इन्द्र, उनमें प्रत्येक के भवनों का प्रमाण, अल्पद्विक आदि भवनवासियों के भवनों का विस्तार, भवन, वेदी, कूट, जिनयवन, प्रासाद, इन्द्रविभूति, भवनवासी देवों की संख्या, धातुप्रमाण, शरीर की ऊंचाई, भवविज्ञान का विषयप्रमाण, गुणस्थान आदि, एक समय में उत्पन्न होने वाले व मरने वाले की संख्या, प्रागति, भवनवासियों की धातु के बन्धयोग्य परिणाम व सम्यक्त्वग्रहण के कारण; इन सबका वर्णन किया गया है :

४ **नरलोक**—इस महाधिकार में १६ अधिकारों के द्वारा क्रम से मनुष्यलोक का निर्देश, जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, घातकीलक्ष्मणद्वीप, कालोदसमुद्र, पुष्करार्धद्वीप तथा इन झड़ाई द्वीपों में स्थित मनुष्यों के भेद, संख्या, अल्पवहुत्व, अनेक भेदयुक्त गुणस्थान आदिकों का संक्रमण, मनुष्यायु के बन्ध के योग्य भाव, योगिप्रमाण, सुख, दुःख, सम्यक्त्वग्रहण के कारण और मुक्ति प्राप्त करने वालों का प्रमाण; इन विषयों की चर्चा की गई है ।

यह महाधिकार बहुत विस्तृत है । यहाँ उपर्युक्त १६ अधिकारों में से दूसरे अधिकार में जम्बू-द्वीप का वर्णन करते हुए भरतक्षेत्र का वर्णन विस्तार से किया गया है । इसके अन्तर्गत, धार्यक्षेत्र के वर्णनप्रसंग में परिवर्तमान भवसंनिधि और उत्सर्पिणी कालों के भेदभूत सुषमसुषमा, सुषमा, सुषम-दुष्यमा, दुष्यमसुषमा, दुष्यमा और अतिदुष्यमा कालों का वर्णन करते हुए भोगभूमियों की व्यवस्था, शलाकापुरुषों (२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ नारायण, ६ प्रतिनारायण) के नाम व संख्या तथा ११ उद्गों के भी नामों का उल्लेख किया गया है । तीर्थंकरों का वर्णन करते हुए उनके जन्मस्थान आदि कितने ही जातव्य विषयों का विवेचन किया गया है^१ । आगे भरतादि चक्रवर्तियों के धातुप्रमाण आदि का निरूपण करते हुए नौ नारदों का भी निर्देश किया गया है । तीर्थंकर आदि कितने भव्य जीव नियमतः मुक्ति को प्राप्त करने वाले हैं, इसकी भी सूचना यहाँ (४-१४७३) कर दी गई है ।

आगे दुष्यमाकाल के प्रसंग में गौतमादि धनुबद्ध केवसियों के धर्मप्रवर्तनकाल, अन्तिम सिद्ध व अन्तिम चारण ऋषि आदि, चतुर्वेदशूर्वधरों आदि के अस्तित्व और श्रुतीर्ष के व्युत्प्रेक्ष्य आदि की चर्चा की गई है । तत्पश्चात् शक, गुप्त, चतुर्मुख, पालक, विजयवशज, मुरुष्ववंश, पुष्यमित्र, वसुमित्र-अग्नि-मित्र, गन्धर्व, नरबाहुन, अत्यट्टण (मृत्याग्र), पुनः गुप्त और इन्द्रसुत चतुर्मुख कल्की, इनके राज्यकाल के प्रमाण का निर्देश किया गया है (१५०३-१०) । फिर अतिदुष्यमा काल में होने वाले परिवर्तन का निर्देश करते हुए आगे क्रम से उत्सर्पिणी के छह कालों की प्ररूपणा की गई है ।

इस प्रकार भरतक्षेत्र का विस्तार से वर्णन करके तत्पश्चात् हिमवान् पर्वत, हैमवत क्षेत्र, महाहिमवान् पर्वत, हरिवर्ष और निषध पर्वत का वर्णन करते हुए विदेह क्षेत्र व उसके मध्य में स्थित मेरु पर्वत की प्ररूपणा की गई है ।

जिस प्रकार जम्बूद्वीप के दक्षिणदिशागत क्षेत्र-पर्वतादिकों का कथन किया गया है इसी प्रकार आगे उसके उत्तर दिशा सम्बन्धी क्षेत्र-पर्वतादिकों का निरूपण किया गया है । तत्पश्चात् लवणसमुद्र और घातकीलक्ष्मण द्वीप आदि का वर्णन करके मनुष्यों में गुणस्थानादि का विवेचन करते हुए इस महाधिकार को समाप्त किया गया है ।

५. **तिर्यङ्गलोक**—इस महाधिकार में १६ अधिकारों के द्वारा क्रम से स्थावरक्षेत्र, उसके मध्य में तिर्यङ्ग-त्रसक्षेत्र, नामनिर्देशशूर्वक द्वीप-समुद्रों की संख्या व विन्यास, उनका अनेक प्रकार का क्षेत्रफल, तिर्यङ्गों के भेद, संख्या, धातु, धातु के बन्धयोग्य परिणाम, योगि, सुख-दुःख, गुणस्थानादि, सम्यक्त्वग्रहण के कारण, गति-प्रागति और अल्पवहुत्व; इन वर्णनीय विषयों का विवेचन किया गया है ।

१. तीर्थंकरों से सम्बन्धित उन विषयों में से लगभग ५० विषयों की एक तालिका भाग २ के परिशिष्ट ७ में १०१३-२२ पृष्ठों में दे दी गई है ।

६. **व्यन्तरलोक**—विस प्रकार भावनलोक अधिकार में जवनवासी देवों की प्रकृपणा की गई है लक्ष्य उसी प्रकार से कुछ विशेषताओं के साथ यहां व्यन्तर देवों की प्रकृपणा की गई है ।

७. **ज्योतिर्लोक**—यहां १७ अधिकारों के द्वारा क्रम से ज्योतिषी देवों के निवासक्षेत्र, भेद, सख्या, विन्यास, परिमाण, चर ज्योतिषी देवों का संचार, अथर ज्योतिषियों का स्वरूप, प्रायु, आहार, उच्छ्वास, अवधि की शक्ति, एक समय में जन्म व मरण, प्रायुबन्ध के योग्य परिणाम, सम्पत्त्वग्रहण के कारण और गुणस्थानादि; इन विषयों का वर्णन किया गया है ।

८. **सुरलोक (वैमानिक लोक)**—इसमें इक्कीस अधिकारों के द्वारा वैमानिक देवों के निवास-क्षेत्र, विन्यास, भेद, नाम, सीमा, संख्या, इन्द्रविभूति, प्रायु, जन्म-मरण का अन्तर, आहार, उच्छ्वास, उद्देश, वैमानिक देवों सम्बन्धी प्रायुबन्ध के योग्य परिणाम, मौक्तिक देवों का स्वरूप, गुणस्थानादि का स्वरूप, सम्पत्त्वग्रहण के कारण, प्रायति, अवधिज्ञान का विषय, देवों की संख्या, शक्ति और योगिन इन सबका वर्णन किया गया है ।

९. **सिद्धलोक**—इसमें ५ अधिकारों के द्वारा सिद्धों के निवासक्षेत्र, संख्या, अवगाहना, सुख और सिद्धत्व के योग्य भावों का विवेचन किया गया है ।

उपयुक्त विषय-परिचय से यह प्रतीति मिलता जात हो जाता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में ज्ञातव्य अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का सुव्यवस्थित और प्रामाणिक विवेचन किया गया है । विषयविवेचन की शैली को देखते हुए ग्रन्थ प्राचीन प्रतीत होता है । ग्रन्थकार के सामने जो इस विषय का पूर्व साहित्य रहा है उसका पूरा उपयोग इसमें किया गया है । यह जहाँ तहाँ प्रगट किये गये मतभेदों से सिद्ध है^१ । ग्रन्थकार ने यथाप्रसंग म[स]ग्गायणी, ब्रह्माचार, लोकविनिश्चय, लोकविभाग, लोकाय[यि]नी, सग्गायणी, संगीतणी और सगीयणी इतने ग्रन्थों का उल्लेख किया है^२ ।

वर्तमान में जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर से प्रकाशित एक 'लोकविभाग' उपलब्ध है, पर वह प्रस्तुत ग्रन्थ के बहुत बाद की रचना है । उसमें प्रस्तुत ग्रन्थ की बीसों गाथायें ग्रन्थनामोल्लेखपूर्वक यत्र तत्र उद्धृत की गई हैं । इन लोकविभाग के कर्ता सिंहसूरवि ने अन्तिम प्रशस्ति में सर्वमन्दी विरचित एक लोकविभाग की सूचना की है । सम्भव है तिलोपपणनसिकार के सामने यही लोकविभाग रहा हो, अथवा ग्रन्थ ही कोई लोकविभाग उनके सामने रहा हो ।

यह ग्रन्थ जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर से दो भागों में प्रकाशित हो चुका है । इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—अक्षीणमहानस, अक्षीणमहालय, अङ्गनिमित्त, अङ्गुल, अट्ट, अट्टाङ्ग, अग्निमा, अट्टापत्य, अक्षिराज, अनीक, अनुसारी, अन्तरिक्षमहाविमित्त, आकाशगामित्व, आत्माङ्गुल, आभियोग्यभावना, आर्यन्तरद्रव्यमल, आमशौचविशुद्धि, आवास, आशीविष, उत्कृष्ट परीतान्त, उत्कृष्टासक्येयासक्येय, उत्सपिणी, उत्सेषाङ्गुल, उद्धारपत्यकाल, उवसन्नासन्न, ऊर्ध्वलोक और औत्पत्तिकी आदि ।

२६. **आचारंग**—प्रस्तुत आचारंगवि श्रुत का परिचय कराने के पूर्व यह बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि वर्तमान संगसाहित्य के विषय में दिगम्बर (अचेलर) और श्वेताम्बर (सचेलर) परम्परा में कुछ मतभेद हैं । यद्यपि दोनों ही परम्परायें यह स्वीकार करती हैं कि अंग व अंगबाह्य श्रुत प्रवाहरूप से अनादि-निघन हैं—प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में उसका मौलिक पठन पाठन चालू रहता है, फिर भी वर्तमान में अन्तिम तीर्थंकर महावीर के निवर्ण के पश्चात् जम्बूद्वीप (अन्तिम केवली) तक उक्त श्रुत का प्रवाह अविच्छिन्न चलता रहा । तत्पश्चात् बारह वर्ष प्रमाण भीषण दुष्काल के समय अपने संयम को स्थिर रखने की इच्छा से कुछ साधु दक्षिण की ओर और कुछ समुद्र के किनारे की ओर चले गये । इस प्रकार पठन-गुणनादि के अभाव में श्रुत सब विनष्ट हो गया । अन्त में दुष्काल

१. इन मतभेदों की एक तालिका प्रस्तुत ग्रन्थ के परिशिष्ट (भाग २, पृ० ६८७-८८) में दे दी गई है ।

२. इन ग्रन्थों की सूचना भी उक्त परिशिष्ट में पृ० ६६५ पर कर दी गई है ।

के समाप्त होने पर जब साधुसंघ एकत्रित हुआ तब एक वाचना वीर निर्वाण से लगभग १६० वर्ष के बाद पाटलिपुत्र में और इसके पश्चात् दूसरी वाचना वीर निर्वाण के लगभग ४४० वर्ष के बाद मधुरा में स्कन्दिनाचार्य की तत्त्वावधानता में सम्पन्न हुई। ठीक इसी समय एक अन्य वाचना बलभी में आचार्य नागाशुन के तत्त्वावधान में भी सम्पन्न हुई। इन दोनों वाचनाओं में जिस साधु को जितना श्रुत स्मृत रहा उस उसको लेकर उसे पुस्तकारुढ़ कर लिया गया। पर इन दोनों वाचनाओं में एकरूपता नहीं रह सकी व पाठभेद दृष्टिगोचर होने लगा।

इसके पश्चात् वीर नि. के ६८० वर्ष के लगभग एक वाचना और भी बलभी में देवद्वि गणी के तत्त्वावधान में सम्पन्न हुई। इस में अंग-उपागादि रूप श्रुत को पृथक्-पृथक् पुस्तकों के रूप में ग्रथित कर लिया गया जो वर्तमान में उपलब्ध है। इस प्रकार इस अन्तिम वाचना में जो आचार्यादि का संकलन किया गया है वह गणघर सुचर्मा केवली द्वारा उपदिष्ट उसी रूप में नहीं रहा व उत्तरोत्तर उसमें कुछ होनाधिकता भी हुई है। इस बात में दोनों ही सम्प्रदाय सहमत हैं। इसी कारण दिग्म्बर परम्परा में उक्त आचार्यादि को प्रामाणिक न मानकर मौलिक रूप से परम्परागत गणघरग्रथित आचार्यादि के आश्रय से षट्छण्डागम व कथायाम्नात आदि जो ग्राम ग्रन्थ आरातीय आचार्यों के द्वारा रचे गये उन्हीं को आज दिग्म्बर परम्परा प्रामाणिक मानती है। परन्तु स्वे. परम्परा देवद्वि-गणी के द्वारा संकलित जिन आचार्यादि को प्रमाणभूत मानती है उन्हीं का परिचय यहाँ कराया जा रहा है। स्वे. परम्परा में इन्हें सुचर्मा द्वारा प्रकृषित और जम्बूस्वामी के द्वारा सुना गया श्रुतांग माना जाता है। प्रस्तुत आचारांग बारह अंगों में प्रथम है।

इसमें मुनि के आचार—विशेषतः काल-विनयादिरूप आठ प्रकार के ज्ञानाचार, निःशंकितारि रूप आठ प्रकार के वर्धनाचार, आठ प्रवचनमातृका (पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ) रूप आठ प्रकार के चारिआचार, बारह प्रकार के तप-आचार और वीर्याचार की प्ररूपणा की गई है। इसी से इसकी आवाचार संज्ञा है। आचार, आगल, आकर, आस्वास, आदर्श, अंग, आचीर्ण, आजाति और आमोक्ष ये समानार्थक शब्द हैं। यह दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। उनमें से प्रथम श्रुतस्कन्ध में ये नौ अध्ययन या अधिकार हैं— १ शस्त्रपरिष्ठा, २ लोकविजय, ३ शीतोष्णोप, ४ सम्यक्त्व, ५ लोकसार (चारित्र्य), ६ व्रत, ७ (यह अध्ययन व्युच्छिन्न हो गया है), ८ विमोक्ष, ९ उपधानश्रुत। इन नौ अध्ययनस्वरूप इस प्रथम श्रुतस्कन्ध को 'नव ब्रह्मचर्यमय' कहा गया है। इसके आठवें अध्ययन के अन्तर्गम आठवाँ उद्देशक तथा सम्पूर्ण नीति अध्ययन पद्यमय है। शेष अध्ययनों में यत्र वनचित् ही पद्य उपलब्ध होने हैं—अधिकंश ये गद्यमूत्रात्मक हैं।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध को आचाराग्र कहा जाता है। इसमें ये पाँच जूलिकाये हैं। उनमें प्रथम जूलिका में सात अध्ययन है—पिण्डवणा, शर्यवणा, ईर्या, आवाजात, वस्त्रवणा, पान्त्रवणा, और भवग्रह। यहाँ शिक्षा की विधि, भोजन की शुद्धि, संस्तर-गमनागमन की विधि, आषा, पात्र, एवं अन्य व्रतादि के विषय में विचार किया गया है। दूसरी, जूलिका सप्तसप्ततिका में भी सात अध्ययन है। तीसरी जूलिका का नाम भावना अध्ययन है। विमुक्ति नाम की चौथी जूलिकारूप विमुक्ति अध्ययन में अनित्यत्व, पर्वत, रूप्य, भुजगत्व और समुद्र ये पाँच अधिकार हैं। पाँचवी जूलिका निशीथ है जो एक पृथक् ही ग्रन्थ में निबद्ध है।

उक्त आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के ६+६। श्रुतस्कन्ध की प्रथम जूलिका के ७+द्वितीय जूलिका के ७+तृतीय का +१ और चतुर्थ का १=२५ इस प्रकार पच्चीस अध्ययनस्वरूप है।

१. देखिये नंदीसुतवृण्णी मा. ३२, ज्योतिष्करण्डक मलय. टीका २-७१, पृ. ४१ और नि. घा. पृ. ५. परिशिष्ट पर्व ६, ५५-७६.
२. देखिये 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' भाग १, प्रकरण १, जैन श्रुत पृ. ५-१० तथा द्वितीय प्रकरण 'जैनग्रन्थों का बाह्य परिचय', पृ. ३५-३६।

आचार्य वर प्रा. भद्रबाहु द्वितीय (विक्रम की छठी शताब्दी) द्वारा विरचित नियुक्ति और शीलाकाचार्य (गुप्त संवत्सर ७७२, विक्रम की १०वीं शती) विरचित टीका है। उक्त नियुक्ति और टीका के साथ वह सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—असत्यामृषा भाषा आदि ।

टीका—अथःकर्म, अनिसृष्ट, अनुभावबन्ध, असत्यामृषा भाषा, आच्छेद्य, आजीवविण्ड, आज्ञा, आधाकर्म, आयुकर्म, आहार संज्ञा, आहृतकर्म, उपकरण, उपाध्याय, उपपात और अद्वैतिक आदि ।

२७. सूत्रकतांग—यह बारह प्रगों में दूसरा है और वह दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है । प्रथम श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन है—१ समयाध्ययन, २ वैतालीय अध्ययन, ३ उपसर्गाध्ययन, ४ स्त्रीपरिज्ञा, ५ नर-विभक्ति, ६ वीर्यस्तुति, ७ कुशीलपरिभाषा, ८ वीर्याध्ययन, ९ धर्माध्ययन, १० समाधि-अध्ययन, ११ मार्गाध्ययन, १२ समवतरण-अध्ययन, १३ याथातथ्य अध्ययन, १४ ग्रन्थाध्ययन, १५ श्रादानीय (या श्रादान) और १६ शाखाध्ययन । इसमें क्रियावादी व नियतिवादी आदि मतान्तरों की समीक्षा करके स्वसमय (स्वमत) को स्थापित किया है ।

द्वितीय स्कन्ध में १ षोडशीरुक् अष्टयन, २ त्रियास्वान, ३ आहारपरिज्ञा, ४ प्रत्याख्यान क्रिया, ५ आचार श्रुताध्ययन, ६ आर्वाकीय अष्टयन और ७ नालन्दीय अष्टयन—ये सात अष्टयन हैं। यहाँ जीव व प्ररीर की एकता, जगत्कृतृत्व और नियतिवाद आदि का निराकरण करते हुए भिन्ना सम्बन्धी दोनों की प्रकृणा की गई है। प्रथम श्रुतस्कन्धगत प्रारम्भ के १५ अष्टयन पद्यमय हैं। उनकी पद्यसंख्या इस प्रकार है— ८+७६+८२+३३+३२+२६+३०+२६+३६+२६+३८+२२+२३+२७+२५=५५३. अन्तिम १६वीं अष्टयन गद्यमूत्रात्मक हैं। उसमें ४ सूत्र हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में प्रारम्भ के चार और अन्तिम एक ये पाँच अष्टयन गद्यरूप हैं, शेष दो (५-६) पद्यरूप हैं। तीसरे अष्टयन में सूत्र १६ के मध्य में चार गायत्री भी हैं। गद्यमूत्र संख्या सब ८१ और पद्यसंख्या ८८ है। उक्त दोनों श्रुतस्कन्धों पर भा. भद्रबाहु (डि.) विरचित निरुक्ति है, जिसकी संख्या २०५ है। इसके प्रतिरिक्त शीलाकाश्यां (वि. की ०. १०वीं शती) विरचित टीका भी है। जूष व दीपिका आदि अन्य व्याख्यायें भी उस पर रची गई हैं। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—आदिमोक्ष इत्यादि ।

टीका—प्रक्रियावादी, अद्विष्टाप्रत्याख्यान, अनायं, आदिभोक्ष, ऋजुसूत्र, एवम्भूतनय और भोज-
साधार आदि ।

२८. **स्थानांग**—तीसरा अंग स्थानांग है। यह दस स्थानकों या अध्ययनों में विभक्त है। स्थानक-संख्या के अनुसार इसमें उसी संख्या के पदार्थ या क्रिया का विवेचन किया गया है। जैसे प्रथम स्थानक में एक-एक संख्या वाले पदार्थों का विवरण इस प्रकार है—एक आत्मा है, एक बण्ड है, एक क्रिया है, एक लोक है, एक अलोक है, एक धर्म है, एक अधर्म है, एक बन्ध है, एक मोक्ष है, एक पुण्य है, एक पाप है, एक आश्रव है, एक संवर है, एक वेदना है, एक निर्जरा है, इत्यादि (सूत्र २-१६)। इस एकस्थान प्रकरण में ५६ सूत्र हैं।

द्वितीय स्थानक के प्रारम्भ में कहा गया है कि जो लोक में है वह दो पदों के अवतार रूप है—

१. टीकाकार ने इस टीका के रचनाकाल की सूचना स्वयं इस प्रकार की है—

द्वासप्तत्यधिके हि शतेषु सप्तसु गतेषु गुप्तानाम् ।

संवत्सरेषु मासि च आत्रपदे शुक्लपंचम्याम् ॥

शीलाचार्येण कृता गम्भृतायां स्थितेन टीकैषा ।

सम्यग्प्रयुज्य शोध्यं मात्सर्यविनाकृतैरायैः ॥ ५. २८८

अपने प्रतिपक्ष से सहित है। इसको स्पष्ट करते हुए आगे वह कहा गया है—बीब व अबीब, भस व स्थानवर, सयोनिक व भयोनिक, सहायुष व अपायुष इत्यादि (सूत्र ५७)।

इसी द्वितीय स्थानक के सूत्र १०२ में कहा गया है कि अमण भगवान् महावीर ने निर्द्वन्द्वों के लिए इन दो मरणों का न कभी वर्णन किया है और न उन्हें प्रशस्त बतलाया है। वे दो मरण ये हैं—बलन्मरण^१ और वशातर्मरण, निदानमरण और तद्भवमरण, गिरिपतन और तक्षपतन, अलप्रवेश और ज्वलनप्रवेश तथा विद्यमरण और ज्ञस्त्रपाटन। आगे इसी सूत्र में कहा गया है कि भगवान् महावीर ने इन दो मरणों की सदा अनुमति तो नहीं दी, पर कारणवश उनका निषेध भी नहीं किया है। वे मरण हैं वेहाणस (बैहायस) और घृष्टपृष्ठ^२। भगवान् ने इन दो मरणों का निर्द्वन्द्व अमणों के लिए वर्णन किया है व अनुज्ञा दी है—पादोपगमन—स्व-परकृत प्रतीकार से रहित—और भक्तप्रत्याख्यान। ये दोनों ही निर्हारिम और अनिर्हारिम के भेद से दो-दो प्रकार के हैं।

विषयविवेचन पद्धति के ज्ञापनार्थ यहाँ उपर्युक्त कुछ उदाहरण दिए गए हैं। वर्णन का यही क्रम आगे तीन चार आदि दस स्थानक तक समझना चाहिए। प्रस्तुत अंग की समस्त सूत्रसंख्या ७८३ है। इसके ऊपर अभयदेव सूरि के द्वारा टीका रची गई है। टीका का रचनाकाल लगभग विक्रम संवत् ११२० है। इस टीका के साथ इसका एक संस्करण, जो हमें प्राप्त है, श्रेष्ठ माणिकलाल चुन्नीलाल अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित किया गया है। इनका उपयोग इन शब्दों में हुआ है:—

मूल—अकर्मभूमि आदि।

टीका—अधर्मद्रव्य, अपरममकथा, उपपात, ऋजुसूत्र और एवम्भूत नम आदि।

२६. **समवायांग**—बारह अंगों में इसका स्थान चौथा है। यह भी अभयदेव सूरि विरचित भूति से सहित है। इसकी विषयविवेचन पद्धति पूर्वोक्त स्थानांग के ही समान है—जिस प्रकार स्थानांग में क्रम से एक दो आदि संख्या वाले पदार्थों का प्रतिपादन किया गया है उसी प्रकार इस समवायांग में भी एक दो तीन आदि संख्या वाले पदार्थों का विवेचन किया गया है। विशेष इतना है कि स्थायांग में एक दो तीन आदि के क्रम से दस संख्या तक के पदार्थों का ही वर्णन किया गया है। इसीलिए उसमें दस स्थानक या प्रकरण हैं। परन्तु समवायांग में प्रथमतः एक दो आदि क्रमिक संख्या के अनुसार सौ (१००) संख्या तक के पदार्थों का, उसके आगे पाँच सौ (५००) तक पचास पचास अधिक (१५०, २००, २५० आदि) संख्या वाले तथा इसके आगे ११०० तक १००-१०० अधिक संख्या वाले पदार्थों का विवरण है। तत्पश्चात् दो हजार, तीन हजार आदि संख्यायुक्त पदार्थों का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार यह क्रम सागरोपम कौड़ाकोड़ी तक चलता रहा है।

तत्पश्चात् सूत्र १३६ में गणिपिटक के रूप में आचारादि बारह अंगों के विषयादि का परिचय कराया गया है। इसके पश्चात् नारकियों आदि के आवास, आयु और शरीरोत्प्रेष आदि का निरूपण करते हुए कुलकर, तीर्थंकर और उनके पूर्वज आदि का भी उल्लेख किया गया है। अन्त में नारायण, बलदेव एवं भविष्य में होने वाले तीर्थंकरादि का निर्देश करते हुए ग्रन्थ समाप्त हुआ है। इसमें सब सूत्र १५६ हैं। बीच में कुछ गाथासूत्रों का भी उपयोग हुआ है। उक्त टीका के साथ यह मफतलाल ऋवेरचन्द अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसकी टीका का उपयोग अकर्मभूमिक, अतिस्निग्धमधुरत्व, अनुन्नादित्व, अधर्मद्रव्य, अपरमर्मवेचित्व, अभिजातत्व, अवधिमरण, असंदिग्धत्व और उपनीतरागत्व आदि शब्दों में हुआ है।

३०. **व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती)**—यह अंगों में पाँचवा अंग है, जो प्रायः ग्रन्थ सब अंगों में

१. परीवहादिते उद्विग्न होकर संयम से व्युत्पन्न होते हुए जो मरण होता है वह बलन्मरण कहलाता है।
२. मूल की शाला आदि में बन्धन (फाँसी) से जंघाकाश में मरण होता है उसे वेहाणस मरण कहा जाता है। गिद्धों से पीठ पेट आदि नुचवा कर जो मरण स्वीकार किया जाता है वह घृष्टपृष्ठ मरण कहलाता है।

विशालकाय है। ग्रन्थप्रमाण से यह १५००० श्लोक प्रमाण है। इसमें ४१ शतक और इन शतकों में अन्तर्गत अधिकार रूप और भी अनेक शतक हैं। यहाँ सर्वप्रथम मंगलरूप में पंचनमस्कारमंत्र—'णमो अरिहताय' आदि प्राप्त होता है। तत्पश्चात् बाह्यी लिपि को नमस्कार किया गया है। तदनन्तर राजवृह नगर, राजा श्रेणिक और उसकी पत्नी चित्तलना का निर्देश करते हुए भगवान् महावीर और उनके प्रमुख गणधर इन्द्रभूति (गीतम) के गुणों का कीर्तन किया गया है। इसमें नरक, स्वर्ग, इन्द्र, सूर्य, गति-भागति, पृथिवीकायादि, केवली का जानना-देखना, कृतयुग्मादि संख्याविशेष और लेख्या आदि अनेक विषयों का निरूपण प्रश्नोत्तर की पद्धति से किया गया है। प्रमुख प्रश्नकर्ता गीतम गणधर रहे हैं। इनके अतिरिक्त दूसरों के द्वारा भी यथावसर प्रश्न पूछे गए हैं। उनमें पार्श्वपितृ—पार्श्वनाथ परम्परा के शिष्य—भी हैं। उक्त विषयों के सिवाय यहाँ कितने ही राजा, सेठ और व्यापक आदि का भी वर्णन किया गया है। इसके कई संस्करण निकल चुके हैं। इसका उपयोग अङ्गारदोष, अद्भुत, अद्भुतजागरिका, आलापन-वन्ध, उच्छवयवन्ध, उच्छलक्षणवलङ्गिका और उच्छवास नामकर्म आदि शब्दों में हुआ है।

३१. **प्रश्नव्याकरणशांति**—इसकी कोई भी प्रति हमें उपलब्ध नहीं हो सकी। समवायांग और नन्दीसूत्र के अनुसार प्रस्तुत अंग में मंत्रविद्या आदि से सम्बद्ध १०८ प्रश्न १०८ अक्षर और १०८ प्रश्नावयवों का निर्देश किया गया है। इसमें ४५ अध्ययन हैं।

वर्तमान प्रश्नव्याकरण में यह सब नहीं है। श्री पं. बेचरवासजी दोसी का धर्ममत है कि वर्तमान प्रश्नव्याकरण किसी गीतार्थ पुरुष के द्वारा रचा गया है।

इसमें हिंसादिरूप पांच आश्रवों और अहिंसादिरूप पाँच संघों का विस्तार से कथन किया गया है। इसकी टीका का उपयोग आरम्भ और आरम्भ-समारम्भ आदि शब्दों में हुआ है।

३२. **विपाकसूत्रांग**—यह ग्यारहवाँ अंग है, जो दुःखविपाक और सुखविपाक इन दो श्रुत-स्कन्धों में विभक्त है। दुःखविपाक में ये दस अध्ययन हैं—१ मृगापुत्र, २ कनमध्वजा-उत्थिक्तक, ३ अमल-सेन, ४ शकट, ५ वृहस्पतिदत्त, ६ नन्दिमित्र, ७ उम्बरवत्त, ८ शौर्यदत्त, ९ देवदत्त और १० अंजु। इसी प्रकार दूसरे श्रुतस्कन्ध में भी दस ही अध्ययन हैं—१ सुवादुकुमार, २ भद्रनन्दीकुमार, ३ सुभासकुमार, ४ सुवासवकुमार, ५ विनदास, ६ वनपति युवराजपुत्र, ७ महाबलकुमार, ८ भद्रनन्दीकुमार, ९ महाचन्द्र कुमार और १० वरदत्तकुमार। ये २० कथाएँ यहाँ दी गई हैं। इनमें आरम्भ के १० पात्र दुःख के परिणाम के भोक्ता तथा अन्तिम १० पात्र सुख के परिणाम के भोक्ता हुए हैं। अभयदेव सूरि (विक्रम की १२वीं शती) विरचित टीकायुक्त जो संस्करण इसका हमारे पास है वह गुजरात ग्रन्थरत्न कार्यालय ग्रहमदाबाद से प्रकाशित है। इसकी टीका का उपयोग उपप्रदान व कनङ्कर आदि शब्दों में हुआ है।

३३. **श्रीपदात्मिक सूत्र**—यह १२ उपांगों में प्रथम उपांग माना जाता है। इसके ऊपर अभय-देव सूरि विरचित विवरण है। इसके आरम्भ में उन्होंने उपात का अर्थ देव-नारकजन्म व सिद्धिगमन करते हुए उसके आश्रय से श्रीपदात्मिक अध्ययन बतलाया है। साथ ही उन्होंने यह भी निर्देश किया है कि प्राचार्यांग के प्रथम अध्ययन शास्त्रपरिज्ञा के अन्तर्गत प्रथम उद्देशक में जो 'एवमेनेसि' आदि प्रथम सूत्र है उसमें आत्मा को श्रीपदात्मिकत्व निर्दिष्ट किया गया है। उसका चूँकि इसमें विस्तार है, अतः इसे प्राचार्यांग का उपांग समझना चाहिए।

इसमें चत्पा नगरी, पूर्णभद्र चैत्य, वनलण्ड, अशोक वृक्ष और पृथिवीकायिक का उल्लेख करते हुए वहाँ (चम्पानगरी में) कूणिक राजा का निवास बतलाया है और उसका एवं धारिणी रानी का वर्णन किया गया है। यह कूणिक अंशसार (विम्बसार) का पुत्र था। भागे महावीर भगवान् का गुणानुवाद करते हुए उक्त पूर्णभद्र चैत्यगृह में उनके आगमन का निर्देश किया गया है। तत्पश्चात् भनगार व बाह्य एवं अन्तर्गत तप आदि अनेक प्रासंगिक विषयों की चर्चा की गई है। भगवान् महावीर के आने का समाचार

१. समवायांग सूत्र १४५, पृ० ११४.

२. नन्दीसूत्र १४, पृ० ६९.

३. बेखिये जैन साहित्य का बृहत् इतिहास भा. १, पृ० २४८.

शत कर रानियों के साथ राजा कूर्णक ने जाकर यथाविधि उनकी वन्दना आदि की और तत्पश्चात् धर्मवर्षण किया। इस धर्मदेसना में भगवान् महावीर के द्वारा लोक-अलोक, जीव-अजीव, बन्ध-मोक्ष, पुण्य-पाप, आश्रव-संवर, वेदना-निर्जरा, अरिहंत, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, नरक, नारक, तिर्यक्, तिर्यक्चनी, माता-पिता एवं ऋषि आदि कितने ही विषयों के अस्तित्व का निरूपण किया गया था। यह धर्मदेसना आर्य-अनार्यों की अपनी-अपनी भाषा में परिणत होने वाली अर्धभागधी भाषा में की गई थी। यह क्रम ३७वें सूत्र तक चलता रहा है।

तत्पश्चात् अद्यालु गौतम को कुछ विषयों में सन्देह उत्पन्न हुए। तब उन्होंने वीर प्रभु से कर्मों के आश्रव व बन्धादि से सम्बन्धित कुछ प्रश्न किए, जिनका भगवान् ने समाधान किया। इसी प्रसंग में विविध प्रकार के जीव किस प्रकार से मरकर कहाँ उत्पन्न होते हैं, इत्यादि का विस्तार से विवेचन किया गया है। इसमें ४३ सूत्र हैं व अन्त में सिद्धों के प्रकरण से सम्बन्धित २२ गाथाएँ हैं। ग्रन्थप्रमाण १६०० है।

उक्त अश्वमेध सूत्र विरचित वृत्ति के साथ यह आगमोदय समिति द्वारा निर्णयसागर मुद्रणालय बम्बई से प्रकाशित कराया गया है। इसकी टीका उपयोग अर्हन् और आमरणान्त दोष आदि शब्दों में किया गया है।

१४. राजप्रश्नीय—यह बारह उपागों में दूसरा है। इस पर आचार्य मलयगिरि (विक्रम की १२-१३वीं शताब्दी) विरचित टीका है। सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य मलयगिरि आ. हेमचन्द्र के सम-कालीन रहे हैं। उनके द्वारा राजप्रश्नीय, प्रज्ञापना, जीवाजीवाभिगम और आवश्यकसूत्र आदि अनेक आगम ग्रन्थों पर जो टीकाएँ रची गई हैं वे अतिसय महत्त्वपूर्ण हैं। ये टीकाएँ ग्रन्थ के रहस्य को अली-भांति स्पष्ट करने वाली हैं। कहा जाता है कि आ. मलयगिरि को उनकी इच्छानुसार विमलेश्वर देव से इस प्रकार की उत्तम टीकाओं के लिखने का वर प्राप्त हुआ था।

प्रस्तुत टीका के प्रारम्भ में ग्रन्थ के नाम आदि के विषय में स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि प्रदेशी नामक राजा ने केशिकुमार अमण—भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य—से जीवविषयक जिन प्रश्नों को किया था और केशिकुमार अमण ने उनका जो समाधान किया था, उससे समाहितचित्त होकर वह बोधि को प्राप्त हुआ। पश्चात् वह शुभ परिणामों के साथ मर कर सौधमें स्वर्ग में विमान का अधिपति हुआ। वहाँ वह अवधिज्ञान के बल से भगवान् वर्धमान स्वामी को देखकर भक्ति से नम्र होता हुआ उनके समीप आया। उसने वहाँ बत्तीस प्रकार का अभिनय किया। नृत्य के पश्चात् धायु के समाप्त होने पर वहाँ से श्रुत होकर वह मुक्ति को प्राप्त करेगा। यह सब चर्चा प्रस्तुत उपाग में है। इस सबका मूल कारण वृत्ति प्रदेशी राजा के उक्त प्रश्न रहे हैं, अतएव इसका नाम 'राजप्रश्नीय' प्रसिद्ध हुआ है।

इसमें सब सूत्र ४५ हैं। जिस प्रकार औपपातिक सूत्र में क्रम से चम्पा नगरी आदि का वर्णन किया गया है उसी क्रम से यहाँ प्रारम्भ में आमनकल्पा नगरी आदि का वर्णन किया गया है। चम्पा नगरी का राजा जहाँ कूणिक था वहाँ इस नगरी का राजा सेध (श्वेत) नाम का था। कूणिक की रानी का नाम जैसे धारिणी था, इस राजा की रानी का नाम भी धारिणी था। उक्त क्रम से वर्णन करते हुए आगे पूर्वनिर्दिष्ट सौधमें कल्पवानी सूर्याभि देव को विभूति—विशेषतः विमान-रचना—का वर्णन किया गया है। आगे यथावसर ३२ प्रकार की नाट्यविधि का उल्लेख किया गया है (सू. २४, पृ. १११-१३)। यह वर्णन २५वें सूत्र में समाप्त हुआ है। तत्पश्चात् सूर्याभि देव के पूर्ववर्ष

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ३, पृ. ४१५-१६.

२. आ. मलयगिरि ने टीका में इसकी सूचना भी इस प्रकार की — 'जाव समोसरणं समत्तं' इति यावच्छन्दकरणात् राजवर्णको देवीवर्णकः समवसरण औपपाति नुसारेण तावद् वक्तव्यं यावत् समवसरणं समाप्तम्। सू. ४, पृ. २०. अशोक पादप और शिला, के वर्णन की सूचना ग्रन्थकार के द्वारा स्वयं इस प्रकार की गई है — असोववरपायवपुडविस्लावट्टयवत्तब्बया ओववाइयमेण नेया। सूत्र ३, पृ. ७.

—राजा प्रदेसी—का वर्णन करते हुए जीव व शरीर को एक मानने वाले राजा के पूर्वोक्त प्रश्नों और उनके समाधान आदि को प्रगट किया गया है। प्रश्न करते हुए गौतम गणधर के वर्णन प्रसंग में आ. मलयगिरि ने पाठान्तर की सूचना भी की है। यथा—पुस्तकान्तरे त्विदं वाचनान्तरं दृश्यते—तेण कालेण तेण समएणं.....” सू. २६, पृ. ११८. इसका एक संस्करण, जो हमारे पास है, खडायता (Khada-yata) बुकडिपो अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है। इसकी टीका का उपयोग अतिस्निग्धमधुरत्व, अनुनादित्व अपरममवेधित्व, अभिजातत्व, असंदिग्धत्व और उपनीतरागत्व आदि शब्दों में हुआ है।

३५. जीवाजीवाभिगम—यह तीसरा उपांग है। इसके ऊपर भी आ. मलयगिरि विरचित विस्तृत टीका है। टीकाकार ने प्रस्तुत उपांग का सम्बन्ध तीसरे स्थानांग से बतलाया है। इसमें ती प्रतिपत्ति या प्रकरण हैं। सूत्रसंख्या २७२ है। मूल ग्रन्थ का प्रमाण ४७५० और टीका का प्रमाण १४००० है। जैसा कि ग्रन्थ के नाम से प्रकट है, इसमें गौतम गणधर के प्रश्न और भगवान् महावीर के उत्तररूप में जीव व अजीव के भेद-प्रभेदों की विस्तार से चर्चा की गई है। साथ ही यथाप्रसंग ग्रन्थ में अनेक विषय उसमें समाविष्ट हैं। जैसे—रत्न-शर्कराप्रभादि पृथिवियां, द्वीप-समुद्र, विजयद्वार, रत्नमेघ, अस्त्रमेघ, धातुमेघ, मद्यमेघ, पात्रमेघ एवं भाभूषणमेघ आदि। उक्त ६ प्रतिपत्तियों में तीसरी प्रतिपत्ति अत्यधिक विस्तृत है (सूत्र ६५-२२३, पृ. ८८-४०७)। विवक्षित प्रतिपत्ति के आद्य सूत्र में जितने जीवभेदों का निर्देश किया गया है तदनुसार प्रतिपत्ति की सज्ञा की गई प्रतीत होती है। जैसे जिबिवा नाम की द्वितीय प्रतिपत्ति में जीव के स्त्री, पुरुष और नपुंसक इन तीन प्रकारों की प्ररूपणा की गई है। चतुर्विधा नाम की तृतीय प्रतिपत्ति में जीव के नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चार भेदों की, पंचविधा नाम की चतुर्थ प्रतिपत्ति में जीव के ऐकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय आदि पांच भेदों की; इस क्रम से अष्टिम दसविधा नाम की नौवीं प्रतिपत्ति में जीव के इन दस प्रकारों की प्ररूपणा की गई है—प्रथम-समय-एकेन्द्रिय, अग्रप्रथम-समय-एकेन्द्रिय, प्रथम-समय-द्वीन्द्रिय, अग्रप्रथम-समय-द्वीन्द्रिय आदि।

इसका एक संस्करण मलयगिरि विरचित वृत्ति के साथ सेठ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसकी टीका का उपयोग अग्निकुमार, अष्टासमय, अष्टमंद्बन्ध, अना-हारक, उच्छ्वास और उच्छ्वासपर्याप्ति आदि शब्दों में हुआ है।

३६. प्रज्ञापनासूत्र—यह श्यामायं वाचक विरचित चौथा उपांग है। श्यामायं का अस्तित्व महावीर निर्वाण के ३७६ वर्ष पश्चात् बतलाया जाता है^१। इसके ऊपर भी पूर्वोक्त आ. मलयगिरि के द्वारा टीका रची गई है। यहाँ मंगल के पश्चात् “वायगवरवंसाधो” आदि दो गाथायें प्राप्त होती हैं। उनकी व्याख्या करते हुए मलयगिरि ने उन्हें ग्रन्थकर्तृक बतलाया है^२। इन गाथाओं में श्रुत-सागर से पुनकर उत्तम श्रुत-रत्न के प्रदाता धार्म्य श्याम को नमस्कार करते हुए उन्हें वाचक वश में तेईसवें निदिष्ट किया गया है^३। साथ ही “पूर्वश्रुतसमृद्धबुद्धि” इस विशेषण द्वारा उनके महत्त्व को प्रगट किया गया है। मलयगिरि ने प्रस्तुत ग्रन्थ को जोषे समयार्थांग में प्ररूपित विषय का प्रतिपादक होने से उसका उपांग सूचित किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में निम्न ३६ पद हैं, जिनकी वहाँ क्रम से प्रश्नोत्तर के रूप में प्ररूपणा की गई है—
१ प्रज्ञापना, २ स्थान, ३ बहुवक्तव्य, ४ स्थिति, ५ विशेष, ६ व्युत्क्रान्ति, ७ उच्छ्वास, ८ संज्ञा, ९ योगि, १० चरम, ११ भाषा, १२ शरीर, १३ परिणाम, १४ कषाय, १५ इन्द्रिय, १६ प्रयोग, १७ लेख्या, १८ कायस्थिति, १९ सम्पत्त्व, २० अन्तक्रिया, २१ भवगाहनासंस्थान, २२ क्रिया, २३ कर्म, २४ कर्म-

१. ‘जैन साहित्य का बृहद् इतिहास’ भाग २, पृ. ८३.
२. येनेयं सत्त्वानुग्रहय श्रुत-सागरादुद्बुता असावप्यासन्नतरोपकारित्वाद्दस्मद्विद्यानां नमस्काराहं इति तन्मस्कारविषयमिदमपान्तराल एवाव्यक्तुं क गाथाद्वयम्। पृ. ५।१
३. नन्दीसूत्र में निदिष्ट स्वविराजो (२२-४२) में श्यामायं का उल्लेख गा. २५ में उपलब्ध होता है।

ग्रन्थक, २५ कर्मवेदक, २६ वेदग्रन्थक, २७ वेदवेदक २८ आहार, २९ उपयोग, ३० स्वर्णता, ३१ संज्ञी, ३२ संभम, ३३ भवधि, ३४ प्रविचारणा, ३५ वेदना और ३६ समुद्घात । इसमें समस्त सूत्रों की संख्या ३४६ है । बीच में कहीं-कहीं कुछ गाथा सूत्र भी उपलब्ध होते हैं । मूल ग्रन्थ का प्रमाण ७७८७ है । टीका के ग्रन्थ में प्रा. मलयगिरि ने अपना यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि टीकाकार ने हरिभद्र सूरि जयवन्त रहें, जिन्होंने इस ग्रन्थ के विषय पदों के भाव को स्पष्ट किया है तथा जिनके बचन के प्रभाव से मैंने लेखरूप में इस विवृति को रचा है । यह मलयगिरि विरचित उस टीका के साथ प्रागमोदय समिति मेहसाना से प्रकाशित हुआ है । इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अणुतटिकाभेद और अपरीतससार आदि ।

टीका—अद्वाद्यामिश्रिता, अनन्तानुबन्धी, अनादेयनाम, अनानुगामिक भवधि और धावजित-करण आदि ।

३७. सूर्यप्रज्ञप्ति—यह ग्रन्थ हमें उपलब्ध नहीं हो सका । इसका कुछ परिचय यहाँ 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भा० २, पृ० १०५)' के अनुसार दिया जा रहा है । यह पांचवाँ उपांग है । इसके ऊपर भी प्रा. मलयगिरि की टीका है । इसमें २० प्राभूत और १०८ सूत्र हैं, जिनके आश्रय से सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्रों आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है । इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अभिबद्धित संवत्सर आदि ।

टीका—अनगार, अभिवद्धित संवत्सर और आश्रित्य आदि ।

३८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—यह छठा उपांग है । इसके ऊपर शान्तिचन्द्र वाष्केन्द्र (विक्रम की १६-१७वीं शती) विरचित प्रमेयरत्नमञ्जूषा नाम की एक टीका है । टीकाकार ने १२ अंगों के साथ १२ उपांगों का सम्बन्ध जोड़ते हुए प्रस्तुत छठे उपांग का सम्बन्ध ज्ञाताधर्मकथांग से बतलाया है (पृ. १-२) । मंगलाचरण के बाद तीसरे श्लोक में उन्होंने इसके ऊपर आचार्य मलयगिरि द्वारा रची गई टीका की सूचना करते हुए उसे संशय-ताप का नाशक कहा है । प्रागे चलकर उन्होंने सभी अंगों और उपांगों के टीकाकारों का नामोल्लेख करते हुए यह कहा है कि प्रस्तुत उपांग की वृत्ति श्री मलयगिरि के द्वारा की जाने पर भी वह इस समय कालदोष से व्यवच्छिन्न हो गई है^१ । इसी प्रकरण में उन्होंने यह भी निर्देश किया है कि वीरनिर्वाण के पश्चात् एक हजार (१०००) वर्ष में दृष्टिवाद व्यवच्छिन्न हो गया, इस कारण उसके चिवरण का प्रयोजन नहीं रहा ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में ७ वक्षस्कार (अधिकार) हैं । प्रत्येक वक्षस्कार की अन्तिम पुष्पिका में टीकाकार ने अपने को धकबर के शासनकाल में उसे धर्मोपदेश से विस्मित करने वाले श्रीमत्सपावच्छात्रिणज श्री हीरविजयसूरीश्वर के पाद-पद्मों की उपासना में प्रवण महोपाध्याय श्री सकलचन्द्र गणी का शिष्य उपाध्याय श्री शान्तिचन्द्र गणी बतलाया है ।

इसमें जम्बूद्वीपगत मरतादि सात क्षेत्र, कुलाचल, शुदर्शनमेढ, जम्बूद्वीप की जगती, विजयद्वार, संख्यामान, सुषमसुषमादिकाल, दुःषमसुषम काल में होने वाले तीर्थंकर व चक्रवर्ती आदि, चक्रवर्ती के दिग्विजय और सूर्यचन्द्रादि ज्योतिषियों की प्ररूपणा की गई है । समस्त सूत्रसंख्या १७८ और मूलग्रन्थ का प्रमाण ४१४६ अन्त में ५१ श्लोकों द्वारा टीकाकार ने अपनी प्रशस्ति दी है । इसका उपयोग टीका के आश्रय से अनगार, अनुगम और अनुयोग आदि शब्दों में किया गया है ।

३९. उत्तराध्ययन सूत्र—यह मूल सूत्रों में प्रथम माना जाता है । इसका रचनाकाल महावीर निर्वाण से लेकर लगभग १००० वर्षों में माना जाता है । कारण इसका यह है कि छत्तीस अध्ययनस्वरूप यह एक संकलन ग्रन्थ है, जिसका रचयिता कोई एक नहीं है—महावीर निर्वाण से लेकर उक्त हजार वर्षों के भीतर विभिन्न स्थानों के द्वारा इसके विभिन्न अध्ययनों का संकलन किया गया प्रतीत होता है^२ ।

१. तत्र प्रस्तुतोपाङ्गस्य वृत्तिः श्रीमलयगिरिकृतापि संप्रति कालदोषेण व्यवच्छिन्ना । पृ. २।१.

२. 'उत्तराध्ययन-सूत्र : एक परिसीतन' पृ. २६-३७.

उत्तराध्ययन में 'उत्तर' शब्द के अर्थ नियुक्तिकार ने नाम-स्थापना धादि के भेद से अनेक प्रकार बतलाये हैं। उनमें यहाँ क्रमोत्तर की विवक्षा की गई है, जिसका अभिप्राय यह है कि ये अध्ययन चूँकि आचार्य के उत्तर (ध्याने) पढ़े गये हैं, अतएव इन्हें उत्तर-अध्ययन जानना चाहिए। वृत्तिकार आन्याचार्य ने यहाँ कुछ विशेषता प्रगट करते हुए यह निर्देश किया है कि यह उत्तर का कम आध्यम्भव—दशवैकालिक के कर्ता—तक ही समझना चाहिये। इसके पश्चात् वे—उक्त अध्ययनों में से कुछ—दशवैकालिक के बाद पढ़े जाते हैं। ध्याने चलकर नियुक्तिकार ने उक्त अध्ययनों को अंगप्रभव—दृष्टिवाद अंग से उत्पन्न (जैसे द्वितीय परीषदाध्ययन), जिन भाषित—महावीर प्रणीत (जैसे दुमपुष्पिका नाम का दसवाँ अध्ययन), अत्येकबुद्धों—कपिलादिकों—से उत्पन्न (जैसे कापिलीय नाम का आठवाँ अध्ययन), तथा संवाद से—केशिकुमार और गौतम गणधर के प्रश्नोत्तर से—उत्पन्न (जैसे केशि-गौतमीय नाम का तेईसवाँ अध्ययन) बतलाया है।

इसमें मुनि के आचार का विवेचन किया गया है। साथ ही अनेक उदाहरणों द्वारा उपदेशात्मक पद्धति से वस्तुस्वरूप का भी परिज्ञान कराया गया है। इसमें ये छत्तीस अध्ययन हैं—१ विनयाध्ययन, २ परीषदाध्ययन, ३ चतुरङ्गीय, ४ असंस्कृत, ५ अकाममरणीय, ६ सुल्लकनिर्यन्धीय, ७ औरम्भीय, ८ कापिलीय, ९ नमिप्रव्रज्या, १० दुमपत्रक, ११ बहुभूतपूजा, १२ हरिकेशीय, १३ चित्रसम्भूतीय, १४ इचुकारीय, १५ समिधु, १६ ब्रह्मचर्यसमाधि, १७ पापश्रमणीय, १८ संयतीय (संजय), १९ मृगा-पुनीय, २० महाविघ्ननीय, २१ समुद्रपानीय, २२ रथनेमीय, २३ केशि-गौतमीय, २४ प्रवचनमातृ, २५ यमीय, २६ सामाचार्य, २७ जलुङ्गीय, २८ भोजमार्गीय, २९ सम्यक्त्वपराक्रम, ३० तपोमार्गगति, ३१ चरणविधि, ३२ प्रमाद, ३३ कर्मप्रकृति, ३४ लेख्या, ३५ अनवारमार्गगति और ३६ जीवाजीव-विभक्ति। इसके ऊपर बृहद्गच्छीय नेमिचन्द्राचार्य (वि. सं. ११२६) विरचित सुखबोधा नाम की टीका है। इस टीका के साथ वह पुष्पचन्द्र क्षेमचन्द्र बलाद (अहमदाबाद) के द्वारा प्रकाशित कराया गया है। इसके अतिरिक्त आचार्य भद्रबाहु द्वितीय (वि. की छठी श.) विरचित नियुक्ति तथा वादिवेताल शान्ति-सूरि (वि. की ११वीं शती—मृत्यु सं. १०६६) विरचित शिष्यहिता नाम की टीका सहित प्रथम बार अध्ययन रूप एक संस्करण सेठ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसकी जिनवास गणिमहत्तर (विक्रम की ७वीं शताब्दी) विरचित चूणि श्री ऋषभदेव केशरीमल जी ध्वेताम्बर संस्था रतलाम से प्रकाशित हुई है। इसका उपयोग निम्न शब्दों में हुआ है—

मूल—अध्वेलपरीषहजय, अधमद्रव्य, अनास्रव, अनुभाव, आक्रोशपरीषहजय, आज्ञासधि और उपदेशसधि धादि।

नि.—अध्वेलद्रव्योपक्रम, अनभिप्रेत, अनादिकरण, अनुलोम, आत्मसंयोग और आशंसा धादि।

बु.—अनुगम, अनुभाव, अधविमरण और आत्यन्तिकमरण धादि।

टी.—अनादिकरण, आक्रोशपरीषहजय और आगमद्रव्योत्तर धादि।

४०. आषड्यकसूत्र—इसमें प्रतिदिन नियम से की जानेवाली दैनिक क्रियाओं का निरूपण किया गया है। ऐसी क्रियाएँ छह हैं—सामायिक, चतुर्विधतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्यास्थान। इनका प्ररूपक होने से वह इन्हीं नामों वाले छह अध्ययनों से विभक्त है।

इस पर आचार्य भद्रबाहु द्वितीय (विक्रम की छठी शताब्दी) द्वारा विरचित नियुक्ति, आचार्य जिनभद्र गणी (विक्रम की ७वीं शताब्दी) द्वारा विरचित भाष्य, तथा एक टीका हरिभद्र सूरि (वि. की ८वीं शताब्दी) द्वारा विरचित और दूसरी आचार्य मलयगिरि (विक्रम की १२-१३वीं शताब्दी) द्वारा

१. कमउत्तरेण पण्यं आयास्तेव उवरिमाहं तु। तस्मा उ उत्तरा सलु अजक्रमणा हुति णायव्वा ॥
उत्तरा. नि. ३.

२. विशेषवचयम्। यथा—आध्यम्भवं यावदेव क्रमः, तदाऽऽरतस्तु दशवैकालिकोत्तरकालं पठन्ते इति। पृ. ५.
३. उत्तरा. नि. ४.

विरचित ये दो टीकायें भी हैं। इनके अतिरिक्त हरिभद्र सूरि विरचित टीका पर मलधारगच्छीय भा. हेमचन्द्र (विक्रम की १२ वीं श.) विरचित एक टिप्पण भी है। जिस भाष्य का ऊपर उल्लेख किया गया है वह संक्षिप्त है, उसकी सब गाथायें विशेषावश्यक भाष्य में सम्मिलित हैं। नियुक्तियों की गाथा संख्या १४१७ (प्रतिक्रमान्त) और भाष्यगाथासंख्या २२७ है। उक्त आवश्यकसूत्र नियुक्ति और हरिभद्र विरचित वृत्ति के साथ प्रथम सामायिक अध्ययन तक पूर्ण भाग के रूप में तथा २ से ४ अध्ययन तक दूसरे भाग के रूप में प्रागमोदय समिति बम्बई द्वारा प्रकाशित हुआ है। वहीं नियुक्ति और मलय-गिरि विरचित टीका के साथ नि. गा. ५४२ तक पूर्ण भाग के रूप में तथा नि. गा. ५४३ से ८२६ तक द्वि. भाग के रूप में प्रागमोदय समिति बम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया है। नि. गा. ८२७-१०६६ तक तृतीय भाग के रूप में देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड सूरत द्वारा प्रकाशित किया गया है। इन तीन भागों में सामायिक और चतुर्विंशतिस्तव ये दो ही अध्ययन धा सके हैं। भागों के भाग हमें उपलब्ध नहीं हो सके। म. ग. हेमचन्द्र विरचित टिप्पणक सेठ देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड बम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग निम्न शब्दों में हुआ है—

मूल—भङ्गारकर्म आदि।

नि.—धनुयोग, धनुमन्वना, धर्मसिद्ध, प्रागमसिद्ध, प्राप्रच्छना और आवश्यकनियुक्ति आदि।

भा.—उत्तरप्रयोगकरण आदि।

बुधि—प्रक्षीणमहानसिक और धनुमान आदि।

ह. वृत्ति—भङ्गारकर्म, धनुमान, धनुयोग, अपदबोध, अपरिग्रहीतागमन और अप्रत्याख्यान-कोष आदि।

म. वृत्ति—प्रक्षीणमहानस और इत्वरपरिहारविशुद्धिक आदि।

हे. टिप्पण—प्रबोलेक आदि।

४१. दशकालिक—इसके रचयिता प्राचार्य शय्यम्भव हैं। इसके ऊपर प्राचार्य भद्रबाहु द्वितीय विरचित नियुक्ति और प्राचार्य हरिभद्र विरचित टीका है। कालविषयक निक्षेप के प्रसंग में नियुक्तिकार के द्वारा कहा गया है कि सामायिक (आवश्यकसूत्र का प्रथम अध्ययन) के अनुक्रम से वर्णन के लिए बूकि यह विगत पौषी में शय्यसम्भव के द्वारा रचा गया है—पूर्वगत से उद्धृत किया गया है, अतएव इसे दशकालिक कहा जाता है^१। भागे उपयुक्त शय्यसम्भव की वन्दना करते हुए यह निर्देश किया गया है कि मैं (नियुक्तिकार) मनक नामक पुत्र के जनक उन शय्यम्भव गणधर—ज्ञान-दर्शनाविरूप धर्म-गण के धारक—की वन्दना करता हूँ जिन्होंने जिनप्रतिमा के दर्शन से प्रतिबोध को प्राप्त होकर दशकालिक का उद्धार किया है^२। इसके टीकाकार हरिभद्र सूरि ने इस सम्बन्ध में निम्न कथानक प्रस्तुत किया है—

अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमान स्वामी के शिष्य गणधर सुधर्म उनके तीर्थ को स्वामी हुए। तत्पश्चात् उनके भी शिष्य जम्बूस्वामी और उनके शिष्य प्रभव हुए। प्रभव को एक समय यह चिन्ता हुई कि भविष्य में मेरा गणधर कौन होगा। इसके लिए उन्होंने अपने गण और सध में सब और दृष्टि डाली, पर उन्हें वहाँ कोई इस परम्परा का चलाने वाला नहीं दिखा। तब उन्होंने गृहस्थों में देखा। वहाँ उन्हें राजगृह में यज्ञ कराने वाला शय्यम्भव ब्राह्मण दिखा। यह देखकर उन्होंने राजगृह नगर में आकर दो साधुओं को मिसार्थ यज्ञस्थल में जाने को कहा। साथ ही उन्होंने यह भी सूचना की कि यदि कोई तुम्हें रोके तो तुम कहना “खेद है कि तत्त्व को नहीं जानते”। वहाँ उनके पहुँचने पर वही हुआ और उन्होंने भी वैया ही कहा। उसे द्वार पर स्थित शय्यम्भव ने सुना। वह सोचने लगा कि शान्त तपस्वी असत्य

१. सामादयग्रनुक्रमधो वर्णनेवं विगयपोरिसी ऊ।

णिज्जूढं किर सेज्जमवेण दसकालियं तेण ॥ नि. १२.

२. सेज्जमवं गणधरं जिणपडिमादंसणेण पडिबुद्धं।

मणगपिमरं दसकालियस्स णिज्जूहमं वदे ॥ नि. १४.

‘वहीं बोल सकते । यही सोचकर वह अध्यापक के पास गया और बोला—“तत्त्व क्या है ?” उत्तर में अध्यापक ने कहा—“तत्त्व वेद है” । तब उसने तलवार को खींचते हुए कहा कि यदि तুম तत्त्व को नहीं कहोगे तो शिर काट दूँगा । इसपर अध्यापक बोला कि मेरा समय पूर्ण हो गया, वेदार्थ में यह कहा गया है । फिर भी शिरच्छेद के भय से कहना ही चाहिए, सो जी यहाँ तत्त्व है उसे कहता हूँ । इस मूप (यज्ञ-काष्ठ) के नीचे सर्वरत्नमयी अरिहंत की प्रतिमा है, वह शाश्वतिक है । इस प्रकार अरिहंत का धर्म तत्त्व है । तब वह उसके पैरों में पड़ गया । अन्त में उसने यज्ञस्वल्प की सामग्री को उसे संभाला दिया और वह उन साधुओं को लोभता हुआ आचार्य (प्रभु) के पास पहुँचा । वहाँ पहुँच कर उसने आचार्य और उन दोनों साधुओं की वन्दना की । फिर उसने धर्म के कहने के लिए प्रार्थना की । तब आचार्य ने उपयोग लगा कर जाना कि यह वही (शयम्भव) है । यह जानकर आचार्य ने साधु के धर्म का उपदेश दिया । उसे सुनकर प्रबोध को प्राप्त होते हुए उसने दीक्षा ग्रहण कर ली । वह बौद्ध पूर्वों का ज्ञान हो गया ।

जब उसने दीक्षा ग्रहण की थी तब उसकी पत्नी गर्भवती थी । लोगों ने उसमें पूछा कि तेरे पेट में कुछ है क्या ? उसने उत्तर में ‘मनाक्—कुछ है तो’ कहा । अन्त में यथासमय पुत्र के उत्पन्न होने पर उसके पूर्वोक्त उत्तर को लक्ष्य में रखकर उसका नाम ‘मनक्’ प्रसिद्ध हुआ । घात वर्ष का हो जाने पर उसने माँ से पिता के विषय में पूछा । उसके उत्तर से पिता को दीक्षित हुआ जानकर वह उनके पास ‘अम्बा नगरी’ में जा पहुँचा और पारस्परिक वार्तालाप के पश्चात् वह भी दीक्षित हो गया । आचार्य ने विंशति ज्ञान में यत्न जानकर कि इसकी आयु छह मास की शेष रही है, उन्होंने उसके निमित्त प्रकृत ग्रन्थ की १० अध्यायों में रचना की । साधारणतः स्वाध्याय व ग्रन्थरचना दिन व रात्रि के प्रथम और अन्तिम इन चार पहरों में ही की जाती है, पर शीघ्रता के कारण इसकी रचना काल की अपेक्षा रखकर नहीं की जा सकी । अतः विकास में रचे और पड़े जाने के कारण उसे दशवैकालिक कहा गया है । प्रथम इसका दसवाँ अध्याय चूँकि वेतास छन्द में रचा गया है, इसलिए भी इसका नाम दशवैकालिक सम्भव है ।

जैसा कि कथानक में निर्देश किया गया है, इसमें वे दस अध्याय ये हैं—१ इन्द्रपुष्पिका, २ आमण्ड-पूर्विका, ३ क्षुल्लिकाचारकथा, ४ पद्मजीवनिकाय, ५ पिण्डैषणा, ६ महाचारकथा, ७ वाक्यशुद्धि, ८ आचार-प्रणिधि, ९ विनयसमाधि और १० सन्निकु । अन्त में रतिबाधचर्चालिका और विविक्तचर्चालिका ये दो चर्चालिकायें हैं ।

निर्युक्तिकार के अनुसार इनमें धर्मप्रज्ञप्ति—पद्मजीवनिकाय नामक चौथा अध्याय—आत्म-प्रवाद पूर्व से, पाँचवाँ (पिण्डैषणा) कर्मप्रवाद पूर्व से, वाक्यशुद्धि नामक सातवाँ अध्याय सत्यप्रवाद पूर्व से और शेष अध्याय नौवें (प्रत्याख्यान) पूर्व के अन्तर्गत तृतीय वस्तु (अधिकार) से रचे गए हैं । अन्तिम दो चर्चालिकायें शयम्भव द्वारा रची गई नहीं मानी जातीं । इसका एक संस्करण निर्युक्ति और हरिभद्र विरचित टीका के साथ देवचन्द्र सालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड बम्बई से प्रकाशित हुआ है । चूँकि श्री ऋषभदेव जी केशरीमल जी श्वे. संस्था रतलाम द्वारा प्रकाशित की गई है । इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अत्यागी आदि ।

निर्युक्ति—अकथा, अर्थकथा, आराधनी भाषा और श्लोक ।

चूँकि—अकिञ्चनता, धमनोक्त-सम्प्रयोग-सम्प्रयुक्त-आर्तव्यान, अर्थकथा, आशापनी और आज्ञा-विषय आदि ।

ह. वृ.—अध्यवपूरक, अनुलोम, अभ्याहृत, अर्थकथा, आराधनी भाषा, उपवृंहण, श्लोक और श्लोकदेशिक आदि ।

१. तत्त्व कालियं जं दिण-रादीणं पठमे (चरिमे) वोरित्तिसु पठिज्जइ । नन्दी च. पृ. ४७.

२. नि. मा. १६-१७.

४२ पिण्डनियुक्ति—यह मूल सूत्रों में चौथा माना जाता है। दसवैकालिक का पाँचवाँ ग्रन्थवत्त पिण्डवचना है। उसके ऊपर आचार्य भद्रबाहु के द्वारा जो नियुक्ति रची गई वह विस्तृत होने के कारण एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में मान ली गई। साधु का आहार किस प्रकार से शुद्ध होना चाहिए, इसका विचार करते हुए यहाँ आहारविषयक १६ उद्गम १६ उत्पादन, १० ग्रहणवणा, १ संयोजन, १ प्रमाच, १ धूम और १ भगार; इन ४६ दोषोंकी यहाँ चर्चा की गई है। इसके प्रतिरिक्त जिन छह कारणों से भोजन को ग्रहण करना चाहिए तथा जिन छह कारणों से उसका परित्याग करना चाहिए, उनका भी निर्देश किया गया है। इन दोषों में उद्गम दोषों का सम्बन्ध ग्रहस्थ से, उत्पादन दोषों का सम्बन्ध साधु से, तथा ग्रहणवणा दोषों में से शक्ति और अपरिणत इन दो का सम्बन्ध साधु से और शेष पाठ का सम्बन्ध ग्रहस्थ से है। प्रारम्भके निशेष प्रकरण में ग्रन्थपिण्ड की भी कुछ विस्तृत प्रकृपा की गई है। नियुक्ति गाथासंख्या ६७१ है। इसके ऊपर आचार्य मलयगिरि द्वारा टीका भी रची गई है। इस टीका के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ सेठ देवचन्द्र लासभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड बम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—भङ्गारदोष, अघःकर्म, अनुमोदना, आघाकर्म और भाजीव आदि।

टीका—भङ्गारदोष, अघःकर्म और आघाकर्म आदि।

४३ ओघनियुक्ति—यह आवश्यक नियुक्ति के अंगभूत है। इसके रचयिता आचार्य भद्रबाहु द्वितीय हैं। इसमें साधु के आचार का विवेचन करते हुए उसके आहार, बिहार, भासन, वसति और पात्र आदि की विधि का निरूपण किया गया है। इसमें नियुक्ति गाथायें ८१२ और भाष्यगाथायें ३२२ हैं। अन्तिम नि. गा. प्रसिद्ध और घस्पष्ट सी प्रतीत होती है। इस पर द्रोणाचार्य (विक्रम की ११-१२वीं सताब्दी) द्वारा विरचित टीका भी है। इस टीका के साथ उसका एक सस्करण विजयदान सूरीवर जैन ग्रन्थमाला सूरन से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग आराधक और आभोग आदि शब्दों में हुआ है।

४४ कल्पसूत्र—छह छेदसूत्रों में प्रथम छेदसूत्र दशाश्रुतस्कन्ध माना जाता है। इसका दूसरा नाम आचारदशा भी है। इसमें ये १० ग्रन्थयन हैं—घसमाधिस्थान, शाल, आसादनायें, घाट प्रकार की गणिसम्पदा, दस चित्तसमाधिस्थान, ग्यारह उपासकप्रतिमाये बारह भिक्षुप्रतिमायें, पयुषणकल्प, तीस मोहनीयस्थान और आयतिस्थान। इनमें घाटों जो पयुषणकल्प है वही कल्पसूत्र के रूप में एक पुष्क ग्रन्थ प्रसिद्ध हुआ है।

ग्रन्थ की भूमिका के रूप में यहाँ प्रथमतः टीकाकार ने यह निर्देश किया है कि भगवान् महावीर चूँकि वर्तमान तीर्थ के स्वामी व निकटवर्ती उपकारी हैं, इसीलिए भद्रबाहु स्वामी पहिले महावीर के चरित का वर्णन करते हैं, इसमें भी प्रथमतः साधुओं का दस प्रकार का कल्प बड़ा जाता है। इस दस प्रकार के कल्प की सूचक जो गाथा यहाँ दी गई है वह 'भगवती आराधना', पंचवस्तुक ग्रन्थ (१५००) और पंचाशक (८००) में उपलब्ध होती है।

यहाँ सर्वप्रथम 'जमो अरिहंताण' आदि पंचनमस्कार मंत्र के द्वारा पाँच परमेष्ठियों को नमस्कार

१. ये दोष प्रायः इन्हीं नामों और स्वरूप के साथ यहाँ और मूलाचार के पिण्डशुद्धि नामक छठे अधिकार में समान रूप से उपलब्ध होते हैं। कुछ गाथायें भी समान रूप से दोनों में पायी जाती हैं। (देखिये अनेकान्त वर्ष २१, किरण ४ में 'पिण्डशुद्धि के अन्तर्गत उद्दिष्ट आहार पर विचार' शीर्षक लेख)

२. नि. गा. ४०३ और ५१४. १५.

३. भाष्यलुक्कुर्द्धसियसेज्जाहररायपिडकिरियम्मे।

जेटुपडिकमणे वि य मास पज्जोसवणकम्पो ॥ अ. भा. ४२१.

(पंचवस्तुक व पंचाशक में 'जेटुपडिकमणे विद्य' के स्थान में 'वयजिदुपडिकमणे' पाठ है।)

करते हुए इस पाँच नमस्कार मंत्र को सब पापों का नाशक और सब मंगलों में प्रथम मंगल कहा गया है^१ । तत्पश्चात् भ्रमण भगवान् महावीर के जीवनवृत्त का वर्णन करते हुए उनके विषय में इन पाँच हस्तोत्तराभिः—उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रों—का निर्देश किया गया है—१ भगवान् महावीर प्रथम हस्तोत्तरा—हस्त नक्षत्र के पूर्ववर्ती उत्तराफाल्गुनी—नक्षत्र में पुष्पोत्तर विमान से ज्म्युत होकर भवतीर्ण हुए—ब्राह्मण कुण्डग्राम नगरवासी कोशलसगोत्री ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा की कुक्षि में प्रविष्ट हुए । २ इसी उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में इन्द्र की भ्राजा से हरिणैगमेसि देव के द्वारा देवानन्दा के गर्भ में निकाल कर भगवान् को क्षत्रिय कुण्डग्राम नगरवासी सिद्धार्थ क्षत्रिय की पत्नी क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में परिवर्तित किया गया । ३ इसी उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में भगवान् का जन्म हुआ । ४ उसी उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में भगवान् ने गृहवास से निकलकर मुण्डित होते हुए—केशलोचपूर्वक—मुनिधर्म की दीक्षा ग्रहण की । ५ उक्त उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में भगवान् ने परिपूर्ण केवलज्ञान व केवलदर्शन को प्राप्त किया । इस प्रकार उक्त पाँच हस्तोत्तरा भगवान् के इन पाँच कल्याणकों से सम्बद्ध हैं । मुक्ति की प्राप्ति भगवान् को स्वाति नक्षत्र में हुई ।

उक्त गर्भादि कल्याणकों के साथ यहाँ आगे भगवान् महावीर के जीवनवृत्त का विस्तार से वर्णन किया गया है । गर्भपरिवर्तन के कारण का निर्देश करते हुए यहाँ यह कहा गया है कि इन्द्र को जब यह ज्ञात हुआ कि भ्रमण महावीर देवानन्दा के गर्भ में भवतीर्ण हुए हैं तब उसे यह विचार हुआ कि अरिहत्त, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव ये शूद्रकुल में, नीचकुल में, तुच्छकुल में, दरिद्रकुल में, कृपणकुल में, भिक्षुकुल में और ब्राह्मणकुल में; इन सात कुलों में से किसी कुल में न कभी आए हैं, न आते हैं और न कभी आवेंगे । वे तो उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल, इक्ष्वाकुकुल, क्षत्रियकुल और हरिवंशकुल; इनमें तथा इसी प्रकार के अन्य भी विशुद्ध जाति, कुल व वंशों में आए हैं, आते हैं और आवेंगे । यह एक आवश्यक्यभूत भाव (भवितव्य) है जो अनन्त उत्सर्पिणी-भवसर्पिणियों के बीतने पर उक्त अरिहत्तादि प्रक्षीण, भवेदित और अनिर्जीर्ण नाम-गोत्रकर्म के उदय से पूर्वोक्त सात कुलों में गर्भरूप में आए हैं, आते हैं और आवेंगे, परन्तु वे योनिनिष्क्रमणरूप जन्म से उन कुलों से कभी न निकले हैं, न निकलते हैं, और न निकलेंगे । बस इसी विचार से इन्द्र ने उस हरिणैगमेसि देव के द्वारा उक्त गर्भ को परिवर्तित कराया^१ ।

इस प्रकार प्रथम पाँच वाचनाभिः में भ्रमण भगवान् महावीर के जीवनवृत्त की प्ररूपणा की गई है । इस प्रसंग में यहाँ भगवान् के मुक्त हो जाने पर कितने काल के पश्चात् वाचना हुई, इसका निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि भगवान् के मुक्त हो जाने के पश्चात् नौ सौ अस्सीवें (९८०) वर्ष में वाचना हुई । आगे वाचनान्तर का उल्लेख करते हुए यह भी कहा गया है कि तदनुसार वह ९९३वें

१. एसो पंचमोक्कारो सम्बपावप्पणासणो ।

मंगलार्णं स च्छेसि पढमं हवइ मंगलं ॥

(यह पद्य भूलाचार में उपलब्ध होता है—७, १३)

२. ऐसे आवश्यक्य दस निर्दिष्ट किए गए हैं—

उवसणं गम्भहरणं इत्थीतित्थं अमाविद्या परिता ।

कण्हस्स भवरकंका भवयरणं चंद-सूराणं ॥

हरिवंसकुलुप्पसी वमक्खाधो य अट्ठसयसिद्धा ।

अस्संजयाण पुग्गा दसवि अण्ण्णं कालेण ॥ टाका पृ. ३३.

(ये दोनों गाथायें पंचवस्तुक ६२६-२७ में उपलब्ध होती हैं ।)

३. सूत्र १५-३०, प. २६-४८.

वर्ष में हुई। (इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना बीर निर्वाण से ६६३ वर्ष के पश्चात् किसी समय हुई है)।

आगे छोटी वाचना में भगवान् पार्वनाथ और नेमिनाथ के पाँच कल्याणकों का निरूपण किया गया है।

सातवीं वाचना में प्रथमतः तीर्थंकरों के मध्यगत अन्तर्गों को बतलाते हुए सिद्धान्त के पुस्तकाच्छाद होने के काल का भी निर्देश किया गया है। तत्पश्चात् आदिनाथ जिनेन्द्र के पाँच कल्याणकों की प्ररूपणा की गई है।

आठवीं वाचना में स्थविरावली और अन्तिम (नौवीं) वाचना में साधु-सामाचारी की प्ररूपणा की गई है। ग्रन्थप्रमाण इतका १२१५ है।

इसके ऊपर सकलचन्द्र गणि के शिष्य समयसुन्दर गणि के द्वारा कल्पलता नाम की टीका लिखी गई है। उसका रचनाकाल विक्रम सं. १६६६ के आस पास है। इस टीका के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ जिनदत्त सूरि ज्ञानभण्डार बम्बई से प्रकाशित हुआ है। दूसरी सुबोधिका नाम की टीका कीर्तिविजय गणि के शिष्य विनयविजय उपाध्याय के द्वारा वि. स. १६६६ में लिखी गई है। इस टीका के साथ वह आत्मानन्द जैन सभा भावनगर से प्रकाशित हुआ है। इसकी टीका का उपयोग भक्तस्माद्भय, भाकर, भाचेलभय, भाधानभय, भानप्राण और इहलोकभय आदि शब्दों में हुआ है।

४५. बृहत्कल्पसूत्र—यह छेदसूत्रों में से एक है। इसमें साधु-साध्वियों को किस प्रकार की प्रवृत्ति करनी चाहिए और किस प्रकार की नहीं करनी चाहिए, इसका विवेचन किया गया है। इसके ऊपर आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) विरचित नियुक्ति और आचार्य संघवास (विक्रम की ७वीं शती) गणि विरचित लघु भाष्य भी है। बृहद् भाष्य भी इसके ऊपर रचा गया है, पर उसका अधिकांश भाग अनुपलब्ध है। नियुक्तिगाथायें भाष्यगाथाओं से मिश्रित हैं। यह पीठिका के अतिरिक्त छह उद्देशों में विभक्त है। समस्त गाथासंख्या ६४६० है। इस भाष्य में अनेक महत्त्वपूर्ण विषय चर्चित हैं। इसके ऊपर गा. ६०६ तक आ. मलयगिरि के द्वारा टीका रची जा सकी है, तत्पश्चात् शेष टीका की पूर्ति आचार्य क्षेमकीर्ति द्वारा की गई है। आचार्य क्षेमकीर्ति विजयचन्द्र सूरि के शिष्य थे। उनके द्वारा यह टीका ज्येष्ठ शुक्ला दशमी वि. स. १३३२ को समाप्त की गई है। यह पूर्वोक्त नियुक्ति और भाष्य के साथ आत्मानन्द सभा भावनगर द्वारा छह भागों में प्रकाशित की गई है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

नि. या भा.—प्रच्छिन्नकलिका, अतिपरिणामक, अनन्तजीव, अनुयोग, अभिविद्धित मास, धर्म-कल्पिक, उत्तिष्ठत्तरक, उन्मार्गदेशक, भोज साहार, औपम्योपलब्धि और औपशमिक सम्यक्त्व आदि।

टीका—मक्ष, अत्यन्तानुपलब्धि, अनूपक्षेत्र, अपचयभावमन्द, भोज साहार और औपम्योपलब्धि आदि।

४६. व्यवहारसूत्र—इसकी गणना भी छेदसूत्रों में की जाती है। बृहत्कल्पसूत्र के समान इसमें भी साधु-साध्वियों के आचार-विचार का विवेचन है। इसके ऊपर भी आचार्य भद्रबाहु विरचित नियुक्ति है। भाष्य भी है, पर वह किसके द्वारा रचा गया है, यह निश्चित नहीं है। इतना निश्चित प्रतीत होता है कि इसके रचयिता विशेषणवती के कर्ता जिनमद्र गणि के पूर्ववर्ती हैं। इसके ऊपर आ. मलयगिरि के द्वारा विरचित भाष्यानुसारिणी टीका भी है। पूरा ग्रन्थ पीठिका के अतिरिक्त दस उद्देशों में विभक्त है। इसमें साधु के लिए क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, इसका उत्सर्ग और अपवाद के

१. समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव सम्बदुक्खपहीणस्स नववाससयाइ विइकटाइ दसमस्स य वास-सयस्स अय असीइमे सवच्छरे काले गच्छइ, वायणंतरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छइ इइ दिसइ। सूत्र १४८, पृ. १६०.

२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा. ३, पृ. १३७.

सम्यक् विवेचन किया गया है। साथ ही विविध प्रकार के दोनों पर तबनुसार ही नाना प्रकार के ग्रन्थविवरणों का भी विधान किया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

भाष्य—प्रतिक्रम, ग्रन्थासवर्ती, आप्त और प्रारम्भ आदि।

टीका—प्रकल्प्य, अकुलमनोनिरोध, अकृतयोगी, अक्षताचार, प्रतिक्रम, ग्रन्थासवर्ती और प्रारम्भ आदि।

४७ नन्वीसूत्र—यह चूलिका सूत्र माना जाता है। इसके रचयिता देववाचक गणि (विक्रम की छठी शताब्दी—५२३ से पूर्व) हैं। इसके ऊपर प्राचार्य जिनदास गणि के द्वारा चूणि रची गई है। जिनदास गणि का समय डा. मोहनलाल जी मेहता द्वारा विक्रम की आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध (६५०-७५०) निर्दिष्ट किया गया है^१। इसमें उन्होंने (चूणिकार ने) ग्रन्थकार देववाचक को द्रव्यगणि का शिष्य बताया है^२। प्रस्तुत ग्रन्थगत स्थविरावली^३ में द्रव्यगणि का उल्लेख सबके प्रन्त में उपलब्ध होता है। चूणि के अतिरिक्त इसके ऊपर एक टीका हरिभद्र सूरि (विक्रम की की ८वीं शताब्दी) के द्वारा और दूसरी टीका प्राचार्य मलयगिरि के द्वारा रची गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में मंगल के प्रसंग में चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना करते हुए अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी के ग्यारह गणधरो का उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् सुधर्मा स्वामी^४ से लेकर द्रव्यगणि तक स्थविरावली का शिष्यपरम्परा के रूप में निर्देश किया गया है। इसमें चलकर आग्निनिबोधिक आदि पाँच ज्ञानों का विस्तार से निरूपण करते हुए गमिक-अगमिक, धर्मप्रविष्ट-धर्मवाक्य और कालिक-उत्कालिक आदि श्रुत के भेद-प्रभेदों की प्ररूपणा की गई है। इसका प्रकाशन मलयगिरि विरचित टीका के साथ आगमोदय समिति सूरत से तथा चूणि और हरिभद्र विरचित टीका का प्रकाशन अष्टमभेद जी केशरीमल जी द्वे. संस्था रतलाम से हुआ है। इसका उपयोग निम्न शब्दों में किया गया है—

सूत्र—अनुगामी अवधि, अनुत्तरीपपादिकदशा, प्राचार, ईहा और उपासकदशा आदि।

चूणि—अग्निनिबोध, अवग्रह, आग्निनिबोधिक, आहारपर्याप्ति, उपासकदशा और अजुगति आदि।

ह. टीका—अक्रियावादी, अवमंज्र्य, अनुत्तरीपपादिकदशा, अनुमान, अन्तकृद्दश, अन्तगत अवधि, अन्तर, ईहा, उपयोग और उपासकदशा आदि।

मलय. टीका—अक्रियावादी, अग्निनिबोध, अवग्रह, प्राचार और उपासकदशा आदि।

४८ अनुयोगद्वार—यह भी चूलिका सूत्र माना जाता है। इसके प्रणेता सम्भवतः धार्यरक्षित स्थविर है। धार्यरक्षित धार्यवज्र के समकालीन थे। धार्यवज्र बी. नि. सं. ५८४ में स्वयंस्थ हुए। तदनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना बी. नि. ५८४-६७ (विक्रम ११४-२७) के लगभग मानी जा सकती है^१। आवश्यक निपुणता में धार्यरक्षित का निर्देश करते हुए उनके लिए वेवेन्द्रवन्दित और महानुभाव जैसे आदरसूचक विशेषणों का प्रयोग किया गया है तथा उन्हें पृथक् पृथक् चार अनुयोगों का व्यवस्थापक कहा गया है^२। टीका में उनका कथानक भी उपलब्ध होता है। इसके प्रारम्भ में पाँच ज्ञानों का विवेक

१. देखिये 'नदिसुत अनुयोगद्वारार्ध' की प्रस्तावना पृ. ३२-३३.
२. देखिये 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' भा. ३, पृ. ३२.
३. एवं कर्ममंगलोपरारे बेरावलिक्के य वंसिए अरिहेसु य वंसितेसु ब्रह्मगणितीसो देववाचगो साधुवच-
हियहुए इणमाह—। नन्वी चूणि पृ. १०.
४. नन्वी. भा. २३-४१.
५. देखिए अनुयोगद्वार की प्रस्तावना (महावीर जैन विद्यालय, बम्बई) पृ. ५०.
६. देविदबंसिएहि महानुभावेहि रक्सिअग्रज्जेहि।

जुगमासज्ज विहत्तो अनुयोगो तो कम्मो चउहा ॥ भाव. नि. ७७४.

विशेषावश्यक भाष्य (२७८७) में उनके माता-पिता, भाई व प्राचार्य के नामों का भी निर्देश किया गया है। प्रभावकचरित (पृ. १३-३१) में उनका कथानक भी है।

करके प्रकृत में श्रुतज्ञान का उद्देश बतलाया है। आगे प्रबोत्तरपूर्वक अंगप्रविष्ट आदि का निर्देश करते हुए उत्कालिक श्रुत में आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त का उद्देश बतलाया है। इस प्रकार प्रथमतः यहाँ आवश्यक आदि के विषय में निक्षेप आदि की योजना की गई है। इसी प्रसंग में यहाँ आनुपूर्वी का विस्तार से विवेचन किया गया है। आगे यथाप्रसंग औदयिकादि भाव, सात स्वर, नौ रस और द्रव्य-क्षेत्रादि प्रमाण रूप अनेक विषयों की चर्चा की गई है। इसके ऊपर जिनदास गणि महत्तर (वि. सं. ६५० से ७५०) द्वारा नृणि रची गई है। ये भाष्यकार जिनभद्र गणि (वि. सं. ६००-६६०) के बाद और हरिभद्र सूरि (७५७-८२७) के पूर्व में हुए हैं। इस नृणि के अतिरिक्त उस पर एक टीका हरिभद्र सूरि द्वारा और दूसरी मलधारणच्छीय हेमचन्द्र सूरि द्वारा विरचित है। हेमचन्द्र सूरि के वीक्षणुव मलधारी अभयदेव सूरि और शिष्य श्रीचन्द्र सूरि थे। इनके गृहस्थाश्रम का नाम प्रद्युम्न था। ये राज्यमन्त्री रहे हैं। इनका समय विक्रम सं. १२वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अचित्तद्रव्योपक्रम, अद्भुतरस, अनानुपूर्वी, अनेकद्रव्यस्कन्ध, अवमान, आगमद्रव्यानुपूर्वी, आगमद्रव्यावश्यक, आगमभावाध्ययन, आगमभावावश्यक, आत्माह्नुत, आदानपव और उद्धारपत्योपम आदि।

नृणि—अद्यापत्योपम, अनुगम, उदयनिष्पन्न, उदयभाव, उपमित, ऊर्ध्वरेणु और औदयिकभाव आदि।

ह. टीका—अद्भुतरस, अद्यापत्योपम, अक्षर्मद्रव्य, अनुगम, अन्त, अवमान, ईश्वर, उद्धारपत्योपम, अह्नुत और औदयिकभाव आदि।

म. हे. टीका—अचित्तद्रव्योपक्रम, अद्भुतरस, अनेकद्रव्यस्कन्ध और आगमभावावश्यक आदि।

४६. प्र०.मरति प्रकरण—इसे आचार्य उमास्वाति (विक्रम की ३री शताब्दी) विरचित माना जाता है। इसमें पीठबन्ध, कथाय, रागादि, आठ कर्म, पंचेन्द्रिय विषय, आठ मद, आचार, भावना, धर्म, धर्मकथा, नव तत्त्व, उपयोग, भाव, छह द्रव्य, चारित्र, शीलान्ग, ध्यान, क्षपकश्रेणि, समुद्घात, योगनिरोध, मोक्षगमन और अन्तकाल ये २२ अधिकार हैं। समस्त श्लोकसंख्या ३१३ है।

यहाँ ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम चौबीस तीर्थंकरों का जयकार करते हुए जिन, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओं को नमस्कार किया है और तदनन्तर प्रथमरति में राग द्वेषके अभावस्वरूप वैराग्य-विषयक अनुराग में स्थिरता के लिये जिनागम से कुछ कहने की प्रतिज्ञा की है। पश्चात् सर्वज्ञ के शासन-रूप पुर में प्रवेश को कष्टप्रद बतलाते हुए भी बहुत से श्रुत-सागर के पारगती की प्रथमजनक शास्त्रपद्धतियों की सहायता से उस सर्वज्ञशासन में अपने प्रवेश की सम्भावना व्यक्त की है और श्रुतभक्ति से प्राप्त बुद्धि के बल से प्रस्तुत ग्रन्थ के रचने का अभिप्राय प्रगट किया है। आगे का विषयविवेचन उक्त अधिकारों के नाम अनुसार ही क्रम से किया गया है।

इसके ऊपर आचार्य हरिभद्र (विक्रम सं. ११५५) द्वारा टीका रची गई है। इस टीका और एक प्रज्ञातर्क का अवधूरि के साथ यह परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग अधिगम और अनित्यानुप्रेक्षा आदि शब्दों में हुआ है।

५०. विशेषावश्यक भाष्य—यह आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण द्वारा आवश्यक सूत्र के प्रथम अध्ययनरूप सामायिक मात्र के ऊपर रचा गया है, सामायिक अध्ययन पर निमित्त निपुणितियों की ही उसमें विशेष व्याख्या की गई है। आचार्य जिनभद्र बहुश्रुत विद्वान् थे। आगम ग्रन्थों का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था। इसीलिए इस भाष्य में आगमों के अन्तर्गत प्रायः सभी विषयों का उन्होंने निरूपण किया है। आवश्यकतानुसार उन्होंने दार्शनिक पद्धति को भी अपनाया है। यथाप्रसंग विभिन्न मतान्तरों को भी चर्चा की गई है। डा. मोहनलाल जी मेहता उनके समय पर विचार करते हुए उन्हें वि. सं.

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा. ३, पृ. ३२.

१३०-६० के आस पास का विद्वान् मानते हैं^१। इसके ऊपर बिजयप्र स्वयं टीका के लिखने में प्रयुक्त हुए। पर बीच में ही दिवंगत हो जाने के कारण वे छठे गणधरबाद तक ही टीका लिख सके व स्वयं उसे पूरा नहीं कर सके। शेष भाग की टीका कोटघाब्य द्वारा की गई है^२। इसका एक संस्करण जो हमारे पास है, कोटघाब्य विरचित टीका के साथ ऋषभदेव जी केवरीमल जी श्वे. संस्था रतलाम द्वारा दो भागों में प्रकाशित किया गया है। इसके अनुसार गाथाओं की संख्या ४३४६ है। इसमें सम्भवतः बहुतसी निरुक्ति गाथाओं का मिश्रण हो गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अध्ययन, अनुगामी अवधि, अनुयोग, अभिनिबोध, अवयव, आगमब्रह्ममंगल, अभिनिबोधिक, इत्वरसामायिक, उपकरण, उपक्रम, उपयोग और ऋजुगति आदि।

टीका—इत्वरसामायिक (स्वो.) और ईहा (को.) आदि।

५१. कर्मप्रकृति—यह शिवशर्म सूरि द्वारा विरचित एक मत्स्वपूर्व कर्मग्रन्थ है। शिवशर्म सूरि का समय सम्भवतः विक्रम की पाँचवीं शताब्दी है^३। इसकी गाथासंख्या ४७५ है। इसमें बन्धन, संक्रमण, उद्धर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, उपशामना, निवर्ति और निकाचना ये आठ करण हैं। इनमें यथायोग्य ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के बन्ध, परप्रकृतिपरिणमन, उत्कर्षण, अपकर्षण और उदीरणा (परिणाम के बंध निवर्ति को कम कर उदय में देना), करणोपशामना व करणोपशामना आदि अनेक भेदरूप उपशामना, निवर्ति और निकाचना, इनका निरूपण किया गया है। निवर्ति और निकाचना में विशेषता यह है कि निवर्ति में संक्रमण और उदीरणा नहीं होती, किन्तु उत्कर्षण-अपकर्षण उसमें सम्भव हैं। पर निकाचना में संक्रमणादि चारों ही नहीं होते। अन्त में उदय और सत्ता का भी कुछ वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत कर्मप्रकृति एक गाथाबद्ध संक्षिप्त रचना है और पूर्व निर्दिष्टषट्संख्यागम अविकोश गद्यसूत्रमय है—गाथासूत्र यत्र क्वचित् ही पाये जाते हैं। इन दोनों की विषयप्ररूपणा में कहीं कहीं समानता देखी जाती है। जैसे—

कर्मप्रकृति में प्रदेशसंक्रमण की प्ररूपणा करते हुए ज्ञानावरणादि के उत्कृष्ट प्रदेश का स्वामी गुणितकर्माधिक को बतलाया है। वह किन किन अवस्थाओं में कितने काल रहकर उस उत्कृष्ट प्रदेश का स्वामी होता है, इसका यहाँ संक्षेप में निरूपण किया गया है^४।

यही प्ररूपणा षट्संख्यागम में कुछ विस्तार से की गई है^५। दोनों में अयं साम्य तो प्रायः है ही, शब्दसाम्य भी कुछ है।

आगे कर्मप्रकृति में उक्त कर्मों के जघन्य प्रदेश के स्वामी क्षपितकर्माधिक की प्ररूपणा करते हुए वह कब और किस प्रकार से उस जघन्य प्रदेश का स्वामी होता है, इसका संक्षेप से निर्देश किया गया गया है^६। यही प्ररूपणा षट्संख्यागम में ज्ञानावरणीय कर्म की जघन्य ब्रह्मवेदना के स्वामी उसी क्षपित-कर्माधिक के प्रसंग में कुछ विस्तार से की गई है^७।

षट्संख्यागम में स्थितिकर्म के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है^८। वही प्ररूपणा कर्मप्रकृति में पूर्णिकार के द्वारा की गई है, जो प्रायः शब्दशः समान है^९।

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ३, पृ. १३३-३५.

२. वही पृ. ३५५.

३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ४, पृ. ११०.

४. कर्मप्र. संक्रमक. गा. ७४-७८

५. षट्सं. ४, २, ४, ६-३२ पु. १०, पृ. ३१-१०६.

६. कर्मप्र. संक्रमक. ६४-६६

७. षट्सं. ४, २, ४, ४८-७५, पु. १०, पृ. २६८-२६९

८. षट्सं. ४, २, ६, ६५-१००, पु. ११, पृ. २२५-३७

९. कर्मप्र. १, ८०-८२ (पूर्ण), पृ. १७४-१७५

१. ब्रह्मसंहारम में जिन दो गाथासूत्रों के द्वारा गुणयोगिनिर्जरा की प्रकृति की गई है वे दो श्लोकों में अस्तुत कर्मप्रकृति और आचार्यगिरि में भी उपलब्ध होती हैं।

२. उक्त गुणयोगिनिर्जरा का निरूपण इसी प्रकार से तत्त्वार्थसूत्र में भी किया गया है।

३. इसके ऊपर अज्ञातकर्तृक वर्ण है, जो विक्रम की १२वीं शताब्दी के पूर्व रची गई है। इसके प्रतिरिक्त एक टीका प्रा. भलयोगिरि द्वारा विरचित और दूसरी टीका उपाध्याय यशोविजय (विक्रम की १८वीं शताब्दी) विरचित भी है। उक्त वर्ण और दोनों टीकाओं के साथ उसे मुद्रताबाई ज्ञानमन्दिर 'चण्डी' (गुजरात) द्वारा प्रकाशित कराया गया है। मात्र मूल ग्रन्थ पचाशक आदि ग्रन्थ कुछ ग्रन्थों के साथ श्चमदेव जी केशरीयलजी इवे. सस्था रतलाम से भी प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अथःप्रवृत्तसंकम, अपवर्तना और उदीरणा आदि।

वर्ण—अकरणोपनामना, अथःप्रवृत्तसंकम, अनभिसंविजवीर्य, अपवर्तना और अविभागप्रतिच्छेद आदि।

म. टीका—अथःप्रवृत्तसंकम और अपवर्तना आदि।

उ. य. टीका—अनादेय और अपवर्तना आदि।

५२. शतकप्रकरण—इसे नव्यशतक भी कहा जाता है। यह पूर्वोक्त कर्मप्रकृति के कर्ता शिवसमं सूरि की कृति मानी जाती है। इसमें मूल गाथायें १०६ हैं। ये गाथायें अर्थगम्भीर हैं। उनके अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये चक्रेश्वर सूरि के द्वारा बृहद् भाष्य लिखा गया है। इन भाष्य गाथाओं का श्लोकप्रमाण १४१३ है। चक्रेश्वर सूरि द्वारा रचित यह भाष्य, जैसा कि उन्होंने अन्त में निर्देश किया है, अमलदेव नृपति के राज्य में वर्तमान गोराल विषय विशेषण (?) नगर में वि. सं. ११६७ में कार्तिक चातुर्मास दिन में पूर्ण हुआ है। ये श्री वर्धमान गणधर के शिष्य और गुणहर गुणधर के गुरु थे। इन गुणधर शिष्य की प्रेरणा से ही यह भाष्य रचा गया है। इस बृहद् भाष्य के ग्रन्थिग्न एक २४ गद्यात्मक

१. सम्मत्पुत्ति वि य सावय-विरदे अणतकम्मसे।

ईसणमोहकलवए कसायउवसामए य उवसते ॥

खवए य खीणमोहे जिणे य णियमा भवे असंखेज्जा।

तत्त्विवरीदो कालो संखेज्जगुणाए सेटीए ॥ पट्ठं. पु. १२, पृ. ८८.

सम्मत्पुत्तिसावयविरए संजोयणाविणासे य।

ईसणमोहकलवगे कसायउवसामगुवसंते ॥

खवगे य खीणमोहे जिणे य दुविहे असंखगुणसेटी ॥

उदधो तत्त्विवरीओ कालो संखेज्जगुणसेटी ॥ कर्मप्र. ६, ८-९.

सम्मत्पुत्ति सावए य विरए अणतकम्मसे।

ईसणमोहकलवए उवसामंते य उवसंते ॥

खवए य खीणमोहे जिणे य सेटी भवे असंखेज्जा।

तत्त्विवरीओ कालो संखेज्जगुणाए सेटीए ॥ आचार्यग नि. २२२-२३, पृ १६०,

२. त. सू. (दि.) ६-४५, इवे. ६-४७

३. 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' में इसके जिनदास गणि महत्तर के द्वारा रचे जाने की सम्भावना की गई है। मा. ४, पृ. १२१

४. 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' भाग ४, पृ. १२७ पर वि. सं. ११७६ लिया गया है।

५. सिरिचन्द्रमणि-गणहर-सीसेहि विहाक्रेहि सुहंवां।

एयं सिरिचकैसरसूरीहि सयमगुहभास ॥

गुणहर-गणधरनामगणिययविणेयस्स वयणओ रइय।

सबु भाष्य, एक अमासकलक पूर्णि, तथा तीन टीकाओं में से एक मलघारी हेमचन्द्र सूरि (वि. की १२वीं श.) विरचित, दूसरी उदयप्रभ सूरि (सम्मत: वि. की १३वीं श.) विरचित और तीसरी टीका गुणरत्नसूरि (वि. की १५ वीं श.) द्वारा विरचित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में चौदह जीवस्थान (जीवसमास) और चौदह गुणस्थानों में जहां जितने उपयोग और योग सम्भव हैं उनको दिखलाते हुए कारणनिर्देशपूर्वक प्रकृति-स्थिति आदि चार प्रकार के बन्ध, उदय और उदीरणा की प्रकृपा की गई है इसका एक संस्करण भाष्य और मलघारीय टीका के साथ बीर समाज राजनगर द्वारा प्रकाशित कराया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

भाष्य—अनिर्बृत्तिकरण गुणस्थान, अपूर्वकरण गुणस्थान और अविरतसम्बन्धुष्टि आदि।

टीका—अधुवबन्ध, अग्रत्याख्यानावर्णकोधादि और उदय आदि।

५३. उपदेशरत्नमाला—इसके रचयिता धर्मदास गणि हैं। ये महावीर स्वामी के हस्त-दीक्षित शिष्य थे, इस भाष्यता को 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' में विचारणीय बतलाया है। इसका कारण वहां किये गये बन्धस्वामी के उल्लेख के अतिरिक्त आचार्यादि जैसी प्राचीन भाषा का अभाव भी है। ग्रन्थकार धर्मदास गणि ने गाथा ५३७ और ६४० में इसके रचयिता के रूप में स्वयं ही अपने नाम का उल्लेख किया है। ग्रन्थगत गाथाओं की संख्या ५४४ है। (गा. ५४२ के अनुसार यह गाथासंख्या ५४० है।)

इस उपदेशपरक ग्रन्थ में अनेक पौराणिक व्यक्तियों के उदाहरण देते हुए गुण की महत्ता, आचार्य की विशेषता, विनय, धर्म एवं क्षमा आदि अनेक उपयोगी विषयों का विवेचन किया गया है। इसके ऊपर कई टीकायें लिखी गई हैं। पर हमें सटीक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सका। मूल मात्र पंचासक आदि के साथ ऋषभदेव जी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था रतनाम द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग अणामविषय, आत्माविषय, आदाननिक्षेपणसमिति, ईयसिमिति और एवणासमिति आदि शब्दों में हुआ है।

५४. जीवसमास—यह किसकी कृति है, यह ज्ञात नहीं होता। मुद्रित संस्करण (मूल मात्र) में 'पूर्वभूत् सूरि सूत्रित' ऐसा निर्देश मान किया गया है। यह प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ है। समस्त गाथायें २८६ हैं। यहाँ प्रथमतः चौबीस जिनेन्द्रों को नमस्कार कर संक्षेप में जीवसमासों के कथन की प्रतिज्ञा की गई है। आगे 'ये जीवसमास निक्षेप व निरुक्तिपूर्वक छह अथवा आठ अनुयोगद्वारों तथा गति आदि चौदह मार्गणाओं के द्वारा ज्ञातव्य हैं' ऐसी सूचना करके प्रकृत छह अनुयोगद्वारों का प्रस्तात्मक निर्देश इस प्रकार किया गया है—१ विवक्षित मिथ्यात्व आदि क्या है, २ किसके होते हैं, ३ किसके

सुयणे सुणंतु जार्णंतु जुहजणा तह विसोहंतु ॥

सत्त-णव-रहमियवच्छरम्मि विक्कमणिवाउ वट्टंते ।

कलिय-वउमासदिणे गोल्लविसयविसेसणे नयरे ॥

दहिवइंभी सिरिसिद्धरायभूवइपसायणेहस्स ।

अमलदेवनिवइणो सुहरज्जे वट्टमाणम्मि ॥

णिप्फत्तिमुवगयमिणं ता नंदउ जाव सिद्धिसुहमुने ।

तियलोकपायडजसो जिणवरबम्मो जये जयइ ॥ पृ. १३३-३४.

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा. ४, पृ. १६३.

२. धंत-मणि-दाम-ससि-गय-णिहिपयपडमवखरामिहाणेणं ।

उवएसमालपगरणमिणमो रइयं हिण्डुए ॥ ५३७॥

इसमें धंत, मणि, दाम, ससि, गय और णिहि; इन पदों के प्रथम अक्षर को क्रम से ग्रहण करने पर धर्मदास (धर्मदास) गणि होता है, इनके द्वारा इस उपदेशमाला प्रकरण के रचे जाने की सूचना की गई है।

छाया होते हैं, ४ कहीं होते हैं, ५ कितने काल रहते हैं और ६ भाव कितने प्रकार का है ? इन छह प्रश्नों के साथ प्रकृत का विवेचन किया जाता है । अथवा सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र, स्पर्श, कास, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगद्वारों के^१ आश्रय से विवक्षित जीवसमासों का अनुगम करना चाहिए । उसके पश्चात् गति आदि चोदह मार्गणामो^२ और मिथ्यात्व व आसादन आदि चोदह जीवसमासों (गुणस्थानों) का नामनिर्देश किया गया है^३ ।

आगे गति आदि भेदों में विभक्त जीवों का निरूपण करते हुए उनमें यथायोग्य गुणस्थान और मार्गणा आदि का विचार किया गया है । इस प्रकार सत्पदप्ररूपणा करने के पश्चात् द्रव्यप्रमाण के प्रसंग में द्रव्यादि के भेद से चार प्रकार के प्रमाण का विवेचन किया गया है । इस क्रम से यहाँ क्षेत्र व स्पर्शन आदि शेष अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा की गई है ।

यहाँ पृथिवी आदि के भेदों के प्रसंग में जिन गाथाओं का उपयोग हुआ है वे मूलाचार में भी प्रायः उसी क्रम से उपलब्ध होती हैं^४ । यथाक्रम से दोनों ग्रन्थों की इन गाथाओं का मिलान कीजिए—

जीवसमास—२७-२६, ३० (पू.), ३१ (पू.), ३२ (पू.), ३३ (पू.), ३४-३७, ३८-३९ और ४०-४४.

मूलाचार (पंचाचारधिकार)—६-११, १२ (पू.), १३ (पू.), १४ (पू.) १५ (पू.), १६-१९, २१-२२ और २४-२८.

पाठभेद—जीव. गा. ३५ में 'कट्टा' व मूला. गा. १७ में 'खंघ' पाठ है । जीव. गा. ४० में 'बारस' व मूला. गा. २४ में 'बावीस' पाठ है । जीव. गा. ४३ में मनुष्यों के कुलभेद बारह लाख करोड़ और मूला. गा. २७ में वे चोदह लाख करोड़ निर्विष्ट किए गए हैं । इसी से उनकी समस्त संख्या में भेद हो गया है । जीव. गा. ४४ में जहाँ वह एक कोड़ाकोड़ सत्तानवै लाख पचास हजार है वहाँ मूला. गा. २८ में वह एक कोड़ाकोड़ निन्यानवै लाख पचास हजार है^५ ।

प्रस्तुत ग्रन्थ का एक संस्करण जो हमारे पास है, पंचाशक आदि के साथ, मूल रूप में ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था रतलाम से प्रकाशित हुआ है । इसके ऊपर टीका भी लिखी गई है, पर वह हमें उपलब्ध नहीं हो सकी । इसका उपयोग अयन, अहोरात्र, आत्माह्णुल, आर्वाज और उच्छ्लक्ष्ण-धनक्षिणा आदि शब्दों में हुआ है ।

१. चोदह जीवसमासों की प्ररूपणा षट्क्षणागम में भी इन्हीं आठ अनुयोगद्वारों के आश्रय से की गई है—एवैसि चैव चोदसण्हं जीवसमासाणं परूणणट्ठदाए तस्य इमाणि अट्ठ अणियोगद्वाराणि पायव्वाणि भवन्ति ॥ तं जहा ॥ सत्परूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अतराणुगमो आवाणुगमो अप्पावहुगाणुगमो चेदि ॥ षट्खं. १, १, ५-७, पु. १, पृ. १५३-५५

२. मार्गणाभेदों की सूचक यह (६) गाथा बोधप्राप्त (३३), मूलाचार (१२-१५६), पंचसग्रह (१-५७) और आश्रयकनियुक्ति (१४—कुछ शब्दभेद के साथ) आदि कितने ही ग्रन्थों में पायी जाती है ।

३. जीवसमास ८-९; षट्क्षणागम में गुणस्थानों का उल्लेख 'जीवसमास' नाम से ही किया गया है । षट्खं. १, १, २, पु. १, पृ. ६१. (जीवा समस्यन्ते एव्विजि जीवसमासाः । चतुर्दश च ते जीवसमासाश्च चतुर्दशजीवसासाः । तेषां चतुर्दशानां जीवसमासानाम्, चतुर्दशगुणस्थानानामित्यर्थः । धवला पु. १, पृ. १३१)

४. इनमें से कुछ गाथायें पंचसग्रह (भारतीय ज्ञानपीठ)—जैसे १, ७७-८१—में और कुछ गो. जीवकाण्ड (जैसे गा. १८५) में भी उपलब्ध होती हैं । जीवसमास की २७-३० गाथायें कुछ पादव्यत्यय के साथ आचारार्गनियुक्ति (७३-७६) में पाई जाती हैं । इसके अतिरिक्त वहाँ कुछ गाथायें प्रायः अर्थतः समान हैं । जैसे—जीव. ३१, ३२, ३४, ३५-३६, ३६ और ३३ तथा आचार. नि. १०८, ११८, १३०, १२९, १४१ और १६६.

५. कुल भेदों की यह संख्या गो. जीवकाण्ड (११५-१६) में जीवसमास के अनुसार है ।

४५. ऋषिभाषित—इसके रचयिता कौन हैं, यह ज्ञात नहीं होता। इसका एक संस्करण मूल रूप में श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी द्वे. संस्था रतनाम से प्रकाशित (सन् १९२७) हुआ है। उसमें 'श्रीमद्भिः प्रत्येकबुद्धैर्भाषितानि श्रीऋषिभाषितसूत्राणि' ऐसा निर्देश किया गया है। यह एक धर्मकथा-न्याय का ग्रन्थ है। वह प्रायः श्लोक, आर्या छन्द और गद्यसूत्रों में रचा गया है। इसमें ये ४५ अध्यायन हैं—१ नारद २ वशिष्ठयुत ३ दवल ४ भर्गवर्षि ५ पुष्कला ६ वक्कलचरी ७ कुम्भापुत ८ (ते) केतलि ९ महाकासव १० तेतलिपुत ११ मंखलिपुत १२ जन्मवक्कीय १३ भयलि १४ बाहुक १५ मधु-रायणिज्ज १६ सोरियायण १७ विडु १८ वरिसव १९ प्रायरियायण २० उक्कल २१ गाहावइज्ज २२ वग- (माली) गद्दभीय २३ रामपुत्तिय २४ हरिगिरि २५ धवड २६ मायणिज्ज २७ बारत्तय २८ अद्दइज्ज २९ बद्धमाण ३० वाउ ३१ पासिज्ज ३२ पिग ३३ अरुणिज्ज ३४ इसिमि ३५ अद्दालइज्ज ३६ तारा-पविज्ज ३७ सिरिगिरिज्ज ३८ साहमुत्तिज्ज ३९ संजइज्ज ४० तीवायणिज्ज ४१ इंदनागिज्ज ४२ सोमिज्ज ४३ जम ४४ वरुण और ४५ वेसमण।

ऋषिभाषितों की समाप्ति के पश्चात् ऋषिभाषितों की संग्रहणी में उपर्युक्त ४५ प्रत्येकबुद्ध ऋषियों के नाम निर्दिष्ट किए गये हैं, जिनके नाम पर वे अध्यायन प्रसिद्ध हुए हैं। इनमें से प्रारिष्टनेमि के तीर्थ में २०, पार्श्व विनेन्द्र के तीर्थ में १५ और शेष महावीर के तीर्थ में हुए हैं। अन्तिम ऋषिभाषित—अर्थोधिकार संग्रहणी—में उक्त अध्यायनों के ४५ अर्थोधिकारों के नामों का निर्देश किया गया है। तदनुसार ही जो उक्त ऋषियों के द्वारा उपदेश दिया गया है वह प्रकृत अध्यायनों में निबद्ध है।

इस पर प्रा. भद्रबाहु द्वारा नियुक्ति रची गई है, पर वह उपलब्ध नहीं है। यह ऋषभदेव केशरीमल जी द्वे. संस्था रतनाम से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग भद्रतादानविरमण और अहिंसा-महाव्रत आदि शब्दों में हुआ है।

४६. पाक्षिकसूत्र—इसके भी रचयिता कौन हैं, यह ज्ञात नहीं है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के अनुयायी आत्महितैषी जन सामायिक आदि छह आवश्यकों को नियमित किया करते हैं। उन आवश्यकों में प्रतिक्रमण भी एक है। यह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक के भेद से पांच प्रकार का है। प्रस्तुत ग्रन्थ में पाक्षिक प्रतिक्रमण को प्रमुखता दी गई है। यहाँ प्रथमतः तीर्थंकर, तीर्थ, अतीर्थसिद्धि, तीर्थसिद्धि, सिद्ध, जिन, ऋषि, महर्षि और ज्ञान इनकी ग्रन्थकार द्वारा बन्दना की गई है। इस प्रकार बन्दना करके अपने को आराधना के अभिमुख बतलाते हुए ग्रन्थकार ने यह भावना व्यक्त की है कि अग्रिहत, सिद्ध, साधु, श्रुत, धर्म, शान्ति (क्षमा), गुप्ति, मुक्ति, आर्जव और मार्दव ये सब मेरे लिए भगल हों—कल्याणकर हों।

पश्चात् यह निर्देश किया गया है कि लोक में साधु जन परमर्षियों के द्वारा उपदिष्ट जिस महा-व्रतों की उच्चारणा को किया करते हैं उसे करने के लिये मैं भी उपस्थित हुआ हूँ। यह सूचना करते हुए छठे रात्रिभोजनविरमण के साथ उक्त महाव्रतोच्चारणा पांच प्रकार की कही गई है। तत्पश्चात् क्रम से प्राणातिपातविरमण आदि छहों महाव्रतों का उच्चारण किया गया है। जैसे—प्राणातिपात से विरत होना, यह अहिंसा महाव्रत है। इस अहिंसा महाव्रत में मैं सूक्ष्म, बाह्य, जसव स्थावर समस्त प्राणातिपात का मन, वचन व काय से तथा कृत, कारित व अनुमति से प्रत्याख्यान करता हूँ। मैं अतीत सब प्राणातिपात की निन्दा करता हूँ; वर्तमान का निवारण करता हूँ, और अनागत का प्रत्याख्यान करता हूँ इत्यादि।

इसी प्रकार से प्रागे शेष महाव्रतों की भी उच्चारणा की गई है। तत्पश्चात् भगवान् महावीर की स्तुतिपूर्वक सामायिक, चातुर्विंशतिस्तव, बन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान; इन छह आवश्यकों का निर्देश करते हुए उत्कालिक और कालिक श्रुत का कीर्तन किया गया है। इसके ऊपर यशोदेव सूरि (विक्रम की १२वीं शताब्दी) द्वारा टीका लिखी गई है। इस टीका के साथ वह देवचन्द्र

लासनाई जैन पुस्तकोद्धार कण्ठ बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग अचीमहासत और इतिहास-महासत आदि शब्दों में हुआ है।

५७. ज्योतिष्करण्डक—इसके कर्ता का नाम अज्ञात है। इसमें २१ प्रामृत (अधिकार) और सब गाथायें ३७६ हैं। यहाँ कालमान, मासभेद, वर्षभेद, दिन व तिथि का प्रमाण, परमाणु का स्वरूप व उससे निष्पन्न होने वाले अंगुल आदि का प्रमाण, चन्द्र की हानि-वृद्धि, चन्द्र-सूर्य की संख्या, नक्षत्रों की प्राकृति; चन्द्र, सूर्य व नक्षत्र आदि की गति, सूर्य-चन्द्रमण्डल और पौष्पीप्रमाण, इत्यादि विषयों की प्ररूपणा की गई है।

इस पर आचार्य मलयगिरि की टीका है। गाथा ६४-७१ में लतां व लता आदि कालमानों की प्ररूपणा की गई है। ये कालमान अनुयोगद्वारासूत्र में निरूपित कालमानों से कुछ भिन्न हैं। इस भिन्नता का विचार करते हुए टीका में मलयगिरि ने यह कहा है कि स्कन्दिलाचार्य के समय दुष्कालकाल के प्रभाव से जो दुर्भिक्ष पड़ा था, उसके कारण साधुओं का अध्ययन व गुणव (चिन्तन) आदि सब नष्ट हो गया था। उस दुर्भिक्ष के नष्ट होने पर सुभिक्ष के समय दो संघों का मिलान हुआ—एक बलभी में और एक मधुरा में। उनमें सूत्रार्थ की संघटना से परस्पर वाचनाभेद हो गया। सो वह अस्वामाविक भी नहीं है, क्योंकि विस्मृत सूत्र और अर्थ का स्मरण कर करके संघटना करने पर वाचनाभेद अवश्यमावी है। इसमें असंगति कुछ भी नहीं है। उनमें जो अनुयोगद्वारा आदि आज वर्तमान हैं वे माधुर वाचना के अनुसार हैं। पर ज्योतिष्करण्डक के कर्ता आचार्य बालभी वाचना के अनुयायी रहे हैं। इस प्रकार इसमें जो संख्यास्थानों का प्रतिपादन किया गया है वह बालम्ब वाचना के अनुसार किया गया है। अतएव अनुयोगद्वाराप्रतिपादित संख्यास्थानों से इनकी भिन्नता को देख करके अश्रद्धा नहीं करना चाहिए।

यह उक्त टीका के साथ ऋषभदेव जी के अरीमलजी श्वे. संस्था रतलाम से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग अक्ष (मापविशेष), अभिवर्धित मास, अभिवर्धित संवत्सर, आदित्यमास, आदित्यसंवत्सर, उच्छ्वास और उत्सर्पणी आदि शब्दों में हुआ है।

५८. प्रा. पंचसंग्रह (वि.)—पंचसंग्रह इस नाम से प्रसिद्ध अनेक ग्रन्थ हैं, जो संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं में रचे गये हैं। उनमें यहाँ दिगम्बर सम्प्रदाय मांय पंचसंग्रह का परिचय कराया जा रहा है। यह किसके द्वारा रचा या संकलित किया गया है, यह अभी तक अज्ञात ही बना हुआ है। पर विषयव्यावर्णन और रचनाशैली को देखते हुए वह बहुत कुछ प्राचीन प्रतीत होता है। इसमें नाम के अनुसार ये पांच प्रकरण हैं—जीवसमास, प्रकृतिसमुत्कीर्तन, बन्धस्तव, शतक और सप्त-तिका। इनकी गाथासंख्या क्रमशः इस प्रकार है—२०६+१२+७७+५२२+५०७=१३२४। प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामक दूसरे प्रकरण में कुछ गद्यभाग भी है। उक्त पांच प्रकरणों में क्रम से कर्म के बन्धक (जीव), बध्यमान (कर्म), बन्धस्वामित्व, बन्ध के कारण और बन्ध के भेदों की प्ररूपणा की गई है। प्रसंग के अनुसार अन्य भी विषयों का—जैसे उदय व सत्य आदि का—निरूपण किया गया है।

बीरसेनाचार्य द्वारा अपनी बबला टीका में अनेक ऐसी गाथाओं को उद्धृत किया गया है जो यथास्थान प्रस्तुत पंचसंग्रह में उपलब्ध होती हैं। पर ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नाम का निर्देश यहाँ नहीं किया गया है। इससे कहा नहीं जा सकता है कि उनके समस्त प्रस्तुत पंचसंग्रह रहा है या अन्य कोई प्राचीन ग्रन्थ।

इसके ऊपर भट्टारक सुमतिकीर्ति द्वारा संस्कृत टीका रची गई है। जिसे उन्होंने भाद्रपद शुक्ला दशमी वि. सं. १६२० को पूर्ण किया है। यह भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित हो चुका है। इसका उपयोग अनिवृत्तिकरण गुणस्थान, अपूर्वकरण गुणस्थान, अयोगिजिन, अलेख्य, अविरतसम्यग्दृष्टि और आहारक (जीव) आदि शब्दों में हुआ हुआ है।

५९. परमात्मप्रकाश—इसके रचयिता योगीन्दु देव हैं। उनका समय विक्रम की छठी-सातवीं

शताब्दी है। ग्रन्थ की भाषा अपभ्रंश है। वह प्रायः बोहो छन्द में रचा गया है। अन्तिम दो पद्याँ में प्रथम अक्षरा छन्द में और दूसरा माहिनी छन्द में रचा गया है। इसमें २ अधिकार व पक्षसंख्या १२३+२४=३३७ है। इनमें कुछ प्रक्षिप्त पद्य भी सम्मिलित हैं। इसमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप को प्रगट करते हुए ब्रह्म, गुण, पर्याय, निश्चयनय, मोक्ष, मोक्षफल और निश्चय-व्यवहार के भेद से दो प्रकार के मोक्षमार्ग का विवेचन किया गया है।

ग्रन्थ की रचना योगीन्दु देव के द्वारा शिष्य प्रभाकर भट्ट की विज्ञप्ति पर की गई है। ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हुए अंगल के पश्चात् यहाँ यह कहा गया है कि भट्ट प्रभाकर ने भावतः पंच गुरुओं को नमस्कार कर निर्मल भावपूर्वक योगीन्दु जिनसे विज्ञप्ति की कि स्वामिन्, संसार में रहते हुए अनन्त काल बीत गया, पर मैंने बोझा भी सुख नहीं प्राप्त किया, किन्तु दुःख ही अधिक प्राप्त किया है। इसलिए कृपाकर मुझे वतुर्पति के दुःख को नष्ट करनेवाले परमात्मा के स्वरूप को कहिये। इस प्रकार से विज्ञप्ति योगीन्दु देव कहते हैं कि हे भट्ट प्रभाकर सुनो, मैं तीन प्रकार के आत्मा के स्वरूप को कहता हूँ।

ग्रन्थ के अन्त में भी ग्रन्थकार यह अभिप्राय प्रगट करते हैं कि यहाँ जो कहीं-कहीं कुछ पुनरुक्ति हुई है वह प्रभाकर भट्ट के कारण से हुई है, अतः पण्डित जन उसे न तो दोषजनक ग्रहण करें और न गुण ही समझें।

इसके ऊपर ब्रह्मदेव के द्वारा टीका रची गई है। ब्रह्मदेव विक्रम की ११-१२वीं शताब्दी के विद्वान् है। उन्होंने भोजदेव के राज्यकाल (वि. सं. १०७०-१११०) में ब्रह्मसंग्रह की टीका लिखी है। इन्होंने भी अपनी टीका में प्रभाकर भट्ट का शंकाकार के रूप में उल्लेख करते हुए कहा है कि यदि पुण्य मुख्य रूप से मोक्ष का कारण न उपादेय नहीं है तो भरत, सगर, राम और पाण्डव आदि भी निरन्तर परमेष्ठि-गुणस्मरण एवं दान-तृणा आदि के द्वारा अक्षितवशा पुण्य का उपार्जन किसलिए करते रहे हों।

यह उक्त टीका के साथ परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—परमात्मा और बहिरात्मा आदि।

टीका—अध्याबाधसुख आदि।

६०. सम्मलितसूत्र—यह आचार्य सिद्धसेन दिवाकर द्वारा रचा गया एक प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ है, जो दिग्भर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में समानरूप से प्रतिष्ठित है। ये सिद्धसेन व्याख्यातार के कर्ता से भिन्न व उनके पूर्ववर्ती हैं। इनका समय विक्रम की छठी या सातवीं शताब्दी है। ये नियुक्तिकार भद्रबाहु (द्वितीय) के बाद और जिनभद्र समाश्रयण के पूर्व (वि. सं. ५६२-६६६) किसी समय में हुए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ तीन काण्डों में विभक्त है। समस्त गाथासंख्या ५४+४२+७०=१६७ है। उक्त तीन काण्डों में प्रथम का नाम नयकाण्ड और द्वितीय का नाम जीवकाण्ड पाया जाता है, तीसरे काण्ड का कोई नाम उपलब्ध नहीं होता। इसके ऊपर प्रद्युम्न सूरि के शिष्य धर्मयदेव सूरि (विक्रम की १०वीं शताब्दी) द्वारा विरचित बिरुत टीका है। इसके प्रथम काण्ड में नय—विशेषतया द्रव्याधिक व पर्यायिक नय—के स्वरूप का विचार करते हुए उनके आशय से निक्षेपविधि की योजना-

१. परमा. १, ८-११.

२. इत्थु ण लेवउ पंडियहिं गुण-दोसु वि पुणहत्तु।

भट्ट-प्रभायर कारणई मई पुण पुण वि पवत्तु ॥२-१११.

३. अनेकान्त के 'छोटेला जैन स्मृति अंक' में 'ब्रह्मसंग्रह के कर्ता और टीकाकार के समय पर विचार' शीर्षक लेख। पृ. १४५-४८.

४. परमा. २-६१.

५. पुरातन जैन वाक्यसूची की प्रस्तावना, पृ. १४४-४७.

पूर्वक वस्तुस्वरूप का विचार किया गया व सप्तमंगी की योजना की गई है। द्वितीय काण्ड में ज्ञान और दर्शन उपयोगों का विचार करते हुए छद्मस्थ के ज्ञान और दर्शन में तो क्रमवर्तित्व बतलाया गया है, परन्तु केवली के ज्ञान-दर्शन में उस क्रमवर्तित्व का निराकरण करते हुए उन दोनों में भेद सिद्ध किया गया है। वहाँ कहा गया है कि केवली चूंकि नियमतः अस्पष्ट पदार्थों को जानते एवं देखते हैं, अतएव उनका केवलश्रवण ही समानरूप से ज्ञान और दर्शन है। आगे वहाँ कहा गया है कि इस प्रकार जिनप्ररूपित पदार्थों का जो श्रद्धान करता है उसका जो अभिनिबोधिक ज्ञान है वही दर्शन है—सम्यग्दर्शन शब्द से कहा जाने वाला है। अन्त में 'अनादि-अनिघन जीव और सादि-अनिघन केवलज्ञान इन दोनों में भेद कैसे हो सकता है,' इस शका का निराकरण करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार कोई पुरुष साठ वर्ष का हुआ व तीस वर्ष का राजा हुआ, इस उदाहरण में पुरुषसामान्य की अपेक्षा भेद के होते हुए भी राजारूप पर्याय की अपेक्षा भेद देखा जाता है, उसी प्रकार प्रकृत में कथंचित् भेदाभेद समझना चाहिए।

अन्तिम तृतीय काण्ड में सामान्य और विशेष का विचार करते हुए तद्विषयक भेदैकान्त और अभेदैकान्त का निराकरण किया गया है और उनमें कथंचित् भेदाभेद को सिद्ध किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मूलरूप में जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर द्वारा तथा अभयदेव सूरि विरचित उक्त टीका के साथ गुजरात विद्यापीठ (गुजरात पुरातत्त्वमन्दिर ग्रन्थावली) अहमदाबाद द्वारा पांच भागों में प्रकाशित किया गया है। इनका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अस्ति-अवक्तव्य द्रव्य, अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य द्रव्य और अस्ति-नास्ति द्रव्य आदि।

टीका—ऋतुसूत्र और एवम्भूत नय आदि।

६१. श्यायावतार—इसके रचयिता सिद्धसेन दिवाकर है। इनका समय (प्रायः विक्रम की ८वीं शताब्दी) है। इसके ऊपर सिद्धादि (विक्रम की १०वीं शताब्दी) विरचित एक टीका है। सिद्धादि के द्वारा अपनी उपमितिभव-प्रपञ्चकथा ई. सन् १०६ (विक्रम सं. १६३) में समाप्त की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में सूत्ररूप ३२ कारिकायें (श्लोक) हैं। ये कारिकायें अर्थतः गम्भीर हैं। यहाँ सर्वप्रथम स्व-परावभासी निर्वाण ज्ञान को प्रमाण बतलाकर उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भेदों का निर्देश किया गया है। पश्चात् प्रसिद्ध प्रमाणों के लक्षण के निरूपण का प्रयोजन बतलाते हुए प्रत्यक्ष और परोक्ष का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—जो ज्ञान अपरोक्षस्वरूप से, अर्थात् इन्द्रियों की अपेक्षा न कर साक्षात्कारिता से, अर्थ को ग्रहण करता है उसे प्रत्यक्ष और उससे विपरीत को परोक्ष कहते हैं। आगे अनुमान के लक्षण का निर्देश करते हुए उसे प्रत्यक्ष के समान अभ्रान्त बतलाया है।

तत्पश्चात् सामान्य से शब्द—शब्दजन्य ज्ञान—का लक्षण बतलाते हुए जिस प्रकार के शास्त्र से उत्पन्न होनेवाला वह शब्द ज्ञान प्रमाण हो सकता है उस शास्त्र के लक्षण का निर्देश किया गया है। जिस श्लोक के द्वारा उक्त लक्षण को प्रगट किया गया है वह समन्तश्रद्धाचार्य विरचित रत्नकरण्डक में उपलब्ध होता है। इस क्रम से यहाँ आगे परार्थानुमान, पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, तदाभास (पक्षाभासादि), दूषण, दूषणाभास, केवलज्ञान, प्रमाण का फल, स्याद्वादश्रुत और प्रमाता जीव; इनकी चर्चा की गई है। अन्त में कहा गया है कि यह अनादि-निघन प्रमाणादि की व्यवस्था यद्यपि सब व्यवहारार्थ जनों को प्रसिद्ध है, फिर भी अगुप्यन्तों को उसका बोध कराने के लिए यहाँ उसकी प्ररूपणा की गई है।

यह मूलरूपमें जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर द्वारा तथा सिद्धादि विरचित उक्त टीका और देव-भद्र सूरिकृत टिप्पण के साथ श्वेताम्बर जैन महासभा बम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अनुमान, अनैकान्तिक और असिद्ध हेत्वाभास आदि।

१. आप्तोपशमनुल्लघ्यमदृष्टेतिरोधकम्।

तत्त्वोपदेशकृत्सर्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ न्यायाव. ६; रत्नक. ६.

टीका—भौतिक धारि ।

६२. तत्त्वार्थवातिक—आचार्य अकलंक देव द्वारा विरचित यह तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या है । अकलंकदेव का समय ई. ७२०-८०. (वि. सं. ७७७-८३७) निश्चित किया गया है । ये प्रसिद्ध वार्षनिक विद्वान् तो थे ही, साथ ही वे सिद्धान्त के भी मर्मज्ञ थे । उनके समक्ष षट्छण्डागम रहा है और प्रस्तुत व्याख्या में उन्होंने इसका पर्याप्त उपयोग भी किया है । जैसे—तत्त्वार्थवातिक में प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के विषय में जो विवेचन किया गया है वह प्रायः षट्छण्डागम के आश्रय से किया गया है । यहाँ दोनों ग्रन्थों के कुछ समान उद्धरण दिये जाते हैं—

एवेति चेव सव्यकम्माणं जाधे भतोकोडाकोडिट्टिदि ठवेदि संखेज्जेहि सागरोवमसहस्सेहि ऊणियं ताधे पडमसम्मत्तमुप्पावेदि । पट्खं १, १-८, ५—पु. ६, पृ. २२२,

अन्त.कोटिकोटिसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापन्नमानेषु विशुद्धिपरिणामवशान् सत्कर्मसु च ततः संख्येयसागरोऽमसहस्रोनायामन्तःकोटिकोटिसागरोपमस्थितौ स्यादितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति । त. वा. २, ३, २ ।

×

×

×

सो पुण पंचिदिधो सण्णी मिच्छादुट्ठो पज्जत्तधो सव्वविमुद्धो ।

पट्खं. १, ६-८, ४—पु. ६, पृ. २०६ ।

स पुनर्भवः पंचेन्द्रियः संज्ञी मिथ्यादृष्टिः पर्याप्तकः सर्वविशुद्धः प्रथमसम्यक्त्वमूलादयति ।

त. वा. २, ३, २ ।

वातिककार के सामने लोकानुयोग के भी कुछ प्राचीन ग्रन्थ रहे हैं । चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत १६वें सूत्र की व्याख्या करते हुए उनके द्वारा कल्पों की व्यवस्था में १४ इन्द्रों की प्ररूपणा की गई है । वहाँ उन्होंने यह कहा है कि ये जो यहाँ १४ इन्द्र कहे गये हैं वे लोकानुयोग के उपदेश के अनुसार कहे गये हैं । परन्तु यहाँ (तत्त्वार्थसूत्र में) वे १२ ही माने गये हैं । इसके अनुसार ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, महा-शुक्र और सहस्रार ये चार इन्द्र दक्षिण इन्द्रों के अनुवर्ती हैं तथा आनत और प्राणत में एक-एक इन्द्र हैं ।

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र की इस व्याख्या में प्रसंग के अनुसार अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा की गई है । ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ काशी से २ भागों में प्रकाशित हुआ है । इसका उपयोग अकवाय-वेदनीय, अकामनिर्जरा, अक्ष (आत्मा), अक्षप्रक्षण, अक्षीणमहानस और अगुरुलघु नामकर्म आदि शब्दों में हुआ है ।

६३. लघीयस्त्रय—इसके रचयिता उक्त आचार्य अकलंक देव हैं । इसमें सब ७८ कारिकाएँ हैं । ग्रन्थ प्रत्यक्ष परिच्छेद, विषय परिच्छेद, परोक्ष परिच्छेद, आगम परिच्छेद, नयप्रवेश और प्रवचन-प्रवेश; इन छह परिच्छेदों में विभक्त है । इसमें प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाण, उनके विषय, अनेक भेदयुक्त नय और निक्षेप आदि का विवेचन किया गया है । इस पर स्वयं अकलंक देव के द्वारा विवृति, आचार्य प्रभावचन्द्र (विक्रम सं. १०३७-११२२, ई. ९८०-१०६५) द्वारा विरचित विस्तृत न्यायकुमुदचन्द्र नाम की व्याख्या और अग्रयचन्द्र सूरि (विक्रम की १३-१४वीं शती) विरचित तात्पर्यवृत्ति टीका है । उक्त न्यायकुमुदचन्द्र व्याख्या के साथ मूल ग्रन्थ भा. वि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई से दो भागों में प्रकाशित हुआ है । तथा अग्रयचन्द्र विरचित वृत्ति के साथ भी वह उक्त संस्था द्वारा अलग से प्रकाशित किया गया है । इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

१. सिद्धिविनिश्चय १, प्रस्तावना पृ. ४६ व ५५ ।

२. विशेष ज्ञानने के लिये देखिये अनेकान्त (वर्ष १९, किरण ५, पृ. ३२१-२५) में 'सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवातिक पर षट्छण्डागम का प्रभाव' शीर्षक लेख ।

३. त. वा. ४, १९, ८, पृ. २३३, पं. २१-२३ ।

४. सिद्धिविनिश्चय १, प्रस्तावना, पृ. ४१ ।

मूल—भतीन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान, अविच्छेद और उपयोग आदि ।

न्यायकु.—अनुयोग आदि ।

तात्पर्यवृत्ति—अर्थक्रिया आदि ।

६४. न्यायविनिश्चय—इसके रचयिता उक्त अकलंक देव हैं । इसमें तीन प्रकरण हैं—प्रत्यक्ष प्रस्ताव, अनुमान प्रस्ताव और प्रवचन प्रस्ताव । नामों के अनुसार इनमें क्रम से प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन (भाग्य) प्रमाणों का ऊहापोहपूर्वक विचार किया गया है । समस्त कारिकाओं की संख्या ४८० है । यह मूलरूप में सिद्धी जैन ग्रन्थमाला कलकत्ता द्वारा प्रकाशित 'अकलंकग्रन्थत्रय' में मुद्रित है तथा भा. बादिराज (विक्रम की ११वीं शताब्दी, ई. १०२५) द्वारा विरचित विवरण के साथ वह भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा दो भागों में प्रकाशित किया गया है । इसका उपयोग अनुमान, अन्वय और उपमान आदि शब्दों में हुआ है ।

६५. प्रमाणसंग्रह—यह कृति भी उक्त अकलंक देव की है । इसमें प्रत्यक्ष, स्मृति आदि भेदों से युक्त परोक्ष, अनुमान व उसके अवयव, हेतु, हेत्वाभास, वाच, सर्वज्ञता और सप्तभंगी आदि विषयों की प्ररूपणा की गई है । सब कारिकाएँ ८७½ हैं । इस पर एक स्वोपज्ञ विवृति भी है जो कारिकाओं के अर्थ की पूरक है । यह अकलंकग्रन्थत्रय में सिद्धी जैन ग्रन्थमाला कलकत्ता द्वारा प्रकाशित हो चुका है । इसका उपयोग अनुपलम्भ आदि शब्दों में हुआ है ।

६६. सिद्धिविनिश्चय—इसके भी रचयिता उक्त आचार्य अकलंक देव हैं । इसमें निम्न लिखित १२ प्रस्ताव हैं—प्रत्यक्षसिद्धि, सविकल्पसिद्धि, प्रमाणान्तरसिद्धि, जीवसिद्धि, जल्पसिद्धि, हेतुलक्षणसिद्धि, सात्त्विकार्थसिद्धि, सर्वज्ञसिद्धि, शब्दसिद्धि, अर्थनयसिद्धि, शब्दनयसिद्धि और निक्षेपसिद्धि । यह स्वोपज्ञ विवृति और आचार्य अनन्तबीर्य द्वारा विरचित टीका से सहित है । अनन्तबीर्य नाम के अनेक ग्रन्थकार हुए हैं । उनमें से प्रकृत टीका के रचयिता अनन्तबीर्य का समय पं. महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य के द्वारा ई. ६५०-६६० (वि. सं. १००७-१०४७) सिद्ध किया गया है । इन टीका के साथ वह भारतीय ज्ञानपीठ काशी से दो भागों में प्रकाशित हुआ है । इसका उपयोग निम्न शब्दों में हुआ है—

मूल—अन्ययोगव्यवच्छेद और उपमान आदि ।

टीका—अकिञ्चित्कर, अर्नकान्तिक, अन्यथानुपपत्ति, अन्यथानुपपन्नत्व, अन्ययोगव्यवच्छेद, अन्ययोगव्यवच्छेद, असिद्धहेत्वाभास और उपमान आदि ।

६७. पद्मपुराण—इसे पद्मचरित भी कहा जाता है । यह आचार्य रविषेण के द्वारा महावीर निर्वाण के बाद बारह सौ तीन वर्ष और छह मास (१२०३½) के बीतने पर (वि. सं. ७३३ के लगभग) रचा गया है । इसमें प्रमुखाता से रामचन्द्र के जीवनवृत्त का निरूपण किया गया है । रामचन्द्र की कथा इतनी रोचक रही है कि उसे थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ अनेक सम्प्रदायों ने अपनाया है । प्रकृत ग्रन्थ विविध घटनाओं व विषयविवेचन के अनुसार १२३ पर्वों में विभक्त है । यह मूल मात्र मा. दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई से ३ भागों में प्रकाशित हुआ है तथा हिन्दी अनुवाद के साथ भी वह भा. ज्ञानपीठ काशी से ३ भागों में प्रकाशित हुआ है । इसका उपयोग असौहिणी, अज, अघोलोक, अहिंसाशुद्ध और आक्षेपिणी कथा आदि शब्दों में हुआ है ।

६८. वराङ्गचरित—इसके रचयिता आचार्य जटासिंहनन्दी हैं । इनका समय विक्रम की ८वीं शताब्दी है । प्रस्तुत ग्रन्थ ३१ सर्गों में विभक्त है । यह अनुष्टुप् व उपजाति आदि अनेक छन्दों में रचा गया है । इसमें उत्तमपुर के शासक भोजवंशी राजा अर्धसेन के पुत्र वराङ्ग की कथा दी गई है । यथा-प्रसङ्ग वहाँ शुभाशुभ कर्म और उनके फल का विवेचन करते हुए मतान्तरों की समीक्षा भी की गई है ।

१. सिद्धिविनिश्चय १, प्रस्तावना पृ. ८७.

२. पद्मपु. १२३-१८२.

यह मा. वि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग अग्रभद्रव्य, अनार्य, अस्तेयमहा-
व्रत, प्राकाश, आप्त, आर्य और ऋतु आदि शब्दों में हुआ है।

६६. हरिवंशपुराण—इसके रचयिता आचार्य जिनसेन प्रथम हैं जो पुनाटसंघ के रहे हैं।
गुरु उनके कीर्तिषेण थे। इसका रचनाकाल शक सं. ७०५ (विक्रम सं. ८५०) है। यह ६६ पर्वों में
विभक्त है। इसमें हरिवंश को विमूर्धित करने वाले भगवान् नेमिनाथ व नारायण श्रीकृष्ण आदि का
जीवनवृत्त है। प्रारम्भ में यहाँ मंगलाचरण के पश्चात् आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दी (पूज्यपाद),
वज्रसूरि, महासेन, रविषेण, वराहचरित के कर्ता जटासिंहनन्दी, शान्त, विशेषवादी, प्रभाचन्द्र के गुरु कुमार-
सेन, वीरसेन गुरु और पादार्वाभ्युदय के कर्ता जिनसेन का स्मरण किया गया है। तत्पश्चात् तीन कौबली
और पांच भूतकौबली आदि के नामों का उल्लेख करते हुए श्रुत की अविच्छिन्न परम्परा निदिष्ट की गई
है। साठवें पर्व में श्रीकृष्ण के प्रथम के अनुसार भगवान् नेमि जिनेन्द्र के मुख से तिरेशठ शलाकापुष्पों
के चरित का भी निरूपण कराया गया है। अन्तिम छयासठवें सर्ग में ग्रन्थ के कर्ता आचार्य जिनसेन ने
अपनी परम्परा को प्रगट करते हुए इन आचार्यों का नामोल्लेख किया है—१ विनयंकर, २ गुप्तकृषि,
३ गुप्तधृति, ४ शिवगुप्त, ५ अर्हद्वसि, ६ मन्दार्य, ७ मित्रवीरवि, ८ बलदेव, ९ मित्र, १० सिंहवन,
११ वीरवित्, १२ पद्मसेन, १३ व्याघ्रहस्तक, १४ नागहस्ती, १५ जितदण्ड, १६ नन्दिषेण, १७ प्रभुदीप-
सेन, १४ तपोधन धरसेन, १६ सुधर्मसेन, २० सिंहसेन, २१ सुनन्दिषेण (प्र.), २२ ईश्वरसेन, २३ सुनन्दि-
षेण (दि.) २४ अभयसेन, २५ सिद्धसेन, अभयसेन (दि.), २७ भीमसेन २८ जिनसेन, २९ शान्तिषेण,
३० जयसेन गुरु, ३१ उनके पुनाट संघ के अग्रणी शिष्य अमृतसेन—जिनके अग्रज कीर्तिषेण थे, और
उनके प्रमुख शिष्य जिनसेन—प्रकृत ग्रन्थ के निर्माता।

यह मूल मात्र मा. वि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई द्वारा दो भागों में तथा हिन्दी अनुवाद के साथ भार-
तीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा भी प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग अचर्यापुत्रत, अग्र, अजीवविचय,
अतिविसंविभाग, अनकासक्रिया, अन्न-पाननिरोध, अपचयान, अपायविचय और उपायविचय आदि शब्दों
में हुआ है।

७०. महापुराण—यह वीरसेन स्वामी के शिष्य आचार्य जिनसेन द्वारा विरचित है। पं. नाथू-
रामजी प्रेमी ने आ. जिनसेन के समय का अनुमान शक सं. ६७५-७६५ (विक्रम सं. ८१०-९००) किया
है। आचार्य जिनसेन बहुश्रुत विद्वान् थे। प्रस्तुत महापुराण भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा तीन भागों
में प्रकाशित किया गया है। इनमें से प्रथम दो भागों में भगवान् आदिनाथ के चरित का वर्णन है।
इसीलिए यह आदिपुराण भी कहलाता है। तीसरे भाग में अजितादि शेष २३ तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों और
नारायण-प्रतिनारायण आदि के चरित का कथन किया गया है। इसे उत्तरपुराण कहा जाता है। आचार्य
जिनसेन इस समस्त महापुराण को पूरा नहीं कर सके। आदिपुराण में ५७ पर्व हैं, उनमें जिनसेन
स्वामी के द्वारा ४२ पर्व पूर्ण और ४३वें पर्व के केवल ३ श्लोक ही रहे जा सके, तत्पश्चात् वे स्वर्गस्थ
हो गये। तब उनकी इस अचूरी कृति को उनके शिष्य गुणभद्राचार्य ने पूरा किया है। इस प्रकार गुण-
भद्राचार्य के द्वारा आदिपुराण के शेष पांच पर्व तथा उत्तरपुराण के २९ (४८-७६) पर्व रहे गये हैं।
जिनसेन के द्वारा इसके प्रारम्भ में अपने पूर्ववर्ती निम्न आचार्यों का स्मरण किया गया है—१ सिद्धसेन,
२ समन्तभद्र, ३ श्रीदत्त, ४ यशोभद्र, ५ चन्द्रोदय के कर्ता प्रभाचन्द्र कवि, ६ आराधनाचतुष्टय के कर्ता
शिवकोटि मुनि, ७ जटाचार्य, ८ काणभिक्षु, ९ देव (देवनन्दी), १० भट्टाकलंक, ११ श्रीपाल, १२ पात्र-
केसरी, १३ वाविसिंह, १४ वीरसेन भट्टारक, १५ जयसेन गुरु और १६ कवि परमेस्वर। यह भारतीय

१. हरिवंशपु. ६६, ५२-५३.

२. सर्ग १, श्लोक २९-४०.

३. सर्ग १, श्लोक ५८-६५ (आगे ६६ सर्ग के २३-२४ श्लोकों में पुनः उसकी संक्षेप में सूचना की
गई है)।

४. श्लोक १३५-५७२.

५. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. ५११-१२.

ज्ञानपीठ काशी द्वारा तीन भागों में प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग अणुवत्, आध्यात्म, आर्हन्त्यक्रिया, इत्याहु, उपक्रम, उपदेशसम्यक्त्व और एकत्ववितर्कबीजार आदि शब्दों में हुआ है।

७१. प्रमाणपरीक्षा—इसके रचयिता आचार्य विद्यानन्द (विक्रम की ९वीं शताब्दी) हैं। इसमें सन्निकर्षादि को प्रमाण मानने वाले प्रवादियों के अभिमत की परीक्षा करते हुए उसका निराकरण किया गया है और स्वार्थव्यवसायात्मक सम्यग्ज्ञान को प्रमाण सिद्ध किया गया है। पश्चात् उस प्रमाण के प्रत्यक्ष व परोक्ष इन दो भेदों का निर्देश करके उनके उत्तर भेदों की भी प्ररूपणा करते हुए तद्विषयक मतान्तरों की समीक्षा भी की गई है।

यह आप्तमीमांसा के साथ में भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था काशी द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग अवाय, ईहा और उपयोग आदि शब्दों में हुआ है।

७२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—यह उक्त आचार्य विद्यानन्द द्वारा विरचित तत्त्वार्थसूत्र की विस्तृत व्याख्या है। रचनाकाल इसका ई. ८१० (वि. सं. ८६७) है। यहाँ सर्वप्रथम यह शंका उठाई गई है कि प्रवक्तृविशेष के अभाव में चूंकि किसी प्रतिपाद्यविशेष के प्रतिपिस्ता (विज्ञासा) सम्भव नहीं है, अतएव तत्त्वार्थशास्त्र का यह प्रथम सूत्र घटित नहीं होता है। इसके समाधान में कहा गया है कि जिसने समस्त तत्त्वार्थ को जान लिया है तथा जो कर्म-मल से रहित हो चुका है उसके मोक्षमार्ग के नेता सिद्ध हो जाने पर चूंकि प्रतिपिस्ता असम्भव नहीं है, अतएव उक्त प्रथम सूत्र की प्रवृत्ति संगत ही है—असंगत नहीं है। इस प्रसंग में यहाँ आगमविषयक विभिन्न मान्यताओं का निराकरण करते हुए सर्वज्ञ-प्ररूपित आगम को प्रमाणभूत सिद्ध किया गया है। साथ ही अन्य प्रवादियों के द्वारा माने गये आप्त का निराकरण भी किया गया है।

इस प्रकार पूर्व पीठिकारूप से इतना विवेचन करके तत्पश्चात् क्रम से समस्त सूत्रों की तार्किक पद्धति से व्याख्या की गई है। यह रामचन्द्र नाथारंग गांधी बम्बई के द्वारा प्रकाशित कराया गया है। इसका उपयोग अण्डज, अवर्धनपरीषद्जय, अधिकरणक्रिया और अनर्थक्रिया आदि शब्दों में हुआ है।

७३. आत्मानुशासन—गुणमद्राचार्य (विक्रम की ६-१०वीं शताब्दी) द्वारा विरचित यह एक उपदेशात्मक ग्रन्थ है। आत्महितैवी प्राणी आत्मा का उद्धार किम प्रकार से कर सकता है, इसकी शिक्षा यहाँ अनेक प्रकार से दी गई है। इसमें विविध छन्दों में २६६ श्लोक हैं। इसके ऊपर आचार्य प्रभाचन्द्र (विक्रम की १३वीं शताब्दी) विरचित एक संक्षिप्त संस्कृत टीका भी है। इस टीका के साथ मूल ग्रन्थ जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग अर्थ (सम्यक्त्वभेद), अवगाढ-सम्यक्त्व और आज्ञासम्यक्त्व आदि शब्दों में हुआ है।

७४. धर्मसंग्रहणी—इसके रचयिता हरिभद्र सूरि हैं। ये बहुसूत्र विद्वान् थे। इन्होंने प्राकृत और संस्कृत दोनों ही भाषाओं में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचे हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से ग्रन्थों पर टीका भी लिखी है। इनके द्वारा विरचित अधिकांश ग्रन्थों के अन्त में 'विरह' शब्द उपलब्ध होता है। इनका समय विक्रम सं. ७५७ से ८२७ तक निश्चित किया गया है^१। इनका आख्यान प्रभावकचरित (पृ. १०३-२३) में उपलब्ध होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ प्राकृत भाषाबद्ध है। भाषाओं का प्रमाण १३६६ है। लेखनपद्धति दार्शनिक है। यहाँ जीव की अनादिनिधन, अमूर्त, परिणामी, ज्ञायक, कर्ता और मिथ्यत्वादिकृत निज कर्म के फल का भोक्ता बतलाते हुए प्रथमतः उसके अस्तित्व को सिद्ध किया गया है। फिर उसकी परलोकगामिता के साथ नित्यता की भी सिद्धि की गई है। इसी क्रम से आगे उसकी परिणामिता, शरीरप्रमाणता, ज्ञातृत्व, कर्म-कर्तृता और कर्मफलसोषतृत्व को भी सिद्ध किया गया है। आगे कर्म के स्वरूपादि और उसके मूर्तिमत्त्व का विचार करते हुए बाह्य अर्थ को सिद्ध किया गया है। तत्पश्चात् सम्यक्त्व, ज्ञान, मीत-रागता और सर्वज्ञता आदि का विवेचन करते हुए यथाप्रसंग अन्यान्य विषयों का भी विचार किया गया

है। प्रकरणानुसार इसमें धीरे धीरे आवश्यकप्रशस्ति में कितनी ही गाथाएँ समानरूप से उपलब्ध होती हैं। कुछ गाथायें समराक्षकहृद् में भी उपलब्ध होती हैं। यथाक्रम से मिलान कीजिये—

धर्मसंग्रहणी—६०७-२३, ७४४-४७, ७४२, ७४५-६३, ८००, ७८०(पृ.), ७६६-८१४.

आवकप्रशस्ति—१०-२६, २७-३०, ३२, ३४-४२, ४७, १०१(पृ.), ४३-६१.

इसके ऊपर गाथायें मलयगिरि द्वारा टीका लिखी गई है। इस टीका के साथ ग्रन्थ देवधर लालसाई जैन साहित्योद्धार फण्ड बम्बई से प्रकाशित हुआ है। मूल भाषा पंचाशक आदि के साथ ऋषभ-देव केशरीमल जी श्वे. संस्था रतलाम द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसकी टीका का उपयोग इन शब्दों में हुआ है—अनुमान, अन्तरायकर्म, आदेय नामकर्म, आयुक्रमं धीरे धीरे पञ्चमिकसम्यक्त्व आदि।

हरिमद्र सूरि के इन ग्रन्थ ग्रन्थों का भी प्रकृत लक्षणाली में उपयोग हुआ है—१ उपदेशपद, २ आवकप्रशस्ति ३ धर्मबिन्दुप्रकरण, ४ पंचाशक, ५ षडदर्शनसमुच्चय, ६ शास्त्रवातसमुच्चय, ७ षोडशकप्रकरण, ८ अष्टकानि, ९ योगदृष्टिसमुच्चय, १० योगबिन्दु, ११ योगविशिष्टा धीरे १२ पञ्चवस्तुक।

७५. उपदेशपद—प्राकृत गाथाबद्ध यह उपदेशात्मक ग्रन्थ उक्त हरिमद्र सूरि के द्वारा रचा गया है। इसमें समस्त गाथायें १०३६ हैं। सर्वप्रथम यहाँ दो गाथाओं में ग्रन्थकार हरिमद्र सूरि ने मगवान् महावीर को नमस्कार करते हुए उनके उपदेश के अनुसार मन्वन्ति जनों के प्रबोधनार्थ कुछ उपदेशपदों के कहने की प्रतिज्ञा की है। टीकाकार मुनिचन्द्र सूरि ने 'उपदेशपदों' का अर्थ दो प्रकार से किया है—प्रथम अर्थ करते हुए उन्होंने उन्हें चार पुरुषार्थों में प्रधानभूत मोक्ष पुरुषार्थविषयक उपदेशों के पद—स्थानभूत मनुष्यजन्मदुर्लभत्व आदि—बतलाया है। तथा दूसरा अर्थ करते हुए 'उपदेश' धीरे 'पद' दोनों में कर्मधारय समास स्वीकार कर उपदेशों को ही पद माना है। तदनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ में मनुष्य जन्म की दुर्लभता आदि अनेक कल्याणजनक विषयों की चर्चा की गई है, जो उपदेशात्मक बचनरूप ही है।

भाग कहा गया है कि सत्साररूप समुद्र में मनुष्य पर्याय का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। अतएव जिस किसी प्रकार से इसे पाकर आत्महितैषी जनों को उसका सदुपयोग करना चाहिए। उक्त मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है, यह चोत्सक आदि के दृष्टान्तों द्वारा भा. भद्रबाहु आदि के द्वारा पूर्व में कहा गया है। तदनुसार मैं भी उन्हीं दृष्टान्तों को कहता हूँ। इस प्रकार कहकर—१ चोत्सक, २-३ पाशक, ४ भूत, ५ रत्न, ६ स्वप्न, ७ चक्र, ८ चर्म, ९ युग धीरे १० परमाणु इन दस दृष्टान्तों का निर्देश करते हुए क्रम से उन दृष्टान्तों की पृथक्-पृथक् प्ररूपणा की गई है।

प्रथम दृष्टान्त चोत्सक का है। चोत्सक यह देशी शब्द है, जो भोजन का वाचक है। जिस प्रकार ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के यहाँ एक बार भोजन करके पुनः भोजन करना दुर्लभ हुआ, इसी प्रकार एक बार मनुष्य पर्याय को पाकर फिर उसका पुनः प्राप्त करना दुर्लभ है। इसकी कथा टीकाकार ने किन्हीं प्राचीन ५०५ गाथाओं द्वारा प्रगट की है।

उक्त दृष्टान्तों के अतिरिक्त ग्रन्थ भी कितने ही विषयों की प्ररूपणा अनेक दृष्टान्तों के साथ की गई है। ग्रन्थ का प्रकाशन मुनिचन्द्र विरचित (वि. सं. ११७४) उक्त टीका के साथ भुक्तिमल जैन मोहनमाला बड़ोदा से हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अपवाद और औत्पत्तिकी आदि।

टीका—अनप्यवसाय, अनुमान और अपवाद आदि।

७६. आवकप्रशस्ति—इसके रचयिता उक्त हरिमद्र सूरि हैं। यद्यपि उसकी कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'उमास्वातिविरचित' लिखा गया है, पर आवकधर्मपंचाशक, धर्मसंग्रहणी और समराक्षकहृद् आदि ग्रन्थों के साथ तुलना करने पर वह हरिमद्र सूरि की ही कृति प्रतीत होती है। यह बारह प्रकार

१. धर्मबिन्दु के टीकाकार मुनिचन्द्र सूरि ने वाचक उमास्वाति विरचित एक आवकप्रशस्ति सूत्र का निर्देश किया है। जैसे—तथा च उमास्वातिवाचकविरचितआवकप्रशस्तिसूत्रम्—यथा अतिथिसंविभागो नाम प्रतिथयः.....। च. वि. मुनि. वृ. ३-१६. (पर उमास्वाति विरचित कोई संस्कृत आवक-प्रशस्तिसूत्र उपलब्ध नहीं है।)

के आवश्यकता का प्रत्यक्ष एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। गाथासंख्या इसकी ४०१ है। इसमें प्रथमतः श्रावक के स्वरूप को प्रगट करते हुए कहा गया है कि जो सम्यग्दृष्टि प्रतिदिन मुनि जनों से सामाचार्य—साधु और श्रावक से सम्बद्ध आचार को—सुनता है वह श्रावक कहलाता है। भागे श्रावक के बारह वर्तों का निर्देश करके उनका मूल कारण सम्यक्त्व को बतलाया है। पश्चात् जीव के साथ अनादि से सम्बन्ध को प्राप्त हुए ज्ञानावरणादि कर्मों का निरूपण करते हुए वहाँ सम्यक्त्व और उसके विषयभूत जीवादि सात तत्त्वों का विवेचन किया गया है। फिर क्रम से श्रावक के बारह वर्तों की प्ररूपणा करते हुए स्पष्ट प्राणवच-विरमण (प्रथम अनुव्रत) के प्रसंग में हिमा-अहिंसा की विस्तार से (गा. १०६-२५६) चर्चा की गई है। अन्त में श्रावक के निवास आदि से सम्बद्ध सामाचार्य आदि का विवेचन किया गया है।

कुछ गाथाएँ यहाँ और समराइचकहा में समान रूप से उपलब्ध होती हैं। जैसे—

आ. प्र. ५३-६० व ३६०-६१ आदि।

सम. क. ७४-८१ व ८२-८३ आदि।

इस पर 'दिक्प्रवा' नाम की स्वोपज्ञ टीका है। इस टीका के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ ज्ञानप्रसारकमण्डल नामक समाज बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अनुव्रत, प्रतिधिसंविभाग, आसव और औपशमिक सम्यक्त्व आदि।

टीका—अनुव्रत, प्रतिचार, प्रतिधि, अघोदिमन्त्र, अनङ्गकीडा, अनन्तानुबन्धी, अनर्थदण्डविरति, अन्तराय, आधु, आरम्भ, इत्वरपरिशुहीतागमन और ऊर्ध्वदिमन्त्र आदि।

७७. धर्मबिन्दुप्रकरण—यह हरिभद्र सूरि विरचित धर्म का प्रत्यक्ष सूत्रात्मक ग्रन्थ है। इसमें आठ अध्याय हैं। गद्यात्मक समस्त सूत्रों की संख्या ५४२ और श्लोक (अनुष्टुप्) संख्या ४८ है। ये श्लोक प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में ३-३ और अन्त में भी ३-३ ही हैं। प्रथम अध्याय को आरम्भ करते हुए सर्वप्रथम यहाँ परमात्मा को नमस्कार करके श्रुत-समुद्र से जलबिन्दु के समान धर्मबिन्दु को उद्धृत करके उसके कहने की प्रतिज्ञा की गई है। पश्चात् धर्म के स्वरूप का निर्देश करते हुए उसे गृहस्थ और यति के भेद से दो प्रकार का बतलाया है। फिर सामान्य और विशेषरूप से गृहस्थधर्म के भी दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। उनमें सामान्य गृहस्थधर्म का वर्णन करते हुए प्रथमतः न्यायोपाणिन वन को आश्रयक बतलाया है, तत्पश्चात् समानकुल-शीलादि वाले अगोत्रजो (भिन्न गोत्र वाले) में विवाह आदि ३३ प्रकार के सामान्य धर्म का निर्देश करते हुए इस अध्याय को समाप्त किया गया है।

हेमचन्द्र सूरि ने सम्भवतः इसी का अनुसरण करके 'न्यायविभवसम्पन्न' आदि ३५ विशेषणों से विशिष्ट गृहस्थ को श्रावकधर्म का अधिकारी बतलाया है।

भाग्य दूसरे अध्याय में गृहस्थधर्मदेशना की विधि का निरूपण करते हुए तीसरे अध्याय में अनुव्रतादिरूप विशेष गृहस्थधर्म की प्ररूपणा की गई है। चतुर्थ अध्याय में दीक्षा के अधिकारी का विचार करते हुए उसके लिए आर्यदेशोत्पन्न आदि १६ विशेषणों से विशिष्ट बतलाया गया है। पाँचवें अध्याय में यति की विशेष विधि का वर्णन करते हुए छठे अध्याय में यतिधर्म के विषयविभाग का विवेचन किया गया है। सातवें अध्याय में धर्म के फल और आठवें अध्याय में परम्परा से तीर्थकरत्व आदि की प्राप्ति का वर्णन किया गया है।

इसके ऊपर मुनिचन्द्र सूरि के द्वारा विक्रम सं. ११८१ में टीका लिखी गई है। इस टीका के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ आगमोदय समिति बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अनुव्रत और इन्द्रियजय आदि।

टीका—प्रतिधि, प्रतिधिसंविभाग, अनर्थदण्डविरति, अनङ्गकीडा और अनन्त-पाननिरोध आदि।

७८. पंचाशक—इसमें ११ पचाशक (लगभग ५०-५० गाथायुक्त प्रकरण) और उनकी समस्त गाथासंख्या ६४० है। प्रथम पंचाशकका नाम श्रावकधर्मपंचाशक है। इसमें सम्यक्त्व के साथ श्रावक के १२

ग्रंथों की चर्चा की गई है। इसे आद्यकप्रसक्तिका संक्षिप्त रूप समझना चाहिए। शेष दूसरे-तीसरे आदि पंचाशकों के नाम ये हैं—

२ दीक्षापंचाशक, ३ वन्दनार्वाशक, ४ पूजाप्रकरण, ५ प्रत्याख्यानपंचाशक, ६ स्तवनविधि, ७ जिनमवनकरणविधि, ८ प्रतिष्ठाविधि, ९ यात्राविधि, १० श्रमणोपासकप्रतिमाविधि, ११ साधुधर्म-विधि, १२ सामाचार्य, १३ पिण्डविशुद्धि, १४ शीलांग, १५ आलोचनाविधि १६ प्रायश्चित्त, १७ स्थित्यादिकल्प, १८ भिक्षुप्रतिमा और १९ तपोविभाग।

इसके ऊपर अभयदेव सूरि के द्वारा विक्रम स. ११२४ में टीका लिखी गई है, पर वह हमें उपलब्ध नहीं हो सकी। मूल ग्रन्थ ऋषभदेवजी केसरीमलजी द्वे. संस्था रतलाम से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग अष्टाव्यवर्जन आदि शब्दों में हुआ है।

७६. षड्दर्शनसमुच्चय—इसमें ८७ श्लोक (अनुष्टुप्) हैं। देवता और तत्त्व के भेद से मूल में हरिभद्र सूरि की दृष्टि में ये छह दर्शन रहे हैं—बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय। ग्रन्थकार को यहाँ इन्हीं छह दर्शनों का परिचय कराना अभीष्ट रहा है। तदनुसार उन्होंने प्रथमतः ११ श्लोकों में बौद्ध दर्शन का, फिर १२-३२ में नैयायिक दर्शन का ३३-४३ में सांख्य दर्शन का, ४४-५८ में जैन दर्शन का, ५९-६७ में वैशेषिक दर्शन का और ६८-७७ में जैमिनीय दर्शन का परिचय कराया है। वैशेषिक दर्शन का परिचय कराने हुए प्रारम्भ में यह कहा गया है कि देवता की अपेक्षा नैयायिक दर्शन से वैशेषिक दर्शन में कुछ भेद नहीं है—दोनों ही दर्शनों में महेश्वर की सृष्टिकर्ता व संहारक स्वीकार किया गया है। तत्त्वव्यवस्था में जो उनमें भेद रहा है उसे यहाँ प्रगट कर दिया गया है।

कितने ही दार्शनिक नैयायिक दर्शन से वैशेषिक दर्शन को भिन्न नहीं मानते—वे दोनों दर्शनों को एक ही दर्शन के अन्तर्गत मानते हैं। इस प्रकार वे पूर्वनिर्दिष्ट पाँच आस्तिक दर्शनों में एक नास्तिक दर्शन लोकायत (चार्वाक) को सम्मिलित कर छह सत्या की पूर्ति करते हैं (७८-७९)। तदनुसार यहाँ अन्त में (८०-८७) लोकायत दर्शन का भी परिचय करा दिया गया है।

यह विशेष स्मरणीय है कि यहाँ किसी भी दर्शन की आलोचना नहीं की गई है, केवल उक्त दर्शनों में किसकी क्या मान्यताएँ रही हैं, इसका परिचय मात्र यहाँ कराया गया है।

इसके ऊपर गुणरत्न सूरि (विक्रम स. १४००-१४७५) के द्वारा विरचित तर्करहस्यदीपिका नाम की विस्तृत टीका है। इस टीका के साथ वह एशियाटिक सोसाइटी ५७, पार्क स्ट्रीट से प्रकाशित हुआ है। मूल मात्र शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि के साथ जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अजीव और आश्व आदि।

टीका—अनुमान और आप्त आदि।

८०. शास्त्रवार्तासमुच्चय—यह एक पद्यबद्ध दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें ८ स्तव (प्रकरण) हैं। उनमें पद्य (अनुष्टुप्) संख्या इस प्रकार है—११२+८१+४४+१३७+३६+६३+६६+१५६=७०१। यहाँ लोकायत मत, नियतिवाद, सृष्टिकर्तृत्व, अणुस्यत्त्व, विज्ञानवाद, धूम्यवाद, द्वैत, अद्वैत और भुक्ति आदि अनेक विषयों का विचार किया गया है। सातवें स्तव के प्रारम्भ में कहा गया है कि आगम के अपेक्षा ग्रन्थ (जैन) उत्पाद-व्यय-धौव्ययुक्त जीवाजीवस्वरूप जगत् को अनादि कहते हैं। ऐसा कहते हुए आगे उक्त उत्पादादियुक्त वस्तु की साधक जो दो कारिकाएँ दी गई हैं वे अष्टमीमांसा से ली गई हैं^१।

१. घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पाद-स्थितिष्वयम्।

शोक-प्रमोद-माध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ॥

पयोन्नतो न दध्यति न पयोऽस्ति दधिन्नतः।

अगोरसन्नतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥

—शास्त्रवा. ७, २-३; आप्तमी. ५६-६०।

इसके ऊपर यशोबिजय उपाध्याय (विक्रम की १७-१८वीं शताब्दी) विरचित टीका है। इस टीका के साथ वह देवचन्द्र सालमाई जैन पुस्तकोद्धार कण्ठ बम्बई से तथा मूल मात्र जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

टीका—अतीवकरसिद्ध, भदत्तादान, ग्रन्थेषणा और अनेकसिद्ध आदि।

८१. **षोडशकप्रकरण**—इसमें नाम के अनुसार १६-१६ पद्यों के १६ प्रकरण हैं, जो आर्या सन्द में रहे गये हैं। इनमें प्रथम षोडशक को प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम वीर जिनको नमस्कार कर षडमंपरीक्षक आदि—बाल, मध्यमबुद्धि और बुध आदि—भावों के लिये आदि के भेद से संक्षेप में कुछ कहने की प्रतिज्ञा की गई है। कृत प्रतिज्ञा के अनुसार आगे कहा गया है कि बाल—विशिष्ट विवेक से विकल—तो लिंग (बाह्य वेष्ट) को देखता है, मध्यमबुद्धि चारित्र्य का विचार करता है, और बुध (विशिष्ट बुद्धिमान्) प्रयत्नपूर्वक आगम तत्त्व की—उसकी समीचीनता व असमीचीनता की—परीक्षा करता है। आगे उक्त बाल आदि के लक्षण निर्दिष्ट किये गये हैं। इस प्रकार से इन सब प्रकरणों में विविध विषयों का विवेचन किया गया है।

इस पर यशोभद्र सूरि विरचित संक्षिप्त टीका है। इस टीका के साथ वह ऋषभदेव जी केशरीमल जी जैन स्वे. संस्था रतलाम से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अनुबल्लघु और भागम आदि।

टीका—अनुबल्लसारा, असदारम्भ और उद्वेग आदि।

८२. **अष्टकानि**—इसमें ८-८ श्लोकमय ३२ प्रकरण हैं, जो इस प्रकार हैं—१ महादेवाष्टक, २ स्नानाष्टक, ३ पूजाष्टक, ४ अग्निकारिकाष्टक, ५ भिक्षाष्टक, ६ पिण्डाष्टक, ७ प्रच्छन्नभोजनाष्टक, ८ प्रथाख्यानाष्टक, ९ ज्ञानाष्टक, १० वैराग्याष्टक, ११ तपोष्टक, १२ पादाष्टक, १३ यमाष्टक, १४ नित्यारम्भवादनिराकरणाष्टक, १५ क्षणिकवादनिराकरणाष्टक, १६ नित्यानित्याष्टक, १७ मांसभक्षण-दूषणाष्टक, १८ अन्यदर्शनीयशास्त्रोक्तमांसभक्षणदूषणाष्टक, १९ मद्यपानदूषणाष्टक, २० मैथुनदूषणाष्टक, २१ सूक्ष्मबुद्धयष्टक, २२ भावशुद्धयष्टक, २३ शासनमासित्यवर्जनाष्टक, २४ पुण्यादिषत्तुर्भंग्याष्टक, २५ पितृभक्त्यष्टक, २६ महादानस्थापनाष्टक, २७ तीर्थकुहनाष्टक, २८ राज्यादिदानदूषणनिवारणाष्टक, २९ सामायिकाष्टक, ३० केवलज्ञानाष्टक, ३१ देशनाष्टक और ३२ सिद्धस्वरूपाष्टक।

यह अष्टक प्रकरण शस्त्रवातसमुच्चय आदि के साथ जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग आर्तध्यान आदि शब्दों में हुआ है।

८३. **योगदृष्टिसमुच्चय**—इसमें २२६ श्लोक (अनुष्टुप्) हैं। इच्छायोग, शास्त्र और सामर्थ्य योग के भेद से योग तीन प्रकार का है। इनमें सामर्थ्ययोग दो प्रकार का है—धर्मसंन्याससंज्ञित और योगसंन्याससंज्ञित। इन सब योगों के लक्षणों का निर्देश करने हुए यहाँ मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा इन साठ योगदृष्टियों का यथाक्रम से विवेचन किया गया है। इसके ऊपर स्वयं हरिभद्र सूरि के द्वारा वृत्ति भी लिखी गई है। इस वृत्ति के साथ वह जैन ग्रन्थ प्रकाशक संस्था अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग 'इच्छायोग' आदि शब्दों में हुआ है।

८४. **योगबिन्दु**—इसमें ५२७ पद्य (अनुष्टुप्) हैं। यहाँ योग से सम्बद्ध विविध विषयों की प्ररूपणा करते हुए जैमिनीय व सांख्य आदि के अभिमत का निराकरण भी किया गया है। इसके ऊपर भी स्वोपज्ञ वृत्ति है। वृत्ति के साथ यह भी पूर्वोक्त जैन ग्रन्थ प्रकाशक संस्था अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित किया गया है।

८५. **योगविशिका**—नाम के अनुसार इसमें २० गाथायें हैं। सर्वप्रथम यहाँ योग के स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो परिसुद्ध धर्मव्यापार भोज से योजित कराता है उस सबको योग कहा जाता है। पर प्रकृत में विशेषरूप से स्थानादिगत धर्मव्यापार की ही योग जानना चाहिए। वे स्थान आदि पांच ये हैं—स्थान, उर्ण (शब्द), धर्म, आलम्बन और रहित—रूपी द्रव्य के आलम्बन

से रहित बिम्बान्न समाधि । इनमें प्रथम दो—स्थान और ऊर्ण—कर्मयोग हैं तथा शेष तीन ज्ञानयोग हैं । स्थान से अग्निप्राय कायोत्सर्ग व पद्यासन आदि का है, तथा अर्थ से अग्निप्राय क्रिया आदि में उच्छ्वारण किये जाने वाले सूत्र के वर्णादि से है । उक्त स्थानादि में प्रत्येक इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिर और सिद्धि के भेद से चार-चार प्रकार का है । इन सबका यहाँ वर्णन किया गया है ।

इस पर यथोचित उपधाया द्वारा ग्रन्थ के रहस्य को स्पष्ट करने वाली विस्तृत टीका लिखी गई है । इस टीका के साथ ग्रन्थ आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल आगरा से प्रकाशित हुआ है । इसका उपयोग इच्छायोग आदि शब्दों में हुआ है ।

८६. पञ्चवस्तुक—इसकी गायसंख्या १७१४ है । इसमें प्रव्रज्या का विधान, प्रतिदिन की की क्रिया—दैनिक अनुष्ठान, जनविषयक प्रस्थापना, अनुयोग-गणानुज्ञा और संलेखना इन पांच वस्तुओं की प्ररूपणा की गई है । इसीलिए उक्त पांच प्रकारों का प्ररूपक होने से इसे पञ्चवस्तुक ग्रन्थ कहा गया है । 'वसन्त्यस्मिन् ज्ञानादयः परमगुणाः इति वस्तु' इस निश्चित के अनुसार जहाँ ज्ञानादि उत्कृष्ट गुण रहा करते हैं उन्हें वस्तु कहा जाता है । इन्हीं ज्ञानादि गुणों के आश्रयभूत होने से ही उक्त प्रव्रज्या-विधानादि को वस्तु मानकर उनकी यहाँ प्ररूपणा की गई है ।

प्रथम प्रव्रज्या अधिकार में प्रव्रज्या देने का अधिकारी कौन है, किनके लिए प्रव्रज्या देना उचित है, वह किस स्थान में दी जानी चाहिये, तथा किस प्रकार से दी जानी चाहिये; इत्यादि प्रव्रज्या से सम्बद्ध विषयों की चर्चा की गई है । प्रव्रज्या का निश्चयार्थ है मोक्ष के प्रति गमन । तदनुसार इसमें पाप के हेतुभूत गृहस्थ के व्यापार से निवृत्त होकर शुद्ध संयत के अनुष्ठान में उद्यत होना पड़ता है ।

दूसरे अधिकार (प्रतिदिन की क्रिया) में उपधिका प्रतिलेखन, स्थान का प्रतिलेखन, भोजनपात्रों का प्रक्षालन, भिक्षा की विधि, नृत्यादि का त्याग और स्वाध्याय इत्यादि का विवेचन किया गया है ।

तीसरे व्रतविषयक स्थापना अधिकार के प्रारम्भ में यह निर्देश किया गया है कि संसारनाश के कारण व्रत हैं । वे व्रत जिनको दिये जाते हैं, जिस प्रकार से दिये जाते हैं, और जिस प्रकार से उनका परिपालन किया जाता है; इस सबका कथन इस अधिकार में किया जावेगा । अविरति से चूँकि कर्म का आश्रय होता है और उस कर्म से संसार है—चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण होता है; इसलिए कर्म को नष्ट करने के लिए विरति करना चाहिये । इस प्रकार निर्देश करते हुए अष्टिसाध व्रतों का यहाँ सांगोपांग विचार किया गया है । इस अधिकार के अन्त में चारित्र की प्रधानता को प्रगट करते हुए मत्स्यदेवी के प्रसंग से अनन्त काल में होने वाले इन दस आश्चर्यरूप भावों का निर्देश किया गया है—१ उपसर्ग, २ गर्भहरण, ३ स्त्रीतीर्थ, ४ अमर्या परिषत्, ५ कृष्ण का अमरकंका गमन, ६ विमान के साथ चन्द्र-सूर्य का अवतरण, ७ हरिवंश कुल की उत्पत्ति, ८ चमरेन्द्र का उत्पात, ९ एक समय में एक ही घाटी की सिद्धि (मुक्ति) और १० असंयतों की पुजा ।

चतुर्थ अनुयोग—गणानुज्ञा अधिकार में प्रथमतः यह कहा गया है कि जो साधु व्रतों से सहित होते हुए सम्योचित समस्त सूत्रार्थ के ज्ञाता हैं वे ही आचार्यस्थापनारूप अनुयोग आज्ञा के योग्य कहे गये हैं । ग्रन्थवा लोक में भूषावाद, प्रवचन-निन्दा, योग्य नायक के अभाव में शेष के गुणों की हानि और तीर्थ का नाश होनेवाला है । अनुयोग का अर्थ जिनागम का व्याख्यान है । सदा प्रमाद से रहित होकर विधिपूर्वक उस व्याख्यान को करना, यही उसकी अनुज्ञा है । इस प्रकार सूचना करके तत्सम्बन्धी आश्रयक विधि-विधान का यहाँ विवेचन किया गया है । आगे गणानुज्ञा के प्रसंग में गण (गच्छ) के अधिष्ठाता होने के योग्य गुणों का निर्देश करते हुए उसके विषय में भी विचार किया गया है ।

१. उवसगं गम्भहरणं इत्योत्तिथं अभाविष्ठा परिखा ।

कण्हस्स अवसरकंका अवयरणं चंद-सूराणं ॥ ६२६ ॥

हरिर्वंसकुलुप्पसी चमरुप्पाधो घ अट्टसय सिद्धा ।

अस्तंजयाण पुद्गा दस वि अणतेण कालेण ॥ ६२७ ॥

शरीर और कषायों का संलेखन करना—आगमोक्त विधि के अनुसार उन्हें कृपा करना, इसका नाम संलेखना है। इसका वर्णन अन्तिम संलेखना अधिकार में किया गया है।

इसके ऊपर स्वयं हरिभद्र सूरि के द्वारा टीका (स्वोपम) लिखी गई है। इस टीका के साथ वह देवचन्द्र सावभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग भारभटा और इस्वरपरिहारविष्णुदिक आदि शब्दों में हुआ है।

८७. तत्त्वार्थसूत्रवृत्ति—यह उक्त हरिभद्र सूरि द्वारा विरचित तत्त्वार्थसूत्र की भाष्यानुसारिणी व्याख्या है। इसमें मूल सूत्रों की भाष्य के अनुसार व्याख्या करते हुए कितने ही महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा की गई है। इसका उपयोग अकामनिर्जरा, अज्ञोपाङ्गनामकर्म, अचक्षुदर्शन, अज्ञानपरीषहजय और अग्निभारोपण आदि शब्दों में हुआ है।

८८. भावसंग्रह—यह आचार्य देवसेन के द्वारा रचा गया है। देवसेन का समय विक्रम की १०वीं शताब्दी है। ये विमलसेन गणेश्वर के शिष्य थे। उन्होंने वि. सं. ६६० में दर्शनसार की रचना की है। प्रस्तुत ग्रन्थ प्राकृत गाथाओं में रचा गया है। बीच में कुछ थोड़े से अन्य शब्दों का भी उपयोग हुआ है। समस्त पद्यसंख्या ७०१ है।

यहाँ प्रथमतः जीव के मुक्त और ससारी इन दो भेदों का निर्देश करते हुए भाव से पाप, भाव ने पुण्य और भाव से मोक्ष प्राप्त होने की सूचना की गई है। तत्पश्चात् प्रीदयिकादि पांच भावों का निर्देश करके मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थानों के नामोल्लेखपूर्वक क्रम से उनकी प्ररूपणा की गई है। प्रथम गुणस्थान के प्रसंग में मिथ्यात्व का विवेचन करते हुए सग्रन्थ और निर्ग्रन्थ की भुक्ति बतलाने वाले श्वेताम्बर सम्प्रदाय की ममीक्षा की गई है। इस समीक्षा में सग्रन्थता, स्त्रीमुक्ति, केवलियुक्ति, जिनकल्प और स्पष्टि-कल्प आदि की चर्चा की गई है। इसी प्रसंग में श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि विक्रमराजा की मृत्यु के पश्चात् १३६वें वर्ष में सौराष्ट्र के अन्तर्गत बलभी में श्वेतपट सध उत्पन्न हुआ। इस प्रकार उक्त चर्चा से सम्बद्ध संशयमिथ्यात्व की प्ररूपणा १६०वीं गाथा में समाप्त हुई है। आगे अनेक प्रागमिक चर्चाओं के साथ यहाँ उक्त चौदह गुणस्थानों का निरूपण किया गया है।

ग्रन्थ मा. दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग अनिवृत्तिकरण गुणस्थान, अग्रमतसंयत, अविरतसम्यग्दृष्टि और उपसमसम्यक्त्व आदि शब्दों में हुआ है।

८९. आलापपद्धति—इसके कर्ता उक्त देवसेनाचार्य हैं। यहाँ प्रथमतः द्रव्य के लक्षण का निर्देश करते हुए अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व इन दस सामान्य गुणों में से प्रत्येक द्रव्य के वे आठ-आठ बतलाये गये हैं। आरम्भ के छह गुण तो सभी में रहते हैं। चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व इन चार में से कोई दो ही रह सकते हैं। जैसे—जीव में पूर्वोक्त छह के साथ चेतनत्व और अमूर्तत्व हैं तथा पुद्गल में अचेतनत्व और मूर्तत्व हैं।

विशेष गुण सोलह हैं। उनमें से प्रत्येक द्रव्य में कितने और कौन से सम्भव हैं, इसका विचार करते हुए पर्यायों के स्वरूप और उनके भेदों का विवेचन किया गया है। इसके पश्चात् द्रव्यों के इक्कीस स्वभावों में से ग्यारह सामान्य और दस विशेष स्वभावों का विश्लेषण करते हुए वे जीवादि द्रव्यों में से किसके कितने सम्भव है, इसका विचार किया गया है। तत्पश्चात् प्रमाणभेदों और नयभेदों की चर्चा की गई है।

इसका प्रकाशन नयचक्र के साथ मा. दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई से और प्रथम गुच्छक में निर्णय-सागर मुद्रणालय से हुआ है। इसका उपयोग अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय और अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय आदि शब्दों में हुआ है।

९०. तत्त्वसार(तत्त्वसार)—यह भी उक्त देवसेनाचार्य की कृति है। इसमें ७४ गाथाएँ हैं। सर्वप्रथम यहाँ परमसिद्धों की नमस्कार कर तत्त्वसार के कहने की प्रतिज्ञा की गई है। पश्चात् यह कहा गया है कि तत्त्व बहुत प्रकार का है, उसका वर्णन पूर्वाचार्यों द्वारा धर्म के प्रवर्तन और भव्य जनों के

प्रबोधनार्थ किया गया है। एक तत्त्व स्वगत है और दूसरा परगत। स्वगत तत्त्व निज आत्मा और परगत तत्त्व पाँचों परमेष्ठी हैं। उन परमेष्ठियों के अक्षर रूप का—उनके बोधक अ, सि, मा, उ, सा व अमोक्ष भादि अक्षरों का—ध्यान करने वाले भव्य मनुष्यों के बहुत प्रकार के पुण्य का बन्ध होता है और परम्परा से मोक्ष भी प्राप्त होता है।

स्वगत तत्त्व दो प्रकार का है—सविकल्प और अविकल्प। इनमें सविकल्प स्वगत तत्त्व आत्मव-युक्त है और अविकल्प स्वगत तत्त्व उस आत्मव से रहित है। इन्द्रियविषयों से विमुक्त हो जाने पर जब मन का विच्छेद हो जाता है तब अपने स्वरूप में निविकल्प अवस्था होती है। इस प्रकार से शुद्ध आत्म-स्वरूप का विचार करते हुए ध्यान करने की प्रेरणा की गई है। इसी प्रसंग में स्वद्रव्य और परद्रव्य का विचार करते हुए ज्ञानी और भक्तानी की प्रवृत्ति में विशेषता प्रगट की गई है।

यह मा. दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई द्वारा तत्त्वानुशासनादिग्रन्थ में प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग आत्मा (अप्पा) भादि शब्दों में हुआ है।

६१. नयचक्र—इसके रचयिता उक्त देवसेन हैं। बृहन्नयचक्र को लक्ष्य में रखकर इसे सप्तनय-चक्र भी कहा जाता है। इसमें ८७ गाथायें हैं। सर्वप्रथम यहाँ वीर जिनेंद्र को नमस्कार करते हुए नयों के लक्षण के कहने की प्रतिज्ञा की गई है। आगे नय के लक्षण में कहा गया है कि ज्ञानियों के विकल्परूप जो वस्तु के अर्थ को ग्रहण करने वाला अतुल्य है उसे नय कहा जाता है तथा उन्हीं नयों के आश्रय से जीव ज्ञानी होता है। नय के बिना चूँकि स्याद्वाद का बोध सम्भव नहीं है, अतएव एकान्त को नष्ट करने के अभिप्राय से नय का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इस प्रकार नय की आवश्यकता को प्रगट करते हुए आगे कहा गया है कि एक नय एकान्त और उसके समूह का नाम अनेकान्त है तथा वह ज्ञान का विकल्प है जो समीचीन भी होता है और मिथ्या भी होता है। नयरूप दृष्टि के बिना वस्तुस्वरूप की उपलब्धि नहीं होती और बिना वस्तुस्वरूप की उपलब्धि के जीव सम्यग्दृष्टि नहीं होते।

इसके पश्चात् द्रव्याधिक और पर्यायाधिक इन दो नयों को मूल नय बतलाते हुए उनके असंख्य भेदों की सूचना की गई है। आगे इन दो नयों के साथ नैगमादि सात नयों का निर्देश करके नय के नौ भेद और उपनय के तीन भेद कहे गये हैं।

आगे द्रव्याधिक के दस, पर्यायाधिक के छह, नैगम के तीन, संग्रह के दो, व्यवहार के दो, ऋजु-सूत्र के दो तथा शेष के एक-एक भेद का निर्देश करते हुए मयाक्रम से उनकी तथा उपनयभेदों की प्ररूपणा की गई है।

अन्त में कहा गया है कि व्यवहार से चूँकि बन्ध होता है और मोक्ष चूँकि स्वभावसंयुक्त है, अतएव स्वभाव के धाराधन के समय में उसे (व्यवहार को) गौण करना चाहिए। इस प्रकार से यहाँ आत्म-स्वभाव का भी विचार किया गया है।

इसका प्रकाशन मा. दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई से हुआ है। इसका उपयोग उत्पाद-व्ययसापेक्ष, अशुद्धद्रव्याधिक, ऋजुसूत्र और एवममृत भादि शब्दों में हुआ है।

६२. आराधनासार—यह कृति भी उक्त देवसेनाचार्य की है। इसमें ११५ गाथायें हैं। यहाँ सर्वप्रथम महावीर को नमस्कार कर आराधनासार के कहने की प्रतिज्ञा की गई है। पश्चात् तप, दर्शन, ज्ञान और चारित्र के समुदाय को आराधनासार बतलाते हुए उसे व्यवहार और परमार्थ (निश्चय) के भेद से दो प्रकार कहा गया है। व्यवहार से आराधनाचतुष्टय का सार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र और तप को कहा गया है। आगे उक्त सम्यग्दर्शनादि के व्यवहार की प्रधानता से लक्षणों का निर्देश करके निश्चय आराधनाचतुष्टय के सार को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि शुद्ध नय की अपेक्षा सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पों से रहित जो निरालम्ब शुद्ध आत्मा है वही आराधनाचतुष्टय का सार है। इस निश्चय आराधना में उद्यत अल्प इन्द्रियविषयों से विमुक्त होकर अपने स्वभाव का ही अद्भुत करता है, अपने शुद्ध आत्मा को जानता है, और उसी का अनुष्ठान करता है। इस निश्चयदृष्टि में—दर्शन, ज्ञान,

चारित्र्य एवं तप ही आत्मा है और राग-द्वेषादि से रहित उसी शुद्ध आत्मा के आराधना की प्रेरणा की गई है।

आगे आराधक (अपक) की विशेषता को प्रगट करते हुए कहा गया है कि भेदगत (व्यवहाररूप) चार प्रकार की आराधना भी मोक्ष की साधक है। इस प्रकार व्यवहार आराधना को महत्त्वपूर्ण बतलाते हुए अर्द्ध, संगत्याग, कषायगल्लेखना, परीवहजय, उपसर्ग सहने का सामर्थ्य, इन्द्रियजय और मन का नियमन इन सात स्थलों के द्वारा दीर्घकालसंचित कर्मों की नष्ट करने के लिए प्रेरित किया गया है।

अन्त में जिन मुनीन्द्रों के द्वारा आराधनासार का उपदेश किया गया है तथा जिन्होंने उसका आराधन किया है उन सबकी बन्दना करने हुए कहा गया है कि मैं न तो कवि हूँ और न छन्द के लक्षण को भी कुछ जानता हूँ। मैंने तो निज भावना के निमित्त आराधनासार को रचा है। अन्तिम गाथा में अपने नाम का निर्देश करते हुए कहा गया है कि यदि इसमें कुछ प्रवचनविरुद्ध कहा गया हो तो उसे मुनीन्द्र जन शुद्ध कर लें।

इसके ऊपर क्षेमकीर्ति के सिध्य रत्नकीर्ति (विक्रम की १५वीं शती) के द्वारा टीका लिखी गई है। इस टीका के साथ बह मा. दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग इन गद्यों में हुआ है—

मूल—आराधक आदि।

टीका—आसव और उपशम आदि।

६३ पंचसंग्रह—इसके रचयिता चन्द्राणि महत्तर हैं। इनका समय निश्चित नहीं है। सम्भवतः वे विक्रम की १०-११वीं शताब्दी के विद्वान् होना चाहिए। प्रस्तुत ग्रन्थ दो विभागों में विभक्त है। यहाँ सर्वप्रथम और जिन को नमस्कार करके पंचसंग्रह के कहने की प्रतिज्ञा की गई है। 'पंचसंग्रह' इस नाम की मार्थकता को प्रगट करने हुए कहा गया है कि इसमें भूक यथायोग्य शतक आदि पांच ग्रन्थों का अथवा पांच द्वारों का संक्षेप (संग्रह) किया गया है, इसलिए इसका पंचसंग्रह' यह मार्थक नाम है। वे पांच द्वार ये हैं—जीवस्थानों में योगी व उपयोग का मार्गण (अन्वेषण), बन्धन, अन्वेष्य—बांधने योग्य कर्म, बन्धहेतु और बन्धभेद। इनकी प्ररूपणा इसके प्रथम विभाग में की गई है।

प्रथम द्वार में ३४ गाथायें हैं। यहाँ जीवस्थानों और मार्गण स्थानों में यथागम्भव योगों और उपयोगों की प्ररूपणा की गई है।

दूसरे द्वार में ८४ गाथायें हैं। यहाँ बाह्य, सूक्ष्म, पर्याप्त व अपर्याप्त ऐकस्त्रिय; पर्याप्त व अपर्याप्त द्वीन्द्रियादि तीन, तथा संजी व असंजी पर्याप्त-अपर्याप्त पचेन्द्रिय; इन १४ बन्धक जीवस्थानों की प्ररूपणा सत्-सत्त्वा आदि आठ अधिवारों के आश्रय से की गई है।

तीसरे बन्धक द्वार में ६७ गाथायें हैं। यहाँ बन्ध के योग्य ज्ञानावरणादि आठ कर्म और उनके उत्तरभेदों के स्वरूप आदि की चर्चा की गई है।

चौथे बन्धहेतु द्वार में २३ गाथायें हैं। यहाँ बन्ध के कारणभूत मिथ्यात्व अचरित, कषाय और योग इनकी तथा इनके उत्तरभेदों की प्ररूपणा की गई है।

पाचवे बन्धविधान द्वार में १८५ गाथायें हैं। यहाँ बाध गये कर्म के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के आश्रय से बन्ध, उदय उदरणा और सत्त्व का विस्तार से विचार किया गया है।

दूसरे विभाग में प्रथमः १०१ गाथाओं के द्वारा कर्मप्रकृति के अनुसार बन्धन, संक्रम, उदरणा और उपशमना करणों का निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् ३ गाथाओं में निघर्षित-निकाचना करणों का विचार करते हुए अन्त में १५६ गाथाओं द्वारा सावि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव बन्ध के संक्षेप का विवेचन किया गया है।

इन पर एक टीका रोगेज और दूसरी भा. मलयगिरि द्वारा विरचित है। यह इन दोनों टीकाओं के साथ मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर बम्बई से तथा केवल स्तोत्र टीका के साथ सेठ देवचन्द लालभाई जैन

पुस्तकोद्धार कण्ड बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अधुबोध, अनुदयवती प्रकृति, अवबर्णकरणाद्या, उदयवती और उदीरणा आदि।

स्वो. नु.—अवबोधनं, अधुवसत्कर्म, अधुबोध, अनभिपृहीत मिथ्यात्व, उदयवती और उदय-सकमोत्कृष्ट आदि।

मलय. नु.—अधुवबन्ध, अधुवसत्कर्म, अधुबोध, अनुदयवती प्रकृति, उदयवती और उदयसकमो-त्कृष्ट आदि।

६४. सप्ततिकाप्रकरण (षष्ठ कर्मबन्ध)—यह किसके द्वारा रचा गया है, यह ज्ञात नहीं है। वैसे यह चन्द्राणि महत्तर प्रणीत माना जाता है। आत्मानन्द जैन सभा भावनगर से प्रकाशित संस्करण के अनुसार इसमें ७२ गाथाएँ हैं। यहाँ सर्वप्रथम यह सूचना की गई है कि मैं सिद्धपदों के आश्रय से—प्रतिष्ठित पदों से युक्त कर्मप्रकृतिप्राप्तादि प्राचीन ग्रन्थों के आधार से अवका जीवस्थान-गुणस्थानरूप सिद्धपदों के आश्रय से—बन्ध, उदय और सत्कारूप प्रकृतिस्थानों के महान् धर्मयुक्त संज्ञेय को कहूँगा, जो दृष्टिवाद से निकला है। आगे प्रश्न उठाया गया है कि कितनी प्रकृतियों को बांधता हुआ जीव कितनी प्रकृतियों का वेदन करता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि मूल और उत्तर प्रकृतियों में इससे सम्बद्ध भगो के अनेक विकल्प हैं। आगे मूल प्रकृतियों के आश्रय से इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मूल प्रकृतियों के बन्धक चार प्रकार के हैं—घाठ के बन्धक, सात के बन्धक, छह के बन्धक और एक के बन्धक। मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक आयु के बन्धकाल में घाठ के बन्धक है। इनके घाठ का बन्ध, घाठ का उदय और सत्ता भी घाठों की है।

आयुबन्ध के बिना सात के बन्धक मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिबाधरसांपराय तक है। इनके सात का बन्ध, घाठ का उदय और घाठों की सत्ता रहती है।

सूक्ष्मनाम्नाराय गुणस्थानवर्ती आयु और मोहनीय के बिना छह के बन्धक हैं। इनके घाठ का उदय और घाठों की सत्ता रहती है।

उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगिकेवली ये एक मात्र वेदनीय के बन्धक हैं। इनमें उपशान्त-कषाय के एक का बन्ध, मोहनीय के बिना सात का उदय और सत्ता घाठों की है। क्षीणकषाय के एक का बन्ध, सात का उदय और मोहनीय के बिना सात की ही सत्ता है। सयोगिकेवली के एक का बन्ध, चार (प्रधानी) का उदय और चार की ही सत्ता है।

अयोगिकेवली के बन्ध एक का भी नहीं है, उनके उदय चार का और सत्ता भी चार की है।

इसकी विवर्दशक तालिका—

गुणस्थान	बन्ध	उदय	सत्ता	विशेष
१-७	८	८	८	आयुर्बन्धकाल में
१-६	७	८	८	आयुर्बन्ध के बिना
१०	६	८	८	आयु व मोहनीय के बन्ध के बिना
११	१ (वेदनीय)	७ (मोहके बिना)	८	—
१२	१	७	७ (मोहके बिना)	—
१३	१	४	४	—

इसी क्रम से प्राये ज्ञानावरणादि प्रत्येक कर्म की उत्तरप्रकृतियों में बन्ध, उदय और सत्ता तथा संशोभी मंगों का विचार किया गया है।

तत्पश्चात् किस गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है, इसको स्पष्ट करते हुए उपसम-श्रेणि, अनन्तानुबन्धी का उपसम, यथाप्रवृत्तादिकरण, गुणश्रेणि, गुणसंक्रमण और क्षपकश्रेणि आदि का निरूपण किया गया है।

इसके ऊपर आचार्य मलयगिरि के द्वारा टीका रची गई है। इस टीका के साथ उपर्युक्त आत्मा-नन्द सभा भावनगर से शतक (५वां कर्मग्रन्थ दे.) के साथ प्रकाशित हुआ है। आचार्य मलयगिरि विरचित टीका सहित एक षष्ठ कर्मग्रन्थ जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर से भी प्रकाशित हुआ है। पर दोनों की गाथाओं में कुछ भिन्नता भी है। इसका उपयोग (टीका से) भगुरुलघु नामकर्म, भानुपूर्वी, आहारक (गरीर), आहारपर्याप्ति, उद्योत और उपषात आदि शब्दों में हुआ है।

६५. कर्मविपाक—यह गर्गोपि के द्वारा रचा गया प्रथम प्राचीन कर्मग्रन्थ है। गर्गोपि का सम्-यादि निविचल नहीं है। सम्भवतः वे विक्रम की १०वीं शताब्दी में हुए हैं। ग्रन्थगत गाथाओं की संख्या १६८ है। इसमें सर्वप्रथम बीर जितेन्द्र को नमस्कार करते हुए भगुरुपदिष्ट कर्मविपाक को संक्षेप से कहने की प्रतिज्ञा की गई है। यहाँ कर्म का निरुक्त (क्रियते इति कर्म) धर्म करते हुए यह कहा गया है कि बार गतियों में परिभ्रमण करने वाले संसारी जीव के द्वारा मिथ्यात्वादि के आश्रय से जो किया जाता है वह कर्म कहलाता है। वह प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है। उसकी मूल प्रकृतियां आठ और उत्तर प्रकृतियां एक सौ षट्ठावन हैं। मूल प्रकृतियों का नामनिर्देश करते हुए उनके लिए क्रम से पट, प्रतीहार, असि, मद्य, हृदि (काठ की बेड़ी), चित्र (चित्रकार), कुम्हार और भाण्डागारिक; ये दृष्टान्त दिये गये हैं। प्रागे क्रम से इन मूल और उत्तर प्रकृतियों का स्वरूप दिखलाया गया है।

इस पर एक व्याख्या अज्ञातकर्तृक और दूसरी एक वृत्ति परमानन्द सूरि (सम्भवतः विक्रम की १२-१३वीं शताब्दी) द्वारा विरचित है। यह जैन आत्मानन्द सभा भावनगर से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—भगुरुलघु नामकर्म, आतप नामकर्म, आहारक-कर्मणबन्धन, आहारकबन्धन, उद्योत, उपषात नामकर्म और उपभोग आदि।

व्याख्या—अज्ञोपांगनाम, भगुरुलघु नामकर्म, अनन्तानुबन्धी और अग्रत्याख्यानकोषादि।

प. वृत्ति—अन्तरायकर्म और आयुर्कर्म आदि।

६६. गोम्मटसार—इसके रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं। इनका समय विक्रम की ११वीं शताब्दी है। ये चामुण्डराय के समकालीन रहे हैं। चामुण्डराय राजा राचमल्ल के मंत्री और सेनापति थे। उनका दूसरा नाम गोम्मटराय भी रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ उन्हीं के उक्त नाम से गोम्मट-सार कहलाता है। कारण यह कि उन्हीं के ग्रन्थ पर वह भा. नेमिचन्द्र द्वारा रचा गया है। इसकी रचना षट्संख्यनामक सिद्धान्तग्रन्थ के आधार से हुई है। उन्होंने स्वयं यह कहा है कि जिस प्रकार चक्रवर्ती ने चक्ररत्न के द्वारा छह खण्ड स्वरूप चरत क्षेत्र को निर्विघ्न सिद्ध किया, उसी प्रकार मैंने बुद्धिरूप चक्र के द्वारा छह खण्डस्वरूप षट्संख्यनाम को भले प्रकार सिद्ध किया है—उसके रहस्य को हृदयगत किया है। इसके अन्तर्गत समस्त गाथाओं की संख्या १७०५ है। वह जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड इन दो भागों में विभक्त है।

जीवकाण्ड—इस विभाग में ७३३ गाथाएँ हैं। इसमें गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा,

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ४, पृ. १२७.

२. जह चक्रेण य चक्री छन्संखं साहियं भविष्येण।

तह मइचक्रेण मया छन्संखं साहियं सम्मं ॥ गो. क. ३६७.

१४ मार्गणा धीर उपयोग; इन २० प्ररूपणाओं का वर्णन किया गया है। गुणस्थान मिथ्यात्व व सासादन धादि के भेद से चौदह हैं। इनकी प्ररूपणा ६६ गाथाओं द्वारा की गई है। जीव धनन्त हैं। उनका बादर व सूक्ष्म धादि भेद युक्त जिन एकेन्द्रियत्व धादि बर्भविषेणों के द्वारा संग्रह या संक्षेप किया जाता है उन्हें जीवसमास कहा जाता है। बादर व सूक्ष्म के भेद से एकेन्द्रिय दो प्रकार के तथा संज्ञी व अज्ञेयी के भेद से पंचेन्द्रिय भी दो प्रकार के हैं। इन चार के साथ द्वीन्द्रिय धादि तीन के ग्रहण करने पर सात होते हैं। ये सातों पर्याप्त भी होते हैं धीर अपर्याप्त भी। इस प्रकार सब भेद जीवहू होते हैं। ये ही जीवसमास माने जाते हैं। इन सबकी प्ररूपणा यहाँ ४७ (७०-११६) गाथाओं द्वारा की गई है।

आहार-शरीर धादि के भेद से पर्याप्तिया छह हैं। पर्याप्ति नामकर्म के उदय से यथायोग्य अपनी अपनी पर्याप्तियों के पूर्ण हो जाने पर जीव पर्याप्त कहलाता है। इन पर्याप्तियों का प्रारम्भ तो एक साथ हो जाता है, पर उनकी पूर्णता क्रम से होती है। जब तक शरीर-पर्याप्ति पूर्ण नहीं हो जाती तब तक जीव निवृत्त्यपर्याप्त कहलाता है। अपर्याप्त नामकर्म का उदय होने पर अपनी योग्य पर्याप्तियों की पूर्णता तो नहीं हो पाती धीर अन्तर्महूर्त के भीतर ही जीव मरण को प्राप्त हो जाता है। ऐसे जीव अपर्याप्त कहे जाते हैं। इस सबकी प्ररूपणा यहाँ ११ (११७-२७) गाथाओं द्वारा की गई है।

पांच इन्द्रियाँ, मनस्व धादि तीन बल, भ्रानपाप (स्वासोच्छ्वास) और धाद्यु ये १० प्राण कहलाते हैं। इनका वर्णन यहाँ ५ (१२८-३२) गाथाओं में किया गया है।

आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार सजायें हैं। इनका वर्णन ६ (१३३-३८) गाथाओं में किया गया है।

जिन व्यवस्थाओं के द्वारा जीवों का मार्गण या अभ्यवेषण किया जाता है वे मार्गणायें कहलाती हैं। वे चौदह हैं, जो इस प्रकार हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेख्या, अभ्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार। इन सब का वर्णन यहाँ क्रम से विस्तारपूर्वक किया गया है। यह अधिकार सबसे विस्तृत है जो ५३२ (१३६-६७०) गाथाओं में पूर्ण हुआ है। इस अधिकार के अन्तर्गत लेख्या मार्गणा की प्ररूपणा निर्देश, वर्ण, परिणाम, संक्रम, कर्म, लक्षण, गति, स्वामी, साधन, संख्या, क्षेत्र, स्पर्श, काल, अन्तर, भाव और अन्तराधिकार इन १६ अन्तराधिकारों के द्वारा ४८८-५५५ गाथाओं में की गई है।

वस्तु के जानने-देखने रूप जो जीव का चेतनभाव है वह उपयोग कहलाता है। वह साकार और निराकार के भेद से दो प्रकार का है। साकार उपयोग जहाँ वस्तु को विशेषरूप से ग्रहण करता है वहाँ निराकार उपयोग उसे बिना किसी प्रकार की विशेषता के सामान्यरूप से ही ग्रहण किया करता है। साकार उपयोग ज्ञान और निराकार उपयोग दर्शन माना गया है। अपने भेद-अभेदों के साथ इसका वर्णन यहाँ ५ (६७१-७५) गाथाओं में किया गया है।

आगे गुणस्थान और मार्गणाओं के आश्रय से पृथक्-पृथक् पूर्वोक्त बीस प्ररूपणाओं का यथायोग्य विचार किया गया है (६७६-७०४)। अन्त में गौतम स्वविर को तमस्कार करते हुए गुणस्थान और मार्गणाओं में आलाप का विवरण कराया गया है। सामान्य, पर्याप्त और अपर्याप्त ये तीन आलाप हैं। अपर्याप्त के दो प्रकार हैं—निवृत्त्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त। इनमें से मिथ्यात्व गुणस्थान में ये दोनों ही प्रकार सम्भव हैं। आसादन, असंयतसम्यक्वृत्ति और अमत्तविरत इन गुणस्थानों में निवृत्त्यपर्याप्त की तो सम्भावना है, पर लब्ध्यपर्याप्त की सम्भावना नहीं है। समुद्घात व्यवस्था में योग की अपेक्षा संयोगकेवली के भी अपर्याप्तता सम्भव है। इस प्रकार उपर्युक्त पाँच गुणस्थानों में सामान्य, पर्याप्त और अपर्याप्त ये तीनों आलाप सम्भव हैं। शेष नौ गुणस्थानों में एक पर्याप्त ही सम्भव है। बहो कम मार्गणाओं में ही यथासम्भव समझना चाहिए।

कर्मकाण्ड—इसकी गाथा संख्या ६७२ है। इसमें ये नौ अधिकार हैं—प्रकृतिसमुत्कीर्तन, लक्ष-

उदय-सत्त्व, सत्त्वस्थानभंग, त्रिचूलिका, स्थानसमुत्कीर्तन, प्रत्यय, भावचूलिका, त्रिकरणचूलिका और कर्म-स्थितिरचना ।

(१) प्रकृतिसमुत्कीर्तन—जीव शरीरनामकर्म के उदय से सशरीर होकर कर्म को—ज्ञानावरणादिरूप परिणत होने वाले पुद्गलस्कन्धों को—तथा लोकर्म को—भौदारिकादि शरीररूप परिणत होने वाले पुद्गलस्कन्धों को—भी प्रतिसमय ग्रहण किया करता है । द्रव्य और भाव के भेद से कर्म दो प्रकार का है । ग्रहीत पुद्गलस्कन्ध का नाम द्रव्यकर्म और उसमें उत्पन्न होने वाली ज्ञान-दर्शन के धावरणारूप धाति का नाम भावकर्म है । ये कर्म मूल में ज्ञानावरणादिरूप घाट हैं । उनके उत्तरभेद सब एक ही घटतालीस हैं । जो जीव के स्वभावभूत ज्ञानादि गुणों का विघात करते हैं वे धातिकर्म कहलाते हैं और जो अभावात्मक (प्रतिजीवी) गुणों का विघात करते हैं वे अधातिकर्म कहलाते हैं । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म धाति हैं, शेष वेदनीय आदि चार कर्म अधाति हैं । वेदनीय कर्म के उदय से जो बाधायुक्त सुख संसार में प्राप्त होता था उसका अभाव उस वेदनीय कर्म के अभाव में हो जाता है । प्रायुर्कर्म के उदय से जो मनुष्यादि के किसी विशेष शरीर में परतन्त्र रहना पड़ता था उस परतन्त्रता का अभाव इस प्रायुर्कर्म के अभाव में हो जाता है । नामकर्म के उदय से जो स्थूलता दृष्टिगोचर होती थी उसका लोप इस नामकर्म के अभाव में हो जाता है । गोत्रकर्म के उदय से जो ऊँचे-पन और नीचेपन का अनुभव होता था वह उस गोत्रकर्म का अभाव हो जाने पर नष्ट हो जाता है । इस प्रकार ये धातियाँ कर्म अभावात्मक गुणों के विघातक तो हैं, पर धातिकर्मों के समान सद्भावस्वरूप ज्ञानादि के विघातक वे नहीं हैं । इस प्रकार विविध कर्मों के स्वरूप को प्रगट करते हुए उनकी धाति व अधाति आदि अनेक अवस्थाओं का यहाँ विवेचन किया गया है । अन्त में उस कर्म के विषय में नामादि निमेषविधि की योजना की गई है ।

(२) बन्ध-उदय-सत्त्व—इस अधिकार में गुणस्थान और मार्गणाद्यो के आश्रय से प्रकृति-स्थिति आदि भेदों में विभक्त बन्ध, उदय और सत्त्व की प्ररूपणा की गई है । इस अधिकार को ग्रन्थकार ने स्तव कहा है । उसका स्वरूप बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि जो शास्त्र विवक्षित सत्त्व का सर्वांगपूर्ण विस्तार या संक्षेप से वर्णन करने वाला है वह स्तव कहलाता है । एक भग के वर्णन करने वाले शास्त्र को स्तुति और एक भग के एक अधिकार के प्ररूपक शास्त्र को धर्मकथा कहा जाता है । बन्ध का वर्णन करते हुए यहाँ सामान्य से यह निर्देश किया गया है कि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध सम्भवत्त्व के रहते हुए—असंयतसम्यग्दृष्टि से अपूर्वकरण गुणस्थान तक—ही होता है । प्रायु का बन्ध मिश्र गुणस्थान (तृतीय) और मिश्रकाययोग (निर्वृत्त्यपर्याप्त अवस्था) में नहीं होता, वह उक्त तीसरे गुणस्थान का छोड़ पहले से सातवें गुणस्थान तक होता है । इस अधिकार के अन्त में ग्रन्थकार ने यह कहा है कि जिस प्रकार चक्रवर्ती चक्ररत्न के द्वारा छह लण्डरूप मरत क्षेत्र पर निर्बाध विजय प्राप्त करता है उसी प्रकार मीने बुद्धिरूपी चक्ररत्न के द्वारा षट्लण्ड को—जीवस्थानादि छह लण्डों में विभक्त षट्षण्डागम को—सिद्ध किया है । ग्रन्थकार यह है कि षट्लण्डात्मक सिद्धान्त का गम्भीर अध्ययन करके उसके सारभूत इस ग्रन्थ की रचना उनके द्वारा की गई है ।

(३) सत्त्वस्थान—इस अधिकार में गुणस्थान के आश्रय से सत्त्वस्थानों की प्ररूपणा की हुई है । विवक्षित गुणस्थान में जितनी कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में विद्यमान हो उनके समुदाय का नाम सत्त्वस्थान है । प्रकृतियों की भिन्नता के होने पर भी संख्या में भेद न होना, इसे भंग कहा जाता है । ऐसे भगों के साथ किस गुणस्थान में कितने सत्त्वस्थान सम्भव हैं, इसका विचार इस अधिकार में किया गया है ।

(४) त्रिचूलिका—इस अधिकार की प्रथम चूलिका में विवक्षित प्रकृतियों का बन्ध क्या अपने-उदय के पूर्व में नष्ट होता है, अपने उदय के पश्चात् नष्ट होता है, अथवा दोनों साथ ही नष्ट होते हैं; उनका बन्ध क्या अपने उदय के साथ होता है, अन्य प्रकृतियों के उदय के साथ होता है, या अपने और अन्य प्रकृतियों के उदय के साथ होता है; तथा वह बन्ध क्या सान्तर होता है, निरन्तर होता

हैं, अथवा सान्तर-निरन्तर होता है; इन नौ प्रश्नों का समाधान किया गया है^१। दूसरी जूलिका में उद्बलन, विध्यात, अथःप्रवृत्त, गुण और सर्व; इन पांच संक्रमणों का विचार किया गया है। इस दूसरी जूलिका के प्रारम्भ (४०८) में अपने गुरु अमयनन्दी का स्मरण करते हुए कहा गया है कि अमयनन्दी का वह श्रुत-समुद्र पाप-मन को दूर करे, जिसके मथन के बिना ही नेमिचन्द्र प्रतिशय निर्मल हो गया। तीसरी जूलिका को प्रारम्भ करते हुए (४३६) में यह कहा गया है कि बीरेन्द्रनन्दी (अथवा बीरनन्दी और इन्द्रनन्दी) का वत्स में (नेमिचन्द्र) उन अमयनन्दी गुरु को नमस्कार करता हूँ, जिनके चरणों के प्रसाद से अनन्त ससाररूप समुद्र से पार हुआ। इस तीसरी जूलिका में बन्ध, उत्कर्षण, संक्रम, अपकर्षण, उदी-रणा, सत्त्व, उदय, उपशामन, निवृत्ति और निकासना इन दस करणों का विवेचन किया गया है।

(५) बन्ध-उदय-सत्त्वस्थानसमरूपीर्तन—इस अधिकार में बन्ध, उदय और सत्त्व के साथ प्रकृतियों के विभिन्न स्थानों का निरूपण किया गया है।

(६) प्रत्ययप्रकल्पना—इस अधिकार को प्रारम्भ करते हुए प्रदत्तः (७८५) श्रुतसार के पार-गामी इन्द्रनन्दी के गुरु और उत्तम बीरनन्दी के स्वामी ऐसे अमयनन्दी को नमस्कार किया गया है^२। पश्चात् यहाँ बन्ध के कारणभूत पाच विध्यात्त्व, बाह्य प्रकार की अविरति, पक्षीस कथाय और पन्द्रह योग इन सत्तावन भेद (५+१२+२५+१५=५७) रूप आख का गुणस्थानक्रम से निरूपण किया गया है।

(७) भावजूलिका—यहाँ प्रारम्भ (८११) में गोम्मट जिनेन्द्र-पन्थ को नमस्कार करते हुए गोम्मट पदार्थ संयुक्त व गोम्मटसंग्रह की विषयभूत भावगत जूलिका के कहने की प्रतिज्ञा की गई है। पश्चात् की गई इस प्रतिज्ञा के अनुसार यहाँ अपने उत्तरभेदों के साथ औपशमिक, आधिक, मिश्र, औद्-यिक और पारिणामिक इन भावों का विवेचन किया गया है।

(८) चिरकरणजूलिका—इस अधिकार में मोहनीय की इक्कीस (दर्शनमोहनीय तीन और अन-न्तानुबन्धितचतुष्टय से रहित) प्रकृतियों के साथ व उपशामन के कारणभूत अथःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तकरण इन तीन परिणामों की प्रकल्पना की गई है।

(९) कर्मस्थितिरचनासम्भाव—बाँधे हुए कर्म कब तक उदय को प्राप्त नहीं होते और फिर अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार वे किस क्रम से निर्जीण होते हैं, इस सबका विचार इस अन्तिम अधिकार में किया गया है।

अन्तिम प्रशस्ति में अधिकार ने कर्म की निर्जरा और तत्त्व के अवधारण के लिए गोम्मटदेव के द्वारा गोम्मटसंग्रहसूत्र गोम्मट के रचे जाने का संकेत करते हुए यह कहा है कि जिनमें गणधरदेवादि ऋद्धिप्राप्त महर्षियों के गुण विद्यमान हैं ऐसे वे अजितसेन स्वामी जिसके गुरु हैं वह राजा (चामुण्डराय या गोम्मटराय) जयवन्त हो। गोम्मटसंग्रहसूत्र, गोम्मटशिक्षर के ऊपर गोम्मटजिन और गोम्मटराय (चामुण्डराय) के द्वारा निमित्त दक्षिणकुम्भकुटजिन जयवन्त हों। जिस गोम्मट के द्वारा निमित्त प्रतिमा का मुख सर्वार्थसिद्धि के देवों और सर्वाधि व परमाधि के धातक योगियों के द्वारा देखा गया है वह गोम्मट जयवन्त हो। जिसने ईश्वरप्रारम्भ नाम के अनुपम जिनभवन का निर्माण कराया वह चामुण्डराय जयवन्त हो। जिस गोम्मटराय के द्वारा खड़े किये गये स्तम्भ के ऊपर जो यक्षमूर्तियाँ हैं उनके मुकुट की किरणों से सिद्धों के पाद धोये जाते हैं, वह गोम्मटराय जयवन्त हो। जिसने गोम्मटसूत्र के लिखने में देशी (?) की वह गोम्मटराय, अपर नाम बीरमार्तण्डी, चिरकाल जीवित रहे।

१. इस सबका विस्तृत विवेचन बट्टखण्डागम के द्वितीय खण्ड बन्धस्वामित्वविषय (पृ. ८) में किया गया है।
२. संस्कृत टीका में इस गाथा का अर्थ करते हुए अमयनन्दी इन्द्रनन्दि गुरु और बीरनन्दिनाथ इन तीनों को ही किये गये नमस्कार का निर्देश किया गया है तथा वहाँ गाथामें अप्रयुक्त 'थ' शब्ध का अभ्याहार किया गया है। स्व. पं. नाबूराम जी प्रेमी ने इन्द्रनन्दी और बीरनन्दी को आ. नेमिचन्द्र का ज्येष्ठ गुरुभाई बताया है (जैन साहित्य और इतिहास पृ. २७०)।

इसके ऊपर एक अग्रमयन्त्राचार्य (वि. की १४वीं शती) विरचित मन्दप्रबोधिका नाम की संस्कृत टीका और दूसरी नेमिचन्द्राचार्य (वि. की १४वीं शती) विरचित जीवतत्त्वप्रदीपिका संस्कृत टीका है। इनमें मन्दप्रबोधिका टीका जीवकाण्ड की २२वीं गाथा तक ही उपलब्ध है। इन दो टीकाओं के अतिरिक्त एक सम्यक्सान्धिका नाम की हिन्दी टीका भी है, जो पण्डितप्रवर टोडरमल जी द्वारा जीवतत्त्वप्रदीपिका का अनुसरण कर विस्तार से लिखी गई है। इन तीनों टीकाओं के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ गांधी हरिभाई देवकरण जैन ग्रन्थमाला कलकत्ता से प्रकाशित हो चुका है। संक्षिप्त हिन्दी के साथ वह परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई से भी दो भागों में प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अण्डर, अष्टःप्रवृत्तकरण, अनिन्द्य जीव, अनिवृत्तिकरण गुणस्वान, अनिःसृतावग्रह, अनुधोग-द्वार श्रुतज्ञान और अग्रमत्तसयत आदि।

टीका—अक्षरात्म श्रुतज्ञान, अगाध, अगुरुलघु नामकर्म, अष्टःप्रवृत्तसंक्रम, अनन्तानुबन्धिकोधादि, अनुकृष्टि, अनुत्तरोपपादिकदशा, अग्रस्याख्यानावरणकोधादि, आक्षेपिणी कथा और उद्दलनसंक्रम आदि।

६७. लब्धिसार—यह भी उपयुक्त नेमिचन्द्राचार्य की कृति है। इसमें दर्शनलब्धि, चारित्र्य-लब्धि और आर्थिकचारित्र्य ये तीन अधिकार हैं। इनकी गाथासंख्या इस प्रकार है—१६७+२२४+२६१=६५२। जैसा कि ग्रन्थकार ने पंचपरमेष्ठियों की वन्दना करते हुए प्रारम्भ में सूचित किया है, तदनुसार धस्तुतः दो ही अधिकार समझना चाहिए—सम्यग्दर्शनलब्धि और चारित्र्यलब्धि। उपशम और क्षय के भेद से चारित्र्य दो प्रकार का है। सम्यग्दर्शनलब्धि अधिकार में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का विचार करते हुए यह बतलाया है कि अनादि मिथ्यादृष्टि अथवा सावि मिथ्यादृष्टि जीव चारों गतियों में से किसी भी गति में प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है। विशेष इतना है कि उसे संज्ञी, पर्याप्तक, गर्भज, विशुद्ध—अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणरूप परिणामों से उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त—धीरे साकार उपयोग वात्ता होना चाहिए। सम्यक्त्वप्राप्ति के पूर्व उसके उन्मुख हुए मिथ्यादृष्टि जीव के ये पांच लब्धियाँ होती हैं—क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण। इनमें पूर्व की चार लब्धियाँ तो भव्य और अभव्य दोनों के ही सामान्यरूप से हो सकती हैं, पर अन्तिम करणलब्धि भव्य के ही होती है।

जब ज्ञानावरणादि अग्रशस्त (पाप) कर्मों की फलदानशक्ति उत्तरांतर अनन्तगुणी हीन होकर उदय को प्राप्त होती है तब उस जीव के प्रथम क्षयोपशमलब्धि होती है। इस क्षयोपशमलब्धि के प्रभाव से जो जीव के सात वेदनीय आदि प्रशस्त कर्मप्रकृतियों के बन्धयोग्य धर्मानुरागरूप परिणति होती है उसे विशुद्धिलब्धि कहा जाता है। जीव-पुद्गलादि छह द्रव्यों और नौ पदार्थों के उपदेशक आचार्य आदि की प्राप्ति को अथवा उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण-वारण की प्राप्ति को देशनालब्धि कहते हैं। उक्त तीन लब्धियों से सम्पन्न जीव अथवा आयु को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थिति को हीन करके अन्तःकोडाकोडि प्रमाण कर देता है तथा अग्रशस्त घातिया कर्मों के अनुभाग को लण्डित करके लता और दाढ़ समान दो स्थानों में स्थापित करता है, साथ ही अघातिया कर्मों के अनुभाग को जब नीम और कांजीर के समान दो भागों में स्थापित करता है तब उसके प्रायोग्यलब्धि होती है। ये चार लब्धियाँ भव्य के समान अभव्य के भी हो सकती हैं, यह कहा ही जा चुका है। उक्त चार लब्धियों के पश्चात् भव्य जीव के जो अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणरूप उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त होने वाले परिणामों की प्राप्ति होती है, इसे करणलब्धि कहा जाता है। यह अभव्य जीव के सम्भव नहीं है। इसकी प्राप्ति के अन्तिम समय में जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यहाँ प्रसंगवश गुणस्वान के अनुसार विभिन्न प्रकृतियों के नामोल्लेखपूर्वक उनके बन्ध आदि की हीनता के क्रम को दिखलाया गया है।

चारित्र्यलब्धि—यह देश और सकल चारित्र्य के भेद से दो प्रकार की है। इनमें देशचारित्र्य को मिथ्यादृष्टि और अक्षयतसम्यग्दृष्टि प्राप्त करते हैं तथा सकलचारित्र्य को इन दोनों के साथ देशसंयत

१. देखिये अनेकान्त वर्ष ४, वि. १, पृ. ११३-२० में 'गोम्मटसार की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका, उसका कर्तृत्व और समय' शीर्षक लेख।

भी प्राप्त करता है। मिथ्यादृष्टि जब उपशमसम्बन्ध के साथ देशचारित्र के ग्रहण के उन्मुख होता है तब वह जिस प्रकार सम्बन्ध की प्राप्ति के लिए अथःप्रवृत्त भादि तीन करणों को करता है उसी प्रकार इस देशचारित्र की प्राप्ति के लिये भी उक्त तीन करणों को करता है और उन तीन करणों के अन्तिम समय में वह उक्त देशचारित्र को प्राप्त कर लेता है। परन्तु यदि उक्त मिथ्यादृष्टि वेदक (आयोपशमिक) सम्बन्ध के साथ उक्त देशचारित्र के ग्रहण के उन्मुख होता है तो अथःप्रवृत्तकरण और अपूर्वकरण इन दो परिणामों के अन्तिम समय में वह देशचारित्र को प्राप्त कर लेता है।

सकल चारित्र तीन प्रकार का है—आयोपशमिक, प्रोपशमिक और क्षायिक। इनमें जो जीव उपशमसम्बन्ध के साथ आयोपशमिक चारित्र के ग्रहण में उद्यत होता है उसके उसकी प्राप्ति की विधि प्रथमोपशमसम्बन्ध की प्राप्ति के समान है। जो वेदकसम्बन्धित प्रोपशमिक चारित्र के ग्रहण में उद्यत होता है उसकी विधि भिन्न है। उसका निरूपण इस अधिकार में विशेषरूप से किया गया है (२०५-३६१)।

आगे आधिकचारित्र की प्राप्ति में की जानेवाली क्रियाओं का वर्णन विस्तार से किया गया है। इसी को क्षपणासार कहा जाता है।

गोमटसार के समान इस पर भी नेमिचन्द्राचार्य की संस्कृत टीका और पण्डितप्रवर टोडरमलजी विरचित हिन्दी टीका भी है। संस्कृत टीका प्रोपशमिक चारित्र के विधान तक (पा. ३६१ तक) ही उपलब्ध है आगे आधिक चारित्र के प्रकरण में वह उपलब्ध नहीं है। इससे पं. टोडरमलजी के द्वारा पा. ३६१ तक तो उक्त संस्कृत टीका के अनुसार व्याख्या की गई है और तत्पश्चात् आचार्य माधवचन्द्र त्रैविश द्वारा विरचित संस्कृत गद्यरूप क्षपणासार के आधार से वह की गई है। पं. टोडरमलजी ने इस क्षपणासार की रचना का निर्देश करते हुए यह बतलाया है कि उक्त ग्रन्थ आचार्य माधवचन्द्र द्वारा भोज नामक राजा के मंत्री बाहुबली के परिजानार्थ रचा गया है। उक्त दोनों टीकाओं के साथ यह हरिभाई देवकरण जैन ग्रन्थमाला कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग अथःप्रवृत्तकरण और अपूर्वकरण गुणस्थान भादि शब्दों में हुआ है—

६८. त्रिलोकसार—यह भी पूर्वोक्त नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के द्वारा रचा गया है। इसमें १ छह अधिकार हैं—लोकसामान्य, भवनलोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिर्लोक, वैमानिकलोक और नरतिर्यग्लोक। इनमें गद्यांशों का प्रमाण क्रमशः इस प्रकार है—२०७+४२+५२+१४६+११०+४५८=१०१८।

(१) लोकसामान्य—जहाँ जीवादि छह द्रव्य देखे जाते हैं या जो उन छह द्रव्यों से व्याप्त है वह लोक कहलाता है। वह अनन्त आकाश के ठीक मध्य में अवस्थित है। वह अनादिनिश्चय होता हुआ स्वभावसिद्ध है—उसका कोई निर्माता नहीं है। आकाश दो प्रकार का है—लोकआकाश और भ्रूलोकआकाश। जितने आकाश को व्याप्त करके वर्म, अधर्म, आकाश और कालाणु अवस्थित हैं तथा जीव एवं पुद्गलों का गमनागमन जहाँ तक सम्भव है उतना आकाश लोकआकाश कहलाता है। उसके सब ओर जो अनन्त शुद्ध आकाश है वह भ्रूलोकआकाश माना गया है। उक्त लोक अधः, मध्य और ऊर्ध्व के भेद से तीन प्रकार का है। आधे मृदंग के ऊपर एक दूसरे मृदंग को खड़ा रखने पर जो उसका आकार होता है वैसा ही आकार इस लोक का है। इस प्रकार इस लोक का वर्णन करते हुए अनेक भेदरूप लौकिक और लोकोत्तर मानों, तीन वातबलयों, रत्नप्रभादि पृथिवियों और उनमें रहने वाले नारकियों का निरूपण किया गया है।

(२) भवनलोक—इसमें असुरकुमार-नागकुमारादि दस प्रकार के भवनवासी देवों की प्ररूपणा की गई।

(३) व्यन्तरलोक—इसमें किन्नर व किम्बुख आदि आठ प्रकार के व्यन्तर देवों की प्ररूपणा की गई है।

(४) ज्योतिर्लोक—यहाँ चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे इन पांच प्रकार के ज्योतिषी देवों की प्ररूपणा करते हुए प्रथमतः मध्यलोक के अन्तर्गत १६ अग्र्यन्तर और १६ अन्तिम द्वीपों के नामों

का निर्देश किया गया है। तत्पश्चात् जम्बूद्वीपादि के विस्तारादि का वर्णन करते हुए उक्त ज्योतिषियों के स्थान, विमान, संचार, ताप व तम (ग्रन्थकार) के क्षेत्र, अधिक मास, दक्षिण-उत्तरायण और संस्था आदि का निरूपण किया गया है।

(५) वैमानिकलोक—इस अधिकार में १६ कल्पों के नामों का निर्देश करते हुए उनमें १२ इन्द्रों की व्यवस्था, कल्पातीत (६ ग्रैवेयक, ६ अनुदिश और ५ अनुत्तर) विमान, इन्द्रकादि विमानों का विस्तार-रादि, देव-देवियों वः विंक्त्या और उनके वैभव आदि की प्ररूपणा की गई है।

(६) वर-तिर्यग्लोक—यहाँ भरतादि सात क्षेत्र, हिमवान् आदि छह कुलपर्वत, इन पर्वतों के ऊपर स्थित तालाबों में रहनेवाली श्री-ह्रीं आदि देवियां, उनका परिवार, उक्त तालाबों से निकलनेवाली गंगा-सिन्धु आदि चौदह नदियां, पूर्वोक्त क्षेत्र-पर्वतादिको का विस्तारादि व उसके लाने के गणितसूत्र, विदेह-क्षेत्र के मध्य में स्थित मेरु पर्वत, उसके ऊपर पाण्डुक वनमें स्थित तीर्थकराभिषेक-शिलायें, विदेहक्षेत्र में वर्षा आदि का स्वरूप, वत्सीस विदेह और तद्गत नगरियों (राजधानियों) के नाम, विजयार्धगत ११० नगरियों के नाम, पर्वतों पर स्थित कूटों के नाम, चतुर्थ काल में होनेवाले क्षत्ताकापुत्र तथा पांचवें व छठे कालों में होनेवाले परिणमन; इत्यादि यथाप्रसंग कितने ही विषयों की प्ररूपणा की गई है। अन्त में तन्वीश्वरद्वीपस्य ५२ जिनभवनों का निर्देश कर अष्टाह्निक पर्व में वहाँ इन्द्रादिकों के द्वारा की जाने वाली पूजा का उल्लेख करते हुए उत्तम, मध्यम और जघन्य अकृत्रिम जिनभवनों के रचनाक्रम को विललाया गया है।

प्रत्येक अधिकार के प्रारम्भ में ग्रन्थकार द्वारा वहाँ वर्तमान अकृत्रिम जिनभवनों की वन्दना की गई है। सर्वान्त में अपनी लघुता को प्रगट करते हुए ग्रन्थकार ने यह कहा है कि अभयनन्दी के वरस अरुणभूत के ज्ञाता भुक्त नेमिचन्द्र मुनि के द्वारा यह त्रिलोकसार रचा गया है। बहुभूत आचार्य उसे क्षमा करें।

६६. पंचसंग्रह—यह आचार्य अमिनमति (द्वितीय) के द्वारा विक्रम स. १०७३ में रचा गया है। इसमें पांच पञ्चिष्ठ हैं। जैसा कि प्रारम्भ (श्लोक २) में संकेत किया गया है। तदनुसार इसमें वन्धक, बध्यमान, बन्धस्वामी, बन्धकारण और बन्धभेद ये पांच प्रकरण हैं। पञ्चमन्या उसकी इस प्रकार है—
 $३५३ + ४५ + १०६ + ७७६ + ७६ + ६० = १४५५$ । बीच-बीच में बहुतसा गद्य भाग भी है।

वन्धक प्रकरण में कर्म के बन्धक जीवों की प्ररूपणा गुणस्थान, जीवसमाम, पर्याप्ति प्राण, संज्ञा, मार्गणा और उपयोग आदि के आश्रय से की गई है।

दूसरे प्रकरण में बध्यमान—बन्ध को प्राप्त होनेवाली ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियों—की प्ररूपणा की गई है।

तीसरे प्रकरण में वन्ध के स्वामियों की प्ररूपणा करते हुए बन्ध, उदय और सत्त्व की व्युच्छित्त आदि का विवेचन किया गया है।

चौथे प्रकरण में बन्धकारणों का विचार करते हुए प्रथमतः चौदह जीवसमामों में से एकैन्द्रिय आदि जीवों में कहा कितने वे सम्भव हैं, इसका विवेचन किया गया है। आगे यही विवेचन मार्गणाक्षों के आश्रय से किया गया है। तत्पश्चात् गत्यादि मार्गणाक्षों एवं जीवसमाम आदि में कहा कितने गुणस्थान, उपयोग, योग और प्रत्यय (कारण) सम्भव हैं; इत्यादि का विचार किया गया है।

आगे मार्गणाक्षों के आश्रय में बन्धस्थान, उदयस्थान और सत्त्वस्थानों की प्ररूपणा करते हुए अन्त में गुणस्थान और मार्गणास्थानों में कौन जीव कितनी और कितनी-कितनी प्रकृतियों के बन्धक है, इत्यादि का विचार किया गया है।

यहाँ पञ्चिकावली में पृ. ४८ पर जीवसमाम, पृ. ५३ पर प्रकृतिस्तव, पृ. ७२ पर कर्मबन्धस्तव, पृ. १४६ पर जनक और पृ. २२५ पर सन्निप्रकरण के समाप्त होने की सूचना की गई है।

इसके अतिरिक्त पृ. ४८ पर महावीर को नमस्कार करते हुए प्रकृतिस्तव के कहने की, पृ. ५

पर सर्वशो को नमस्कार कर बन्ध, उदय और सत्त्व के उन्मेष के कहने की, पृ. ७३ पर जितेन्द्रवचना-मृत का जयकार करते हुए दृष्टिवाद से उद्धृत करके जीव-गुणस्थानगोचर कुछ श्लोको के कहने की, पृ. १४६ पर भरहृत्तो की नमस्कार करके अपनी शक्ति के अनुसार सत्तति के कहने की, तथा पृ. २२६ पर वीर जितेश्वर को नमस्कार कर सामान्य (गुणस्थान) और विशेष (मार्गान्धेद) रूप से बन्ध-स्वामित्व के कहने की प्रतिज्ञा की गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मा. दि. जैन ग्रन्थमाला समिति बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग प्रकृतसमुद्घात, प्रगृहीतमिथ्यात्व, अनिवृत्तिकरणगुस्वान, अपूर्वकरण और असयतसम्यग्दृष्टि आदि शब्दों में हुआ है।

१००. जंबूद्वीपपणसी—यह आचार्य पद्मनन्दी द्वारा रचा गया है। उनका समय विक्रम की ११वीं शताब्दी हो सकता है। इसमें १३ उद्देश व समस्त गाथाओं की संख्या २४२६ है। उद्देशकम से उसका विषयपरिचय इस प्रकार है—

(१) उपोद्घातप्रस्ताव—यहाँ सर्वप्रथम पञ्चगुह्यों का वर्णन करते हुए आचार्यपरम्परा के अनुसार जिनदृष्ट द्वीप-सागरों की प्रशंति के कहने की प्रतिज्ञा की गई है। पश्चात् वर्धमान भगवान् को नमस्कार करते हुए श्रुतगुह्यो की परिपाटी में प्रथमतः गीतम, सुषमं (लोहार्य) और जम्बूद्वीप की इन तीन अनुबद्ध केवलियों का निर्देश किया गया है। तत्पश्चात् नन्दी आदि पाँच श्रुतकेवलियों से लेकर सुमद्र आदि चार आचारागधरों तक की परम्परा का निर्देश किया गया है। फिर आचार्यपरम्परा व आनुपूर्वके अनुसार द्वीप-सागरों की प्रशंति के कहने की प्रतिज्ञा की गई है।

आगे चलकर समस्त द्वीप-सागरों की संख्या का निर्देश करते हुए जम्बूद्वीप के विस्तारादि, उसकी वेष्टित करनेवाली जगती और जम्बूद्वीप के अन्तर्गत क्षेत्र-पर्वतादिको की संख्या मात्र का निर्देश किया गया है। इस उद्देश में ७४ गाथायें हैं।

(२) भरतैरावतवर्षवर्षन—यहाँ भरतादि सात क्षेत्रों और उनको विभाजित करनेवाले हिमवान् आदि छह कुलपर्वतों का निर्देश करते हुए भरत व ऐरावत क्षेत्रों और उनमें प्रवर्तमान अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी कालों की प्ररूपणा की गई है। इसमें २१० गाथायें हैं।

(३) पर्वत-नदी-भोगभूमिबर्णन—इस उद्देश में कुलपर्वतों, मानुषोत्तर, कुण्डल एव रुक्क पर्वतों; नदियों और हैमवतादि क्षेत्रों में प्रवर्तमान कालों (भोगभूमियों) की प्ररूपणा की गई है। इसमें २४६ गाथायें हैं।

(४) सुवर्शन मेरु—यहाँ मन्दर आदि पर स्थित जिनभवनों का वर्णन करते हुए तीर्थंकरों के जन्माभिवेक के लिये आनेवाले सौवर्मादि इन्द्रियों की विभूति की प्ररूपणा की गई है। इसमें २६२ गाथायें हैं।

(५) मन्दर-जिनवरभवन—यहाँ मन्दर आदि पर्वतों पर स्थित जिनभवनों का निरूपण करते हुए नन्दीश्वरद्वीप, कुण्डल पर्वत, मानुषोत्तर पर्वत और रुक्क पर्वतों पर स्थित जिनभवनों की उक्त जिनभवनों से समानता प्रकट की गई है। आगे जाकर अष्टाष्टिक पर्व में जिनपूजन के लिये आनेवाले १६ इन्द्रों की शोभा को दिखलाते हुए उनके द्वारा किये जानेवाले पूजामहोत्सव की प्ररूपणा की गई है। यहाँ गाथाओं की संख्या १२५ है।

(६) देवकुल-उत्तरकुल—यहाँ विदेहक्षेत्रगत देवकुल-उत्तरकुल क्षेत्रों के विस्तारादि तथा उनमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्यादिकी प्ररूपणा की गई है। इसमें १७८ गाथायें हैं।

(७) विदेह वर्ण—यहाँ वनक्षेत्रों, देवाराण्यों, वेदिकाओं, विभगानदियों, वक्षारपर्वतों तथा कच्छा विजय और उसमें स्थित क्षेमा नगरी (राजधानी) का वर्णन किया गया है। इसमें १५३ गाथायें हैं।

(८) पूर्वविदेहविभाग—इसमें पूर्वविदेहस्य सुकच्छा आदि विजयों और उनमें स्थित क्षेमपुरी

भादि नगरियों के साथ विभंगानदियों आदिका भी वर्णन किया गया है। इसमें १६८ गाथायें हैं।

(६) अपरचिहेह—पूर्वविदेहगत कच्छा आदि के ही समान यहाँ रत्नसंचयादि नगरियों और पद्मा भादि विजयों का वर्णन किया गया है। यहाँ १६७ गाथायें हैं।

(१०) लवणसमुद्र बिभाष—यहाँ लवणसमुद्र के विस्तार आदि के साथ उनमें स्थित विविध पातालों और कृष्ण-सुवर्ण पक्षों में होनेवाली हानि-वृद्धि आदिका निरूपण किया गया है। इसमें १०२ गाथायें हैं।

(११) द्वीप-सागरावि—यहाँ वातकीलच्छ द्वीप, कासोद समुद्र और पुष्कर द्वीप का वर्णन करते हुए रत्नप्रभादि सात पृथिवियों, उनमें स्थित भवनवासी व व्यन्तर देवों, नरकों में उत्पन्न होनेवाले नार-कियों, झड़ाई द्वीपों व स्वयम्भूरमण समुद्र के पूर्व में स्थित असक्यात द्वीप-समुद्रों में उत्पन्न होनेवाले तिर्यकों तथा वैमानिक देवों की प्ररूपणा की गई है। यहाँ ३६५ गाथायें हैं।

(१२) ज्योतिषपटल—इस उद्देश्य के चन्द्र-सूर्यादि ज्योतिषी देवों की प्ररूपणा की गई है।

(१३) प्रमाणभेद—यहाँ विविध मानों का वर्णन करते हुए समय-भावली आदि कालमानों और परमाणु व तरेणु आदि क्षेत्रमानों का विवेचन किया गया है। पश्चात् प्रत्यक्ष व परोक्षरूप प्रमाणभेदों की चर्चा करते हुए सर्वज्ञताका भी कुछ विचार किया गया है। सर्वान्त में मनुष्यक्षेत्रस्थ इच्छाकार पर्वतों, यमक पर्वतों, जम्बू आदि कुक्षों, वनों, भोगभूमियों और नदियों आदि की समस्त सक्या का निर्देश करते हुए ग्रन्थकार ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—मैंने परमाणु के देशक प्रसिद्ध विजय गुरु के पास में अमृतस्वरूप जितवचन को सुनकर कुछ उद्देशों में इस ग्रन्थ को रचा है^१। माघनन्दी गुरु, उनके शिष्य सिद्धान्तमहोदधि सकलचन्द्र गुरु और उनके शिष्य श्रीनन्दी गुरु हुए। उनके (श्रीनन्दिगुरु के) निमित्त यह जम्बूद्वीप की प्रज्ञप्ति लिखी गई है^२। पश्चात्तः से सप्तम वीरनन्दीगुरु, उनके शिष्य बलनन्दी गुरु और उनके शिष्य गुणगणकसित, गारवरहित और सिद्धान्त के पारंगत पद्मनन्दी हुए। मुनि पद्मनन्दी ने विजयगुरु के पास में सुपरिशुद्ध भागम को सुनकर इसे संक्षेप में लिखा है^३। उस समय नःपतियों से पूजित शक्ति भूपास वारा नगर का प्रभु था। मुनिगणों के संप्रहों से मण्डित यह वारा नगर पाण्ड्याक्ष देश में स्थित था। इस वारा नगर में रहते हुए संक्षेप से बहुपदार्थ संयुक्त जम्बूद्वीप की प्रज्ञप्ति लिखी गई है। छद्मस्थ से विरचित इसमें जो भी प्रवचनविद्वत् लिखा गया हो, उसे सुगोपार्थ प्रवचनवत्सलता से शुद्ध कर लें^४।

इस पर तिलोपपण्णत्ती का प्रभाव

प्रस्तुत ग्रन्थ पूर्व निर्दिष्ट तिलोपपण्णत्ती की सीली पर लिखा गया है। जैसे तिलोपपण्णत्ती में सर्वप्रथम पञ्चगुरुओं की वन्दना की गई है। वैसे ही इसके प्रारम्भ भी उक्त पञ्चगुरुओं की वन्दना की गई है। विशेष इतना है कि जहाँ तिलोपपण्णत्ती में प्रथमतः सिद्धों को नमस्कार किया गया है वहाँ प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रथमतः अरिहत्तों को नमस्कार किया गया है।

ति. प. में प्रथम महाधिकार के अन्त में मानेय जिन (ऋषभनाथ) को नमस्कार करके आगे प्रत्येक महाधिकार के आदि व अन्त में क्रमशः अजितादि तीर्थंकरों को नमस्कार करते हुए अन्तिम तीर्थ महाधिकार के प्रारम्भ में शान्ति जिन को नमस्कार किया गया है। तत्पश्चात् इसी तीर्थ महाधिकार के अन्त में कुन्त्य आदि वर्षमानात्त शेष तीर्थंकरों को नमस्कार किया गया है। इसी प्रकार इस जं. दो. प. में भी द्वितीय उद्देश के प्रारम्भ में ऋषभ जितेन्द्र को और अन्त में अजित जितेन्द्र को नमस्कार किया गया है। इसी क्रम से आगे प्रत्येक उद्देश के आदि व अन्त में एक-एक तीर्थंकर को नमस्कार करते हुए तेरहवें अधिकार के अन्त में वीर जितेन्द्र को नमस्कार किया गया है।

१. उ. १३, गा. १४४-४५.

२. उ. १३, गा. १५४-५७.

३. उ. १३, गा. १५८-६४.

४. उद्देश १३, गा. १६५-७०.

इसके अतिरिक्त तिलोयपण्णती की कितनी ही भाषाओं को यहाँ उसी रूप में प्रयत्न कुछ शब्द-परिवर्तन के साथ इसके अन्तर्गत कर लिया गया है^१।

तिलोयपण्णती की रचना जिस प्रकार भाषा की दृष्टि से समृद्ध व ग्रीक तथा विषयविवेचन की दृष्टि से सुसम्बद्ध है, इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना नहीं है—वह भाषा की दृष्टि से शिथिल और विषयविवेचन की दृष्टि से कुछ अव्यवस्थित है। पुनरुक्ति भी प्रस्तुत ग्रन्थ में जहाँ तहाँ देखी जाती है।

ग्रन्थ का प्रकाशन जैन संस्कृति संरक्षक संघ (जीवराज जैन ग्रन्थमाला) सोलापुर द्वारा हो चुका है। इसका उपयोग आत्माकुल प्रावि शब्दों में हुआ है।

१०१. कर्मस्त्वम्—यह द्वितीय प्राचीन कर्मग्रन्थ है। इसके कर्ता का नाम ज्ञात नहीं है। इसमें ५५ पाद्यायें हैं। यहाँ सर्वप्रथम जिनवरैन्द्र को नमस्कार करते हुए बन्ध, उदय और सत्ययुक्त स्तव के कहने की प्रतिज्ञा की गई है। बन्ध, उदय और सत्ता के व्यवच्छेद का प्रकपक होने से चूँकि यह असाधारण सद्भूत गुणों का कीर्तन करने वाला है, अत एव इसे नाम से स्तव कहा गया है। यहाँ प्रथमतः गुणस्थानक्रम से बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता से व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों की संख्या का निर्देश करके तत्पश्चात् उसी क्रम से उन कर्मप्रकृतियों का नामोन्मेष भी किया गया है। इसके ऊपर योगिन्द्र गणी (सम्भवतः विक्रम की १३वीं शताब्दी) द्वारा टीका लिखी गई है। इस टीका के साथ वह पूर्वोक्त कर्मविपाक के साथ जैन आत्मानन्द सभा भावनगर से प्रकाशित हुआ है। इस पर एक ३२ गद्यारमक अज्ञातकर्तृक भाष्य भी है, जो ग्रन्थ के अन्त में मुद्रित है। इसकी टीका का उपयोग अचलुदर्शन, अन्तराय कर्म, अप्रयत्ननाम, अप्रत्याख्यानावरणक्रोधादि, अभाव, अतप नामकर्म, उच्छ्वासपराप्ति, उदय, उदीरणा और उद्योतनाम प्रावि शब्दों में हुआ है।

१०२. लघुश्रीति—इसका दूसरा नाम आगमिकवस्तुविचारसार प्रकरण है। यह चतुर्थ प्राचीन कर्मग्रन्थ है। इसके कर्ता जिनवल्लभ गणी (विक्रम की १२वीं शताब्दी) हैं। पाद्यायें इसमें ८६ हैं। यहाँ सर्वप्रथम पार्श्व जिन को नमस्कार करते हुए गुरु के उपदेशानुसार जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, उपयोग, योग और लेख्या के कुछ कहने की प्रतिज्ञा की गई है। तदनुसार इसमें आगे क्रम से जीवस्थानों में गुणस्थान, योग, उपयोग, लेख्या, बन्ध, उदय, उदीरणा व सत्तास्थानों की प्रकृष्टता; मार्गणास्थानों में जीवस्थान, गुणस्थान, योग, उपयोग, लेख्या और अल्पबहुत्व की प्रकृष्टता; तथा गुणस्थानों में जीवस्थान, योग, उपयोग, लेख्या, बन्धहेतु, बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्तास्थान और अल्पबहुत्व की प्रकृष्टता की गई है।

अन्त में अपने नाम का निर्देश करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि जिनवल्लभ ने द्वारा लाया गया (रचा गया) यह जिनात्मरूप अमृतसमुद्र का बिन्दु है। हितैषी विद्वज्जन इसे सुनें, उसका मनन करें, और जानें।

इस पर एक टीका हरिमन्नसूरि के द्वारा रची गई है। ये देवसूरि के प्रशिष्य और जिनदेव उपाध्याय के शिष्य थे। उक्त टीका उन्होंने अणहिल्लपाटकपुर में जयसिंहदेव के राज्य में आशापुर वसति में विक्रम सं. ११७२ में लिखी है। दूसरी टीका सुप्रसिद्ध प्रा. मलयगिरि के द्वारा लिखी गई है। इन दोनों टीकाओं के साथ ग्रन्थ कर्मविपाकादि के साथ जैन आत्मानन्द सभा भावनगर से प्रकाशित हुआ है। इस पर एक ३८ गद्यारमक अज्ञातकर्तृक भाष्य भी है जो ग्रन्थसंग्रह के अन्त में मुद्रित है। इसका उपयोग (टीका से) अचलुदर्शन, अनन्तानुबन्धी, आहारक (शरीर), आहारक (जीव) और उपयोग प्रावि शब्दों में हुआ है।

(शेष अगले भाग में)

लक्ष्यवैशिष्ट्य

देव-काल की विशेषता प्रथवा लक्षणकार की मनोवृत्ति के कारण एक ही लक्ष्य के लक्षण में कहीं कुछ विशेषता या विविधता भी देखी जाती है। जैसे—

अकर्मभूमिक—अकर्मभूमिक का योगिक अर्थ कर्मभूमिभिन्न—भोगभूमि—में उत्पन्न हुआ जीव होता है। इस अभिप्राय को व्यक्त करने वाला लक्षण समवायांग की अभयदेव विरचित वृत्ति में पाया जाता है। स्थानांग में लक्षित 'अकर्मभूमि' के लक्षण से भी यही अभिप्राय ध्वनित होता है। परन्तु ध्वलाकार ने वेदनाकालविधान के अन्तर्गत सूत्र ८ की व्याख्या करते हुए 'अकर्मभूमिक' से देव और नारकियों को ग्रहण किया है।

प्रकरण वहाँ काल की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट वेदना के स्वामी का है। वह चूंकि भोग-भूमिजों के सम्भव नहीं है, अतएव सूत्रस्थ 'अकर्मभूमियस्त' पद का अर्थ वहाँ 'देव-नारकी' किया गया है।

अक्षौहिण्यो—पद्मचरित्र और पद्मचरित्र (पद्मपुराण) के अनुसार अक्षौहिणी का प्रमाण २१८०० तथा ध्वला के अनुसार वह ६०६०६०६००० है।

अचेलक—अचेल, अचेलक और अचेलक्य ये समानार्थक शब्द हैं। आचारांगसूत्र १८० में (पृ. २१८) अचेल शब्द उपलब्ध होता है। प्रसंग वहाँ चरित्र को बुद्धिगत करने का है। इसके लिए वहाँ कहा गया है कि मोक्ष के निकटवर्ती किन्ने ही जीव धर्म को ग्रहण करके वर्मोपकरणों के विषय में सावधान होते हुए धर्म का आचरण करते हैं। इस प्रकार से जो काम-भोगादि में आसक्त न होकर धर्माचरण में दृढ़ होते हैं तथा समस्त गृद्धि—भोगाकांक्षा को—दुःखरूप समझकर उसे छोड़ देते हैं वे ही महामुनि होते हैं। ऐसा महर्षि चेतन-अचेतन परिग्रह में निर्ममत्व होकर विचार करता है कि मेरा कुछ भी नहीं, मैं अकेला हूँ। इस प्रकार एकत्वभावना को भाता हुआ जो अचेल—वस्त्रादि सब प्रकार के परिग्रह से रहित साधु—समय में उद्यत होकर अवमोदय में स्थित होता है वह सब प्रकार के उपद्रव को सहन करता है।

इसकी टीका में शीलाकाचार्य ने 'अचेल' का अर्थ 'अल्पवस्त्रवाला या जिनकल्पिक' किया है।

भाग्य उक्त आचारांग के सूत्र १८२ में कहा गया है कि जो साधु वस्त्र का परित्याग करके समय में दृढ़ है उसके अन्तःकरण में इस प्रकार का अतिग्राह्य नहीं होता है—मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है, वस्त्र की मैं याचना करूँगा, धागे की याचना करूँगा, सुई की याचना करूँगा, जोड़ूँगा, सीऊँगा, बड़ा करूँगा, छोटा करूँगा, पहिनुँगा और शरीर को आच्छादित करूँगा इत्यादि।

इसकी टीका में भी शीलाकाचार्य ने प्रथमतः अचेलका अर्थ अल्प अर्थ में 'नख' मानकर 'अक्ष' पुरुष का उदाहरण देते हुए 'अल्पचेल' किया है। पर भाग्ये चल्कन् सम्भवतः प्रसंग की प्रतिकूलता का अनुभव करते हुए उन्होंने यह भी कह दिया है—अथवा जिनकल्पिक के अभिप्राय में ही इस सूत्र की व्याख्या करनी चाहिए।

इसी आचारांग सूत्र (२०८-१०) में अपवाद के रूप में यह भी बतलाया है कि जो भिक्षु तीन वस्त्रों को ग्रहण कर समय का परिपालन कर रहा है उसे किसी भी शैत्य आदि की बाधा क्यों न हो, शीथे वस्त्र की याचना नहीं करना चाहिए तथा विहित वस्त्रों को धारण करते हुए भी उन्हें धोना नहीं चाहिए। शीत ऋतु के शीत जाने पर तीन की अपेक्षा दो और फिर दो की अपेक्षा एक रखकर अन्त में उसे भी छोड़कर अचेल हो जाना चाहिए। ऐसा करने से उपकरणविषयक सधुता प्रगट होती है तथा कायकलेशरूप तपका आचरण होता है।

स्थानांगसूत्र में (पृ. ४५५, पृ. ३२५) अल्पप्रतिलेखा, लाघविक प्रशस्त, वैश्वस्तिक रूप, तप अनु-शाल और विपुल इन्द्रियनिग्रह, इन पांच स्थानों द्वारा अचेलको—वस्त्रहीन साधु को—प्रशस्त बतलाया है।

इसकी टीका में अश्वमेध सूरि ने अचेल का अर्थ 'न विचिन्ते चेलानि वासांसि यस्यासावचेलकः' इस निश्चित के साथ निर्बन्धन—जिनकल्पिक—ही किया है।

भूलाचार (१-३०) में वस्त्र, चमड़ा, वस्त्रक अथवा पत्र (पत्ता) आदि से शरीर के न ढकने को आचेलव्यय का स्वल्प मतलाते हुए उसे लोकपूज्य मतलाया है।

भगवती आराधना में जिस दस प्रकार के कल्प का निर्देश किया गया है उसमें आचेलव्यय पहला है। इसकी टीका में अचेलकता—निर्बन्धनता—का प्रबलता से समर्थन करते हुए अपराजित सूरि ने उसके आश्रय से इन गुणों का प्रादुर्भाव मतलाया है—त्याग, आकिकचन्य, सत्य, साधव, अदत्तविरति, भावविशुद्धि-मय ब्रह्मचर्य, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, तप, संयमविशुद्धि इन्द्रियविजय और कषायका अभाव आदि।

आगे एतद्विवक्षयक शंका-समाधान में उन्होंने आचारप्रणिधि, आचारांग का द्वितीय अध्ययन लोकविजय, वस्त्रैषणा, पानैषणा, भावना, सूत्रकृतांग का पुण्डरीक अध्ययन, आचारांग, उत्तराध्ययन और दशवैकान्तिक आदि आगमों के नामोल्लेखपूर्वक कुछ अवतरण भी दिये हैं।

आगे आचारांग के वस्त्रविधायक अर्थ सूत्र का भी निर्देश करते हुए उन्होंने मतलाया है कि उसका विधान कारणविशेष की अपेक्षा से किया गया है।

उत्तराध्ययन (२-१३) में कहा गया है कि जानी साधु चाहे अचेल हो और चाहे सचेल हो उसे इसकी धर्मोपकारक जानकर खिन्न नहीं होना चाहिए।

आगे इसी उत्तराध्ययन (२३-२६) में पार्श्वपरम्परा के शिष्य केशिकुमार ने गौतम गणधर से प्रश्न करते हुए कहा है कि वर्धमान स्वामी ने तो अचेलक धर्म का उपदेश दिया है और भगवान् पार्श्व ने सान्त्रोत्तर—विशेषवस्त्रयुक्त—धर्म का उपदेश दिया है। एक मार्ग के प्रवर्तक दोनों के उपदेश में यह भेद क्यों? उत्तर में गौतम ने कहा है कि जनसमुदाय को साधुत्व का परिज्ञान कराने के लिए अनेक प्रकार का विकल्प किया गया है। लिंग का प्रयोजन समय का निर्वाह और ग्रहण (ज्ञान) है। वस्तुतः मोक्ष के साधक तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य हैं।

अष्टांग—यह एक कालका भेद है। तिलोपपण्त्ती के अनुसार यह ८४ ऋतित प्रमाण, अनुयोगद्वार सूत्र के अनुसार ८४ लाख ऋतितप्रमाण तथा ज्योतिष्करण्डक के अनुसार ८४ लाख महाऋतित प्रमाण है। इन कालवाचक शब्दों में क्रमादि का व्यत्यय भी हुआ है। जैसे—अनुयोगद्वारसूत्र (सूत्र ३६७, पृ. १४६) में उनका क्रम इस प्रकार है—१ ऋतितंग, २ ऋतित, ३ अष्टांग, ४ अष्टट, ५ अवबांग, ६ अवव, ७ हुहुकांग, ८ हुहुक, ९ उत्पलांग, १० उत्पल, ११ पद्यांग, १२ पद्यम, १३ नलिनंग, १४ नलिन, १५ अर्थनिपुरांग,

१. वेल्लये पीछे पृ. ३४ का ३रा टिप्पण।

२. आचेलककुर्दसिय शैजगाहरारयापडकिरियम्मे । जेटुपडिक्कमणे वि य मासं पज्जोसवणकम्पो ॥

म. आ. ४२१.

३. दशवैकालिक का आठवां अध्ययन।

४. आचारांग (द्वि. श्रुतस्कन्ध) की प्रथम चूलिका का १वां अध्ययन।

५. इसी चूलिका का छठा अध्ययन।

६. आचारांग की तीसरी चूलिका।

७. सूत्रकृ. द्वि. श्रुतस्कन्ध का प्रथम अध्ययन।

८. आधिकार्यानामगे अनुज्ञातं वत्सं कारणापेक्षया । भिक्षुणां [यः] ह्युमानयोग्यशरीरावयवो दुर्बलर्थाभिलम्भ मानवीजो वा परीयहसहने वा यक्षमः स शुद्ध्यति । तथा श्रोक्तमाचारान्ते—सुदं मे आउत्संतो भगवता एवमस्मात्—इह खलु संजयाभिमुखा दुविहा इत्थी-गुरिसा जता भवन्ति । त जहा—सर्व-समणागदे गो सर्वसमणागदे चेव । तस्य जे सर्वसमणागदे थिरांगहत्थ-पाणि-पादे सन्धियसम-णागदे तस्स गं गो कम्पदि एगमवि वत्सं चारितं एव परिहितं एव अण्णत्थ एगेण पडिसेहणेण इति ।

म. आ. ४२१ टीका, पृ. ६१२.

१६ धर्मनिपूर, १७ धनुर्नाग, १८ धनुत, १९ नयुतांग, २० नयुत, २१ प्रयुतांग, २२ प्रयुत, २३ जूलिकांग, २४ जूलिका, २५ शीर्षप्रहेलिकांग, २६ शीर्षप्रहेलिका ।

ज्योतिष्करंडक (२, ६४-७०) में—१ सतांग, २ सता, ३ महानलिन, ४ नलिनांग, ५ नलिन, ६ महानलिनांग, ७ महानलिन, ८ पद्यांग, ९ पद्य, १० महापद्यांग, ११ महापद्म, १२ कमलांग, १३ कमल, १४ महाकमलांग, १५ महाकमल, १६ कुमुदांग, १७ कुमुद, १८ महाकुमुदांग, १९ महाकुमुद, २० नृतितांग, २१ नृटित, २२ महानृतितांग, २३ महानृटित, २४ अट्टांग, २५ अट्ट, २६ महाअट्टांग, २७ महाअट्ट, २८ ऊहांग, २९ ऊह, ३० महाऊहांग, ३१ महाऊह, ३२ शीर्षप्रहेलिकांग, ३३ शीर्ष-प्रहेलिका^१ ।

इस मतभेद का कारण साधुरी और बालजी वाचनाओं का पाठभेद रहा है^२ ।

अतिचार—प्रसंग के अनुसार इसके अनेक सस्य उपलब्ध होते हैं । जैसे—पिण्डनियुक्ति (१८२) में अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार इन चार के स्वरूप को प्रगट करते हुए कहा गया है कि किसी धावक के द्वारा आधाकर्म (साधु को लक्ष्य करके जिस भोजनपाक क्रिया को प्रारम्भ किया जाता है उस क्रिया को और उसके निमित्त से निष्पन्न भोजन को भी आधाकर्म कहा जाता है) का निमंत्रण देने पर उसे साधु यदि स्वीकार करता है तो वह अतिक्रम दोष का भागी होता है । तत्पश्चात् साधु जब उसे स्वीकार करके आने के लिए उद्यत होता है—पैरों को उठाता-धरता आदि है—तब वह व्यतिक्रम दोष का पात्र होता है । तदनन्तर उक्त आधाकर्म को ग्रहण करने पर अतिचार दोष होता है । अन्त में उसके निगमने पर वह चतुर्थ अनाचार दोष का पात्र होता है ।

मूलाचार (११-११) में भी बीसवीं सास्य गुणों के उत्पादन प्रकरण में उक्त अतिक्रमादि चार का नामोल्लेख मात्र किया गया है । उसकी टीका में वसुनन्दी ने उनका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—संयतसमूह के मध्य में स्थित रहकर विषयों की इच्छा करना, इसका नाम अतिव्रम है । संयतसमूह को छोड़कर संयत के विषयो-करणों के जुटाने को व्यतिक्रम कहते हैं । व्रत की फिथिलता और कुछ असंयम के सेवन को अतिचार कहा जाता है । व्रत को ञग करके स्वच्छन्दतापूर्ण जो प्रवृत्ति की जाती है, यह अनाचार कहलाता है ।

पट्वल्गणमप्रकृत धीनव्रतविषयक निरतिचारता को स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने मद्यपान, मांसभक्षण, श्मश्रु, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, धरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद; इनका त्याग न करने को अतिचार कहा है (पृ. ८, पृ. ८२) ।

हरिभद्र सूरि ने धावकप्रज्ञप्ति की टीका में असत् अनुष्ठानविशेषों को, तथा आवश्यकनियुक्ति की टीका में संयमन कथाओं के उदय से होने वाले चारित्र्यसंयमनविशेषों को अतिचार कहा है ।

आ. अमतिगति ने द्वात्रिंशिका में विषयों में प्रवर्तन को अतिचार निर्दिष्ट किया है ।

१. तिलोपगणती आदि अन्य ग्रन्थगत इन कालमानों की तालिका ति. प. भाग २, परिशिष्ट पृ. ६६७ पर देखिये ।

२. इह स्कन्दिलाचार्यप्रवृत्ती दुष्प्रमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्त्या साधूनां पठन-गुणनादिकं सर्वमप्यनेशात् । ततो दुर्भिक्षातिक्रमे बुभिक्षप्रवृत्ती द्वयोः सचभेलापकोऽभवत् । तच्छाया—एको बालभ्यामेको मधुरायाम् । तत्र च सूत्रार्थसंघटनेन परस्परं वाचनाभेदो जातः, विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयोः स्मृत्या स्मृत्या संघटने भवत्यवश्य वाचनाभेदो न काश्चिदनुपपत्तिः । तत्रानुयोगद्वारादिकमिदानीं प्रवर्तमानं माधुरवाचनानु-गतम्, ज्योतिष्करण्डकसूत्रकर्ता आचार्यों बालभ्यः, तत इव संख्यास्थापनप्रतिपादनं बालभ्यवाचनानु-गतमिति नास्त्यनुयोगद्वारासंख्यास्थानः सह विसृष्टत्वमुपलभ्य विभक्तिस्तत्तद्व्यभिचिती । ज्योतिष्क, मलय. वृत्ति २-७१, पृ. ४१.

वर्मविष्णु की टीका, योगशास्त्र, भगवती आराधना की भूलाारधना-टीका और सागारवर्णामृत^१ आदि में व्रत की विधिलता, मलिनता अथवा उसके एकदेश भंग को प्रतिवार कहा गया है।

वर्तमान में व्रत प्रतिवार शब्द प्रायः व्रत की मलिनता या उसके देशतः भंग अर्थ में कूट है। सम्यक्त्व और अहिंसादि १२ व्रतों में से प्रत्येक व्रत के ५-५ प्रतिचारों की व्यवस्थित प्रकृषणा सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्र में उपलब्ध होती है। इसके पूर्व के किसी अन्य ग्रन्थ में यह देखने में नहीं आयी। आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र्यप्राप्त में बारह प्रकार के देशचारित्र्य की प्रकृषणा की है, पर वहाँ किसी भी व्रत और सम्यक्त्व के प्रतिचारों की सूचना नहीं की गई। वहाँ एक विशेषता यह है कि देशावकाशिकव्रत का न तो तीन गुणव्रतों में उल्लेख किया गया है और न चार शिक्षाव्रतों में भी। चार शिक्षाव्रतों में सामायिक, प्रोषण और प्रतिविपूजा के साथ सत्सेवना को ग्रहण किया गया है (२४-२५)।

यद्यपि उवासगदसाधो में ध्यानन्द उपासक को लक्ष्य करके सम्यक्त्व व स्मृतप्राणातिपातविरमण आदि प्रत्येक व्रत के ५-५ प्रतिचारों का निर्देश किया गया है^२ पर वह तत्त्वार्थसूत्र का अनुसरण है अथवा इसके अनुसार तत्त्वार्थसूत्र में उनका विवेचन किया गया है, यह कहा नहीं जा सकता।

सोमदेव सुरि ने अपने उपासकाध्ययन में प्रायः इन प्रतिचारों का निर्देश तो किया है, पर उन्होंने उनके लिए प्रतिवार या उसके पर्यायवाची किसी अन्य शब्द का भी प्रयोग नहीं किया, और न उनकी संख्या (सत्सेवना को छोड़कर) का भी निर्देश किया है। केवल उन्हें विवक्षित व्रत के निवर्तक या बातक बोधित किया है^३।

अधःकर्म, आधाकर्म—सामान्यरूप से ये दोनों शब्द समानार्थक हैं। पिण्डनिर्मुक्तिकार ने (गाथा ६५) इसके से चार नाम निर्दिष्ट किये हैं—आहाकम्म (आधाकर्म), अहेकम्म (अधःकर्म), आयाहम्म (आत्मन्) और अस्तकम्म (आत्मकर्म)।

आ. भूतबलि वदक्षणागम में इसका लक्षण इस प्रकार करते हैं—उपद्रावण, विद्रावण, परितापन और आरम्भ के निमित्त से जो सिद्ध होता है उसे आधाकर्म कहते हैं।

भूलाचार (६-५) में लगभग इसी अन्निप्राय को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि छह काय के प्राणियों के विराधन और उपद्रावण आदि से जो निष्पन्न है, तथा स्वकृत अथवा परकृतरूप से जो अपने को प्राप्त है उसे आधाकर्म जानना चाहिए। 'स्वकृत व परकृतरूप से अपने को प्राप्त' इतना मात्र यहाँ विशेष जोड़ा गया है।

पिण्डनिर्मुक्ति (६७) में इसका लक्षण इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—जिस साधु के निमित्त अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार औदारिक शरीरवाले जीवों का उद्बन्ध (अपद्रावण)—प्रतिपात बजित पीड़ा—की जाती है और त्रिपातन—मन, वचन व काय इन तीन का अथवा देह, मातृ और इन्द्रिय इन तीन का विनाश या उनसे विमुक्त किया जाता है; उसे आधाकर्म कहते हैं। आगे यहाँ (६६) भाव आधाकर्म का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि साधु भूक्ति संयमस्थानकाण्डकों, लेयवा और स्थिति सम्बन्धी विषुद्ध एवं विषुद्धतर स्थानों में वर्तमान अपने भावको अधः करता है—हीन और हीनतर स्थानों में स्थापित करता है—अतएव इसे भाव अधःकर्म कहा जाता है। यह विवेचन भी बहुत कुछ अंग में वदक्षणागम और भूलाचार जैसा ही है।

भगवती आराधना में वसति के प्रकरण में गा. २३० की टीका में अपराजित सुरि के द्वारा प्रकृत

१. पं. आशाधर ने अपने सागारवर्णामृत की स्वोपज्ञ टीका में जो १२ व्रतों के प्रतिचारों का विशेष स्पष्टीकरण किया है उसका आधार प्रायः हेमचन्द्रसुरि का योगशास्त्र और उसका स्वोपज्ञ विवरण रहा है। (विशेष के लिए देखिये अनेकान्त वर्ष २०, पृ. ११६-२५ व १५१-६१ में 'सागारवर्णामृत पर इतर आवकाचारों का प्रभाव' शीर्षक लेख।)

२. उवासगदसाधो (पी. एस. वैद्य, फर्गुसन कालेज पुना) १, ४४-४७, पृ. ६-१२.

३. वेदविद्या श्लोक ३७०, ३८१, ४१८, ७५९, ७६९, ८५१ और ८०९ आदि।

आधाकर्म का स्वरूप प्रगट करते हुए कहा गया है कि बूझों को काटकर लाना, हँटों का पकाना, भूमि को खोदना, पत्थर और बासू आदि से पूर्ण करना, पृथिवी का कूटना, कीचड़ (गारा) करना, कीलों का करना, अग्नि से लोहे को तपाकर धन से पीटना और धारी से लकड़ी चीरना; इत्यादि व्यापार से छह कायिक जीवों को बाधा पहुँचा कर जो वसति स्वयं निमित्त की जाती है या दूसरे से करायी जाती है उसे आधाकर्म शब्द से कहा जाता है। यह लक्षण प्रायः पिण्डनियुक्ति जैसा है। विशेष इतना है कि पिण्डनियुक्ति में उक्त लक्षण आहार के प्रकरण में कहा गया है, और यहाँ चूँकि वह वसति के प्रकरण में कहा गया है, अतः वसति के विषय में सम्भव दोषों को ही यहाँ प्रगट किया गया है।

शीलांकाचार्य के अभिप्रायानुसार साधु के लिए जो सचित्त को अचित्त किया जाता है या अचित्त को पकाया जाता है, यह आधाकर्म है। नगभग यही अभिप्राय आचार्य हेमचन्द्र भी निश्चितपर्वक (आधाय विकल्प्य यति मनसि कृत्वा सचित्तस्याचित्तकरणमचित्तस्य वा पाको निवृत्तादाधाकर्म) योगशास्त्र में प्रगट करते हैं।

अनादेय, आदेय—इन दोनों के लक्षणों में कुछ भेद देखा जाता है। सर्वार्थसिद्धि आदि में उनके लक्षण में कहा गया है कि जो नामकर्म प्रभावयुक्त शरीर का कारण है वह आदेय और उससे विपरीत अनादेय कहलाता है।

तत्त्वार्थ भाष्य में आदेयभाव के निवर्तक कर्म को आदेय और विपरीत को अनादेय बतलाया गया है। इसको स्पष्ट करते हुए हरिभद्र सूरि और सिद्धसेन गणी कहते हैं कि जिस जीव के आदेय नामकर्म का उदय होता है वह जो कुछ भी कहे उसे लोग प्रमाण मानते हैं तथा उसे देखते ही वं सखे होते हुए उच्चासनादि देकर सम्मानित करते हैं, इस प्रकार उनके अभिप्रायानुसार जो आदरोत्पादन का हेतु है वह आदेय और उससे विपरीत अनादेय माना गया है।

बबलाकार के मत से आदेय नामकर्म वह है जिसके उदय से जीव को आदेयता प्राप्त होती है, आदेयता का अभिप्राय वे वृहणीयता या बहुमान्यता प्रगट करते हैं। अनादेय के लक्षण में वे कहते हैं कि जिस कर्म के उदय से उत्तम अनुष्ठान करता हुआ भी जीव गौरवित नहीं होता है वह अनादेय कहलाता है।

आचार्य वसुनन्दी मूलाचार की वृत्ति में पूर्वोक्त दोनों ही प्रकार के लक्षणों को इस प्रकार से व्यक्त करते हैं—जिसके उदय से आदेयता—प्रभोपेत शरीर—होता है वह, अथवा जिसके उदय से जीव आदेयवाक्य होता है वह, आदेयनामकर्म कहलाता है।

उक्त दोनों प्रकार के लक्षणों में से आदेयता—आदरपात्रता—रूप आदेय के लक्षण में द्वै. ग्रन्थकार प्रायः एकमत हैं, पर हि. ग्रन्थकारों में कुछ मतभेद रहा दिखता है।

अनिश्चित, अनिःसृत—बहु व अल्प आदि बारह पदार्थों के आश्रय से अवग्रहादि में से प्रत्येक के १२-१२ भेद होते हैं। उनमें एक अनिश्चित या अनिःसृत अवग्रह है। तत्त्वार्थवातिक में उसके स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा गया है कि अतिशय विशुद्धि से युक्त भोजन आदि के परिणाम के निमित्त से जिसका पूर्णरूप से उच्चारण नहीं किया गया है उसका जो ग्रहण होता है उसे अनिःसृत अवग्रह कहते हैं। आगे चक्षु इन्द्रिय के आश्रय से यह कहा गया है कि पांच वर्ण वाले वस्त्र, कम्बल व चित्रपट आदि के एकदेश विषयक पांच वर्ण के ग्रहण से समस्त पांच वर्णों के दृष्टिगोचर न होने पर भी सामर्थ्य से जो उनका ग्रहण होता है, यह अनिःसृतावग्रह कहलाता है। अथवा किसी अन्य देश में स्थित पांच वर्ण वाले एक वस्त्र आदि के कथन से जिसका पूर्णरूप से कथन नहीं किया गया है उसके भी एकदेश के कथन से जो उनका ग्रहण हो जाता है, इसका नाम अनिःसृत-अवग्रह है।

हरिभद्र सूरि तत्त्वार्थसूत्र (१-१६) की टीका में उसके लक्षण में कहते हैं कि मेघशब्द आदि से भेरीशब्द के अवग्रहण के समान अन्य की अपेक्षा से रहित जो वेणु आदि के शब्द का ग्रहण होता है, इसे अनिश्चित अवग्रह कहते हैं। यह लक्षणनिर्देश बृद्धव्याख्या के अनुसार किया गया है। आचार्य सिद्धसेन गणी

उसका लक्षण इस प्रकार प्रकट करते हैं—निमित्त का अर्थ 'लिंग से जाना गया' है, जैसे जूही के फूलों के भविष्य शीत, मृदु और स्निग्ध आदि स्पर्श का अनुभव पूर्व में हुआ था, उस अनुमान से लिंग के द्वारा उस विषय को न जानता हुआ जो उसका ज्ञान प्रवृत्त होता है उसे अनिमित्त-अवग्रह कहते हैं।

ध्वलाकार तीन स्थलों पर उसका लक्षण पृथक्-पृथक् इस प्रकार करते हैं। पु. ६—अनभिमुख अर्थ के ग्रहण को अनिःसृतावग्रह कहते हैं, अथवा उपमान-उपमेय भाव के बिना जो ग्रहण होता है उसे अनिःसृतावग्रह जानना चाहिए। पु. ९—वस्तु के एकदेश के आश्रय से समस्त वस्तु का जो ग्रहण होता है, यह अनिःसृतावग्रह कहलाता है, अथवा वस्तु के एकदेश या समस्त ही वस्तु के आलम्बन से जो वहां असंनिहित अन्य वस्तु का बोध होता है, यह भी अनिःसृतप्रत्यय कहलाता है। पु. १३—आलम्बनीभूत वस्तु के एकदेश के ग्रहण समय में जो एक वस्तु का ज्ञान होता है उसे, अथवा वस्तु के एकदेश के ज्ञान के समय में ही दृष्टान्त के आश्रय से अथवा अन्य प्रकार से भी जो अनवलम्बित वस्तु का ज्ञान होता है उसे, तथा अनुसन्धानप्रत्यय और प्रत्यभिज्ञान को भी अनिःसृतप्रत्यय कहते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त अनिःसृतावग्रह के लक्षणों में अनेकरूपता उपलब्ध होती है। उक्त लक्षणों का फलितार्थ ऐसा प्रतीत होता है—

१. त. वा.—पूर्णतया अनुच्चारित शब्द का ग्रहण, वस्तु के एकदेशगत वर्णादि के देखने से समस्त वस्तुगत वर्णादि का ज्ञान, अन्यदेशस्थ पंचरंगे किसी एक वर्णादि के कथन से अन्य अक्षरित का ग्रहण।

२. त. वृ. हरि.—अन्य शब्द निरपेक्ष शब्द का ग्रहण।

३. त. वृ. सिद्ध—लिंगनिरपेक्ष ग्रहण।

४. ध्वला—अनभिमुख अर्थका ग्रहण, उपमान-उपमेय भाव के बिना होने वाला ज्ञान, वस्तु के एकदेश से समस्त वस्तु का तथा असंनिहित अन्य वस्तु का ग्रहण एवं अनुसन्धानप्रत्यय आदि।

अनुक्त-अवग्रह—सर्वार्थसिद्धि में इसका लक्षण 'अभिप्राय से ग्रहण' कहा गया है। तत्त्वार्थ-वातिक में इस लक्षण का अनुसरण करते हुए प्रकारान्तर से यह भी कहा गया है कि श्रोत्र इन्द्रियादि के प्रकृष्ट विसृद्धि परिणाम के निमित्त से एक वर्ण के भी न निकलने पर अभिप्राय से ही अनुच्चारित शब्द का जो अवग्रह होता है उसका नाम अनुक्त-अवग्रह है। अथवा स्वर-सञ्चार के पहले बाजे की विवक्षित स्वर-सञ्चार के अनुरूप करते हुए देखकर अवाहित शब्द को जान लेना कि आप इस शब्द को (स्वर को) बजाने वाले हैं, इस प्रकार के ग्रहण को अनुक्तावग्रह कहा जाता है। आगे वक्षु इन्द्रिय के आश्रय से उदाहरण देते हुए कहा गया है कि किसी को शुकल व कृष्ण आदि वर्णों का मिश्रण करते हुए देखकर यह बिना कहे ही जान लेना कि आप अमुक वर्ण इनके मिलाने से तैयार कर रहे हैं, यह अनुक्तावग्रह है।

तत्त्वार्थश्लोकावातिक में कहा गया है कि स्तोत्र पुद्गल के निकलने से जो बोध होता है वह अनुक्तावग्रह कहलाता है।

तत्त्वार्थभाष्यानुसारी सूत्रपाठ में प्रकृत सूत्र (१-१६) में 'अनुक्त' के स्थान में 'असन्दिग्ध' पाठ है। इस सम्बन्ध में वृत्तिकार सिद्धसेन गणी कहते हैं कि 'उक्तमवगृह्णाति' यह विकल्प एक श्रोत्रावग्रह को ही विषय करता है, वह सर्वव्यापी नहीं है। कारण यह कि उक्त का अर्थ शब्द है और वह भी अक्षरात्मक शब्द। इसका अवग्रह एक मात्र श्रोत्रावग्रह ही हो सकता है। अनुक्त जो उक्त से विपरीत अक्षरात्मक शब्द है उसके अवग्रहण का नाम अनुक्तावग्रह होगा। इसमें ब्रूक अभ्याप्ति बोध सम्भव है, अतः दूसरे ने उसके स्थान में 'निश्चितमवगृह्णाति' इस विकल्प को स्वीकार किया है। उदाहरण इसके लिए यह दिया गया है—स्त्री के स्पर्शविषयक अवग्रह से स्त्री का ही ज्ञान होता है तथा पुष्पो या चन्दन के स्पर्श से पुष्पों या चन्दन का ही ज्ञान होता है।

ध्वलाकार अनुक्तावग्रह (अनुक्तप्रत्यय) के लक्षण में कहते हैं कि विवक्षित इन्द्रिय के प्रतिनियत गुण से विशिष्ट वस्तु का जब बोध होता है तब उस इन्द्रिय के अनियत गुण से विशिष्ट उक्त वस्तु का

जिसके आश्रय से बोध होता है उसका नाम धनुक्तावग्रह है। जैसे—बभ्रु इन्द्रिय से गुड़ का ज्ञान होने पर उसके धनियत गुण स्वरूप जो रस का भी बोध होता है, तथा घ्राण इन्द्रिय से दही के गन्ध को जानकर उसी समय उसके लट्टे-मीठेपन का भी ज्ञान होता है, यही धनुक्तावग्रह है। मूलाधार की वृत्ति में आचार्य बसुनन्दी ने और आचारसार के कर्ता वीरनन्दी ने बबसाकार के लक्षण का अनुसरण किया है (देखो धनुक्ता शब्द)।

तत्त्वार्थसूत्र की सुखबोधा वृत्ति में उसके लक्षण में कहा गया है कि किसी के द्वारा 'अग्नि को साधो' ऐसी आज्ञा देने पर 'लप्पर धादि से' अग्नि के ले जाने का जो स्वयं विचार उचित होता है, इसे धनुक्तावग्रह कहते हैं।

इन सब लक्षणों में सर्वार्थसिद्धि का लक्षण व्यापक है, कारण कि बिना कहे ही प्रसंग के अनुसार अग्निप्राय से शब्दादि सभी विषयों का अवग्रह हो सकता है। तदनुसार ही तत्त्वार्थवातिकार ने अजब बभ्रु इन्द्रियों के आश्रय से उदाहरण देते हुए उसे स्पष्ट भी किया है। सुखबोधा वृत्ति का उदाहरण तो बहुत उपयुक्त प्रतीत होता है, वहाँ अग्नि लाने की आज्ञा देते हुए यह नहीं कहा गया है कि लप्पर से लाना या बाली धादि से। फिर भी उसे ले जाना बाला सोचता है कि उसका हाथों से या कपड़े धादि से ले जाना तो शक्य नहीं है, अतः वह लप्पर धादि से ले जाता है। यह धनुक्तावग्रह ही है। इससे सिद्धसेन गणी द्वारा दिये गये अव्याप्ति दोष की सम्भावना नहीं दिखती।

बबसाकार धादि के द्वारा स्वीकृत लक्षण भी उचित हैं। कारण यह कि लोकव्यवहार में आम धादि के गन्ध को घ्राण इन्द्रिय के द्वारा जानकर उसके अविषयभूत लट्टे या मीठे रस का बोध होता हुआ देखा जाता है।

धनुपस्थापन—परिहार प्रायश्चित्त दो प्रकार का है—धनुपस्थापन परिहार और पारंपरिक परिहार। प्रकृत धनुपस्थापन शब्द के विविध अर्थों में अनेक रूप देखे जाते हैं। जैसे—तत्त्वार्थवातिक व आचारसार में धनुपस्थापन, बृहत्कल्पसूत्र में अणवदृष्ट्य (अनवस्थाप्य), बबसा में अणवदृष्ट्य (अनवस्थाप्य?) तथा चारित्रसार एवं अनगारधर्माश्रित में धनुपस्थापन।

तत्त्वार्थवातिक में इसका लक्षण संक्षेप में इस प्रकार कहा गया है—हीनता को प्राप्त होकर आचार्य के पास में, अथवा अपने से हीन आचार्य के पास में जो प्रायश्चित्त ग्रहण किया जाता है, इसका नाम धनुपस्थापन प्रायश्चित्त है। यहा परिहार प्रायश्चित्त के उक्त प्रकार से दो भेदों का निर्देश नहीं किया गया है।

बृहत्खण्डागम की टीका बबसा में उसके उपर्युक्त दो भेदों का तो निर्देश किया गया है, पर वह किस प्रकार का अपराध होने पर स्वीकार किया जाता है, इसका निर्देश जैसे तत्त्वार्थवातिक में नहीं किया गया वैसे ही यहाँ भी नहीं किया गया है। विशेषता यह है कि यहाँ उसका अल्पकाल छह मास और उत्कृष्ट बारह वर्ष प्रमाण कहा गया है। साथ ही यहाँ यह भी निर्देश किया गया है कि इस प्रायश्चित्त को स्वीकार करनेवाला साधु कायभूमि से—श्रद्धियों के आश्रय से—परे जाकर प्रतिबन्धना से रहित होता है—बास मुनिजनों भी यदि बन्धना करते हैं तो वह प्रतिबन्धना नहीं करता। वह गुप्त को छोड़कर अन्य साधुओं के प्रति मौन रखता हुआ उपवास, आचान्त्य, गुरिवाच, एकस्थान और निबिड्धितादि के द्वारा अपने रस, रश्मि एवं मांस को बुझाता है।

चारित्रसार में उक्त धनुपस्थापन प्रायश्चित्त को निजगण और परगण के भेद से दो प्रकार का निश्चित किया गया है। इनमें निजगणानुपस्थापन प्रायश्चित्त किस प्रकार के अपराध पर ग्रहण किया जाता है, इसका निर्देश नहीं हुआ था कहा गया है कि जो प्रमाद से दूसरे मुनि के श्रद्धि छात्र को, श्रद्धेय को, अन्य पात्रादि से सम्बन्धित चेतन-अचेतन द्रव्य का, अथवा पर स्त्री का चुराता है; अन्य मुनियों पर उद्गार करता है तथा इसी प्रकार का और भी विषय आचरण करता है उसे यह निजगणानुपस्थापन प्रायश्चित्त ग्रहण करना पड़ता है। यह प्रायश्चित्त उक्त सम्भव है जो मोक्ष पूर्वक का चारक,

प्रथम तीन संहनन से संयुक्त, परीषद् का विजेता, जर्म में युद्ध, धीर धीर संसार से मयभीत होता है। वह श्चि-साधन से बत्तीस धनुष दूर जाकर स्थित होता हुआ बाल मुनियों के द्वारा वन्दना करने पर भी प्रतिवन्दना नहीं करता, मृदु के साथ बालोचना करता है, शेष जनों के विषय में मौन रखता है, तथा पिच्छी को विपरीत रूप से चारण करता है। वह उत्कृष्ट रूप से बारह वर्ष तक कम से कम पांच-पांच उपवास और अधिक से अधिक छह-छह मास के उपवास करता है।

उपयुक्त अपराध को यदि कोई अभिमान के साथ करता है तो उसे दूसरा परगणोपस्थापन प्रायश्चित्त करना पड़ता है। तदनुसार उसे अपने गण का आचार्य परगण के आचार्य के पास भेजता है, जो उसकी बालोचना को सुनकर प्रायश्चित्त के दिये बिना अन्य आचार्य के पास भेजता है। वह भी उसकी बालोचना को सुनकर बिना प्रायश्चित्त दिये अन्य आचार्य के पास भेजता है। इस प्रकार से उसे सातवें आचार्य के पास तक भेजा जाता है। सातवां आचार्य उसे प्रथम आचार्य के पास वापिस भेजता है। तब प्रथम आचार्य ही उससे पूर्वोक्त प्रायश्चित्त का पाठन कराता है।

आचार्य और भगवन्मनुष्य में प्रकृत प्रायश्चित्त का विधान उक्त चारित्र्यसार के समान ही किया गया है।

मूलाचार की वसुनम्बिरचित्त वृत्ति (५-१६५) में उक्त परिहार प्रायश्चित्त के गणप्रतिबद्ध और भगणप्रतिबद्ध दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। गणप्रतिबद्ध प्रायश्चित्त को ग्रहण करनेवाला जहाँ मुनिजन प्रभ-वण (भूम) प्रादि करते हैं वहाँ रहता है, पीछी को धाये करके मुनियों की वन्दना करता है, पर मुनि उसकी वन्दना नहीं करते; इस प्रकार उसके द्वारा जो गण में क्रिया की जाती है, यह गणप्रतिबद्धपरिहार कहलाता है। जिस देश में जर्म का ज्ञान नहीं रहता, वहाँ जाकर वह मौनपूर्वक तपस्वरण का अनुष्ठान करता है, वह भगणप्रतिबद्धप्रायश्चित्त है। यहाँ बबला और चारित्र्यसार प्रादि के समान परिहार प्रायश्चित्त के अनु-पस्थान और पारंशिक भेद तो निर्दिष्ट नहीं किये गये, पर गणप्रतिबद्ध और भगणप्रतिबद्ध इन दो भेदों का उल्लेख अवश्य किया गया है। ये कुछ अंश में उक्त अनुपस्थापन परिहार से समानता रखते हैं।

बृहत्कल्पसूत्र (उ. ४, सू. ३) में अनवस्थाप्य तीन प्रकार के निर्दिष्ट किये गये हैं—साधर्मिकों (साधुओं) की उपवि व शिष्य प्रादि की बोरी करनेवाला, अन्य धर्मिकों की उपवि प्रादि की बोरी करनेवाला और हाथ, लाठी एवं मुट्ठी प्रादि से दूसरे पर प्रहार करनेवाला। जिसके लिये यह प्रायश्चित्त दिया जाता है उसका भी ग्रहण यहाँ अनवस्थाप्य शब्द से ही किया गया है।

इसके पूर्व यहाँ पारंशिक प्रायश्चित्त की प्रकृषणा की जा चुकी है। पारंशिक प्रायश्चित्त से जहाँ आचार्य विशुद्धि को प्राप्त करता है, वहाँ इस अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त से उपाध्याय विशुद्धि को प्राप्त होता है। अनवस्थाप्य का अर्थ है अपराधजन में ही जतों में अवस्थापन के अयोग्य।

आशातन और प्रतिसेवी के भेद से उक्त अनवस्थाप्य दो प्रकार का है। इनमें भी प्रत्येक के दो भेद हैं—सचारित्र और अचारित्र। सचारित्र और अचारित्र का अभिप्राय यह है कि किसी अपराध के सेवन से तो चारित्र्य सर्वथा ही नष्ट हो जाता है और किसी के सेवन से वह वेशरूप में नष्ट होता है। कारण यह है कि अपराध के समान होने पर भी परिणाम के वश उसमें विविधता होती है। इसी प्रकार परिणाम के समान होने पर भी कहीं पर अपराध में भी विविधता होती है।

जो आशातन अनवस्थाप्य तीर्थंकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य, गणधर और महर्षिक इनमें से तीर्थंकर या प्रवचन की आशातना—विराजना या विरस्कार—करता है उसके लिए अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त का विधान है। शेष वे से जो किसी एक की आशातना करता है उसके लिए चार गुरु प्रायश्चित्त होते हैं। परन्तु यदि कोई शेष उन चारों की ही आशातना करता है तो वह अनवस्थाप्य होता है।

प्रतिसेवना अनवस्थाप्य भी पूर्वोक्त साधर्मिक प्रादि के भेद से तीन प्रकार का है। इनके लिए भी अपराध के अनुसार यहाँ विविध प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान है—जैसे शेष के लिये मूल

प्रायश्चित्त तक, उपाध्याय के लिए अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त तक और आचार्य के लिए पारंक्षिक प्रायश्चित्त तक ।

किन गुणों से युक्त साधु (उपाध्याय) को यह अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त दिया जाता है, इसका विचार करते हुए यहाँ कहा गया है कि जो संहनन (वच्छवृषभनाराच), वीर्य, भागम—जघन्य से नीचे पूर्व के अन्तर्गत आचार नामक तीसरी वस्तु और उत्कर्ष से असम्पूर्ण दसवाँ पूर्व, तथा सूत्र और अर्थ इनसे व तदनु रूप विधि से परिपूर्ण है; सिंहनिःक्रोडित आदि तपों का आदर करता है, इन्द्रियों व कषायों के निग्रह में समर्थ है, प्रवचन के रहस्य को जानता है, गच्छ से निकाले जाने का अशुभ भाव जिसके हृदय में जरा भी नहीं रहता तथा जो निर्वासन के योग्य है; इन गुणों से युक्त साधु ही प्रकृत अनवस्थाप्य के योग्य स्थान को प्राप्त करता है । उक्त गुणों से जो रहित होता है उसे अनवस्थाप्य के योग्य अपराध के होने पर भी भूल प्रायश्चित्त ही दिया जाता है ।

आशातन अनवस्थाप्य जघन्य से छह मास और उत्कर्ष से बारह मास तक गच्छ से पृथक् रहता है । परन्तु प्रतिसेवी अनवस्थाप्य जघन्य से एक वर्ष और उत्कर्ष से बारह वर्ष तक गच्छ से पृथक् रहता है । कारणविशेष से वह इसके पूर्व भी गच्छ में प्रविष्ट हो सकता है ।

इस प्रकार के अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त को जो प्राप्त करता है वह उपाध्याय ही होता है । उसे अपने गण में रहते हुए इस प्रायश्चित्त को ग्रहण नहीं करना चाहिए, किन्तु अपने समान किसी शिष्य को अपना भार छीपकर अन्य गण में चले जाना चाहिये और बड़ा पटुचकर प्रशस्त द्रव्य-क्षेत्रादि में दूसरे गण के आचार्य को आलोचना देना चाहिए । उस समय उपसर्ग के निवारणार्थ दोनों ही कायोत्सर्ग करते हैं । अपने गण में रहते हुए इस प्रायश्चित्त के न कर सकने का कारण यह है कि वैसा होने पर शिष्यों का उसके ऊपर विश्वास नहीं रह सकता, वे निर्भय होकर आज्ञा भंग कर सकते हैं; तथा शिष्यों के अनुरोध से भक्त-पानादि के लाने में नियत्रणा नहीं होती । ये सब दोष परगण में चले जाने पर सम्भव नहीं हैं ।

जब वह अन्य गण के आचार्य को आलोचना देता है तब आचार्य अनुशितस्त्व का उच्चारण करते हुए इतर साधुओं से कहते हैं कि यह तप को स्वीकार करता है, इसलिए यह आप लोगो के साथ संभाषण आदि न करेगा, आप लोग भी इसके साथ संभाषण आदि न करें ।

उक्त अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त को स्वीकार करके वह परगण में शैक्ष आदि सभी साधुओं की वन्दना करता है, गच्छ में रहता हुआ वह दोष साधुओं के उपभोग से रहित उपाश्रय के एक पार्श्व में रहता हुआ संभाषण, प्रतिप्रच्छन, परिवर्तन और अभ्युत्थान आदि नहीं करता ।

प्रकृत प्रायश्चित्त की प्ररूपणा यहा ५०५८-५१३७ गाथाओं में की गई है ।

अनुमानित—यह १० आलोचनादोषों में दूसरा है । कही-कही (चारित्रसार, अनगारधमामृत और आचारसार आदि में) इसका उल्लेख 'अनुमापित' नाम से किया गया है । मूलआचार (११-१५) और भगवती आराधना (५६२) के अनुसार ये दस दोष ये हैं—आकम्पित, अनुमानित, दुष्ट, बादर, सुकम, छल, शब्दाकुलित, बहुजन, अभ्यक्त और तत्सेवी । तत्त्वार्थवातिक में इन दोषों के स्वरूप का निर्देश करते हुए उनके नामों का निर्देश न करके केवल प्रथम-द्वितीयादि संख्याशब्दों का ही उपयोग किया गया है । तत्त्वार्थश्लोकावतिक में उनका स्वरूप तो संक्षेप में दिखलाया गया है, पर वहाँ न उनके नामों का निर्देश किया गया है और न संख्याशब्दों का भी । तत्त्वार्थमाध्य और तदनुसारणी हरिभद्र सूरि एवं सिद्धसेन गणी विरचित टीकाओं में उक्त दोषों का उल्लेख ही नहीं किया गया है । वहाँ केवल आलोचना के इन पर्याय शब्दों का निर्देश मात्र किया गया है—आलोचन, विवरण, प्रकाशन, आस्थान और प्रादुर्करण ।

प्रकृत अनुमानित दोष का लक्षण भगवती आराधना में पाँच गाथाओं द्वारा (५६६-७३) इस प्रकार बतलाया गया है—अपराध करने वाला साधु स्वभावतः आरीरिक सुख की अपेक्षा रखता हुआ

अपने बल को छिपाकर पार्श्वस्थ होने के कारण गुरु से कहता है कि मैं चूँकि निहीन (दुर्बल) हूँ, अतएव उपवास के लिए असमर्थ हूँ। आप मेरे बल, अर्थात् की दुर्बलता—उपवास की मन्दता—और रोग प्रवस्था को जानते ही हैं, मैं उत्कृष्ट तप करने के लिए समर्थ नहीं हूँ। मैं सबकी आलोचना करता हूँ, यदि तत्पश्चात् आप मेरे ऊपर अनुग्रह करते हैं। आपकी कृपा से मैं श्रुति की इच्छा करता हूँ, जिससे मेरा कृन अपराध से उद्धार हो सके। इस प्रकार से प्रार्थना करता हुआ वह अनुमान से ही हीन-अधिक प्रायश्चित्त देनेरूप गुरु के अभिप्राय को जानकर सत्य से युक्त (संकित) होता हुआ पीछे आलोचना करता है। यह दूसरा (अनुमानित) आलोचनादोष है। इस दोष की समीक्षा करते हुए आगे कहा गया है कि जिस प्रकार सुख का इच्छुक कोई मनुष्य गुणकारक समझकर अप्रत्यक्ष भोजन को करता है और पीछे उसके कटुक फल को भोगना है उसी प्रकार उक्त प्रकार से आलोचना करने वाला उससे श्रुति की कल्पना करके परिश्रम में अपने ग्रहित को ही करता है।

उक्त दोष (द्वितीय) का लक्षण तत्त्वार्थवातिक, तत्त्वार्थलोकवातिक, चारित्रसार और आचार-सार में इस प्रकार निदिष्ट किया गया है—मैं स्वभावतः दुर्बल व रोगी होने से उपवास आदि के करने में असमर्थ हूँ। यदि प्रायश्चित्त थोड़ा दिया जाता है तो मैं प्रकृत दोषों का निवेदन करूँगा। इस प्रकार से दीनतापूर्ण वचन कहना, यह आलोचना का अनुमानित नाम का दूसरा दोष है। इस प्रकार के लक्षण से 'अनुमानित' की सार्थकता नहीं मिलती।

भगवती अपराधना की विजयोदया टीका में कहा गया है कि किसी प्रकार से गुरु के अभिप्राय को जानकर—थोड़ा प्रायश्चित्त देने वाले हैं या अधिक, इसका अनुमान करके—आलोचना करना, इसे आलोचना का अनुमानित दोष कहा जाता है।

भूलाचार की टीका में इसके लक्षण में यह कहा गया है कि जो अपने शरीर और आहार के कुछ बल को प्रगट करने वाले दीन वचनों के द्वारा आचार्य को अनुमान कराकर अपने प्रति दयाव्रिष्टि करते हुए अपने दोषों का निवेदन करता है वह आलोचना सम्बन्धी इस अनुमानित दोष का भागी होता है।

व्यवहारसूत्र भाष्य की मलयगिरि विरचित टीका में कहा गया है कि छोटे से अपराध के निवेदन आदि के द्वारा आचार्य अल्प दण्ड देने वाले हैं या गुफ्तर, इसका अनुमान करके जो आलोचना की जाती है; इसका नाम अनुमानित दोष है।

अनृत—तत्त्वार्थसूत्र में सामान्य से असत् बोलने को अनृत (असत्य) कहा गया है। इसकी स्पष्ट करते हुए सर्वाथसिद्धि व तत्त्वार्थवातिक में कहा गया है कि असत् का अर्थ अप्रशस्त और अप्रशस्त का अर्थ है प्राणिपीडाकर। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो वचन प्राणी को पीड़ा पहुँचाने वाला है वह चाहे विद्यमान अर्थ का प्ररूपक हो और चाहे अविद्यमान अर्थ का, किन्तु उसे असत्य ही कहा जाता है।

तत्त्वार्थभाष्य में असत् का अर्थ सद्भावप्रतिषेध, अर्थान्तर और गहीं किया गया है। इनमें सद्भावप्रतिषेध के स्वरूप को प्रगट करते हुए भूतनिह्वय—विद्यमान अर्थ के अपसाप और अमृतोद्भावन—अतस्त्वरूपता—को सद्भावप्रतिषेध कहा गया है। इनके लिये उदाहरण देते हुए कमलः उसे इस प्रकार से स्पष्ट किया गया है—जैसे आत्मा नहीं है व परलोक नहीं है, इत्यादि वचन विद्यमान अर्थ के अपसापक होने से असत् (असत्य) माने जाते हैं। यह आत्मा समा (एक प्रकार का छोटा अन्त्य) के वास्तव बराबर है, अंगूठे के पर्व प्रमाण है, आदित्यवर्ण (आस्वरूप) है या निष्क्रिय है, इत्यादि वचन अमृतोद्भावक होने से—अथार्थात् स्वरूप के प्ररूपक होने के कारण—असत्य माने जाते हैं। गाय को थोड़ा और थोड़े को गाय कहना, यह अर्थान्तररूप असत् वचन है। सत्य होते हुए भी यदि कोई वचन हिंसा, कठोरता अथवा पिशुनतायुक्त है तो वह गहरूप (क्रुस्तित—शास्त्रनिषिद्ध) होने से असत् माना जाता है।

तत्त्वार्थवातिक (७, १५, ५) में यह शंका उठाई गई है कि 'असदभिधानमनृतम्' के स्थान में 'मिथ्यामृतम्' ऐसा सूत्र होना चाहिए था, क्योंकि इसमें सूत्रोचित लाघव था। इसके समाधान में यहाँ

यह कहा गया है कि ऐसा करने से केवल विपरीत अर्थ मात्र का बोध हो सकता था—हिंसादियुक्त वचन का बोध उससे नहीं हो सकता था। कारण यह कि 'मिथ्या' शब्द की प्रवृत्ति विपरीत अर्थ में ही देखी है। अत एव वैयास सूत्र करने पर भूतनिर्लभ और भ्रूतोद्भावनाविषयक वचन ही असत्य ठहरता, न कि हिंसादि का कारणभूत वचन। आगे भूतनिर्लभ और भ्रूतोद्भावना के लिए जो 'आत्मा नहीं है' इत्यादि उदाहरण दिये गये हैं वे भाष्य जैसे ही हैं।

ऐसी ही आशंका सिद्धसेन गणी ने भी उक्त सूत्र की टीका में उठाई है और उसके समाधान का अभिप्राय भी लगभग वैयास ही रहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र के द्वारा अपने पुरुषार्थसिद्धयुपाय (६१-६६) में जो असत्य वचन का विवेचन किया गया है वह भाष्यकार के अभिप्राय से बहुत कुछ मिलता-जुलता है (देखिये 'असत्य' शब्द)।

अन्यविवाहकरण—यह ब्रह्मचर्याश्रित का एक प्रतिचार है। सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवातिक में सामान्य से दूसरे के विवाह के करने को उक्त प्रतिचार कहा गया है।

तत्त्वार्थभाष्य में इन पांच प्रतिचारों के नाम मात्र का निर्देश किया गया है।

हरिभद्र सूरि और सिद्धसेन गणी अपनी-अपनी टीका में उसे स्पष्ट करते हुए पर या अन्य शब्द से अपनी सन्तान को छोड़कर अन्य की सन्तान को ग्रहण करते हैं। तदनुसार अपनी सन्तान का विवाह करना तो प्रतिचार नहीं है, किन्तु कन्याफल की इच्छा से अथवा स्नेहवश किसी दूसरे की सन्तान का विवाह करने पर उक्त प्रतिचार अनिवार्य है। इनके पश्चात्पूर्ति प्रायः सभी ग्रन्थकारों ने—जैसे हेमचन्द्र सूरि, मुनिचन्द्र और पं. आशाधर आदि ने—इसी अभिप्राय को व्यक्त किया है।

अपरिग्रहीतागमन—यह भी एक उक्त ब्रह्मचर्यव्रत का प्रतिचार है। इन प्रतिचारों के विषय में ग्रन्थकारों में कुछ मतभेद रहा है। तत्त्वार्थसूत्र के जिस सूत्र में इन प्रतिचारों का नामनिर्देश किया गया है उसमें भी सर्वार्थसिद्धि और माध्य के अनुसार कुछ भिन्न पाठ है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार वे पांच प्रतिचार ये हैं—परविवाहकरण, इत्वरिका-परिग्रहीतागमन, इत्वरिका-अपरिग्रहीतागमन, अन्नगक्रीडा और कामतीव्रानिवेश। तत्त्वार्थभाष्य के अनुसार वे ही प्रतिचार इस प्रकार हैं—परविवाहकरण, इत्वर-परिग्रहीतागमन, अपरिग्रहीतागमन, अन्नगक्रीडा और कामतीव्रानिवेश।

पं. आशाधर ने सागारधर्माभूत (४-५८) में इन प्रतिचारों का निर्देश इस प्रकार किया है—इत्वरिकागमन, परविवाहकरण, विटत्व, स्मरतीव्रानिवेश और अन्नगक्रीडा। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र में निर्दिष्ट इत्वरिका-परिग्रहीतागमन और इत्वरिका-अपरिग्रहीतागमन इन दो का अन्तर्भाव एक 'इत्वरिका-गमन' में करके विटत्व नाम के एक अन्य भी प्रतिचार को सम्मिलित कर लिया है।

हरिभद्र सूरि और सिद्धसेन गणी आश्वक को लक्ष्य करके ब्रह्म की निवृत्ति दो प्रकार से बतलाते हैं—स्वदारसन्तोष से अथवा परपरिग्रहीत स्त्री के सेवन के परित्याग से। तदनुसार स्वदारसन्तोषी अपनी पत्नी को छोड़कर शेष सभी स्त्रियों के सेवन से दूर रहता है। किन्तु दूसरा जो परपरिग्रहीत स्त्री के सेवन का त्याग करता है वह अपनी पत्नी के सेवन का तो त्यागी होता ही नहीं है, साथ ही जो वैश्या आदि दूसरों के द्वारा परिग्रहीत नहीं हैं उनके उपभोग से भी वह निवृत्त नहीं होता है। विशेष इतना है कि यदि उक्त अपरिग्रहीत वैश्या आदि ने किसी अन्य का कुछ काल के लिए भाड़ा ले लिया है तो तब तक वह परपरिग्रहीत स्त्री के त्यागी को भी अनुपभोग्य होती है।

योगशास्त्र के कर्ता आचार्य हेमचन्द्र और सागारधर्माभूत के कर्ता पं. आशाधर का भी लगभग यही अभिप्राय रहा है। भा. हेमचन्द्र ने इत्वरान्ता (इत्वर-परिग्रहीता) गमन और अन्नात्तागमन इन दो प्रतिचारों का निर्देश केवल स्वदारसन्तोषी के लिए किया है। शेष तीन प्रतिचार दोनों के लिए कहे गये हैं^१।

१. इसी प्रतिचारों स्वदारसन्तोषिण एव, न तु परदारवर्जकस्य; इत्वरान्ताया वैश्यात्वेन अन्नात्तायास्त्व-
नाशतयैवापरदारत्वात्। शेषास्त्यतिचारो द्वयोरपि। योगशा. स्तो. विव.

प्रकृत अपरिग्रहीतागमन प्रतिचार के विषय में सर्वाथसिद्धि और तत्त्वार्थवातिक आदि के कर्ताओं ने अपरिग्रहीता शब्द से सामान्यतः पर पुरुष से सम्बन्ध रखनेवाली वेश्या या स्वामी से रहित अन्ध दुराचारिणी स्त्री को ग्रहण किया है। परन्तु हरिभद्र सूरि आदि ने उसमें एक विशेषण और जोड़कर जिसने किसी दूसरे में आसक्त होकर उसका भाड़ा ले लिया है ऐसी वेश्या अथवा अनाथ—स्वामिविहीन—कुलांगना को ग्रहण किया है। इसका यह अभिप्राय हुआ कि यदि कोई ब्रह्मचर्याश्रित किसी वेश्या अथवा स्वामिरहित अन्ध किसी स्त्री के साथ समागम करता है तो सर्वाथसिद्धि आदि के मत से यह उसके मत को दूषित करनेवाला प्रतिचार होगा। किन्तु हरिभद्र सूरि आदि के मत से वह प्रतिचार नहीं होगा, वह प्रतिचार उनके मत से तभी होगा जब कि उसने किसी दूसरे का भाड़ा ले लिया हो।

अप्रतिपाती (अवधि)—तत्त्वार्थवातिक में प्रतिपाती और अप्रतिपाती के स्वरूप को प्रगट करते हुए कहा गया है कि जो वेश्यावधि विद्युत्प्रकाश के समान निनष्ट होनेवाला है उसे प्रतिपाती और इसके विपरीत को—जो विद्युत्प्रकाश के समान नष्ट होनेवाला न हो—अप्रतिपाती कहा जाता है।

यबला में इसे कुछ और विवाद करते हुए कहा गया है कि जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर केवलज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर ही नष्ट होता है, उसके पूर्व में नष्ट नहीं होता; उसका नाम अप्रतिपाती है।

देवेन्द्रसूरि द्वारा विरचित कर्मविपाक की स्वोपज्ञ वृत्ति में उसका स्वरूप कुछ भिन्न इस प्रकार कहा गया है—जो प्रतिपत्ति न होकर अलोक के एक प्रदेश को भी जानता है वह अप्रतिपाती कहलाता है। लोकप्रकाश में भी उसका यही लक्षण कहा गया है।

आचार्य मलयगिरि ने उसके लक्षण का निर्देश करते हुए प्रज्ञापना की वृत्ति में कहा है कि जो केवलज्ञान अथवा मरण के पूर्व नष्ट नहीं होता उसे अप्रतिपाती कहा जाता है।

अव्यक्त दोष—यह दस आलोचनादोषों में नौवाँ है। अगवती आराधना (५६८-६००) में इसके स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो ज्ञानबाल और चारित्रबाल के पास आलोचना करता हुआ यह समझता है कि मैंने सबकी आलोचना कर ली है उसकी यह आलोचना अव्यक्त नामक नौवें आलोचनादोष से दूषित होती है। कारण यह है कि वैसे आलोचना परिणाम में हानिप्रद है। त्रिम प्रकार कोई अज्ञानी सुवर्ण जैसे दिखनेवाले किसी पदार्थ को यथार्थ सुवर्ण समझकर ग्रहण करता है, पर उसका उपयोग अभीष्ट वस्तु के ग्रहण में नहीं होता है, तथा दुष्ट के साथ की गई मित्रता जिस प्रकार परिणाम में अहितकर होती है, उसी प्रकार अव्यक्त के समक्ष की जानेवाली आलोचना बुद्धि का कारण न होकर अनर्थकारक ही होती है।

अनुमानित दोष के प्रसंग में यह पूर्व में कहा जा चुका है कि तत्त्वार्थवातिक और तत्त्वार्थलोक-वातिक में इन दोषों के नामों का निर्देश नहीं किया गया, उनके लिए केवल सख्या शब्दों—प्रथम व द्वितीय आदि शब्दों—का ही निर्देश किया गया है। प्रकृत (अव्यक्त) दोष वहाँ नौवाँ विवक्षित रहा है या दसवाँ, यह निश्चय नहीं किया जा सका। वहाँ नौवें और दसवें दोषों के लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं— ६ किसी प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर जो साधु अपने ही समान है उसके पास प्रमाद से किये गये अपने असाधारण का निवेदन करके यदि गुस्तर भी प्रायश्चित्त ग्रहण किया जाता है तो भी वह निष्फल होता है, यह नौवाँ आलोचना दोष है। १० इसके अपराध से मेरा अपराध समान है, उसे यही जानता है; अतः इसे जो प्रायश्चित्त दिया गया है वही मेरे लिये भी शीघ्रता से कर लेना चाहिये, ऐसा विचार करते हुए प्रायश्चित्त लेना; यह दसवाँ दोष है।

चारित्र्यसार में अनेक विषयों का विवेचन केवल तत्त्वार्थवातिक के आधार से ही नहीं, बल्कि कहीं कहीं तो उसी के शब्दों व वाक्यों में किया गया है। प्रकृत अव्यक्त दोष का लक्षण यहाँ तत्त्वार्थवातिककार के शब्दों में ही व्यक्त किया गया है। यहाँ इतना विशेष है कि 'नवम' शब्द के साथ उसका अव्यक्त नाम

भी निदिष्ट किया गया है' (पृ. ६१-६२) ।

लक्षणकारों की दृष्टि में 'अभ्यक्त' शब्द के ये दो अर्थ रहे प्रतीत होते हैं—प्रगट न करना^१ और असीतार्थ—आत्म में अनिष्णात^२ । यदि तत्त्वार्थवातिकार की दृष्टि में अभ्यक्त का अर्थ अप्रगट रहा है तब तो उनके द्वारा निदिष्ट दसवां दोष ही अभ्यक्त हो सकता है । वहां उसके लक्षण में स्पष्टतया 'स्वबुधचरितसंबरणम्—अपने दुराचरण को प्रगट न करना या छिपाना' यह निदिष्ट किया गया है ।

आचारसार में इसके लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है जो गुरु अपने समान हो ज्ञान और तप में बाल (हीन) है उसके समक्ष लज्जा, भय भयवा प्रायश्चित्तादि के भय के कारण आलोचना करना—बहुश्रुत आचार्य के पास नहीं करना, यह अभ्यक्त नाम का आलोचनादोष है । यह लक्षण पूर्वोक्त भगवती आराधनागत लक्षण के समान है ।

मूलाचार की टीका में उक्त लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो प्रायश्चित्त आदि के विषय में निगुण नहीं है उसे अभ्यक्त कहा जाता है । उसके पास जो अल्प प्रायश्चित्त आदि के निमित्त से अपने दोष को कहता है वह इस अभ्यक्त दोष का पात्र होता है ।

अथवाङ्मयसूत्र भाष्य की मलयगिरि विरचित टीका में उसका लक्षण इस प्रकार निदिष्ट किया गया है—अभ्यक्त नाम अर्थात्तार्थ का है, ऐसे असीतार्थ गुरु के आगे जो अप्रगट की आलोचना की जाती है, इसे अभ्यक्त नामक नीचा आलोचनादोष जानना चाहिए ।

भट्टारक श्रुतसागर ने भावप्राप्त की टीका में स्पष्टतापूर्वक दोष के न कहने को अभ्यक्त दोष कहा है ।

अस्थिर नामकर्म—सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य में स्थिरता के निवर्तक कर्म को स्थिर और इससे विपरीत को अस्थिर नामकर्म कहा गया है । सर्वार्थसिद्धिगत इस लक्षण के स्पष्टीकरण में तत्त्वार्थवातिकार कहते हैं कि जिसके उदय से दुष्कर उपवासादि तप के करने पर भी अंग-उपांगों की स्थिरता रहती है उसे स्थिर नामकर्म कहते हैं, तथा जिसके उदय से थोड़े भी उपवासादि के करने से अथवा थोड़ी-सी शीत या उष्णता आदि के सम्बन्ध से अंग-उपांग कृशता को प्राप्त होते हैं उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं ।

तत्त्वार्थभाष्यगत उक्त लक्षण को विवक्षित करते हुए हरिभद्र सूरि और सिद्धसेन गणी कहते हैं कि जिसके उदय से शिर, हृद्दी और दांत आदि शरीरावयवों में स्थिरता होती है वह स्थिर और जिसके उदय से कान और त्वक् आदि शरीरावयवों में अस्थिरता, जलता व मृदुता होती है वह अस्थिर नामकर्म कहा जाता है ।

धवलाकार कहते हैं कि जिसके उदय से रस-रुचिरादि वातुधों की स्थिरता, अविनाश व अगमन होता है उसे स्थिर नामकर्म तथा जिसके उदय से उक्त रस-रुचिरादि वातुधों का उपरिम वातु के रूप में परिणाम होता है उसे अस्थिर नामकर्म कहा जाता है ।

अन्य ग्रन्थों में से भगवती आराधना की टीका में अपराजित सूरि ने सर्वार्थसिद्धि व तत्त्वार्थभाष्य का, मूलाचार की दृष्टि में वसुनन्दी ने धवलाकार का, आकरनन्दी ने त. सुखबोधा वृत्ति में तत्त्वार्थवातिकार का तथा शेष (चन्द्रवि महत्तर, गोविन्द गणी और अभयदेव सूरि आदि) ने हरिभद्र सूरि का अनुसरण किया है ।

१. प्रस्तुत लक्षणावली में 'अभ्यक्त दोष' के अन्तर्गत तत्त्वार्थवातिकगत जिस दसवें दोष के लक्षण का उल्लेख किया गया है उसके स्थान में इस नौवें दोष का लक्षण ग्रहण करना चाहिए—यत्किञ्चित् प्रयोजनमुद्दिष्ट्यारम्भना समानार्थैव प्रमादाचरितमावेद्य महदपि गृहीत प्रायश्चित्तं न फलकरमिति नवमः । यही अभिप्राय तत्त्वार्थश्लोकवातिक के विषय में भी जानना चाहिये ।

२. देखिये भावप्राप्त की टीकागत उक्त लक्षण । भावप्राप्त के टीकाकार भट्टारक श्रुतसागर ने तत्त्वार्थसूत्र की दृष्टि में अभ्यक्त का अर्थ अप्रबुद्ध निदिष्ट किया है ।

३. देखिये आचारसारगत और मूलाचार की टीकागत उक्त लक्षण ।

आकम्पित—यह दस आलोचनादार्थों में प्रथम है। भगवती आराधना में इसका लक्षण इस प्रकार कहा गया है—भोजन-पान, उपकरण और क्रियाकर्म (कृतिकर्म) इनके द्वारा गणी (आचार्य) को दयार्द्र करके जो आलोचना की जाती है, उसमें चूक यह उद्देश रहता है कि इस प्रकार आचार्य मेरे ऊपर अनुग्रह करेंगे व आलोचना भी सब हो जावेगी, अत एव इसे आकम्पित नाम का प्रथम आलोचना-दोष समझना चाहिए।

तत्त्वार्थवातिक आदि में भी उसका लक्षण लगभग इसी प्रकार का कहा गया है। विशेषता इतनी है कि भगवती आराधना में जहाँ अनुकम्पा के हेतु भवन-पान, उपकरण और क्रियाकर्म का निर्देश किया गया है; वहाँ इन ग्रन्थों में केवल उपकरणदान का ही निर्देश किया गया है, भक्त पानादि का नहीं। मूलाचार की वसुनदी विरचित टीका में अवश्य भक्त-पान और उपकरणदि का निर्देश किया गया है।

भावप्राप्त की टीका में भट्टारक श्रुतसागर ने सम्भवतः उक्त लक्षण की सार्थकता दिखलाने के अभिप्राय से यह कहा है कि आलोचना करत हुए शरीर में चूक कम्प उत्पन्न होता है, भय करता है; इसी से इसे आकम्पित कहा जाता है। उन्होंने तत्त्वार्थवृत्ति में उसके लक्षण का निर्देश तत्त्वार्थवातिक के ही समान किया है।

आनुपूर्वी या आनुपूर्व्य नामकर्म—इसके लक्षण का निर्देश करते हुए तत्त्वार्थभाष्य में कहा गया है कि विवक्षित गति में उत्पन्न होने वाला जीव जब अन्तर्गति (विग्रहगति) में वर्तमान होता है तब उसे अनुक्रम से जो उस (विवक्षित) गतिके अभिमुख—उसके प्राप्त कराने में समर्थ होता है उसे आनुपूर्वी नामकर्म कहते हैं।

इसी भाष्य में मतान्तर को प्रगट करते हुए पुनः कहा गया है कि दूसरे आचार्य यह कहते हैं कि जो निर्माण नामकर्म से निमित्त भग्न और उपांगों के रचनाक्रम का नियामक है उसे आनुपूर्वी नामकर्म कहा जाता है।

सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवातिक आदि के अनुसार जिसके उदय से पूर्व शरीर का आकार विनष्ट नहीं होता है वह आनुपूर्वी नामकर्म कहलाता है।

उत्कृष्ट आश्रय—ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक आश्रय को उत्कृष्ट कहा गया है। आचार्य समन्तभद्र उसके लक्षण को प्रगट करते हुए रत्नकरण्डक में कहते हैं कि जो घर से—उसे छोड़कर—मुनियों के आश्रम में चला जाता है और वहाँ गुरु के समीप में व्रतो को ग्रहण करता हुआ भिक्षा से प्राप्त भोजन करता है, तप का आचरण करता है, तथा वस्त्रखण्ड को—लंगोटी मात्र को—धारण करता है वह उत्कृष्ट आश्रय कहलाता है। यहाँ उस उत्कृष्ट आश्रय के कोई भेद निर्दिष्ट नहीं किए गए।

पर वसुनन्दिश्रावकाचार और सागारधर्मामृत में उसके दो भेद निर्दिष्ट करते हुए कहा गया है कि प्रथम उत्कृष्ट आश्रय वह है जो एक वस्त्र को धारण करता है, कैंची अथवा उस्तरे से वालों को निकलवाता है, बैठने आदि के समय में उपकरण (कोमल वस्त्रादि) के द्वारा प्रतिलेखन करना है—आडता है, बैठकर हाथ में अथवा वर्तन में एक बार भोजन करता है, पर्व दिनों में नियम से उपवास करता है, भिक्षा के लिए जाते हुए पात्र को थोता है व किसी गृहस्थ के घर जाकर आगम में स्थित होता हुआ 'धर्मलाभ' के उच्चारणपूर्वक याचना करता है, वहाँ भिक्षाभोजन प्राप्त हो अथवा न भी हो, वहाँ से शीघ्र निकल कर दूसरे घर पर जाता है व मौनपूर्वक शरीर को दिखलाता है, यदि मार्ग में कोई भोजन के लिए प्रार्थना करता है तो प्रथमतः प्राप्त हुए भोजन को खाकर फिर शेष भोजन बढ़ा करता है। यदि कोई बीच में नहीं रोकता है तो उदरपूर्ति के योग्य भिक्षा के लिए भ्रमण करता है, पश्चान् किसी एक गृह पर प्रासुक पानी को माँग कर भोजन को सोखता हुआ खाता है और फिर पात्र को छोड़कर गुरु के समीप जाता है। यदि यह विधि किसी को नहीं प्यती है तो वह एकभिक्षा के नियम-

पूर्वक मुनि के आहार के बाद भोजनार्थ जाता है, यदि अन्तराय प्रादि होता है तो फिर मुख के समीप बार प्रकार के उपवास की ग्रहण करता है और सबकी प्रालोचना करता है ।

दूसरा उत्कृष्ट आदक उक्त प्रथम के ही समान है । विशेष इतना है कि वह बालों का नियम से लोच करता है, पिच्छी को धारण करता है, लंगोटी मात्र रखता है, और हाथ में ही भोजन करता है । पं. अक्षायर के अभिमतानुसार इसका नाम धार्य है (प्रथम की कोई संज्ञा निर्दिष्ट नहीं की गई) । प्रा. वसुनन्दी ने अन्त में यह सूचना की है कि उक्त दोनों प्रकार के उत्कृष्ट आदक का कथन सूत्र के अनुसार किया गया है ।

उपभोग—भोग और उपभोग ये दोनों शब्द अनेक ग्रन्थों में व्यवहृत हुए हैं । पर उनके लक्षण में एकरूपता नहीं रही । तत्त्वार्थसूत्र में इन दोनों शब्दों का उपयोग २-३ बार हुआ है^१ । किन्तु सूत्रात्मक ग्रन्थ होने से उनके लक्षणों का निर्देश वहां नहीं किया गया है ।

रत्नकरगडक में इनके पृथक्-पृथक् लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि जिसे एक बार भोग कर छोड़ दिया जाता है वह भोग और जिसे एक बार भोग कर फिर से भोगा जा सकता है वह उपभोग कहलाता है । जैसे कमलः भोजन प्रादि और वस्त्र प्रादि ।

सर्वार्थसिद्धि (२-४) में नौ प्रकार के क्षायिक भाव की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि सम्पन्न भोगान्तराय के क्षय से जो क्षयशाययुक्त अनन्त क्षायिक भोग प्रादुर्भूत होता है उससे कुसुमवृष्टि प्रादि उत्पन्न होती है तथा सम्पूर्ण उपभोगान्तराय के क्षय से जो अनन्त क्षायिक उपभोग होता है उससे सिंहासन, चामर एवं तीन छत्र प्रादि विभूतियाँ प्रादुर्भूत होती हैं । इसका फलितार्थ यह प्रतीत होता है कि जो कुसुमादि एक बार भोगने में आते हैं उन्हें भोग और जो छत्र-चामरादि अनेक बार भोगे जाते हैं उन्हें उपभोग सम्भूता चाहिए ।

प्राये (२-४४) यहाँ कामंश शरीर की विशेषता को प्रयत्न करते हुए कहा गया है कि अस्तिम (कामंश शरीर) उपभोग से रहित है । यहाँ उपभोग का स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा गया है कि इन्द्रियों के द्वारा जो शब्दादिक की उपलब्धि होती है उसे उपभोग जानना चाहिए । यहाँ सम्भवतः एक व अनेक बार इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध होने वाले सभी पदार्थों को उपभोग शब्द से ग्रहण किया गया है ।

यहीं पर दिग्भतादि सात चीलों के निर्देशक सूत्र (७-२१) की व्याख्या में उपभोग-परिभोग-परिणामव्रत का विवेचन करते हुए भोजन प्रादि—जो एक ही बार भोगे जाते हैं—उन्हें उपभोग और वस्त्राभूषणादि—जो बार-बार भोगे जाते हैं—उन्हें परिभोग कहा गया है ।

तत्त्वार्थवातिक में सर्वार्थसिद्धिकार के ही अग्निप्राय को पुष्ट किया गया है । विशेष इतना है कि यहाँ (७, २१, ६-१०) उपभोग का निरुत्पत्त्य करते हुए कहा गया है कि 'उपेत्य भुज्यते इत्युपभोगः' अर्थात् जिन अन्न-पानादि वस्तुओं को आरमसात् करके भागा जाता है उन्हें उपभोग कहा जाता है तथा 'परित्यज्य भुज्यते इति परिभोगः' अर्थात् जिन वस्त्राभूषणादि को एक बार भोग कर व छोड़कर फिर से भोगा जाता है उन्हें परिभोग कहा जाता है ।

तत्त्वार्थवातिककार के द्वारा निर्दिष्ट इस निरुत्पत्त्यका अनुसरण हरिवंशपुराण, तत्त्वार्थश्लोक-वातिक और चारित्रसार में भी किया गया है ।

इस प्रकार उक्त दोनों ग्रन्थों में प्रथमतः (२-४) जो उपभोग का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है, उममे अन्त में (७-२१) निर्दिष्ट किया गया उसका लक्षण भिन्न है ।

१. ज्ञान-दशन-दान-ज्ञान-प्रापण-वायाण व (१-४), निरुपभागमन्त्यम् (२-४४, श्लो. २-४५), दिग्देशानर्पदण्डविरति..... (७-२१, श्लो. ७-१६) ।

२. भुक्त्वा परिहृतस्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः । उपभोगोऽन्न-वसनप्रभृतिपार्थिवेष्वपि विषयः ॥६३॥

तत्त्वार्थभाष्य में उपभोग-परिभोगवत्त के प्रसंग में यह कहा गया है कि अन्न-पान, वस्त्र, स्वाद्य, गन्ध और माला आदि तथा वस्त्र, अस्त्रकार, शयन, आसन, कुह, बान और बाहुन आदि जो बहुत पापजनक पदार्थ हैं; उनका परिस्थाप करना तथा अल्प पापजनक पदार्थों का परिमाण करना, इसका नाम उपभोग-परिभोगवत्त है। यहाँ यद्यपि उपभोग और परिभोग के लक्षणों का स्पष्ट निर्देश नहीं किया गया है, फिर भी जिस क्रम से उक्त वत्त का लक्षण कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि जो एक बार भोगने में आता है उसे उपभोग और जो अनेक बार भोगने में आता है उसे परिभोग कहा जाता है।

तत्त्वार्थसूत्र की हरिभद्र सूरि विरचित भाष्यानुसारिणी टीका (२-४) में कहा गया है कि उचित भोग के साधनों की प्राप्ति में जो निर्विघ्नता का कारण है उसे आधिक भोग और उचित उपभोग के साधनों की प्राप्ति में जो निर्विघ्नता का कारण है उसे आधिक उपभोग कहा जाता है। यहीं पर प्रागे उन दोनों में भेद प्रगट करते हुए यह कहा गया है कि जो एक बार भोगा जाता है वह भोग और जो बार-बार भोगा जाता है वह उपभोग कहलाता है। जैसे क्रमशः अक्षय-पेय आदि और वस्त्र-पान आदि।

प्रागे (६-२६) यहाँ उक्त भोग और उपभोग के लक्षणों में कहा गया है कि मनोहर शब्दादि विषयों के अनुभवन को भोग और अन्न, पान व वस्त्रादि के सेवन को उपभोग कहते हैं।

उपभोग-परिभोगपरिमाणवत्त के प्रसंग में यहाँ (७-१६) इतना मात्र कहा गया है कि उपभोग व परिभोग शब्दों का व्याख्यान किया जा चुका है। तदनुसार एक ही बार भोगे जाने वाले पुष्पाहारादि को उपभोग और बार-बार भोगे जाने वाले वस्त्रादि को परिभोग जानना चाहिए।

तत्त्वार्थभाष्य की सिद्धसेन गणि विरचित टीका (२-४) में कहा गया है कि उत्तम विषयसुख के अनुभव को भोग कहते हैं, अथवा एक बार उपभोग में प्रागे के कारण अक्षय, पेय और लेह्य आदि पदार्थों को भोग समझना चाहिए। विषय-सम्पदा के होने पर तथा उत्तरगुणों के प्रकर्ष से जो उनका अनुभवन होता है, इसका नाम उपभोग है; अथवा बार-बार उपभोग के कारण होने से वस्त्र व पान आदि को उपभोग कहा जाता है।

प्रागे (६-२६) हरिभद्र सूरि के समान सिद्धसेन गणि ने भी उन्हीं के शब्दों में मनोहर शब्द आदि विषयों के अनुभवन को भोग तथा अन्न, पान व वस्त्र आदि के सेवन को उपभोग कहा है। अन्वयदण्डविरति के प्रसंग में (७-१६) सिद्धसेनगणि उन दोनों का निष्कर्ष करते हुए कहते हैं कि 'उपभुज्यत इत्युपभोगः' इसमें 'उप' का अर्थ 'एक बार' है, तदनुसार जो पुष्पमाला आदि एक ही बार भोगी जाती है, उन्हें उपभोग कहा जाता है। अथवा 'उप' शब्द का अर्थ 'अभ्यन्तर' है तदनुसार अन्तर्भोगरूप आहार आदि को उपभोग कहा जाता है। 'परिभुज्यत इति परिभोगः' इस निश्चित में 'परि' शब्द का अर्थ 'बार बार' है। तदनुसार जिन्हें बार-बार भोगा जाता है ऐसे वस्त्र, गन्ध-माला और अस्त्रकार आदि को परिभोग जानना चाहिए।

सर्वसिद्धि और तत्त्वार्थात्मिक के समान हरिभद्र सूरि और सिद्धसेन गणि के द्वारा भी जो पूर्व में (२-४) उपभोग का लक्षण कहा गया है उससे पीछे (७-१६) निर्दिष्ट किया गया उसी का लक्षण भिन्न है।

पीछे के अधिकांश ग्रन्थकारों ने बार-बार भोगे जाने वाले पदार्थों को ही उपभोग माना है।

श्रुतसागर सूरि ने 'उपभोग-परिभोगपरिमाणम्' के स्थान में 'भोगोपभोगपरिमाणम्' पाठान्तर की सूचना की है, पर वह कहाँ उपलब्ध होता है, इसका कुछ निर्देश नहीं किया।

प्राकृत शब्दों की विकृति व उनका संस्कृत रूपान्तर

अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के द्वारा जो तत्त्वोपदेश दिया गया वह अर्थमागर्घी प्राकृत में दिया गया था। गौतमादि गणधरों के द्वारा वह आचारागादि श्रुत के रूप में उसी भाषा में ग्रथित किया गया। तत्पश्चात् वही मौखिक रूप में श्रुतकेवलियों आदि की परम्परा से अग्रश्रुत के एकदेश के धारक आचार्यों तक प्रवाहित रहा। तदनन्तर भयानक दुमिस के कारण जब साधु जन संयम के सरक्षणार्थ विभिन्न स्थानों को चले गये तब पारस्परिक तत्त्वचर्चा के अभाव में जो कुछ शेष रहा था वह भी लुप्तप्राय हो गया। इस प्रकार से उसे सर्वथा लुप्त होने हुए देख कर विचारशील महर्षियों ने यथासम्भव स्मृति के आधार पर पुस्तकरूप में ग्रथित किया। वही वर्तमान में हमें प्राप्त है। इस प्रकार आगम-भाषा मूलतः प्राकृत ही रही है, पर महर्षियों के विभिन्न प्रान्तों में रहने के कारण तथा उच्चारणभेद व लिपिविध के कारण भी वह भाषा उसी रूप में अवस्थित नहीं रह सकी व कुछ विकृत हो गई। यही कारण है जो आज एक ही शब्द के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। इसके इतिरिक्त समय की स्थिति को देखते हुए जब उमास्वाति आदि महर्षियों को संस्कृत में ग्रन्थरचना की आवश्यकता प्रतीत हुई तब उन्होंने संस्कृत में भी ग्रन्थरचना प्रारम्भ कर दी। इसके लिए प्राकृत शब्दों का संस्कृत रूपान्तर करने में भी कुछ शब्द भेद हुआ है।

उदाहरणस्वरूप षट्छण्डागम की धवला टीका में परिहार प्रायश्चित्त के दो भेदों का निर्देश करते हुए उसका प्रथम भेद 'अणुवट्टमो' बतलाया है। हस्तलिखित प्रतियों में इसके ये रूप और भी पाये जाते हैं— 'अणुवट्टवट्टो', 'अणुवट्टवट्टो' और 'अणुवट्टमो'। इसका संस्कृत रूपान्तर तत्त्वार्थवातिक और आचारसार में 'अनुपस्थापन' तथा बारिजसार और अनगारधर्माभूत टीका में 'अनुपस्थान' पाया जाता है। वही मूलरूप में बृहत्कल्पसूत्र में 'अणुवट्टप्य—अनवस्थाप्य' पाया जाता है।

दूसरा उदाहरण त्रिलोकसार की गाथा ५८५ है। इसमें हिमवान् पर्वत पर स्थित वृषभाकार नाली का वर्णन करते हुए उसके मुख, कान, जिह्वा और दृष्टि को तो सिंह के आकार तथा भ्रू और शीर्ष आदि को बैल के आकार का बतलाता गया है। इस प्रकार से उसमें अविकल वृषभाकारता नहीं रही। वस्तुस्थिति यह रही है कि ग्रन्थकर्ता के सामने इसका वर्णन करने वाली जो पूर्व गाथा रही है उसमें 'सिग' शब्द रहा है। वह विकृत होकर ग्रन्थकार को 'सिब' के रूप में उपलब्ध हुआ और उन्होंने प्रकृत गाथा में उसके पर्यायवाची 'केसरी' शब्द का प्रयोग कर दिया। 'सिग' शब्द के रहने से उसका सीधासादा अर्थ यह हो जाता है कि उसके सीग आदि सब चूँकि बैल के समान हैं, अतएव वह वृषभाकार प्रसिद्ध हुई है।

इसी प्रकार साधु के आहारविषयक १६ उद्गमदोषों में एक अभिहत नाम का दोष है। मूल प्राकृत शब्द 'अभिषट' रहा है। उसका संस्कृत रूप भगवती आराधना की विजयोदया टीका (२३०) में 'अभ्यहिट', मूलाराधनादर्पण में 'अभिहट', मूलआचार वृत्ति में 'अभिषट' और आचारसार (८-२० व

१. देखिये पीछे पृ. ७६-७८ पर 'अनुपस्थापन' शब्द की समीक्षा।

२. देखिये तिलोत्पण्णसी भा. २, प्रस्तावना पृ. ६७.

३. मूलआचार ६-५, १६ व २१ पिण्डनियुक्ति ६३ व ३२६.

८-३२) में 'अभिहत' पाया जाता है। यही पिच्छनिर्मुक्ति की समयगिरि विरचित वृत्ति (६३ व ३२६) में क्रम से 'अभिहत' और 'अभ्याहत', चारित्रसार (पृ. ३३) में भूलाचार के अनुसार 'अभिषट' तथा अनगारधर्मवृत्त (५-६ व १६) में 'अभिहत' उपलब्ध होता है।

प्रकृत में यहाँ ये तीन उदाहरण दिए गए हैं। इसी प्रकार अनेक प्राकृत शब्दों में विकार व उनके विविध संस्कृत रूपांतर हुए हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं —

प्राकृत	संस्कृत रूपान्तर
अज्जोवज्ज, अज्जोवरय	अज्यवि, अज्यवधि, अज्यवपूरक
अधापवत्त, अहापवत्त	अधाप्रवृत्त, अधःप्रवृत्त, यथाप्रवृत्त
अवाय	अपाय, अवाय
अवाधा, अवाहा, आवाधा	अवाधा, आवाधा
आउज्जीकरण, आवज्जिदकरण, आवज्जीकरण	आयोजिकाकरण, आवजितकरण
आविण्ण-अणाविण्ण	आविन्न-अनाविन्न, आशीर्ण-अनाशीर्ण, आदृत-अनादृत
आधा कम्म, अहेकम्म, आयाहम्म, अत्तकम्म	आधाकर्म, अधःकर्म, आत्मचनकर्म, आत्मकर्म
आशीविस	आशीविष, आशीरविष, आशीविष, आस्यविष
उद्दावण, ओद्दावण	अपद्रावण, उपद्रवण
उवसण्णासण्ण, ओसण्णासण्ण, उत्तण्हसण्हिया	अवसंज्ञासंज्ञा, अवसन्नासन्निका उत्संज्ञासंज्ञा, उच्छलक्षणवलक्षणिका
ओसण्णासण्णिया	

बीर-सेवा-मन्दिर }
२१, हरियाणज
बिरुली }

बालचन्द्र शास्त्री

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	कालम	पंक्ति	मसुदा	शुद्ध
२	१	६	नवरमकर्म	नवरमकर्म
२	१	७	१००	१०८
६	१	१०	अक्षप्रभरणवृत्ति	अक्षप्रभरण
६	१	१६	२५	३५
१८	२	४	६५१	४५५
१८	२	११	१-३	१-३०
२१	२	४०	विषयं	विषयं
२३	२	१७	अष्टदशसहस्राङ्	अष्टदशसहस्राङ्
२७	१	१	३६	१-३६
२८	२	३०	२-८	३-८
३१	२	६	प्रवृत्त	प्रवृत्त
३६	२	२१	भारंभ	परिदावण-भारंभ
४०	१	२२	अध्यधि	अध्यधि
४०	१	२२	अजभोवज्ज	अजभोवज्ज
४६	२	२६	अव.	अव.
५२	२	२६	अनवक्ष्या-	अनवक्ष्या-
६६	२	३५	एकवर्णनि-	एकवर्णनि-
७३	१	२६	इक्ष्वा. नि. १-४८	× × ×
८१	१	३०	ह. आ. मूल.	अ. आ. मूला.
८१	२	३२	-मात्मा, आदित्यवर्णः	-मात्मा, अष्टगुणपर्यमात्रो- ऽयमात्मा, आदित्यवर्णः
९२	१	३२	गोरदवस्त-	गोरदवस्त-
९२	१	३४	सम्बन्धः । ३	सम्बन्धः । (प्रमास. वृ. ३८६) । ३
११२	१	३८	स्वो.	स्वान. स्वो.
११४	१	१३	स्थानांग सू.	स्थानांग अभय. वृ. सू.
१३२	१	२७	कपिलव	कपिल व
१६६	२	१३	गामान्तर	गामान्तर
१६६	१	२१	आनुपूर्वी	आनुपूर्वी
२०६	२	१८	प्रसाव.	प्रसाव.
२१५	१	१३	देखो आधुक्तकरण	देखो आधुक्तिककरण
२१५	१	२२	वृ.	३४५, वृ.
२६२	२	३८	उद्देश	उद्देश
२७३	१	२८	वाहनासन	वाहनास[स]न
३०२	१	२९	अवर्ण-	अवर्ण-

जैन-लक्षणावली

(जैन पारिभाषिक शब्द-कोष)

अकथा (अकहा) १. मिच्छतं वेयंतो जं अण्णाणी कहं परिकहेइ । लिंगस्यो व गिही वा सा अकहा वेसिया समए ॥ (वशवं अ. ३, नि. २०६) । २. मिध्या-दृष्टिना अज्ञानिना लिंगस्थेन वा गृहिणा कथ्यमाना कथा अकथा । (अभिधान० भा० १, पृ० १२४) । अज्ञानी मिध्यादृष्टि चाहे लिंगी (द्रव्य प्रवृत्तित साधु) हो या गृहस्थ, उसके द्वारा कही जाने वाली कथा अकथा है ।

अकम्बर्पी—अकम्बर्पी कम्बर्पीदीपनभाषितादिवि-कलः । (व्य. सू. मलय. वृ. १) ।

कामोद्दीपक वचन नहीं बोलने वाले पुरुष को अकम्बर्पी कहते हैं ।

अकरणोपशमना (अकरणुवसामणा)—१. जा सा अकरणुवसामणा तिस्से दुवे णामधेवाणि—अकरणुवसामणा ति वि अणुदिण्णोवसामणा ति वि, एसा कम्मपवादे । (कसायपा. चू. पृ. ७०७; ध्व. पु. १५, पृ. २७५) । २. कम्मपवादो णाम अट्टमो पुब्बाहि-यारो, जत्थ सव्वेस्सि कम्माणं मूलुत्तरपयडिभेय-अण्णानं दव्व-खेत-काल-भावे समस्सिपूण विवाग-परिणामो प्रविवागपज्जाओ व बहुवित्थरो अणुवण्णि-दो । तत्थ एसा अकरणोवसामणा दट्ठव्वा, तत्थेदिस्से पबंघेय पखणोवलंभादो । (अयथ.—कसायपा. पृ. ७०७ का टि. १); ३. एद—(करणोवसामणा-) व्वदिरित्तलवखण-अकरणोवसामणा णाम । पसत्था-असत्थकरणपरिणामेहि विणा अपत्तकालाणं कम्म-पवेषाणमुदयपरिणामेण विणा अवट्ठाणं करणोव-सामणा ति वुत्तं होइ । (अयथ. पत्र ८५६) । ४. करणं क्रिया, ताए विणा जा उवसामणा अकरणोवसामणा गिरिनीदीपाणवट्ठससारत्थस्स जीवस्स वेदनादिभिः कारणरूपशान्ता भवति, सा अकरणोवसामणा ।

(कर्मप्र. चू. उप.क.पा. १) । ५. इह द्विविधा उपशा-मना करणकृताऽकरणकृता च । तत्र करण क्रिया यथा-प्रवृत्ताऽपूर्वाऽनिवृत्तिकरणसाध्यः क्रियाविशेषः, तेन कृता करणकृता । तद्विपरीताऽकरणकृता । या संसा-रिणां जीवानां गिरिनीदीपाणवृत्तनादिसंभववद्यथा-प्रवृत्तादिकरणक्रियाविशेषमन्तरेणाऽपि वेदनानुभव-नादिभिः कारणैरुपशमनोपपज्जायते साऽकरणकृतेत्यर्थः । इदं च करणकृताऽकरणकृतस्वरूपं द्विविध्यं देशोपशाम-नाया एव द्रष्टव्यम्, न सर्वोपशामनायाः; तस्याः करणेभ्य एव भावान् । (कर्मप्र. उपश. मलय. वृ. गा. १, पृ. २५४) ।

४. जिस प्रकार पर्वत पर बहने वाली नदी में अवस्थित पाषाण धावि में बिना किसी प्रकार के प्रयोग के स्वयमेव गोलाई धावि उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार सत्तारी जीवों के अथः प्रवृत्तकरण धावि परिणामस्वरूप क्रियाविशेष के बिना ही केवल वेदना के अनुभव धावि कारणों से कर्मों का जो उपशमन—उदय परिणाम के बिना अवस्थान—होता है उसे अकरणोपशमना कहते हैं ।

अकर्मबन्ध—१. मिच्छताऽजंजम-कसाय-जोगपच्च-एहि अकम्मसरूवेण द्विदकम्मइयक्खंघाणं जीवपदे-साणं च जो अण्णोण्णेण सभागो सो अकम्मबंधो णाम । (अयथ. १, पृ. १८७) । २. अकम्मबंधो णाम कम्मइयवग्गणादो अकम्मसरूवेणावट्ठिदपदे-साणं गहणं । (अयथ० पत्र ४५८) ।

अकर्मरूप से स्थित कामाजि रुक्मों का और जीवप्रवेशों का मिथ्यात्व धावि बार बन्धकारणों के द्वारा जो परस्पर प्रवेश होता है, इसका नाम अकर्म-बन्ध है ।

अकर्मभूमि—१. जंबूद्वीपे दीपे मंदरस्त पव्वयस्स दाहिणेण ततो अकम्मभूमिओ प. तं.—हेमवते हरि-
वासे देवकुरा । जंबूद्वीपे २ मंदरस्त पव्वयस्स उत्त-
रेण तथो अकम्मभूमिओ प. तं.—उत्तरकुरा रम्मग-
वासे एरण्णवए । (स्थानांग ३, ४, १६७, पृ. १५०) ।
२. नवरमकर्मभूमि. भोगभूमिरित्यर्थः । (स्थाना.
अभय. सू. ३, १, १३१, पृ. १००) । ३. हेमवयं
हरिवासं देवकुरु नहय उत्तरकुरु वि । रम्मय एरन्-
वयं हय छब्भमीउ पंचगुणा ॥ एया अकम्मभूमिउ
तीस सया जुअलघम्मज्जणठाण । दसविहकप्पमह-
दुमुसमुत्थभोगा पसिड्ढाओ ॥ (अब. सारो. १६४,
५४-५५) । ४ कृष्णादिकर्मरहिता कल्पपादप-
फलोपभोगप्रधाना भूमयोऽकर्मभूमयः । (अभि. रा.
भा. १, पृ. १२१) ।

४ अस्ति-मयि आदि कर्मों से रहित भूमि (भोग-
भूमि) अकर्मभूमि कही जाती है ।

अकर्मभूमिक (अकम्मभूमिय)—१. अकम्मभू-
मियस्स वा त्ति उत्ते देव-णेरइया चेत्तत्त्वा । (अब.
पु. ११, पृ. ८६) २. अकर्मभूमिकानां भोगभूमि-
जन्मनां मनुष्याणां × × × । (समवा. अभय. वृत्ति
१०, पृ. १८)

अकर्मभूमिक पद से देव और नारकी ग्रहण किये
जाते हैं ।

अकर्मोदय (अकम्मोदय)—अोकट्टणवसेण पत्तोदय-
कम्मवत्तधो अकम्मोदओ णाम । (जयव. पु. १, पृ.
१०८) ।

अपकर्षण के वश उदय को प्राप्त हुए कर्मस्कन्ध
का नाम अकर्मोदय है ।

अकल्प्य (अकप्प)—१. जं अविहीए सेवइ ।
(जीतक. सू. गा. १), २. अकण्ठो नाम पुडवाइ-
कायाण अपरिणयाणं गहणं करेइ । अहवा उदउल्ल-
ससगिड-ससरक्खाइएहि हत्थमत्तेहि गिण्हइ । ज
वा अणीयत्थेणं आहारोवहि उप्पाइयं तं परिभुज-
तस्स अकण्ठो । पञ्चकादिप्रायश्चित्तशुद्धियोग्यम-
पवादसेवनविधि त्यक्त्वा गुरुतरदोषसेवनं वा अकण्ठो ।
(जीतक. सू. वि. अया. गाथा १, पृ. ३४-२); ३.
तत्र पिण्ड-उपाश्रय-वस्त्र-पात्ररूपं चतुष्टयं यदनेषणीयं
तदकल्प्यम् । (जीतक. सू. वि. अया. पृ. ३३, २-
३५) । ४. अकल्प्योऽपरिणतपृथिवीकायिकादिग्रहण-

मयीनार्थोपनीतोपधि - शय्याऽऽहाराद्युपभोगश्च ।
(अब. सू. भा. मलय. वृ. १) ।

४ अवस्थान्तर को अग्रपत (सच्चित्त) पृथिवी-
कायिकादि का ग्रहण और अग्रनीतार्थ—पूर्ण शास्त्र-
ज्ञानसे रहित—ज्ञाता के द्वारा लाये गए उपधि,
शय्या व आहार आदि का उपभोग भी साधु के लिए
अकल्प्य—अग्राह्य—होता है ।

अकषाय (अकसाई)—१. सकलकषायाभावो-
ऽकषायः । उक्तं च—अप्प-परोभयवाहण-बंधासंजम-
णिमित्तकोधादी । जेसि णत्थि कसाया अमला
अकसाइणो जीवा ॥ (शा. पंचम. १-११६; अब.
पु. १, पृ. ३५१ उ.); २. न विद्यते कषायोऽप्येन्य-
कषायः । (त. वा. ६, ४, ३) ।

१ जिस जीव के समस्त कषायों का अभाव हो
चुका है वह अकषाय वा अकषायी कहा जाता है ।

अकषायत्व (अकषायत्त)—चरित्तमोहिणीयस्स
उवसमेण खएण च उप्पण्णा नद्धी, तीए अक-
सायत्त होदि; ण सेमकम्माण खण्णवग्गमेण वा ।
(अब. पु. ७, पृ. ८३) ।

चारित्रमोहनीय के उपशम अथवा क्षय से जो
लब्धि—सामर्थ्यविशेष—होता है उससे जीव के
अकषायत्व—विगतकषायता—होती है, शेष किसी
भी कर्म के क्षय अथवा उपशम से वह अकषायत्व
नहीं होता ।

अकषायवेदनीय—देवो नोकषायवेदनीय । कषाय-
प्रतिपेघप्रसग इनि चेत् न, ईयदर्थत्वान्नजः ।
यथा अलोमिका एलका इति । नाम्न्याः कच्छप-
वलोमाभावः, किन्तु छेदयोग्यलोमाभावेऽपि ईयत्प्र-
तिपेघादनामिकेत्युच्यते, तथा नेमे कषाया अकषाया
हास्यादय इति । (त. वा. ८, ६, ३) ।

जिस चारित्रमोहनीय कर्म का ईयत् (अल्प)
कषाय स्वरूप से वेदन होता है उसकी अकषाय-
वेदनीय संज्ञा है ।

अकस्मात्क्रिया—अन्यस्मि निःसृष्टे शरादावन्य-
घातोऽकस्मात्क्रिया । (धर्मसं. स्तो. टीका ३-२७,
पृ. ८२) ।

इससे किसी को रुख्य करके बाण आदि के
छोड़ने पर जो उससे उसका घात न होकर अन्त्य
(अलक्ष्यभूत) ही किसी व्यक्ति का घात हो जाता
है, इसका नाम अकस्मात्क्रिया है ।

प्रकस्माद्भय—दोहो प्राकस्मिक भय । १. एकं ज्ञानमनाद्यन्तमचलं सिद्धं क्लिप्तत्वं स्वतो यावत्ता-
वदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः । तन्नाकस्मि-
कमत्र किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो निःशंकः
सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ (समय.
कलश १५४) । २. प्रकस्मादेव बाह्यनिमित्तानपेक्षं
गृहादिष्वेव स्थितस्य रात्र्यादौ भयमकस्माद्भयम् ।
(ललितवि. मुनि. पञ्चिका पृ. ३८) । ३. बाह्य-
निमित्तानपेक्षं भयं प्रकस्माद्भयम् । (कल्पसू. बृ.
१-१५) । ४. प्रकस्मान् सहसैव विश्रब्धस्यात्तन्वनि-
श्रवणाद्भयमकस्माद्भयम् । (प्रभि. रा. भा. १, पृ.
१२३) ।

३ बाह्यी निमित्त के बिना सहसा होने वाले भय को प्रकस्माद्भय कहते हैं ।

प्रकामनिर्जरा — १. अकामश्चारकनिरोधबन्धन-
बद्धेषु क्षुत्तृष्णानिरोध-ब्रह्मचर्य-भूसाध्या-मलधारण—
परिणादिभिः, अकामेन निर्जरा प्रकामनिर्जरा । (त.
सि ६-२०) । २. प्रकामनिर्जरा पराधीनतयाऽनु-
रोधाच्चाकुशलनिवृत्तिराहारादिनिरोधश्च । (तत्त्वा.
भा. ६-२०) । ३. विषयानर्थनिवृत्तिं चात्माभिप्रा-
येणाकुर्वतः पारतन्त्र्याद् भोगीभोगनिरोधोऽकाम-
निर्जरा । (त. बा. ६, १२, ७) । ४. निर्जरा कर्म-
पुद्गलशून्, न काम. अपेक्षापूर्वकारिता यश्चा-
नुष्ठाने साऽकामनिर्जरा, अमुद्धिपूर्वत्यर्थः । सा परा-
धीनतया चारकादिवासन धावनाद्यकरणतः प्राणाति-
पाताद्यकरणेन तथा अनुरोधत्वाद्वाक्षिण्यादित्यर्थः ।
(त. भा. हरि. बृ. ६-२०) । ५. विषयानर्थ-
निवृत्तिमात्माभिप्रायेणाकुर्वतः पारतन्त्र्यादुपभोगादि-
निरोधः प्रकामनिर्जरा; अकामस्य अतिच्छतो निर्ज-
रण पापपरिहाटः, पुण्यपुद्गलोपव्ययश्च परवशाद्य
चामरणमकामनिर्जरायुषः परिक्षयः । (तत्त्वा. भा.
सिद्ध. बृ. ६-१३) ; काम इच्छा प्रेक्षापूर्वकारिता,
तदर्थोपयोगभाजो या निर्जरा सा कामनिर्जरा, निर्जरा
कर्मपुद्गलपरिहाणिः, न कामनिर्जरा प्रकामनिर्जरा
—अनभिलषतोऽविस्तस्य एव कर्मपुद्गलपरिहाटः ।
(तत्त्वा. भा. सिद्ध. बृ. ६-२०) । ६. अकामनिर्जरा
यथाप्रवृत्तकरणेन गिरिसरिदुपलघोननाकल्पेनाका-
मस्य निरभिलाषस्य या निर्जरा कर्मप्रदेशविषयतया ।
(योगशा. स्वो. विव. ४-१०७) । ७. अकामा काल-
पवकर्मनिर्जलक्षणा, संव विपाकजाऽनीपक्रमिकी

चोच्यते । (अन. व. टी. २-४३) । ८. स्वेच्छामन्तरेण
कर्मनिर्जरणमकामनिर्जरा । (त. पुल्लवो. बृ. १-२०)
९. यः पुमान् चारकनिरोधबन्धनबद्धः × × ×
पराधीनपराक्रमः सन् दुर्भुक्षानिरोधं तृण्युदुःखं
ब्रह्मचर्यकुच्छं भूसाधनकष्ट मलधारणं परित्यागिकं
च सहजानः सहनेच्छारहितः सन् यन् ईषत् कर्म
निर्जरयति साऽकामनिर्जरा इत्युच्यते । (तत्त्वा. बृ.
भुत. ६-२०) ।

१ कारागार (जेल) में रोके जाने पर अथवा
अन्य प्रकार से बन्धनबद्ध (परतन्त्र) होने पर जो
भूख-प्यास को रोकना, ब्रह्मचर्य का धारण करना,
पृथिवी पर सोना, शरीर में मल को धारण करना
और सन्ताप आदि को सहना जाता है; इसका नाम
अकाम है । इस प्रकारके अकाम से—अनिच्छा-
पूर्वक उपर्युक्त दुःख के सहने से—जो कर्मनिर्जरा
हुआ करती है उसका नाम अकामनिर्जरा है ।

अकाममरण—अकामेन अतीप्सितत्वेन त्रियते-
ऽस्मिन् इति अकाममरणं बालमरणम् । (प्रभि. रा.
भा. १, पृ. १२५) ।

नहीं चाहते हुए भी जो मरण हुआ जाता है वह
अकाममरण नामका एक बालमरण का भेद है ।

अकायिक—तेन परमकायाय वेदि ॥४६॥ तेन—
द्विविधकायात्मकजीवराशेः, पर बाह्य-सूक्ष्मशरीर-
निबन्धनकर्मातीतत्वतोऽशरीरा. सिद्धाः अकायिकाः ।
(वट्. —धवला. पु. १, पृ. २७७) ।

जो जीव बाह्य एवं सूक्ष्म शरीर के कारणभूत
कर्म से छुटकारा पा जाने के कारण सदा के लिए
काय (शरीर) से रहित हो चुके हैं वे अकायिक—
निकल परमात्मा—कहे जाते हैं ।

अकारण दोष (प्रासैखया दोष) — १. अकारणं
वेदनाविषट्कारणरहितम् । (शु. गु. बट्. स्वो. बृ.
२६, पृ. ५८) । २. यदा तपःवाध्याय-वेद्यावृत्त्यादि-
कारणवट्कं बिना बल-वीर्याद्यर्थं सरसाहारं करोति
तदा पञ्चमोऽकारणदोषः । (प्रभि. रा. भा. १,
पृ. १२५) ।

२ तप, स्वाध्याय व वेद्यावृत्ति आदि छह कारणों
के बिना ही बल-वीर्यादि की वृद्धि के लिये सरस
(पुष्टिकर) आहार करना, यह पांच प्रासैखयादोषों
में पाँचवाँ अकारण नामका दोष है ।

अकालमृत्यु—अकाल एव जीवितभ्रंशोऽकालमृत्युः ।
(अभि. रा. भा. १, पृ. १२५) ।

असंयम में—बड़ आयुःस्थिति के पूर्व में ही—
जीवित का नाश होना अकालमृत्यु है ।

अकालुष्य—तेषामेव (क्रोध-मान-माया-लोभ-
नामेव) मन्दोदये तस्य (चित्तस्य) प्रसादोऽकालुष्यम् ।
तत् कादाचित्कविशिष्टकषायक्षयोपशमे सत्यज्ञानिनो-
ऽपि भवति । कषायोदयानुवृत्तेरसमग्रव्यावर्तितोप-
योगस्यावान्तरभूमिकामु कदाचित् ज्ञानिनोऽपि भव-
तीति । (पंचा. का. अमृत. वृ. १३८) ।

क्रोधादि कषायों का मन्त्र उदय होने पर जो
चित्त की निर्मलता होती है उसका नाम अकाल-
लुष्य है ।

अकिंचनता—१. अकिंचनता सकलग्रन्थत्यागः ।
(भ. भा. विजयो. टी. गा. १४६) । २. अकिंच-
णदा—नास्य किंचनान्तर्याकिंचनः, अकिंचनस्य भाव
आकिंचन्यमकिंचनता उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्का-
रापोहाय ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिः । (मूला. वृ.
११-५) । ३. अकिंचणया णाम सदेहे निसगता,
णिग्ममत्तं ति वृत्तं भवइ । (दशवै. जू. पृ. १८) ;
४. नास्य किंचन द्रव्यमस्तीत्याकिंचनस्तस्य भावो-
ऽकिंचनता । शरीर-धर्मोपकरणादिष्वपि निर्ममत्वम-
किंचनत्वम् । (योगशा. स्को. विव. ४-६३) ।

२ गृहीत शरीर आदि में—पुस्तक व विच्छेद आदि
धर्मोपकरणों में—भी संस्कार (सजाबट) को दूर
करने की इच्छा से ममत्वबुद्धि न रहना, इसका
नाम अकिंचनता है ।

अकिंचित्कर (हेत्वाभास)—१. सिद्धेऽकिंचित्करो
हेतु स्वयं साध्यव्यपेक्षया । (प्रमाणसं. ४४, पृ. ११०) ;
२. तदज्ञाने पुनरज्ञातोऽकिंचित्करः । (सिद्धिचि. वृ.
६-३२, पृ. ४३०) । ३. तस्य हेतुलक्षणस्य पक्षेऽप्यत्र
वाज्ञाने पुनरज्ञातोऽकिंचित्करः । (सिद्धिचि. टी.
६-३२, पृ. ४३०) । ४. सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च
साध्ये हेतुरकिंचित्करः ॥ सिद्धः श्रावणः शब्दः,
शब्दत्वात् ॥ किंचिदकरणात्, यथाऽनुणुगोऽग्निद्रव्य-
त्वादित्यादौ किंचित्कर्तृमशक्यत्वात् ॥ (परीक्षा. ६,
३५-३८) । ५. यथा—प्रतीते प्रत्यक्षादिनिराकृते च
साध्ये हेतुरकिंचित्करः । (रत्नाव. ६, पृ. ११४) ।
६. अग्रयोजको हेतुरकिंचित्करः । (न्यायबी. ३,
पृ. १०२) ।

४ सिद्ध अथवा प्रत्यक्षादि से बाधित साध्य की
सिद्धि के लिए प्रयुक्त हेतु अकिंचित्कर—कुछ भी
नहीं करने वाला—होता है ।

अकुशल—अकुशलं दुःखहेतुकम् । (ग्राम्पनी. वृ.
का. ८) ।

दुःख देने वाले पापकर्म को अकुशल कहते हैं ।

अकुशलभाव—अकुशलो (भावो) ऽविरत्यादि-
रूपः । (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. १-३६, पृ. १६) ।
असंयम (अविरति) आदि रूप परिणामों को
अकुशलभाव कहते हैं ।

अकुशलमनोनिरोध—अकुशलस्यातं ध्यानाद्युपग-
तस्य मनसो निरोधोऽकुशलमनोनिरोधः । (व्यव.
सू. भा. मलय. वृ. १, गा. ७७, पृ. ३०) ।

आतं ध्यान आदि से युक्त मन के निग्रह करने को
अकुशलमनोनिरोध कहते हैं ।

अकृतप्रागभार—ज्ञान्यं गृह गिरेर्गृहा वृक्षमूलम्
आगन्तुकानां वेदम देवकुल शिक्षागृह केनचिदकृतम्
अकृतप्रागभार कथ्यते । (कार्तिके. टी. ४४६) ।

ज्ञान्य गृह, पर्वत की गुफा, वृक्षमूल, आगन्तुकों
का घर, देवकुल और शिक्षालय; जो किसी के द्वारा
रचे नहीं गये हैं, अकृतप्रागभार कहे जाते हैं ।

अकृतयोगी (अकडजोगी)—१. अकडजोगी
जोगं अकाऊण सेवइ । (जौतक. जू. पृ. ३, पं. २०) ।

२. ग्लानादौ कार्यं गृहेषु वारत्रयं पर्यटनमकृत्वा सेवते,
यद्वा सचाराहसु तिन्नि वारा एसणीय अन्निसिउ जया
तइयवाराए वि न लब्धइ तया चउत्थपरिवाडीए
अणेंसणीय धेतव्व । एव तिगुणं व्यापारमकृत्वं ज
[जो] वियवाराए वेव अणेंसणीय गिण्हइ सो अकड-
जोगी । (जौतक. जू. विव. व्या. पृ. ३४-८) ।

३. अकृतयोगी अग्रतोयार्थ । श्रोत्र वारान् कल्प्यमेप-
णीयं चापरिभाष्य प्रथमवेलायामपि यतस्ततोऽल्पा-
[ऋत्त्या-]नेषणीयमपि ग्राही । (व्यव. सू. भा.
मलय. वृ. १०, पृ. ६३४) ।

२ ग्लान आदि कार्य में तीन बार गृहों में घूमने
पर भी यदि कल्प्य और एषणीय नहीं प्राप्त होता
है तो चौथी बार अकल्प्य और अनेषणीय के भी लेने
का विधान है । इस आगमविधि के प्रतिकूल पहिली
या दूसरी बार में ही जो अकल्प्य और अनेषणीय
वस्तुओं को ले लेता है ऐसे साधु को अकृतयोगी
कहते हैं ।

अकृतसमुद्घात (अकदसमुग्धाव)—१. जैसि आउसमाई णामा-मोदाई वेदणीयं च । ते अकद-समुग्धादा जिणा उवणमंति सेलेसि । (भ. आ. २११०); बब. पु. १, पु. ३०४ पर उद्धृत । २. आयुधा सद्दुश यस्य जायते कर्मणां त्रयम् । स निरस्तसमुद्घातः शीलेभ्यं प्रतिपद्यते । (भ. आ. अमित. पद्यानुवाद २१८३) । ३. पम्मासायुषि शेवे स्यादुत्पन्नं यस्य केवलम् । समुद्घातमसौ याति केवली नाऽपरः पुनः । (पंचसं. अमित. १-३२७) । ४. छम्मासाउगसेसे उप्पणं जस्स केवल होज्ज । सो कुणइ समुद्घायं इयरो पुण होइ भयणिउजो ॥ (बसु. आ. ५३०) ।

१ जिनके नाम, मोक्ष और वेदनीय कर्म स्थिति में आयु कर्म के समान होते हैं वे बूँक केवलिसमुद्घात को नहीं किया करते हैं, अतएव वे अकृत-समुद्घात जिन कहे जाते हैं ।

अक्रमानेकान्त—ज्ञान-गुणाद्यनेकामिकधर्मापेक्षया अक्रमानेकान्तः । (न्यायकृ. २-७, पु. ३७२) ।

अनेकान्त दो प्रकारका है—क्रमानेकान्त और अक्रमानेकान्त । एक ही व्यक्ति में जो युगपत् ज्ञान-गुणादि अनेक अक्रमिक धर्मों का अस्तित्व पाया जाता है, यह अक्रमानेकान्त है । [अमृतत्व-मूलत्वादि क्रमिक धर्मों की जो युगपत् सम्भावना है वह क्रमानेकान्त की अपेक्षा से घटित होती है ।]

अक्रियावादी—१. न हि कस्यचिदनवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया समस्ति, तद्भावे चावस्थितेरभावा-दित्येव वादिनोऽक्रियावादिनः । तथा चाद्वैरेके—क्षणिका. सर्वसंस्कारा. अस्थिताना कुतः क्रिया । भूतियेषा क्रिया सैव कारकं सैव बोध्यते ॥ एते चास्मादिनास्तत्त्वप्रतिपत्तिनक्षणाः । (नन्दी. हरि. बृ. ८८, पु. ७८) । २. आत्म-नास्तित्वादिप्रत्यया-पत्तिलक्षणा भवस्यक्रियावादिनः । (तत्त्वा. भा. सिद्ध. बृ. ७-१८) । ३. तथा नास्त्येव जीवादिकः पदार्थ इत्येववादिनो अक्रियावादिनः । (सूत्रकृ. बृ. १२-११८) । ४. तथाऽक्रियां नास्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषा ते अक्रियावादिनः । (सूत्रकृ. बृ. १२-४) । ५. न कस्यचित् प्रतिक्षणमनवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया सम्भवति, उत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशादित्येवं ये वदन्ति ते अक्रियावादिनः । (नन्दी. मलय. बृ. ८८, पु. २१५) । ६. न हि कस्यचिदवस्थितस्य पदार्थस्य

क्रिया समस्ति, क्रियोत्पत्त्याधारत्वेनाभिमत एव काले पदार्थावस्थितेरभावादित्येवं वादिनोऽक्रियावादिनः । (नयोपवेश टी. १२८, पु. ६५) ।

१ जो अवस्थानके अभाव का प्रसंग प्राप्त होने की संभावना से अवस्थान से रहित किसी भी अन-वस्थित पदार्थ की क्रिया को स्वीकार नहीं करते वे अक्रियावादी कहे जाते हैं ।

अक्ष (अक्षस)—अक्षे त्ति वुत्ते जूवक्खो सय-डक्खो वा चेत्तव्वो । (बब. पु. ६, पु. २५०); जूअट्ठवणे जय-पराजयणिमित्तकवड्डमो खुत्लो पासमो वा अक्खो णाम । (बब. पु. १३, पु. १०); अक्खो णाम पासमो । (बब. पु. १४, पु. ६) ।

जुधा आदि के खेल में जय-पराजय की निमित्त-भूत कौड़ी और पासे को अक्ष कहते हैं । गाड़ी के पहिये की बुरी को भी अक्ष कहते हैं ।

अक्ष (मापविशेष)—दंडे धणुं जुग मालिया य अक्ख मुसल च चउट्ठया । (ज्योतिष्क. २-७६) । चार हाथ प्रमाण मापविशेष (धनुष) को अक्ष कहते हैं ।

अक्ष (आत्मा)—१. अक्ष्णोति व्याप्नोति जाना-तीत्यक्ष आत्मा । (स. सि. १-१२; त. बा. १, १२, २; त. सुल्लो. बृ. १-१२, त. बृ. भूत. १, १२; न्यायटी. पु. ३६) । २. अस्नाति भुङ्क्ते यथा-योग्यं सर्वानर्थानिति अक्षः । यदि वः अस्तुते ज्ञानेन व्याप्नोति सर्वान् ज्ञेयानिति अक्षः जीवः । (बृहत्क. बृ. २५) । ३. 'अशूङ् व्याप्ती' अस्तुते ज्ञानात्मना सर्वानर्थान् व्याप्नोतीत्यक्षः, यदि वां अक्ष भोजने' अस्नाति सर्वानर्थान् यथायोग्यं भुङ्क्ते पालयति वंश्यक्षो जीव । (आश. सू. मलय. बृ. गा. १, पु. १३) ।

'अक्ष्णोति' इत्यादि शब्दनिश्चित के अनुसार यथा-योग्य संध पदार्थों के जानने वाले, भोगने वाले या पालने वाले जीव को अक्ष कहते हैं ।

अक्षताचार—तत्र स्थापितादिपरिहारी अक्षता-चारः । (व्यव. सू. भा. बृ. ३, १६४) ।

जो साधु आचर्यक में उद्युक्त होकर स्थापित आदि आधाकर्मों तथा अशन-पानादि का भी परि-त्याग करता है उसका नाम अक्षताचार—अभ्रम-चरित्र वाला—है ।

अक्षपकानुपशामक (अखवयाखुवसामन)—तत्थ

जे अक्षवयानुपसामया ते दुविहा—अणादि-अपञ्ज-वसिदंबया च अणादि-सपञ्जवसिदंबया चेदि । (धव. पु. ७, पृ. १) ।

जिन जीवों का कर्मबन्ध अनादि-अनन्त है वे (अमव्य) तथा जिनका कर्मबन्ध अनादि होकर भी विनष्ट होने वाला है वे—मिथ्यादृष्टि आदि अप्रमत्तान्त गुणस्थानवर्ती भव्य—भी अक्षपकानुपशा-मक—क्षपणा या उपशात्मना न करने वाले अनादि बाहर साम्प्रदायिक कर्मबन्धक है ।

अक्षअक्षणावृत्ति—१. यथा शकट रत्नभारपरिपूर्ण येन केनचित् स्नेहेन अक्षलेपे च कृत्वा अभिलपित-देशान्तरं वणिगुपनयति, तथा मुनिरपि गुण-रत्न-भरिता तनु शकटीमनवद्यभिक्षायुरक्षप्रक्षणेन अभि-प्रेतसमाधिपत्तनं प्रापयतीत्यक्षप्रक्षणमिति च नाम निरुद्धम् । (त. बा. ६, पृ. १६; इलो. बा. ६-६; बा. सा. पृ. २५) । २. तथा अक्षस्य शकटीचक्रा-धिष्ठानकाष्ठस्य अक्षणं स्नेहेन लेपनमक्षप्रक्षणम् । तद्विज्ञानमप्यक्षप्रक्षणमिति रुद्धम्, येन केनापि स्नेहेनैव निरवद्याहारेणानुप्राप्तस्वेवाभ्यङ्ग प्रति-विधाय गुण-रत्नभारपुरिततनुशकटयाः समाधीष्ट-देगप्रापणनिमित्तत्वात् । (अन. ध. टी. ६-४६) ।

१ जिस प्रकार कोई व्यापारी रत्नों के बोझ से परिपूर्ण गाड़ी का जिस किसी भी तेन के द्वारा अक्षप्रक्षण करके—उसमें अंगन देकर—उसे अभीष्ट स्थान पर ले जाता है, उसी प्रकार मुनि भी सम्मग्नदर्शनावि गुणरूप रत्नों से भरी हुई शरीर-रूप गाड़ी को निर्दोष भिक्षा के द्वारा प्रायु के अक्ष-प्रक्षण से—प्रायुःस्थिति के साथ इन्द्रियों को भी इस योग्य रखकर—अभीष्ट ध्यान रूप नगर में पहुँचाता है । इसीलिये वृष्टान्त की समानता से उसका नाम 'अक्षप्रक्षण' प्रसिद्ध हुआ है ।

अक्षयराशि (अक्षयरासी)—ग्रहवा वग सते वि अक्षयो को वि रासी प्रति, सवस्स सपडि-वस्सस्तेवुवलभादो । (धव. पु. ४, पृ. ३३६) ।

व्यय के होते हुए भी जिस राशि का कभी अन्त नहीं होता वह राशि अक्षय कही जाती है—जैसे भव्य जीवराशि । इसका भी कारण यह है कि उन्नता एवं हानि आदि सब ही अपने प्रति-पक्ष—अनुष्णता एवं वृद्धि आदि—के साथ ही उपलब्ध होते हैं ।

अक्षर (अक्षर)—१. न क्खरति अणुवयोगे वि अक्षरं सो य चेतनाभावो । अविमुदणयाणं मत्तं मुदणयाणकखरं चेव ॥ (विश्वे. भा. ४५३) ।

२. खरणाभावा अक्षर केवलगाण । (धव. पु. ६, पृ. २१); मुहमणिगोदलद्विअपञ्जत्तस्स [जं]

जहणय गाणं तं लद्धि-अक्षरं गाम । कथं तस्स अक्षरसण्णा ? खरणेण विणा एगसखेण अवट्ठा-णादो । केलाणामकखरं, तत्थ वड्ढि-हाणीणमभा-वादो । दव्वट्ठियण ए मुहमणिगोदणाणं तं चेवे ति वा अक्षर । (धव. पु. १३, पृ. २६२) । ३. 'अक्षर सचलने' क्षरतीति क्षरम्, तस्य नञा प्रतिषेधेऽक्षरम्; अनुपयोगेऽपि न क्षरतीति भावार्थः; तस्य सतत-मवस्थितत्वात् । स च क. इत्यतः आह—स च अक्षरपरिणामः चेतनाभावः—चेतनासत्ता । केषां नयानां मतेनेत्याह—अविशुद्धनयमतेन नैगम संग्रह-व्यवहाराभिप्रायेण, द्रव्याधिकमूलप्रकृतित्वात् । शुद्ध-नयानां तु ऋजुमृतादीनां क्षरमेवेति गार्थात् । (विश्वे. भा. को. वृ. ४५३) । ४. अकारादिलब्ध-क्षराणामन्यतरत् अक्षरम् । (कर्मवि. वे. स्वो. वृ. गा. ७) ।

२ अपने स्वरूप या स्वभाव को नहीं छोड़ने वाले ऐसे हानि रहित सूक्ष्म निगोव लब्धयपर्याप्तक जीव के ज्ञान को क्षीर हानि-वृद्धि से रहित केवलज्ञान को भी अक्षर कहा जाता है ।

अक्षरगता (अक्षरगया)—अक्षरगया अणुव-धादिदिय-मण्णपिचदिय-पञ्जत्तभासा । (धव. पु. १३, पृ. २२१-२२) ।

अविनष्ट इन्द्रियवाले संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंकी भाषा अक्षरगता भाषा कहलाती है ।

अक्षरज्ञान—चरिमपञ्चममासणाशट्ठाणं सव्वजीव-रासिणा भागे हिंदे लद्ध ताहि चेव पक्खित्ते अक्षर-गाण उपपज्जदि । (धव. पु. १३, पृ. २६४) ।

पर्यायसमास भूतज्ञान के अन्तिम विकल्प में समस्त जीवराशि का भाग देने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह अक्षरज्ञान कहलाता है ।

अक्षरभूतज्ञान (अक्षरभुतज्ञानाणं)—देखो अक्षर-ज्ञान । त (पञ्चायममासमुदणाणस्स अपच्छिम-वियप्प) अणतेहि रूवेहि गुणिदे अक्षर गाम सुद-णाण होदि । (धव. पु. ६, पृ. २२); एगादो अवल-गदो जहण्णेण [जं] उपपज्जदि गाणं तं अक्षर-

मुदणाणमिदि घेतव्वं । (धव. पु. १३, पृ. २६५) । पर्यायसमास भूतज्ञान के अन्तिम विकल्प को अन्ततः रूपों से गुणित करने पर जो भूतज्ञान उत्पन्न होता है वह अक्षरभूतज्ञान कहलाता है ।

अक्षरसमास (अक्षरसमास) — अक्षर-मुदणाणादो उवरिमाण पदमुदणाणादो हेट्ठिमाणं सल्लेज्जाणं मुदणाणवियप्पाणमक्खरसमासो त्ति सण्णा । (धव. पु. ६, पृ. २३); इमस्स अक्षरसम्पत्त उवरि विदिए अक्खरे बड्ढिदे अक्खरसमासो णाम मुदणाण ह्योदि । एवमेगेगक्खरवड्ढिकमेण अक्खरसमासं मुदणाणं वड्ढिमाणं गच्छदि जाव सल्लेज्जनवराणि वड्ढिदाणि त्ति । (धव. पु. १३, पृ. २६५) । अक्षरज्ञान के ऊपर द्वितीय अक्षर की वृद्धि होने पर अक्षरसमास का प्रथम विकल्प होता है । इस प्रकार संख्यात अक्षरों की वृद्धि होने तक उक्त अक्षरसमास भूतज्ञान के द्वितीय-तृतीयवादि विकल्प चलते रहते हैं ।

अक्षरसमासावरणीय — पुणो एदस्सुवरिमस्स अक्खरस जमावरणीयकम्म तमक्खरसमासावरणीय णाम चउत्थमावरण । (धव. पु. १३, पृ. २७७) । अक्षरसमास ज्ञान को रोकने वाला कर्म अक्षरसमासावरणीय माना जाता है ।

अक्षरसंयोग — सजोगो णाम कि दोणमक्खराणेयत्त, किं सह उच्चारण, एयन्धीभावो वा ? ण ताव × × × । तवो एयन्धीभावो सजोगो नि घेतव्वो । (धव. पु. १३, पृ. २५०) ।

जितने अक्षर समुक्त होकर किसी एक अर्थ को प्रगट करते हैं उनके संयोगका नाम अक्षरसंयोग है ।

अक्षरात्मक (शब्द)—देखो अक्षरीकृत । अक्षरात्मकः संस्कृत-प्राकृतादिरूपेणार्य-म्लेच्छभाषाहेतुः । (पंचा. का. जय. वृ. ७६) ।

जो शब्द संस्कृत और प्राकृत भाषि के रूप से अर्थ व म्लेच्छ जनों की भाषा का कारण होता है वह अक्षरात्मक कहलाता है ।

अक्षरात्मक भूतज्ञान — वाच्य-वाचकसम्बन्ध-संकेतसङ्कलनपूर्वक यज्ज्ञानमुपपद्यते तदक्षरात्मक-भूतज्ञानम् । (गो. जी. न. प्र. व जी. त. प्र. टी. ३१५) ।

वाच्य-वाचक सम्बन्ध के संकेत की योजना-

पूर्वक होने वाला ज्ञान अक्षरात्मक भूतज्ञान कहलाता है ।

अक्षरावरणीय—अक्षरमुदणाणसम्पत्त जमावरणं कम्मं तमक्खरावरणीयं । (धव. पु. १३, पृ. २७७) । अक्षरभूतज्ञान का आवारक कर्म अक्षरावरणीय कर्म कहलाता है ।

अक्षरीकृत शब्द—देखो अक्षरात्मक । अक्षरीकृतः शास्त्राभिव्यञ्जकः संस्कृत-विपरीतभेदादाय-म्लेच्छव्यवहारहेतुः । (स. ति. ५-२४; त. वा. ५, २४, ३; त. सुलबो. ५-२४) ।

जो अक्षररूप भाषात्मक शब्द शास्त्र का अभिव्यञ्जक होकर संस्कृत और संस्कृत भिन्न—प्राकृत भाषि—भाषाओं के भेद से अर्थ एवं म्लेच्छ जन के व्यवहार का कारण होता है वह अक्षरीकृत भाषा-लक्षण शब्द कहा जाता है ।

अक्षिप्र (अवग्रहभेद) — सणिगगहणमखिप्पावगगहो । (धव. पु. ६, पृ. २०); अभिनवधारावगतोदकवत् शनैः परिच्छिन्दानः अक्षिप्रप्रत्ययः । (धव. पु. ६, पृ. १५२; पु. १३, पृ. २३७) । नवीन सकोरे के ऊपर छिड़के हुए जल के समान पदार्थों का जो धीरे धीरे ढेर में ज्ञान होता है, उसका नाम अक्षिप्र प्रत्यय है ।

अक्षीणमहानस—१. लाभनरायकम्मक्खय-उव-समसजुदाए जीण कुड । मुणिभुत्तसेसमणं धामत्थं पियं ज क पि ॥ तद्धिवसे खज्जंत खधावारेण चक्क-वट्टिस्स । भिज्जइ ण लवेण वि सा अक्खीणमहा-णसा रिद्धी ॥ (ति. प. ४, १०८६-६०) । २. लाभान्तरायस्य क्षयोपशमप्रकर्षप्राप्तेश्चो यतिभ्यो यतो भिक्षा दीयते ततो भाजनाच्चक्रवरस्कंधावारोऽपि यदि भुञ्जीत तद्धिवसे नान्न कीयेत, तेऽक्षीणमहानसाः । (त. वा. ३-३६, पृ. २०४; वा. सा. पु. १०१) । ३. कूरो धिय तिम्मणं वा जस्स परिवि-सिद्धूण पच्छा चक्कवट्टिखधावारे भुजाविज्जमाणे वि ण णिट्ठादि सो अक्खीणमहाणसो णाम । (धव. पु. ६, पृ. १०१-२) । ४. अक्षीणं महानसं रसवती येषां यस्माद् भाण्डकादुद्भूत्य भोजन तेभ्यो दत्तं तच्चक्रवर्तिकटकेऽपि भोजिते न क्षीयते । (श्रा. योगि-भक्ति टीका १७, पृ. २०४) । ५. महानसम् अन्न-प. कस्थानम्, तदाश्रितत्वाद्वाऽन्नमपि महानसमुच्यते । ततश्चाक्षीण पुरुषशतसहस्रं भ्योऽपि दीयमानं

स्वयमभुक्तं सत् तथाविधलम्बिविशेषादभुटितम्, तच्च तन्महानसं च भिक्षालम्ब्यभोजनमक्षीणमहानसम्; तदस्ति येषां ते तथा (अक्षीणमहानसाः) । (अप्रोषा. अभय. बृ. १५, पृ. २८) । ६. अक्षीणं महानसं येषां ते अक्षीणमहानसाः, येषां भिक्षा ना-यैवंहृमिरप्युपभुज्यमाना निष्ठा याति, किन्तु तैरेव जमितैः, ते अक्षीणमहानसाः । (आव. मलय. बृ. नि. ७५, पृ. ८०) । ७. यस्मिन्मन्त्रे अक्षीणमहानसंमुनिभिर्भुक्तं तस्मिन्मन्त्रे चक्रवर्तिपरिजनभोजनेऽपि तद्दिने भ्रन् न क्षीयते ते मुनयः अक्षीणमहानसाः कथ्यन्ते । (त. बृ. श्रुति. ३-३६) ।

लाभान्तराय कर्म के प्रकृष्ट लोपोपशम युक्त जिस ऋद्धि के प्रभाव से उस ऋद्धि के चारक महर्षि के भोजन कर लेने पर भोजनशाला में शेष भोजन चक्रवर्ती के कटक (समस्त सैन्य) के द्वारा भी भोजन कर लेने पर क्षीण नहीं होता—उतना ही बना रहता है—वह अक्षीणमहानस ऋद्धि कही जाती है ।

अक्षीणमहानसिक—देवो अक्षीणमहानस । १. अक्षीणमहानसियस्स भिक्षा न भ्रान्नेण णिट्ठविज्जद, तस्मिं ए जमिं ए विट्ठाह । (आव. बृ. मलय. बृ. पृ. ८० उ.) २. अक्षीणमहानसिया भिक्षा जेणानियं मुणो तेणं । परिभुत्त विद्य विज्जद बहुएहिं वि ण उण घन्नेहि ॥ (प्रव. सारो. टीका १५०४, पृ. ४२६) । **अक्षीणमहानसिक की भिक्षा**—अक्षीणमहानस ऋद्धि के चारक महर्षि के द्वारा लायी गई भिक्षा—अन्य बहुतों के द्वारा भोजन कर लेने पर भी समाप्त नहीं होती, किन्तु उसी के भोजन करने पर ही समाप्त होती है । इस ऋद्धि के चारक साधु को अक्षीणमहानसिक कहा जाता है ।

अक्षीणमहालय—१. जीए चउयणुमाणे समचउ-रसालयमिं णर-तिरिया । मति यससेज्जा सा अवल्लोणमहालया रिद्धी ॥ (ति. प. ४-१०६१) । २. अक्षीणमहालयलम्बिप्राप्ता यतयो यत्र वसन्ति देव-मनुष्य-तैर्ययोना यदि सर्वेऽपि तत्र निवसेयुः परस्परमबाधमानाः सुखमासते । (त. बा. ३-३६; पृ. २०४; बा. सा. पृ. १०१) । ३. अक्षीणमहालयद्वि-प्राप्ताश्च यत्र परिमितभूषणैश्चैवतिष्ठन्ते तत्रा-संस्थाता अपि देवास्तिर्यञ्चो मनुष्याश्च सपरिवाराः परस्परं बाधारहितास्तीर्थकारपर्वदीव सुखमासते ।

(योगशा. स्फो. विवरण १-८) । ४. अक्षीणमहा-लयस्तु मुनयो यस्मिन् चतुःशयेऽपि मन्दिरे निवसन्ति तस्मिन् मन्दिरे सर्वे देवाः सर्वे मनुष्याः सर्वे तिर्य-ञ्चोऽपि यदि निवसन्ति तदा तेऽखिला अपि अन्वोप्यं बाधारहित सुखेन तिष्ठन्ति इति अक्षीणमहालयाः । (त. बृ. श्रु. ३-३६) ।

जिस ऋद्धि से समुक्त मुनि के द्वारा अचिच्छिन्न चार हाथ मात्र भूमि में अगणित मनुष्य और तिर्यच—सभी जीव—निर्वाच रूप से समा जाते हैं वह अक्षीणमहालय ऋद्धि कही जाती है ।

अक्षीणावास—देवो अक्षीणमहालय । जम्हि चउ-हत्याए वि गुहाए अक्किदे सते चक्रवट्ठिविधावारं पि सा गुहा अवगाहदि सो अक्कीणावासो णाम । (बव. पु. ६, पृ. १०२) ।

जिस महर्षि के चार हाथ प्रमाण ही गुफा में अवस्थित रहने पर उस गुफा में चक्रवर्ती का समस्त स्कन्धावार (छावनी) भी अवस्थित रह सकता है उसे अक्षीणावास—अक्षीणमहालय ऋद्धि का चारक—जानना चाहिए ।

अक्षेम—मारिदि-इमरादीणमभावो खेमं णाम; तत्त्विवरीदमक्खेम । (धव. पु. १३, पृ. ३३६) । मारि (प्लेग), ईति और उमर (राष्ट्र का भीतरी व बाहरी उपद्रव) आदि के अभाव को क्षेम तथा उनके सद्भाव को अक्षेम कहा जाता है ।

अक्षौहिणी—१. भेओऽय पढम पन्ती सेणा सेणा-मुह हवड गुम्मं । अह बाहिणी उ पियणा चमू तहा-अणिक्किणी अन्तो ॥ एक्को हत्थी एक्को य रहवरो तिण्णि चेव वरनुरया । पञ्चवेव पाडक्का एसा पन्ति समुद्धिटा ॥ पन्ती तिउणा सेणा सेणा तिउणा मुह हवड एक्कं । सेणामुहाणि तिण्णि उ गुम्मं एत्तो समक्खाय ॥ गुम्माणि निण्णि एक्का य बाहिणी सा वि निगुणिया पियणा । पियणाउ तिण्णि य चमू तिण्णि चमूऽणिक्किणी अणिया । दस य अणिक्कि-णिनामाउ होइ अक्कोहिणी अहज्जवाया । सखा एक्केक्कस्स उ अज्जस्स तथो परिकहेमि ॥ एयावीस सहत्सं सत्तरिसहियाणि अट्ठ य सयाणि । एसा रहाण सखा हत्थीण वि एत्तिया चेव ॥ एक्कं च सयसहस्सं नव य सहत्सा सयाणि तिण्णेव । पन्नासा चेव तहा जोहाण वि एत्तिया संखा । पञ्चुत्तरा य

सद्दी होइ सहस्साणि छ च्चिय सयाणि । दस चैव
वरतुरङ्गा संखा भक्खोहिणीए उ ॥ अद्दारस य
सहस्सा सत्त सया दोण्णि सयसहस्साइ । एक्का य
इमा संखा सेणिय भक्खोहिणीए य ॥ (पउमच. ५६,
३-११) । २. पत्ति. प्रथमभेदोऽत्र तथा सेना प्रकी-
र्तिता । सेनामुखं ततो गुल्म-बाहिनी-पृतना-चमूः ॥
अष्टमोऽनीकिनीसंज्ञस्तत्र भेदो बुधैः स्मृतः । यथा
भवन्त्यमी भेदास्तथेदानीं वदामि ते ॥ एको रथो
गजचक्रस्तथा पञ्च पदातयः । त्रयस्तुरङ्गमाः
सैया पत्तिरित्यभिधीयते ॥ पत्तिस्त्रिगुणिता सेना
तिस्रः सेनामुख च ताः । सेनामुखानि च त्रीणि
गुल्ममित्यनुकीर्त्यते ॥ बाहिनी त्रीणि गुल्मानि पृतना
बाहिनीत्रयम् । चमूस्त्रिपृतना ज्ञेया चमूत्रयमनीकिनी ॥
अनीकित्यो दश प्रोक्ता प्राज्ञैरश्वोहिणीति सा ।
तत्राङ्गानां पृथक् संख्या चतुर्णां कथयामि ते ॥
अश्वोहिण्या प्रकीर्त्यानि रथानां सूर्यवर्चसाम् । एक-
विंशतिंसंख्यानि सहस्राणि विचक्षणैः ॥ अष्टौ
शतानि सप्ततया सहितान्यपराणि च । गजानां कथितं
ज्ञेयं संख्यानां रथसंख्यायाः ॥ एकलक्षं सहस्राणि नव
पञ्चाशदन्वितम् । शतत्रय च विज्ञेयमश्वोहिण्याः
पदातयाः ॥ पञ्चपट्टिसहस्राणि षट्शती च दशो-
त्तराः । अश्वोहिण्यामियं संख्या बाजिनां परिकीर्ति-
ता ॥ (पउमच. ५६, ४-१३) । ३. नव नागसह-
स्राणि नागे नागे शत रथाः । रथे रथे शतं तुरगाः
तुरगे तुरगे शतं नराः ॥ एदमेककल्लोहिणीए पमार्णं ।
(अव. पु. ६, पृ. ६१-६२) ।

१ पउमचरिय और पउवरित्र के अनुसार निम्न
संख्या युक्त रथ व हाथी आदि के समुदाय को
अश्वोहिणी कहा जाता है—रथ १, हाथी १, पदाति
५ और घोड़ा ३; इनके समुदाय का नाम पत्ति
है । इससे तिगुणी—रथ ३, हाथी ३, पदाति १५
और घोड़ा ९—सेना कही जाती है । तिगुणी सेना
—रथ ९, हाथी ९, पदाति ४५, घोड़ा २७—
सेनामुख कहलाती है । तीन सेनामुखों—रथ २७,
हाथी २७, पदाति १३५, घोड़ा ८१—का नाम
गुल्म है । तीन गुल्मों—रथ ८१, हाथी ८१, पदाति
४०५, घोड़ा २४३—प्रमाण बाहिनी होती है ।
तीन बाहिनियों—रथ २४३, हाथी २४३, पदाति
१२१५, घोड़ा ७२९—के समुदाय को पृतना कहा
जाता है । पृतना से तिगुणी—रथ ७२९, हाथी

७२९, पदाति ३६४५, घोड़ा २१८७—चमू होती
है । तीन चमू प्रमाण—रथ २१८७, हाथी २१८७,
पदाति १०९३५, घोड़ा ६५६१—अनीकिनी कही
जाती है । और इस प्रकारकी दस अनीकिनियों
का नाम अश्वोहिणी है—रथ २१८७० + हाथी
२१८७० + पदाति १०९३५० + घोड़ा ६५६१० =
२१८७०० । ३ अबला के अनुसार उते अश्वो-
हिणी का प्रमाण इतना है—हाथी ९००० + रथ
९००००० + घोड़ा ९०००००० + पदाति
९०००००००० = ९०९०९०९००० एक अश्वो-
हिणी ।

अगति—गदिकम्भोदयाभावा सिद्धिगदी अगदी ।
(अव. पु. ७, पृ. ६) ।

गति नामकर्म का अभाव हो जाने पर सिद्धि
की गति अगति कही जाती है । अभिप्राय यह है
कि गति—संसारपरिभ्रमण—का कारण गति
नामकर्म है । सिद्धिके चूँकि उस गति नामकर्म
अभाव हो चुका है, अतः उनकी गति (अवस्था)
अगति—गति से रहित—कही जाती है ।

अगमिक श्रुत—१. अण्णोणमगभिधाणठितं जं
पडिज्जइ तं अगमितं, तं प्रायसो आमारदिका-
लियसुतं । (नन्दी ब्रू. पृ. ४७) । २. गाथाति
अगमियं खलु कालियसुत दिट्ठिवाते वा । (विशेषा.
५४६) । ३. अगमिक तु प्रायो गाथासमानग्रन्थ-
त्वात् कालिकश्रुतमाचारादि । (नन्दी. हरि. ब्रू.
पृ. ८६) । ४. गमाः सदृशपाठविशेषाः, ते
विद्यन्ते यस्य तत्र वा भवं तद् गमिकम् । तत्प्रति-
पक्षस्त्वगमिकम् । (कर्मवि. पूर्व. व्याख्या १४, पृ.
८) । ५. अर्थभेदे सदृशालापकं गमिकम्, इतरदगमि-
कम् । (कर्मवि. परमा. व्याख्या १४, पृ. ९) ।

६. तथा गाथा-श्लोकादिप्रतिबद्धगमिकम् । खलु
अलकारार्थः । एतच्च प्रायः कालिकश्रुतम् । यत
आह दृष्टिवादे च । किञ्चिद्गाथासमानग्रन्थमिति
गाथार्थः । (विशेषा. को. ब्रू. ५५२) । ७. अगमिकम्
असदृशाक्षरालापकम्, तत् प्रायः कालिकश्रुतगतम् ।
(कर्मवि. डे. स्वो. ब्रू. ६, पृ. १७) ।

३ गाथा आदि से असमान ग्रन्थरूप कालिक श्रुत
को अगमिक श्रुत कहते हैं—जैसे आचारादि
ग्रन्थ ।

अगाढ (सम्यक्त्वदोष)—१. अगाढम् अदृढम् ।

तद्यथा—स्वेन कारितेऽहं प्रतिमादी 'अयं' देवो मम इति, अन्यस्य इति' आत्म्याऽहं देवपदानस्य स्व-पर-संकल्पभेदेन शिथिलत्वम् अगाढत्वम् । (चो. जी. स. प्र. टीका २५) । २. वृद्धयष्टिरिवान्यवत्तस्याना करतने स्थिता । स्थान एव स्थित कम्प्रमगाढं वेदकं यथा ॥ स्वकारितेऽहं चैवत्यादी देवोऽय मेऽन्य-कारिते । अन्यस्यासाविनि आत्म्यमोहाच्छुद्धोऽपि चेष्टते । (अन. ध. २-५७) ।

१ अपने द्वारा निर्मापित जिनप्रतिमादि के विषय में 'यह मेरा देव है' तथा अन्य के द्वारा निर्मापित उक्त जिनप्रतिमादि में 'यह अन्य का देव है' इस प्रकार के अस्मिन् अङ्गान को अगाड़ कहते हैं । यह सम्यक्त्व का एक दोष है ।

अगारी — १. प्रतिश्रयाविभिर्गम्यते इति अगार वेधम्, तद्वागारी । $\times \times \times \times$ चारित्रमोहोदये सत्यगारसम्बन्धं प्रत्यनिवृत्तः परिणामो भावागार-मित्युच्यते । स यस्यास्त्यसावगारी बने वसन्ति । गृहे वसन्ति तदभावादनगारमित्युच्यते । (स. सि. ७-१६) । २. प्रतिश्रयायितया अङ्गनादगारम् ॥ १॥ प्रतिश्रयाविभिः जनैरङ्गने गम्यते तदित्यगारम्, वेधम् इत्यर्थः । अगारमस्यास्तीर्यगारी । (त. वा. ७-१६; त. सुखो. वृ. ७-१६) । ३ अगारं वेधम्, तदुपलक्षणमारम्भ-परिग्रहवत्तायाः । $\times \times \times$ एव द्वयमप्यगाराशब्देनोपलक्ष्यते । तदेवागारम्भ परिग्रहा-वगारं यथासम्भवमस्ति यस्य भविष्यतीति वा जाता-शंसस्यापरित्यक्ततत्सम्बन्धस्य सर्वोप्यगारी, तदभि-सम्बन्धाद् गृहस्य इत्यर्थः । $\times \times \times$ अगारमस्या-स्तीर्यगारी, परिग्रहारम्भवान् गृहस्थ इत्यर्थः । (त. भा. सि. वृ. ७-१४) । ४ अङ्गघने गम्यते प्रतिश्रयाविभिः पुरीः गृह-प्रयोजनवाद् पुरीषाण्य-गारं गृहमुच्यते । अगार गृह परत्यमावासो विधाने यस्य स अगारी । (त. वृ. श्रुत. ७-१६) ।

१ अगार का अर्थ गृह होता है । उस अगार से—तत्सम्बद्ध ममत्व परिणाम से—जो सहित होता है वह अगारी कहलाता है । ३ अगार यह आरम्भ और परिग्रह सहित होने का उपलक्षण है । इस प्रकारके आरम्भ और परिग्रह रूप अगार (गृह) से जो सहित होता है वह अगारी (गृहस्थ) कहा जाता है ।

अगीतार्थ—अगीतार्थः येन छेदश्चार्थो न गृहीतो

गृहीतो वा विरमाग्नः । (बृहत्क. वृ. ७-०३) ।

जितने छेदभूत—प्रापश्चित्तशास्त्र—का अध्ययन नहीं किया है, अथवा अध्ययन करके भी जो उसे भूल गया है, ऐसे साधु को अगीतार्थ कहते हैं ।

अगुणप्रतिपन्न (अगुणपडिवण) — को पुण गुणो ? मंजमो मज्जमानमो वा [तं अपडिवणो अगुणपडिवणो] । (अव. पु. १५, पृ. १७४) । गुण शब्द से संवय या संवमासंयम अभीष्ट है । इस प्रकारके गुण को जो प्राप्त नहीं है वह अगुण-प्रतिपन्न—असंयत—कहनाता है ।

अगुणोपशामना (अगुणोवस,मरा) — १. जा सा देनकणुवसामणा तस्से अण्णाणि दुये णामाणि अगुणोवसामणा ति च अपन्नस्युवसामणा ति च । (अव. पु. १५, पृ. २७५-७६) । २ तथा देशस्य—देशोपशामनायाः—तयोर्दोषो. पूर्वोक्तयोर्नामधेययो-विपरीते नामधेये । तद्यथा—अगुणोपशामनाऽप्रश-स्तोपशामना च । (कर्मप्र. मलय. वृ. उपश. २, पृ. २५५) ।

अगुणोपशामना यह देशकरणोपशामना का पर्याय-नाम है । (उदयावि करणों में से कुछ का उपशान्त हो जाना और कुछ का अनुपशान्त बना रहना, इसका नाम अगुणोपशामना या देशकरणोप-शामना है) ।

अगुप्तिभय — १ स्व रूप किल वस्तुनं प्रसित परमा गुप्ति. स्वरूपे न यच्छक्न. कोऽपि परप्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वर्णं च नुः । अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भी कुतो ज्ञानिनो निश्चक. मनन स्वयं म महज ज्ञान मदा विन्दति । (सम्यग्प्र. कलश १५२) । २ आत्मरक्षोगायदुग्धिभावान् जायमानम् अगुप्ति-भयम् । (त. वृ. श्रुत. ५-२४) । ३ द्दुर्मोहस्योदयाद् बुद्धि. योग्य चैकान्तवादिनी । नस्यैवागुप्तिभीति. रयानून नात्यम्य जानुचिन् । (पञ्चाध्यायी २, ५३६) ।

२ दुर्गं (किला) आदि गोपनस्थान के न होने पर जो अरक्षा का भय होता है वह अगुप्तिभय कहलाता है ।

अगुलस्य, अगुलस्युक — १. न विद्येते गुरु-सङ्गो यस्मिन्सदगुलस्युकम् । नित्यं प्रकृतिवियुक्तं लोका-

लोकावलोकनाभोगम् । स्तिमिततरङ्गोदधिसमम्-
वर्णमस्पर्शमगुरुलघु । (बोध. १५-१५) २. न गुरु-
मद्योगमनस्वभावं न लघुकर्मध्वजमनस्वभावं यद्
द्रव्यं तदगुरुलघुकम्—अत्यन्तसूक्ष्म भाषा-मनःकर्म-
द्रव्यादि । (स्था. अभय. बृ. १०, १, ७१३, पृ.
४५०-४१) ।

गुस्ता और लघुता के न होने का नाम अगुरुलघु
या अगुरुलघुक है ।

अगुरुलघु गुण—१. अगुरुलघुता अणता तेहि अण-
तेहि परिणवा सब्बे । देसेहि असत्तादा सिय सोग
सम्भावण्णा ॥ (पञ्चास्ति. ३१) २. स्तिमितस्ताव-
दनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्य-
मानानां पदस्थानपतितानां युद्धाद्या हान्या च प्रवर्त-
मानानां स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च । (स. सि.
५-७; त. बा. ५-७, पृ. ४४६) । अगुरुलघु-
गुणास्तु तेषामगुरुलघुत्वाभिधानस्य स्वरूपप्रतिष्ठित-
नियन्त्रणस्य स्वभावस्याविभागपरिच्छेदा. प्रति-
समयसम्भवपदस्थानपतितवृद्धि-हान्यौजन्तानां । (प.
का. अमृत. बृ. ३१) । ३. यदि सर्वथा गुरुत्व
भवति तदा कोऽपि गुरुत्वपदनम्, यदि च सर्वथा
लघुत्व भवति तदा वाताहान्यन्तूनवत् सर्वदैव अमण-
मेव स्यात्, न च तथा; तस्मादगुरुलघुत्वगुणोऽभि-
धीयते । (बृ. प्र.स. टी. ३४) । ४. अगुरुलघुता अणता
—प्रत्येक पदस्थानपतितहानि-वृद्धिभिरन्तविभाग-
परिच्छेदं. सहिता अगुरुलघुत्वो गुणा अनन्ता भवन्ति ।
तेहि अणताहि परिणवा सब्बे—तैः पूर्वोक्तगुणैर-
नन्तैः परिणवाः सर्वे । सर्वे के ? जीवा इति सम्बन्धः ।
(पं. का. जयसेन बृ. ३१) ।

जीवादिक द्रव्यों की स्वरूपप्रतिष्ठा का कारण
जो अगुरुलघु नामक स्वभाव है उसके प्रतिसमय
सम्भव जो छह स्थान पतित वृद्धि-हानिरूप अनन्त
अविभागप्रतिच्छेद हैं उनका नाम अगुरुलघु गुण
है, जो संख्या में अनन्त हैं ।

अगुरुलघुता (गुण)—अगुरुलघुता सूक्ष्मा वागो-
चरविवर्जिता । (द्रव्यानु. तर्क. ११-४) ।

बचन के अगोचर जो सूक्ष्मता है वह अगुरु-
लघुता है—द्रव्य का अगुरुलघु नामका सामान्य
गुण है ।

अगुरुलघु नामकर्म—१. यस्योदयादयःपिण्डवद् गुरु-
त्वान्नाशः पतति, न चार्कतूलवत्लघुत्वाद्बुधं गच्छति,

तदगुरुलघुनाम् । (स. सि. ८-११, त. बा. ८,
११, १२; त. सुखबो. बृ. ८-११) । २. अगुरुलघु-
परिणामनियामकमगुरुलघुनाम् । (स. भा. ८,
१२) । ३. यन्निमित्तमगुरुलघुत्वं तदगुरुलघुनाम् ।
(त. श्लो. ८-११) । ४. अगुरुलघुनाम् यदुदयात्
गुरुर्नापि लघुर्भवति देहः । (आयकप्र. टी. ३१) ।
५. अणताणतेहि पोग्गतेहि आऊरियस्स जीवस्स
जेहि कम्मक्खवेहिता अगुरुलघुत्वं होदि, तेसिमगुरु-
अलघुत्वं ति सण्णा । × × सो (पुगलक्खंघो) जस्स
कम्मस्स उदएण जीवस्स गरुधो हलुवो वा ति नाव-
डद तममगुरुलघुत्वं । (अव. पु. ६, पृ. ५८);
जस्स कम्मस्सुदएण जीवस्स सगमरीरं गुरुलघुगभाव-
विवज्जिय होदि तं कम्ममगुरुलघुत्वं णाम । (अव.
पु. १३, पृ. ३६४) । ६. यस्य कर्मण उदयात्सर्व-
जीवानामिह कुड्मादीनामात्मयोग्यशरीराणि न गुरुणि
न लघूनि स्वतः । किं तर्हि ? अगुरुलघुपरिणाम-
मेवावस्थन्ति तत्कर्मगुरुलघुत्ववदेनोच्यते । (स.
भा. सि. बृ. ८-१२) । ७. अगुरुलघुनामकर्मोदयात्
स्वशरीरं न गुरु नापि लघु प्रतिभाति । (पंचसं.
चन्द्र. स्वो. बृ. ३-१२७ पृ. ३८) । ८. यदुदयाद-
गुरुलघुत्व स्वशरीरस्य जीवानां भवति तदगुरुलघु-
नाम् । (समवा. अभय. बृ. सू. ४२, पृ. ६३) ।
९. गरम न होइ देहं न य लहुप होइ सम्बोजा-
ण । होइ ह् अगुरुलघु अगुरुलघुनामउदएण ।
कर्मवि. गा. १९८) । १०. यस्य कर्मस्त्वस्योदया-
ज्जीवोऽनन्तान्तपुद्गलपूर्णाऽयःपिण्डवद् गुरुत्वा-
न्नाशः पतति न चार्कतूलवत्लघुत्वाद्बुधं, तदगुरु-
लघुनाम् । (मूला. बृ. १२-६) । ११. यदु-
दयात् प्राणिना शरीराणि न गुरुणि, न लघूनि,
नापि गुरुलघूनि; किन्त्वगुरुलघुपरिणामपरिणतानि
भवन्ति तदगुरुलघुनाम् । (कर्मप्र. यशो. टीका १-१,
पृ. ५; अष्टकर्म. टी. ६; पंचसं. मलय. बृ. ३-७
११५; प्रज्ञाप. मलय. बृ. सू. २६३, पृ. ४७३) ।
१२. अगुरुलघुनाम् यदुदयात् स्वजात्यपेक्षया नैकान्तेन
गुरुर्नापि लघुर्देहो भवति । (धर्मसं. टी. गा. ६१८) ।
१३. यस्य कर्मण उदये न गुरु नापि लघु शरीरं
जीवस्य तदगुरुलघुनाम् । (कर्मवि. व्या. पा. ७५) ।
१४. सर्वप्राणिनां शरीराणि यदुदयादात्मीयात्मीया-
पेक्षया नैकान्तगुरुणि नैकान्तलघूनि भवन्ति, तदगुरु-
लघुनाम् । (अमरसं. टी. ३८, पृ. ५१; प्रब. सारो. टी.

भा. १२६२; कर्मस्त. टी. भाषा १०, पृ. २८)।

१५. यदुदयेन लोहपिण्डवद् गुरुत्वेनापो न भ्रंश्यति, अर्कतूलवत्त्वपुत्रेन यत्र तत्र नोद्दीयते, तदगुरुत्वमु-
नाम । (त. वृ. श्रुत. ८-११)। १६. यस्योदयादयः-
पिण्डवद् गुरुत्वान्न च पतति न चार्कतूलवत्त्वपुत्रा-
दूर्ध्वं गच्छति, तदगुरुत्वमुनाम । (मो. क. जी. त.
प्र. टी. ३३) ।

१ जिस नामकर्म के उदय से जीव लोहपिण्ड के
समान भारी होने से न तो नीचे गिरता है और
न आका की हई के समान ऊपर उड़ता है वह
अगुरुत्व नामकर्म कहलाता है ।

अगृहीतग्रहणाद्धा—अप्यिदोपगलपरिग्रहभूतरे जं
अग्रहिदोपगलग्रहणकालो अग्रहिदग्रहणाद्धा नाम ।
(अव. पु. ४, पृ. ३२८) ।

विशेषित पुद्गलपरिवर्तन के भीतर जो अगृहीत
पुद्गलों के ग्रहण का काल है वह अगृहीतग्रहणाद्धा
नामका पुद्गलपरिवर्तन काल है ।

अगृहीत मिथ्यात्व — १. एकेन्द्रियादिजीवानां
चोराज्ञानविवर्तिनाम् । तीव्रान्तमसाकारं मिथ्यात्व-
मगृहीतकम् । (पञ्चसं. अथित. १-१३५) ।

२. केपाञ्चिदन्तमसायतेऽगृहीतम् $\times \times \times$ । (सा.
ध. १-५) । ३. अगृहीतं परोपदेशमन्तरेण प्रवृत्त-
त्वादनुपात्तमादिसन्तस्या प्रवर्तमानस्तत्त्वाविरूप-
श्चित्तरिणामः । (सा. ध. स्वो. टीका १-५) ।

४. अगृहीतं स्वभावोत्पन्नमन्तरेण प्रवर्तमानम् । (अर्धसं.
आ. ४-३७) ।

३ परोपदेश के बिना अनादि परम्परा से प्रवर्त-
मान अतत्त्वब्रह्मानरूप परिणति का नाम अगृहीत
मिथ्यात्व है ।

अगृहीता—मृतेषु तेषु (बन्धुवर्गेषु) संबंध्य-
गृहीता च स्वरिणी । (लाटीसं. २-२०१) ।

अपने अभिभावक बन्धुजनों के मर जाने पर
स्वेच्छाधार में प्रवृत्त कुलटा स्त्री अगृहीता कही
जाती है ।

अग्नि—विष्टुदुत्काऽऽनिसंघर्षसमुत्थिता सूर्यमणिसं-
सृतिरूपदवाग्निः । (आषा. शीलांक वृत्ति १, ३,
सू. ३१ भा. ११८ पृ. ४४) ।

जो बिजली, उल्का और बज्र आदि के संघर्ष से
तथा सूर्य और सूर्यकान्त मणि के संयोग से हाहक
वस्तु उत्पन्न होती है उसे अग्नि कहते हैं ।

अग्निकाय—पृथिवीकायो मृतमनुष्यादिकाय-
वत् । $\times \times \times \times$ एवमबादिष्वपि योग्यम् । (स.
सि. २-१३) ।

अग्निकायिक जीव के द्वारा परित्यक्त काय
(शरीर) अग्निकाय कहलाता है । जैसे—मृत
मनुष्यादि का निर्जीव शरीर मनुष्यकाय आदि
कहलाता है ।

अग्निकायिक (अगणिकाय) — १. पृथिवी कायोऽ-
स्यास्तीति पृथिवीकायिकः तत्कायसम्बन्धवशीकृत
आत्मा । $\times \times \times$ एवमबादिष्वपि योग्यम् । (स.
सि. २-१३) । २. अगणिकायनामकमोददल्ला
सब्जे जीवा अगणिकाया नाम । (अव. पु. १२,
पृ. २०८) ।

जो जीव अग्निरूप शरीर से सम्बद्ध है वह अग्नि-
कायिक कहलाता है ।

अग्निकायिकस्थिति (अगणिकायस्थिति) — अण-
कादौहितो अगणिकायसु उत्पण्णपडमसमये चेव
अगणिकायनामकममस्स उदयो होदि । तदुदयपडम-
समयप्पहुडि उक्कस्सेण जाव असंखेज्जा लोभा ति
तदुदयकालो होदि । सो कालो अगणिकायस्थित्ठो
नाम । (अ. पु. १२, पृ. २०८) ।

अग्न्य पर्याय से अग्निकायिक जीवों में उत्पन्न
होने के प्रथम समय में अग्निकायिक नामकर्म
का उदय होता है । इस प्रथम समय से लेकर
उत्कृष्ट असंख्यात लोक प्रमाण काल तक उसका
उदय रहता है । इतने काल को अग्निकायिक की
स्थिति जानना चाहिए ।

अग्निकुमार — १. मानोन्मानप्रमाणशुक्ता भास्वन्तो-
ज्जदाता षट्चिह्ना अग्निकुमाराः । (स. भा. ४,
११) । २. अग्निकुमारा भूषणनियुक्तपूर्णकलशरूप-
चित्तधराः । (जीषाजी. वृ. ३-१, पृ. २६१) ।
३. अग्निकुमाराः सर्वाङ्गोपाङ्गेषु मानोन्मानप्रमा-
णोपपन्ना विविधाभरणभास्वन्तस्ताप्तस्वर्णवर्णाः ।
(संघर्षणी वृ. १७) । ४. अङ्गन्ति पातालं विहाय
श्रीदार्ढ्यमूर्ध्वमागच्छन्तीति अग्नयः । (स. वृ.
श्रुत. ४-१०) ।

३ जो देव समस्त शरीरावयवों में मान व उन्मान
के प्रमाण से सम्पन्न होते हुए विविध आभरणों से
असंस्कृत, तपे हुए स्वर्ण के समान वर्ण वाले और

घट चिह्न से उपलक्षित होते हैं वे 'अग्निकुमार' इस नाम से प्रसिद्ध हैं ।

अग्निजीव — समवाप्तपृथिवीकायनामकर्मोदयः कार्मणकाययोगस्यो यो न तावत् पृथिवी कायत्वेन शृङ्गाति स पृथिवीजीवः । एवमवादिष्वपि योज्यम् । (स. सि. २-१३) ।

जो जीव अग्निकाय नामकर्म के उदय से संयुक्त होकर कार्मण काययोग में स्थित होता हुआ जब तक अग्नि को कायरूप से नहीं ग्रहण करता है तब तक वह अग्निजीव कहलाता है ।

अङ्कुशित—१. अङ्कुशमिव कराङ्गुष्ठं ललाटदेहे कृत्वा यो वन्दनां करोति तस्याङ्कुशितदीपः । (भूला. पृ. ७-१०६) । २. भालेऽङ्कुशवदङ्गुष्ठ-विन्यासोऽङ्कुशित मतम् । (अन. ध. ८-१००) ।

१. जो अङ्कुश के समान हाथ के अंगूठे को मस्तक पर करके वन्दना करता है वह इस अङ्कुशित दीप का भागी होता है ।

अङ्ग—१. अङ्गति गच्छति व्याप्नोति त्रिकाल-गोचराशेषद्रव्य-पर्यायानित्यङ्गशब्दनिपत्ये । (धव. पु. ६, पृ. १६४) । २. गलया बाहू अ तथा गियव पुट्टी उरो य सीतं च । अट्टव दु अगाई देहणाई उवंगाई । (धव. पु. ६, पृ. ४४ उवधूत; गो. क. २८) । ३. सीतमुरोअरपिट्ठी दो बाहू ऊरुआ य अट्टगा । (आव. भा. गा. १६०, पृ. ४५८) । ४. सीरमुर उदरं पुठं डो बाहू डो च ऊरु इत्यष्टाव-ङ्गानि । (आव. भा. मलय. वृत्ति गा. १६०, पृ. ५६०) । शिरःप्रभृतीम्यङ्गानि । (धर्मसं. वृ. गा. ६११) । ६. अङ्गानि शिरःप्रभृतीनि । (कर्म-वि. व्या. गा. ७१) ।

१ जो 'अङ्गति' अर्थात् त्रिकालविषयक समस्त द्रव्य-पर्यायों को व्याप्त करता है वह अंग (भुत) कहा जाता है, यह अङ्ग शब्द का निश्चल्यर्थ है । ३ शरीर के शिर, बलस्थल, घट, पीठ, दो हाथ और दो अङ्घार्ये; इन आठ अवयवों को अङ्ग कहते हैं ।

अङ्गना—अंगे स्वशरीरे पयोधर-नितम्ब-जघन-स्मरकृपिकादिरूपे अनुरागो येषां ते अङ्गानुरागाः, तान् अङ्गानुरागान् कुर्वन्तीति अङ्गनाः । (आचा. वि. वृ.—अभिधानराजेन्द्र १, पृ. ३८) ।

जो कामोद्दीपक अपने स्तनादि युक्त अंग (शरीर)

में अनुराग रखने वाले पुरुषों को अनुरक्त किया करती हैं, उन्हें अंगना कहते हैं । यह अंगना का निश्चित के अनुसार लक्षण है ।

अङ्गनिमित्त—देखो अंगमहानिमित्त । वातादिष्व-गिदीश्रो वहिरप्पहृदिसहावसत्ताई । गिण्णाण उण्ण-याणं अंगोअंगाण दंसणा पासा । गर-तिरियाणं दट्ठं जं जाणइ दुवल-सोक्ख-मरणाई । कालतयगिण्णं अंगनिमित्तं पसिद्धं तु ॥ (सि. प. ४, १००६-७) । मनुष्य व तिर्यकोंके निम्न और उन्नत अंग-उपायों के देखने व छूने से बात, पित्त एवं कफ रूप प्रकृति तथा शरिर आदि धातुओं को बेलकर तीनों कालों में उत्पन्न होने वाले भुल, दुःख एवं मरण को जान लेना; इसका नाम अंगनिमित्त प्रसिद्ध है ।

अङ्गप्रविष्ट—१. यद्गवज्जिः सर्वशैः सर्वदशभिः परमपिभिरहं हिंस्तत्स्वाभाव्यात् परमशुभस्य च प्रवचनप्रतिष्ठापनफलस्य तीर्थकरनामकर्मणोऽनु-भावादुक्तं भगवच्छिष्यैरतिशयवज्जिह्वस्तमातिशयवा-गबुद्धिसम्पन्नैर्गणधरैर्दुर्बलं तदङ्गप्रविष्टम् । (त. भा. १-२०) । २. अङ्गप्रविष्टमाचाराविद्वादाश्चमैर्बुद्ध-तिशयद्वियुक्तगणधरानुस्मृतप्रत्यरचनम् ॥ १२ ॥ भगवद्गृह्यसंश्लिषमन्निर्गतवाग्गङ्गाऽर्थविमलसलिल-प्रक्षालितान्त करणैः बुद्धपतिशयद्वियुक्तैर्गणधरै-रनुस्मृतप्रत्यरचनम् आचाराविद्वादाश्लेषमङ्गप्रवि-ष्टमित्युच्यते । (त. वा. १-२०, पृ. ७२) ।

भगवत् गृह्यसंबन्धोपविष्ट अर्थ की गणधरों के द्वारा जो आचारादि रूप से अग्ररचना की जाती है, उसे अंगप्रविष्ट कहते हैं ।

अङ्गबाह्य—१. गणधरान्तर्गतादिभिस्त्वत्यन्तविशु-द्धागमैः परमप्रकृष्टवाद्मतिबुद्धिशक्तिभिराचार्यैः काल-संहननायुर्दोषादल्पशक्तौनां शिष्याणामनुग्रहाय यन् प्रोक्तं तदङ्गबाह्यमिति । (त. भा. १-२०) ।

२. आरातीयाचार्य-कृताङ्गानर्थप्रत्यासन्नरूपमङ्गबा-ह्यम् ॥ १३ ॥ यद् गणधरशिष्य-प्रशिष्यैरारातीयै-रधिगतश्रुतार्थतत्त्वैः कालदोषादल्पमेधायुर्बलानां प्राणिनामनुग्रहाद्यनुपनिबद्धं संशिष्टाङ्गानर्थवचनवि-ग्यासं तदङ्गबाह्यम् । (त. वा. १-२०, पृ. ७८) ।

३. अङ्गानि अवयवा आचारादयस्तेभ्यो बाह्यमिति अङ्गबाह्यम् । (त. भा. सि. वृ. १-२०, पृ. ६०) ।

२ गणधरों के शिष्य-प्रशिष्यादि आरातीय आचार्यों

के द्वारा अल्पबुद्धि शिष्यों के अनुग्रहार्थ की गई संक्षिप्त अंगार्थप्रवरचना को अङ्गबाह्य कहते हैं।

अङ्गमहानिमित्त—१. वातादिष्विदिभी सहिरष्य-हुदिस्सहावसत्तां । निष्णाण उष्णायाणं अगोवंगाणं वंसणा पासा ॥ गर-तिरियाणं दट्ठं ज्ञाणं दुक्ख-सोक्ख-मरणाद् । कालत्तयणिष्णण अगणिमित्त पसिद्धं तु । (सि. प. ४, १००६-७), २. अंग-प्रत्यंगदश-नादिभिस्त्रिकालभाविमुख-दुःखादिविभावनमङ्गम् ॥

स. बा. ३, ३६, ३, पृ. २०२) । ३. तत्प अंगगयमहाणिमित्त णाम मणुस्स-तिरिक्खण सत्त-सहाव-वाद-पित्त-सेभ-रस-रुधिर-मास-भेदट्ठि - मज्ज-सुक्काणि सरीरवण्ण-मांघ-रस - फासणिष्णुण्णदाणि जोएद्वण जीविय-मरण-मुह-दुक्ख-लाहालाह-पवासादि-विसयावगमो । (अ. पु. ६, पृ. ७२) । ४. तियंढ-मनुष्साणा सत्त्वस(स्व)भाव-वातादिप्रकृति-रस-रुधिरा-दिवातुशरीरवर्ण-गन्धनिम्नोन्नता-प्रत्यंगदशेन स्पृश-नादिभिस्त्रिकालभाविमुख - दुःखादिविभावनमङ्गम् ।

(चारित्रसार पृ. ६४) । ५. तथाग चिरोप्रीवादिक दुष्ट्वा पुरुषस्य यच्छुमाशुभ ज्ञायते तदगनिमित्त-मिति । (मूलान्तर वृत्ति ६-३०) । ६. अग शरीरा-वयवप्रमाणव्यतिनादिविकारकलोद्भावकम् । (सम-बा. सू. अथ. वृ. २६, पृ. ४७) ।

२ शरीर के अंग-उपगों को देखकर त्रिकालभावो मुख-दुःखादि शुभाशुभ के जानने की शक्ति को अंग-महानिमित्त कहते हैं ।

अङ्गार (इंगाल)—दग्धेन्धनो विगतधूमज्वाला-ङ्गारः इन्धनस्य प्लोपिक्रियाविशिष्टरूप । (आचा-राण शी. वृत्ति १, १, ३, गा. ११८, पृ. ४४) ।

धूम और ज्वाला से रहित धक्कती हुई अग्नि को अङ्गार कहते हैं ।

अङ्गारकर्म—१. देखो अग्निजीविका । अंगार-कम्ममिदि भणिदे अंगारसपायण्डा कट्टदहणकिरिया वेत्तव्वा । अथवा तेहि तहा णिवत्तिदेहि जो सुवण्ण-समाणादिवावारी सो वि अंगारकम्ममिदि वेत्तव्व । (अथ. वे. पत्र ६५२) । २. इंगला निह्मिहं विविक-णाति । (आच. सू. ७) । ३. अंगारकर्म अंगारकरण-विक्रयक्रिया । (आच. वृ. सू. ७) । ४. इंगालकम्म नि इंगाले दहिउं विविकणइ, तत्प छहं कायाणा वहो । णं कणइ । (आ. प्र. टीका २८८ उव्वत्त)

१ अंगार—कोयला—उत्पन्न करने के लिए काष्ठ

को जलाना, अथवा अग्नि के द्वारा सोना, चांदी व लोहा आदि को शुद्ध करना, तथा उनके विविध आभरण और उपकरण बनाना यह सब अंगारकर्म कहा जाता है ।

अङ्गारजीविका—अंगार-आप्टकरणं कुंभाय.स्वर्ण-कारिता । ठठारत्तेष्टकापाकाविति ह्यंगारजीविका ॥ (योगशा. ३-१०१; त्रि. ज. पु. च. ६, ३, ३३६) । कोयला बना कर, भाड़ भूँलकर, कुम्हार, लुहार, सुनार एवं ठठरे आदि के कार्य कर और ईंट व कबलू आदि पका कर आजीविका के करने को अंगार आजीविका कहते हैं ।

अङ्गारदोष—१. त हंदि सयंगाल ज आहारेदि मुच्छिदो संतो । (मूला. ६-५८; पि. नि. ६५५) । २. जे ण मग्गये वा णिमग्गो वा फासु-एसणिज्जं अमण-पाण-वाइम-माइमं पडिगाहेत्ता मुच्छिण गिद्धे गट्ठिण अग्गोववन्ते आहार आहारे नि एस णं गोयमा ! मद्गाले पाण-भोग्गणे । (अ. श. ७, उ. १) । ३. रागेण मद्गालं × × × ॥ (पि. नि. ६५६) । ४. प्राहारमगाद् गाढंघाद् भुज्जानस्य चारित्रागारत्वःपादनाद्यारदोष । (आचा. शी. वृ. २, १, सू. २७३) । ५. रागेणा-ध्मानस्य यद् भोजनं तत् माङ्गारम् । (विश्वति. मलय. वृ. ६५६) । ६. स्वादन्नं तदुत्तार वा प्रश-सयन् यद् भुज्ज्व स रागाभिना चारित्र्येभ्यस्तस्याङ्गा-रीकरणदङ्गारदोष । (योगशा. स्वो. विव. १-३८; धर्मसं. स्वो. वृ. ३-२३) । ७. युद्धयाङ्गारोज्जनत × × × । (अ. च. ५-३७) ; ८. इष्टान्नादिप्राप्तौ रागेण सेवनमङ्गारदोष । (आ. प्रा. टी. १००) ।

१ इष्ट अन्न-पानादि के अतिगुह्यता से सेवन को अंगारदोष कहते हैं । ६ स्वादु अन्न अथवा उसके देने वाले आहक की प्रशंसा करके भोजन करने को भी अंगार दोष कहते हैं ।

अङ्गुल—१. कम्ममहीण वाल निक्ख ज्वं जव च अगुलयं । इगित्तरा य भणिदा पुव्वेहि अट्ठगुणि-वेहि । (सि. प. १-१०६) । २. अष्टो यवमध्यानि एकमगुलमुत्प्रेधाह्यम् । (त. वा. ३, ३८, ६) । ३. अट्ठजवमज्जाभो से एगे अङ्गुले । (अ. सू. ज. ६, उ. ७) । ४. जवमज्जा अट्ठ हवन्ति अगुल × × × । (ज्योतिष्क. २-७५) । ५. अष्टौ यवमध्यान्येक-मङ्गुलम् । (ज्योति. मलय. वृ. २-७५) ।

६. अङ्घ्र्यन्ते प्रमाणनी जायन्ते पदार्था अनेनेत्यङ्गु-
ल मानविशेषः । (संग्रह. वे. बृ. २४४) ।

२. आठ यवमध्य प्रमाण नाप को अंगुल कहते
हैं । ६ जिस भावविशेष को आधार बना करके पदार्थों
का प्रमाण जाना जाता है उसे अंगुल कहते हैं ।

अंगुलिदोष — १. यः कार्यासंगेण स्थितो अंगुलि-
गणनां करोति तस्याङ्गुलिदोषः । (मूला. बृ. ७,
१७२) । २. आलापकगणनार्थमङ्गुलीश्चालयनः स्या-
नमङ्गुलिदोषः । (योगशा. स्वो. विव. ३-१३०) ।
३. X X X अंगुलीगणनाङ्गुली । (अन. च. ८,
११८) ; अंगुली नाम दोषः स्यात् । कासो ? अङ्गुलि-
गणना अङ्गुलीभिः सस्यानम् । (अन. घ. स्वो.
टीका ८-११८) ।

१. कायोत्सर्ग करते समय अंगुलिद्योते अंग गणना
करने को अंगुलिदोष कहते हैं ।

अङ्गुष्ठप्रसेनो (प्रसिका) — यया (विद्यया)
अङ्गुष्ठे देवताकार. क्रियते सा अङ्गुष्ठप्रसेनिका
विद्या । (अभि. रा. भा. १, पृ. ४३) ।

जिस विद्या को द्वारा देवता को अङ्गुष्ठ के ऊपर
अवतीर्ण कराया जाता है, उसे अङ्गुष्ठप्रसेनो या
अङ्गुष्ठप्रसिका विद्या कहते हैं ।

अङ्गोपाङ्गनाम — १. यदुदयादङ्गोपाङ्गविवेकस्तद-
ङ्गोपाङ्गनाम । (स. सि. ८-११; त. दलो. ८-११;
भ. भा. मूला. २१२४) । २. यदुदयादङ्गोपाङ्ग-
विवेकस्तदङ्गोपाङ्गनाम ॥ ४ ॥ यस्योदयाच्छिरः-
पृष्ठो-ब हृदर-नालक-पाणि - पादानामागतानामङ्गानां
तद्भेदानां च लयाट-नासिकादीनां उपाङ्गानां विवेको
भवति तदङ्गोपाङ्गनाम । (त. बा. ८-११; गो. क.
जी. प्र. टी. गा. ३२) । ३. अङ्गोपाङ्गनाम औदारिकादि-
शरीरत्रयाङ्गोपाङ्गनिर्वर्तकं यदुदयादङ्गोपाङ्गागुत्प-
द्यन्ते शिरोऽङ्गुल्यादीनि । (न. भा. हरि. वृत्ति
२-१७) । ४. अङ्गोपाङ्गनाम यदुदयादङ्गोपाङ्ग-
निवृत्तिः । शिरःप्रभृतीन्त्यङ्गानि, श्रोत्रादीन्पुपा-
ङ्गानि । (आ. प्र. टी. २०) । ५. जस्त कम्मक्खं-
घमुदएण सरीरस्समोवगणिप्पत्ती होज्ज, तस्स
कम्मक्खत्तस्स सरीरोगोवंणं णाम । (अब. पु. ६, पृ.
५४) । ६. जस्त कम्मस्सुदएण अट्ठणमंगाणमुवंगाणं
च णिप्पत्ती होदि तं अगोवंणं णाम । (अब. पु.
१३, पृ. ३६४) । ७. पञ्चविधोदारिकसरीरनामादि-
कार्येण साधितं यदेवामेवाङ्गोपाङ्गनिवृत्तिकारणं

तदङ्गोपाङ्गनाम । (अनु. हरि. बृ. पृ. ६३) । ८.
अगोपाङ्गनिवन्धनं नाम अङ्गोपाङ्गनाम । यदुदया-
च्छरीरतयोपात्ता अपि पुद्गला अङ्गोपाङ्गविभागेन
परिणमन्ति तत्कर्माङ्गोपाङ्गं नाम । (कर्म. १) ।
९. अङ्गानि शिरःप्रभृतीनि उपाङ्गायङ्गुल्यादीनि,
यस्य कर्मणः उदये सर्वाण्यङ्गोपाङ्गानि निष्पद्यन्ते
तदङ्गोपाङ्गनाम च ज्ञातव्यम् । (कर्मवि. व्या.
७१, पृ. ३२), १०. यदुदयाच्छरीरतयोपात्ता अपि
पुद्गला अङ्गोपाङ्गविभागेन परिणमन्ति तत्कर्मापि
अङ्गोपाङ्गनाम । (कर्मवि. वे. स्वो. टी. गा. २४) ।
११. अङ्गोपाङ्गनाम यदुदयादङ्गोपाङ्गनिष्पत्तिः ।
(अमत्त. मलय. बृ. ना. ६१७) । १२. यदुदयादङ्गो-
पाङ्गव्यवृत्तिर्भवति तदङ्गोपाङ्गम् । (त. बृ. धृत.
८-११) । १३. यदुदयादङ्गोपाङ्गविवेकनिष्पत्तिः
तदङ्गोपाङ्गं नाम, यस्य कर्मण उदयेन नालक-बाहूल्-
दर मितम्बोर पृष्ठ-शिरोऽस्यपटावंगानि उपाङ्गानि च
मूर्द्धं करोटि-भस्तक-ललाट-सन्धि-भुज-कर्ण - नासिका-
नयनाक्षिपू-हनु - कपोलाघरोष्ठ-सृक्-तालु-जिह्वा-
श्रीवा-स्तन-तुचुकांगुल्यादीनि भवन्ति तदङ्गोपाङ्गम् ।
(मूला. बृ. १२-१६४) ।

१. जिस नामकर्म के उदय से हस्त, पाद, शिर
आदि अंगों का और ललाट, नासिका आदि उपांगों
का विवेक हो उसे अङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं ।
अङ्गिप्रक्षालन — अङ्गिप्रक्षालनं तथास्वीकृत-
निवेशितसयतस्य प्रासुकोदकेन पादधावन तस्यादोदक-
वन्दनं च । (सा. व. स्वो. टी. ५-४५) ।

पश्चाद्द्वे द्वे तावु के प्रासुक जल से पैर धोने व
पादजल के वन्दन को अङ्गि प्रक्षालन कहते हैं ।
अक्षक्षुदर्शन (अक्षक्षुदर्शन) — १. सेसिदियप्ययासो
जायस्वो सो अक्षक्षु स्ति । (पंचसं. १-१३६; गो. जी.
४८४) । २. शेवेन्द्रियैर्दशनमनयनदर्शनं अक्षक्षुदर्शनम् ।
(पंचसं. व. स्वो. बृ. २-१२२) । ३. एवं (अक्षुदर्श-
नवत् — अक्षक्षुदर्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमतः अक्ष-
वोद्यव्यापृतिमात्रसारं सूक्ष्मजिज्ञासास्वरूपमवग्रहप्राप्त्यन्म-
मतिज्ञानावरणक्षयोपशमसम्भूतं सामान्यमात्रासु-
वग्रहव्यङ्ग्यं स्कन्धाकारोपयोगवत्) अक्षक्षुदर्शनं
शेवेन्द्रियोपलब्धिलक्षणम् । (त. भा. हरि. बृ. २-४) ।
४. दिट्ठस्स य जं सरणं जायव्वं तं अक्षक्षु स्ति ॥
अब. पु. ७, पृ. १०० उ.) ; दिट्ठस्स शेवेन्द्रियैः प्रति-
पन्नस्यार्थस्य, जं यस्मात्, सरणं अवगमनम्, जायव्वं

तं तत् प्रचक्षुः सि अचक्षुर्दशनमिति । सेसिदिय-
पाणुप्पसीदो जो पुव्वमेव सुवसत्तीए अप्पणो विम-
यम्मि पडिबद्धाए सामण्णेण संवेदो अचक्षुणाणुप्प-
त्तिणिमित्तो तमचक्षुर्दशनमिति । (धव. पु. ७, पृ. १०१ ; सोद-वाण-जिम्भा-कास-मणोहृत्तो समु-
प्पज्जमाणणाणकारणसमसवेयणमचक्षुदसण णाम ।
(धव. पु. १३, पृ. ३५५); शेपेन्द्रिय-मनसा
दर्शनमचक्षुर्दशनम् । (धव. पु. ६, पृ. ३३) ।
५. शेपेन्द्रियमनोविषयमवशिष्टमचक्षुर्दशनम् । (त.
भा. सिद्ध. वृ. ८-८) । ६. यत्तदावरणक्षयोपशमा-
च्चक्षुर्वजिततेतरचतुरिन्द्रियानिन्द्रियावलम्बाच्च मूर्ति-
मूर्तद्रव्य विकलं सामान्येनावबुध्यते तदचक्षुर्दशन-
म् । (पंचा. का. अमृत. वृ. ४२) । ७. एवमचक्षु-
र्दशनं शेपेन्द्रियसामान्योपनिबिलक्षणम् । (अनू.
हरि. वृ. पृ. १०३) । ८. शेपेन्द्रियज्ञानोत्पादक-
प्रयत्नानुविद्धगुणीभूतविशेषसामान्यालोचनमचक्षुर्दशन-
म् । (मूला. वृ. १२-१८८) । ९. शोषाणां पुन-
रक्षणांमचक्षुर्दशनं जिनैः ॥ (पंचसं. अग्नि. १-२५०) ।
१०. अचक्षुषा चक्षुर्वर्ज-शेपेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा च
दर्शनं सामान्यार्थग्रहणमेवाचक्षुर्दशनम् । (शतक.
मल. हेम. वृ. ३७) । ११. अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेपे-
न्द्रिय-मनोभिर्दर्शनमचक्षुर्दशनम् । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३-२६३; कर्म-
प्र. यशो. टी. १०२) । १२. अचक्षुषा चक्षुर्वर्ज-
शेपेन्द्रिय-मनोभिर्दर्शनं स्व-स्वविषये सामान्यग्रहणम-
चक्षुर्दशनम् । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २६-३१२) ।
१३. अचक्षुषा चक्षुर्वर्जिन्द्रियचतुष्टयेन मनसा वा
दर्शनं तदचक्षुर्दशनम् । (स्यामा. अभय. वृ. ६, ३,
६७२, कर्मस्त. गोविंद. टी. गा. ६, पृ. ८३) ।
१४. सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि अचक्षुषा चक्षुर्वर्ज-
शेपेन्द्रिय-मनोभिर्दर्शनं स्व-स्वविषयसामान्यग्रहणम-
चक्षुर्दशनम् । (पञ्चशी. मलय. वृ. १६) । १५. शेपे-
न्द्रिय - नोन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति बहिरङ्गद्रव्ये-
न्द्रिय-द्रव्यमनोज्वलम्बेन यन्मूर्तमूर्तं च वस्तु निवि-
कल्पसत्तावलोकनं यथासम्भवं पश्यति तदचक्षुर्दशन-
म् । (पञ्चा. का. जय. वृ. ४२) । १६. स्पर्शन-
रसन-घ्राण-श्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमत्वात् स्वकीय-
स्वकीयबहिरङ्गद्रव्येन्द्रियालम्बनाच्च मूर्तं सत्तासा-
मान्यं विकल्परहितं परोक्षरूपेणैकदेशेन यत् पश्यति
तदचक्षुर्दशनम् । (वृ. प्रव्यसं. टी. ४) । १७. इतरै-

यनवर्जैरिन्द्रियैर्मनसा च दर्शनमितरदर्शनम् । (पंचसं.
मलय. वृ. ३-४) । १८. यः सामान्यावबोधः स्या-
च्चक्षुर्वर्जापरैन्द्रियं । अचक्षुर्दशनं तत्स्यात् सर्वेषामपि
देहिनाम् । (लोकप्र. ३-१०५५) । १९. शेपेन्द्रिय-मनो-
भिर्दर्शनमचक्षुर्दशनम् । (कर्मप्र. यशोवि. टी. १०२) ।
७ चक्षुरिन्द्रिय के सिवाय शेष चार इन्द्रियों और
मन के द्वारा होते वाले सामान्य प्रतिभास या अच-
लोकन को अचक्षुर्दशन कहते हैं ।

अचक्षुर्दशनावरण (अचक्षुर्दशनावरणीय)
—१. तत् (शेपेन्द्रिय-मनोदर्शनं) आवृणोत्यचक्षुर्दश-
नावरणीयम् । (धव. पु. ६, पृ. ३३); तत्स
अचक्षुदसणस्तस आचारयमचक्षुदसणावरणीय ।
(धव. पु. १३, पृ. ३५५) । २. अचक्षुर्दशनावरणं
शेपेन्द्रियदर्शनावरणम् । (आ. प्र. टी. १४) ।
३. शेपेन्द्रिय-मनोविषयविशिष्टमचक्षुर्दशनम्, तत्तन्-
वधिघात्यचक्षुर्दशनावरणम् । (तत्त्वा. भा. सि. वृ.
८-८) । ४. तस्य (अचक्षुर्दशनस्य) आवरणम्
अचक्षुर्दशनावरणम् । (मूला. वृ. १२-१८८) ।
५. इतरदर्शनावरणमचक्षुर्दशनावरणम्—चक्षुर्वर्जशेपे-
न्द्रिय-मनोदर्शनावरणम् । (धर्मसं. मलय. वृ.
६११) । ६. चक्षुर्वर्जशेपेन्द्रिय-मनोभिर्दर्शनमचक्षु-
र्दशनम्, तत्स्यावरणीयमचक्षुर्दशनावरणीयम् ।
(प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३-२६३; कर्मप्र. यशो.
टीका १०२) ।

१ अचक्षुर्दशन का आवरण करने वाले कर्म को
अचक्षुर्दशनावरण कहते हैं ।

अचक्षुःस्पर्श—चक्षुषा स्पर्श्यते दृष्टमागतया युज्यते
इति चक्षुःस्पर्शम्—स्पृष्टपरिणतिमत्पृष्ठगलद्रव्यम् ।
अतोऽन्यदचक्षुःस्पर्शम् । (उत्तरा. नि. ४-१८६) ।
जिस स्थूल परिणाम वाले द्रव्य को चक्षुः इन्द्रिय
के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है उसका
नाम चक्षुःस्पर्श है । अचक्षुःस्पर्श इसके विपरीत
समझना चाहिये ।

अचरमसमय-सयोगिभवस्थ - केवलज्ञान—ततः
(चरमसमयात्) प्राक् शेपेषु समयेषु वर्तमान-
मचरमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानम् । (प्राक्.
मलय. वृ. ७८, पृ. ८३) ।

सयोगिकेवली के अन्तिम समय से पूर्ववर्ती शेष
समयों में वर्तमान केवलज्ञान को अचरमसमय-
सयोगिभवस्थ केवलज्ञान कहते हैं ।

अचारित्र (अचरित्र) — चारित्र-पङ्क्तिबद्धं कसायं जिणवरेहिं पणत्तं । तत्सोदएण जीवो अचरिदो होवि णादब्बो ॥ (समयसू. १७३) ।

चारित्र्यरोकक कथाय के उदय से चारित्र के प्रतिकूल आचरण करने को अचारित्र या असंयम-भाव कहते हैं ।

अचित्त—१. आत्मनः परिणामविशेषचित्तम् ॥१॥ आत्मनश्चैतन्यविशेषपरिणामचित्तम्, तेन रहितम् अचित्तम् । (त. भा. २-३२) । २. न विद्यते चित्तमस्मिन्नित्यचित्तम् अचेतनं जीवरहितं प्रासुकं वस्तु । (अभि. रा. भा. १, पृ. १८५); पक्षाणां पुष्पाणां सरहुफलाणां तद्देव हरिषाणां । विटम्मि मिलाणम्मि य णायव्वं जीवविपज्जवं ॥६॥ (अभि. रा. भा. १, पृ. १८६) ।

१ जो योगि ब्रह्मन्त्य परिणामविशेष से रहित अवेशो-बाली होती है, वह अचित्त कही जाती है ।

अचित्तकाल — अचित्तकालो जहा—पूनीकालो चिकखल्लकालो उण्हकालो वरिसाकालो सीदकालो इप्पेवमादि । (अव. पु. ११, पृ. ७६) ।

शीत, उष्ण, वर्षा और धूलि आदि के निमित्त से तत्सम्बद्ध काल को भी अचित्तकाल कहते हैं ।

अचित्तगुणयोग (अचित्तगुणजोग)—अचित्त-गुणजोगो जहा रुच-रस-गंध-फासादीहि पोगल-दब्बजोगो घागासादीणमप्पप्पणो गुणेहि सह जोगो वा । (अव. पु. १०, पृ. ४३३) ।

रुच, रस, गन्ध और स्पर्श आदि अचित्त गुणों के साथ पुद्गल का तथा इसी प्रकार अन्य आकाश आदि द्रव्यों का भी अपने-अपने गुणों के साथ जो संयोग है, उसे अचित्तगुणयोग कहते हैं ।

अचित्ततद्ब्यतिरिक्तद्रव्यान्तर (अचित्ततद्ब्यतिरिक्तद्रव्यन्तर)—अचित्ततद्ब्यतिरिक्तद्रव्यन्तरं णाम धणोअहि-तणुवादाणं मज्जे द्विओ धणाणिलो । (अव. पु. ५, पृ. ३) ।

धनोदधि और तनुवात के मध्य में स्थित धनानिल को अचित्त-तद्ब्यतिरिक्त द्रव्यान्तर कहते हैं ।

अचित्तद्रव्यपूजा—१. तेसि (जिणार्हणं) च घरी-राणं दव्वसुदस्स वि अचित्तपूजा सा । (अव. भा. गा. ४५०) । २. तेषां तु चण्डीरीराणां पूजनं सा-अराचनं । (अ. सं. भा. ६, ६३) ।

जिनदेवादि के अचित्त—पौद्गलिक—अथ शरीरकी और द्रव्ययुत की भी जो पूजा की जाती है, वह अचित्तद्रव्यपूजा कहलाती है ।

अचित्तद्रव्यभाव (अचित्तद्रव्यभाव)—अचित्त-द्रव्यभावो दुविहो—मुत्तद्रव्यभावो अमुत्तद्रव्यभावो वेदि । तस्य वण्ण-गंध-रस-फासादियो मुत्तद्रव्य-भावो । अत्रगाहणादियो अमुत्तद्रव्यभावो । [अवेद-णाणं मुत्तामुत्तद्रव्याणं भावो अचित्तद्रव्यभावो ।] (अव. पु. १२, पृ. २) ।

अचित्तद्रव्यभाव दो प्रकारका है—मूर्तद्रव्यभाव और अमूर्तद्रव्यभाव । उनमें वर्ण-गन्धादि भाव मूर्त-द्रव्यभाव और अत्रगाहन आदि भाव अमूर्तद्रव्य-भाव है । इन दोनों ही भावों को—मूर्त व अमूर्त अचित्त (अजीव) द्रव्योंके परिणामों को—अचित्त-द्रव्यभाव समझना चाहिये ।

अचित्तद्रव्यवेदना (अचित्तद्रव्यवेदणा)—अचित्तद्रव्यवेदया पोगल-कालागास-वम्माधम्मदव्वाणि । (अव. पु. १०, पृ. ७) ।

अचेतन पुद्गल, काल, आकाश, धर्म और अधर्म द्रव्यों को अचित्तनोकर्म-नोधागमद्रव्यवेदना कहते हैं ।

अचित्तद्रव्यस्पर्शन (अचित्तद्रव्यफोसरण)—अचित्ताणं दव्वाणं जो अण्णोणसंजीओ सो अचित्त-द्रव्यफोसरणं । (अव. पु. ४, पृ. १४३) ।

अचेतन द्रव्यों का जो पारस्परिक संयोग है, वह अचित्तद्रव्यस्पर्शन है ।

अचित्तद्रव्योपक्रम—१. अचित्तद्रव्योपक्रमः कन-कादेः कटक-कुण्डलादिक्रिया । (उत्तरा. नि. वृ. १, २८) । २. से कि तं अचित्तद्रव्योपक्रमे ? खंडा-ईणं गुडाईणं मच्छंडीणं से तं अचित्तद्रव्योपक्रमे । (अनुयो. सू. ६५) । ३. खंडादयः प्रतीता एव । नवरं मच्छंडी खंडशकंरा, एतेषां खण्डाद्यचित्तद्रव्या-णामुपायविशेषतो आधुय्यादिगुणविशेषकरणं परि-कर्मणि सर्वथा विनाशकरणं वस्तुनाओ अचित्तद्रव्योप-क्रमः । अनुयो. अव. हेव. वृ. सू. ६५) ।

१ सोला-बांदी आदि अचित्त द्रव्यों के कड़ा व कुंडल आदि बनाने की प्रक्रिया को अचित्तद्रव्योपक्रम कहते हैं । ३ बाँध व गुड़ आदि अचेतन द्रव्यों में उपाय-विशेष से आधुय्यादि गुणों के उत्पादन की प्रक्रिया को भी अचित्तद्रव्योपक्रम कहते हैं ।

अधितनोकर्मग्रन्थबन्धक (अधितनोकर्मग्रन्थ-
बन्धक) — अधितनोकर्मग्रन्थया जहा कट्टाणं
बन्धया, सुप्पाणं बन्धया, कववाणं बन्धया इत्येवमादि ।
(अव. पु. ७, पृ. ४) ।

अधेतन लकड़ियों के बन्धकों (बड़ई), लूप व
टोकरी आदि के बन्धकों (बसोर) तथा चट्टाई आदि
के बन्धकों को अधितनोकर्मग्रन्थबन्धक समझना
चाहिये ।

अधितपरिग्रह—अधितं रत्न-वस्त्र-कुप्यादि, तदेव
आधितपरिग्रहः । (आ. वृ. पृ. ५) ।

रत्न, वस्त्र और सोना-चादी आदि अधित परिग्रह
कहायते हैं ।

अधितप्रक्रम (अधितपक्कम)—हिरण्य-सुवर्णा-
दीणं पक्कमो अधितपक्कमो णाम । (अव. पु. १५,
पृ. १५) ।

सोना व चांदी आदि को प्रक्रम को अधितप्रक्रम
कहा जाता है ।

अधितमज्जल—अधितमज्जलं कृत्रिमाकृत्रिमवैत्या-
लयादिः । (अव. पु. १, पृ. २८) ।

कृत्रिम व अकृत्रिम शैत्यालय आदि अधित
मज्जल हैं ।

अधितयोनिक—तत्राधितयोनिका देव-नारकाः ।
देवावच नारकाश्चाधितयोनिकाः, तेषां हि
योनिरुपादप्रदेगपुद्गलप्रचयोऽधितः । (त. वा.
२, ३२, १८) ।

अधित उपपादस्थान पर उत्पन्न होने वाले देव
व नारकी अधितयोनिक हैं ।

अधित्ता (योनि)—देखो अधित । १. अधित्ता
(योनिः) सर्वथा जीवविप्रमुक्ता । (प्रज्ञाप. मलम.
वृ. ६-१५१) । २. सुराणां निरयाणां च योनिः
अधित्ता—सर्वथा जीवप्रदेशविप्रमुक्ता । (संग्रहणी
दे. भ. वृ. २५४) ।

जो उत्पाद-स्थान-प्रवेश जीवों से सर्वथा रहित होते
हैं उन्हें अधित्ता योनि कहते हैं ।

अधित्तावस्तावान—अधितं वस्त्र-कनक-रत्नादि,
तस्यापि क्षोत्रादी सुव्यस्त-दुव्यस्त-विस्मृतस्य स्वामि-
नाऽस्तस्य चौर्यदुष्पादानमधित्तावस्तावानमिति ।
(आव. वृ. ६, ८२२) ।

जो तपाव-स्थान-प्रवेश जीवों से सर्वथा रहित होते
हैं उन्हें अधित्ता योनि कहते हैं ।

अधित्तावस्तावान—अधितं वस्त्र-कनक-रत्नादि,
तस्यापि क्षोत्रादी सुव्यस्त-दुव्यस्त-विस्मृतस्य स्वामि-
नाऽस्तस्य चौर्यदुष्पादानमधित्तावस्तावानमिति ।
(आव. वृ. ६, ८२२) ।

जो तपाव-स्थान-प्रवेश जीवों से सर्वथा रहित होते
हैं उन्हें अधित्ता योनि कहते हैं ।

अधित्तावस्तावान—अधितं वस्त्र-कनक-रत्नादि,
तस्यापि क्षोत्रादी सुव्यस्त-दुव्यस्त-विस्मृतस्य स्वामि-
नाऽस्तस्य चौर्यदुष्पादानमधित्तावस्तावानमिति ।
(आव. वृ. ६, ८२२) ।

जो तपाव-स्थान-प्रवेश जीवों से सर्वथा रहित होते
हैं उन्हें अधित्ता योनि कहते हैं ।

जो स्वामी द्वारा नहीं दिये गये हैं—लेने को
अधित्तावस्तावान कहते हैं ।

अधेतक—१. न विद्यन्ते चेलानि वासांसि यस्या-
सावचेलकः । (स्थानाणं अमय. वृ. ५, ३, ६५१) ।

२. अधिद्यमानं ननु कुत्सायै कुत्सितं वा चेलं यस्या-
सावचेलकः । (अव. सारो. वृ. ७८, ६५१) ।

२ जिसके वा तो किसी प्रकार का वस्त्र ही नहीं है,
अथवा कुत्सित वस्त्र है; वह अधेतक है ।

अधेतकत्व—१. न विद्यते चेलं यस्यासावचेलकः,
अधेतकस्य भावोऽधेतकत्वं वस्त्राभूषणादिपरिग्रह-
त्यागः । (भूला. वृ. १-३) । २. अधेतकिकमचेल-
कत्वम् $\times \times \times$ । (म. आ. अधित. ८०) ।

वस्त्राभूषणादि परिग्रह को छोड़ कर स्वाभाविक
थेव (निर्ग्रन्थता) को स्वीकार करना, इसका नाम
अधेतकत्व है ।

अधेतकत्व—देखो अधेतकत्व । चेलानां वस्त्राणां
बहुवचन-नवीनावदात-मुप्रमाणानां सर्वेषां वाऽप्रभावः
अधेतकत्वम् । (समवा. अमय. वृ. २२, पृ. ३६) ।

देखो अधेतकत्व ।

अधेतकत्व—देखो अधेतकत्व । चेलानां वस्त्राणां
बहुवचन-नवीनावदात-मुप्रमाणानां सर्वेषां वाऽप्रभावः
अधेतकत्वम् । (समवा. अमय. वृ. २२, पृ. ३६) ।

देखो अधेतकत्व ।

अधेतकत्व—देखो अधेतकत्व । चेलानां वस्त्राणां
बहुवचन-नवीनावदात-मुप्रमाणानां सर्वेषां वाऽप्रभावः
अधेतकत्वम् । (समवा. अमय. वृ. २२, पृ. ३६) ।

देखो अधेतकत्व ।

अधेतकत्व—देखो अधेतकत्व । चेलानां वस्त्राणां
बहुवचन-नवीनावदात-मुप्रमाणानां सर्वेषां वाऽप्रभावः
अधेतकत्वम् । (समवा. अमय. वृ. २२, पृ. ३६) ।

देखो अधेतकत्व ।

अधेतकत्व—देखो अधेतकत्व । चेलानां वस्त्राणां
बहुवचन-नवीनावदात-मुप्रमाणानां सर्वेषां वाऽप्रभावः
अधेतकत्वम् । (समवा. अमय. वृ. २२, पृ. ३६) ।

देखो अधेतकत्व ।

अधेतकत्व—देखो अधेतकत्व । चेलानां वस्त्राणां
बहुवचन-नवीनावदात-मुप्रमाणानां सर्वेषां वाऽप्रभावः
अधेतकत्वम् । (समवा. अमय. वृ. २२, पृ. ३६) ।

देखो अधेतकत्व ।

अधेतकत्व—देखो अधेतकत्व । चेलानां वस्त्राणां
बहुवचन-नवीनावदात-मुप्रमाणानां सर्वेषां वाऽप्रभावः
अधेतकत्वम् । (समवा. अमय. वृ. २२, पृ. ३६) ।

देखो अधेतकत्व ।

अधेतकत्व—देखो अधेतकत्व । चेलानां वस्त्राणां
बहुवचन-नवीनावदात-मुप्रमाणानां सर्वेषां वाऽप्रभावः
अधेतकत्वम् । (समवा. अमय. वृ. २२, पृ. ३६) ।

देखो अधेतकत्व ।

११६) । ५. भवत्तादानाद्विरतिरस्तेयम् । (अ. भा. विज. टी. ५७) ; भवेदमिति संकल्पोपनीतद्रव्य-
वियोगे दुःखिता भवन्ति, इति तद्वयमा भवत्तस्यादा-
नाद् विरमणं तृतीयं व्रतम् । (अ. भा. विज. टी. ५२१) । ६. कृत-कारिताविभिस्तस्माद् (भवत्ता-
दानाद्) विरतिः स्तेयव्रतम् । (भा. सा. पु. ४१) ।
७. बहुल्यं वा परद्रव्यं ग्रामादौ पतितादिकम् । भवत्तं
यत्तादादानवर्जनं स्तेयवर्जनम् ॥ (भाषा. सा. १,
१८) । ८. सुदुर्मं वायरं वावि परद्रव्यं नेव गिण्हद् ।
तिविहेणावि जोगेण तं च तद्वयं महव्वय ॥ (गु. गु.
व. ३, पु. १३) ।

१ ग्राम, नगर अथवा वन आदि किसी भी स्थान पर
किसी के रखे, भूले या गिरे हुए द्रव्य के ग्रहण करने
की इच्छा भी नहीं करना; यह अर्चोर्थमहाव्रत
कहलाता है ।

अर्चोर्थाशुव्रत—१. निहितं वा पतितं वा सुवि-
स्मृतं वा परस्वमविसृष्टम् । न हरति यन्न च दत्ते
तदङ्गसर्वाङ्गपारमणम् ॥ (एतक. ३-५७) ।
२. अन्यपीडाकरं पाथिवमयादिवशादवयव परित्यक्त-
मपि यदवत्तम्, ततः प्रतिनिवृत्तादरः आवक इति
तृतीयमशुव्रतम् । (स. सि. ७-२०) । ३. अन्यपीडा-
कराद् पाथिवमयाद्युत्पादितनिमित्तादप्यवत्तात्प्रति-
निवृत्तः ॥३॥ अन्यपीडाकरपाथिवमयादिवशाद-
वयवं परित्यक्तमपि यदवत्तं ततः प्रतिनिवृत्तादरः
आवक इति तृतीयमशुव्रतम् । (स. भा. ७, २०, ३) ।
४. परद्रव्यस्य नष्टावेर्महोऽल्पस्य चापि यत् ।
भवत्तार्थस्य नादानं तत्तृतीयमशुव्रतम् ॥ (ह. पु.
५८, १४०) । ५. जो बहुमुल्यं वस्तु अन्यमुल्लेण
णैव गिण्हेदि । बीसरियं पि ण गिण्हदि लाहे धोवे
हि तूसेदि ॥ जो परद्रव्यं ण हरद् माया-लोहेण कोह-
माणेण । दिव्चित्तो सुदमई अणुव्वई सो हवे तिवि-
धो ॥ (कार्तिके. ३३५-३६) । ६. असमर्था ये कतुं
निपानतोयादिहणविनिवृत्तिम् । तैरपि समस्तमपरं
नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥ (पुष्प. १०६) । ७. गाने
णमरे रण्णे वट्टे पडिय च अहव विस्तरिय । गादाणं
परद्रव्यं तिवियं तु अणुव्वयं होइ ॥ (बम्मर. १४५) ।
८. अन्यपीडाकरं पाथिवादिमयवशादवयवपरि-
त्यक्तं वा निहितं पतितं विस्मृतं वा यदवत्तं ततो
निवृत्तादरः आवक इति तृतीयमशुव्रतम् । (भा. सा.
पु. ५) । ९. ग्रामादौ पतितस्यास्पृशुः परस्वपुनः ।

आदानं न त्रिधा यस्य तृतीयं तदशुव्रतम् ॥ (शुभा.
सं. ७७३, १०. चौरव्यपदेशकरस्थूलस्तेयव्रतो मृत-
स्वधनात् । परमुदकादेशचासिलभोग्यान् न हरेद्दीत
न परस्वम् ॥ संक्लेशानिनिवेशेन तृणमप्यन्यमर्तु-
कम् । भवत्तमाददानो वा ददानस्तस्करो भ्रुवम् ॥
(सा. व. ४, ४६-४७) । ११. भवत्तपरवित्तस्य
निक्षिप्त-विस्मृतादितः । तत्परित्यजनं स्थूलमर्चो-
व्रतमूचिरे ॥ (भावसं. भाष. ४५४) । १२. पतित
विस्मृतं नष्टमुत्पये पथि कानने । वर्जनीयं परद्रव्यं
तृतीयं तदशुव्रतम् ॥ (पुष्प. भा. २५) । १३. पर-
स्वग्रहणाच्चोर्थाव्यपदेशनिबन्धनात् । या निवृत्तिस्तु-
तीयं तत्प्रोवे सार्वेरशुव्रतम् ॥ (वर्णसं. मानवि.
२-२७, पु. ६०) ।

१ किसी के रखे हुए, गिरे हुए या भूले हुए द्रव्य
को न स्वयं ग्रहण करना और न दूसरे को भी देना,
यह स्थूल चोरी के त्याग स्वल्प तीसरा अर्चोर्थाशु-
व्रत है ।

अच्छवि (स्नातक)—छविः शरीरम्, तदभावात्
काययोगगिरोवे इति अच्छविर्भवति । (स. भा.
सिद्ध. वृ. ६-४६, पु. २८६) ।

काययोग का निरोध हो जाने पर छवि अर्थात्
शरीर से रहित हुए केवली अच्छवि स्नातक (एक
मुनिभेद) कहालाते हैं ।

अच्छिन्नकालिका (सूक्ष्मप्राभृतिका)—छिन्न-
मच्छिन्ना काले $\times \times \times$ । (बृहत्क. १६८३) ; या
तु यदा तदा वा क्रियते सा अच्छिन्नकालिका ।
(बृहत्क. वृ. १६८३) ; $\times \times \times$ या तु न ज्ञायते
कस्मिन् दिवसे विधीयते सा अच्छिन्नकालिकेति ।
(बृहत्क. वृ. १६८४) ।

वसति के आच्छादन व लेपन आदि रूप जिस
प्राभृतिका के उपलेपन आदि का काल (अनुक मास
व तिथि आदि) नियत नहीं है—जब तक किया
जाता है—वह अच्छिन्नकालिका प्राभृतिका कह-
लाती है ।

अज—१. अजास्ते जायते येषां नाङ्कुरः सति
कारणे । (पद्म. ११, ४२) । २. निवर्णा ग्रीहयो-
ऽजीवा अजा इति सनातनः ॥ (ह. पु. १७-६६) ।
१ अपने के कारण-कलाप मिलने पर भी जिनके
भीतर अङ्कुर उत्पन्न करने की शक्ति का अभाव हो
जाता है, ऐसे तीन वर्ष या इससे अधिक पुराने

ब्रह्म को अज कहते हैं।

अजघन्य ब्रह्मवेदना (ज्ञानावरणीय की) —तत्त्व-विरहितमजहण्णा । (बृहत्. ४, २-४, ७६ पु. १०, पु. २६६); क्षीणकषायचरिमसमए एगणितेगट्ठि-रीए एगसमयकालाए चेत्तिदाए भाणावरणीयस्स जहण्णदब्बं होदि । एदस्स जहण्णदब्बस्सुवरि ओक-इद्धुक्कइड्ढमस्सिदूण परमाणुत्तरं वड्ढिदे जहण्ण-मजहण्णट्ठाणं होदि । (अब. पु. १०, पु. ३००) । क्षीणकषाय गुणस्थान के अन्तिम समय में एक समयवासी एक निष्कस्त्विति के अवस्थित रह जाने पर ज्ञानावरणीय कर्म की ब्रह्म की अपेक्षा अजघन्य वेदना होती है । इस अजघन्य ब्रह्म के ऊपर अपकर्षण और उत्कर्षण के बजा एक परमाणु की वृद्धि के होने पर ज्ञानावरणीय के प्रकृत अजघन्य ब्रह्मका प्रथम विकल्प होता है । तत्पश्चात् दो पर-माणुओं की वृद्धि होने पर उत्तम अजघन्य ब्रह्म का द्वितीय विकल्प होता है । यह कम एक परमाणुसे हीन उसके उत्कृष्ट ब्रह्म तक समझना चाहिये । अपनी अपनी कुछ विशेषताओं के साथ वर्षानावरणादि अन्य कर्मों की भी अजघन्य वेदना का यही क्रम है । (सूत्र ७८, १०६, ११०, १२२) ।

अजंगम प्रतिमा—सुवर्ण-मरकतमणिषट्ठिता, स्फ-टिकमणिषट्ठिता, इन्द्रनीलमणिनिमिता, पद्मरागमणि-रषिता, विद्रुमकल्पिता, चन्दनकाष्ठानुष्ठिता वा अजंगम प्रतिमा । (बोधपा. टी. १०) ।

सुवर्णं च मरकतं चादि मणिविशेषों से निमित्त अचे-तन प्रतिमाओं को अजंगम प्रतिमा कहते हैं ।

अजातकल्प— $\times \times \times$ गतीतो खलु भवे अजातो तु । (अब. सू. भा. गा. १६); गतीतोऽतीतार्थः खलु भवेदजातोऽजातकल्पः । (अब. सू. भा. वृ. गा. १६) ।

अतीतार्थ—सूत्र, अर्थ और उभयसे रहित—कल्प (आचार) अजातकल्प कहलाता है ।

अजित—१. यस्य प्रभावान् त्रिदिवच्युतस्य कीडा-स्वपि क्षीवमुत्तारनिन्दः । अजेयशक्तिर्भूवि बन्धुवर्ग-श्चकार नामाजित इत्यवगम्यम् ॥ (बृ. स्वर्ण. स्तोत्र ६) । २. परीषद्वादिभिर्न जित इति अजितः । तथा गर्भस्थे भगवति जननी ब्रूते राज्ञा न जिता इत्यजितः । (योगशा. ३-१४४) ।

१ स्वर्ग से अचलीय जिस द्वितीय तीर्थंकर के प्रभाव

से बन्धुवर्ग—कुटुम्बी जन—उनकी कीडाओं में भी प्रफुल्लित मुक्त-कर्मल से संयुक्त होता हुआ चूँकि अजेय शक्ति से सत्यम् हुआ था, अतएव उसने उनके 'अजित' इस साधक नाम को प्रतिष्ठ किया था । २ परीषद् वा उपसर्ग आदि के द्वारा नहीं जीते जाने के कारण द्वितीय जितेन्द्र को अजित कहा गया है तथा उनके गर्भमांस के समय ब्रूतकीडा में पिता के द्वारा माता को न जीत सकने के कारण भी उनके इस प्रभाववासी पुत्र को—दूसरे तीर्थंकर को—अजित कहा गया है ।

अजिनसिद्ध—अजिनसिद्धा य पृथरिया पमुहा । (नवतरङ्ग. ५६, पु. १७७) ।

पृथरीच आदि अजिनसिद्ध हुए हैं ।

अजीव—१. तद्विपर्ययलक्षणो (अचेतनालक्षणो) जीवः । (स. सि. १-४) । २. तद्विपर्ययोऽजीवः ॥८॥ यस्य जीवनमुक्तलक्षणं नास्त्यसौ तद्विपर्य-याद् अजीव इत्युच्यते । (त. भा. १-४) । ३. तद्वि-परीतः (सुल-दुःख-ज्ञानोपयोगलक्षणरहितः) त्वजीवः । (त. भा. हरि. वृ. १-४) । ४. $\times \times \times$ यच्चैतद्-विपरीतवान् (चैतन्यलक्षणरहितः) । अजीवः स समाख्यातः $\times \times \times$ ॥ (बृहत्. स. ४-४६); ५. चैतन्याभावलक्षणोऽजीवः । (पंचा. का. अमृत. वृ. १०८) । ६. तद्विलक्षणं पुद्गलादिपञ्चभेदः पुनरप्य-जीवः । (पंचा. का. जय. वृ. १०८) । ७. उपयोग-लक्षणरहितोऽजीवः (रत्नक. टी. २-५) । ८. स्या-दजीवोऽप्यचेतनः । (पञ्चाध्या. २-३) । ९. तद्विलक्षणः (चेतनालक्षणरहितः) पुद्गल-धर्माधर्मा-काश-कालस्वरूपपञ्चविधोऽजीवः । (आरा. सा. टी. ४) । १०. यस्तु ज्ञान-वर्शनादिलक्षणो नास्ति, स पुद्गल-धर्माधर्मा-काश-काललक्षणोऽजीवः (त. वृ. अमृत. १-४) । ११. अजीवः पुनस्तद्विपरीत- (चेतनाविपरीत-) लक्षणः (त. सुखबो. वृ. १-४) । १२. स्यादजीवस्तदव्यक्तः । (विवेकवि. ८-२५१) ।

जिसमें चेतना न पायी जाय उसे अजीव कहते हैं ।

अजीवकरण—१. जीवमजीवे भावे अजीवकरणं तु तत्त्व वन्नाई । (आच. नि. वा. १०१६) । २. जं जं निज्जीवान् कीरइ जीवप्पयोगो तं तं । वन्नाइ क्वक्कम्माइ वावि अज्जीवकरणं तु ॥ (आच. भा. गा. १५७, पु. ४३८) ।

२ जीव के प्रयोग से अजीव (पुद्गल) द्रव्यों के जो कुछ भी किया जाता है उसको तथा वर्ण आदि जो कर्म—कुसुमी रंग आदि का निर्माण—भी किया जाता है उसको भी अजीवकरण कहा जाता है।

अजीवकाय—१. अजीवकायाः धर्माधर्माकाश-पुद्गलाः । (त. सू. ५-१) । २. अजीवाश्च ते कायाश्च ते अजीवकाया इति समानाधिकरणलक्षणा वृत्तिरियं वेदितव्या । (त. भा. सिद्ध. टी. ५, १, १) । ३. अजीवाना कायाः अजीवकायाः, शिलापुत्रकस्य शरीरमित्यभेदेऽपि पठ्ठी दृष्टा तथा सुवर्णस्याङ्गुलीयकम् । अन्य-त्वासांकाभ्यावृत्त्यर्थो वा कर्मधारयः एवाभ्युपेयते । (त. भा. सिद्ध. टी. ५-१) ।

३. अजीवों के कार्यों का अथवा अजीव ऐसे कार्यों का नाम अजीवकाय है । वे अजीवकाय प्रकृत में वर्ण, ध्वनि, आकाश और पुद्गल; ये चार द्रव्य विवक्षित हैं ।

अजीवकायासंयम—अजीवकायासंयमो विकट-सुवर्ण-बहुभूत्यवस्त्र-पात्र-पुस्तकादिग्रहणम् । (सम्भा. अभय. वृ. १७) ।

सनेहर सुवर्ण और बहुभूत्य वस्त्र, पात्र एवं पुस्तक आदि के ग्रहण करने को अजीवकायासंयम कहते हैं ।

अजीवक्रिया—अजीवस्य पुद्गलसमुदायस्य यत् कर्मतया परिणमनं सा अजीवक्रिया । (स्थाना. अभय. वृ. २-६०) ।

अचेतन पुद्गलों के कर्मरूप से परिणत होने को अजीवक्रिया कहते हैं ।

अजीव नाममंगल—१. अजीवस्य यथा श्रीमल्लाट-देशे दवरकवलनकं मंगलमित्यभिधीयते । (आच. हरि. वृ. पु. ५) । २. अजीवविषयं यथा लाटदेशे दवरकवलनकस्य मंगलमिति नाम । (आच. मलय. वृ. पु. ६) ।

किसी अचेतन द्रव्य के 'मंगल' ऐसा नाम रखने को अजीव नाममंगल कहते हैं । जैसे—लाट देश में डोरा के बलनक का 'मंगल' यह नाम ।

अजीवनेसृष्टिको—एवमजीवाद्यजीवेन वा धनु-रादिना शिलीमुखादि निसृजति यस्यां सा अजीव-नेसृष्टिकी । × × × अथवा अजीवे अचित्सत्त्वस्थि-लादी अनाभोगादिनाऽनेवणीयं स्वीकृतमजीवं नस्त्रं पार्श्वं वा सूत्रव्यपेतं यथाभवत्यप्रमाजिताद्यविधिना

निसृजति परित्यजति यस्यां सा अजीवनेसृष्टिकी । (आच. टि. भन. हेम. पृ. ६५) ।

निर्जीव वस्तु आदि से बाण आदि के निकलने रूप किया को अजीवनेसृष्टिकी कहते हैं । अथवा स्वीकृत निर्जीव वस्त्र व पात्र, जो सूत्र के प्रतिकूल होने से अघात हैं, उन्हें असावधानी से प्रमाजित आदि बिधि के बिना ही निर्जीव शुद्ध भूमि आदि में जिस किया से छोड़ा जाता है उस किया का नाम अजीवनेसृष्टिकी किया है ।

अजीवप्रादोषिकी क्रिया—अजीवप्रादोषिकी तु कोषोत्पत्तिनिमित्तभूतकण्टक-शर्करादिविषया । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६) ।

कोष की उत्पत्ति के कारणभूत कण्टक व कंकड़ आदि के लगने से होने वाली द्वेषरूप किया को अजीवप्रादोषिकी किया कहते हैं ।

अजीवबन्ध—१. तत्राजीवविषयो जलु-काष्ठादिलक्षणः । (स. सि. ५-२५; त. भा. ५, २५, ६) ।

२. अजीवविषयो बन्धः दाह-लाक्षादिलक्षणः । (त. वृ. धृत. ५-२५) ।

अचेतन लाल व काष्ठ आदि के बन्ध को अजीव-बन्ध कहते हैं ।

अजीवमिथिता (अजीवमीसिया)—१. यदा प्रभू-तेषु मृतेषु स्तोकेषु जीवस्तु एकत्र राशीकृतेषु शंखादिष्वेवं वदति—अहो, महानयं मृतो जीवराशिरिति, तदा सा अजीवमिथिता । अस्या अपि सत्यामृतात्वम्, मृतेषु सत्यत्वात् जीवस्तु मृषारवात् । (प्रभाष. वृ. ११, १६५) । २. साऽजीवमीसिया वि य जा भन्मइ उभयरासिविषया वि । अज्जित्तु विसयमनं एस बहुअजीवरासि ति ॥ (भाषार. ६२) ।

१ जीव और अजीव राशियों का संमिश्रण होने पर भी अजीवों की प्रधानता से कोली जाने वाली भाषा को अजीवमिथिता कहते हैं । जैसे बहुत से मरे हुए और कुछ जीवित भी शंखों को एकत्रित करने पर जो उस राशि को देख कर यह कहा जाता है कि मरे ! यह कितनी जीवराशि मरण को प्राप्त हुई है, इस प्रकार की भाषा को अजीव-मिथिता जानना चाहिये ।

अजीवविषय धर्मध्यान—१. द्रव्याणामप्यजीवानां धर्माधर्मादिसंज्ञानाम् । स्वभावचिन्तनं धर्ममजीव-विषयं यतम् ॥ (ह. पु. ५६-५५) । २. धर्मा-

धर्माकाश-पुद्गलानामनन्तपर्यायात्स्वकानामजीवानाम-
नुचिन्तने । (सम्प्रतिष्ठा. बु. ४ अं.) । ३. जीवभाव-
विलक्षणानाम् अचेतनतां पुद्गल-धर्माधर्माकाशद्वया-
थामनन्तविकल्पपर्यायस्वभावाऽनुचिन्तनमजीवविच-
यम् । (कार्तिके. टीका ४८२) ।

पुद्गल, धर्म और अधर्मादि अचेतन द्रव्यों के अनन्त-
पर्यायात्मक स्वभाव का चिन्तन करना; यह
अजीवविचय धर्मध्यान है ।

अजीवशरण—प्राकारादि अजीवशरणम् । (त.
भा. ६, ७, २) ।

प्राकार और बुगं आदि लौकिक अजीवशरण (निर्जीव
रजक) माने जाते हैं ।

अजीवसंयम—१. अजीवरूपाण्यपि पुस्तकादीनि
दुःखमादीनां प्रज्ञाबलहीनशिष्यानुग्रहाय यतनया
प्रतिलेखना-प्रमाजंनपूर्वं धारयतोऽजीवसंयमः ।

(योगसा. स्तो. विध. ४-६३) । २. अजीवरूपाण्यपि
पुस्तकादीनि दुःखमादिदोषात्तावाविषयप्रज्ञाऽऽधुष्क-
शब्दा-सर्वेगोष्ठम - बलादिहीनायकालीनविनियजानु-
ग्रहाय प्रतिलेखनाप्रमाजंनपूर्वं यतनया धारयतो-
ऽजीवसंयमः । (धर्मसं. मान. स्तो. बु. ३-४६,
पृ. २८) ।

दुःखमा काल के प्रभाव से बुद्धिबल से हीन शिष्यों
के अनुग्रहाय जो अचेतन पुस्तक आदि प्रागमबिहित
हैं उनका रजोहरण आदि से प्रतिलेखन व प्रमाजंन
करके धलाधारपूर्वक धारण करने को अजीवसंयम
कहते हैं ।

अजीवस्पर्शनक्रिया—अजीवस्पर्शनक्रिया मृगरोम-
कुतब-पट्टशाटक-नीलपुपधानादिविषया । (त. भा.
सिद्ध. बु. ६-६) ।

मृगरोम, कुतब (कुतुब)—घो तेल आदि रखनेका पात्र
विशेष, प्रथवा अनाज भापने का सापविशेष—
कुतब), पाटा, साड़ी, नील और उपरि आदि अजीव
पदार्थों के स्पर्श करने को क्रिया को अजीवस्पर्शन—
क्रिया कहते हैं ।

अजीवाप्रत्याख्यानक्रिया—यदजीवेषु यथादिष्व-
प्रत्याख्यानात् कर्मबन्धनं सा अजीवाप्रत्याख्यानक्रिया ।
(स्थाना. अभय. बु. २-६०) ।

अचेतन मद्य आदि के सेवन का त्याग नहीं करने से
जो कर्मबन्ध होता है उसे अजीवाप्रत्याख्यानक्रिया
कहते हैं ।

अज्ञ—अज्ञस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्ययम्योऽभिव्यापिः । (इष्टो-
प. टी. ३५) ।

जो तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के योग्य नहीं हैं ऐसे
अभय आदि जीवों को अज्ञ कहते हैं ।

अज्ञातभाव—१. भदात् प्रमावाद् वा अनवबुध्य
प्रवृत्तिरज्ञातम् । (स. सि. ६-६) । २. भदात्प्रमा-
वाद्वाऽनवबुध्य प्रवृत्तिरज्ञातम् ॥४॥ मुरादिपरिणाम-
कृतात् करणव्यामोहकरात् भदाद्वा मनःप्रणिधान-
विरहलक्षणात् प्रमादाद्वा त्रव्यादिष्वनवबुध्य प्रवृत्ति-
रज्ञातमिति व्यवसीयते । (त. भा. ६, ६, ४) ।

३. अपरः एतद्विपरीतः (ज्ञानानुपयुक्तस्यात्मनो यो
भावस्तद्विपरीतः), स सत्त्वज्ञातभावोऽनभिज्ञाद्य
प्राणातिपातकारीत्यत्रापि पूर्ववदेव कर्मबन्धविशेषो
दृष्टव्यः । (त. भा. सिद्ध. बु. ६-७) । ४. भवेन
प्रमादेन वा अज्ञात्वा हननादौ प्रवर्तनमज्ञातमिति
भण्यते । (त. बु. सूत. ६-६) ।

१ भव या प्रमाद से जो बिना जाने प्रवृत्ति हो जाती
है उसे अज्ञातभाव कहते हैं ।

अज्ञान—१. ज्ञानावरणकर्मण उदयात् पदार्थानव-
बोधो भवति तदज्ञानमौदयिकम् । (स. सि. २-६) ।

२. अज्ञानं विविधं मत्प्रज्ञानं भुताज्ञानं विभक्तं
चेति ॥६॥ × × × ज्ञानाज्ञानविभागस्तु मिथ्यात्व-
कर्मोदयानुदयापेक्षः । (त. भा. २, ५, ६); ज्ञानावरणो-
दयावज्ञानम् ॥४॥ अस्वभावस्यात्मनः तदावरण-
कर्मोदये सति नावबोधो भवति तदज्ञानमौदयि-
कम्, धनसमुहस्वगतिदिनकरतेजोऽनभिष्वस्तित्वत् ।
(त. भा. २, ६, ५) । ३. यथायथमप्रतिभासितार्थ-
प्रत्ययानुविद्धावयगोऽज्ञानम् । (अब. पु. १, पृ. ३६४) ।

४. ज्ञानमेव मिथ्यादर्शनसहचरितमज्ञानम्, कुत्सित-
त्वात् कार्याकरणादधीलवदनुव्रदा । (त. भा.
सिद्ध. बु. २-५); अज्ञानग्रहणान्द्रादिपंचकमासि-
प्तम्, यतो ज्ञान-दर्शनावरण-दर्शनमोहनीयादज्ञानं
भवति । × × × अज्ञानमेकमेवं ज्ञान-दर्शनावरण-
सर्वथातिदर्शनमोहोदयादज्ञानमनवबोधस्वभावमेक-
पम् । (त. भा. सिद्ध. बु. २-६) । ५. किमज्ञानम् ?

मोह-अम-संदेहलक्षणम् । इष्टोप. टी. २३) ।

२ मिथ्यात्व के उदय के साथ विद्यमान ज्ञान को
भी अज्ञान कहा जाता है जो तीन प्रकारका है—
मत्प्रज्ञान, भुताज्ञान और विभंग । ज्ञानावरण कर्म
के उदय से वस्तु के स्वरूप का ज्ञान न होने को

भी अज्ञान कहते हैं ।

अज्ञानविध्यात्त्व—विचारिज्जमाणे जीवाजीवादि-
पयस्या ण संति पिच्चवाणिच्चवियपिण्हेहि, तदो सम्ब-
मण्णाणमेव, णाणं णत्थि ति अहिणिवेसो अण्णाण-
मिच्छत्तं । (धम्म. पु. ८, पृ. २०) ।

वस्तुस्वरूप का विचार करने पर जीवाजीवादि-
पदार्थ न नित्य सिद्ध होते हैं और न अनित्य ही
सिद्ध होते हैं; इसलिए सब अज्ञान ही है, ऐसे
अभिनिवेश का नाम अज्ञान विध्यात्त्व है ।

अज्ञानपरीषहजय—१. अज्ञोऽयं न वेत्ति पशुसम
इत्येवमाद्यक्षेपवचनं सहमानस्य परमदुश्चरनपो-
ऽनुष्ठायिनो नित्यमप्रमत्तचेतसो मेऽद्यापि ज्ञानातिशयो-
नोत्पद्यते इति अनभिसंदधतोऽज्ञानपरीषहजयोऽव-
गन्तव्यः । (सं. सि. ६-६) । २. अज्ञानावमान-
ज्ञानाभिलाषसहस्रज्ञानपरीषहजयः ॥२७॥ अज्ञोऽयं
न किंचिदपि वेत्ति पशुसम इत्येवमाद्यक्षेपवचनं
सहमानस्याध्ययनार्थग्रहण-पराभिम्बादिष्वसक्तबुद्धे-
श्चिरप्रव्रजितस्य विविधतपोविशेषमराकान्तभूतैः सक-
लसामर्थ्याप्रमत्तस्य विनिवृत्तानिष्टमनोवाक्कायचेष्ट-
स्याद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यते इत्यनभिसंदधतः
अज्ञानपरीषहजयोऽवगन्तव्यः । (सं. बा. ६, २, २७) ।

३. ज्ञानप्रतिपक्षेणाप्यज्ञानेनागमधूमयतया परीषहो
भवति, ज्ञानावरणक्षयोपशमोदयविजृम्भितमेतदिति
स्वकृतकर्मफलभोगादपैति तपोऽनुष्ठानेन वेत्येवमा-
लोचयतोऽज्ञानपरीषहजयो भवति । (सं. भा. हरि.
३ सिद्ध. बृ. ६-६) । ४. पूर्वोऽसिधन् येन किलाशु
तन्मे चिरं तपोऽभ्यस्तवतोऽपि बोधः । नाद्यापि
बोभोत्यपि तूच्यकेऽहं गौरित्यतोऽज्ञानरुजोऽपसर्पेत् ।
(अम. ब. ६-१०६) । ५. यो मुनिः सकल-
शास्त्रार्थसुवर्णपरीक्षाकषपट्टसंज्ञानाधिषणोऽपि मूर्खैर-
सहिष्णुनिर्वा मूर्खोऽयं बलीवर्द इत्याद्यवक्षेपवचनमा-
प्यमानोऽपि सहते, अद्युक्तदुष्टदुश्चरतपोविधानं च
विषत्ते, सदा अग्रमत्तचेताश्च सन् ब्रह्मचर्यवर्चसं नो-
पेक्षते स मुनिरज्ञानपरीषहजयं लभते । (सं. बृ. श्रुत.
६-६) ।

१ 'यह अज्ञ है, पशु है' इत्यादि तिरस्कारपूर्ण वचनों
को सहते और परम दुश्चर तपस्वरण करते हुए भी
बिशिष्ट ज्ञान के उत्पन्न न होने पर उसके लिए
संश्लेश नहीं करना, अज्ञानपरीषहजय है ।

अज्ञानिक—देशो ब्राह्मणिक । अज्ञानमेवामभ्युप-

गमोऽस्तीत्यज्ञानिकाः, अथवा अज्ञानेन चरन्ति
दीव्यन्ति वा अज्ञानिकाः, अज्ञानमेव पुरुषार्थसाधनम-
भ्युपयन्ति, न लघु तत्त्वतः कश्चित् सकलस्य वस्तुनो
वेदितास्तीति । (सं. भा. सिद्ध. बृ. ८-१) ।

जो अज्ञान को स्वीकार करते हैं, अथवा अज्ञान-
पूर्वक प्रवृत्ति करते हुए सर्वज्ञ के सम्भव न होने से
अज्ञान को ही पुरुषार्थ का साधक मानते हैं, वे अज्ञा-
निक कहे जाते हैं ।

अञ्जलिमुद्रा—उत्तानी किञ्चिदाकुञ्चितकरशाली
पाणी विधारयेदिति अञ्जलिमुद्रा । (निर्वाणक.
पृ. ३३) ।

हाथों को ऊँचा उठा कर और अंगुलियों को कुछ
संकुचित करके दोनों हाथों के बाँधने को अञ्जलि-
मुद्रा कहते हैं ।

अटट (अट्ट)—१. $\times \times \times$ तं पि गुणितव्यं ।
चउसीदीनक्वेहि अट्टं णामेण णिट्ठिं । (सि. प.
४-३००) । २. चोरासी अट्टगसहस्राहं से एगे
अट्टे । (अनुयो. सू. १३७) । ३. चतुरशीत्यट्टाङ्ग-
घतसहस्राण्येकमट्टम् । (उपोतिष्क. मलय. बृ.
२-६६) ।

१ चौरासी लाख अट्टांगों का एक अट्ट होता है ।

अट्टाङ्ग—१. तुडिदं चउरासीदिहवं अट्टगं होदि
 $\times \times \times$ । (सि. प. ४-३००) । २. चउरासीहं तुडिय-
सयसहस्राहं से एगे अट्टगे । (अनुयो. सू. १३७) ।
३. चतुरशीतिमहाभुटितघतसहस्राण्येकमट्टाङ्गम् ।
(उपोतिष्क. मलय. बृ. २-६६) ।

१ चौरासी भुटियों का एक अट्टाङ्ग होता है ।

अट्टालक—प्राकारस्योपरि भूत्याश्रयविशेषाः ।
(जीवाजी. मलय. बृ. ३, १, ११७) ; प्राकारस्यो-
पर्याश्रयविशेषः । (जीवाजी. मलय. बृ. ३, २, १४०) ।
प्राकार (कोट) के ऊपर नौकरों के रहने के लिए
जो स्थानविशेष बनाये जाते हैं उन्हें अट्टालक
कहते हैं ।

अरियमा—१. अणुतणुकरणं अग्निमा अणुछिहं पवि-
सिदूण तत्थेव । विकरदि लघाबारं णिएसमवि
चक्कवट्टिस्स ॥ (सि. प. ४-१०२६) । २. अणुसरीर-
विकरणमग्निमा । विसच्छिद्रमपि प्रविश्याऽऽसित्था
तत्र चक्कविपरिवारविभूतिं सृजेत् । (सं. बा. ३.
३६, पृ. २०२; बा. सा. पृ. ६७) । ३. तत्त्व महा-
परिमाणं सरीरं संकोडिय परमाणुपरमाणुसरीरेण

अवद्वानमणिमा नाम । (बब. पु. ६, पृ. ७५) ।

४. अणोः कायस्य करणं अणिमा । (प्रा. योगिन. टी. ६) । ५. अणुत्वमणुशरीरविकरणं येन विसच्छिद्रमपि प्रविशति, तत्र च चक्रवर्तिभोगानपि भुङ्क्ते । (योगसा. स्वो. बिब. १-८) । ६. अणु-शरीरता यथा विसच्छिद्रमपि प्रविशति, तत्र च चक्र-वर्तिभोगानपि भुङ्क्ते । (प्रब. सारी. बृ. गा. १६४५) । ७. सूक्ष्मशरीरविधानमणिमा । अथवा विसच्छिद्रेऽपि प्रविश्य चक्रवर्तिपरिवारविभूतिसर्जनमणिमा । (त. वृत्ति भूत. ३-३६) ।

२ अत्यन्त सूक्ष्म शरीररूप विक्रिया करने को अणिमा ऋद्धि कहते हैं । इस ऋद्धि का धारक साधु कमल-माल में प्रवेश करके उसके प्रभाव से वहाँ पर चक्रवर्ती के परिवार व विभूति की भी रचना कर सकता है । अणु—देखो परमाणु । १. प्रदेशमात्राविस्पर्शादि-पर्यायप्रसवसामर्थ्यनाण्यन्ते शब्दन्ते इत्यणवः । (स. सि. ५-२५) । २. प्रदेशमात्राविस्पर्शादिपर्यायप्र-सवसामर्थ्यनाण्यन्ते शब्दन्ते इत्यणवः ॥१॥ प्रदेशमात्र-भाविभिः स्पर्शादिभिः गुणैस्सततं परिणमन्ते इत्येवम् अण्यन्ते शब्दन्ते ये ते अणवः सौकम्यादारमादयः आत्ममध्याः आत्मान्तावच । (त. बा. ५, २५, १) । ३. × × × तत्राबद्धाः किलाणवः ॥ (योगसा. स्वो. बिब. १-१६, पृ. ११३) । ४. प्रदेशमात्रभा-विनां स्पर्शादिपर्यायाणां उत्पत्तिसामर्थ्येन परमाणवे अण्यन्ते साध्यन्ते कार्यसिद्धं विलोम सद्रूपतया प्रतिपद्यन्ते इत्यणवः । (त. वृत्ति भूत. ५-२५) । ५. प्रदेशमात्रभाविभिः स्पर्शादिभिर्गुणैः सततं परि-णमन्त इत्येवमण्यन्ते शब्दन्ते ये ते अणवः । (त. सुखबो. वृ. ५-२५) ।

१ जो प्रवेश मात्र में होनेवाली स्पर्शादि पर्यायों के उत्पन्न करने में समर्थ हैं, ऐसे उन आणमनिर्विष्ट पुद्गल के अविभागी अंशों को अणु कहा जाता है । अणुचटन—१. अणुचटन सगत्पायःपिण्डादिव्यो-घनादिभिरविहत्यमानेषु स्फुलिङ्गनिर्गमः । (स. सि. ५-२५; त. बा. ५, २५, १४; कार्तिके. वृ. २०६; त. सुखबो वृत्ति ५-२५) । २. अतितप्तलोहपिण्डादिवु द्धघणादिभिः कुटपमानेषु अग्निकणनिर्गमनं अणुचट-नमुच्यते । (त. वृ. भूत. ५-२५) ।

१ अग्नि से सतप्त लोहपिण्ड को घनों से पीटने पर जो स्फुलिंग निकलते हैं उन्हें अणुचटन कहते हैं ।

अणुच्छेद—परमाणुयुग्मादिव्यसंखाए अणोसि-द्वान् संखावगमो अणुच्छेदो नाम, अथवा योगसा-गासादीनं णिविभागच्छेदो अणुच्छेदो नाम । (बब. पु. १४, पृ. ४३६) ।

परमाणुगत एक आदि त्रय्यसंख्या के द्वारा अन्य त्रय्यों की संख्या के जानने को अणुच्छेद कहते हैं, अथवा पुद्गल व आकाश आदि के निविभाग छेद का नाम अणुच्छेद है ।

अणुतटिकाभेद—से कि तं अणुतडियामेदे ? जणं अगडाण वा तडागाण वा दहाण वा नदीण वा बावीण वा पुनसरणीण वा दीहियाण वा गुंजलियाण वा सराण वा सरसराण वा सरपंतियाण वा सरसरपंतियाण वा अणुतडियामेदे भवति, से तं अणुतडियामेदे । (प्रसाप. ११-१७०, पृ. २६६) ।

कृप, तडाग, हृद, नदी, बावड़ी, पुनसरणी, दीधिका, गुंजालिका (बक नदी), सर, सरःसर, सरः-पंक्ति और सरःसरःपंक्ति; इनका अणुतटिकाभेद (इक्षु-त्वक् के समान) होता है । यह शब्दत्रयों के पांच भेदों में चौथा है ।

अणुव्रत—१. प्राणातिपातवितपव्याहारस्तेयकाम-मूच्छैभ्यः । स्थूलेभ्यः पापेभ्यो ऋपरमणमणुव्रतं भवति । (रत्नक. ३-६) । २. पाणवध-मुसावादा-दत्तादान-परदारगमणेहि । अपरिमिदिविच्छादो वि अणुव्यवाहं विरमणां ॥ (अ. भा. २०८०) । ३. देशतो विरतिरणुव्रतम् । (स. सि. ७-२; त. भा. सि. वृ. ७, २) । ४. हिंसादेवंशतो विरतिरणुव्रतम् । (त. बा. ७, २, २) । ५. एभ्यो हिंसादिभ्य एकदेशविरतिरणु-व्रतम् । (त. भा. ७-२) । ६. अणुव्यवाहं धूलगपाणि-वहविरमणादीनि । (अ. प्र. १०६) । ७. अणूनि च तानि व्रतानि चाणुव्रतानि स्थूलप्राणातिपातादि-विनिवृत्तिरूपानि । (आ. प्र. टी. ६) । ८. देश-तो हिंसादिभ्यो विरतिरणुव्रतम् । (त. इलो. ७-२; त. वृ. भूत. ७-२) । ९. विरतिः स्थूलहिंसादि-दोषेभ्योऽणुव्रतं मतम् । (अ. पु. ३६-४) । १०. स्थूल-प्राणातिपातादिभ्यो विरतिरणुव्रतानि पञ्च । (अर्ध-बि. ३-१६) । ११. विरतिः स्थूलवशादेर्मनोवचोऽङ्ग-कृतकारितानुमतेः । क्वचिदपरेऽप्यननुमतेः पञ्चाहिंस-वाणुव्रतानि स्युः ॥ (सा. ब. ४-५) । १२. विरतिः स्थूलहिंसादेद्विविध-त्रिविधादिना । महिंसादीनि प्रकृता-णुव्रतानि अगदुजिनाः ॥ (योगसा. २-१७) । १३.

देवतो विरतिः पञ्चायुवतानि ॥ (चि. स. पु. क. १, १, १८८) । १४. अणूनि लघूनि वतानि अणु-वतानि ॥ (सूत्रक. वृ. २, ६, २) । १५. तत्र हिंसा-नृत्तस्तेषामाहङ्कृत्स्नपरिग्रहात् । देवतो विरतिः प्रोक्तं शुहस्यानामणुवतम् ॥ (पञ्चागम्यायी २-७२४; लाटीसं. ४-२४२) ।

१ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन स्थूल पापों के त्याग को अणुवत कहते हैं ।

अण्ड—१. यन्त्रस्त्वक्सदृशमुपासकठिन्यं शुक्र-शोणितपरिवरणं परिमण्डलं तदण्डम् । (स. सि. २, ३३) । २. शुक्र-शोणितपरिवरणमुपासकठिन्यं नख-त्वक्सदृशं परिमण्डलमण्डम् । (त. वा. २, ३३, २; त. ह्यो. २-३३) । ३. यत्कठिनं शुक्र-शोणितपरि-वरणं वर्तुलं तदण्डम् । (त. सुल्लोच. वृ. २-३३) । ४. यच्छुक्र-लोहितपरिवरणं परिमण्डलमुपासकठिन्यं नखच्छलीसदृशं नखत्वकासदृशं तदण्डमित्युच्यते । (त. वृ. भुत. २-३३) ।

१ गर्भशय्यगत शुक्र-शोणित का आवरण करने वाले नख की रचना के समान वर्तुलाकार कठिन द्रव्य को अण्ड कहते हैं ।

अण्डज—अण्डे जाता अण्डजाः । (स. सि. २-३३; त. वा. २, ३३, ३; त. ह्यो. २-३३) ।

अण्डे में उत्पन्न हुए प्राणी अण्डज कहे जाते हैं ।

अण्डर—जंबूदीप भरहो कोसल-सागंद-तण्डराहं वा । लंघंडरभावासा पुनर्विसरीराणि दिदृता ॥ (भो. जी. १६४) ।

जिस प्रकार जंबूदीप के भीतर भरतलोत्रादि हैं उसी प्रकार स्कंधों के भीतर अण्डर आदि निगोव जीवों के उत्पत्तिस्थानविशेष हैं ।

अण्डायिक—[अण्डे कर्मवशादुत्पत्त्यर्थमाय भागमनं अण्डायः, अण्डायो विद्यते येषां ते] अण्डायिकाः संप-शुक्रकोशिकाः आह्वय्यादयः । (त. वृ. भुत. २-१४) । उत्पत्ति के लिए जिन प्राणियों का भागमन कर्मवश अण्डे में होता है, ऐसे सर्पादि प्राणी अण्डायिक कहे जाते हैं ।

अतद्गुण (वस्तु)—न विद्यन्ते शब्दप्रवृत्तिनिमित्तास्ते जगत्प्रसिद्धा जाति-गुणक्रिया-द्रव्यलक्षणा गुणा विशेषणानि यस्मिन् वस्तुनि तद्वस्तु अतद्गुणम् । (त. वृ. भुत. १-५) ।

जिस वस्तु में शब्दप्रवृत्ति के निमित्तभूत लोक-ल. ४

प्रसिद्ध जाति, गुण, क्रिया व द्रव्य स्वकथं गुण-विशेष-वचन—वहीं रहते वह अतद्गुण कही जाती है ।

अतद्भाव—१. सहस्रं सत्त्वं गुणो सत्त्वेव पञ्चधो ति विस्वारो । जो सत्त्व तत्स भभावो सो तदभावो अतद्भावो ॥ (अब. सा. २-१५) । २. एकस्मिन् द्रव्ये यद् द्रव्यं गुणो न तद् भवति, यो गुणः स द्रव्यं न भव-तीत्येवं यद् द्रव्यस्य गुणरूपेण, गुणस्य वा द्रव्यरूपेण, तेनाभवनं सोऽतद्भावः । (अब. अणु. वृ. २-१६) । द्रव्य, गुण और पर्याय जो सत् हैं; इनके सत्त्व का विस्तार द्रव्यादि रूप से तीन प्रकार होता है । द्रव्य में गुण-रूपता और गुण में जो द्रव्यरूपता का भभाव है, इसका नाम अतद्भाव है ।

अतिक्रम—१. परिमितस्य दिग्बन्धेः अतिलङ्घन-मतिक्रमः । (स. सि. ७-३०; त. वा. ७-३०) । २. आहाकम्मणिमंतण पडिमुणमाणे अद्वकमो होइ । (चि. नि. १८२; व्यच. सू. भा. गा. १-४६) । ३. यथा कश्चिज्जग्जग्जवः महासस्यसमृद्धिसम्पन्नं क्षीरं समव-लोचय तत्क्षीमसमीपप्रवेशे समवस्थितस्तत्प्रति स्पृहां संविषते सोऽतिक्रमः । (आय. वृ. वृ. १५६) । ४. अति मनःशुद्धिविधेरतिक्रमम् × × × । (आचि. ६) । ५. अतिक्रमणं संयतस्य संयतसमूहमध्यस्थस्य विषयाभिकाङ्क्षा । (मूला. वृ. ११-११) । ६. अति-क्रमणं प्रतिश्रवणतो ययादाया उत्सङ्कनमतिक्रमः । (व्यच. सू. भा. मलय. वृ. २५१) । ७. कोऽपि आदो नासप्रतिबद्धो जातिप्रतिबद्धो गुणानुरक्तो वा आधा-कर्म निष्पाद्य निर्वचयति—यथा भगवन् युष्मन्नि-मित्तं अस्मदृष्टे सिद्धमन्मास्ते इति समागत्य प्रतिगृह्यतां इत्यादि तत्प्रतिश्रुज्वति अन्धुपगच्छति अतिक्रमो नाम दोषो भवति । स च तावद् यावद् उपयोगपरिसमाप्तिः । किमुक्तं भवति ?—यत्प्रति-श्रुणोति प्रतिश्रवणानन्तरं चोत्तिष्ठति पात्राभ्युदु-ह्वाति उद्गृह्य च गुरोः समीपमागत्योपयोगं करोति, एष समस्तोऽपि व्यापारोऽतिक्रमः । (व्यच. सू. भा. मलय. वृ. १-४३, पृ. १७) ।

१ विषय में जो दिशाओं का प्रभाव स्वीकार किया गया है उसका उत्संजन करना, यह एक विषय का अतिक्रम नामका अतिचार है । ४ मानसिक शुद्धि के अभाव को अतिक्रम कहते हैं । ७ आधाकर्म करके—साधु के निमित्त भोजन बनाकर—निर्भक्षण देने पर यदि साधु उक्त निर्भक्षणवचन को सुनता है व

उत्कर यात्र आदि को ग्रहण करता हुआ गुरुके समीप धाकर उपयोग करता है तो उसकी इस प्रकार की प्रवृत्ति अतिक्रम दोष से इषित होने वाली है।

अतिक्रान्त प्रत्याख्यान—१. पञ्जोसवणाए तव जो खलु न करेइ कारणज्जाए। गुरुवेद्यावच्चेणं तवस्सि-
पेसन्नयाए व ॥ सो दाइ तवोक्कम्मं पडिबज्जइ तं
अइच्छिए काले। एवं पच्चक्खाणं अइक्कतं होइ नाय-
व्वं ॥ (स्थानांग अग्रय. वृ. १०-७४८, पृ. ४७२)।
२. अइक्कत गाम पञ्जोसवणाए तवं तेहि कारणेहि
ण कीरति गुरु-तवस्सि-गिलाणकारणेहि सो अइक्कतं
करेति तद्देव विभासा। (भा. बू. धाव. को. २)।
१ पर्युषण के समय गुरु, तपस्वी और ग्लान (रोगी)
साधु की संयाधृत्य आदि करने के कारण जिस
स्वीकृत तपस्वरण को नहीं कर सके व पीछे यथे-
च्छित समय में उसे करे, इसे अतिक्रान्त प्रत्याख्यान
कहते हैं।

अतिचार (अविचार)—१. आहाकम्म निमंतण
× × गहिए तइयो। (पिंडनि. गा. १=२; अग्रय.
सू. भा. १-४३)। २. अतिचारो व्यतिक्रम. स्ख-
लिं इत्यनर्थास्तरम्। (त. भा. ७-१८)। ३. मुरा-
वाण-मांसमवलण-कोह-भाण-माया - लोह-ट्टस्स रइ-
[अरइ-] सोम-भय-दुग्गुच्छिण-पुरिस-णवंसयवेयाअ-
रिज्जागो अदिचारो। (अव. पु. ८, पृ. ८२)।
४. अतिचाराः असदनुष्ठानविशेषाः। (आ प्र. टी.
८६)। ५. अनिचरणाग्यतिचारः चारित्रस्खलन-
विशेषाः, संज्वलनानामेवोदयतो भवन्ति। (आव.
हरि. वृ. नि. गा. ११२)। ६. × × अतिचारो-
विषयेषु वर्तनम्। (आत्रि. ६)। ७. अतिचारो विरा-
चना देशभङ्ग इत्येकोऽर्थः। (धर्मविन्दु वृ. १५३)।
८. अतिचारः अतर्पित्यल्पम् ईपदसंयमसेवनं च।
(मूला. वृ. ११-११)। ९. (पुनविरोदराज्तरास्यं
सप्रवेद्य दासमेकं समाददामीत्यभिलाषकालुष्यमस्य
व्यतिक्रमः।) पुनरपि तद्वृत्तिसमुल्लंघनमस्याति-
चारः। (प्राय. वृ. वृ. १४६)। १०. गृहीते त्वा-
धाकर्मणि तृतीयोऽतीचारलक्षणो दोषः। स च ताव-
द्यावद् वसतावागत्य गुरुसमक्षमालोच्य स्वाध्याय
कृत्वा गते तदाधाकर्मं नाद्यापि प्रक्षिपति। (पिण्ड-
नि. मलय. वृ. १८२)। ११. अतिचरणं ग्रहणतो
अतस्यातिक्रमणं अतीचारः। (अग्रय. सू. भा. मलय.
वृ. १-२५१); आधाकर्मणि गृहीते उपलक्षणमेतत्।

यावद् वसतो समानीते गुरुसमक्षमालोचिते भोज-
नार्थमुपस्थापिते भुक्ते प्रक्षिप्यमाणेऽपि यावन्नाद्यापि
गिलति तावत् तृतीयोऽतीचारलक्षणो दोषः। (अग्रय.
सू. भा. मलय. वृ. १-४३)। १२. अतिचारो
यातिन्यम्। (योगशा. स्तो. विष. ३-८८)।
१३. अतीत्य चरणं ह्यतिचारो माहात्म्यापकषोऽशतो
विनाशो वा। (भ. भा. मूला. १४४; तपस्यनशनादी
सापेक्षस्य तदवर्धमजनमतिचारः। (भ. भा. मूला.
४८७)। १४. सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोऽश-
भजनम्। (सा. व. ४-१७; धर्मसं. भा. ६-११)।
१५. अतिचरणमतिचारो भूलोत्तरगुणमर्यादातिक्रमः।
(धर्मरत्नप्र. स्तो. वृ. १०४)।

१ आधाकर्म करके बिये गये निमंत्रण की स्वीकार
करना अतिचार है। ३ मद्यपान, मांसभक्षण एवं
क्रोध आदि का परित्याग नहीं करना अतिचार है।
४ असत् अनुष्ठानविशेष का नाम अतिचार है।
५ चारित्र सम्बन्धी स्खलनों (विराचना) का नाम
अतिचार है। ६ विषयों में प्रवर्तना अतिचार है।
७ व्रत के वैशतः भंग होने का नाम अतिचार है।
८ व्रत में शिथिलता अथवा कुछ असंयम सेवन का
नाम अतिचार है। इत्यादि।

अतिथि—१. संयमविनाशयन्ततीत्यतिथिः।
अथवा नास्य तिथिरस्तीत्यतिथिः अनियतकालगमन
इत्यर्थः। (स. सि. ७-२१; आ. सा. पृ. १३;
त. सुखबोध वृ. ७-२१)। २. संयमविनाशयन्त-
तीत्यतिथिः॥११॥ चारित्रलाभबलोपेतत्वात् संयम-
विनाशयन् अततीत्यतिथिः। अथवा नास्य तिथि-
रस्ति इत्यतिथिः। (त. भा. ७-२१)। ३. भोज-
नार्थं भोजनकालोपस्थाप्य प्रतिभिरुच्यते, आत्मार्य-
निष्पादितोऽहारस्य गृहिणो वती साधुरेवातिथिः।
(आ. प्र. टी. भा. ३२६; त. भा. हरि. ५; ७-१६)।
४. स संयमस्य वृद्धयर्थमततीत्यतिथिः स्मृतः। (ह.
पु. ५६-१५८)। ५. पंचेन्द्रियप्रवृत्त्याख्यास्तिथयः
पञ्च कीर्तिताः। संसाराश्रयहेतुत्वात्ताभिर्मृतोऽति-
थिर्भवेत् ॥ (उपासका. ८७८)। ६. स्वयमेव गृहं
साधुर्योऽज्ञातति संयतः। अन्वर्थवेदिमि प्रोक्तः
सोऽतिथिर्मुनिपुङ्गवः॥ (सुभा. र. सं. ८१७;
अमि. भा. ६-६५)। ७. तथा न विद्यते सतत-
प्रवृत्तातिविशदकाकारानुष्ठानतया तिथ्यादि-दिन-
विभागो यस्य सोऽतिथिः। (योगशा. स्तो. विष.

१-५३, पु. १५६; धर्मवि. बु. ३६; आह्वयुषवि. १६, पु. ४५) । ८. ज्ञानादिसिद्धयर्थतनुस्वित्पथि-
न्यायः स्वयम् । यत्नेनातति गेहं वा न तिथिर्यस्य
सोऽतिथिः । (सा. घ. ५-४२) । ९. तिथि-पर्वोत्स-
वाः सर्वे त्यक्ता येन महात्मना । अतिथिं तं विजा-
नीयात् ॥ (सा. घ. टीका ५-४२ व योगशा.
स्वो. विव. पु. १५६ में उद्धृत; धर्मसं. स्वो. बु. १,
१४, ६) । १०. विद्यते तिथिर्यस्य सोऽतिथिः पात्रतां
यतः । (भाषसं. बाय. ५०८) । ११. न विद्यते
तिथिः प्रतिपदादिका यस्य सोऽतिथिः । अथवा
संयमसामर्थ्यमति गच्छत्युद्गच्छयौ करोतीत्यतिथि-
र्यतिः । (आ. प्रा. टी. २५) । १२. संयमविराच-
यन् अतति भोजनाय गच्छति यः सोऽतिथिः । अथवा
न विद्यते तिथिः प्रतिपद्-द्वितीया-तृतीयादिका यस्य
सोऽतिथिः, अनियतकालभिक्षागमनः । (त. बु. भुत.
७-२१) ।

१ संयम की विराचना न करते हुए भिक्षा के लिए
घर घर घूमने वाले साधु को अतिथि कहते हैं ।
अथवा जिसके तिथि-पर्व आदि का विचार न हो
उसे भी अतिथि कहते हैं ।

अतिथिपूजन—चतुर्विधो बराहारः संयतेभ्यः प्रदी-
यते । श्रद्धादिगुणसम्पत्त्या तत् स्यादतिथिपूजनम् ॥
(बराह. १५-१२४) ।

श्रद्धा आदि गुणों से युक्त आशक्तों को संयत (साधु)
जनों को चार प्रकारका उत्तम आहार देता है,
उसका नाम अतिथिपूजन (अतिथिसंविभाग) है ।

अतिथिसंविभाग—१. अतिथये (देखो 'अतिथि')
संविभागोऽतिथिसंविभागः । (त. सि. ७-२१; त.
आ. ७, २१, १२; आ. सा. पु. १४) । २. अतिथि-
संविभागो नाम न्यायागतानां कल्पनीयानामन्न-पाना-
दीनां द्रव्याणां देश-काल-श्रद्धा-सत्काररूपोपेतं परया-
ऽऽप्तमानुहबुद्धया संयतेभ्यो दानमिति । (त. आ.
७-१६) । ३. नायागयाण अन्नाद्याण तह चैव
कप्पणिज्जाणं । देसद्व-सद्व-सककारकमजुयं परम-
भत्तीए ॥ आयागुमाहबुद्धीइ संजयाणं जमित्थ दाणं
तु । एयं जिणेहि भणियं गिहीण सिक्खावयं चरियं ।
(आ. प्र. ३२५-२६) । ४. स संयमस्य बुद्धधर्ममत-
तीत्यतिथिः स्मृतः । प्रदानं संविभागोऽस्मै (अतिथये)
यथाकृद्दियं योदितम् ॥ (ह. पु. ५८-१५८) ।
५. संयमविराचयन्ततीत्यतिथिः, न विद्यतेऽस्य

तिथिरिति वा, तस्मै संविभागः प्रतिश्रयादीनां यथा-
योग्यमतिथिसंविभागः । (त. इलो. ७-२१) ।
६. तिथिहे पत्तम्ह सया सद्धादगुणेहि संजुदो पाणी ।
दाणं जो देवि सयं णवदाणविहीहिं सजुतो ॥
सिक्खावयं च तदियं तस्स हवे सम्बसिद्धि-सोक्खयरं ।
दाणं चउब्बिहं पि य सव्वे दाणाणं सारयरं ॥
(कातिके. ३६०-६१) । ७. अतिथिभोजनार्थं
भोजनकालोपस्थायी स्वार्थं निर्वर्तिताहारस्य गृहि-
व्रतिनः साधुरेवातिथिः । तस्य संविभागोऽतिथिसंवि-
भागः । (त. आ. सिद्ध. बु. ७-१६) । ८. विधिना
दातुगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय । स्वपरानु-
ग्रहेतोः क्रतोऽप्येवमतिथये भागः ॥ (पु. सि.
१६७) । ९. असणाद्ब्रजवियप्पो आहारो संजयाण
दादम्बो । परमाए भत्तीए तिथिया सा बुच्चए
सिक्खा ॥ (धर्मसं. १५५) । १०. आहार-पानोषधि-
संविभागं गृहागतानां विधिना करोतु । भक्त्याऽति-
थीनां विजितेन्द्रियाणां व्रतं दधानोऽतिथिसंविभा-
गम् ॥ (धर्मप. १६-६१) । ११. चतुर्विधो बराहारो
दीयते संयतात्मनाम् । शिखाव्रतं तदाख्यातं चतुर्षु
गृहमेधिनाम् ॥ (सुभाषित. ८१६) । १२. अन्नं येन
स्वाद्यं लाघमिति निगद्यते चतुर्भेदम् । अन्नमतिथे-
विधेयो निजशक्त्या संविभागोऽस्य ॥ (अभित. आ.
६-६६) । १३. दानं चतुर्विधाहारप्राप्ताच्छादन-
सधनाम् । अतिथिम्योऽतिथिसंविभागव्रतमुदीरितम् ॥
(योगशा. ३-८७) । १४. अतिथेः सङ्गतो निर्दोषो
विभागः पश्चात्कृतादिदोषपरिहारायांशदानरूपोऽति-
थिसंविभागस्तद्वत् व्रतमतिथिसंविभागव्रतम् । आहा-
रादीनां च न्यायाजितानां प्रासुक्येणोयानां कल्पनी-
यानां देश-काल-श्रद्धा-सत्कारपूर्वकमात्मानुग्रहबुद्धया
यतिभ्यो दानमतिथिसंविभागः । (योगशा. स्वो. विव.
३-८७) । १५. अतिथयो वीतरायममंस्थाः साधवः
साध्यः श्रावकाः श्राविकाश्च, तेषां न्यायागत-
कल्पनीयादिविशेषणानामन्न-पानादीनां संगतवृत्त्या
विभजनं वितरणं अतिथिसंविभागः । (धर्मवि. मुनि.
वृत्ति १५१) । १६. व्रतमतिथिसंविभागः पात्रवि-
शेषाय विधिविशेषेण । द्रव्यविशेषवितरणं दातुविशे-
षस्य फलविशेषाय ॥ (सा. घ. ५-४१) । १७.
आहारबाह्यप्राज्ञादेः प्रधानमतिथेर्युक्ता । उदीरितं
तदतिथिसंविभागव्रतं जितैः ॥ (धर्मसं. स्वो. २, ४०,
६४) । १८. साहूणं बुद्धदाणं भत्तीए संविभागवयं ।

(सू. सु. च. भा. ७) । १९. संविभागोऽतिपीनां हि कर्तव्यो निजसक्तिः । स्वेनोपाजितवित्तस्य तच्छि-
क्षान्नतमन्यजम् ॥ (पुण्य. उ. ३४) । २०. संविभा-
गोऽतिपीनां यः कश्चिद्विशिष्यते हि सः । न विचिन्ते-
ऽतिथिर्वैतस्य सोऽतिथिः पानतां गतः ॥ (भाषसं-
भा. ५०६) । २१. अततीत्यतिविज्ञेयः संयमं त्ववि-
राधयन् । तस्य यत्संविभजनं सोऽतिथिसंविभा-
गकः ॥ अथवा न विचिन्ते यस्य तिथिः सोऽतिथिः
कथ्यते । तस्मै दानं व्रतं तत्स्यदतिथेः सविभाग-
कम् ॥ (धर्मसं. भा. ७, ८०-८१) । २२. अतिथये
समीचीनो विभागः निजभोजनाद् विसिष्टभोजन-
प्रदानमतिथिसंविभागः । (त. बृ. श्रुत. ७-२१) ।
२३. अतिहिसंविभागो नाम नायागयाणं कप्यणि-
ज्जाण अन्न-यागाईण दब्बाणं देस-काल-सङ्गा-
सवकारकमुत्तं पराए भत्तीए आयाणुगहबुद्धीए
सजयाणं दाण । (अभि. रा. १, पृ. ३३) ।

अतिथि (संयत) के लिए नबचा अतिपूर्वक
आहार व अतिथि आदि बार प्रकारका दान करने
को अतिथिसंविभाग कहते हैं ।

अतिपरिणामक (अइपरिणामय) — जो दब्ब-खे-
लकयकाल-भाषभो ज जहि जया काले । तल्लेसु-
स्सुतमई अइपरिणामं वियाणाहि ॥ (बृहत्क.
१-७६५) ।

जिन देव ने इष्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा
जब जिस वस्तु को घाटा-अपाटा कहा है, उसकी
अपेक्षा न करके उत्सर्ग मार्ग की अपेक्षा करते हुए
अपवादमार्ग को ही मुख्य मान कर उससे अधिक
करने वाले साधु को अतिपरिणामक कहते हैं ।

अतिप्रसाधन — यात्रताऽर्थेनोपरिभोग-परिभोगो भव-
तस्ततोऽधिकतय करणमतिप्रसाधनम् । (रत्नक.
टीका ३-३५) ।

अपनी आवश्यकता से अधिक उपभोग-परिभोग की
सामग्री के संग्रह करने को अतिप्रसाधन कहते हैं ।

अतिभार — भरण भारः, अतिभरणम् अतिभारः,
प्रभूतस्य पूगफलादेः स्कन्धपृष्ठादोपणमित्यर्थः ।

× × × तदर्थं पूर्वाचार्योक्तविधिः — × × ×
अइभारो ण भारोवेयल्लो, पुंवि वेव वा वाहणाए
जीविया सा मुत्तव्वा । न होज्ज अन्ना जीविया,
ताहे दुपदो जं सर्वं वेव उक्खिणइ उत्तारेइ वा भारं
एवं बहाविजइइ, बइत्ताणं जहा सामावियाभो

वि भाराभो ऊणभो कीरइ, हल-सगहेसु वि वेलाए
वेव मुंचइ । आस-हत्थीसु वि एस वेव विही ।
(भा. प्र. टीका २५८) ।

डिपब (मनुष्य) और बहुपद (बैल आदि) जितने
बोझ को कन्धे अथवा पीठ आदि पर स्वभाविक
रूप में ले जा सकें, उससे अधिक बोझ का नाम
अतिभार है । इससे सम्भव में पुरातन आचार्यों
का विधान तो यह है कि प्रथम तो बूतरों पर बोझ
लादने आदि से सम्बद्ध आजीविका को ही छोड़ना
चाहिये, पर यदि ऐसा सम्भव न हो तो उनके ऊपर
उतना ही बोझ रखना चाहिये, जिसे वे स्वभावतः
ढो सकते हों ।

अतिभारवहन — देखो अतिभारारोपण । लोभावे-
शादधिकभारारोपणमतिभारवहनम् । (रत्नक.
टीका ३-१६) ।

लोभ के बल छोड़ा, बैल या हासी-वात आदि पर
उनकी सामर्थ्य से बाहिर अधिक भार को लाद कर
एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने को अति-
भारवहन कहते हैं ।

अतिभारारोपण — देखो अतिभार । १ न्याय्यभा-
रादतिरिक्तभारवाहनमतिभारारोपणम् । (स. सि.
७-२५; त. इलो. भा. ७, २५) । २ न्याय्य-
भारादतिरिक्तभारवाहनमतिभारारोपणम् ॥४॥

न्यायादनपेताद् भारादतिरिक्तस्य वाहनम्, अति-
लोभाद् गवादीनामतिभारारोपणमिति गण्यते ।

(त. भा. ७, २५, ४) । ३. भरणं भारः पूरणम्,
अतोऽव बाढम्, सुष्ठु भारोऽतिभारस्तस्यारोपण स्कन्ध-

पृष्ठादिस्थापनमतिभारारोपणम् । (स. भा. हरि. व
सिद्ध. बृ. ७-२०) । ४. अतिभारारोपणं न्याय्य-
भारादधिकभारारोपणम् । (रत्नक. टीका २-८) ।

५. अतिभारारोपणं न्याय्यभारादतिरिक्तस्य बोहुम-
शक्त्यस्य भारस्यारोपणं वृषभादीना पृष्ठ-स्कन्धादौ

वाहनोपाधिरुपणम् । तदपि दुर्भावात्कोबाल्लोभादा
क्रियमाणमतिचारः । (सा. व. स्तो. टी. ४-१५) ।

६. न्यायाद् भारादधिकभारवाहनं राजदानादितो-
मादतिभारारोपणम् । (त. बृ. श्रुत. ७-२५; कर्त्तिके.
टी. ३३२) । ७. अतीवभारोऽतिभारः, प्रभूतस्य पूग-

फलादेर्गवादिपृष्ठादावारोपणम् । (धर्मवि. सु. बृ.
१५६) ।

१ मनुष्य व पशु आदि के ऊपर लोभ आदि के बल

न्याय्य भार से—जिसे वे स्वाभाविक रूप से हो सकें—अधिक लादने को प्रतिभारारोपण कहते हैं।
प्रतिमात्र-आहारदोष—१. प्रतिमात्र आहारः—अथानस्य सव्यजनस्य [ह्रीं] तृतीयभागमुखकस्योदरस्य यः पूरयति, चतुर्धभागं चावशेषयति वस्तस्य प्रमाणभूत आहारो भवति। अस्मादन्यथा यः कुर्यात्स्वातिमात्रो नामाहारदोषो भवति। (भूला. बृ. ६-५७)।
 २. सव्यजननाकनेन ह्रीं पानेनैकमंशमुदरस्य। भुत्वाऽभूतस्तृतीयो मात्रा तदतिक्रमः प्रम. नमलः ॥ (अन. व. ५-३८)।

१ साधु अपने उदर के दो भागों को व्यंजन (वाल आदि) सहित अन्न से और एक भाग को पानी से भरे तथा चौथे भाग को खाली रखे। इससे अधिक भोजन-पान करने पर प्रतिमात्र आहार नामका दोष होता है।

प्रतिलोभ—विशिष्टेऽर्थे लब्धेऽप्यधिकलाभाकाङ्क्षाऽतिलोभः। (रत्नक. टी. ३-१६)।

विशेष अर्थ का लाभ होने पर भी और अधिक लाभ की आकांक्षा करना, यह परिग्रहपरिमाण अनुकूल का प्रतिलोभ नामका प्रतिचार है।

प्रतिवाहन—लोभातिगृह्णितिवृत्त्यर्थं परिग्रहपरिमाणे कृते पुनर्लोभावेशवशादतिवाहनं करोति, यावन्त हि मार्गं बलीवर्दादयः सुखेन गच्छन्ति ततोऽतिरेकेण वाहनमतिवाहनम्। (रत्नक. टी. ३-१६)।
 लोभ व प्रतिशय मुक्ति के हटाने के लिये परिग्रह का परिमाण कर लेने पर भी पुनः लोभ के बल से बल व छोड़े आदि को उनकी शक्ति से अधिक दूर तक ले जाना, यह प्रतिवाहन नामका प्रतिचार है।

प्रतिविस्मय—तत्-(संग्रह) प्रतिपन्नलामेन विक्रीते तस्मिन् भूलतोऽप्यसंगृहीते वाऽधिकेऽर्थे तत्क्याणकेन लब्धे लोभावेशादतिविस्मयं विषाद करोति। (रत्नक. टी. ३-१६)।

किन्ती संगृहीत वस्तु को एक नियत लाभ लेकर बेच देने के पश्चात् उसका लाभ बहुत जाने पर अधिक लाभ से बंचित रहने का विषाद करना, यह प्रतिविस्मय नामका परिग्रहपरिमाणानुकूल का प्रतिचार है।

प्रतिव्याप्ति दोष—१. अलक्ष्ये वर्तमानं प्रादुरतिव्याप्तिं कुचाः यथा। शुण आत्मन्यरूपित्वमाकाशादिव्यप्यते ॥ (नोकार्प. १५)। २. लक्ष्यालक्ष्यवर्त्येति-

व्याप्तम्, यथा तस्यैव (गोरेव) पशुत्वम्। (न्याय-टीपिका पृ. ७)।

२ लक्ष्य और अलक्ष्य में लक्षण के रहने को प्रतिव्याप्ति दोष कहते हैं।

प्रतिशायिनीत्व—अनातिशायनीत्वमाश्रयभेदव्यापारप्रयुक्तात्प्राप्ततर-बहु - बहुतरप्रतियोगिकत्वम्। (अष्टस. बहो. बृ. १-४, पृ. ६२)।

प्राप्त्य के भेद से होने वाले व्यापारविशेष की अल्प से अल्पतर वा बहु से बहुतर प्रतियोगिकता को प्रतिशायिनीत्व कहते हैं।

प्रतिसंग्रह—इदं धान्यादिकमग्रे विशिष्टं लाभं दास्यतीति लोभावेशादतिशयेन तत्संग्रहं करोति। (रत्नक. टी. ३-१६)।

यह धान्यादिक आगे विशिष्ट लाभ देगा, इस प्रकार लोभ के आशेष से उनका प्रतिशय संग्रह करना; यह प्रतिसंग्रह नामका प्रतिचार है।

प्रतिस्थापना (अदृच्छावणा, अदृष्टावणा, अदित्थवणा)।—१. तनोक्ताङ्गिय उदयादि जाव प्रावलिपयति भागो ताव णिक्खिबदि। प्रावलिप-वे-तिभागमेत्त-भुवरिमभागे अदृच्छावद्। तदो प्रावलिपयतिभागो णिक्खेवविषमो, प्रावलिप-वे-तिभागा व अदृच्छा- (त्वा) वणा ति भण्णः। (अवयवत्ता) २. अपकृष्ट-द्रव्यस्य निक्षेपस्थानं निक्षेपः, × × × तेनातिक्रम्य-माणं स्थानं प्रतिस्थापनम् × × × (न. सा. टी. ५६)।

जिन निषेधों में अपकर्षण या उत्कर्षण किये गये द्रव्य का निक्षेप नहीं किया जाता है उनका नाम प्रतिस्थापना है। ऐसे निषेध उदयावलि के दो विभाग मात्र होते हैं।

प्रतिस्निग्धमधुरत्व—१. प्रतिस्निग्धमधुरत्वं अमृत-गुडादिवत् सुखकारित्वम्। (समवा. अमय. बृ. ३५, पृ. ६३)। २. प्रतिस्निग्ध-मधुरत्वं कुमुदितस्य वृत्-गुडादिवत् परमसुखकारिता ॥ (रायप. टी. पृ. १६)।
 २ मूले व्यपित को मी-गुड़ आदि के समान प्रतिशय सुखकारी बचनादि की प्रवृत्ति का नाम प्रतिस्निग्ध-मधुरत्व है।

प्रतीत काल—१. निष्कण्णो ववहारजोग्गो अवीदो नाम। (बच. पु. ३, पृ. २६)। २. यस्तु तमेव विवक्षितं वर्तमानं समयमवधीकृत्य भूतवान् समय-राशिः शोऽतीतः। (व्योतिष्क. अलय. पृ. १-७)।

३. अवधीकृत्य समयं वर्तमानं विवक्षितम् । भूतः समयराशिः कालोज्जीवः स उच्यते ॥ (लोकप्र. २६-२६६) ।

२ वर्तमान समय को अवधि करके जो समयराशि बीत चुकी है उस सब समयराशि का नाम अतीत काल है ।

अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष—अतीन्द्रियप्रत्यक्षं व्यवसायात्मकं स्फुटमवितयतीन्द्रियमव्यवधानं लोकोत्तरमात्मार्थ-विषयम् । (लघी. स्वो. वृ. ६१) ।

जो निश्चय स्वरूप ज्ञान प्रतिशय निर्मल, यथार्थ—आन्ति से रहित, इन्द्रियव्यापार से निरपेक्ष, देशविषयबन्धन से रहित, समस्त लोक में उत्कृष्ट तथा निज को बड़ाई अर्थ दोनों को ही विषय करने वाला है वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा जाता है ।

अतीन्द्रिय सुख—यत्पुनः पञ्चेन्द्रियविषयव्यापार-रहितानां निर्व्याकुलचित्तानां पुरुषाणां सुखं तदतीन्द्रियसुखम् । पञ्चेन्द्रिय-मनोजनितविकल्पजाल-रहितानां निर्विकल्पसमाधिस्थानां परमयोगिना रागादिरहितत्वेन स्वसवेष्टमात्मसुखं तद्विशेषणातीन्द्रियम् । यच्च भावकर्म-द्रव्यकर्मरहितानां सर्व-प्रदेशाङ्गादेकात्म्याधिकपरमानन्दपरिणतानां मुक्तात्मनामतीन्द्रियसुखं तदत्यन्तविशेषेण नेतव्यम् । बृहद्ब्रह्मसं. ३७) ।

इन्द्रिय व मन की अपेक्षा न रख कर आत्म मात्र की अपेक्षा से जो निराकुल—निर्बाध—सुख प्राप्त होता है वह अतीन्द्रिय सुख है ।

अतीर्थकरसिद्ध—१. अतीर्थकरसिद्धाः सामान्य-केवलित्वे सति सिद्धाः । (योगशा. स्वो. विष. ३, १२४) । २. अतीर्थकराः सामान्यकेवलिनः सन्तः सिद्धा अतीर्थकरसिद्धाः । (शास्त्रभा. टी. ११-५४) । ३. अतीर्थकरसिद्धा अन्ये सामान्यकेवलिनः । (भा. प्र. टी. ७६) ।

३ सामान्य केवली होकर सिद्ध होने वाले जीवों को अतीर्थकरसिद्ध कहते हैं ।

अतीर्थकरसिद्धकेवलज्ञान—तीर्थकराः सन्तो ये सिद्धास्तेषां केवलज्ञानं तीर्थकरसिद्धकेवलज्ञानम्, येषाणामतीर्थकरसिद्धकेवलज्ञानम् । (भाष. मलय. वृ. ७८, पृ. ८४) ।

तीर्थकर होकर सिद्ध होने वालों का केवलज्ञान तीर्थकरसिद्धकेवलज्ञान और शेष सिद्ध होने वालों

का केवलज्ञान अतीर्थकरसिद्धकेवलज्ञान कहा जाता है ।

अतीर्थसिद्ध—१. अतीर्थे सिद्धा अतीर्थसिद्धाः, तीर्थान्तरसिद्धा इत्यर्थः । भूयते च 'जिणंतरे साह्रुबोच्छेधो ति' तथापि जातिस्मरणादिना भवाप्तापवर्गमार्गाः सिध्यन्ति एवम् । मरुदेवीप्रभृतयो वा अतीर्थसिद्धास्तदा तीर्थस्यानुत्पन्नत्वात् । (भा. प्र. टी. ७६) ।

२. अतीर्थे जिनान्तरे साधुव्यवच्छेदे सति जातिस्मरणादिनावाप्तापवर्गमार्गाः सिद्धा अतीर्थसिद्धाः । (योगशा. स्वो. विष. ३-१२४) । ३. तीर्थस्याभावोज्जीर्णम् । तीर्थस्याभावश्चानुत्पादोऽप्यन्तराले व्यवच्छेदो वा, तस्मिन् ये सिद्धास्तेऽतीर्थसिद्धाः । (प्रकाश. मलय. वृ. १-७) । ४. तीर्थस्याभावेऽनुत्पत्तिक्षणेषु भ्रान्तरालिकव्यवच्छेदलक्षणेषु वा सति सिद्धा अतीर्थसिद्धाः मरुदेव्यादयः, सुविधिस्वाम्याद्यप्यन्तराले विरज्याप्त-महोदयाश्च । (शास्त्रभा. प्रसो. टी. ११, ५४) ।

१ तीर्थ से अभिप्राय आनुर्बन्ध अमणसंय अवस्था प्रथम गणेश्वर का है । उनके न होते हुए जो तीर्थान्तर में सिद्ध होते हैं वे अतीर्थसिद्ध हैं । उस समय तीर्थ के उत्पन्न न होने से मरुदेवी आदि भी अतीर्थसिद्ध माने गये हैं ।

अतीर्थसिद्धकेवलज्ञान—यत् पुनस्तीर्थकराणां तीर्थेऽनुत्पन्ने व्यवच्छिन्ने वा सिद्धास्तेषां यत् केवलज्ञानं तदतीर्थसिद्धकेवलज्ञानम् । (भाष. मलय. वृ. ७८, पृ. ८४) ।

जो तीर्थकरों के तीर्थ के उत्पन्न न होने पर या उसके विच्छिन्न हो जाने पर सिद्ध हुए हैं उनके केवलज्ञान को अतीर्थसिद्धकेवलज्ञान कहा जाता है ।

अत्यन्तानुपलब्धि—अत्यस्तं वरिसणमि वि लदी एतंतो न संभवद् । ददुं पि न याणते बोहियपंडा फणस सत्तु ॥ (बृहत्क. भा. ४७) ।

अर्थ के—पदार्थ के—प्रत्यक्ष देखते हुए भी उससे अपरिचित होने के कारण जो उसका संबंधा परिज्ञान नहीं होता है उसे अत्यन्तानुपलब्धि कहते हैं । जैसे—पश्चिम दिशा में रहने वाले म्लेच्छ वहाँ कदहल के न होने से उस कदहल को और पाण्ड्य (देशविशेष में उत्पन्न) जन सत्तु को देखते हुए भी विशिष्ट नामादि से उसे नहीं जानते हैं ।

अत्यन्ताभाव—१. साध्यां गदिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते । (प्रभास. ३८६) । २. अत्यन्ताभावः

अत्यन्तं सर्वथा निःसत्ताकया अभावः । (प्रबाल. टी. ३८६) । ३. कावत्रयापेक्षिणी हि तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ताभावः । (प्र. न. त. ३-६१) ।

१ जिसका विकास में भी सद्भाव सम्भव न हो, उसके अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं । जैसे—करघोष के सिर पर सोंगों का अभाव ।

अत्यन्ताभावत्व — त्रैकालिकी तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ताभाव इत्यत्र परिणामपदमहिम्ना धर्मनिशामकसम्बन्धबोधात् तृतीयातत्पुरुषाश्रयणाच्च संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वमत्यन्ताभावत्वम् । (अष्टस. यशो. वृ. पु. १६६) ।

दोसो अत्यन्ताभाव ।

अत्यन्तायोग्यबच्छेद — क्रियासंगतैवकारोऽप्यन्तायोग्यबच्छेदबोधकः । उद्देश्यतावच्छेदकव्यापकाभावाप्रतियोगित्वम् । यथा—नीलं सरोजं भवत्येव । (सप्तमं. पृ. २६) ।

क्रियासंगत एवकार जिसका बोधक होता है वह अत्यन्तायोग्यबच्छेद कहलाता है । जैसे—सरोज नीला होता ही है ।

अत्याग्री (न जाई) —वत्स-गंधमलंकारं इत्थीग्रो सयणाणि य । अच्छंदा जेण भुंजंति न से जाइ ति वुच्चइ ॥ (दशमं. २-२) ।

जो वस्त्र एवं गंधादि रूप भोगसामग्री को स्वच्छन्दतापूर्वक—परवश होने से—नहीं भोग सकता है वह त्यागी नहीं है—अत्याग्री है ।

अत्यासादना —१. पंचेव अस्थिकाया छज्जीवणि-काय महव्वया पंच । पवयणमाउ-पयत्था तेत्तीसच्चा-सणा भणिया ॥ (मूला. २-१८, पृ. ६१) ।

२. पञ्चास्तिकायादिविषयत्वात् पञ्चास्तिकायादय एवासादना उक्ताः, तेषां वा ये परिभवास्ता आसादना इति सम्बन्धः । (मूला. वृ. २-१८) ।

पाँच अस्थिकाय, छह जीवनिकाय, पाँच महाव्रत, आठ प्रवचनमातुका (५ समिति व ३ गुप्ति) और नौ पदार्थ; ये तेसीस अत्यासादना (आसादना) कहे गये हैं । अथवा उनके जो परिभव हैं वे आसादना कहलाते हैं ।

अन्नाणभय —१. यत् सन्नाशमुपैति यन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थितिर्ज्ञानं सत्त्वयमेव तत् किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः । अस्यान्नाणभयो न किंचन भवेद् तद्भीः कुतो ज्ञानिनो निःशंकः सततं स्वयं स

सह्यं ज्ञानं सदा विन्दति । (समय. कलश १५१) ।

२. पुरुषाद्यखणमन्नाणभयम् । (त. वृ. भुत. ६-२४) ।

पुरुषादिकों के संरक्षण के अभाव में जो भय उत्पन्न होता है वह अन्नाणभय कहलाता है ।

अथाप्रवृत्तकरण — देखो अथःप्रवृत्तकरण ।

अदत्तक्रिया — अदत्तक्रिया स्तेयलक्षणा । (गु. गु. व. स्त्रो. वृ. पृ. ४१) ।

चोरी में प्रवर्तना अदत्तक्रिया है ।

अदत्तग्रहण — १. तथा अदत्तग्रहणम्—अदत्तं यदि किंचिद् गृह्णीयात् $\times \times \times$ अशनस्यान्तरायो भवति । (मूला. वृ. ६-८०) । २. स्वयमेव ग्रहे ज्जनादेरदत्तग्रहणाऽऽह्वयः ॥ (अन. व. ५-५६) ।

कूतरे के द्वारा बिना दिये हुये अन्नादि को स्वयं ही ग्रहण करना अवराग्रहण दोष है ।

अदत्तादान — १. अदत्तस्य अदिण्यस्स आदाणं गहणं अदत्तादाणं, $\times \times \times$ एव वि जेण 'आदीयदे अणेण इदि आदाणं' तेण अदिण्यत्थो तग्गहणपरिणामो च अदत्तादाणं । (षष्. पु. १२, पृ. २८१) ।

२. भामाराम-सूत्राधार-वीथ्यादिपु निपतितः मणिकनक-वस्त्रादिवस्तुनो ग्रहणमदत्तादानम् । (भा. सा. पृ. ४१) । ३. धर्मविरोधेन स्वामिजीवाद्यननुज्ञात-परकीयद्रव्यग्रहणम् अदत्तादानम् । (शास्त्रभा. टी. १-४) ।

२ भाम, भाराम (उद्यान), जूम्प गृह और वीथी (गली) अदि में गिरे, पड़े या रके हुए मणि, सुवर्ण व वस्त्र आदि के ग्रहण करने का विचार करना, इसे अवरादान कहते हैं । ३ स्वामी की आज्ञा के बिना पराई वस्तु को लेने को अवतादान कहते हैं ।

अवतादान प्रत्यय — अदत्तस्य आदाणं गहणं अदत्तादाणं, सो चैव पञ्चग्रो अदत्तादाणपञ्चग्रो । (षष्. पु. १२, पृ. २८१) ।

बिना वी हुई वस्तु के ग्रहणस्वरूप प्रत्यय (ज्ञाना-वरणीयवेदना के कारण) को अवतादान प्रत्यय कहा जाता है ।

अवतादानविरमण — देखो अचोर्यमहाव्रत । १. अदत्तादाणं तिविह तिविहेण णेव कुज्जा, ण कारवे, ततियं सोयव्वलक्खणं । (अधिभा. १-५) ।

विद्या दी हुई परकीय वस्तु को तीन प्रकार से—
वन, वन्य व काय से—न स्वयं ग्रहण करना और
न दूसरे से ग्रहण करना, यह अवसादानविरमण
मायका तीसरा अर्थावसहायक है ।

अद्वन्तमनव्रत (अद्वन्तमणवय) — १ अंगुलि-गहा-
ज्वलेहणिकलीहि पासाणछलिवादीहि । वंतमलासो-
हणयं संजमयुली अद्वन्तमण ॥ (भूसा. १-३३) ।
२ दसानाधर्वणं पाषाणाऽङ्गुलीत्वङ्गुलसादिभिः । स्वाद्
दन्ताकर्षणं भोग-देह-वैराग्यमन्दिरे ॥ (आचा. सा.
१-४६) ।

अंगुली, नख, अवलेखिनी (वन्तकाष्ठ—हातों)
कलि (तृणविशेष), पत्थर और बकला आदि से
हातों को रंग को नहीं निकालना; यह अद्वन्तमन-
व्रत है जो संयमसंरक्षण का कारण है ।

अवर्शन— १ दृगावरणसामाख्योदयाच्चावर्शनं तथा ।
(त. श्लो. २, ६, ६) ; अवर्शनमिहार्थानामवर्शानं
हि तद् भवेत् । सति दर्शनमोहेऽस्य न ज्ञानाद्
प्रागवर्शनम् ॥ (त. श्लो. ६, १४, १) । २. अवर्शनो
मिथ्यामिलायेण सम्यक्त्ववर्जित अग्नौ वा । (आ.
वि. पु. ७४) ।

१ सामाख्य दर्शनावरण कर्म के उदय से होनेवाले
वस्तुप्रतिभास के अभाव को अवर्शन कहते हैं । तथा
दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से होने वाले तत्त्वार्थ-
वर्शान को अभाव को भी अवर्शन या मिथ्यादर्शन
कहा जाता है । २ मिथ्या अभिलाषा से सम्यक्त्व
से हीन जीव को तथा अग्न्ये प्राणी को भी अवर्शन
कहा जाता है ।

अवर्शनपरीषह—अवर्शनपरीषहस्तु सर्वपापस्या-
नेभ्यो विरतः प्रकृष्टतपोऽनुष्ठायी निःसंगवचाहं तथा-
पि धर्माधर्माभेदेव-नारकादिभावान्नेषे, अतो भृगा
समस्तमेतदिति अवर्शनपरीषहः । (त. भा. सिद्ध.
बु. ६-६) ।

मैं सब पापस्थानों से विरत हूँ, धोर तपश्चरण
करता हूँ, और समस्त परिग्रह से रहित भी हूँ;
तो भी कम से कम-अधर्मस्वरूप देवभाव व नारक-
भाव को नहीं देख रहा हूँ, इससे प्रतीत होता है
कि यह सब असत्य है; ऐसे विचार का नाम अव-
र्शनपरीषह है ।

अवर्शनपरीषहजय— १. परमवैराग्यभावनाशुद्ध-
दयस्य विदितसकलपदार्थतत्त्वस्वार्हदायतन-साधुधर्म-

पूजकस्य चिरन्तनप्रवृत्तितत्त्वाद्यापि मे ज्ञानातिशयो
नीत्यद्यते, महोपवासाद्यनुष्ठायिनां प्रातिहार्यविशेषाः
प्रादुरन्नवन्निति प्रलापमात्रमनर्थक्यं प्रव्रज्या, विफलं
व्रतपरिपालनमित्येवमसादधानस्य दर्शनविशुद्धियो-
गादवर्शनपरीषहसहनमवसातव्यम् । (त. सि. ६-६;
त. भा. ६, ६, २८) । २. प्रव्रज्याद्यनर्थकत्वासमा-
धानमदर्शनसहनम् । (त. भा. और त. श्लो. ६-६) ।

३. वर्ण्यन्ते बहवस्तपोऽतिशयजाः सन्तुष्टिपूजादयः,
प्राप्ताः पूर्वतपोधनैरिति वचोमात्रं तदद्यापि यत् ।
तत्त्वज्ञस्य मयापि तेषु न हि कोऽपीत्यातंसंगोष्मिता,
चेतोवृत्तिरदृक्परीषहजयः सम्यक्त्वसंशुद्धितः ॥
(आचा. सा. ७-१६) । ४. अवर्शनं महाव्रतानु-
ष्ठानेनाप्यदृष्टातिशयवाचा, उपलक्षणमात्रमेतत्,
अग्न्येऽप्यत्र पीडाहेतवो दृष्टव्याः । तस्याः क्षमणं सह-
नम् × × × ततः परीषहजयो भवति । (भूसा.
बु. ५-५८) । ५. महोपवासादिभुषां भृषोद्याः प्राक्
प्रातिहार्यतिशया न हीक्षे । किञ्चित्तथाचार्यपि तद्
वृषया निष्ठेत्यसन् सदुगदर्शनासद् ॥ (अन. ब.
६-११०) । ६. यो मुनिरत्युत्कृष्टवैराग्यभावनावि-
शुद्धान्तरंगो भवति, विज्ञातसमस्तवस्तुतत्त्वश्च स्यात्,
जिनायतन-त्रिविधसाधु-जिनधर्मपूजनसम्माननतन्नि-

ष्ठो भवति, चिरदीक्षितोऽपि सन्नेवं न चिन्तयति—
अद्यापि ममातिशयवद्बोधनं न संजायते, उत्कृष्टश्रुत-
व्रतादिविधायिनां किल प्रातिहार्यविशेषाः प्रादुर्भ-
वन्ति, इति श्रुतिमिथ्या वर्तते, दीक्षेयं निष्फला, व्रत-
धारणं च फलु एव वर्तते, इति सम्यग्दर्शनविशुद्धि-
सन्निधानादेव न मनसि करोति तस्य मुनेरवर्शनपरी-
षहजयो भवतीति अवसानीयम् । (त. बु. श्रुत.
६-६) ।

चिरकाल तक तपश्चरण करने पर भी ज्ञानातिशय
या श्रद्धाविशेष के नहीं प्राप्त होते पर 'यह हीला
व्यर्थ है या व्रतों का धारण करना व्यर्थ है' ऐसा
विचार न करके अपने सम्यग्दर्शन को शुद्ध बनाये
रखना, इसे अवर्शनपरीषहजय कहते हैं ।

अद्विस्ताप्रत्याख्यान—दातुमिच्छा दित्ता, न दित्ता
अदित्ता, तथा प्रत्याख्यानमदित्ताप्रत्याख्यानम् ।
सत्यपि देये, सति च सम्प्रदानकारके, केवलं दातु-
दातुमिच्छा नास्तीत्यतोऽद्विस्ताप्रत्याख्यानम् । (सूत्र-
क. बु. २, ४, १७६)

देय इच्छा और सत्प्राप्त के होने पर भी दाता को

देने की इच्छा के बिना जो परित्याग किया जाता है, इसका नाम अवित्ताप्रत्याख्यान है।

अवीक्षाग्रहचारी — १. अवीक्षाग्रहचारिणो वेधमन्तरेणाम्यस्त्यागमा गृहधर्मनिरता भवन्ति । (भा. सा. पु. २०; सा. च. स्त्रो. टी. ७-१६)। २. वेधं विना सम्यस्तसिद्धान्ता गृहधर्मिणः । ये ते जिनागमे प्रोक्ता अवीक्षाग्रहचारिणः ॥ (धर्म. भा. ६-१७)।

१ **ग्रहचारी** का वेध धारण किये बिना ही गृह के समीप आगम का अभ्यास कर तत्पश्चात् गृहस्था-भ्रम के स्वीकार करने वालों को अवीक्षाग्रहचारी कहते हैं।

अवृष्टदोष — १. अवृष्टम् आचार्यादीनां दर्शनं पृथक् त्यक्त्वा भूप्रदेशं शरीरं चाप्रतिलेख्यास्तदगत-मनाः पृष्ठदेशतो वा भूत्वा यो वन्दनादिक करोति तस्यावृष्टदोषः । (भू. भा. वृ. ७-१०६)। २. अवृष्टं गुरुव्यमार्गत्यागो वाऽप्रतिलेखनम् । (अन. च. ८, १०८)।

१ आचार्यं आदि का दर्शन न करके अन्यमनस्क होते हुए अथवा पृष्ठ भागसे शरीर और भूमि के शुद्ध किये बिना ही वन्दना करने को अवृष्टदोष कहते हैं। अथवा उनके पीछे स्थित होकर वन्दनादि करने को अवृष्ट दोष कहा जाता है।

अवेक्ष-कालप्रलापी — कञ्जविर्वसि दटुं भणाइ पुवि मए उ विण्णायं । एवमिदं तु भविस्सइ अवेक्षकालप्पलावी उ ॥ (बृहत्क. ७५५)।

कार्य के विनाश को देख कर जो यह कहता है कि यह तो मैंने पहले ही जान लिया था कि अविध्य में यह इस प्रकार होगा। जैसे—किसी साधु ने पात्र का लेपन किया, तत्पश्चात् सुलाले हुए वह प्रमादवशा फूट गया, यह देखकर कोई अपने आचुर्य को प्रगट करता हुआ कहता है कि जब इसका संस्कार करना प्रारम्भ किया गया था तभी मैंने जान लिया था कि यह सिद्ध होकर भी फूट जावेगा। इस प्रकार जो अक्सर को न देखकर कहता है वह अवेक्ष-कालप्रलापी है।

अष्टाकाल — चन्द्र - सूर्यादिक्रियाविशिष्टोऽर्ज्वतृतीय-द्वीप-समुद्रान्तर्वर्त्यद्व्यकालः समयादिलक्षणः । (भाष. हरि. च मलय. वृ. नि. ६६०)।

चन्द्र-सूर्य आदि की क्रिया से परिलक्षित होकर जो ल. ५

समयाधिक्य काल अष्टाई द्वीप में प्रवर्तमान है वह अष्टाकाल कहा जाता है।

अष्टाद्वामिथिता (अष्टाद्वामीसिया) — १. तथा दिवसस्य रात्रेर्वा एकदेशोऽष्टाद्व्या, सा मिथिता यथा सा अष्टाद्वामिथिता । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १-१६५)।

२. रथणीए दिवसस्स च देशो देशेण मीसियो जत्थ । अन्नइ सच्चामोसा अष्टाद्वामीसिया एसा । (भाषार. ६७); रजन्या दिवसस्य वा देशः प्रथमप्रहरादिलक्षणो देशेन द्वितीयप्रहरादिलक्षणेन यत्र मिथितो भण्यते एसा अष्टाद्वामिथिता सत्यामृषा । (भाषार. स्त्रो. टी. ६७)।

दिन या रात्रि के एक देश का नाम अष्टाद्वी है, उससे मिथित भाषा को अष्टाद्वामिथिता भाषा कहते हैं। जैसे—कोई किसी को शीघ्र तैयार हो जानेके विचार से प्रथम दोपहर (प्रहर—पाद प्रमाण छाया) के होते हुए यह कहता है कि चल मध्याह्न (दोपहर) हो गया।

अष्टानशन — अष्टाशब्दः कालसामान्यवचनश्चतुर्धा-दिवष्मासपर्यन्तो गृह्यते । तत्र यदनशन तद्वदान-शनम् । (अ. भा. विजयो. २०६)। २. अष्टाशब्दश्च-तुर्धादिवष्मासपर्यन्तो गृह्यते, तत्राहारत्यागोऽष्टानशनं कालसंख्योपवास इत्यर्थः । (अ. भा. भू. भा. टी. २०६)

अष्टा शब्द कालसामान्य का वाचक है, उससे यहाँ चतुर्धं (एक दिन) से लेकर छह मास तक का काल लिया गया है। इस काल के भीतर जो आहार का परित्याग किया जाता है उसे अष्टानशन कहते हैं।

अष्टानिषेकस्थितिप्राप्तक (अष्टानिषेगट्टिदिप-स्य) — अं कम्मं जिस्से द्विदीए णिसित्तमणो-कट्टिदमणुकट्टिदं च होहूण तिस्से वेव द्विदीए उदए दिस्सदि समद्वानिसेगट्टिदिपत्तयं णाम । (अन. पु. १०, पु. ११३)।

जो कर्म जिस स्थिति में निषिक्त है वह अन्तर्कर्म च उत्कर्षण से रहित होकर उसी स्थिति में जब उदय में विकसित है तब उसे अष्टानिषेकस्थिति-प्राप्तक कहा जाता है।

अष्टापत्य (अष्टारपत्त) — १. उदारोमराधि छेत्तुणमसंखवाससमयसमं ॥ पुब्बं च विरविदेणं तदिमं अष्टारपत्तविण्यत्ती । (सि. प. १, १२८-२६)।

१. उद्धारपत्यरोमच्छेदैर्वर्षशतसमयमात्रच्छिन्नः पूर्वं-
अष्टापत्यम् । (स. सि. ३-३८) । २. अक्षब्धवर्ष-
कोटीनां समयः रोमच्छिन्नतैः । उद्धारपत्यमष्टाक्षं
स्मात् कालोऽष्टाभिधीयते । (ह. पु. ७-५३) ।

२ उद्धारपत्य के प्रत्येक रोमच्छिन्न को सौ वर्षों के
समयों से युगिल करने के उनसे परिपूर्ण पद्धि को
अष्टापत्य कहते हैं ।

अष्टापत्योपम काल—१. ततः (अष्टापत्यतः) समये
समये एकैकस्मिन् रोमच्छेदेऽपकृष्यमाणे यावता
कालेन तद्विक्तं भवति तावान् कालोऽष्टापत्योप-
माख्यः । (स. सि. ३-३८; त. वा. ३, ३८, ७) ।

२. अष्टा इति कालः, सो य परिमाणतो वाससयं
बालम्नाण लण्डाण वा समुद्धरणतो अष्टापलितो-
वर्मं यच्छति । अथवा अष्टा इति अष्टावडा, सा इमा-
तो गेरुह्याण भाणिज्जति अतो अष्टापलितोवर्मं ।
(अनु. बृ. पु. ५७) । ३. अष्टा ति कालाख्या, ततश्च
बासाप्राणां तल्लण्डानां च वर्षशतोद्धरणादष्टापत्यस्ते-

नोपमा यस्मिन्, अथवा अष्टा आयुःकालः, सोऽनेन
नारकादीनामानीयत इत्यष्टापत्योपमम् । (अनु. हरि.
बृ. पु. ८५) । ४. अष्टा कालः, स च प्रस्तावाद्वा-
सप्राणां तल्लण्डानां वोद्धरणे प्रत्येक वर्षशतलक्षण-
स्तप्राधानं पत्योपममष्टापत्योपम् । (संघहृषी. बृ.
५; शतक. वे. स्त्री. टी. ८५) । ५. तदनन्तरं समये
समये एकैकं रोमलण्डं निष्कास्यते । यावत्कालेन
सा महाक्षानिः रिक्ता संजायते तावत्कालः अष्टा-
पत्योपमसंज्ञः समुच्यते । (त. बृ. सुत. ३-३८) ।

अष्टापत्य में से एक एक समय में एक एक रोमलंड
को निकालते हुए समस्त रोमलण्डों के निकालने में
जितना काल लगे, उतने काल का नाम अष्टापत्यो-
पम है ।

अष्टापत्याख्यान (अष्टापचक्षलाण) — अष्टा
कालो तस्य य परमाणमदं तु जं भवे तमिह । अष्टा-
पचक्षलाणं दसमं तं पुण इमं अणियं ॥ (अथ. सारो.
गा. २०१) ।

अष्टा नाम काल का है । उसके—मुहूर्त व दिन
आदि के—प्रमाण से किये जाने वाले ख्यान को
अष्टापत्याख्यान कहते हैं ।

अष्टाभिधिता—१. अष्टा कालः, स चेह प्रस्ता-
वादिहसो रात्रिर्वा परिगृह्यते, स मिधितो यथा
साष्टाभिधिता । यथा—कविचद् कंचन त्वरयन्

दिवसे वर्तमान एवं वदति उत्तिष्ठ रात्रिधितेति,
रात्रौ वा वर्तमानायामुत्तिष्ठोदगतः सूर्य इति ।
(प्रभाषणा मलय. बृ. ११-१६५, पु. २५६) ।

दिन और रात्रि रूप काल का विभजन कर जो
भावा बोली जाती है उसे अष्टाभिधिता कहते हैं ।
जैसे—दिन के रहते हुए यह कहना कि बली उठी
रात हो गई, अथवा रात्रि के रहते हुए भी यह
कहना कि उठ जाओ सूर्य निकल आया है ।

अष्टासमय—अष्टेति कालस्माख्या, अष्टा वासो
समयश्चाष्टासमयः । अथवा अष्टायाः समयो
निविभागी भागोऽष्टासमयः । अयं चैक एव वर्त-
मानः सन्, नातीतानागतः; तेषां यथाक्रमं वि-
नष्टानुत्पन्नत्वात् । (जीवाजी. मलय. बृ. ५, पु. ६) ।
काल को अथवा काल के अविभागी अंश को अष्टा-
समय कहते हैं ।

अष्टासागरोपम—एषामष्टापत्यानां दश कोटी-
कोटयः एकमष्टासागरोपमम् । (स. सि. ३-३८; त.
वा. ३, ३८, ७; त. सुखबो. बृ. ३-३८; त. बृ.
सुत. ३-३८) ।

दश कोटीकोटी अष्टापत्यों प्रमाण काल का नाम
एक अष्टासागरोपम है ।

अष्टास्थान—अष्टद्वारं याम समयावलय-क्षण-
लव-मुहूर्तादिकालवियप्ता । (अथय. पत्र ७७३) ।
समय, आबली, क्षण, लव और मुहूर्त आदि रूप जो
काल के विकल्प हैं वे सब अष्टास्थान कहाते हैं ।

अद्भुत रस (अभुभरस)—१. विन्ध्यकरो अनुजो
अनुभुभुजो य जो रसो होइ । हरिख-विसाउपसी-
लक्षणाओ अनुभुओ नाम ॥ (अनु. गा. ६८) ।

२. विन्ध्यकरोऽपूर्वो वा तत्प्रथमसमयोल्लेखमनो भूत-
पूर्व वा पुनस्तन्ने यो रसो भवति स हर्ष-विषादो-
त्पत्तिलक्षणस्तद्बीजत्वाद् अद्भुतनाम । (अनु. हरि.
बृ. गाथा ६८, पु. ६६) । ३. श्रुतं शिल्पं त्याग-
तपःशौर्यकर्मादि वा सकलभुवनातिशायि किमप्यपूर्वं

वस्तुदभुतमुच्यते, तद्दर्शन-अवगणादिभ्यो जातो रसो-
ऽप्युपचाराद्विस्मयरूपोऽद्भुतः । (अनु. मल. हेम. बृ.
गा. ६३, पु. १३५) ।

१ अपूर्व अथवा पूर्व में अनुभूत भी जो हर्ष-विषाद
की उत्पत्तिस्वरूप आश्चर्यजनक रस होता है उसका
नाम अद्भुतरस है ।

अष्टम—अष्टमः अग्नीतिपरिहारः । (बोद्धव्यं बृ. १५-१३) ।

तत्त्वविधयक अग्नीति (विष्टेय) के नष्ट करने का नाम अष्टम है ।

अथन—वसितवृत्तोऽथनः । (प्रश्नो. २१) ।

जो आरिष ते अष्ट है उसका नाम अथन है ।

अथन उपवास—×××अनेकभक्तः सोऽथनः ×××॥ (अन. ब. ७-१५); तथा भवत्यथनः स उपवासः । कीदृशः ? धारणे पारणे चैकभक्तारहितः साम्भुरित्येव । (अन. ब. स्त्री. टी. ७-१५) ।

जिस उपवास में धारणा और धारणा के बिना एका-क्षण न किया जाय और उपवास के बिना पानी पिया जाय, उसे अथन उपवास कहते हैं ।

अथम (जथन्य) पात्र—१. अवरियसमाद्ग्रीह जह-णपत्तं भुजेयव्यं ॥ (बसु. भा. २२२) । २. यतिः स्वादुत्तमं पात्रं मध्यमं धावकोऽथमम् । सुदुष्टि-स्तद्विशिष्टत्वं विशिष्टगुणयोगतः । (सा. ब. ५-४४) **अवरितसम्यगुष्टि जीव** को अथम या जथन्य पात्र कहते हैं ।

अधर्म—१. यदीयप्रत्यनीकानि (मिथ्यादुष्टि-ज्ञान-वृत्तानि) भवन्ति भवपद्धतिः ॥ (रत्नक. १-३) । २. सयलवृत्तलकारणं अधम्मो । (अथ. पु. १, पृ. ३७०) । ३. प्रत्यवायहेतुरधर्मः । (बृ. सर्वज्ञ. सि. ७७) । ४. अधर्मस्तु तद्विपरीतः [मिथ्यादर्शन-ज्ञान-धारिणात्मकः, यतो नामधुदय-निश्रेयससिद्धिः] । गच्छति. ११, पृ. २४३) । ५. अधर्मः पुनरेतद्विपरीत-फलः । (नीतिभा. १-२) । ६. अहिंसा परमो धर्मः स्यादधर्मस्तदत्ययात् । (लाटीसं. २-१); अधर्मस्तु कुबेरानां यावानाराधनोद्यमः । तैः प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टावाचकायचेतसां ॥ (लाटीसं. ४-१२२; पंचाध्या. २-६००) । ७. मिथ्यात्वाविरति-प्रमाद-कषाय-योगरूपः कर्मबन्धकारणम् आत्मपरिणामो-ऽधर्मः । (अभि. रा. १, पृ. ५६६) ।

४ जिससे अन्धबुद्ध और निःश्रेयस की सिद्धि न हो, ऐसे कर्मबन्ध के कारणभूत मिथ्यादर्शन, ज्ञान व धारिष रूप आत्मपरिणाम को अधर्म कहते हैं ।

अधर्मं ब्रव्य—१. जह हृदि धम्मदव्यं तह तं जाणेह दव्वमधमकसं । ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारण-भूवं तु पुडवीव । (पम्मा. का. ८६) । २. गमयणि-मितं धम्ममधमं ठिदि जीव-पुग्गलाणं च ।

(नि. सा. ३०) । ३. गति-स्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयो-रुपकारः । (त. सु. ५-१७) । ४. स्थितिपरिणा-

मिनां जीव-पुग्गलानां स्थित्युपग्रहे कसंब्येऽधर्मा-स्तिकायः साधारणाध्वः । (त. सि. ५-१७) । ५.

अधम्मत्त्विकाग्रो ठिद्वलक्खणो । (वचनं. बृ. ४, पृ. १४२) । ६. तद्विपरीतोऽधर्मः ॥ २० ॥ तस्य

(धर्मं ब्रव्यस्य) विपरीतलक्षणः (स्वयं स्थितिपरिणा-

मिनां जीव-पुग्गलानां यः साधिव्यं दधाति सः) अधर्मं इत्याम्नायते । (त. भा. ५, १, २०) । ७. एवं

जेव (धम्मदव्वमिक्क ववगदपंचवण्णं ववगदपंचरसं वव-

गदुगुं ववगदपंचुपासं असंखेज्जपदेसिमं लोमपमाणं) अधम्मदव्वं पि । जवरि जीव-योगगलाणं एवं ठिदि-

हेह । (अथ. पु. ३, पृ. ३); अधम्मदव्वस्स जीव-

योगगलाणमवद्वानस्स णिमित्तमावेण परिणामो

सम्भाविकिरिया । (अथ. पु. १३, पृ. ४३); तेसि

(जीव-योगगलाणं) अवद्वानस्स णिमित्तकारणलक्ख-

णमधम्मदव्वं । (अथ. पु. १५, पृ. ३३) । ८. अहम्मो

ठाणलक्खणो । (उत्तरा. २८-८) । ९. स्थान-

क्रियासमेतानां महीवाधर्मं उज्जयेते । (वरार. २६,

२४) । १०. मरुत्तकलस्थितिपरिणामिनामसाध्विध-

धानाद् गतिपर्यायाधर्मः । (त. वलो. ५-१) ।

११. यः स्थितिपरिणामपरिणतयोर्जीव-पुग्गलयोरेव

स्थित्युपपट्टमहेतुविबलया क्षितिरिव भवस्य, स

लत्वसंब्येयप्रदेशात्मकोऽमूर्त एवाधर्मास्तिकाय इति ।

(नन्दी. हरि. बृ. पृ. ५८) । १२. जीव-पुग्गलानां

स्वाभाविके क्रियावत्त्वे तत्परिणतानां तत्त्वभावा-

धारणाधर्मः । (अनु. हरि. बृ. पृ. ४१) । १३.

(सर्वेषामेव जीव-पुग्गलानां) स्थितिपरिणामभाजो

वाधर्मम् । (त. भा. हरि. बृ. ५-१७) । १४. अधर्मः

स्थित्युपग्रहः । (म. पु. २४, ३३) । १५. स्थित्या

परिणतानां तु सचिवत्वं दधाति यः । तमधर्मं

जिनाः प्राहुनिरावरणदर्शनाः ॥ जीवानां पुद्गलानां

च कसंब्ये स्थित्युपग्रहे । साधारणाध्वोऽधर्मः पृथि-

वीच यवां स्थितौ ॥ (त. सा. ३, ३६-३७) । १६.

तं (गतिहेतुत्वसंसिद्धं गुणं) न धारयतीत्यधर्मः ।

अथवा स्थितेऽवस्थासीनहेतुत्वाधर्मः । (म. भा. विजयो.

टी. ३६) । १७. ठिदिकारणं अधम्मो विसामाणं

च होइ जह छाया । पट्टियाणं रक्खस्स य मच्छंतं

जेव सो घरई ॥ (भासं. ३०७) । १८. ठाण-

बुद्धाथ अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसह्यारी ।

काम्य जह पहियाणां गच्छता जेव सो धरई ॥
 (अध्या. १८) । १६. द्रव्याणां पुद्गलादीनाम-
 धर्मः स्थितिकारणम् । लोकेऽभिव्यापकत्वादिधर्मो-
 ऽधर्मोऽपि धर्मवत् ॥ (अध्या. १८-७१) । २०.
 स्वहेतुस्थितिमज्जीव-पुद्गलस्थितिकारणम् । अधर्मः
 $\times \times \times$ ॥ (आ. सा. ३-२१) । २१. जीव-पुद्गलयोः
 स्थितिहेतुलक्षणोऽधर्मः । (अं. का. जय. ५. ३) ।
 २२. इत्ते स्थिति प्रपन्नानां जीवादीनामय स्थितिम् ।
 अधर्मः सहकारित्वाद्यथा छायाध्वर्तितानाम् ॥
 (आना. ६, ४३) । २३. स्वकीयोपादानकारणेन स्वय-
 मेव तिष्ठतां जीवपुद्गलानामधर्मद्रव्यं स्थितेः सह-
 कारिकारणम्, लोकव्यवहारेण तु छायावद्वा पृथिवी-
 वद्वेति । (बृ. द्रव्यसं. १८) । २४. स्वभाव-विभाव-
 स्थितिपरिणतानां तेषां (जीव-पुद्गलानां) स्थितिहे-
 तुरधर्मः । (नि. सा. शी. ६) । २५. $\times \times \times$ महम्मो ठाणल-
 वल्लणो । (गु. गु. षट्. स्वो. ५, ५, २२) । २६.
 अधर्मास्तिकायः स्थानं स्थितिस्तल्लक्षणः । (उत्तरा.
 ५. २८, ८) । २७. $\times \times \times$ धिरसंठाणो मह-
 म्मो य । (मवत. ६) । २८. जीवानां पुद्गलानां च
 स्थितिपरिणामपरिणतानां तत्परिणामोपष्टम्भको-
 ऽमूर्तोऽस्त्वातप्रवेगात्मकोऽधर्मास्तिकायः । (ओवाजी.
 मलय. ५. ४) । २९. स्थितिहेतुरधर्मः स्यात् परि-
 णामी तयोः स्थितेः । सर्वसाधारणोऽधर्मः $\times \times \times$ ॥
 (अध्यानु. १०-४) । ३०. जीवानां पुद्गलानां च
 प्रपन्नानां स्वयं स्थितिम् । अधर्मं सहकार्येषु $\times \times$
 \times । (योगशा. स्वो. विव. १-१६, ५. ११३) ।
 ३१. तयोरेव (जीव-पुद्गलयोः) साधारण्येन स्थितिहे-
 तुरधर्मः । (अ. आ. मूला. ३६) । ३२. स्थानक्रिया-
 वतोर्जीव-पुद्गलयोस्तत्क्रियासाधनभूतमधर्मद्रव्यम् ।
 (नो. जी. जी. प्र. ६०५) । ३३. अधर्मः स्थिति-
 दानाय हेतुर्भवति तद्द्रव्योः । (भावसं. वाम. ६६४) ।
 ३४. स्थानशुक्तानां स्थितेः सहकारिकारणमधर्मः ।
 (आरा. सा. टी. ४) । ३५. स्थितिपरिणामपरिण-
 तानां स्थित्युपष्टम्भकोऽधर्मास्तिकायो मत्स्यादीना-
 मिन्द्र मेदिनी, विवक्षया जलं वा । (स्थाना. अमव.
 ५. १-८) ; अधर्मास्तिकायः स्थित्युपष्टम्भगुणः ।
 (स्थाना. अमव. २-५८) । ३६. तिष्ठद्भाववतोश्च
 पुद्गल-चित्तोश्चोदात्मभावेन यद्हेतुत्वं पथिकस्य
 मार्गमटवच्छाया यथावस्थितेः । धर्मोऽधर्मसमाह्व-
 यस्तं गतमोहात्मप्रविष्टः सदा बुद्धोऽयं सकृदेव

शश्वदनयोः स्थित्यात्मशक्ततावपि ॥ (अध्या. भा.
 ३-३१) । ३७. $\times \times \times$ अधर्मः स्थित्युपग्रहः ॥ (अध्या.
 ५. ३-३४) । ३८. तद्विपरीतलक्षणः (स्वयं स्थिति-
 क्रियापरिणामिनां जीव-पुद्गलानां साधिव्यं यो ददाति
 सः) । (त. सुखबो. ५. ५-१)

४ जो स्वयं ठहरते हुए जीव और पुद्गल द्रव्यों के
 ठहरने में सहायक होता है उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं ।

अधर्मास्तिकायद्रव्यत्व—क्रम-योगपञ्चवृत्तित्वपर्या-
 यव्याप्यधर्मास्तिकायत्वोपहितं सत्त्वमधर्मास्तिकाय-
 द्रव्यत्वम् । (स्था. र. ५. १०) ।

अधर्मास्तिकाय की क्रम से और युगपद् होने वाली
 अपनी पर्यायों से समन्वित द्रव्यता को अधर्मास्त-
 कायद्रव्यत्व कहते हैं ।

अधर्मास्तिकायानुभाग—तेसि-(जीव-योगलाग-)
 मवद्वाणहेतुत्वं अधर्ममयिकायानुभागो । (अध. पु.
 १३, ५. ३४६) ।

जीव और पुद्गलों के ठहरने में सहायक होना,
 यह अधर्मास्तिकाय का अनुभाग (शक्ति) है ।

अधःकर्म(आधाकर्म, अह्रेकर्म)—देखो आधाकर्म ।

१. ज त आधाकर्म नाम ॥ त ओद्वावण-विद्वावण-
 भारभकदण्णिकणं त सब्ब आधाकम्म नाम ॥

(वट्ठ. ५, ४, २१-२२-अध. पु. १३, ५. ४६) । २.

जं दव्वं उदगाइसु खूढमहे वयइ ज च भारेण ।

सोईए रज्जुएण व ओयरण दव्वइहेकम्मं । सजम-

ठाणाण कडगाण लेसा-ठिईविसेसाणं । भावं अहे

करेई तम्हा त भावइहेकम्मं ॥ (पि. नि. ६८-६९) ।

३. विशुद्धसमस्थानेभ्यः प्रतिपत्त्याऽऽत्मानमविशुद्ध-

समस्थानेषु यदधोऽधः करोति तदधःकर्म । (बुह-

त्क. भा. ४) । ४. समस्थानानां कण्डकानां सत्त्वा-

तीतसंयमस्थानसमुदायरूपाणाम्, उपलक्षणमेतत्

षट्स्थानकानां संयमश्लेषश्च, तथा लेशानां तथा

सातावेदनीयादिशुभप्रकृतीनां सम्बन्धिनां स्थिति-

विशेषाणां च सम्बन्धिषु विशुद्धेषु विशुद्धतरेषु

स्थानेषु वर्तमानं सत्त्वं निजं भावम्—अध्यवसायम्

—यस्मादाधाकर्मं भूञ्जानः साधुरधः करोति—

हीनेषु हीनतरेषु स्थानेषु विपत्तेः—तस्मादाधाकर्मं

भञ्जामधःकर्म । (पि. नि. मलय. ५. ६६) । ५.

सम्बन्धं यत् सचित्तमचित्तीक्रियते अचित्तं वा यत्

पच्यते तदाधाकर्म । (आभा. शी. ५. २, १, २६६) ।

६. एतैः (आरम्भोपद्रव-विप्रावण-परितापनैः) चतु-
भिर्वैविध्यमन्ममतिनिन्दितमधःकर्म । (भा. प्रा.
टी. २६)

१ उपद्रावण, विप्रावण, परितापन और आरम्भ;
इन कार्यों से उत्पन्न—उनके आशयबन्त—श्रीवा-
रिक शरीर को अधःकर्म कहा जाता है । २ अधः-
कर्म दो प्रकारका है—द्रव्य अधःकर्म और
भाव अधःकर्म । पानी आदि में डोढ़ी गई वस्तु
(पाषाण आदि) स्वभावतः अपने भार से नीचे
जाती हैं, अथवा गलती या रस्ती के सहारे जो
नीचे उतरते हैं; यह द्रव्य अधःकर्म है । असंस्थात
संयमस्वानों के समुदाय रूप संयमकाण्डक, ऊह
स्थानकों की संयमधेनि, लेख्या और सातावेदनीय
आदि पुण्य प्रकृतियों सम्बन्धी स्थितिबोधः इनसे
सम्बन्धित विशुद्ध व विशुद्धतर स्थानों में वर्तमान
साधु भूमि आशान्कर्म का उपयोग करता हुआ
अपने भाव को—अप्यवसाय को—नीचे करता है—
हीन से हीनतर स्थानों में करता है, अतएव उस
आशान्कर्म को अधःकर्म कहा जाता है ।

अधःप्रवृत्तकरण (अधःप्रवृत्तकरण)—१. एदाति
विसोबीणमथापवत्तलकणामथापवत्तकरणमिदि
सण्णा । कुवो ? उवरिमपरिणामा अध हेट्टा हेट्टि-
मपरिणामेसु पवत्तति ति अधःपवत्तसण्णा । (अध.
पु. ६, २१७) । २. जम्हा हेट्टिमभावा उवरिम-
भावेहि सरिसगा हुंति । तम्हा पढमं करणं अधःप-
वत्तो ति गिहिट्टं ॥ (गो. जी. ४८; ज. सा. ३५) ।
३. अध प्रागप्रवृत्ताः कदाचिदीदृशाः करणाः परिणामा
यत्र तदथाप्रवृत्तकरणम् । अधस्वैरुपरिस्थाः समानाः
प्रवृत्ताः करणा यत्र तदधःप्रवृत्तकरणमिति चान्वयं-
संज्ञा ॥ (वचनं. समित. १, पु. १८) । ४. अधः अध-
स्तमसमये वृत्ताः प्रवृत्ता इव करणाः उपरितमसमय-
वर्तिविशुद्धिपरिणामा यस्मिन् सन्ति स अधःप्रवृत्त-
करणः । (गो. जी. अ. प्र. टी. २४८) ।

२ अधःप्रवृत्तकरण परिणाम के कहलाते हैं जो अधस्तन
समयवर्ती परिणाम उपरितन समयवर्ती परिणामों
के साथ कदाचित् समानता रखते हैं । उनका दूसरा
नाम अधाप्रवृत्तकरण भी है । ये परिणाम अग्रमत्त-
संयत गुणस्थान में पाये जाते हैं ।

अधःप्रवृत्तकरणाविशुद्धि—उत्पन्न अधःप्रवृत्तकरण-
संज्ञिद्विसोहीणं लक्षणं उच्यते । तं जथा—

अंतोमुहुत्तमेतसमयपंतमुद्भावायेण ठएण्ण ठुविय
तेसि समयायं पाधोगपरिणामपक्वणं कस्सामो—
पढमसमयपाधोगपरिणामा अस्सेजेजा लोगा, अथा-
पवत्तकरणविदियसमयपाधोगा वि परिणामा अस्-
सेजेजा लोगा । एवं समयं पडि अथापवत्तपरिणा-
माणं पमाणपक्वणं कादव्वं जाव अथापवत्तकरण-
ढाए चरिमसमधो ति । पढमसमयपरिणामेहितो
विदियसमयपाधोगपरिणामा विसेसाहिया । विसेसो
पुण अतोमुहुत्तपडिमागिधो । विदियसमयपरिणामे-
हितो तदियसमयपरिणामा विसेसाहिया । एवं
णयव्वं जाव अथापवत्तकरणढाए चरिमसमधो ति ।
(अध. पु. ६, पु. २१४-२१५)

प्रथम समय के योग्य अधःप्रवृत्त-परिणामों की
अपेक्षा द्वितीय समय के योग्य परिणाम अनन्तगुणे
विशुद्ध होते हैं, इनकी अपेक्षा तृतीय समय के योग्य
परिणाम अनन्तगुणे विशुद्ध होते हैं, इस प्रकार
अन्तर्मुक्त के समान प्रमाण उन परिणामों में
सम्योत्तरक्रम से अनन्तगुणी विशुद्धि समझना
चाहिए ।

अधःप्रवृत्तसंक्रम (अधःप्रवृत्तसंक्रम)—१. बंधे
अधापवत्तो परित्तमो वा अबाधे वि । (कर्मप्र.
संक्रम. गा. ६६, पु. १८४) । २. अधःप्रवृत्तसंक्रमो
णाम संसारत्थाणं जीवाणं बंधणजोमाणं कम्मणं
बज्जमाणाणं अवज्जमाणाणं वा धोवातो धोवं बहु-
गाभो बहुणं बज्जमाणीसु य संक्रमण । (कर्मप्र. अ.
संक्रम. गा. ६६, पु. १०६) । ३. बंधपयडीणं सग-
बंधसंभवविसए जो पदेससकमो सो अधःप्रवृत्तसंक्रमो
ति अण्णदे । (अध. भा. ६, पु. १७१) । ४. ध्रुव-
बन्धिनीनां प्रकृतीना बन्धे सति यथाप्रवृत्तसंक्रमः
प्रवर्तते । × × × इयमत्र भावना—सर्वधामपि
संसारस्थानामसुसतां ध्रुवबन्धिनीनां बन्धे, परावर्त-
प्रकृतीनां तु स्व-स्वमवबन्धयोग्यानां बन्धेऽबन्धे वा
यथाप्रवृत्तसंक्रमो भवति । (कर्मप्र. सत्य. पु. संक्रम.
६६, पु. १८४-८५) । ५. बन्धप्रकृतीनां स्वबन्ध-
सम्भवविषये यः प्रदेससंक्रमस्तदधःप्रवृत्तसंक्रमं
नाम । (गो. क. जी. प्र. टी. ४१३) ।

१, ४ संसारी जीवों के ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों का
उनके बन्ध के होने पर, तथा स्व-स्व-भवनबन्धयोग्य
परावर्तमान प्रकृतियों का बन्ध या अवबन्ध की वशा
से जो भी प्रदेससंक्रम—परप्रकृतिरूप परिणमन—

होता है, उसे अवाप्रवृत्त वा अवाःप्रवृत्तसंक्रम कहते हैं । ३ अपने बन्ध की सम्भावना रहने पर जो बन्धप्रकृतियों का प्रवेससंक्रम—परप्रकृतिकल्प परिणयन—होता है उसे अवाःप्रवृत्तसंक्रम कहा जाता है ।

अधिक (सूत्रबोध)—वर्णादिभिरभ्यधिकमधिकम् × ×, अथवा हेतुदाहरणाधिकमधिकम् । यथा—अनित्यः शब्दः, कृतकत्व-प्रयत्नानन्तरीयकत्वाभ्यां षट्-पटवदित्यादि । (आच. हरि. व मलय. बृ. ८८१) । वर्णादि से अधिक होना, यह अधिक नामका सूत्र-बोध है । अथवा हेतु और उदाहरणसे अधिक होना, इसे अधिक नामका सूत्रबोध समझना चाहिए । जैसे—‘शब्द अनित्य है’ इस प्रतिज्ञावाक्य की पुष्टि के लिए कृतकत्व व प्रयत्नानन्तरीयत्व रूप हेतु और षट्-पटवादिक उदाहरण का अधिक प्रयोग ।

अधिकमास—१. तन्मध्ये (युगमध्ये) जन्ते चाधिक-मासो । (त. भा. ४-१५) । २. तेषां पञ्चानां संवत्सराणां मध्येऽभिवर्चिताख्येऽविमासकः, एतदन्ते चाभिवर्चित एव । (त. भा. हरि. बृ. ४-१५) । ३. तेषां पंचानां संवत्सराणां मध्येऽभिवर्चिताख्ये संवत्सरेऽधिकमासकः पतति, अन्ते च अभिवर्चित एव । (त. भा. सिद्ध बृ. ४-१५) । ४. इमिमासे दिग्वद्बुद्धौ वस्ते बाह्ये दुवस्त्वेषे सदन्ते । अहिमो मासो पचयवासपञ्चजुगे दुमासहिया । (त्रि. सा. ४१०) । ५. एकस्मिन् मासे दिनेकवृद्धिः, एकस्मिन् वर्षे द्वादशदिनवृद्धिः, दलसहितं द्विवर्षे एकमासोऽधिकः, पञ्चवर्षात्मके युगे द्वौ मासौ अधिकौ × × × । (त्रि. सा. टी. ४१०) ।

४ एक मास में एक दिन की वृद्धि होती है । इस प्रकार से एक वर्ष में १२ दिन की व अड़ई वर्षों में एक मास की वृद्धि होती है । यह एक मास अधिक मास कहलाता है । पञ्चवर्षात्मक युग के भीतर दो मास अधिक होते हैं ।

अधिकरण—अधिकमन्तेऽस्मिन्वर्षा इत्यधिकरणम् ॥ अर्थाः प्रयोजनानि पुरुषाणां यत्राधिक्रियन्ते प्रस्तूयन्ते तदधिकरणम्, द्रव्यमित्यर्थः । (त. भा. ६, ६, ५) । २. अधिकरणं द्विविधम्—द्रव्याधिकरणं भावाधिकरणं च । तत्र द्रव्याधिकरणं ज्वेदन-भेदनादि, शस्त्रं च दशविधम् । भावाधिकरणमष्टोत्तरशतविधम् । एतदुभयं जीवाधिकरणमजीवाधि-

करणं च । (त. भा. ६-८) ।

जहाँ पुरुषों के प्रयोजन अधिकृत अर्थात् प्रस्तुत होते हैं वह अधिकरण—द्रव्य—कहलाता है, यह अधिकरण का निश्चित लक्षण है ।

अधिकरणक्रिया—देहो आधिकरणिकी क्रिया ।

१. हिंसोपकरणादानं तथाधिकरणक्रिया ॥ (त. स्तो. ६, ५, ६) । २. अधिक्रियते येनात्मा पुनर्गति-प्रस्थानं प्रति तदधिकरणं परोपचातिकूट-गलपासाधि-द्रव्यजातम्, तद्विषयाधिकरणक्रिया । (त. भा. सिद्ध. बृ. ६-६) । ३. हिंसोपकरणाधिकृतारधिकरणक्रिया । (त. सुलबो. बृ. ६-५) । ४. अधिक्रियते स्वाप्यते नरकादिष्वात्मा ज्ञेनेत्यधिकरणमनुष्ठानविशेषो बाह्य वस्तु वा चक्र-लङ्कादि, तत्र भवा तेन वा निवृत्ता आधिकरणिकी । (प्रज्ञाप. मलय. बृ. २२-२७६); आधिकरणिकी खड्गादिप्रगुणीकरणम् । (प्रज्ञाप. मलय. बृ. २२-२८१) ।

१ हिंसा के उपकरणों को ग्रहण करना अधिकरण-क्रिया या आधिकरणिकी क्रिया कहलाती है ।

अधिकरणोदीरक (अहिगरणोदीरक)—अधिकरणोदीरकम्—क्षामिय-उवसमियाहं अहिगरणाहं पुणो उदीरेह । जो कोई तत्स वयण अहिगरणोदीरकं [गं] मणिमं । (गु. गु. षट्. स्तो. बृ. ५, पृ. १६) । जो क्षमित और उपशान्त अधिकरणों को पुनः उदीर्य करता है उसके वचन को अधिकरण-उदीरक कहा जाता है ।

अधिक-हीन-मान-तुला—मानं प्रस्थादि हस्तादि च, तुला उन्मानम्, मानं च तुला च मान-तुलम्, अधिकं च हीनं चाधिक-हीनम्, तच्च तन्मान-तुल च (अधिक-हीनमान-तुलम्) । अधिकमाने हीनमानम्, अधिकतुला हीनतुला त्वेत्यर्थः । तत्र न्यूनतः मानादिना ज्येष्ठम् ददाति, अधिकेनात्मनो वृद्धातीत्येवमादिकूटप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानमित्यर्थः । (सह. व. स्तो. टीका ४-५०) ।

नाप-तौल के पात्रों और बाटों को हीनाधिक रखना और अधिक से लेना तथा हीन से देना, यह अधिक-हीनमान का अधिक-हीन-मान-तुला नामक अतिचार है ।

अधि (अभि)गतचारित्र्याय—चारित्र्यमोहस्योपशमात् क्षयाच्च बाह्योपदेशानपेक्षा आत्मप्रज्ञादायेव चारित्रपरिणामात्मकान्धिनः उपशान्तकथायाः क्षीण-

कणवाक्पादधिगतचारित्र्याः । (त. बा. ३, ३६, २) । चारित्र्योक्तं के उपशम अथवा अथ से जो उपशान्त-कथाय अथवा शीघ्रकथाय जीव बाह्य उपदेश की अपेक्षा न कर आत्मनैर्गम्य से ही चारित्र्यपरि-याय को प्राप्त होते हैं उन्हीं अधिगतचारित्र्य कहा जाता है ।

अधिगम—१. शिक्षागमोपदेशश्रवणान्येकार्थकान्य-धिगमस्य । (अश्व. प्र. २२३) । २. अधिगमो णापमाणमिदं एगद्वो । (अथ. पु. ३, पु. ३६) । ३. अधिगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते पदार्था येन सोऽधि-गमः—ज्ञानमेवोच्यते । (आच. हरि. वृ. नि. ११५४) । ४. अधिगच्छत्यनेन तत्त्वार्थानिधिगमयत्य-नेनेति वाऽधिगमः । (त. श्लो. बा. १-१) । ५. अधिगमो हि स्वाध्यायकार्थवत्सायः । (अष्टस. २, ३६) । ६. निश्चीयते पदार्थानां लक्षणं नयभेदतः । सोऽधिगमोऽस्मिन्मन्त्रः सम्यग्ज्ञानविलोचनैः ॥ (भाषसं. भाष. ३३६) । ७. जीवाद्यर्थैरन्तरूपावधार-णमधिगमः । (त. सुल्लो. वृ. १-३) ।

३ जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं, ऐसे ज्ञान को अधिगम कहते हैं । ४ जिसके द्वारा तत्त्वार्थों को स्वयं जानता है, अथवा जिसके आश्रय से उनका शोध हुल्लो की कराया जाता है, उसे अधिगम कहते हैं ।

अधिगम या अधिगमज सम्यग्दर्शन—१. यत्परोप-देशपूर्वकं जीवाद्यधिगमनिमित्तं स्यात्तदुत्तरम् । (त. सि. १-३; त. बा. १-३) । २. अथवा, यत् सम्य-ग्दर्शनं विध्युपायजन्यसम्पर्कज्जीवादिपदार्थ-तत्त्वाधिगमापेक्षमुत्पद्यते तदधिगमसम्यग्दर्शनम् । (त. बा. १, ३, ८) । ३. अधिगमः अधिगमः आगमो निमित्तं अवर्णं शिक्षा उपदेश इत्यनर्थात्तरम् । तदेवं परोपदेशाद्यतत्त्वार्थश्रवणं भवति तदधिगम-सम्यग्दर्शनमिति । (त. भा. १-३) । ४. अधिगमा-ज्जीवादिपदार्थपरिच्छेदलक्षणात् श्रद्धानलक्षणमधि-गमसम्यक्त्वम् । (आच. हरि. वृ. नि. ११५२) । ५. परोपदेशतस्तु बाह्यनिमित्तापेक्षं कर्मोपशमादिज-मेवाधिगमसम्यग्दर्शनमिति । (त. भा. हरि. वृ. १, ३) । ६. $\times \times \times$ अधिगमस्तेन (परोपदेशेन) कृतं तदिति निश्चयः ॥ (त. श्लो. १, ३, ३) । ७. यत्पुनस्तौर्थाकराद्युपदेशे सति बाह्यनिमित्तसम्बन्ध-मुपशमादिभ्यो जायते तदधिगमसम्यग्दर्शनमिति ।

(त. भा. सिद्ध. वृ. १-३) । ८. $\times \times \times$ जिना-गमाभ्यासमयं द्वितीयम् ॥ (धर्मप. २०-६६) । ९. गुरुपदेशमालम्ब्य सर्वेषामपि देहिनाम् । यत् सम्यक् श्रद्धानं तत् स्यादधिगमजं परम् ॥ (योगशा. स्वो. विच. १-१७, पु. ११८), १०. गुरुपदेशमालम्ब्य भव्यानामिह देहिनाम् । सम्यक् श्रद्धानं तु यत्तद् भवेदधिगमोद्भवम् ॥ (त्रि. स. पु. व. १३-५६८) । ११. $\times \times \times$ तत्कृतोऽधिगमश्च सः ॥ (अन. व. २, ४८) । स तत्त्वबोध $\times \times \times$ तत्कृतस्तेन परोप-देशेन जनितः । (अन. व. स्वो. टीका २-४८) । १२. यत्पुनः परोपदेशपूर्वकं जीवाद्यर्थनिश्चयादाविर्भवति तदधिगमजम् । (त. सुल्लो. वृ. १-३) । १३. यत्सम्य-ग्दर्शनं परोपदेशेनोत्पद्यते तदधिगमजमुच्यते । (त. वृ. सुल्लो. १-३) । १४. यत्पुनश्चान्तरङ्गोऽस्मिन् सति हेतो तथाविधिः उपदेशादिप्रापेक्षं स्यादधिगमसंज्ञ-कम् ॥ लाटीसं. ३-२२) ।

१ परोपदेशपूर्वक जीवादि तत्त्वों के निश्चय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, उसे अधिगम या अधि-गमज सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

अधिराज (अहिराज)—१. पंचसयरायसामी अधि-राजो होदि किति भरिदसि । (ति. व. १-४५) ।

२. पञ्चशतनरपतीनामधिराजोऽधीश्वरो भवति लोके । (अथ. पु. १, पु. ५७ उद्भूत), ३. पंचसय-रायसामी अधिराजो $\times \times \times$ ॥ (त्रि. सा. ६८४) । पांच सौ राजाओं के स्वामी को अधिराज कहते हैं । **अधिवास**—गन्धमात्यादिभिः संस्कारविशेषः । (चंत्पथं. भा. वृ. पु. ५)

१ गन्ध व आला आदि के द्वारा किये जाने वाले संस्कारविशेष को अधिवास कहते हैं ।

अधोऽति(व्यति)क्रम—१. कृपावतरणादेरधो-ऽतिक्रमः । (त. सि. ७-३०) । २. कृपावतरणा-देरधोऽतिवृत्तिः । (त. बा. ७, ३०, ३; त. श्लो. ७-३०) । ३. कृपावतरणादेरधोऽतिक्रमः । (बा. सा. पु. ८) । ४. अधो ग्राम-भूमिगृह-कृपादेः $\times \times \times$ योऽसौ भागो नियमितः प्रदेशः तस्य व्यतिक्रमः । (योगशा. स्वो. विच. ३-६७), ५. अधो ग्राम-भूमि-गृह-कृपादेः व्यतिक्रमः । (सा. व. स्वो. टीका ५-५) । ६. अवटायवतरणमधोव्यतिक्रमः । (त. वृत्ति भूत. ७-३०) । ७. वापीकूपभूमिगृहाद्यवतरणमधोव्यति-क्रमः, अधोदिशः अतिलंबनम् अतिचारः । (कालिके.

३४२) । ८. अगाधभूधरावेवाद् विख्यातोऽधोव्य-
तिक्रमः । (साटीसं. ६-११८) ।

१. भूध व आधकी आदि में नीचे उतरने की स्वीकृत
सीमा के उल्लंघन को अधोतिक्रम कहते हैं ।

अधोदिम्बत—१. अधोदिक्परिमाण अधोदिम्बतम् ।
(भा. प्र. टी. २८०) । २. अधोदिक् तत्सम्बन्धि
तस्यां वा व्रतं अधोदिम्बतम् अर्वादिम्बतम्, एतावती
दिग्ध इन्द्रकूपाद्यवतरणादवगाहनीया, न परत इत्येवं
भूतमिति हृदयम् । (आच. वृ. ६, पृ. ८२७) ।

१. अधोविज्ञा सम्बन्धी कुपे आदि में गमनागमन के
परिमाण को अधोदिम्बत कहते हैं ।

अधोलोक—१. हेट्टिमलोयायारो वेत्तासणसणिहो
सहावेण । (ति. प. १-१३७) । २. वेत्तासणसणि-
सो च्चिय अहलो गो वेव होइ नायवो । (पडमच.
३-१६) । ३. तत्र छव्वी नाम विस्तीर्णा पुण्णज्जोरी,
तदाकारोऽधोलोकः । (आच. वृ. टि. मल. हेम. पृ.
६४) । ४. मंदरमूलादो हेट्टा अधोलो गो । (अच. वृ.
४, पृ. ६) ।

१. पुष्पाकार लोक में नीचे का भाग, जो वेत्तासन
सदृश है, उसे अधोलोक कहते हैं ।

अधोव्यतिक्रम—देखो अधोतिक्रम ।

अध्यविरोध, अध्यवधिरोध (अज्जोवज्ज)—
देखो अध्यवपूरक । १. जलतन्दुलपक्षेवो दाण्डुं
संजदाण सयपणे । अज्जोवज्जं णेयं अहवा पागं
तु जाव रोहो वा ॥ (मूला. ६-८) । २. तन्दु-
लाम्बविकसेपः स्वार्थं पाके यतीन् प्रति । स्यादध्य-
वधिरोधो वा पाकान्तं तत्तत्पत्तिनाम् ॥ (आच.
सा. ८-२४) । ३. स्याद्दोषोऽध्यविरोधो यत् स्व-
पाके यतिवत्तये । प्रलोपस्तण्डुलादीना रोधो वा ऽऽपा-
चनाद्यतेः ॥ (अन. व. ५-८) । ४. अयाध्यवधिनाम
दोषो द्वितीय उच्यते यतीनाम्—पाके क्रियमाण
आत्मन्यागते च सति तत्र पाके तन्दुला अम्बु चाधिकं
क्षिप्यते सोऽध्यवधिर्दोष उच्यते । अथवा यावत्कालं
पाको न भवति तावत्कालं तपस्विनां रोधः क्रियते,
सोऽध्यवधिर्दोषः उत्पद्यते । (भा. प्रा. टीका ६६) ।
५. अपवरकं संयतानां भवत्विति विकृतं अज्जो-
वज्जं । (कार्तिके. ४४६) ।

१. अकस्मात् प्रतिधि के आ जाने पर अपने लिए
पकाई जाने वाली भोज्यसामग्री में और भी जल व
चाबलादि के मिलावे को अध्यविरोध कहते हैं ।

अथवा रतोई तैवार होने तक साधु को चर्बा खादि
करके रोके रहना भी अध्यविरोध कहलाता है ।

अध्ययन (अज्जमयण)—१. जेण सुहृत्पण्ययणं
अज्जमयणयणमहियमयणं वा । बोहस्स संजमस्स व
मोक्खस्स व जं तमज्जमयणं ॥ (विश्वे. भा. ६६३) ।
२. अधिगम्यंति व अत्था अणेण अधियं व णयण-
मिच्छति । अधियं व साहु गच्छति तम्हा अज्जमयण-
मिच्छति ॥ (अभि. रा. १, पृ. २३१) ।

१ जो श्रुत (निर्वल) अध्यात्म (चित्त) को उत्पन्न
करता है वह अध्ययन है । अथवा जो अध्यात्मको
—निर्वल चित्तवृत्ति को—जाता है उसका नाम
अध्ययन है । अथवा जिसके द्वारा बोध, संयम और
मोक्ष की प्राप्ति होती है उसे अध्ययन जानना
चाहिए । यह अध्ययन का निश्चित लक्षण है ।

अध्यवपूरक—देखो अध्यविरोध । १. अध्यवपूरकं
स्वार्थमूलाद्रहणप्रलोपकम् । (शशब. हरि. वृ. ५,
५५) । २. यद् दृष्टिणा मूलारम्भे स्वार्थकृते तन्मध्ये
यतिनिमित्तमधिकान्वतारणं सोऽध्यवपूरकः । (वृ. वृ.
वट्. स्वो. वृ. २०, पृ. ४६) । ३. स्वार्थमधिभय-
णादौ कृते पश्चात्तनुलादिप्रलोपणादध्यवपूरकः ।
(आच. श्री. वृ. २, १, २६६) । ४. स्वार्थमधि-
भयणे सति साधुसमागमश्रवणात्तदर्थं पुनर्वां बान्धा-
दिबाधः सोऽध्यवपूरकः । (योगशा. स्वो. विव. १,
३८) । ५. दृष्टिः स्वार्थमनिज्जालनाद्याद्रहणदा-
नान्ते आरम्भे कृते सति पश्चात् स्वार्थकल्पितं
तन्दुलमध्ये कर्पटिकार्थं तन्दुलादीनां माणकं संकल्पितं
प्रसिध्य राध्णोति यदा तदध्यवपूरकः । (जीतक. वृ.
वि. व्या. पृ. ४६) ।

४ अपने लिए बनाये जाने वाले भोजन में साधु का
भागमन सुन कर उनके निमित्त कुछ और अधिक
अन्न के मिला देने को अध्यवपूरक कहते हैं ।

अध्यवसान—१. स्व-परयोरविवेके सति जीवस्वा-
ध्यवसितिमात्रमध्यवसानम् । (समयप्र. अनुत्त. वृ.
२६५) । २. अध्यवसानं राग-स्नेह-अयात्मकोऽध्यव-
सायः । (स्थाना. अमय. वृ. ७-५६१, पृ. ३७६) ।
३. अतिहर्ष-विषादाभ्यामधिकमवसानं चिन्तनमध्यव-
सानम् । (विश्वे.—अभि. रा. १, पृ. २३२); मण-
संकेपेति वा अज्जमवसाणं ति वा एवट्टा । (अभि.
रा. भा. १, पृ. २३२) ।

१ स्व और पर के विवेक के बिना केवल जीव का निश्चय होने को अध्यवसान कहते हैं । ३ अर्थ—अतिशय दुर्ब-विचारते को अधिक—अवसान चिन्तन होता है उसका नाम अध्यवसान है । वह अध्यवसान का निष्फल लक्षण है । मन का संकल्प और अध्यवसान ये दोनों समानार्थक हैं ।

अध्यात्म—१. यत्तमोहाभिकाराणांमात्मानमधिकृत्य वा । प्रवर्तते क्रिया शुद्धा तदध्यात्मं जगुजिनाः ॥ (अध्या. सा. २-२) । २. आत्मानमधिकृत्य स्याद्यः पञ्चाचारचारिमा । शब्दयोगार्थनिपुणास्तदध्यात्मं प्रचक्षते ॥ (अध्यात्मो. १-२) ।

१ निर्मोह अवस्था में आत्मा को अधिकृत करने को शुद्ध क्रिया प्रवर्तित होती है उसका नाम अध्यात्म है ।

अध्यात्मक्रिया—१ कोकूणसाधोरिव यदि सुताः सप्रतिशेजवल्लराणि ज्वलयन्ति, तदा अभ्यमित्यादि चिन्तनमध्यात्मक्रिया । (धर्मसं. भा. स्वो. वृ. ३, २७, पृ. ६२) । २. अध्यात्मक्रिया चित्तकलमलकरूपा । (गृ. नृ. व. वृत्ति पृ. ४१) ।

२ चित्त की कलमलक रूप क्रिया का नाम अध्यात्मक्रिया है ।

अध्यात्ममयी क्रिया—अपुनर्वन्धकाद्यावद् गुणस्थानं षट्पदसम् । कमशुद्धिमती तावत् क्रियाऽध्यात्ममयी मता ॥ (अध्या. सा. २-४) ।

अपुनर्वन्धक—किर से उत्कृष्ट बन्ध न करने वाले—गुणस्थान से लेकर औबहर्षे गुणस्थान तक क्रमशः बढ़ने वाली विमुक्तिरूप क्रिया को अध्यात्ममयी क्रिया कहते हैं ।

अध्यात्मयोग—१. आत्ममनोमहत्त्वसमतायोग-लक्षणो । ह्यध्यात्मयोगः $\times \times \times$ ॥ (भास्ति. ६-१) । २. तत्र धनादिपरिभाषं प्रीत्यधिकभावरमणीयताधर्मत्वेन निर्धार्यं तत्पुष्टिहेतुक्रियां कुर्वन् धर्मसं धर्मवृत्त्या इच्छन् प्रयुक्तः स एव निरामयः निःसङ्गशुद्धात्मभावनाभावितान्तःकरणस्य स्वभाव एव धर्म इति योगवृत्त्या अध्यात्मयोगः । (ज्ञानसार पृ. ६-१, पृ. २२) ।

१ आत्मा, मन और बाह्य के एक रूप समायोज को अध्यात्मयोग कहते हैं ।

अध्यात्मविद्या—अधिकमधिकृतं वाऽविच्छिन्नं वा न. ६

यथात्म्यविगमयनितं वा निस्तरङ्गान्तरङ्गम् । निर-
वधि निरवधं वेदयं मुक्तिहेतुः स्फुटघटितनिरुक्तिः
सैवमध्यात्मविद्या ॥ (भास्त्रप्र. ४८) ।

आत्मविषयक ज्ञान से जो संकल्प-विकल्प से रहित निर्मल अन्तरङ्ग होता है, यही अध्यात्मविद्या है । अध्यात्मवैरिणी क्रिया—आहारोपधिपूजादिगौरव-प्रतिबन्धतः । अवाभिनन्दी यां कुर्यात् क्रियां साऽ-
ध्यात्मवैरिणी ॥ (अध्यात्मसार २-५) ।

अपने संसार को बुद्धिगत करने वाले जीव के द्वारा आहार, परिग्रह, पूजा व श्रद्धा-नौरव आदि से सम्बद्ध जो क्रिया की जाती है वह अध्यात्मवैरिणी कहो जाती है ।

अध्यापकवर्णजनन—देखो उपाध्यायवर्णजनन ।

१. अधिगतश्रुतार्थयाथातथ्यावाक्यवाचकानुरूपव्याख्यानाः निरस्तनिद्रा-तन्द्रा-प्रमादाः सुचरिताः सु-
शीलाः सुमेधसः इत्यध्यापकवर्णजननम् । (भ. धा. विप्रबो. टी. १-४७) । २. उपेत्य विनयेन कौकित्वा
ऽधीयते श्रुतमेतेभ्य इति उपाध्यायाः । प्रबुद्धजिना-
गमार्थयाथातथ्याः सुचरितपूजामणयः बहुशर्कीनुर-
क्षोतस्विनीनदीष्णमतयो निरस्तनिद्रा-तन्द्रा-प्रमादाः
सुमेधसः शिष्यमेवानुरूपव्याख्याना इत्यध्यापक-
वर्णजननम् । (भ. धा. जूला. टी. ४७) ।

पठित श्रुत के अर्थ का अर्थार्थ वाच्य-वाचक-भावके अनुसार व्याख्यान करने वाले अध्यापक—उपाध्याय—निद्रा, आलस्य व प्रमाद से रहित होते हुए अपने पर के योग्य उत्तर आचरण करनेवाले व निर्मल बुद्धि के धारक होते हैं । इस प्रकार अध्यापकों की स्तुति करने का नाम अध्यापकवर्णजनन है ।

अध्येषणा—१. अध्येषणीये प्रयोजनपुरनुग्रहोक्तिकाध्ये-
षणा । (भास्त्रवा.टी. ३-३) । २. अध्येषणा सत्कार-
पूर्वो व्यापारः । (अष्टस. बसो. पृ. ३, पृ. ५८) ।
२ सत्कार-पूर्वक किये जाने वाले व्यापार को अध्ये-
षणा कहते हैं ।

अध्रुव प्रत्यय—देखो अध्रुवावग्रह । स एवायमह-
मेव स इति प्रत्ययो ध्रुवः, तत्प्रतिपक्षः प्रत्ययः
अध्रुवः । (बच. पु. ६, पृ. १५४); विद्युत्तदीप-
ज्वालादी उत्पाद-विनाशविशिष्टवस्तुप्रत्ययः अध्रुवः ।
उत्पाद-अवध-प्रोम्बाविशिष्टवस्तुप्रत्ययोऽपि अध्रुवः,
द्रुवात् पृथग्भूतत्वात् । (बच. पु. १३, पृ. २३६) ।

कभी बहुत पदार्थों का तो कभी स्तोक पदार्थ का, अथवा कभी बहुत प्रकारके पदार्थ का तो कभी एक प्रकारके पदार्थ का, इस प्रकार हीनाधिकरूप से जो पदार्थ का अवग्रह होता है उसे अध्रुवप्रत्यय या अध्रुवावग्रह कहते हैं ।

अध्रुव बन्ध—१. कालान्तरे व्यवच्छेदभागध्रुवः । (पञ्चसं. मलय. वृ. ५-२३) । २. यः पुनरायत्यां कदाचिद् व्यवच्छेदं प्राप्स्यति स भव्यसम्बन्धी बन्धोऽध्रुवः । (शातक. मल. हेम. टी. ३६, पृ. ५२) । जिस बन्ध की छालानी काल में कभी व्युच्छिन्ति होती ऐसे भव्य जीवों के कर्मबन्ध को अध्रुव बन्ध कहते हैं ।

अध्रुवबन्धिनो—१. निजबन्धहेतुसम्भवेऽपि भजनीयवन्मा अध्रुवबन्धिन्यः । (कर्मप्र. मलय. वृ. पृ. ८) । २. यासां च निजहेतुसद्भावेऽपि नावश्यम्भावी बन्धस्ता अध्रुवबन्धिन्यः । (शातक. वे. स्मो. टी. १) । बन्धकारणों का सद्भाव होने पर भी जिन प्रकृतियों का कदाचित् बन्ध होता है और कदाचित् नहीं भी होता है, उन्हें अध्रुवबन्धिनो कहते हैं ।

अध्रुवसत्कर्म, अध्रुवसत्ताक—१. यत् कदाचित्कभावि तदध्रुवसत्कर्म । (पञ्चसं. स्मो. वृ. ३-५५) । २. यत् पुनरवाप्तगुणानामपि कदाचिद् भवति, कदाचिन्, तदध्रुवसत्कर्म । (पञ्चसं. मलय. वृ. ३-५५) । ३. यास्तु कदाचित्कभाविन्यस्ता अध्रुवसत्ताकाः । (शातक. वे. स्मो. टी. भा. १) । ४. कदाचिद् भवन्ति कदाचिन् भवन्तीत्येवमनियता सत्ता यासां ता अध्रुवसत्ताकाः । (कर्मप्र. यशो. टीका भा. १) । २ विवक्षित कर्मप्रकृतियों का जो सत्कर्म उत्तर-घुणों के प्राप्त होने पर भी कदाचित् होता है और कदाचित् नहीं भी होता है वह अध्रुव सत्कर्म कहलाता है । ४ जिनकी सत्ता अनियत हो—कभी पाई जावे और कभी न पाई जावे—ऐसी कर्म-प्रकृतियों को अध्रुवसत्कर्म या अध्रुवसत्ताक कहते हैं ।

अध्रुवानुप्रेक्षा—लोगो विलीयदि इमो फणो व सदेव-माणुस तिरिक्खो । रिडोमो सन्धामो सिविणय-संदंणसमामो ॥ (म. भा. १७१६) ।

यह अनुपनिष्क लोक अलफेन या बुद्ध के समान वेकते-वेकते ही विनय को प्राप्त हो जाता है और ये आंतरिक श्रद्धियां स्वयं में वेकें हुए राक्षसों के

समान विलीन हो जाती हैं, ऐसा चिन्तन करना अध्रुवानुप्रेक्षा है ।

अध्रुवावग्रह—१. कदाचिद् बहूनां कदाचिदल्पस्य कदाचिद् बहुविषयस्य कदाचिदेकविषयस्य वेति न्यूनाधिकमावादध्रुवावग्रहः । (स. सि. १-१६) । २. पौनःपुन्येन संक्लेश-विसृष्टिपरिणामकारणापेक्ष-स्यात्मनो यवानुरूपपरिणामोपासश्रोत्रेन्द्रियसान्निध्येऽपि तदावरणस्येवदीवदाविभवात् पौनःपुनिकं प्रकृष्टावकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणादिकयोपशमपरिणतत्वाच्चाध्रुवमवगृह्णाति $\times \times \times$ । (स. भा. १, १६, १६) । ३. न सोऽप्यमित्याद्यध्रुवावग्रहः । (अव. पु. १, पृ. ३५७); तत्त्ववरीय-(अणिन्वस्ता) गहनमद्भवाव-गाहो । (अव. पु. ६, पृ. २१) । ४. विद्युदावेरि-त्यस्तेनान्वितस्याध्रुवो ग्रहः । (आभा. सा. ४-२६) । ५. तद्विपरीत-(अययार्थग्रहण)-लक्षणः पुनरध्रुवाव-ग्रहः । (स. सुखो. वृ. १-१६) ।

१ कभी बहुत पदार्थों का तो कभी स्तोक पदार्थ का, अथवा कभी बहुत प्रकारके पदार्थ का तो कभी एक ही प्रकारके पदार्थ का; इस प्रकार हीनाधिकरूप जो पदार्थ का अवग्रह होता है उसे अध्रुवावग्रह कहते हैं ।

अध्रुवोदय—१. बोच्छिण्णो वि ह्म सभवइ जाण अधुवोदया ताम्भो । (पञ्चसं. भा. ३-१५६, पृ. ४८); यासां तु व्यवच्छिन्नोऽपि विनाशमुपगतोऽपि (उदयो) भूयः प्रादुर्भवति तथाविधहेतुसम्बन्धं प्राप्य ता अध्रुवोदयाख्याः । (पञ्चसं. स्मो. वृ. ३-३८) । २. यासां पुनः प्रकृतीनां व्यवच्छिन्नोऽपि विनाशमुपगतोऽपि, ह्म निश्चितं, तथाविधद्रव्यादिसामग्रीवि-शेषरूपं हेतु सम्प्राप्य भूयोऽप्युदय उपजायते ता अध्रुवोदयाः सातवेदनीयादयः । (पञ्चसं. मलय. वृ. ३-३८) । ३. $\times \times \times \times$ एषसमयादिप्रतोमु-हृतमेतकालावद्वागसेव अध्रुवोदयविवक्षतादो । (संतकम्मपंजिवा—अव. पु. १५, पृ. २४) ।

२ उदय व्युच्छिन्ति हो जाने पर भी द्रव्यादि सामग्रीविशेष के निमित्त से जिनका उदय पुनः सम्भव है ऐसी सातावेदनीयादि प्रकृतियों को अध्रुवोदय कहते हैं ।

अध्रुवर्तु—पंडितानामुदारात्मा यः प्रभुर्भवनवि-जान् । सोऽध्रुवर्तिरुह बोद्धव्यः शिवसामधिरोद्धुरः ॥ (उपासका. ८८३) ।

जो महापुरुष तीर्थंकर प्रकृति की बन्धक बोध-कारणभावनाक्य श्रुतिवर्णों का—भाषकों का—प्रभु होकर मोक्षपुरुषक्य यम के बोध का भारक हो उसे अन्वर्थ जानना चाहिए।

अनक्षरगता भाषा—अनक्षरगता अनक्षरात्मिका द्वीन्द्रियाद्यसंज्ञिपंचेन्द्रियपर्यन्तानां जीवानां स्व-स्वसंकेतप्रदर्शिका भाषा। (नो. जी. म. प्र. ब जी प्र. टीका २२६)।

द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों की जो अपने अपने संकेत को प्रगट करने वाली भाषा है उसे अनक्षरगता भाषा कहते हैं।

अनक्षरभूत—से कि तं अनक्षरसुर्यं? अनक्षरसुर्यं अनेकविधं पण्णत्। तं जहा—ऊससिय णीससियं णिच्छूदं लासियं च छीयं च। णिस्सिधियमणुसारं अनक्षरं छेलियाईयं। से त अनक्षरसुर्यं। (नन्दी. सू. ३८, पृ. १८७; आश. नि. २०)।

उच्छ्वसित, निःश्वासित, निष्पन्न (पूक), कासित या काशित (छींक), छींक, निस्सिधिय (अव्यक्त शब्द), अनुस्वार के समान उच्चारण की जाने वाली हुंकार आदि ध्वनि और छेलिय (सेप्टित—धीकार); इत्यादि तब संकेतविशेष होने से अनक्षरभूतस्वरूप हैं।

अनक्षरात्मक शब्द—१. अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादीनामतिशयज्ञानस्वरूपप्रतिपादनहेतुः। (स. सि. ५, २४)। २. अवर्णितको द्वीन्द्रियादीनाम्, अतिशय-ज्ञानस्वरूपप्रतिपादनहेतुवचः। (स. बा. ५, २४, ३)।

३. बालादिसंशयसंशयमिवागनक्षरवागमिः। (आशा. सा. ५-६०)। ४. अनक्षरः शब्दो द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियानां प्राणिना ज्ञानातिशयस्वभावकचनप्रत्ययः। (स. वृत्ति भूत. ५-२४)। ५. अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादिशब्दरूपो दिव्यध्वनिरूपवचः। (पंचा. का. जय. बृ. ७६)।

द्वीन्द्रियादि असंज्ञी प्राणिन्यो का जो तब ध्वनिशय ज्ञानस्वरूप के प्रतिपादन का कारण होता है उसे अनक्षरात्मक शब्द कहते हैं।

अनगार—१. न विद्यतेऽगारमस्येत्यनगारः। × × × आरिजमोहोदये सत्यगारसम्बन्धं प्रत्यनिवृत्तः परिणामो भावागारमित्युच्यते। (स. सि. ७-१६; स. बा. ७, १६, १; स. वृ. भूत. ७-१६)। २. अगारः वृक्षाः, तैः कृतमगारम्, नास्य अगारं विद्यते इत्य-

नगारः। (उत्तरा. बृ. ६२, ६७, पृ. ६१)। ३. न यच्छन्तीत्यगारः वृक्षास्तैः कृतमगारं गृहम्। नास्यागारं विद्यते इत्यनगारः परित्यक्तद्रव्य-भावगृह इत्यर्थः। (नन्दी. हरि. बृ. पृ. ३१)। ४. अगारं गृहम्, तद्येषां विद्यते इति अगाराः गृहस्थाः, न अगारा अनगाराः। (इमावै. हरि. बृ. नि. १-६०)। ५. अगारं गृहम्, न विद्यते अगारं यस्मात्ताननगारः, परित्यक्तद्रव्य-भावगृह इत्यर्थः। (नन्दी. मलय. बृ. सू. ६, पृ. ८१ सुप्र. मलय. बृ. ३; जीवाजी. मलय. बृ. ३, २, १०३)। ६. न विद्यते अगारमस्येत्यनगारः। (स. इलो. ७-१६)। ७. निवृत्तरागभावो यः सोऽनगारो गृहोदितः। (ह. पु. ५-१३७)। ८. महाव्रतोऽनगारः स्यात् × × ×। (स. सा. ४, ७६)। ९. अनगाराः सामान्यसाधवः। (आ. सा. पृ. २२)। १०. योजनीहो देहमेहेऽपि सोऽनगारः सतां मतः। (उपासका. ८६२)। ११. गानमात्र-धना पूर्वं सर्वसाधवर्जिताः। (स. बृ. ७-१६)। १२. पूर्वं (अनगाराः) साधवर्जिताः। (जी. च. ७-१३)। १३. नास्यागारं गृहं विद्यते इत्यनगारः। (अन्वृद्धी. शास्ति. बृ. २, पृ. १४)।

१ भावागार का स्थानी महाव्रती अनगार कहा जाता है। आरिजमोह का उदय रहने पर जो गृह-निवृत्ति के प्रति परिणति नहीं होती है, इसका नाम भावागार है।

अनङ्गक्रीडा—१. अङ्गं प्रजननं योगिश्च, ततोऽन्यथ क्रीडा अनङ्गक्रीडा। (स. सि. ७-२८)। २. अनङ्गेषु क्रीडा अनङ्गक्रीडा ॥३॥ अग प्रजननं योगिश्च ततोऽन्यथ क्रीडा अनङ्गक्रीडा। अनेकविधप्रजनन-विकारेण जघनादप्यथ चाङ्गे रतिरित्यर्थः। (स. बा. ७, २८, ३)। ३. अनङ्गक्रीडा नाम कुच-कलोरु-वदनान्तरक्रीडा, तीव्रकाममिलापेण वा परिसमाप्त-सुरतस्याप्याहार्यः - स्तूलकादिभिर्योषिदवाच्यप्रवेश-सेवनमिति। (आ. प्र. टी. २७३)। ४. अनङ्गः कामः कर्मोदयात् पुनः स्त्री-नपुंसक-पुरुषासेवनेच्छा हस्तकर्मोदच्छा वा, योषितोऽपि योषित-पुरुषासेवनेच्छा हस्तकर्मोदच्छा वा; नपुंसकस्य पुरुष-स्त्रीसेवनेच्छा हस्तकर्मोदच्छा वा; स एवविधोऽभिप्रायो मोहोदयादुद्भूतः काम उच्यते। नान्यः कश्चित् कामः। तेन तत्र क्रीडा रमणमनङ्गक्रीडा। आहार्यः काष्ठ-पुस्त-फल-मृत्तिका-चर्मोदितप्रजननैः कृत-

कृतोऽपि स्वर्गलगेन भूयः मृदनात्येवावाच्यप्रवेशं योषि-
ताय, तथा केषाकर्षण-प्रहारदान-वन्त-नसकदर्शना-
प्रहारैर्बोद्धनीयकथविज्ञात् किल श्रीवति तथाप्रकारं
कथी । सर्वेवायनङ्गकीडा बसवति रात्रे प्रसूयते ।
(स. सु. हरि. बु. ७-२३; योगशा. स्त्रो. विच. ३-६४) । ५. अङ्गं लिङ्गं योनिरच, तयोरन्यत्र
मुखादिप्रवेशे कीडाजङ्गकीडा । (रत्नक. टी. २, १४) । ६. अङ्गं प्रजननं योनिरच, ततो जघनादव्या-
नेकविधप्रजननविकारेण रतिरनङ्गकीडा । (भा. सा. ५. ७) । ७. अनङ्गानि कुच-कक्षोर-वदनादीनि,
तेषु क्रीडनं अनङ्गकीडा । योनि-मेहनयोरन्यत्र
रमणम् । (पंचा. विच. ३) । ८. अङ्गं देहावयवो-
ऽपि मैयुनापेक्षया योनिर्महत्त्वं वा, तद्व्यतिरिक्तानि
अनङ्गानि कुच-कक्षोर-वदनादीनि, तेषु क्रीडा रमणं
अनङ्गकीडा । अथवा अनङ्गः कामः, तस्य तेन वा
क्रीडा अनङ्गकीडा । स्थलिङ्गेन निष्पन्नप्रयोजनस्या-
हार्थेऽवयवविषयितप्रजननवैयर्थ्यदवाच्यप्रवेशासेवनम् ।
(धर्मवि. बु. ३-२६, ५. ३६) । ९. अङ्गं साधनं
देहावयवो वा, तच्चेह मैयुनापेक्षया योनिर्महत्त्वं च,
ततोऽन्यत्र मुखादिप्रवेशे रतिः । यतएव चर्मादिमयै-
र्लिवैः स्थलिङ्गेन कृतार्थोऽपि स्त्रीणामवाच्यप्रवेशं
पुनः पुनः कुत्राति, केषाकर्षणादिना वा क्रीडन् प्रबल-
रागमुत्पादयति, सोऽन्यनङ्गकीडोच्यते । (सा. व. ४-५८) । १०. अङ्गं स्मरमन्दिरं स्मर-
लता च, ताम्यामन्यत्र कर-कक्षा-कुचादिप्रवेशेषु
क्रीडनमनङ्गकीडा । अनङ्गाभ्यां क्रीडा अनङ्गकीडा ।
(स. बु. भुत. ७-२८) । ११. दोषस्थानं गक्रीडा-
ख्यः स्वप्नादौ शुक्तिव्युत्तिः । विनापि कामिनी-
सङ्गात् क्रिया वा कुत्सितोदित्वा ॥ (साद्रीसं. ६, ७७) । १२. अङ्गं योनिलिङ्गं च, ताम्यां योनि-
लिङ्गाभ्यां विना कर-कुक्ष-कुचादिप्रवेशेषु क्रीडनम-
नङ्गकीडा । (कातिके. टी. ३३७-३८) ।

१ कामसेवनं के अङ्गों (प्रजनन और योनि) के
प्रतिरिक्त अन्य अङ्गों से कामक्रीडा करने को
अनङ्गक्रीडा कहते हैं ।

अनङ्गप्रविष्ट—१. अनङ्गप्रविष्ट तु स्वविरक्त
भावश्चकादि । (भाष. हरि. बु. २०) । २. यत्
पुनः स्वविरंभं ब्राह्मस्वामिप्रभृतिभिराचार्यैर्यनिबद्धं
तदनङ्गप्रविष्टम्, तच्चावश्यकनिर्युक्त्यादि । (भाष.
मलय. बु. लि. २०) । ३. शेषं प्रकीर्णकाद्यनङ्ग-

प्रविष्टम् । (कर्मस्त. गोवि. टी. ६-१०, ५. ८१) ।
२ जो आपन साहित्य स्वविरों—अप्रवाह्य आदि
आचार्यों—द्वारा रचित है वह अनंगप्रविष्ट माना
जाता है । जैसे—आवश्यकनिर्युक्ति आदि ।

अनङ्गभुत—सामाह्यं चरवीसत्यधी बंधनं पङ्क्ति-
कमणं वेचद्वयं किदियम् दसवेयासियं उत्तरज्ज-
यणं कप्पववहारो कप्पाकप्पियं महाकप्पियं पुंडरीयं
महापुंडरीयं गिसिहियमिदि चोदसविहमणंगसुणं ।
(अब. पु. ६, ५. १८८) ।

सामायिक च अतुविप्रतिस्तस्य आदि जोह अनंगभुत
के अन्तर्गत माने जाते हैं ।

अनतिचार—१. आत्यन्तिको भुसमप्रमादोऽनति-
चारः । (स. भा. ६-२३) । २. अनतिचार उच्यते
—अतिचरणमतिचारः स्वकीयागमातिक्रमः, नाति-
चारोऽनतिचारः, उत्सर्गापवादात्मकसर्वज्ञप्रणीतसि-
द्धान्तानुसारितया शील-व्रतविषयमनुष्ठानमित्यर्थः ।
(स. भा. सिद्ध. बु. ६-२३) ।

अनाह के आत्यन्तिक अभाव को अनतिचार
कहते हैं ।

अनध्यवसाय—१. 'इदमेव वेवेति' निच्छयाभावा
अनध्यवसायो । (अब. पु. ७, ५. ८६) । २. विशि-
ष्टस्य विशेषाणामस्य च स्वेन वेदनम् । गच्छतस्तुण-
संस्पर्शं इवानध्यास इष्यते ॥ (श्रीलक्ष्. ७) ।

३. किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः । यथा गच्छ-
तस्तुणस्पर्शज्ञानम् । (प्र. न. त. १, १३-१४; न्यायबी.
पु. ६) । ४. अनध्यवसायः क्वचिदप्यर्थे बोधस्याप्र-
वृत्तिः । (उपवेश. बु. ११८) । ५. इदं किमप्यस्तीति
निर्धाररहितविचारजेत्यनध्यवसायः । (धर्मवि. बु.
१-३८, ५. ११) । ६. विशेषानुल्लेखनध्यवसायः ।
(प्र. श्री. १, १, ६) । ७. दूरान्धकारादिवशादसा-

धारणचमर्गमर्शरहितः प्रत्ययोऽनिश्चयत्वात्प्रकारान-
ध्यवसायः । (प्र. श्री. टी. १, १, ६) । ८. अस्पृष्ट-
विशेषं किमिदं लोकेनोत्पद्यमानं ज्ञानमात्रमनध्यव-
सायः । (रत्नाकर. टी. १-१३) ।

३ 'यह क्या है' इस प्रकारके अनिश्वात्मक ज्ञान को
अनध्यवसाय कहते हैं । जैसे—मार्ग में चलते हुए
पुच्छ को तुणस्पर्शादि के विषय में होने वाला अनि-
श्वात्मक ज्ञान ।

अनुगामी अवधि—१. कश्चिन्नानुगच्छति तत्रैवा-
तिपतति उन्मुखप्रसारादेशिपुरुषचमनवत् । (स. सि.

१-२२; त. बा. १, २२, ४) । २. विबुद्धधनन्वया-
देशोज्ज्वलायामी च कस्यचित् । (त. बलो. १, २२,
१२) । ३. इयरो य भाणुगच्छह्म ठियपईवो ब्व गच्छ-
तं । (विशेषा. गा. ७१८) । ४. जं त्थणुगामी
णाम भोहिणणं तं तिबिहं—सेत्ताणुगामी, भवा-
णुगामी सेत्त-भवाणुगामी चेदि । जं सेत्तं तरं ण
गच्छदि भवतं तरं चेव गच्छदि तं सेत्ताणुगामी ति
भण्णदि । जं भवतं तरं ण गच्छदि, सेत्तं तरं चेव
गच्छदि, तं भवाणुगामी णाम । जं सेत्तं तरं भवा-
तराणि च ण गच्छदि, एकमिह चेव सेत्ते भवे च
पडिबद्धं तं सेत्त-भवाणुगामि ति भण्णदि । (बब. पु.
१३, पृ. २६४-६५) । ५. यत्थेने तु समुत्पन्नं यत्त-
नैवावबोधकत्वं । द्वितीयमवधिज्ञानं तच्छुद्धलितदीप-
वत् ॥ (लोकोप्र. ३-८४०) । ६. यत्तु तद्दशस्वत्यैव
भवति स्थानस्थदीपवत्, देशान्तरगतस्य त्वपैति तद-
नुगामीति । (कर्मस्त. गो. टीका गा. ६-१०) ।
७. यदवधिज्ञानं त्वस्यामिन जीवं नानुगच्छति तद-
नुगामि । (गो. जी. जी. प्र. ३७२) । ८. यस्तु
विशुद्धैरननुगमनान् गच्छन्तमनुगच्छति । किं तर्हि ?
तत्रैवाभिपत्ति, शून्यहृदयपुरुषादिष्टप्रत्यवचनवत् सो-
ज्ज्वलायामी । (त. बुल्लो. वृ. १-२२) । ९. कदिच-
दवधिर्नवानुगच्छति, तत्रैवाभिपत्ति, विवेकपराङ्-
मुलस्य प्रथमे सति प्रादेष्टुपुरुषवचनं यथा तत्रैवाभि-
पत्ति, न तेनाग्रे प्रवर्तते । (त. वृ. भूत. १-२२) ।
१ जो अवधिज्ञानं मूलं पुण्य के प्रज्ञ के उत्तर में
आवेश देने वाले वचन के समान क्षेत्रान्तर या भवा-
न्तर में अपने स्वामी के साथ नहीं जाता है उसे
अननुगामी अवधि कहते हैं ।
अनन्त—अन्तो विनाशः, न विद्यते अन्तो विनाशो
यस्य तदनन्तम् । (बब. पु. ३, पृ. १५); जो
(रासी) पुण ण समप्यइ सो रासी अणतो । (बब.
पु. ३, पृ. २६७); तदो(प्रसंखेज्जादो) उवरि जं
केवसणायस्तेव विसओ तमणंतं णाम । (बब. पु. ३,
पृ. २६८); सो अणतो बुच्छदि, जो संखेज्जासंखेज्ज-
रासिअए संते अणतेण वि कालेण ण णिद्वादि ।
वुत्तं च—संते वए ण णिद्वादि काले णाणंतएण वि ।
जो रासी सो अणतो ति णिद्दिहो महेसिणा ॥ (बब.
पु. ४, पृ. ३३८); जासि संखणमायविरहिमाणं
संखेज्जासंखेज्जेहि वइज्जमाणानं पि वोच्छेदो ण
होदि, तासिमणंतमिदि सण्णा । (बब. पु. ४, पृ.

३६४); सो रासी अणतो उच्चइ जो संते वि वए ण
णिद्वादि । (बब. पु. ४, पृ. ४७८) ।
आय-रहित और निरन्तर अव्यय-सहित होने पर भी
जो रासि कभी समाप्त न हो, उसे अनन्त कहते हैं ।
अथवा जो रासि एक मात्र केवलज्ञान की ही विषय
हो वह अनन्त है ।
अनन्तकाय—देखो अनन्तजीव । अनन्तकायाश्च
स्नुही-मुद्बुद्धादयः ये छिन्ना भिन्नाश्च प्रारोहन्ति,
एकस्य यच्छरीरं तदेवानन्तानन्तानां साधारणाहार-
प्राणत्वात् साधारणानाम्, × × × अनन्तः साधारणः
कायो येषां तेऽनन्तकायाः । (मूला. वृ. ५-१६) ।
जिन अनन्त जीवों का एक साधारण शरीर हो तथा
जो अपने मूल और जो शरीरसे छिन्न-भिन्न होने
पर भी पुनः उभ्र जाते हैं ऐसे स्नुही (बूबर) मुद्बुद्धी
(गुरबेल) आदि अनन्तकाय कहलाते हैं ।
अनन्तकायिक—देखो अनन्तकाय । अनन्तजीव-
रूपक्षितः कायो येषां ते अनन्तकाया मूलादिप्रभवा
वनस्पतिकायिकाः । (सा. व. स्को. टी. ५-१७) ।
जिनका शरीर अनन्त जीवों से उपलक्षित हो ऐसे
मूल, अग्र एवं पोर आदि से उत्पन्न होने वाले वन-
स्पतिकायिक जीवों को अनन्तकायिक कहा जाता है ।
अनन्तजित्—१. अनन्तदोषाशयविग्रहो ग्रहो विचंग-
वान् मोहमयविचरं हृदि । यतो जितस्तत्स्वरूपी
प्रसीदता त्वया ततोऽभूभंगवाननन्तजित् ॥ (स्वबंभू-
स्तोत्र ६६) । २. अनन्तकर्माशान् जयति, अन-
न्तैर्वा ज्ञानादिभिर्जयति अनन्तजित् । तथा गर्भस्यै
जनन्या अनन्तरत्नदाम दृष्टम्, जयति च त्रिभुवने-
ऽपीति अनन्तजित् । भीमो भीमसेन इति न्यायाव-
नन्तः । (योगशा. स्को. विव. ३-१२४) ।
१ जो अनन्त दोषोत्पादक मोहकृप पिशाच को जीत
चुके हैं, वे अगवान् अनन्त जिन अनन्तजित् हैं ।
२ जो अनन्त कर्मशैलों को जीतता है अथवा अनन्त
ज्ञानादि के द्वारा सर्व जगत् को जानने से जयशील
हो, तथा जिसके गर्भ में स्थित होने पर जाता ने
अनन्त रत्नों की भाला देखी; उस अनन्त जिन
(बौद्धों तीर्थंकर) को अनन्तजित् कहते हैं ।
अनन्तजीव—देखो अनन्तकाय । शूडछिराणं पत्तं
सच्छीरं जं च होइ निच्छीरं । जं पि य पणट्ठसंघि
अणंतजीवं विद्याणाहि ॥ चक्काण प्रज्जमाणस्स गठी
चुण्णचणो भवे । पुदविसरिसेण भएणं अणंतजीवं

विद्याणाहि ॥ अस्स मूलस्स भगस्स समो भंगो पवी-
सइ । अणंतजीवे उ ते मूले जे याज्जप्पे तहाविहे ॥
(बृहत्क. २६७-६८) ।

जिस मूलवृक्ष व उससे रहित भी वृक्ष (पत्ता) की
छिरायें (स्नायु) व सखियाँ अवस्थ हों वह वृक्ष
अनन्तजीव (अनन्तकाय) है । इसी प्रकार जिस
मूल आदि को तोड़ने पर बकाकार—समान—
भंग होता है तथा जिसकी गाँठ के भंग होने पर
खेत के ऊपर की पपड़ी के समान चूर्ण उड़ता हुआ
बिखता है वह भी अनन्तजीव है । अभिप्राय यह है
कि जिस मूल के भंग होने पर समान भंग बिखता
है उस मूल को अनन्तजीव जानना चाहिए ।

अनन्तमिश्रिता—१. मूलकादिकमन्तकायं तस्यैव
सत्त्वं: परिपाण्डुपत्रैरन्येन वा केनचित् प्रत्येकवनस्प-
तिना मिश्रमवलोक्य सर्वोऽप्येषोऽनन्तकायिक इति
वदतोऽनन्तमिश्रिता । (प्रज्ञाप. मलय. पु. ११,
१६५) । २. साणंतमीसिया वि य परितपत्ताइजुत्त-
कं वमि । एसो अणंतकायो ति जत्थ सव्वत्थ वि
पधोयो ॥ (भाषार. ६४) । ३. अनन्तमिश्रितापि
च सा भवति यज यस्यां परितानि यानि पत्रादीनि
तद्युक्ते कन्ये मूलकादौ सर्वत्रापि सर्वावच्छेदेनापि
एषोऽनन्तकाय इति प्रयोगः ॥ (भाषार. टी. ६४) ।
अनन्तकायस्वरूप मूलक (मूली) को उसी के बबल
(प्रत्येक वनस्पति) पत्तों के साथ अववा अन्य किसी
प्रत्येक वनस्पति के साथ मिश्रित देखकर जो यह
कहता है कि 'यह सब अनन्तकायिक है' उसकी इस
प्रकारकी भाषा अनन्तमिश्रिता कही जाती है ।

अनन्तरक्षेत्रस्पर्श—जो सो अणंतरक्षेत्रफासो
गाम । जं दव्वमणंतरक्षेत्रेण फुसदि सो सम्भो अणंत-
रक्षेत्रफासो गाम । (वट्ठ. ५, ३, १५-१६, पु.
१३, पु. १७) ।

जो ग्रन्थ अनन्तर क्षेत्र से स्पर्श करता है उसका
नाम अनन्तरक्षेत्रस्पर्श है ।

अनन्तरबन्ध—कम्मइयवमाणां द्विदपोमालसंधा-
र्यं मिच्छताविपच्चएहि कम्मभावेण परिणदपदम-
समए दधो अणतरबंधो । (बब. पु. १२, पु. ३७०) ।
कर्मण वर्धना स्वरूप से स्थित पुद्गलस्कन्धों का
मिथ्यात्व आदि कारणों के द्वारा कर्मण्य परिणत
होने के प्रथम समय में जो बन्ध होता है उसे
अनन्तरबन्ध कहते हैं ।

अनन्तरसिद्धकेवलज्ञान—यस्मिन् समये सिद्धो
जायते, तस्मिन् समये वर्तमानमनन्तरसिद्धकेवल-
ज्ञानम् । (आच. मलय. पु. नि. ७८) ।

जिस समय में जीव सिद्ध होता है उस समयमें वर्त-
मान केवलज्ञान को अनन्तरसिद्धकेवलज्ञान कहते हैं ।

अनन्तरसिद्धासंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना—न
विद्यते अन्तरं व्यवधानमर्थात्समयेन येषां ते ज्ञ-
न्तरास्ते च ते सिद्धावचानन्तरसिद्धाः, सिद्धत्वप्रथम-
समये वर्तमाना इत्यर्थः, ते च ते असंसारसमापन्न-
जीवावचानन्तरसिद्धासंसारसमापन्नजीवास्तेषां प्रज्ञा-
पनाऽनन्तरसिद्धासंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना । (प्रज्ञा-
प. मलय. पु. १-६) ।

सिद्ध होने के प्रथम समय में विद्यमान ऐसे संसार
से मुक्त होने वाले जीवों की प्रज्ञापना या प्र-
ज्ञापना को अनन्तरसिद्धासंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना
कहते हैं ।

अनन्तराप्ति—विवक्षितप्रवाण्मृतोत्पद्य धानन्तरे
भवे । यत्सम्यक्त्वाद्यनुतेऽङ्गी साजन्तराप्तिरुच्यते ॥
(सोकप्र. ३-२८२) ।

विचक्षित भव से मरकर व अनन्तर भव में
उत्पन्न होकर जीव जो सम्यक्त्व आदि को प्राप्त
करता है, इसे अनन्तराप्ति कहा जाता है ।

अनन्तरोपनिधा—१. जत्थ गिरतरं थोववहुत्त-
परिकसा कीरदे, सा अणतरोवणिधा । (बब. पु.
११, पु. ३५२); अणतगुणवड्डीए असत्तेज्जगुण-
वड्डीए सत्तेज्जगुणवड्डीए संत्तेज्जभागवड्डीए अस-
त्तेज्जभागवड्डीए अणंतभागवड्डीए अणतरहेट्ठिम-
ट्ठानं पेविस्सदूणं द्विट्ठानाण जा थोववहुत्तपरिकसा
सा अणतरोवणिधा । (धय. पु. १२, पु. २१४) ।
२. उपधानमुपधा, धातूनामनेकार्थत्वाभारंगमित्य-
र्थः । (परञ्चसं. मलय. पु. बं. क. ६) ।

जिस प्रकरण में अनन्तगुणबुद्धि आदि स्वरूप से
अनन्तर अवस्तन स्थान की अपेक्षा स्थित स्थानों के
निरन्तर अल्पबहुत्व की परीक्षा की जाती है
उसका नाम अनन्तरोपनिधा है ।

अनन्तवियोजक—१. स एव पुनः धनन्तानुबन्धि-
क्रोध-मान-माया-लोभानां वियोजनपरः (अनन्तवियो-
जकः) × × × । (त. सि. ६-४५) । २. धनन्तः
ससारस्तदनुबन्धिनोजन्ताः क्रोधादयस्तां वियोज-
यति अपयत्युपसमयति वा धनन्तवियोजकः । (त.

भा. सिद्ध. वृ. ६-४७)।

१ अनन्तानुबन्धी कोष, मान, माया और लोभ की विसंयोजना करने वाले जीव को अनन्तविद्योषक कहते हैं।

अनन्तवीर्य—१. वीर्यान्तरायस्य कर्मणोऽप्यन्तसमावाधिर्मृतमनन्तवीर्यं शायिकम्। (स. सि. २-४)।

२. वीर्यान्तरायात्पन्तसंसादनन्तवीर्यं ॥६॥ आत्मनः सामर्थ्यस्य प्रतिबन्धिनी वीर्यान्तरायकर्मणोऽप्यन्तसंसादादुद्भूतवृत्ति शायिकमनन्तवीर्यम्। (स. भा. २, ४, ६)। ३. वीर्यान्तरायनिर्मूलप्रसयोद्भूतवृत्ति अभ-क्लमाद्यवस्थाविरोधि निरन्तरवीर्यमप्रतिहृतसामर्थ्यमनन्तवीर्यम्। (अथर्व. पत्र १०१७)।

४. कस्मिंश्चित्स्वरूपचलनकारणे जाते सति घोरपरी-षहोपसर्गदी निजनिरञ्जनपरमात्मध्याने पूर्वं वीर्य-मवलम्बितं तस्यैव फलभूतमनन्तपदार्थपरिच्छित्तिवि-षये खेदरहितत्वमनन्तवीर्यम्। (बृ. ब्रह्मसं. टी. १४)। ५. केवलज्ञानविषये अनन्तपरिच्छित्तिशक्ति-रूपमनन्तवीर्यम् अण्यते। (परमात्मप्र. टी. ६१)।

१ वीर्यान्तराय कर्म का संबंधा अथ हो जाने पर जो अप्रतिहत सामर्थ्य उत्पन्न होता है उसे अनन्त-वीर्य कहते हैं।

अनन्तसंसारि (अर्थात्संसार)—जे पुण गुह-पट्टिणीया बहुमोहा ससबला कुसीला य। असमाहिणा मरते ते होति अणतससारा ॥ (मूला. २-७१; अग्निषा. १, पृ. २६६)।

जो गुह के प्रतिकूल, बहुमोही—प्रकृष्ट राग-द्वेष से कलुषित, हीन आचार वाले और कुसील—अतरसा से रहित—होते हुए समाधि के बिना धर्त-रीत्र परिणाम से मरते हैं वे अनन्तसंसारि—अर्थात्पुद्गल प्रमाण काल तक संसारपरिभ्रमण करने वाले होते हैं।

अनन्तानुबन्धी—१. अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शनोप-धाती। तस्योदयादि सम्यग्दर्शनं नोत्पद्यते, पूर्वोत्पन्न-मपि च प्रतिपतति। (स. भा. ८-१०)। २. अनन्तकालमतिप्रभूतकालमनुबन्धमुदिता कुर्वन्तीति अनन्तानुबन्धिनः। (पञ्चसं. स्वी. वृ. १२३, वृ. ३५)। ३. पारम्पर्येणानन्तं भवमनुबद्धं शीलं येषा-मिति अनन्तानुबन्धिनः उदयस्याः सम्यक्त्वविधा-तिनः। (आ. प्र. टी. १७)। ४. अनन्तान् अवान् अनुबद्धं शीलं येषां ते अनन्तानुबन्धिनः। (अथ.

पु. ६, पृ. ४१)। ५. अनन्तं भवमनुबध्नाति अविच्छिन्नं करोतीत्येवंशीलोऽनन्तानुबन्धी। अन-न्तो वा अनुबन्धोऽप्येत्यनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शनसह-भाविशमादिस्वरूपोपशमादिचरणलवविबन्धी, आ-रित्रमोहनीयत्वास्य। (स्थाना. सू. अथर्व. वृ. ४, १, २४६, पृ. १८३)। ६. अनन्तः संसारस्तमनुब-ध्नन्ति तच्छीलाश्चानन्तानुबन्धिनः। (स. भा. सि. वृ. ६-६)। ७. अनन्तं संसारमनुबध्नन्तीत्येवंशीला अनन्तानुबन्धिनः। ××× एषां च संयोजना इति द्वितीयं नाम। तत्रायमन्वयः—संयोज्यन्ते सम्बन्ध्यन्ते ऽन्वयं सर्वैर्जन्तो यैस्ते संयोजनाः। (पञ्च-सं. मलय. वृ. ३-५; कर्मप्र. यशो. वृ. १; शतक. मल. हेम. वृ. ३७; कर्मवि. दे. स्वी. वृ. १७)। ८. तत्रानन्तं संसारमनुबध्नन्ति इत्येवंशीला अनन्ता-नुबन्धिनः। उक्तं च—अनन्तान्यनुबध्नन्ति यतो जन्मानि भूतये। ततोऽनन्तानुबन्धाख्या क्रोधाद्येषु नियोजिताः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३-२६३)। ९. तत्र पारम्पर्येण भवमनन्तमनुबध्नन्तीत्येवंशीला अनन्तानुबन्धिनः; उदयस्यानामसीषां सम्यक्त्ववि-धातकृत्वात्। (पञ्चसं. मलय. वृ. ७६)। १०. तत्र पारम्पर्येण अनन्तं भवमनुबध्नन्ति अनुसन्दधतीत्येवं-शीला इत्यनुबन्धिनः। (पञ्चसं. मलय. वृ. ६१४)। ११. सम्यक्त्वगुणविधातकृदनन्तानुबन्धी। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १४-१८८)। १२. अनन्तं संसारमनु-बध्नन्ति अनुसन्दधति, तच्छीलाश्चेत्यनन्तानुबन्धिनः। (कर्मस्त. गो. टी. ६-१०)। १३. अनन्त आ संसारं यावत् अनुबन्धः प्रवाहो येषां ते अनन्तानु-बन्धिनः। (कर्मवि. पू. व्या. वा. ४१)। १४. तत्रा-नन्तं संसारमनुबध्नन्तीत्येवंशीला अनन्तानुबन्धिनः। यदवाचि—यस्मादनन्तं संसारमनुबध्नन्ति देहिनाम्। ततोऽनन्तानुबन्धीति संज्ञाऽऽद्येषु निवेशिता। (कर्मवि. दे. स्वी. टी. १८)। १६. अनन्तं संसारं भवमनुबध्नात्यविच्छिन्नं करोतीत्येवंशीलोऽनन्तानु-बन्धी। अनन्तो वा अनुबन्धो यस्येति अनन्तानुबन्धी। (अग्निषा. १, पृ. २६६)।

१ जिसका उदय होने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता है, और यदि वह उत्पन्न हो चुका है तो नष्ट हो जाता है, उसका नाम अनन्तानुबन्धी है। ४ अनन्त जनों की परम्परा को चालू रखने वाली कथाओं को अनन्तानुबन्धी कथाय कहा जाता है।

अनन्तानुबन्धिकोष-मान-माया-लोभ—१. अनन्तसंसारकारणत्वाभिध्यात्वाशनमन्तम्, तदनुबन्धिनो-
अनन्तानुबन्धिनः कोष-मान-माया-लोभाः । (स. सि. ८-६; स. भा. ८, ६, ५) । २. अनन्तानुबन्ध-
बद्धं शीलं येषां ते अनन्तानुबन्धिनः, अनन्तानुबन्धि-
वक्ष्यते ते कोष-मान-माया-लोभाश्च अनन्तानुबन्धि-
कोषमानमायालोभाः । जेहि कोह-माण-माया-लोहेहि
अधिपट्टसकवेहि सह जीवो अण्ते भवे हिद्वि तेसि
कोह-माण-माया-लोहाणं अण्ताणुबन्धी सण्णा । (अब.
पु. ६, पृ. ४१); अथवा अण्तां अणुबन्धी जेसि
कोह-माण-माया-लोहाणं, ते अण्ताणुबन्धिकोह-
माण-माया-लोहा । एदेहि तो बहिद्वससारो अण्तेसु
भवेसु अणुबन्धे छदे वि ति अण्ताणुबन्धी संसारो,
सो जेसि ते अण्ताणुबन्धी कोह-माण-माया-लोहा ।
(अब. पु. ६, पृ. ४१-४२) । ३. सम्पत्त्यं अनन्त-
नानुबन्धिनस्ते कथायकाः । (उपासका. ६२५) ।
४. अनन्तानुबन्धिनः कोषमानमायालोभाः कथायाः
प्राप्तयः सम्पत्त्यपरिणामं कथ्यन्ति, अनन्तसंसार-
कारणत्वादनन्तं मिध्यात्व अनन्तभवसंस्कारकालं वा
अनुबन्धन्ति सद्यद्यन्ति इत्यनन्तानुबन्धिनः । (गो.
जी. व. प्र. ब. जी. प्र. टीका २८३) । ५. अनन्ता-
नुबन्धान्मिध्यात्वासयमादौ अनुबन्धः शीलं येषां ते
अनन्तानुबन्धिनः, ते च ते कोषमानमायालोभा
अनन्तानुबन्धिकोषमानमायालोभाः । अथवाअनन्तेषु
भवेज्जनुबन्धी विद्यते येषां ते अनन्तानुबन्धिनः ।
(मूला. बु. १२-१६१) । ६. अनन्तभवभ्रमणहेतु-
त्वादनन्तं मिध्यात्वमनुबन्धन्ति सम्बन्धयन्ति इत्येव-
शीला ये कोष-मान-माया-लोभाः सम्पत्त्यघातकाः
ते अनन्तानुबन्धिकोषमानमायालोभाः । (कार्तिके.
टी. ३०८; त. बु. श्रुत. ८-६) ।
१ अनन्त शब्द से यहाँ मिध्यात्व को लिया गया
है, कारण कि वह अनन्त संसार परिणाम का
कारण है । जो कोष, मान, माया और लोभ कषाओं
निरन्तर उस मिध्यात्व से सम्बन्ध रखती हैं, उनका
नाम अनन्तानुबन्धी कोष-मान-माया-लोभ है ।
अनन्तानुबन्धिमाया—चनवंशीमूलसमा त्वनन्तानु-
बन्धिनी माया । यथा निविडवंशीमूलस्य कूटिलता
किल वज्जिनाऽपि न दहते, एवं यज्जनिता मनः-
कूटिलता कथमपि न निवर्तते साअनन्तानुबन्धिनी
माया । (कर्मवि. वे. टी. वा. २०) ।

बांस की जड़ के समान अतिशय कूटिलता की
कारणभूत माया को अनन्तानुबन्धिनी माया
कहते हैं ।

अनन्तानुबन्धिविषयोजनक्रिया—तस्य अथाप-
वत्त-अपुञ्ज-अधियट्टिकरणणि तिलिणं वि करेदि ।
एव अथापवत्तकरणे णत्थि गुणसेढी । अपुञ्जकरण-
पट्टमसमयपट्टदि पुञ्जं व उदयावलियबाहिरे गतिव-
सेसमपुञ्ज-अधियट्टिकरणद्वादो विसेसाहियमायामेण
पदेसमेण संजदगुणसेडिपदेसग्गादो अससेज्जगुणं
तदायामादो सखेज्जगुणहीणं गुणसेडि करेदि । ठिदि-
अणुभागसंडयघादे धाटअवज्जाण कम्माणं पुञ्जं व
करेदि । एवं बोहि वि करणेहि काऊण अण्ताणु-
बन्धिवत्तकट्टिदीपो उदयावलियबाहिरासो सेस-
कसायसकवेण सछुद्वि । एसा अण्ताणुबन्धिविषयोजो-
जणकिरिमा । (अब. पु. १०, पृ. २८८) ।

अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन दो परिणामों के
द्वारा यथासम्भव अनन्तानुबन्धिवत्तुल्य की उदया-
वलिबाह्य स्थिति और अनुभाग को दोष कषाओंद्वय
परिणत करने के लिए जो क्रिया की जाती है वह
अनन्तानुबन्धिविषयोजन क्रिया कहलाती है ।

अनन्तानुबन्धी कोष — विदलितपर्वतराजिसदृशः
पुनरनन्तानुबन्धी कोषः कथमपि निवर्तयितुमशक्यः ।
(कर्मवि. वे. स्वो. बु. वा. १६) ।

पर्वतराजि या वावाणरेखा के समान कठिनता से
जड़ होने वाले कोष को अनन्तानुबन्धी कोष
कहते हैं ।

अनन्तानुबन्धी मान—शिलाया घटितः शीलः,
शीलश्चासी स्तम्भश्च शीलस्तम्भस्तदुपमस्त्वनन्ता-
नुबन्धी मानः, कथमप्यनमनीय इत्यर्थः । (कर्मवि. वे.
स्वो. बु. १६) ।

शील स्तम्भ के समान अत्यन्त कठोर परिणाम वाले
झट्टकार को अनन्तानुबन्धी मान कहते हैं ।

अनन्तानुबन्धी लोभ—कृमिरागरक्तपट्टसूत्राग-
समानः कथमप्यनेतुमशक्योअनन्तानुबन्धी लोभः ।
(कर्मवि. वे. स्वो. बु. २०) ।

कृमिराग से रंघे हुए बन्ध के रंघ के समान शीर्ष
कास तक किसी भी प्रकार से नहीं छूटने वाले लोभ
को अनन्तानुबन्धी लोभ कहते हैं ।

अनन्तावधिजिन (अण्तांही) — अण्ते ति उते
उक्कत्साणंतस गहणं, × × × उक्कत्साणंतो

ओही वस्तु सो अणतोही । × × × अथवाअथव-
विभासाणं बाधो धंतसहो वेतब्बो, ओही मज्झमा
उक्कस्सणंतादो पुबभूदा । अन्तश्च अवधिक्क
अन्तावधी, न विद्येते ती मस्य स अनन्तावधिः ।
अनेदाज्जीवस्यापीयं संज्ञा । अनन्तावधयक्क ते जिना-
एव अनन्तावधिजिनाः । (अथ. पु. ६, पु. ५१-५२) ।
जिस ज्ञान की अवधि (मर्यादा) उत्कृष्ट अनन्त है,
अर्थात् जो ज्ञान अनन्त वस्तुओं को विषय करता
है, वह अनन्तावधि कहलाता है; ऐसा ज्ञान जिन
जिनों के—कर्मविधेताओं के—होता है उन्हें अनन्ता-
वधिजिन जानना चाहिए ।

अनन्तावबोध—अतीतानागत-वर्तमानाऽनन्तार्थ-व्यं-
जनपर्याप्तकसूक्ष्मान्तरित-पूरार्थेषु अनन्तेषु अप्रति-
बद्धप्रवृत्तिरमलः केवलास्थोऽनन्तावबोधः । (लघुस.
सि. पु. ११६) ।

निकालवर्ती सभस्त इष्यों की अनन्त अर्थपर्याप्तों
और अर्थजनपर्याप्तों को, तथा सूक्ष्म, अन्तरित और
दूरवर्ती वदार्थों को निर्विकल्प से जानने वाला
निर्मल केवलज्ञान अनन्तावबोध कहलाता है ।

अनन्तोपभोग—१. निरवशेषोपभोगान्तरायस्य
प्रलयात् प्रादुर्भूतोऽनन्त उपभोगः आधिकः । (स.
सि. २-४) । २. निरवशेषोपभोगान्तरायप्रलयाद-
नन्तोपभोगः आधिकः । (स. भा. २, ४, ५) ।

उपभोगान्तराय के निर्मूल विनष्ट हो जाने पर जो
उपभोग प्रादुर्भूत होता है उसका नाम अनन्तोप-
भोग है ।

अनपनीतत्व—अनपनीतत्वं कारक-काल-वचन-लि-
ङ्गादिव्यत्ययस्वप्नवचनदोषापेक्षता । (समवा. अथय.
बु. ३५; रायप. मलय. बु. पु. १७) ।

कारक, काल, वचन और लिंग आदि के व्यव्यत्यय
वचनबोध से रहित वाक्यप्रयोग को अनपनीतत्व
कहते हैं ।

अनपवर्तन—अनपवर्तनं यथावस्थितिकं पुरा बद्धं
तस्य तावत्स्थितिकस्यैवानुभवन्म् । (संप्रहृणी बु.
२५६) ।

पूर्व में बांधी हुई कर्मस्थिति का ह्रास न होकर
उतनी ही स्थितिक कर्म का अनुभव करने को
अनपवर्तन कहते हैं ।

अनपवर्तनीय—अनपवर्तनीयं पुनस्तावत्कालस्थि-

त्येव, न ह्रासमायाति स्वकालावचेरारात् । × ×
× एवं हि तीव्रपरिणामप्रयोगबीजजनितशक्ति
तदाधुरासमतीतजन्मनि न शक्यमन्तराल एवाव-
च्छेत्तुमित्यनपवर्तनीयमुच्यते । (स. भा. सिद्ध. बु.
२-५१) ।

आद्य कर्म की जितनी स्थिति बांधी गई है उसनी ही
स्थिति का वेदन करना व अपने काल की अवधि
के पूर्व उसका विघात नहीं होना, इसका नाम
उसकी अनपवर्तनीयता है । अभिप्राय यह है कि
अनपवर्तनीय आद्य वह कही जाती है जिसका
विघात पूर्व जन्म में बांधी गई स्थिति के पूर्व किसी
भी प्रकार से न हो सके ।

अनभि(धि)गतचारित्रार्थ—अन्तश्चारित्रमोहश-
योपशमसद्भावे सति बाह्योपदेशनिमित्तविरतिपरि-
णामा अनभि(धि)गतचारित्रार्थः । (स. भा. ३,
३६, २) ।

अन्तरंग में चारित्रबोहनीय कर्म का शयोपशम
होने पर और बहिरंग में मृग के उपदेशादि का
निमित्त मिलने पर जो चारित्र कथ परिणाम से
मुक्त हुए हैं उन्हें अनभिगतचारित्रार्थ कहते हैं ।

अनभिगृहीत मिथ्यात्व—१. न अभिगृहीतम् अन-
भिगृहीतम्, सर्वक-हि-वि-चतुरिन्द्रियमंत्रकैश्च । (बंध-
सं. स्थो. बु. ४-२) । २. परोपदेशं विनापि मिथ्या-
त्वोदयावुपजायते यदब्रह्मानं तदनभिगृहीत मिथ्या-
त्वम् । (अ. भा. विजयो. टी. ५६) । ३. अनभि-
गृहीतं परोपदेशं विनापि मिथ्यात्वोदयाज्जातम् ।
अ. भा. मूला. टी. ५६) ।

२ परोपदेश के बिना ही मिथ्यात्व कर्म के उदय से
जो तत्त्वों का अवब्रह्म उत्पन्न होता है, उसे अन-
भिगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं ।

अनभिगृहीता क्रिया—अनभिगृहीताऽनभ्युपगत-
देवताविशेषाणां तत्त्वाधर्मब्रह्मणम् । (स. भा. सिद्ध.
बु. ६-६) ।

देवताविशेष को स्वीकार न करने वालों के तत्त्वा-
धर्मब्रह्मण को—विपरीत तत्त्वब्रह्मा को—अनभि-
गृहीता क्रिया कहते हैं ।

अनभिगृहीता दृष्टि—सर्वप्रवचनेष्वेव साधुदृष्टि-
रनभिगृहीतमिथ्यादृष्टिः । सर्वमेव मुक्त्युपपन्नमु-

मितं वा समतया मन्यते मोक्षपात् । (स. भा. सि. वृ. ७-१८) ।

जो सभी मत-मतान्तरों को समीचीन मानता हुआ सम्यक्त्व वा युक्तिसिद्ध कथन को मूर्खतावश समान मानता है, उसकी दृष्टि (अज्ञा) को अनभिगृहीता दृष्टि कहा जाता है ।

अनभिगृहीता भाषा—१. अनभिगृहीता भाषा अर्थमनभिगृह्य या प्रोच्यते चित्यादिवदिति । (दशमं. हरि. वृ. नि. ७-२७७) ; आच. हरि. वृ. म. हे. टि. वृ. ७६) । २. सा होइ अणभिगहिया जत्थ अणंगेसु बुद्धकजेसु । एसयरानवहारणमहवा विच्छादय वयण । (भाषार. ७७) ; यत्र यस्यां अनेकेषु पृष्ठकार्येषु मध्य एकतरस्यानवधारणमनिश्चयो भवति—एता-वस्तु कार्येषु मध्ये किं करोमीति प्रश्नयेत् प्रतिभासते, तत्कुर्वति प्रतिवचने कस्यापि श्रुद्धग्राहिकयाऽनिर्धारणात् सा अनभिगृहीता भवति । (भाषार.टी. ७७) ।

१ अर्थ को नहीं ग्रहण करके बोली गई भाषा—जैसे बिल्क-डबिल्कादि—को अनभिगृहीता भाषा कहते हैं । २ अथवा एक साथ पूछे गये अनेक कार्यों में से किसी एक का भी निश्चय न करके उत्तर देने को अनभिगृहीता भाषा कहते हैं ।

अनभिग्रहा भाषा—अनभिग्रहा यत्र न प्रतिनिय-तार्थावधारणम् । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ११-१६५) । प्रतिनियत अर्थ के निश्चय से रहित भाषा को अनभिग्रहा भाषा कहते हैं ।

अनभिप्रेत (अराभिप्रेत)— $\times \times \times$ अणभिप्रेतो अ पडिलोमो ॥ (उत्तरा. नि. १-४३) । अपने लिए अनिष्ट या प्रतिकूल वस्तु को अनभिप्रेत कहते हैं ।

अनभिद्योग्य देव—तेभ्यो (अभियोग्येभ्यो) अन्ये कि-ल्वपिकादयोऽनुत्तमा देवा उत्तमाश्च पारिषदादयो-ऽनभिद्योग्याः । (अथर्व. पत्र ७६४) ।

अभियोग्य देवों के प्रतिरिक्त जो किस्मिक अग्नि अथवा और पारिवश आदि उत्तम जाति के देव हैं वे अनभिद्योग्य देव कहालाते हैं ।

अनभिसन्धिजवीर्य (अराभिसन्धिजवीर्य)—१. अस्वेद्या खल-रसातिपरिणामणा सत्ती अणभि-सन्धिजं वीरित । (कर्मप्र. वृ. भा. १-३) । २. इतर-वनभिसन्धिजम्—यद् भुक्तस्याहारस्य घातु-मलत्स-रूपपरिणामापादनकारणमेकेन्द्रियाणा वा तत्तत्किमा-

निबन्धनम् । (कर्मप्र. मलय. वृ. १-३, पृ. २०) ।

२ उपभुक्त आहार को सत्त घातु और मल-मूत्रादि रूप परिणामने वाली सत्ति को अनभिसन्धिज वीर्य कहते हैं । अथवा, जो एकैन्द्रिय जीवों की विविध क्रिया का कारण हो उसे अनभिसन्धिज वीर्य समझना चाहिए ।

अनभिहित—अनभिहितं स्वसिद्धान्तेऽनुपदिष्टम् । (आच. मलय. वृ. नि. ८८२) ।

अपने सिद्धान्त में अनुपदिष्ट या अवकित तत्त्व को अनभिहित कहते हैं ।

अनर्थक्रिया—१ तद्विपरीता (अर्थदण्डरूपार्थक्रिया-विपरीता) अनर्थक्रिया । (गृ. सु. षट्. स्तो. वृ. वृ. ४१) । २. तदर्थभावे तद्वग्रहणमनर्थया क्रिया । (अर्थसं. मान. स्तो. वृ. ३, २७, ८२) ।

प्रयोजन रहित क्रिया को अनर्थक्रिया कहते हैं ।

अनर्थदण्ड—१. कज्जं कि पि ण हाह्वि निच्च पावं करेदि जो अर्थो । सो खलु हवे अणरथो $\times \times \times$ ॥ (कातिके. ३४३) । २. उपकारात्यये पापादान-निमित्तमनर्थदण्डः । (स. भा. ७, २१, ४; त. श्लो. ७-२१) । ३. तद्विपरीतोऽनर्थदण्डः प्रयोजननिर-पेक्षः, अनर्थः अप्रयोजनमनुपयोगो निष्कारणतेति पर्यायाः । विनैव कारणेन भूतानि दण्डवति, तथा

कुठारेण प्रहृष्टस्तरुस्कन्ध-शाखादिव प्रहरति, कृक-लास-पिपीलिकादीन् व्यापादयति कुतसकुत्सः, न च तद्व्यापादने किञ्चिदतिशयोपकारि प्रयोजनं

येन विना गार्हस्थ्य प्रतिपालयितुं न शक्यते । (आच. हरि. वृ. ६, ८३; त. भा. सि. वृ. ७-१६) । ४. प्रयोजन विना पापादानहेतुर-नर्थदण्डः । (आ. सा. पृ. ६) । ५. शरीरादर्थ-विकलो यो दण्डः क्रियते जनैः सोऽनर्थदण्डः । (अर्थ-सं. मान. स्तो. वृ. २, ३५, ८१) ।

१ जिस अर्थ से—क्रिया से—कार्य तो कुछ भी सिद्ध नहीं होता, किन्तु सवा पाप ही किया जाता है वह अनर्थदण्ड कहालाता है ।

अनर्थदण्डविरति—१. अम्यन्तरं दिग्वधेरप्राप्ति-केभ्यः सपापयोगेभ्यः । विरमणमनर्थदण्डवत्तं विदु-र्धत्तधराग्रण्यः ॥ (रत्नक. ३-२८) । २. असत्पु-पकारे पापादानहेतुरनर्थदण्डः, ततो विरतिरनर्थ-दण्डविरतिः । (स. सि. ७-२१) । ३. उपकारात्यये पापादाननिमित्तमनर्थदण्डः ॥ ४ ॥ असत्पुपकारे पापा-

वानहेतुः अर्थदण्ड इत्यवशिष्यते । विरमणं विरतिः, निवृत्तिरिति यावत् । (त. भा. ७, २१, ४) ।
 ४. अनर्थदण्डो नामोपभोग-परिभोगावस्थागारिणो व्रतियोऽर्थः, तदव्यतिरिक्तोऽनर्थः । तदर्थो दण्डोऽनर्थ-
 दण्डः । तद्विरतिर्ब्रतम् । (त. भा. ७-१६) ।
 ५. विरतिनिवृत्तिरनर्थदण्डे अनर्थदण्डविषया । इह
 लोकमङ्गीकृत्य निःप्रयोजनभूतोपमर्देनिग्रहविषया ।
 (भा. प्र. टी. २८६) । ६. असत्युपकारे पापादान-
 हेतुः अनर्थदण्ड इति व्यवहियते । विरमणं विरतिः,
 निवृत्तिरिति यावत् । (त. स्मृ. ७-२१) । ७. एवं
 पञ्चपयारं अणत्सदं दुहावहं गिञ्च । जो परिहरेइ
 पापी गुणवन्दी सो हुये विदिमो ॥ (कार्तिके. ३४६) ।
 ८. तद्विरतीतो (अर्थदण्डविपरीतो) अनर्थदण्डः प्रयोजन-
 निरपेक्षः, अनर्थोऽप्रयोजनमनुपयोगो निष्कारणता,
 विनैव कारणेन भूतानि दण्डयति यथा कुठारेण प्रहृष्ट-
 स्तरुक्कन्ध-क्षास्त्रादिषु प्रहरति कृकलास-पिपीलिकादि
 व्यापदयति । (त. भा. हरि. ३ सि. बु. ७-१६) ।
 ९. परोपदेशहेतुर्योऽनर्थदण्डोऽपकारकः । अनर्थदण्ड-
 विरतिर्ब्रतं तद्विरतिः स्मृतम् । (ह. पु. ५८-१४७) ।
 १०. दण्ड-पाश-विडालाश्च विष-शास्त्राग्नि-रज्जवः ।
 परेभ्यो नैव देयास्ते स्म-पराधातहेतवः ॥ छेदं भेद-वधौ
 बन्ध-गुरुभारातिरोपणम् । न कारयति योज्येषु तृतीय
 तद् गुणव्रतम् ॥ (बराणच. १५, ११६-२०) ।
 ११. समासतः सर्वमुपयुज्यमानं शरीरादीनामगारि-
 णो व्रतित उपकारकोऽर्थः, तस्मादुपकारकादर्थाद्
 व्यतिरिक्तोऽनर्थः । $\times \times \times$ तदर्थो दण्डः $\times \times \times$
 तस्माद् विरतिः । (त. भा. सि. बु. ७-१६) ।
 १२. पञ्चबाज्यदण्डस्य परं पापोपकारिणः ।
 क्रियते यः परित्यागस्तृतीयं तद् गुणव्रतम् ॥ (बुभा-
 क्षित. ८००) । १३. योऽनर्थं पञ्चविधं परिहरति
 विबुधबुद्धधर्ममतिः । सोऽनर्थदण्डविरतिं गुणव्रतं
 नयति परिपूतम् ॥ (अमित. भा. ६-८०) ।
 १४. मज्जार-साण-रज्जु बंध (?) लोहो य अग्निविस-
 सत्थं । स-परस्स चावहेतु अण्णसि णेव दादब्बं ॥
 वह-बंध-पास-छेदो तह गुरुभाराधिरुहणं चेव । न वि
 कुणइ जो परेसि विदियं तु गुणव्यं होइ ॥ (धर्मर.
 १४६-१५०) । १५. अर्थः प्रयोजन धर्म-स्वजनेन्द्रिय-
 गतशुद्धोपकारस्वरूपम्, तस्मै अर्थाय दण्डः सावधानु-
 ष्ठानकृत्तप्रतिषेधादनर्थदण्डः, तस्य विरतिरनर्थ-
 दण्डविरतिः । (धर्मसि. बु. बु. ३-१७) । १६. शरी-

रादिनिमित्तं यः प्राणिना दण्डः सोऽर्थाय प्रयोजनाय
 दण्डोऽनर्थदण्डः, तस्य शरीराद्यनर्थदण्डस्य यः प्रतिपक्ष-
 ऋणोऽनर्थदण्डो निष्प्रयोजनो दण्ड इति यावत्, तस्य
 त्यागोऽनर्थदण्डविरतिः । (योगशा. स्तो. विष. ३-७४) ।
 १७. शरीराद्यनर्थदण्डस्य प्रतिपक्षतया स्थितः । यो-
 ऽनर्थदण्डस्तस्यागस्तृतीयं तु गुणव्रतम् ॥ (त्रि. श.
 पु. च. १, ३, ६३८) । १८. पीडा पापोपदेशा-
 र्थवैहास्यार्थाद्विनाऽङ्गिनाम् । अनर्थदण्डस्तस्यागोऽनर्थ-
 दण्डव्रतं मतम् ॥ (सा. च. ५-६) । १९. असत्यु-
 पकारे पापादानहेतुः पदार्थोऽनर्थ इत्युच्यते, न विद्यते-
 ऽर्थ उपकारलक्षणं प्रयोजनं यस्यासावनर्थ इति
 व्युत्पत्तेः । स च दण्ड इव दण्डः पीडाहेतुत्वात् । ततो-
 ऽनर्थदण्डासौ दण्डश्चाननर्थदण्ड इत्यवधार्यते । विरम-
 णं विरतिनिवृत्तिरित्यर्थः । (त. सुखबो. बु. ७-२१) ।
 २०. पाश-मण्डल-माज्जर-विष-शास्त्र-कुशानवः । न
 पापं च धर्मी देयास्तृतीयं स्याद् गुणव्रतम् । (पू. उपा.
 ३०) । २१. खनित्र-विष-शास्त्रादेर्वानं स्याद् वध-
 हेतुकम् । तस्यागोऽनर्थदण्डानां वर्जनं तत् तृतीयकम् ॥
 (भाषसं. नाम. ४६१) । २२. अर्थः प्रयोजनं तस्या-
 भावोऽनर्थः स पञ्चबा । दण्डः पापावस्तस्य त्या-
 गस्तद्ब्रतमुच्यते ॥ (धर्मसं. भा. ७-८) । २३. तस्य
 (पञ्चप्रकारस्य अनर्थदण्डस्य) सर्वस्यापि परिहरणम्
 अनर्थदण्डविरतिव्रतनामकं तृतीयं व्रतं भवति । (त.
 वृत्ति भूत. ७-२१) ।
 जिन कार्यों के करने से अपना कुछ भी प्रयोजन
 सिद्ध न हो, किन्तु केवल पाप का ही संघट्ट हो,
 ऐसे पापोपदेश आदि पांच प्रकार के अनर्थदण्डों के
 त्याग को अनर्थदण्डविरति या अनर्थदण्डव्रत
 कहते हैं ।
 अनर्थादण्ड—१. तद्विरतीतम् (अपितविपरीतम्) अन-
 र्थादण्डम् । (स. सि. ५-३२); २. तद्विरतीत-
 अनर्थादण्डम् ॥ २॥ प्रयोजनाभावात् सतो-
 ऽनर्थदण्डा भवति इत्युपसर्जनीभूतमनर्थादण्डमित्युच्यते ।
 (त. भा. ५, ३२, २) । ३. अनर्थादण्डव्यावहारिकम् ।
 (त. भा. ५-३१) । ४. $\times \times \times$ किन्तु ते तस्य
 अण्णहाणा अविबुद्धस्या अण्णपिया इवि $\times \times \times$ ।
 (ब. पु. ८, पु. ६) । ५. तद्विरतीतं (अपितविपरी-
 तम्) अनर्थादण्डम् । (त. सुखबो. बु. ५-३२) ।
 ६. नापितं न प्राप्तितं न प्राधान्यं न उपनीतं न
 विवक्षितमनर्थादण्डम् उच्यते, प्रयोजनाभावात् सतोऽपि

स्वभावस्याविबलितत्वात् उपसर्जनीयतम् अप्रधान-
भूतम् अनपितमित्युच्यते । (त. वृ. भूत. ५-३२) ।
१ अविबलित या अप्रधान वस्तु को अनपित कहते हैं ।
अनवधृतकालानशान — अनवधृतकालमादेहोपर-
मात् । (त. वा. ६, १६, २) ।

जिस अप्रधान (उपधात) का कोई काल नियत नहीं
है, ऐसे धावज्योवन बताने वाले अनशान को अनव-
धृतकालानशान कहा जाता है ।

अनवस्था शेष — १. अप्रामाणिकानन्तपदार्थपरि-
कल्पनया विश्रान्त्यभावोऽनवस्था । (प्र. र. भाषा पु.
२७७, टि. १०) । २. अनवस्थालता व स्यान्नमस्त-
तविसिपिणी । (अन्व. च. २-५८) । ३. तथा
शेषतम् — मूलकतिकरीमाहुरनवस्था हि दूषणम् ।
वस्तुनान्त्येऽन्यथाकृतौ च नानवस्था विचार्यते । (प्र.
र. भाषा पु. १७१) । ४. अनवस्था तु पुनः पुनः पद-
द्वयावर्तनरूपा प्रसिद्धेव । (अभि. रा. १, पु. ३०२) ।
१ अप्रामाणिक अनन्त पदार्थों को कल्पना करते
हुए जो विश्रान्ति का अभाव होता है, इसका नाम
अनवस्था शेष है ।

अनवस्थाप्यता — १. हस्ततालविप्रदानदोषाद्
दुष्टतरपरिणामत्वाद् श्रुतेषु नावस्थाप्यते इत्यनव-
स्थाप्यः, तद्भावोऽनवस्थाप्यता । (आच. हरि. वृ.
नि. १४१८) । २. अवस्थाप्यत इत्यवस्थाप्यस्तन्नि-
वेद्यावनवस्थाप्यः, तस्य भावोऽनवस्थाप्यता, दुष्टतर-
परिणामस्याकृततपोविशेषस्य व्रतानामा[मना]रोप-
णम् । (योगशा. स्तो. विष. ४-६०) ।

१ हस्तताल — हाथ से तालन — आदि प्रबल के
शेष से अत्यन्त दुष्ट परिणाम होने के कारण कता-
विक में अवस्थापन की अप्रोग्यता को अनवस्थाप्यता
कहते हैं ।

अनवस्थाप्याह — जन्म पक्षितेति उवद्वावणा-
मजोगो, कंचि कालं न वएसु ठाविज्जइ आव पइ-
विस्सिद्धतवो न चिण्णो, पच्छा य चिण्णतवो तदोसो-
वरमो वएसु ठाविज्जइ, एयं अनवदुप्पाहि ।
(जीत. वृ. पु. ६) ।

जिसका सेवन करने पर कुछ काल श्रुतों में स्थापना
के योग्य नहीं होता, पश्चात् तब का अनुष्ठान करने
पर उस शेष के शान्त हो जाने से श्रुतों में जो स्थापन
के योग्य हो जाता है, इसका नाम अनवस्थाप्याह है ।
अनवस्थितावधि — १. अनवस्थितं हीयते वर्धते

च, वर्धते हीयते च, प्रतिपतति भोत्यद्यते चेति पुनः
पुनरुत्थिवत् । (त. भा. १-२३) । २. अग्योऽवधिः
सम्भवेऽनादिगुणहानि-वृद्धियोगाच्चत्परिमाण उत्पन्न-
स्ततो वर्धते यावदनेन वधितव्यम्, हीयते च यावद-
नेन हातव्यं वायुवेगप्रेरितजलोन्निवत् । (स. सि.
१-२२; त. भा. १, २२, ४; त. वृ. भूत. १-२२;
सुखबो. वृ. १-२२) । ३. जमोहिणाणमुप्युष्णं संत
कयावि बद्धदि, कयावि हायदि, कयावि अद्वाण-
भावमुवणमवि; तमणवद्धिं नाम । (अव. पु. १३,
पु. २६४) । ४. विषुद्धेरनवस्थानात् सम्भवेदनव-
स्थितः । (त. स्तो. १, २२); नावतिष्ठते वधिवि-
कस्मिन् वस्तुनि शुभाशुभाभेकसंयमस्थानलाभात् ।
(त. भा. सिद्ध. वृ. १-२३) । ५. यत्कदाचिद्वर्धते,
कदाचिद्धीयते, कदाचिदवतिष्ठते च तदनवस्थितम् ।
(भो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३७२) ।

१ जो अवधिज्ञान वायु से प्रेरित जल की नहर के
समान हानि को प्राप्त होता है व बढ़ता भी है,
बढ़ता है व हानि को भी प्राप्त होता है तथा
प्युत भी होता है व उत्पन्न भी होता है; उसे अन-
वस्थित अवधि कहते हैं । २ जो अवधिज्ञान
सम्भवेऽनादि हानि मुक्तों की हानि और वृद्धि के योग
से जितने प्रमाण में उत्पन्न हुआ है उससे जहाँ तक
बढ़ना चाहिए बढ़ता भी है, और जहाँ तक हानि
को प्राप्त होना चाहिए हानि को भी प्राप्त होता
है, उसे अनवस्थित अवधिज्ञान कहा जाता है ।

अनवेक्ष्याप्रमृज्यसंस्तार — संस्तोयंते यः प्रति-
पन्नपोषधत्तेन दर्श-कुल-कम्बलि-वस्थादिः स
संस्तारः, स आवेक्ष्य प्रमाज्यं च कर्तव्यः, अनवे-
क्ष्याप्रमाज्यं च करणेऽतिचारः । इह आनवेक्षणेन
दुरवेक्षणम् अप्रमार्जनेन दुष्प्रमार्जनं संगृह्यते ।
(योगशा. स्तो. विष. ३-११८) ।

जसी भाँति देखे और प्रमार्जन किन्ने बिना ही दर्श-
क्षमादि के बिछाने को अनवेक्ष्याप्रमृज्यसंस्तार
कहते हैं । यह पोषधत्त का तीसरा प्रतिचार है ।

अनवेक्ष्याप्रमृज्यादान — आदानं ग्रहणं यष्टि-पीठ-
फलकादीनाम्, तदप्यवेक्ष्य प्रमृज्य च कार्यम्; अन-
वेक्षितस्याप्रमाजितस्य आदानमतिचारः । आदान-
ग्रहणेन निक्षेपोऽप्युपलभ्यते यष्टपादीनाम्, तेन सो-
ऽप्यवेक्ष्य प्रमाज्यं च कार्यः । अनवेक्ष्याप्रमृज्य च

निक्षेपोऽतिचार इति द्वितीयः । (योगशा. स्वो. विव. ३-११८) ।

बिना देखे और बिना प्रमाज्जं किये ही लाठी खावि किसी पदार्थ के ग्रहण करने वा रखने को अनवेक्ष्या-प्रमृज्यादानं कहते हैं । यह पोषध्वस्त के पाँच अतिचारों में दूसरा है ।

अनवेक्ष्याप्रमृज्योत्सर्ग — उत्सर्जनमुत्सर्गस्त्यागः, उच्चारप्रसवणखेलसिधाणकादीनामवेक्ष्य प्रमृज्य च स्वण्डिलादौ उत्सर्गः कार्यः । अवेषण चक्षुषा निरीणम्, मार्जनं वस्त्रप्रान्तादिना स्वण्डिलादेरेव विशुद्धीकरणम् । अथानवेक्ष्याप्रमृज्य चोत्सर्गं करोति तदा पोषध्वस्तमतिचरति । (योगशा. स्वो. विव. ३-११८) । बिना देखे और बिना प्रमाज्जं किये ही शरीर के मल-मूत्र, कफ और नासिकामल आदि का जहाँ कहीं भी क्षेपण करना; इसे अनवेक्ष्याप्रमृज्योत्सर्ग कहते हैं । यह पोषध्वस्त का प्रथम अतिचार है ।

अनशन—१. अशनमाहारस्तत्परित्यागोऽनशनम् । (त. भा.हरि. व सिद्ध. बृ. ६-१६; योगशा.स्वो.विव. ४-८६) । २. न अशनमनशनम्—आहारत्यागः । (वसवै. हरि. बृ. १-४७) । ३. अशनत्यागोऽनशनम् $\times \times \times$ । (भा. सा. ६-४) । ४. लाद्यादिचतुर्षोऽहारसंन्यासोऽनशन मतम् । (लाटीसं. ७-७६) । चारों आहार के परित्याग को अनशन कहते हैं ।

अनशन तप—देखो अनेषण । १. संयमरक्षणार्थं कर्मनिर्जाराय च चतुर्थ-घट्टाष्टमावि सम्मग्नशन तपः । (त. भा. ६-१६) । २. दृष्टफलानपेक्षं संयमप्रसिद्धिरागोच्छेद-कर्मविनाश-ध्यानागमावाप्त्यर्थमनशनम् । (त. सि. ६-१६; त. बा. ६, १६, १; त. इलो. ६-१६) । ३. अनशनं नाम यत्किञ्चिद् दृष्टफलं मंत्रसाधनाद्यनुद्दिश्य क्रियमाणमुपवसनमनशनम् । (बा. सा. पु. ४६) । ४. चतुर्थाद्यवर्षान्त उपवासोऽथवाऽऽमृतैः । सकृद्भूतिकवच मुक्त्यर्थं तपोऽनशनमिष्यते । (अन. व. ७-११) । ५. तवात्वफलमनेष्य संयमप्राप्तिनिमित्तं रागविष्वंसनार्थं कर्मणां चूर्णीकरणार्थं सद्धान्याप्राप्त्यर्थं शास्त्राभ्यासार्थं च यत् क्रियते उपवासस्तदनशनम् । (त. बृ. श्रुत. ६-१६) । ६. दृष्टफलानपेक्षमन्तरङ्गतपःसिद्धयर्थमभोजनमनशनम् । (त. बुजबो. बृ. ६-१६) । २ मंत्र-साधनादि किसी दृष्ट फल की अपेक्षा न करके संयम की सिद्धि, रागोच्छेद, कर्मविनाश,

ध्यान और धामम की प्राप्ति के लिए जो भोजन का परित्याग किया जाता है उसका नाम अनशन है । **अनशनातिचार**—स्वयं न भुङ्क्तेऽभ्रम्यं भोजयति, परस्य भोजनमनुजानाति मनसा वचसा कायेन च, स्वयं क्षुधापीडित आहारमभिलषति, मनसा पारणां मम कः प्रयच्छति नव वा लप्स्यामीति चिन्ता अनशनातिचारः । रसवदाहारमन्तरेण परिश्रमो मम नार्पति इति वा, षड्जीवनिकायबाधायां ग्रन्थतमेन योगेन वृत्तिः, प्रचुरनिद्रतया(?) संक्लेशक[कर]मनर्थ-मिदमनुष्ठित मया, सन्तापकारीव नापरिध्यामि इति सकल्पः । (भ. भा. विजयो. टी. ४८७) । २. अनशनस्य परं मनसा वाचा कायेन वा भोजयतो भूजानं वाऽनुमन्यमानस्य स्वयं वा क्षुत्कामतयाऽऽहारमभिलषतोऽतिचारः स्यात्, मनसा को मां पारणां प्रदास्यति नव वा लप्स्ये इति चिन्ता वा, सुस्ताहारमन्तरेण परिश्रमो मम नार्पति इति वा, षड्जीव-निकायबाधायामन्यतमेन योगेन वृत्तिर्वा, प्रचुरनिद्रतया संक्लेशो वा, किमर्थमिदमनुष्ठितं मया, सन्ताप-कारि पुनरिदं नापरिध्यामीति संक्लेशो वेति । (भ. भा. मूला. टी. ४८७) ।

उपवास के दिन स्वयं भोजन न करके दूसरे को भोजन कराना, अन्य भोजन करने वाले की अनुमोदना करना, भूख से पीड़ित होने पर स्वयं आहार की अभिलाषा करना, कल मुझे कौन पारणा करायेगा व कहाँ वह प्राप्त होगी, इस प्रकार विचार करना; अथवा घुरस आहार के बिना मेरा मन दूर नहीं होगा, इत्यादि विचार करना; यह अनशन का अतिचार है—उसे मलिन करने वाले ये सब दोष हैं । **अनस्तिकाय**—कालोऽनस्तिकायः, तस्य प्रदेशप्रचयाभावात् । (अन. पु. ६, पु. १६८) ।

जिस इष्ट्य के प्रदेशसमुदाय सम्भव नहीं हैं उसे अनस्तिकाय कहते हैं । ऐसा इष्ट्य एक काल ही है । **अनाकाङ्क्षक्रिया**—१. शाठपालस्याभ्यां प्रवचनोपदिष्टविधिकतंव्यतानादरोऽनाकाङ्क्षक्रिया । (त. सि. ६-५; त. बा. ६, ५, १०) । २. शाठपालस्य-वशादहंलोक्ताचारविधौ तु यः । अनादरः स एव स्यादनाकाङ्क्षक्रिया विदाम् ॥ (त. इलो. ६, ५, २१) । ३. शाठपालस्यादि शास्त्रोक्तविधिकतंव्यतां प्रति । अनादरस्त्वनाकाङ्क्षक्रिया $\times \times \times$ । (ह. पु. ५८-७८) । ४. प्रमादालस्याभ्यां प्रवचनो-

पदिष्टविविक्तस्य ताज्जादरो ज्ञाकाङ्क्षाक्रिया । (त. सुखबो. बु. ६-५) । ५. सत्त्वेन असत्त्वेन च जिन-सूत्रोपदिष्टविविधविधाने ज्ञादरः अनाकाङ्क्षाक्रिया । (त. बु. श्रुत. ६-५) ।

१ सत्ता या आसत्त्य के बस होकर भागमनिदिष्ट आशयक कार्यों के करने में अनादर का भाव रखना अनाकाङ्क्षाक्रिया है ।

अनाकाङ्क्षरता (निःकाङ्क्षितत्व) — कर्मपरबसे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये । पापबीजे सुखे ज्ञास्याश्रदानाकाङ्क्षा स्मृता ॥ (रत्नक. १-१२) ।

कर्माधीन, जिनबद्ध, दुःखोत्पादक और पाप के बीज-भूत सांसारिक पुत्र में अनास्था का अज्ञान करना — उसमें विश्वास न रखना, इसका नाम अनाकाङ्क्षा (सम्भावदर्शन का निष्कांक्षित अंग) है ।

अनाकार — आकारो विकल्पः, सह आकारेण साकारः । अनाकारस्तद्विरीतः, निविकल्प इत्यर्थः । त. भा. सि. बु. २-६) ।

आकार वा विकल्प से रहित उपयोग को अनाकार या निविकल्प कहते हैं । उसे दर्शन भी कहा जाता है ।

अनाकारोपयोग — १. अनायास्वजोगो दंसं । को अनायास्वजोगो नाम ? सागारस्वजोगादो अण्णो । कम्म-कसारभावो आगारो, तेण आगारेण सह वट्टमाणो उवजोगो सागारो ति । (अब. पु. १३, पृ. २०७) । २. पमाणदो पुण्णूद कम्ममायारो, त जम्मि गत्थि सो उवजोगो अनायारो नाम, दंसमुवजोगो ति भण्णिदं होवि । (अब. पु. १, पृ. ३३१) । ३. इंदिय-मणोहिणा वा अत्ये भविससूण जं गहणं । अंतोमुहलकालो उवजोगो सो अनायारो ॥ (गो. जी. ६७५) । ४. अनाकारं निविकल्पकं दर्शनमित्यर्थः । (त. सुखबो. बु. २-६) । ५. न विद्यते यथोक्तरूप आकारो यत्र सो ज्ञाकारः । स आसाधुपयोगवचानाकारोपयोगः । यत्तु वस्तुनः सामान्यरूपतया परिच्छेदः सो ज्ञाकारोपयोगः । (प्रज्ञाप. मलय. बु. २६-३१२) ।

२ प्रमाण से भिन्न कर्म — ज्ञान से भिन्न अन्य बहिर्भूत विषय — का नाम आकार है । ऐसा आकार जिस उपयोगविशेष में सम्भव नहीं है उसे अनाकारोपयोग कहा जाता है । दूसरे शब्द से उसे बर्धनोपयोग भी कहा गया है ।

अनागत (अस्मागत) — १. जहा सब्बे लोए पत्थो तिहा विहत्तो अनागतो वट्टमाणो अदीदो वेदि । तत्थ अण्णिण्णो अनागतो नाम । अविज्जमाणो वट्टमाणो । णिण्णो ववहारजोगो अदीदो नाम । × × × तका कालो वि ति विहो अनागतो वट्टमाओ अदीदो वेदि । (अब. पु. ३, पृ. २६) । २. ओ विवक्षित वर्तमानसमयमवधीकृत्य भावी समयराशिः स सर्वोऽपि कालोऽनागतः । (उपोत्तिष्क. मलय. बु. १-७) । ३. अवधीकृत्य समयं वर्तमानं विवक्षितम् । भावी समयराशिः कालः स स्वादानागतः । (लोकप्र. २८-२६७) ।

१ अनिष्पन्न प्रत्ये (बान्ध के नापने का एक माप-विशेष) के समान अनिष्पन्न सभी समयों को अनागत काल कहा जाता है । २ विवक्षित वर्तमान समय को अवधि करके — सीमाकृत्य मानकर — उसके आगे की जितनी भी समयराशि (समयों का समूह) है उस सब ही को अनागत काल माना जाता है ।

अनाचरित बोध — १. दूरदेशाद् ग्रामान्तराद्वाऽऽनी-तमनाचरितम् । अ. भा. विजयो. २३०; कातिके. टी. ४४६, पृ. ३३८) । २. इतरत् (आचरिताद्विपरीतम्) अनाचरितम् । (अ. भा. भूला. टी. २३०) । दूर देश से या ग्रामान्तर से लाये हुए आहार को ग्रहण करना अनाचरित बोध है ।

अनाचार — १. × × × वदन्त्यनाचारमिहाति-सक्तताम् । (डाभि. ६) । २. अनाचारो अतमज्जः सर्वथा स्वेच्छया प्रवर्तनम् । (भूला. बु. ११-११) । ३. मिलिते त्वाचाकर्मणा [प्य] नाचारः । (अब. बु. भा. मलय. बु. १-४३) । ४. साप्ताचारस्य परिभोगतो भ्वंसे ज्ञाचारः । (अब. १ उ. — अजि. रा. १, बु. ३११) ।

१ विषयों में जो प्रतिमाय आसक्ति होती है उसे अनाचार कहते हैं । ३ आचारकर्म के — अपने निमित्त से निमित्त भोजन के — निमित्तने घर सामु के अनाचार माना जाता है ।

अनाचिन्त्य — १. परदो वा तेहि भवे तविवरीयं अनाचिन्त्यं । (भूला. ६-२०) । २. परतस्त्रिन्म्यः सत्त-गृहेभ्यः ऊर्ध्वं यथागतमोदनादिकमनाचिन्त्यं ग्रहणायो-ग्यम्, तद्विपरीतं वा ऋजुवृत्त्या विपरीतेभ्यः सप्तम्यो यथागत तदप्यनाचिन्त्यामादातुमयोग्यम् । (भूला. बु. ६-२०) ।

आहार यदि तीन वा सात चरों के प्रतिरिक्त आने के चरों से लाया गया है तो वह अनाधिष्ठ—ग्रहण करने के अयोग्य—होता है ।

अनात्मागमिति—अनात्मा अपरिगृहीता वेश्या, स्त्रीरिणी, प्रोषितभर्तृका, कुलाङ्गना वा अनाथा; तस्यां गतिरासेवनम् । इयं चानाभोगादिना अतिश्रमादिना वा अतिचारः । (योगशा. स्त्रो. विव. ३-६४) ।

अनात्मा से अभिप्राय अपरिगृहीत वेश्या, कुलवा, प्रोषितभर्तृका (जिसका पति प्रवास में है), कुलीन स्त्री और अनाथ स्त्री का है । उसका सेवन करना, वह स्वदारसन्तोषयती के लिए अतिचार है ।

अनात्मभूत (लक्षणा)—तद्विपरीतं (यद्यस्तुस्वरूपाननुप्रविष्टं तत्) अनात्मभूतम् । यथा दण्डः पुरुषस्य । (न्यायटी. पृ. ६) ।

जो लक्षण वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ न हो, उसे अनात्मभूत लक्षण कहते हैं । जैसे—पुरुष का लक्षण दण्ड ।

अनात्मभूत (हेतु)—प्रदीपादिरनात्मभूतः (बाह्यो हेतुः) । × × × तत्र मनोवाक्कायवर्गणालक्षणो ब्रह्मयोगः चिन्ताद्यालम्बनभूतः अन्तरभिनिविष्टत्वादाम्यन्तर इति व्यपदिश्यमान आत्मनोज्यत्वावनात्मभूतः (आम्यन्तरो हेतुः) इत्यभिधीयते । (त. भा. २, ८, १) ।

उपयोग (अन्तम परिणामविशेष) का जो हेतु आत्मा से सम्बन्ध को प्राप्त नहीं है वह बाह्य अनात्मभूत हेतु कहलाता है—जैसे प्रदीप आदि । उक्त प्रदीप आदि चक्षुरादि के समान आत्मा से सम्बद्ध न होकर भी आत्मा के उपयोग में हेतु होते हैं, अतः वे बाह्य अनात्मभूत हेतु हैं । चिन्ता आदि का आलम्बनभूत जो मन, बलन व काय वर्गनाक्य ब्रह्म योग है वह आम्यन्तर अनात्मभूत हेतु कहलाता है । वह चूँकि आत्मा से भिन्न है, अतएव जैसे अनात्मभूत है जैसे ही वह अन्तरंग में निविष्ट होने से आम्यन्तर भी है । यह भी उस उपयोग में हेतु होता ही है ।

अनात्मशंसन—यदात्मव्यतिरिक्त तदनात्म, तस्य शंसनं कथनम्, तत्स्वरूपम् अनात्मशंसाष्टकम् । (ज्ञानसार वृत्ति १८, पृ. ६६) ।

आत्मा के प्रतिरिक्त अन्य पर पदार्थों के स्वरूप के कहने को अनात्मशंसन कहते हैं ।

अनादर—१. सुदम्यदितत्वादावश्यकेष्वादरोऽनुत्साहः । (त. सि. ७-३४; भा. सा. पृ. १२; सा. व. स्त्रो. टी. ५-४०; त. सुखबो. वृत्ति ७-३४) ।

२. इतिकर्तव्यं प्रत्यसाकल्याणधायकपञ्चिचत्प्रवृत्तिरनुत्साहोऽनादरः इत्युच्यते । (त. भा. ७, ३३, ३; भा. सा. पृ. ११, त. सुखबो. वृ. ७-३३); आचक्ष्यकेष्वादरः । (५॥) आचक्ष्यकेषु अनादरः अनुत्साहो भवति । कुतः ? सुदम्यदितत्वात् । (त. भा. ७, ३४, ४) । ३. आचक्ष्यकेष्वादरोऽनुत्साहः । (त. स्त्रो. ७-३४); ४. अनादरः पोषधवतप्रतिपत्तिकर्तव्यतायामिति चतुर्थः । (योगशा. स्त्रो. विव. ३-११८; अनादरोऽनुत्साहः प्रतिनियतवेलायां सामायिकस्याकरणम्, यथाकथंचिद्वा करणम्, प्रबलप्रमादादिवोषात् करणानन्तरमेव पारणं च । (योगशा. स्त्रो. विव. ३-११६; सा. व. स्त्रो. टी. ५-३३) । ५. अनादरः पुनः प्रबलप्रमादादिवोषाद् यथाकथंचित्करणं कृत्वा वा ऽकृतसामायिककार्यस्यैव तत्क्षणमेव पाणमिति । (वर्मवि. नृ. वृ. १६४) । ६. अनादरः अनुत्साहः प्रतिनियतवेलायां सामायिकस्याकरणम् । (वर्मसं. मान. स्त्रो. वृ. २, ५५, ११४) । ७. यदाऽलस्यतया मोहात्कारणाद्वा अनादरः । अनुत्साहृतया कुर्वातश्चानादरवृषणम् । (लाटीसं. ६-१६३) ।

८. चतुर्धातिचार अनादर अनुत्साहः अनुक्षम इति यावत् । (त. वृ. भूत. ७-३३; सुधा-तुवादिमिरम्यदितस्य आचक्ष्यकेषु अनुत्साहः अनादर उच्यते । त. वृ. भूत. ७-३४) ।

मूक-म्यास, भय व आलस्यादि के कारण सामायिक और पोषधोपवास आदि से सम्बद्ध आचक्ष्यक क्रियाओं के करने में उत्साह न रख कर उन्हें यथाकथंचिद् पूरा करने को अनादर नामका अतिचार कहते हैं ।

अनाधिकरण—१. धर्माधर्मापासा एयं तिविहं भवे प्रगाईयं । (उत्तरा. नि. ४-१८६) । २. धर्माधर्माकाशानामप्योन्मत्तसंयत्नेन तदाऽन्यत्पानमादिकरणम् । (उत्तरा. नि. शा. वृ. ४-१८६) ।

धर्म, अधर्म और आकाश इन्हीं के परस्पर व्यापार के बिना तथा एक साथ अवस्थान को अनाधिकरण कहते हैं ।

अनाधि-नित्य-पर्यायाधिक नय—अकट्टिमा अग्निह्वा तसि-सुराईय पञ्जया गिण्हू । जो सी प्रगाइ-

विष्वो जिणभणियो पज्जयत्थिणयो । (स. न. व. २७; बु. न. व. २००) ।

जो मय अकृत्रिम व अनादिनिष्ठ चक्र-सूर्यादि की पर्यायों को ग्रहण करे, उसे अनादि-नित्यपर्यायाधिक मय कहते हैं ।

अनादिपरिणाम—तत्रानादिर्धर्मादीनां गत्युपग्रहादिः सामान्यापेक्षया । (स. सि. ५-४२; त. वृ. श्रुत. ५-४२) । २. अनादिलोकस्थान-मन्दराकारादिः । (स. वा. ५, २२, १०); तत्रानादिर्धर्मादीनां गत्युपग्रहादिः । (स. वा. ५, ४२, ३) । ३. तत्रानादिलोकस्थानमन्दराकारादिः । स पुरुषप्रयत्नापेक्षत्वाद्भौतिकः । (त. सुखबो. बु. ५-२२); तत्रानादिर्धर्मादीनां गत्युपग्रहादिस्वनृत्यकालसल्लानवर्ती सामान्यरूपः । (त. सुखबो. बु. ५-४२) ।

अनादिकालीन लोक व सुमेव पर्वत का आकार आदि तथा धर्म-अवधर्म आदि का गति-स्थिति आदि उपकार अनादि परिणाम कहलाता है ।

अनादि-सान्त (बन्ध)—यस्त्वनादिकालात् सतत-प्रवृत्तोऽपि पुनर्बन्धव्यवच्छेदं प्राप्स्यति असावनादि-सान्तः, अयं भव्यानाम् । (शतक. वे. स्वो. बु. ५) । अनादि काल से प्रवृत्त होकर अविच्छेद में विच्छेद को प्राप्त होने वाले बन्ध को अनादि-सान्त बन्ध कहते हैं ।

अनादिसिद्धान्तपद—अनादिसिद्धान्तपदानि धर्मास्तिरधर्मास्तिरित्येवमादीनि । अप्रोक्ष्येयत्वतोऽनादिः सिद्धान्तः, स पद स्थानं यस्य तदनादिसिद्धान्तपदम् । (अव. पु. १, पृ. ७६); धम्मत्वियो अधम्मत्वियो कालो पुडवी आऊ तेऊ इच्छादीणि अनादियसिद्धत-पदानि । (अव. पु. ६, पृ. १३०) ।

जिनका पद (स्थान) अप्रोक्ष्येय होने से अनादि परमाणु है ऐसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, पृथिवी, अग्नि और तेज आदि पद अनादि-सिद्धान्त पद कहलाते हैं ।

अनादृत—१. आदरः सम्प्रमस्तत्करणादृतता, सा यत्र न भवति तदनादृतमुच्यते । (आव. ह. बु. मल. हेम. डि. पृ. ८७) । २. अनादृतं सम्प्रमरहितं वन्दनम् । (योगशा. स्वो. विष ३-१३०) ।

आदर के बिना जो बन्धनादि क्रिया-कर्म किया जाता है उसे अनादृत कहते हैं ।

अनादृत दोष (अणादिय दोष)—आदरकरण

आढा तन्विबरीयं अणादियं होइ । (अव. सारो. गा. १५५) । २. अनादृतं विनाऽऽदरेण सम्प्रममन्तरेण यत् क्रियाकर्म क्रियते तदनादृतमित्युच्यते । (मूला. बु. ७-१०६) । ३. अनादृतमतात्पर्यं वन्दनायां × × × । (अन. व. ८-६८) ।

देखो अनादृत ।

अनादेयनाम—१. निष्प्रभकारीरकारणमनादेय-नाम । (स. सि. ८-११; त. वा. ८, ११, ३७; त. श्लो. ८-११; अ. आ. मूला. टीका २१२४; गो. क. जी. प्र. टी. ३३; त. सुखबो. बु. ८-११; त. वृ. श्रुत. ८-११) । २. विपरीत (अना-देयभावनिर्वतकम्) अनादेयनाम । (स. भा. ८-१२) । ३. तद्विपरीतमनादेयम् । आचक्रप्र. टी. २४) । ४. युक्तियुक्तमपि वचनं यदुदयान् प्रमाणयति लोकाः, न चाभ्युदयानाद्यहर्णमहस्यापि कुर्वन्ति, तदनादेयनामेति । अथवा आदेयता अद्वेयता दर्शन, देव यस्य भवति स च शरीरगुणो यस्य विपाकाद् भवति तदादेयनाम । एतद्-विपरीतमनादेयनामेति । (स. हरि. व. सिद्ध. बु. ८-१२) । ५. अनादेयकर्मो-दयादयादयावक्यो भवति । (वृक्षसं. स्वो. बु. ३-१६) ।

६. यदुदयादनादेयत्वं निष्प्रभशीरम्, अथवा यदु-दयादनादेयवाक्य तदनादेयं नाम । (मूला. बु. १२, १६६) । ७. तन्विबरीयभावनिष्प्रभकर्ममनादेयं नाम । (अव. पु. ६, पृ. ६५); जस्तं कम्मस्सुदणं सोभणाणुट्ठाणो वि जीवो ण गउरविज्जदि तमणा-देज्जं नाम । (अव. पु. १३, पृ. ३६६) । ८. यदु-दयाद् युक्तमपि भुवाणः परिहार्यवचनस्तदनादेय-नाम । (अव. सारो. टी. वा. १२६६; शतक. मल. हेम. टीका ३७; कर्मस्तव गो. बु. गा. ६-१०) ।

९. तद्विपरीतम् (आदेयविपरीतम्) अनादेयम्, यदुदयवशादुपपन्नमपि भुवाणो नोपादेयवचनो भवति, नाप्युपक्रियमाणोऽपि जनस्तस्याभ्युदयानादि समाचरति । (प्रज्ञापना मलय. वृत्ति २३-२६३, पृ. ४७५; पञ्चसं. मलय. वृत्ति ३-८) । १०. यदु-दयवशात्तु उपपन्नमपि भुवाणो नोपादेयवचनो भवति, न च लोकोऽभ्युदयानादि तस्य करोति तदनादेय-नाम । (पञ्च कर्म. मलय. बु. ६; कर्मवि. वे. स्वो. टीका गा. ५०; कर्मप्र. यज्ञो. टी. १) ।

११. (आएज्जकम्मउदए चिट्ठा जीवाण भासणं जं च । तं बहु मन्नाइ लोभो) अवहृमयं इयरउदएण ।

(कर्मवि. धर्म. भा. १५६)। १२. न आदेयमनादेयम्, यदुदयाज्जीवोन्मादेयो भवति अनाद्यवाक्यो भवति, सर्वोऽन्यवज्ञां विषत्ते, तदनादेयनाम । (कर्मवि. धू. व्या. भा. ७५) ।

४ जिसके उदय से युक्तियुक्त बचन होने पर भी लोग उसे प्रमाण न मानें, आधार का पात्र होने पर भी उठकर खड़े हो जाने आदि कप योग्य आधार व्यक्त न करें, अथवा जिसके उदय से वह क्षरीरगुण न प्राप्त हो सके कि जिसके आश्रय से बेलने मात्र से ही लोगों के द्वारा आदेय (प्राप्त या अज्ञाता पात्र) हो सके उसे आदेय नामकर्म कहते हैं ।

अनादेश — अनादेशः सामान्यम् । सामान्यत्वं श्रीदयिकादीनां गति-कषायादिविशेषणवृत्तिधर्म-कत्वात् (उत्तरा. नि. बृ. १-४८) ।

गति-कषायादि औपमिक भावविशेषों में रहने वाले अनुवृत्ति स्वकप सामान्य का नाम अनादेश है ।

अनाद्यनन्त बन्ध—न विषत्ते आदिव्यस्यानादिकालसन्तानभावेन सततप्रवृत्तेः सो अनादिः, अनादिवृत्ता श्री अनन्तवच कदाचिदप्यनुदयाभावादानाद्यनन्तः । × × × यो हि बन्धोजादिकालादारम्य सन्तानभावेन सततं प्रवृत्तो न कदाचन व्यवच्छेदमाप्नोति न चोत्तरकालं कदाचिद् व्यवच्छेदमाप्स्यति सोऽनाद्यनन्तो ऽमव्यानामेव भवति । (शतक. वे. स्त्री. टी. ५) ।

जिसका आदि-अन्त नहीं है—जो निरन्तर प्रवर्तमान है, ऐसा बन्ध अनाद्यनन्त कहा जाता है । जो न कभी विच्छेद को प्राप्त हुआ है और न आगे भी कभी विच्छेद को प्राप्त होने वाला है वह अनाद्यनन्त बन्ध कहलाता है, जो अनन्त जीवों के ही होता है । अनाद्यपर्यवसाननित्यता — तत्राद्या लोकसंनिवेशवदनासादितपूर्वपरावधिभिर्भागा सन्तत्यव्यवच्छेदेन स्वदायमजहती तिरोहितानेकपरिणतिप्रसवव्यक्तिगर्भां भवनमात्रकृतास्पदा प्रतीतेषु । (श. भा. सिद्ध. बृ. ५-४) ।

जो नित्यता लोक के आकार के समान पूर्वापर अवधि के विभागों से रहित होकर अच्युच्छिन्न सन्तानपरम्परा से स्वभाव को न छोड़ती हुई तिरोहित अनेक अवस्थाओं के उत्पादन की शक्ति को अच्युत रूप से अपने भीतर रखती है उसे अनाद्यपर्यवसान-

नित्यता कहते हैं ।

अनानुगामिक अवधि—देखो अननुगामिक । १. × × × अनानुगामिभिं ओहिनाणं से जहा नामए केइ पुरिसे एगं महंतं जोइहाणं काउं सङ्गेव जोइहाणस्स परिपेरतेहि परिपेरतेहि परिषोलेमाणं २ तमेव जोइहाणं पासइ, अन्तए गए न पासइ, एवमेव अनानुगामिभिं ओहिनाणं जत्थेव समुप्पज्जइ तत्थेव संखे-ज्जाणि असंखेज्जाणि वा संबद्धाणि वा असंबद्धाणि वा जोअणाइं जाणइ पासइ, अन्तए गए ण पासइ, से तं अनानुगामिभिं ओहिणाणं । (नन्दी. धू. ११) ।

२. अनानुगामिकं यत्र क्षेत्रे स्थितस्योत्पन्नं ततः प्रच्युतस्य प्रतिपत्तिं प्रवनादेशपुरुषज्ञानवत् । (त. भा. १-२३) । ३. एवमेव (ज्योतिःप्रकाशितं क्षेत्रं पश्यन् पुरुष इव) अनानुगामिकमवधिज्ञानं ययैव क्षेत्रे व्यवस्थितस्य सतः समुत्पद्यते तत्रैव व्यवस्थितः सन् संख्येयानि वा असंख्येयानि वा योजनानि सम्बद्धानि वा असंबद्धानि वा जानाति पश्यति; नान्यत्र, क्षेत्र-सम्बन्धसापेक्षत्वादवधिज्ञानावरणक्षयोपशमस्य, तदेतदनानुगामिकम् । (नन्दी. हरि. बृ. ११, पृ. ३३) ।

४. अननुगमणीसोजनगामुकः स्थितप्रदीपवत् । (आच. हरि. बृ. नि. ५६) । ५. तस्य (आनुगामिकस्य) प्रतिषेधोजानुगामिकमिति । अर्थमस्य भावयति—यत्र क्षेत्रे प्रतिश्रयस्थानादौ स्थितस्येति कायोत्सर्गक्रियादिपरिणतस्य उत्पन्नम्—उद्भूतं भवति तेन चोत्पन्नेन यावत् तस्मात् स्थानान्तरं निर्याति, तावज्जानातीत्यर्थः । ततोऽपक्रान्तस्य—स्थानान्तरवर्तिनः प्रतिपत्तिं नश्यति । कथमिव ? उच्यते—प्रवनादेशपुरुषज्ञानवत् । (त. भा. सि. बृ. १-२३) ।

६. न आनुगामिकं अनानुगामिकम्, भूखलाप्रतिबद्ध-प्रदीप इव यन् गच्छन्तमनुगच्छति तदवधिज्ञानमनानुगामिकम् । (नन्दी. अलप. बृ. धू. ६) ।

७. तथा न आनुगामिकोऽनानुगामिकः भूखलाप्रतिबद्धप्रदीप इव यो गच्छन्तं पुरुषं नानुगच्छतीति । (प्रभाष. अलप. बृ. ३३-३१६) । ८. उत्पत्तिक्षेत्र एव विषयावभासकमनानुगामिकम् । (जैनतर्क. पृ. ११८) ।

३ जो अवधिज्ञान जिस क्षेत्र में अवस्थित जीव के उत्पन्न होता है उसी क्षेत्र में उसके अवस्थित रहने पर वह संख्यात व असंख्यात योजन के अन्तर्गत

अपने निश्चित विषय को जानता है, स्वामी के अव्यय जाने पर वह उसे नहीं जानता। इसका कारण यह है कि उसके आचारिक अवधिज्ञानावरण का क्षयोप-
शम उक्त ज्ञेय के ही सम्बन्ध की अपेक्षा रक्कर उत्पन्न हुआ है। ऐसे अवधिज्ञान को अनानुगामिक अवधिज्ञान कहा जाता है।

अनामपूर्वी—वेत्तो वयातयानुपूर्वी। से कि त अणानु-
पुब्बी ? एभाए वेव एगाइभाए एगुत्तरिभाए अणत-
गच्छमयाए सेठीए अणमणमभासो दुक्कूणो, से तं
अणानुपुब्बी। अहवा $\times \times \times$ से कि तं अणानु-
पुब्बी ? एभाए वेव एगाइभाए एगुत्तरिभाए अस-
खिज्जगच्छमयाए सेठीए अणमणमभासो दुक्कूणो,
से तं अणानुपुब्बी। (अनुयोग. सू. ११४)।

अमूलोम (प्रथम-द्वितीय आदि) और विलोम (अन्त्य
व उपान्त्य आदि) कम से रहित जो किसी की प्रक-
पणा की जाती है उसका नाम अनामपूर्वी है।
उदाहरणार्थ—कालानुपूर्वी के आश्रय से समयादि-
क्य अनन्त कालभेदों की प्रकपणा में अनामपूर्वी के
विकल्प इस प्रकार होते हैं—एक की आदि लेकर
एक अधिक क्रम से चूँकि कालभेद अनन्त हैं, अतः
१-२-३-४ आदि के कम से अन्तिम विकल्प तक
अंकों को स्थापित करते उन्हें परस्पर गुणित करने
पर जो राशि उपलब्ध हो उसमें से दो (प्रथम और
अन्तिम अंकों के कम कर देने पर जो संख्या प्राप्त
हो उसने प्रकृत में अनामपूर्वी के विकल्प होते हैं।
उनमें से वक्ता की इच्छानुसार किसी भी विकल्प
को लेकर जो प्रकपणा की जाती है वह अनामपूर्वी-
कम से कही जावेगी।

अनाभिप्राहिक मिथ्यात्व—१. अनाभिप्राहिक तु
प्राकृतलोकानां सर्वे देवा वन्दनीया न निन्दनीयाः।
एवं सर्वे गुरव, सर्वे भर्मा इति। (योगशा. स्वो.
विच. २-३)। २. मन्त्येऽङ्गी दर्शनानि यद्वशाद-
खिलायन्ति। शुभानि भाष्यस्य हेतुरनाभिप्राहिक
हि तत्। (लोकप्र. ३-६६२)। ३. अनाभिप्राहिकं
अज्ञानां गोपादीनामीयन्त्याध्यस्थाद्वाऽनभिगृहीत-
दर्शनविशेषा[ण]ां सर्वदर्शनानि शोभनानि इत्येवंरूपा
या प्रतिपत्तिः। (कर्मस्त. गो. बृ. गा. ६-१०)।
४. एतद्-(आभिप्राहिक-) विपरीतमनाभिप्राहिकम्,
यद्वशात् सर्वाप्यपि दर्शनानि शोभनानि इत्येवमी-
यन्माध्यस्थ्यमुपजायते। (वक्श्री. मलय. बृ. गा. ७५;

पंचसं. मलय. बृ. ४-२; सम्बोध. बृ. ४७, पृ. ३२)।
२ सभी वर्गन—मत्त-मत्तान्तर—अच्छे हैं, इस प्रकार
की बुद्धि से सबके समान मानने को अनाभिप्राहिक
मिथ्यात्व कहते हैं।

अनाभोग—१. आभोगो उवभोगो तस्माभावे भवे
अनाभोगो। (प्रत्या. स्व. गा. ५५)। २. आभोग-
नमाभोगः, नाभोगः अनाभोगः, आगमस्यापर्यालोचो-
ज्ञानमेव श्रेय इति भावः। (पञ्चसं. स्वो. बृ.
४-२)। ३. अनाभोगः सम्मूढचित्तता व्यक्तीप-
योगभावो दोषाच्छादकत्वात् सासारिकजन्महेतु-
त्वाद्वा। (ललितवि. पृ. ३)। ४. अनाभोगोऽज्ञा-
नानस्याकार्यमासेवमानस्य भवति। (आव. ह. बृ.
मल हेम. टि. पृ. ६०)। ५. न विद्यते आभोगः
परिभावं यत्र तदनाभोगं तच्चैकैन्द्रियादीनामिति।
(पञ्चसं. मलय. बृ. ४-२)।

१ उपयोग के अभाव का नाम अनाभोग (असाव-
धानी) है। २ आगम का पर्यालोचन न करके
अज्ञान को ही श्रेयस्कर मानना, इसका नाम अना-
भोग मिथ्यात्व है।

अनाभोगक्रिया—१. अग्रमृष्टादृष्टभूतो कार्यादि-
निक्षेपोऽनाभोगक्रिया। (स. सि. ६-५; त. वा. ६,
५, ६; त. मुल्लो. ६-५; त. वृ. श्रुत. ६-५)।
२. अदृष्टे योऽग्रमृष्टे च स्थाने न्यासो यतेरपि।
कार्यादेः सा त्वनाभोगक्रिया $\times \times \times$ ॥ (त. इलो.
६, ५, १६)। ३. अग्रमृष्टाप्रदृष्टाया निक्षेपोऽङ्गादिनः
क्षितौ। अनाभोगक्रिया सा तु $\times \times \times$ ॥ (ह. पु.
५८-७३)। ४. अनाभोगक्रिया अग्रत्यवेक्षिताप्रमाजिने
देहे शरीरोपकरणनिक्षेपः। (स. भा. सि. बृ. ६-६)।
१ बिना शोषी और बिना वेत्ती भूमि पर सोना व
उठना-बैठना आदि शरीर सम्बन्धी क्रिया को अना-
भोग क्रिया कहते हैं।

अनाभोगनिक्षेप—१. अस्तव्यामपि त्वरायां जीवाः
सन्ति न सन्तीति निरूपणमन्तरेण निक्षिप्यमाण
तदेवोपकरणादिकमनाभोगनिक्षेपाधिकरणम्। (अ.
भा. विजयो. टी ८१४; अम. व. स्वो. टी. ४-२८)।
२. अनालोकितरूपतया उपकरणादिस्थापनं अनाभोग
इत्युच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ६-६)।

१ शीघ्रता के न होने पर भी जीव-जन्तु के देखे
बिना ही स्त्राव-संयोग के साधनभूत उपकरणादि के
रखने को अनाभोगनिक्षेप कहते हैं।

अनाभोगनिर्वर्तित कोप—यदा त्वेवमेव तथाविच-
मुहूर्तवशाद् गुण-दोषविचारणाभूयः परवशीभूय
कोपं कुस्ते तदा स कोपोऽनाभोगनिर्वर्तितः । (प्रज्ञा-
प. मलय. वृ. १४-१६६) ।

उस प्रकारके मुहूर्त के वश अने-बुरे का विचार
किये बिना ही परवशता से कोष करने को अना-
भोगनिर्वर्तित कोप कहते हैं ।

अनाभोगनिर्वर्तिताहार—तद्विपरीतो (आभोग-
निर्वर्तिताहारविपरीतो) अनाभोगनिर्वर्तितः, आहार-
यामीति विशिष्टेच्छामन्तरेण यो निष्पाद्यते प्रावृद्-
काले प्रचुरतरभूनाद्यभिव्यङ्ग्यशीतपुद्गलाहारवत्
सोऽनाभोगनिर्वर्तितः । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २८,
३०४) ।

आहार की विशिष्ट इच्छा के बिना ही जिस किसी
प्रकारके आहार के बनाने को अनाभोगनिर्वर्तित
आहार (नारकियों का आहार) कहते हैं । जैसे
वर्षा काल में बहुत अधिक मूत्र आदि से व्यक्त
होने वाला उष्ण पुद्गलों का आहार ।

अनाभोग बहुश—१. सहस्रकारी अनाभोगबहुशः ।
(त. भा. सि. वृ. ६-४६) । २. शरीरोपकरण-
विभूषणयोः सहस्रकारी अनाभोगबहुशः । (प्रब.
सारो. टी. गा. ७२४) । ३. द्विविधविभूषणस्य
च सहस्रकारी अनाभोगबहुशः । (वर्मसं. ज्ञान.
स्वो. टी. ३-५६, पृ. १५२) ।

सहस्रा बिना सोचे-बिचारे शरीर और उपकरण
आदि के विभूषित करने वाले साधु को अनाभोग
बहुश कहते हैं ।

अनाभोगिक—अनाभोगिकं विचारशून्यस्यैकेन्द्रिया-
देवां विशेषविज्ञानविकसस्य भवति । (योगशा. स्वो.
विध. २-३) ।

विचारशून्य व्यक्ति के अथवा विशेष ज्ञान से रहित
एकेन्द्र्यादि के जो विपरीत अज्ञान होता है उसका
नाम अनाभोगिक मिथ्यात्व है ।

अनाभोगित दोष—अनालोक्याप्रमार्जनं कृत्वा
प्रादानं निक्षेपो वेति द्वितीयो भङ्गः । (अ. भा.
विजयो. टी. ११६८) । २. अनालोक्याप्रमार्जनं
कृत्वा पुस्तकादेरादानं निक्षेपं वा कुर्वतोऽनाभोगिता-
ल्यो द्वितीयो दोषः । (अ. भा. मूला. टी. ११६८) ।
बिना देखे और बिना सोचे पुस्तकादि को रखना
या उठाना, यह अनाभोगित नाम का दोष है ।

अनायतन (असाययत्न)—१. सम्यक्सादिगुणा-
नामायतनं गृहभावात् आश्रय आधारकरणं निमित्त-
मायतनं ग्रह्यते, तद्विषयभूतमनायतनम् । (बृ. इष्य-
सं. टी. भा. ४१) । २. मिथ्यादृग्ज्ञानवृत्तानि नीणि
नीतिस्तद्विस्तृतया । पठनायतनान्याहुस्तस्तेषां दृढमसं-
त्यजेत् ॥ (अम. व. २-८४) । ३. कुदेव-लिङ्ग-
सास्त्राणां तच्छ्रुतां च भयादितः । वर्णां समाश्रयो
यत्स्यात् तान्यनायतनानि यद् । (वर्मसं. भा. ४,
४४) । ४. सावज्जगत्प्राययणं असोहिष्ठानं कुशिलसं-
सग्धि । एगट्टा होति पया एए विवरीय प्राययणा ॥
(अभि. रा. १, पृ. ३१०) ।

१ सम्यग्दर्शनादि गुणों के आश्रय या आधार को
आयतन कहते हैं । और इनसे विपरीत स्वल्प
बाले मिथ्यादर्शनादि के आश्रय या आधार को अना-
यतन कहते हैं ।

अनार्य—१. ये सिंहला बर्बरका किराता गान्धार-
काश्मीर-पुलिन्दकाश्च । काम्बोज-बाह्लीक-ससौद्रका-
द्यास्तेऽनार्यवर्गे निपतन्ति सर्वे ॥ × × × त्वनार्या
विपरीतवृत्ताः ॥ (बराह. ८, ३-४) । २. अनार्याः क्षेत्र-
भाषा-कर्मभिर्बहिष्कृताः × × यदि वा अविपरीत-
दर्शनाः साम्प्रतेक्षिणो दीर्घदर्शनिनो न भवन्त्यनार्याः ।
(सूत्रकृ. सी. वृ. २, १, १८) । ३. सग-जवण-सबर-
बम्बर-काय मुर्खोऽहो गोण पक्कणया । अरबाग होण
रोमय पारस खस खसिमा वेव ॥ बुभिलय लउस
बोक्कस-मिल्लंय पुलिद कुंच भमरहया । कोबाय
वीण खंचुय मालव दमिला कुलगया ॥ केक्कय
किराय हयमुह खरमुह गय-गुरग-मिडयमुहा य ।
हयकन्ना गयकन्ना अन्नेऽधि अणारिया बह्वे ॥ (अम.
सारो. १५८३-८५) । ४. भारद्वा बूरेण हेयधर्म्यो
याताः प्राप्ताः उपादेयधर्मैरित्यार्याः, × × ×
तद्विपरीता अनार्याः, सिध्दासम्मतनिमित्तलव्यवहारा
इत्यर्थः । (अम. सारो. वृ. १५८५) ।

१ जिनका आचरण विपरीत है—निम्न है—वे
अनार्य कहलाते हैं । वे कुछ ये हैं—सिंहल, बर्बरक,
किरात, गान्धार, काश्मीर, पुलिन्द, काम्बोज,
बाह्लीक, खस और औद्रक (आदि) ।

अनालम्ब दोष—१. उपकरणादिकं तत्पदेऽहमिति
बुद्ध्या यः करोति बन्धनादिकं तस्यानालम्बदोषः ।
(मूला. वृ. ७-१०६) । २. क्रिया × × × अनालम्बं
तदासया । (अम. व. ८-१०६) । ३. अनालम्बं नाम

दोषः स्यात् । या किम् ? या क्रिया । कया ? तदा-
शया उपकरणाद्याकांक्षया । (अम. व. स्त्रो. टीका
च, १०६) ।

१ उपकरणादि प्राप्त करने की इच्छा से गुप्त की
बन्धनाधिक करना, यह अनालम्बन दोष कहलाता है ।
अनालम्बनयोग—१. तगुणपरिणद्भूतो सुदुर्भोगा-
लम्बनो नाम ॥ (योगवि. १६) । २. सामर्थ्ययोगतो
या तत्र दिदुक्षेत्यसङ्कसकथाउघा । साऽनालम्बन-
योगः प्रोक्तस्तद्दर्शनं यावत् ॥ (बोद्धशक १५-८) ।
२ सामर्थ्ययोग से—अपकथेति के द्वितीय अपूर्ण-
करण गुणस्थान में होने वाले अतिक्रान्तविषयक
शास्त्रवक्षित उपाय से—जो प्राप्तिक्रिा रहित निरन्तर
प्रवृत्तिरूप असंग शक्ति से परिपूर्ण परतत्त्वविषयक
हेतुने की इच्छा होती है, इसका नाम अनालम्बन-
योग है ।

अनावृष्टि—आवृष्टिर्वर्षणम्, तस्य अभावः अना-
वृष्टिः । (अम. पु. १३, पु. ३३६) ।

वृष्टि का अर्थ वर्षा होता है, उस वर्षा के न होने
का नाम अनावृष्टि है ।

अनाशंसा—अनाशंसा सर्वेच्छोपरमः । (ललित-
वि. ७० पु. १०२) ।

किसी भी प्रकारकी इच्छा को नहीं करने को अना-
शंसा कहते हैं ।

अनाश्वान्—योऽश्वन्तेनेष्वविश्वस्तः शाश्वते पथि
निष्ठितः । समस्तसत्त्वविषयास्यः सोऽनाश्वानिह
गीयते ॥ (उपासका. ८६६) ।

जो इन्द्रियरूप श्रोतों के विषय में विश्वास न कर
—उनके विषयों की आशा स रहित हो, मोक्षमार्ग
पर निष्ठा (आस्था) रखता हो, और समस्त
प्राप्तियों का विश्वासपात्र हो; उसे अनाश्वान्
कहते हैं ।

अनाल (अ) व (अग्रासव) —पाणवह-मुसावाया
अस्ति-मेहुण-परिग्राहा विरमो । राईभोयणविरमो
जीवो ह्वइ अग्रासवो ॥ पंचसमिधो त्रिगुप्तो अक-
साभो जिइदिमो । अग्रावो य पिस्सत्तो जीवो ह्वइ
अग्रासवो ॥ (उत्तरा. ३०, २-३) ।

हिंसादि पांच पापों से रहित, रात्रिभोजन से बिरत,
पांच समिति व तीन गुप्तियों से युक्त, कषाय से
रहित, जितेन्द्रिय तथा गारव व शल्य से बिहीन
संयतको अनालव कहते हैं ।

अनाहार—शरीरप्रायोग्यपुद्गलपिण्डग्रहणमाहारः ।
× × × तद्विपरीतोऽनाहारः । (अम. पु. १, पु.
१३३) ।

शरीरादिकादि तीन शरीरों के योग्य पुद्गलों को नहीं
ग्रहण करना अनाहार है ।

अनाहारक—१. त्रयाणां शरीराणां वर्णां पर्या-
प्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः, तदभावादानाहारकः ।
(स. सि. २-३०; त. स्त्रो. २-३०; त. वृ. श्रुत.
२-३०) । २. विमृगदिमावण्णा केवलिणो समुपवो
अजोगी य । सिद्धा य अणाहारा × × × ॥ (प्रा.
पञ्चसं. १-१७७; गो. जी. ६६५) । ३. अनाहार-
का श्रोत्राद्याहाराणामन्यतमेनापि नाहारयन्तीत्यर्थः ।

(आ. प्र. टी. १६८) । ४. × × × ततोऽनाहार-
कोऽप्यया ॥ (स. प्रा. २-६४) । ५. सिद्ध-विग्रहणप्या-
पन्न-समुद्घातगतसयोगकेवल्ययोगिकेवलिनमिषाना -

हारकत्वान् । (जीवाजी. अलव. वृ. ६-२४७, पु.
४०३) । ६. शीघ्योदारिक-वैक्रियिकाहारकाक्यानि
शरीराणि षट् चाहार-शरीरेन्द्रियानप्राण-भावा-मनः-

संज्ञिकाः पर्याप्तीर्यथासम्भवमाहुरतीरयाहारकः,
नाहारकोऽनाहारकः । (त. पुणवो. वृ. २-३०) ।

१ तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल
स्वरूप आहार को न ग्रहण करने वाले जीवों को

अनाहारक कहते हैं । २ विग्रहणित को प्राप्त चारों
गति के जीव, समुद्घातगत सयोगिकेवली, अव्योगि-

केवली और सिद्ध; ये अनाहारक होते हैं ।

अनिकाचित—तत्त्विवरीदं (णिकाचिविविवीर्यं)
अणिकाचिद । (अम. पु. १६, पु. ५७६) ।

निकाचित से विपरीत अर्थात् जिन कर्मप्रवेशाओं का
उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण या उद्धारण की जा

सके; उन्हें अनिकाचित कहते हैं ।

अनिच्छाप्रवृत्तवर्त्तनबालमरण—१. कालेऽकाले
वाऽध्यवसानादिना यन्मरणं जिजीविषोस्तद्वितीयम् ।

(अ. प्रा. विजयो. टी. २५) । २. कालेऽकाले वाऽध्यव-
सानादिना विना जिजीविषोर्मरणमनिच्छाप्रवृत्तम् ।

(आ. प्रा. टी. ३२) ।

२ काल या अकाल में अध्यवसान (विचार) आदि
के बिना जो जीवित के इच्छुक का मरण होता है

उसे अनिच्छाप्रवृत्त-वर्त्तनबालमरण कहते हैं ।

अनिस्थलक्षण संस्थान—१. ततोऽप्यन्मेषादीनां
संस्थानमनेकविधमित्यभिधमिति निरूपणमाभावादिनि-

त्वंलक्षणम् । (त. सि. ५-२४) । २. $\times \times \times$ अतोऽन्यदमित्यम् ॥ $\times \times \times$ अतोऽन्यन्नेवादीनां संस्थानमनेकविधमित्यभिदमिति निरूपणाभावात् अनित्यलक्षणम् । (त. बा. ५, २४, १३; त. सुखबो. ५-२४) । ३. अनित्यलक्षणं चानियताकारम् । (त. श्लो. ५-२४) । ४. ज्ञेयमम्भोचरादीनामनित्यलक्षणं तथा । (त. सा. ३-६४) । ५. इदं वस्तु इत्थंभूतं वर्तते इति वस्तुमशक्यत्वात् अनित्यलक्षणं संस्थानमुच्यते । (त. वृत्ति भूत. ५-२४) । ६. पूर्वभवाकारस्यान्यभाववत्स्थापनाच्छ्रुतिरूपर्या । संस्थानमनित्यस्य स्यादेवामनियताकारम् ॥ (लोकप्र. २-११८) ।

१ किसी एक निश्चित आकार से रहित—अनित्यत आकार वाले—मेधाविकों के संस्थान को अनित्यलक्षण संस्थान कहते हैं । ६ रिक्त स्थानों—जैसे आत्मप्रवेशों से रहित नासिका आदि—की भूति होकर जो अनित्यत आकारवाला मुक्त जीवों का ग्रन्थ प्रकारका आकार हो जाता है वह अनित्यलक्षण आकार कहा जाता है ।

अनित्य—अनित्यो हि प्रतिक्षणविनाशो । (स्या. भं. टी. ५) ।

प्रतिक्षण विनश्यत् वस्तु को अनित्य कहते हैं ।

अनित्यनिगोत—असभावमवाप्ता भवाप्स्यन्ति च ये ते अनित्यनिगोतः । (त. बा. २, ३२, २७) । जो निगोत जीव अस पर्याय को प्राप्त कर चुके हैं व प्राप्ते प्राप्त करने वाले हैं वे अनित्य निगोत कहे जाते हैं ।

अनित्यभावना—देखो अनित्यानुप्रेक्षा ।

अनित्यानुप्रेक्षा—१. इमानि शरीरेन्द्रियविवयोपभोगपरिभोगद्रव्याणि समुदायरूपाणि जलबुद्बुद्बदनवस्थितस्वभावानि गर्भादिष्ववस्थाविशेषेषु सदोपलभ्यमानसंयोगविपर्ययाणि । मोहादत्राक्तो नित्यतां मन्यते । न किञ्चित् संसारे समुदितं श्रुतमस्ति आत्मनो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावादन्यदिति चिन्तनमनित्यतानुप्रेक्षा । (त. सि. ६-७; त. बा. ६, ७, १) । २. इष्टजनसम्प्रयोगद्विविधयसुखसम्पदस्तथाऽऽरोम्यम् । वेहृष्य यौवनं जीवितञ्च सर्वोप्स्यमित्यानि ॥ (प्रज्ञापर. १५१) । ३. च किंचि वि उत्पन्नं तस्स विनाशो भवेइ गियमेण । परिणामसंस्वेण वि ण य किंचि वि सासयं

अतिव ॥ जम्मं मरणेण सयं संपज्जइ भोव्वणं जरासहियं । लच्छी विणाससहिया इय सव्वं भंगुरं भुणह ॥ अयिरं परियणसयणं पुत्त-कलत्तं सुमित्त-जावणं । गिह-गोह्याइ सव्वं 'नवचणविदेण सारिच्छं ॥ सुरवण-तडि व्व चवत्ता इदियविसया सुभिच्छवम्मा य । विट्ठपण्ढा सव्वं तुरय-गावा रह-वरादी य ॥ पंचे पहियजणाणं जह संजोभो हुवेइ खणमित्तं । भंगुजणाणं च तथा संजोभो भट्ठभो होइ ॥ अइलात्तिभो वि देहो प्हाण-सुयंवेहि विविह-अस्सेहि । खणमित्तेण वि विहइइ जलमरिधो धामचइभो व्व ॥ जा सासया च लच्छी चक्कहराणं पि पुण्णवंताणं । सा कि वंसेइ रइ इयरजणाणं धपुण्णाणं ॥ कत्त वि च रमइ लच्छी कुलीण-वीरे वि पंडिइ सरे । पुज्जे धम्मिदुडे वि य सुवत्त-सुयणे महासत्ते ॥ जलबुद्बुयसारिच्छं चण-भोव्वण-जीवियं पि पेच्छता । मण्णति तो वि णिच्चं अइवल्लो मोहमाहप्ता ॥ चइऊण महामोहं विसये भुण्णिऊण भगुरे सव्वे । णिव्विसयं कुणह मणं जेण सुहं उत्तमं लहइ ॥ (कात्तिके. ४-११ च २१-२२) । ४. उपात्तानुपातद्रव्यसंयोगव्यभिचारस्वभावोऽनित्यत्वम् । (त. श्लो. ६-७) । ५. शरीरेन्द्रियविवयोपभोगादेर्न-गुरुत्वमनित्यत्वम् । (त. सुखबो. बु. ६-७) । ६. संसारे सर्वपदार्थानामनित्यताचिन्तनमनित्यभावना । (सम्बोधत्त. बु. १६) ।

१ शरीर तथा इन्द्रिया और उनके विषयभूत भोग-उपभोग द्रव्य जलबुद्बुदों के समान क्षणभंगुर हैं, मोह से अज्ञ प्राणी उनमें नित्यता की कल्पना करता है; वस्तुतः आत्मा के ज्ञान-वर्शनमय उपयोग स्वभाव को छोड़कर और कोई वस्तु नित्य नहीं है, इस प्रकार से चिन्तन करने को अनित्यभावना या अनित्यानुप्रेक्षा कहते हैं ।

अनिदा—नितरां निश्चितं वा सम्यक् दीयते चित्त-मत्स्यामिति निदा $\times \times \times$ सामान्येन चित्तवती सम्यग्विवेकवती वा इत्यर्थः । इतरा त्वनिदा चित्त-विकला सम्यग्विवेकविकला । (प्रज्ञा. मलय. बु. ३५, सू. ३३०) ।

पिछले जब मैं किये गये शुभाशुभ के स्मरण में रह ऐसे चित्त के प्रभाव में प्रपंचा सम्यक् विवेक के अभाव में जित बेचना का अनुभव किया जाता है वह अनिदा बेचना कहलाती है ।

अभिषेकः—सम्बिबरीयं (शिघ्रतविबरीयं—जं पदे-सम्भमोक्तद्विज्जदि, उक्कद्विज्जदि, परपयदि संका-मिज्जदि, उदये दिज्जदि तं) अभिषेकं । (बब. पु. १५, पृ. ५७६) ।

जिस कर्मप्रदेशाद्य का अपकर्षण, उत्कर्षण और पर-प्रकृति संक्रमण किया जा सकता है तथा जो उदय में भी बिना जा सकता है उसे अभिषेक कहते हैं ।

अभिनिग्रय—अभिनिग्रयं मनः अन्तःकरणमित्यनर्था-न्तरम् । × × × ईवदिन्द्रियमभिनिग्रयमिति, यथा अनुदरा कन्या इति । (त. सि. १-१४) । २. अभि-निग्रयं मनोऽनुदरायम् ॥२॥ मनोऽन्तःकरणमभिनिग्रय-मित्युच्यते । (त. भा. १, १४, २) । ३. नेन्द्रियम-भिनिग्रयम्, नो-इन्द्रियं च प्रोच्यते । अनेषदर्थं प्रति-बन्धो द्रष्टव्यो यथाऽनुदरा कन्येति । तेनेन्द्रियप्रति-वेधेनात्मनः करणमेव मनो गृह्यते, तदन्तःकरणं प्रोच्यते । (त. सुखबो. वृ. १-१४) । ४. इन्द्रिया-दन्वदभिनिग्रयं मनः शोधयेति । (त. भा. सिद्ध. व. १-१४) ।

१. इन्द्रियों के समान बाह्य में दृष्टियोग्य न होकर इन्द्रिय के ही कार्य (ज्ञानोत्पादन) के करनेवाले अन्तःकरण रूप मन को अभिनिग्रय कहते हैं ।

अभिनिग्रय जीव—न सन्ति इन्द्रियाणि येषां तेऽभि-न्द्रियाः । के ते ? अशरीराः सिद्धाः । (बब. पु. १, पृ. २४८); न य इदिय-करणजुदा अवगहाई-हि गाह्या अत्ये । नेव य इदियसोक्ता अणिदिया-णतणान-सुहा ॥ (प्रा. पञ्चसं. १-७४; बब. पु. १, पृ. २४८ उ.; गो. जी. १७३) ।

जो इन्द्रिय रूप करणों से मुक्त होकर अवग्रहादि के द्वारा पदार्थों को ग्रहण नहीं करते तथा इन्द्रियजन्य सुख से रहित हैं ऐसे अतीन्द्रिय अमल ज्ञान (केवल-ज्ञान) धारक मुक्त जीव अभिनिग्रय—इन्द्रियविहीन—कहे जाते हैं ।

अभिनिग्रय प्रत्यक्ष—१. अभिनिग्रयप्रत्यक्षं स्मृति-संज्ञा-चिन्तामिनिबोधात्मकम् । (लघी. स्वो. वृ. ६१) । २. अभिनिग्रयप्रत्यक्षं बह्मादिद्वादशप्रकारार्थ-विषयमवग्रहादिविकल्पमष्टवत्त्वारिशात्संख्यम् । (प्रमाणप. पु. ६८) । ३. अभिनिग्रयादेव विसृष्टि-सम्पेक्षादुपजायमानमभिनिग्रयप्रत्यक्षम् । (प्र. र. भा. २-५) । ४. केवलमनोव्यापारप्रभवमभिनिग्रयप्र-त्यक्षम् । (लघीय. अवयव. वृ. ६१) ।

१. स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अभिमिबोध (अनुमान) रूप ज्ञान को अभिनिग्रय प्रत्यक्ष कहते हैं । ४. एक मात्र—इन्द्रियनिरपेक्ष—मन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अभिनिग्रयप्रत्यक्ष कहा जाता है जो उपर्युक्त स्मृति आदि रूप है ।

अभिनिग्रय सुख—अणुवमममेयमकलयममलमजरम-रुजमभयममलं च । एयंतियमच्चंतियमव्वावाचं सुह-मजेयं ॥ (म. भा. २१५३) ।

अनुपम, अमयेय, अमल, निर्मल, अजर, अवयव (रोग-रहित), अभयिरहित, संसारातीत—मुक्तिजनित—ऐकान्तिक (असहाय), आत्यन्तिक (अविनश्यर), निर्बाध और अजेय सुख को अभिनिग्रय या अतीन्द्रिय कहते हैं ।

अभिबद्ध मंगल—जो सुत्तरसादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवदानभोक्कारो तमणिबद्धमंगलं । (बब. पु. १, पृ. ४१) ।

सूत्र के बार्दि में सूत्रकार के द्वारा जो श्रेयता-नम-स्कार किया तो गया हो, पर ग्रन्थ में निबद्ध न किया गया हो, उसे अभिबद्ध मंगल कहते हैं ।

अभिनयत विहार—अभिनयतविहारोऽभिनयतक्षेणावासः । (अन. व. स्वो. दो. ७-६८) ।

अभिनयत क्षेत्र में रहने का नाम अभिनयतविहार है ।

अभिवृत्तिकार—निवृत्तिः सुखम्, अनिवृत्तिः पीडा, तत्करणशीलोऽनिवृत्तिकारः । (आव. मलय. वृत्ति १०८६) ।

स्वभावतः पीडा उत्पन्न करने वाले को अभिवृत्ति-कार कहते हैं ।

अनिर्हारिम—यत्पुनर्गिरिकन्दरादौ तदनिर्हरेणा-दनिर्हारिमम् । (खाना. अभय. वृ. २, ४, १०२) । पर्वत की गुफा आदि में जो पादपोषणमन—छिन्न होकर गिरे हुए पावप (बृत्त) के समान उपगमन—अतिशय निश्चेष्ट अवस्था मुक्त मरण—होता है वह अनिर्हारिम मरण कहलाता है । कारण यह कि बसतिमें हुए मरण में जैसे शरीर का निर्हरण होता है वैसे यह यहाँ नहीं होता ।

अभिवृत्ति (वर्ति)करण—१. यतस्तावन्न निव-र्तते यावत्सम्यक्त्वं न लब्धमित्यतोऽनिवर्तिकरणम् । (त. भा. हरि. वृत्ति १-३, पृ. २५) ; २. निवर्तन-शीलं निवर्ति, न निवर्ति अभिवर्ति, या सम्यग्दर्शन-

सामान्य निवर्तते । (आद्य. हरि. वृत्ति वि. १०६) ।
३. वेनाध्यवसायविशेषेणानिवर्तकेन ग्रन्थिभेदं कृत्वा-
ऽतिपरमाह्लादजनकं सम्यक्सम्बन्धानोति तदनिवृत्ति-
करणम् । (गुण. कमा. स्वो. टी. २२) ।
३ जिस विशिष्ट आत्मपरिणाम के द्वारा जीव ग्रन्थि
को भेदकर अतिशय आनन्दजनक सम्यक्सत्त्व को प्राप्त
करता है वह अनिवर्ति या अनिवृत्तिकरण कहलाता
है । इस परिणाम से जीव सम्यक्सत्त्व की प्राप्ति होने
तक जीव निवृत्त नहीं होता है, अतः उसकी यह
सार्थक संज्ञा है ।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान-१. एकस्मि कालसमए
सठाणादीहि ण्व पिबट्टंति । ण पिबट्टंति तहा वि
य परिणामेहि मिहो जम्हा ॥ हेति अणियट्ठिणो ते
पडिसमय जेसिमेकपरिणामा । विमलयरभाण-
ह्वयवहसिहाहि णिद्वड्ढकम्म-वणा ॥ (आ. पञ्चसं. १,
२०-२१, धव. पु. १, पु. १८६ उ.; गो. जो.
५६-५७; भावसं. वे. ६४६-५०) । २. विणिव-
ट्टंति विमुट्ठि समयपट्ठा वि जस्त अन्नोन्न । ततो
णियट्ठिठाण विवरीयमभो उ अनियट्ठी ॥ (सत्तक.
भा. ८६; गु. गु. वट्. स्वो. बु. १८, पु. ४५) ।
३. परस्परराध्यवसायस्थानव्यावृत्तिलक्षणा । निवृत्ति-
यस्य नास्त्येयोऽनिवृत्ताद्योऽमुमा भवेत् ॥ ततः
पदद्वयस्यास्य विहिते कर्मधारये । स्यात्तोऽनिवृत्ति-
बादरसम्परायामिभस्ततः ॥ तस्यानिवृत्तिबादरसम्प-
रायस्य कीर्तितम् । गुणस्थानमनिवृत्तिबादरसम्प-
रायकम् ॥ (लोकप्र. ३, ११८८-६०) । ४. तुल्ये
समाने काले यतः समा सर्वेषामपि तत्प्रविष्टानां
विशोधिर्भवति, न विषमा; ततो नाम सान्दर्यं निर्व-
चनीय अनिवृत्तिकरणम् । (कर्मसं. भवय. बु. उव. क.
पा. १६) । ५. निवर्तन्तेऽङ्गिणोऽप्योऽप्यं यत्रैकसम-
याश्रिताः । निवृत्तिः कथ्यते तेनानिवृत्तिस्तद्विपर्य-
यात् ॥ (सं. प्रकृतिसि. जयति. १-१४) । ६. युगपदे-
तद्गुणस्थानकं प्रतिपन्नानां बहूनामपि जीवानामन्यो-
ऽन्यमध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्तिः निवृत्तिर्नास्त्यस्येति
अनिवृत्तिः । समकालमेतद् गुणस्थानकमारुढस्या-
परस्य यदध्यवसायस्थानं विवक्षितोऽप्योऽपि कश्चि-
त्तद्ब्रह्मैवेत्यर्थः । (कर्मस्त. वे. स्वो. बु. २) ।
७. भावानामनिवृत्तिस्त्वादिनिवृत्तिगुणास्पदम् ।
(गुण. कमा. ३७) । दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षादि-
संकल्पविकल्परहितनिदलपरमात्मैकत्वाग्रध्यान—

परिणतिरूपाणां भावानामनिवृत्तिस्त्वादिनिवृत्तिगुणा-
स्पदं गुणस्थानं भवति । (गुण. कमा. स्वो. बु.
३७) । ८. दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षादिरूपसमस्त-
संकल्प-विकल्परहितनिजनिदलपरमात्मतत्त्वैकाग्र-
ध्यानपरिणामेन कृत्वा येषां जीवानामेकसमये ये
परस्परं पृथक्कृतुं नायान्ति ते वर्णसंस्थानादिभेदे-
ऽन्यनिवृत्तिकरणोपशमिक-अपकसंज्ञा द्वितीयकषाया-
श्लोकविशतिभेदमिन्नचारित्र्यमोहप्रकृतीनामुपशमक्षपण-
समर्था नवमगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति । (बु. इच्छसं.
टी. १३) । ९. परिणामा निवर्तन्ते मिथो यत्र न
यन्तः । अनिवृत्तिबादरः स्यात् अपकः शमकश्च सः ।
(योगशा. स्वो. वि. १-१६) । १०. अपयन्ति न ते
कर्म शमयन्ति न किञ्चन । केवलं मोहनीयस्य क्षमन-
क्षपणोद्यताः ॥ संस्थानादिना मिन्नाः समानाः परि-
णामतः । समानसमयावस्थास्ते भवन्त्यनिवृत्तयः ।
(पञ्चसं. अमि. १, ३७-३८); एकसमयस्थानाम-
निवृत्तयोऽमिन्नाः करणाः यत्र तदनिवृत्तिकरणम् ।
(पञ्चसं. अमि. १, पु. ३८; अम. व. स्वो. टी.
२, ४६-४७) । ११. साम्प्रदायशब्दे कषायो
सम्यते । यत्र साम्प्रदायस्य कषायस्य स्थूलत्वेनो-
पशमः क्षयश्च वर्तते तदनिवृत्तिबादरसाम्प्रदायसंज्ञं
गुणस्थानमुच्यते । तत्र जीवा उपशमकाः अपकाश्च
भवन्ति । एकस्मिन् समये नानाजीवापेक्षयापि
एकरूपाः परिणामा भवन्ति । यतः परिणामानां पर-
स्परं स्वरूपानिवृत्तिस्तेन कारणेनानिवृत्तिकरणबाद-
रसाम्प्रदायसंज्ञं नवमगुणस्थानमुच्यते । (त. वृत्ति
श्रुतसागर ६-१) ।
जिस गुणस्थान में विवक्षित एक समय के भीतर
वर्तमान सर्व जीवों के परिणाम परस्पर में मिन्न न
होकर समान हों, उसे अनिवृत्तिकरण गुणस्थान
कहते हैं ।

अनिश्चितवचनता—अनिश्चितवचनता रागाद्यक-
लुधितवचनता । (उत्तरा. वि. बु. १-५७) ।
राग-द्वेषादि जलित कालुष्य से रहित वचनों के बोलने
को अनिश्चितवचनता कहते हैं ।

अनिश्चितावग्रह—अनिश्चितमवग्रहकृतीति निश्चितो
लिङ्गप्रमितोऽभिधीयते, यथा सूक्ष्माकुसुमानास्थन्त-
शीत-शुद्ध-स्निग्धादिरूपः प्राक् स्वर्शोऽनुभूतस्तेनानु-
मानेन लियेन तं विषयं न यदा परिच्छिन्नत् तज्ज्ञानं
प्रवर्तते तदा अनिश्चितम् अलिङ्गमवग्रहकृतीत्युच्यते ।

(त. भा. सिद्ध. बृ. १-१६) ।

भिन्निता का अर्थ है लिंग से जाना गया । जैसे कुही के कुलों का झील, कोमल और स्निग्ध आदि कथ स्वर्णं पुरुषं में समुपभ में आया वा; उस अनुमान कथ लिंग से उस विषय को न जानता हुआ कथ ज्ञान उत्पन्न होता है तब वह अनिन्धितावग्रह कहा जाता है ।

अनिष्टयोगार्त—१. आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः । (त. भा. २-३०) । २. अमयुष्माणं सदाहिसियवत्पूण दोसमहलस । अणिघं विधोयचित्तमसंपयोगाचुररणं च ॥ (गु. गु. बट. स्वो. बृ. २, पृ. ८) । ३. अमनोज्ञानां साध्यादीनां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगचित्तनमसम्प्रयोग-प्राधाना च प्रथमम् । (योगशा. स्वो. विच. ३-७३) ।

वेदो अनिष्टसंयोगज आर्तव्यान ।

अनिष्टसंयोगज आर्तव्यान—१. अमनोज्ञानां विप्रयोगां सम्प्रयोगे तेषां विप्रयोगे यः स्मृतिसमन्वाहारो भवति तदातव्यानमाचलते । (त. भा. २-३१) । २. तस्य (अमनोज्ञस्य विषय-कण्टकादेः) सम्प्रयोगे स कथं नाम मे न स्यादिति सङ्कल्पविचिन्ताप्रबन्धः स्मृतिसमन्वाहारः प्रथममार्तमित्याख्यायते । (स. सि. २-३०) । ३. अमनोज्ञस्योपनिपाते स कथं नाम मे न स्यादिति संकल्पविचिन्ताप्रबन्धः आर्तमित्याख्यायते । (त. भा. २, ३०, २; त. स्वो. २-३०) । ४. अमनोज्ञविषयविप्रयोगोपाये व्यवस्थापनं मनसो निश्चलनार्तव्यानम्, केनोपायेन विभोगः स्वादित्येकतानमनोनिवेशनमार्तव्यानमित्यर्थः । (त. भा. सिद्ध. बृ. २-३१) । ५. कूरव्यन्तर-चौर-वैरि-मनुजै-भ्यानिर्मुर्गैरापदि प्राप्तायां गजानादिकंश्च महती तन्माविचिन्ताऽऽपदा । संयोगो न भवेत्सदा कथमिति क्लेशातिनुत्तं मनश्चातव्यानमनिष्टयोगजनित जातं दुरन्तैतसः ॥ (आभा. सा. १०-१५) । ६. विक्षिप्ताः अनिष्टसंयोगेन विभोगं व्याकुलतां प्रातः आकुल-व्याकुलमनाः इति अनिष्टसंयोगमिधानम् आर्तव्यानम् । (कार्तिके. टी. ४७३) ।

२ विषय कण्टक आदि अनिष्ट पदार्थों का संयोग होने पर उसके दूर करनेके लिये मन में जो बार बार संकल्प-विकल्प उठते हैं, इसे अनिष्टसंयोगज आर्तव्यान कहते हैं ।

अनिष्ट—१. गृहस्वामिनाऽनियुक्तेन वा दीयते वसतिः, यत्स्वामिनापि जालेन परवशवर्तिना दीयते सोमयमनियुष्टेति उच्यते । (त. भा. विजयो. टी. २३०) । २. अनिष्टमृष्टमीशानीशाऽनभिमतया यदुच्यते । (आभा. सा. ८-३५) । ३. यद्बहुसाधारणं अन्यैरदत्तं एको गृही दत्ते तदनिष्टम् । (गु. गु. बट. स्वो. बृ. २०, पृ. ५६) । ४. सामान्यं श्रेणी-भक्तकायेकस्य ददतोऽनियुष्टम् । (आभा. रा. गी. बृ. २, १, २६६) । ५. यद् गोष्ठीभक्तादिसर्वैरदत्तमनुमतं वा एकः कश्चित् साधुस्यो ददाति तदनिष्टम् । (योगशा. स्वो. विच. १-३८) । ६. ईशानीशानभिमेतेन स्वाम्यस्वाम्यनभिमेतेन यदीयते तदनिष्टम् । (आभा. टी. २६) । ७. गृहस्वामिना अनियुक्तेन वा दीयते यद् [त] स्वामिनापि जालेन परवशवर्तिना दीयते तद् द्विविधमनियुष्टम् । (कार्तिके. टी. ४४८-४६) ।

१ अनियुक्त—अनधिकारी—गृहस्वामी के द्वारा जो वसति दी जाती है, अथवा पराधीन आत्मक जैसे स्वामी के द्वारा जो वसति दी जाती है, इसका नाम अनिष्टसृष्ट दोष है ।

अनिस्तरणारत्मक तैजस—१. औदारिक-वैक्रिय-काहारकवेहाम्यन्तरस्वर्षं देहस्य दीप्तिहेतुरनिस्तरणात्मकम् । (त. भा. २, ५६, ८ पृ. १५३) । २. जं तमणिस्तरणप्य तेजइयसरीरं त भुतपण-पाणप्याचयं होइण अच्छति अन्तो । (चव. पु. १५, वृ. ३२८) । ४. अनिस्तरणारत्मकं त्वोदारिकवैक्रियका-हारकशरीराभ्यन्तरवर्ति तेषां त्रयाणामपि दीप्तिहेतुकम् । (त. वृत्ति भूत. २-४८) ।

१ औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर के भीतर स्थित जो शरीर देहवीर्य का कारण है उसे अनिस्तरणात्मक तैजस कहा जाता है ।

अनिःसृतावग्रह—१. सुविशुद्धश्रोत्रादिपरिणामात् साकल्येनानुच्चारितस्य ग्रहणादनिःसृतमवग्रहणाति । (त. भा. १, १६, १६, पृ. ६४, पं. ४) ; पञ्चवर्ण-वस्त्रकम्बलचित्रपटादीनां सकृदेकदेशविषयपञ्चवर्णग्रहणात् कृत्स्नपञ्चवर्णवदृष्टेऽभिनिःसृतेऽपि तद्वर्णाविकरणसामर्थ्यादनिःसृतमवग्रहणाति । अथवा देशान्तरस्य पञ्चवर्णपरिणतैकवस्त्रादिकमनात् साकल्येनाकपितस्याप्येकदेशकथनेनैव तत्कृत्स्नपञ्चवर्णग्रहणादनिःसृतम् । (त. भा. १, १६, १६, पृ. ६४,

पं. २८-२९) । २. अणहिमुहमत्पगहणं अणितिया-
वगहो । अहवा तेण (उपमाणीवमेयभावेण) विणा
गहणं अणितियावगहो । (अब. पु. ६, पृ. २०);
वस्त्वेकदेशमवलम्ब्य साकल्येन वस्तुग्रहणं वस्त्वेकदेश
समस्तं वा अवलम्ब्य तत्रासन्नहितवस्त्वन्तरविषयो-
ऽपि अतिःसुतप्रत्ययः । (अब. पु. ६, पृ. १५२);
वस्त्वेकदेशस्य आलम्बनीभूतस्य ग्रहणकाले एकवस्तु-
प्रतिपत्तिः, वस्त्वेकदेशप्रतिपत्तिकाले एव वा दृष्टान्त-
मुच्येन अन्यथा वा अलम्बितवस्तुप्रतिपत्तिः, अनु-
सन्धानप्रत्ययः प्रत्यभिज्ञानप्रत्ययश्च अतिःसुत-
प्रत्ययः । (अब. पु. १३, पृ. २३७); ३. वस्तुस्य
पदेसादो वस्तुग्रहणं तु वस्तुदेसं वा । समयं वा अव-
लम्बिय अणितिसिद्धं अणवस्तुगृहं ॥ पुनश्च गहणे काले
हृत्थिस्स य वदण-नावयगहणे वा । वत्थंतरचंदस्स य
वेणुस्स य बोहणं च हवे ॥ (गौ. जी. ३११-३१२) ।
४. वस्त्वंधाद्वस्तुनस्तस्य वस्त्वधाद्वस्तुनोऽयवा । तत्रा-
सन्नहिताग्न्यस्याग्निमुत्तं मननं यथा ॥ घटावगम-
कन्यास्य-नावयग्रहणक्षणे । स्फुटं घटेन्दु-गोशान-
मभ्याससमयान्विते ॥ (आचा. सा. ४, २०-२१) ।
५. अणभिमुखाग्रहणमणिःसुतावग्रहः । (मूला. बृ.
१२-१८७) । ६. एकदेशदर्शनात् समस्तस्यार्थस्य
ग्रहणमणिःसुतावग्रहः । यथा जलनिमग्नस्य हस्तिनः
एकदेशकरदर्शनादर्थं हस्तीति समस्तस्यार्थस्य ग्रह-
णम् । (त. सुल्लो. बृ. १-१६) ।
१. कानों की निर्मलसाक्ष्य परिणाम के वश पूर्णतया
नहीं उपचारण किये गये शाब्दादि का ग्रहण, अथवा
पाँच वर्षों वाले कम्बल धाँवे के एक भाग से सम्बद्ध
उन पाँच वर्षों के बेल्ने से अदृष्ट और अतिःसुत
भी उन समस्त पाँचों वर्षों का सामर्थ्य से होने
वाला ज्ञान, अथवा देशान्तर के पाँच वर्षों वाले
क्षेत्र के एक देश कथन से ही पूर्णरूप में न कहे
जाने पर भी उसके समस्त पाँच वर्षों का होने वाला
ज्ञान; अतिःसुतावग्रह कहलाता है ।
अनिल्लव—अनिल्लव इति शुद्धीतभूतेनानिल्लवः
कार्यः, यद्यत्सकाशेऽधीतं तत्र स एव कथनीयो
नाम्यः, चित्काशोप्युपपत्तेः । (अर्धवि. बृ. २-११) ।
जिस वृष के समीप में जो कुछ पड़ा हो, उसके विषय
में उसी वृष का उल्लेख करना, अन्य का नहीं; यह
अनिल्लव नामक ज्ञानाधार है ।

अनिल्लवाधार—देखो अनिल्लव । यस्मात् पठितं
भूतं स एव प्रकाशनीयः । यदा पठित्वा भूत्वा ज्ञानी
सम्भातस्तदेव भूतं व्यापनीयमिति अनिल्लवाधारः ।
(मूला. बृ. ५-७२) ।

जिस वृष से शास्त्र पढ़ा हो उसी के नाम को प्रकट
करना, अथवा जिस आगम को पढ़-सुनकर ज्ञानवान्
हुआ हो उसी आगम को प्रकट करना; यह ज्ञान
का अनिल्लवाधार है ।

अनीक—१. सेणोवमा यणीया । (ति. प. ३-६७) ।

२. अनीकं दण्डस्थानीयम् । (त. ति. ४-४) ।

३. दण्डस्थानीयान्धनीकानि । पदात्यादीनि सप्ता-

नीकानि दण्डस्थानीयानि वेदितव्यानि । (त. भा. ४, ४, ७) ।

४. अनीकानि अनीकस्थानीयान्येव ।

(त. भा. ४-४) । ५. अनीकान्यनीकान्येव, सैन्या-

नीत्यर्थः । हय-गज-रथ-पदाति-वाहनस्वरूपाणि प्रति-

पत्तव्यानि । (त. भा. सिद्ध. बृ. ४-४) । ६. दण्ड-

स्थानीयानि सप्तानीकानि भवन्ति । उक्तं च—

गजाश्च-रथ-पदाति-वृष-गन्धर्व-नर्तकी । सप्तानीकानि

ज्ञेयानि प्रत्येकं च महत्तराः ॥ (त. सुल्लो. बृ. ४-४) ।

७. अनीकाः हस्त्यश्च-रथ-पदाति-वृष-गन्धर्व-नर्तकी-

लक्षणोपलक्षितसप्तसैन्यानि । (त. वृत्ति भूत-

सागर ४-४) ।

६ हाथी, घोड़े, रथ, पादचारी, बैल, गन्धर्व और

नर्तकी; इन सात प्रकार की सेना रूप वेदों को

अनीक कहते हैं ।

अनीश्वर—१. निषिद्धमीश्वर भर्ता व्यक्ताव्यक्तो-

भयारमना । वारितं दानमन्येन तन्मन्येन त्वनीश्वर-

रम् ॥ (अन. ब. ५-१५) । व्यक्तरूपेणाव्यक्तरूपेण

व्यक्ताव्यक्तरूपेण च स्वामिना वारितं दानमीश्वरा-

रूपं निषिद्धं विधा स्यात्—व्यक्तेश्वरनिषिद्धमव्यक्ते-

श्वरनिषिद्धं व्यक्ताव्यक्तेश्वरनिषिद्धं चेति । × × ×

तद्यथा—निषिद्धाव्यक्तो दोषस्तावदीश्वरोऽनीश्वर-

श्चेति द्वेषा । तत्राप्याद्यन्तेषां—व्यक्तेश्वरेण

वारितं दानं यदा साधुं श्रुतिं तदा व्यक्तेश्वरो

नाम दोषः, यदाव्यक्तेश्वरेण वारितं श्रुतिं तदा

अव्यक्तेश्वरो नाम, यदैकेन दानपतिना व्यक्तेन द्विती-

येन वाव्यक्तेन च वारितं श्रुतिं तदा व्यक्ताव्य-

क्तेश्वरो नाम तृतीय ईश्वराख्यनिषिद्धभेदस्य भेदः

स्यात् । एषमनीश्वरेऽपि व्याख्येयम् । (अन. ब.

स्वो. टी. ५-१५) ।

अथस्त, अथ्यस्त वा उभयस्य अपने आपकी स्वावी भावनेवाले अथ्य—स्वामी से जिन—अभात्य आवा के द्वारा निवारण किये जाने पर भी दिये गये दान को अभीष्टवर शेष अथ्य दान कहते हैं ।

अनुकम्पा—१. तिसिदं बुभुक्षितं वा दुहितं ददूषण को बु दुहितमणो । पदितज्जदितं तं कियया तस्सेसो होदि अणुकपा ॥ (पञ्चा. का. १३५) । २. अनुष-हार्दीकृतचेतसः परपीडाभात्मस्थामिव कुर्वतोऽनुकम्प-ममनुकम्पा । (स. सि. ६-१२; त. बा. ६, १२, १) । ३. सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा । (त. बा. १, २, ३०) । ४. त्रस-स्वावरेषु दयाऽनुकम्पा । (त. श्लो. १, २, १२) । ५. अनुकम्पा दुःखितेषु कारुण्यम् । (त. भा. हरि. बृ. १-२) । ६. ददूषण पाणि-निवहं भीमे भव-सायरम्मि दुःखस्त । अविसेसतोऽणुकप दुहावि सामत्यतो कुणति ॥ (धर्मसं. ८११; भा. प्र. ५८) । ७. अनुकम्पा घृणा कारुण्यं सत्त्वानामु-परि, यथा सर्व एव सत्त्वा सुखादिनो दुःखग्रहाणा-विनद्वच, नैतेषामल्पापि पीडा मया कार्याति निविचस्य चेतसाऽऽर्द्धेण प्रवर्तते स्वहितमभिवाञ्छन् $\times \times \times$ । (त. भा. सिद्ध. १-२); अनुकम्पा दया घृणेत्यनर्पा-न्तरम् । $\times \times \times$ अथवा अनुग्रहबुद्ध्याऽऽर्द्धीकृत-चेतसः परपीडाभात्मस्थामिव कुर्वतोऽनुकम्पनमनु-कम्पा । (त. भा. सिद्ध. बृ. ६-१३) । ८. सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य दयाद्रत्वं दयालवः । धर्मस्य परम मूलमनुकम्पां प्रवक्षते ॥ (उपासका. २३०) । ९. अनुकम्पा दुःखितसत्त्वविषया कृपा । (धर्मवि. सु. बृ. ३-७) । १०. अनु पदवाद् दुःखितसत्त्वकम्पना-वनन्तरं यत्कम्पनं सा अनुकम्पा । (बृहत्क. बृ. १३२०) । ११. अनुकम्पा दुःखितेषु अपसपातेन दुःखग्रहाणेच्छा । (योगशा. स्वो. विच. २-१५) । १२. एकेन्द्रियप्रभृतीना सर्वेषामपि देहिनाम् । भवा-म्भो मज्जतां क्लेशं पश्यतो हृदयाद्रता ॥ तदुदुःखै-र्दुःखितत्व च तत्प्रतीकारहेतुषु । यथाशक्ति प्रवृत्ति-हृत्तेयनुकम्पाऽभिधीयते ॥ (वि. श. पु. च. १, ३, ६१५-६१६) । १३. विलस्यमानजन्तूद्वारणबुद्धिः अनुकम्पा । (अ. भा. भूला. टी. १६६६) । १४. $\times \times \times$ अनुकम्पाऽलितसत्त्वकृपा $\times \times \times$ ॥ (अन. च. २-५२) । १५. अनुकम्पा कृपा सेवा सर्व-सत्त्वेष्वनुग्रहः । (लाटीसं. ३-८६; पंचाध्यायी

२-४४६) । १६. दुःखितं जन्म दृष्ट्वा कारुण्यपरि-णामोऽनुकम्पा । (चारित्र्यप्रा. टी. १०) । १७. सर्वेषु प्राणिषु चित्तस्य दयाद्रत्त्वमनुकम्पा । (त. वृत्ति-भूत. १-२; कालिके. टी. ३२६; त. सुखबो. पृ. १-२ व ६-१२) । १८. घातमवत् सर्वसत्त्वेषु सुख-दुःखयोः प्रियाप्रियत्ववशेन परपीडापरिहारेच्छा । (शास्त्रवा. टी. ६-५) ।

१ तुषित, बुभुक्षित एवं दुःखित प्राणी को देखकर उसके दुःख से स्वयं दुःखी होना व मन में उसके उद्धार की चिन्ता करना, इसका नाम अनुकम्पा है । अनुकृष्टि (अणुकृष्टी)—१. अघापवत्तकरणपद-मसमयपट्टि जाव चरमसमभो ति ताव पादेकक-मेककेकम्मि समए अंसंखेज्जलोगमेत्ताणि परिणाम-ट्टाणाणि छवद्विकमेणावट्टिदाणि ट्टिदिवंबोसरणा-दीणं कारणभूदाणि अत्थि, तेसि परिवाडीए विरचि-दाण पुणरुत्तापुणरुत्तभावगवेसणा अणुकट्ठी णाम । अनुकर्षणमनुकृष्टिरन्योन्येन समानत्वानुचिन्तनमि-त्यनर्थान्तरम् । (अथथ. अ. प. ६४६) । २. अणुकट्ठी णाम [अणिमोगद्वारं] ट्टिदि पडि ट्टिदिवंबज्ज-साणट्टाणाण समाणसमसमाणत्त व पकवेदि । (अथ. पु. ११, पृ. ३४६) । ३. अनुकृष्टिर्नाम अघस्तन-समयपरिणामस्थानामुपरितनमयपरिणामखण्डैः सादृश्यम् । (गो. जो. जो. प्र. ४६) ।

१ अथःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय तक प्रत्येक समय में जो अंसंख्यात लोक मात्र परिणामस्थान छह वृद्धियों के क्रम से अवस्थित होते हुए स्थितिबन्धापसरणादि के कारण होते हैं, परिपाटी क्रम से विरचित उन परिणामों की पुन-रुक्तता व अयुनरुक्तता की खोज करना, इसका नाम अनुकृष्टि है ।

अनुक्त—१. अनुक्तमभिप्रायेण ग्रहणम् । (स. सि. १-१६) । २. अनुक्तमभिप्रायेण प्रतिपत्तेः ॥ १२ ॥ 'अभिप्रायेण प्रतिपत्तिरस्ति' इत्यनुक्तग्रहण क्रियते । (त. बा. १, १६, १२) । ३. प्रकृष्टविशुद्धिश्चोत्रे-न्द्रियादिपरिणामकारणत्वात् एकवर्णनिर्घमेऽपि अभि-प्रायेणवानुच्चारितं शब्दमवगृह्णाति 'इमं भवान् शब्दं वक्ष्यति' इति । अथवा, स्वरसम्भारणात् प्राक् तृतीयोद्व्यातोद्याद्यामधेनेनैव अवादिमनुक्तमेव शब्दमभिप्रायेणावगृह्णाच्छब्दे 'भवानिमं शब्दं वाक-यिष्यति' इति । (त. बा. १-१६, पृ. ६४४.

५-८) । ३. स्तोत्रपुद्गलनिष्कालेरनुक्तस्त्वामि-
संहितः । (त. इतो. १, १६, ७) । ४. अनुक्तस्तू-
क्तादभ्यः इति । अनया कल्पनया शब्द एवानकारा-
त्मकोऽभिधीयते, तमवगृह्णाति अनुक्तमवगृह्णातीति
भण्यते । (त. भा. सिद्ध. बु. १-१६) । ५. प्रत्यक्ष-
नियताज्यादृगुणावैकाक्षबोधनम् । अनुक्तम् \times
 $\times \times$ ॥ (आद्या. सा. ४-२३) । ६. अनि-
यमितगुणविशिष्टद्रव्यग्रहणमनुक्तावग्रहः । (भूला.
बु. १२-१८७) । ७. अनुक्तं चाभिप्राये स्थितम् ।
(त. ब्रुति भुत. १-१६) ।

१ शब्दोच्चारण को बिना अभिप्राय से ही पदार्थ को
ग्रहण करने को अनुक्त-अवग्रह कहते हैं । इसी को
अनुक्तप्रत्यय या अनुक्तज्ञान भी कहते हैं ।

अनुक्तप्रत्यय—देखो अनुक्त । इन्द्रियप्रतिनियत-
गुणविशिष्टवस्तुपलम्भकाल एव तदिन्द्रियानियत-
गुणविशिष्टस्य तस्योपलब्धिर्यतः सोऽनुक्तप्रत्ययः ।
(अध. पु. ६, पृ. १५३-१५४) ।

विवक्षित इन्द्रिय के प्रतिनियत गुण—जैसे स्पर्शन
का स्पर्श—से विशिष्ट वस्तु के उपलम्भ के समय में
ही उसके अनियत गुण—जैसे उक्त स्पर्शन के
रसादि—से विशिष्ट उस वस्तु की जिस ज्ञान से
उपलब्धि होती है वह अनुक्तप्रत्यय कहलाता है ।
जैसे—नमक के उपलम्भ के समय में ही उसके
खारेपन का ज्ञान अथवा शक्कर के वृष्टिगोचर
होने पर उसकी मिठास का ज्ञान ।

अनुक्तावग्रह—देखो अनुक्तप्रत्यय । १. अनिय-
मितगुणविसिद्धद्रव्यग्रहणमज[गु]तावग्रहो । जहा
—चक्षुर्दिष्टा गुहादीर्णं रसस्व गृहणं, घाणिदि-
ष्टा दृष्टिदीर्णं रसग्राहणमिच्छादि । (अध. पु. ६,
पृ. २०) । २. अनिमानयेति केनचिद् भणिते कर्ष-
रादिना समानयेति परेणानुक्तस्य कर्षरादेरन्या-
ननोपायस्य स्वयमूहनमनुक्तावग्रहः । (त. सुखबो.
बु. १-१६) ।

अनियमित गुणविशिष्ट वस्तु के ग्रहण को अनुक्ताव-
ग्रह कहते हैं । जैसे—चक्षु इन्द्रिय से गुह आदि को
देख कर उनके रस का अथवा आण इन्द्रिय से सूँघ
कर वही आदि के रस का ज्ञान ।

अनुगम—१. अनुगम्यतेऽनेनास्मिन्वेति अनुगमनम्
अनुगमः । अनुगो वा सूत्रस्य यमोजुगमः सूत्रानु-
सरणमित्यर्थः । (उत्तरा. बु. पृ. ६) । २. अधवि-

गमनमनुगमः, अनुसूच्यगमनं वा अनुगमः, अनुसू-
च्यवाञ्जितस्यानुगमनाद्वा अनुगमः; सूत्रानुसूच्यगमनं
वा अनुगमः । (अनुयो. बु. १३-५३,
पृ. २३) । ३. अनुगमनम् अनुगमः, अनुगम्यते
वाऽनेनास्मादस्मिन्निति वाऽनुगमः सूत्रस्यानु-
सूच्यः परिच्छेद इत्यर्थः । (आद्य. हरि. वृ. नि.
७६, पृ. ५४) । ४. तथानुगमः आनुपूर्व्या-
दीनामेव सत्यवप्ररूपणादिभिरनुयोगद्वारैरनेकवाऽनु-
गमनम् अनुगमः । (अनु. हरि. वृ. पृ. ३२) । ५.
यथावत्स्वबोधः अनुगमः, केवल-भूतकेवलिभिर-
नुगतानुरूपेणावगमो वा । (अध. पु. ३, पृ. ८);
जघा दव्याणि द्विदाणि तथावबोधो अनुगमो ।
(अध. पु. ४, पृ. ६ व पृ. ३२२); जम्ह जेण वा
वत्तव्यं पक्खिज्जदि सो अनुगमो । अहियारसण्ण-
दाणमणिभोगद्वारणं जे अहियारा तेसिमणुगमो सि
सण्णा । $\times \times \times$ अथवा अनुगम्यन्ते जीवादयः
पदार्था अनेनेत्यनुगमः । (अध. पु. ६, पृ. १४१) ।
६. अनुगम्यतेऽनेन प्राक् ततोऽधिकार इत्यनुगमः ।
(अध. वच ४५६) । ६. अनुगमः संहितादिब्याख्या-
नप्रकाररूपः उद्देश-निर्वेश-निर्गमनादिद्वारकलापा-
त्मको वा । (समवा. अध. बु. १४०) ।
७. सूत्रस्यानुसूच्यमर्थकयमनुगमः, अथवा अनु-
गम्यते व्याख्यायते सूत्रमनेनास्मिन्स्मादिति वा ।
(अनुयो. मल. हेम. बु. सू. ५६) । ८. एवमनुगम-
नमनुगम्यतेऽनेनास्मिन्स्मादिति वा अनुगमः,
निष्पत्तिसूत्रस्यानुसूच्यः परिच्छेदोऽर्थकयमिति
यावत् । (अम्भुद्दी. शान्ति. बु. पृ. ५) । ९. अनुगम-
नमनुगमः, सूत्रस्यानुसूच्यमर्थकयमिति । (अध. बु. भा.
मलय. बु. १, पृ. १) । १०. अनुगमनमनुगम्यते
वा शास्त्रमनेनेति अनुगमः सूत्रस्यानुसूच्यः परिच्छेदः ।
(आद्य. मलय. बु. नि. ८६, पृ. ६०) । अनुसूच्यं
सूत्रार्थावाच्यता तदनुगुणं गमनं संहितादिक्रमेण
व्याख्यातुः प्रवर्तनमनुगमः । (उत्तरा. नि. बु. २८,
पृ. १०); सूत्रस्यानुगतिविचित्रानुगमः $\times \times \times$ ।
(उत्तरा. नि. बु. २८, पृ. ११ उद्.) ।

५ (अ. पु. ६) जिस अधिकार में या जिसके द्वारा
वस्तव्य पदार्थ की प्ररूपणा की जाती है उसे अनुगम
कहते हैं । अधिकार नामक अनुयोगद्वारों के जो
अवन्तर अधिकार होते हैं उनका नाम अनुगम है ।
अथवा जिसके द्वारा जीवादि पदार्थ जाने जाते हैं

जसे धनुष्य भवाना चाहिये ।

धनुष्यामी अवधि—१. से किं तं धानुष्यामिधं धोहि-
पाणं ? धानुष्यामिधं धोहिपाणं दुविहं पणत्तं । तं
जहा—अंतगयं च मज्झमयं च । से किं तं अंतगयं ?
अंतगयं ति विहं पणत्तं । तं जहा—पुरधो अंतगयं
मगधो अंतगयं पासधो अंतगयं । से किं तं पुरधो
अंतगयं ? पुरधो अंतगयं—से जहा नामए केइ पुरसे
उक्कं वा चडुलिधं वा भलायं वा मणिं वा पईवं
वा जोइं वा पुरधो काउं पणुल्लेमाणे पणुल्लेमाणे
गच्छेज्जा, से तं पुरधो अंतगयं । से किं तं मगधो
अंतगयं ? मगधो अंतगयं—से जहा नामए केइ
पुरसे उक्कं वा चडुलिधं वा भलायं वा मणिं वा
पईवं वा जोइं वा मगधो काउं धनुकइमाणे धनु-
कइमाणे गच्छेज्जा से तं मगधो अंतगयं । से
किं तं पासधो अंतगयं ? पासधो अंतगयं—से जहा
नामए केइ पुरसे उक्कं वा चडुलिधं वा भलायं
वा मणिं वा पईवं वा पासधो काउं परिकइमाणे
परिकइमाणे गच्छेज्जा से तं पासधो अंतगयं ।
से तं अंतगयं । से किं तं मज्झमयं ? मज्झमयं से
जहानामए केइ पुरसे उक्कं वा चडुलिधं वा भलायं
वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा मत्थए काउं समुज्ज-
हमाणे समुज्जहमाणे गच्छेज्जा से तं मज्झमयं ।
× × × से तं धानुष्यामिधं धोहिपाणं । (मन्वी. सू.
१०, पृ. ८२-८३ च ८५) । २. कश्चिदवधिर्मा-
स्करप्रकाशवद् गच्छन्तधनुष्यच्छति । (त. सि. १,
२२; त. बा. १, २२, ४) । ३. धनुष्यामिधोऽनु-
गच्छइ गच्छंतं लोचयं जहा पुरितं । (विशेषा.
७११) । ४. जमोहिपाणमुपपणं संतं जीवेण सह
गच्छइ तमधुगामी नाम । (बब. पु. १३, पृ. २६४) ।
५. विशुद्धधनुगमव पुसोऽनुगामी देशतोऽज्विः ।
परमावधिरप्युस्तः सर्वविधिरपीदृशः ॥ (त. श्लो.
१, २२, ११) । ६. तज गच्छन्तं पुरुषं धा समन्ता-
दनुगच्छतीत्येवशीलमानुषामी । धानुष्याम्येवानुष्यामि-
कम् । स्वार्थे 'क' प्रत्ययः । अथवा धनुष्यमः प्रयो-
जनं यस्य तदानुष्यामिकम् । यत्स्वीचनवद् गच्छन्तय-
नुगच्छति तदवधिज्ञानमानुष्यामिकमिति भावः ।
(मन्वी. मलय. पु. ६, कर्मस्त. गो. वृ. ६-१०) ।
७. तज भास्करप्रकाशवद् देशान्तर गच्छन्तधनु-
ष्यच्छति विशुद्धिपरिणामवशात् सोऽज्विरनुगामी ।
(त. बुलबी. वृ. १-२२) । ८. यदवधिज्ञानं स्वस्वा-

मिनं जीवमनुगच्छति तदनुगामी । (गो. जी. सं.
प्र. ब जी. प्र. टीका ३७२) । ९. कश्चिदवधिर्ग-
च्छन्तं भवान्तरं धानुष्यन्तमनुगच्छति पृच्छतो याति
सवितुः प्रकाशवत् । (त. वृत्ति भूत. १-२२) ।
१०. यदि देशान्तरगतमप्यन्येति स्वचारिणम् ।
धनुष्याम्यवधिज्ञानं तद्विज्ञेयं स्वनेत्रवत् । (लोकप्र.
३-८३६) ।

२ सुबं के प्रकाश के समान देशान्तर या भवान्तर में
जाते हुए अवधिज्ञानी के साथ जाने वाले अवधिज्ञान
को धनुष्यामी अवधिज्ञान कहते हैं ।

धनुषग्रह—१. स्व-परोपकारोऽनुग्रहः । (त. सि.
७-३८; त. बा. ७-३८; त. श्लो. ७-३८ त.
वृत्ति भूत. ७-३८) । २. अनुग्रहः परस्परपरोपकारा-
दिलक्षणो जीवानाम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ७-७) ।
अनुग्रहोऽनेत्यनुग्रहोऽस्मादिरूपकारकः प्रतिगृहीतः,
दातुश्च प्रधानानुपङ्गिकफलम् । प्रधानं मुक्तिः,
मानुषङ्गिकं स्वर्गादिप्राप्तिः । (त. भा. सिद्ध. वृ.
७-३३) ।

१ अपने और पर के उपकार को अनुग्रह कहते हैं ।

२ जीवों के परस्परिक उपकार को भी अनुग्रह
कहा जाता है ।

अनुग्रहबुद्धि—रागवशात् कटक-कटिसूत्रादिना
श्रवणमिध्यायोऽनुग्रहबुद्धिं कुर्वते । (समाधि. टी. ६१) ।
अहिरास्मा राग के वश से कटक व कटिपुत्र आदि
अनुग्रहों के द्वारा बुद्धि करने के अभिप्राय रूप
अनुग्रहबुद्धि को करते हैं ।

अनुच्छेद—परमाणुगदएगादिवज्जसंज्ञाए धणोसि
दब्बाणं सखावगमो धनुच्छेदो नाम । अथवा,
पोगालागासादीणं पिण्डिभागच्छेदो धनुच्छेदो नाम ।
(धव. पु. १४, पृ. ४३६) ।

परमाणुगत एक आदि द्रव्यसंख्या से अन्य द्रव्यों की
संख्या का बोध होना, इसका नाम अनुच्छेद है ।
अथवा पुद्गल व आकाश आदि के विभागरहित
छेद को अनुच्छेद जानना चाहिए ।

धनुषा—१. सूत्रार्थयोरन्यप्रदानं प्रदानं प्रत्यनुमन
धनुषा । (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. धा. १-११५) ।

२. निषेधाभावव्यञ्जिकाऽनुषा । (शास्त्रवा. ३,
३ टी.) ।

वृत्तरे के लिए सूत्र और अर्थ के स्वयं प्रदान करने
को तथा प्रदान करते हुए अन्य की अनुमोदना करने

को अनुज्ञा कहते हैं ।

अनुत्कृष्ट वेदना—१. तत्त्वदिरित्तमणुकस्सा । (वट्ठं. ४, २, ४, ३३—पु. १०, पृ. २१०); २. तदो उक्कस्सादो वदिरित्तं जं दव्वं तमणुकस्स (आणावरणीय) वेयणा होदि । (अब. पु. १०, पृ. २१०) ।
उत्कृष्ट वेदना से विपरीत ज्ञानावरण की द्रव्यवेदना को अनुत्कृष्ट द्रव्यवेदना कहते हैं ।

अनुत्कृष्ट द्रव्यवेदना—१. तत्त्वदिरित्तमणुकस्स । (वट्ठं. ४, २, ४, ४७—पु. १०, पृ. २५५) ।
२. तदो उक्कस्सादो वदिरित्तमणुकस्सवेयणा (आउवस्स) । (अब. पु. १०, पृ. २५५) ।
उत्कृष्ट वेदना से विपरीत आयु की द्रव्यवेदना को अनुत्कृष्ट द्रव्यवेदना कहते हैं ।

अनुत्तर (श्रुतज्ञान) — उत्तरं प्रतिवचनम्, न विद्यते उत्तरं यस्य श्रुतस्य तदनुत्तरं श्रुतम् । अथवा अधिकम् उत्तरम्, न विद्यते उत्तरोज्यसिद्धान्तः अस्मादित्यनुत्तरं श्रुतम् । (अब. पु. १३, पृ. २८३) ।
जिस श्रुतवचन का कोई प्रतिवचनरूप उत्तर उपलब्ध न हो, उसे अनुत्तर (श्रुत) कहते हैं । अथवा जिससे अधिक कोई अन्य सिद्धान्त न हो, ऐसे आश्रुत को अनुत्तर (श्रुत) कहते हैं ।

अनुत्तरीपपादिकदशा—१. × × × अनुत्तरो-ववाइअदसासु ण अणुत्तरोववाइअणं नगराई उज्जाणाइ चेइअण्ण वणलडाई समोसरणाइ रागाणो धम्मयोरिया धम्मकहाओ इहलोइअ-परलोइअ इडिठ-विसेसा भोगपरिज्वागा पव्वज्जाओ परिआगा सुअपरिगहा तवोवहाणाई पडिआओ उवसग्गा संलेहणाओ भत्तपच्चक्खणाई पाओवगमणाई अणुत्तरो-ववाइयत्ते उववत्ती सुकुलपच्चायाईओ पुण बोहिलामा अंतकिरिआओ आशविज्जति × × × से तं अणुत्तरोववाइयदसाओ । (नन्दी. सू. ५३) । २. उपपादो जन्म प्रयोजनमेवां त इमे श्रोपादिकाः, विजय-वैजयन्त-जयन्ताऽपराजित-सर्वाथसिद्धात्मनि पञ्चानुत्तराणि । अनुत्तरेषु श्रोपादिकाः अनुत्तरीपपादिकाः श्रुतिदास-वा(ध)न्य-सुनक्षत्र-कातिक-नन्द-नन्दन-शालिमद्राऽभय-वारिषेण-चिलातपुत्रा इत्येते दश वर्ष-मानतीर्थकरतीर्थे । एवमृषभादीना त्रयोविंशतेस्तीर्थेषु अन्ये अन्ये दश-दशानगराः दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य विजयाद्यनुत्तरेषूत्पन्ना इत्येवमनुत्तरीपपादिका दशा-

अस्यां वर्ण्यन्त इति अनुत्तरीपपादिकदशा, अथवा अनुत्तरीपपादिकानां दशा अनुत्तरीपपादिकदशा तस्या-मायुर्वैक्रियिकानुबन्धविशेषः । (त. भा. १, २०, १२; अब. पु. ६, पृ. २०२) । ३. उत्तरः प्रधानः, नास्यो-त्तरो विद्यत इति अनुत्तरः । उपपत्तनमुपपातः, जन्मे-त्यर्थः । अनुत्तरः प्रधानः संसारे ज्यस्य तथाविधस्या-भावात्, उपपातो येषामिति समासः, तद्वक्तव्यता-प्रतिबद्धा दशाः दशाभ्यनोपलक्षिता अनुत्तरीपपा-दिकदशाः । (नन्दी. हरि. वृ. पृ. १०५) । ४. अणु-त्तरोववाडियदसा णाम अंणं बाणउविलक्ख-वोयाल-सहस्सपदेहि (६२४४०००) एककेकम्हि य तित्थे दारुणे बह्विहोवसग्गे सहिऊण पाडिहेरं लब्धूण अणु-त्तरविमाणं गदे दस दस वण्णेहि । (अब. पु. १, पृ. १०३) । ५. अनुत्तरीपपादिका देवा येषु क्याप्यन्ते ताः अनुत्तरीपपादिकदशाः । (त. भा. सिद्ध. वृ. १-२०) । ६. चतुषत्त्वारिंशत्सहस्रदिनवतिलक्षम्-परिमाणं प्रतितीर्थं निजितदुद्धरोपसर्गाणां समासा-दितपञ्चानुत्तरीपपादानां दश-दशमुनीनां प्रकृपकम् अनुत्तरीपपादिकदशम् । उपपादो जन्म प्रयोजनं येषां ते श्रोपादिका मुनयः, अनुत्तरेषु श्रोपादिकाः अनुत्तरीपपादिकाः, ते दश यत्र निरूप्यन्ते तत्त-थोक्तम् । (श्रुतभक्ति टीका ८) । ७. तीर्थं कूराणां प्रतितीर्थं दश दश मुनयो भवन्ति । ते उपसर्गं सोढ्वा पञ्चानुत्तरपदं प्राप्नुवन्ति । तत्कथानिरूपकं चतुषत्त्वारिंशत्सहस्रदिनवतिलक्षपदप्रमाणमनु-त्तरीपपादिकदशम् । (त. वृत्ति श्रुत. १-२०) । ८. ति-अहं-चउ-चउ-दुग-अव-ययाणि चाणुत्तरोववाव-दसे । विजयादि(री)सु पंचसु य उववायिया विमाणेषु ॥ पठितित्थं सहिऊण ह्वा दारुवसग्गोप-लब्धमाहृष्या । बह् बह् मुणिणो बिहिणा पाणे मोत्तूण आणमया ॥ विजयादिसु उववण्णा वणिज्जत्ते सु-हावसुह्वह्वला । ते णमह् बीरतित्थे उज्जु (रिसि) दासो सासिमह्वक्खो ॥ सुणक्खत्तो अमयो वि अ वण्णो वरवारिसेण-गंदणया । गंदो चिलायपुत्तो कत्त-इयो जह् तह् अण्णे ॥ (अवपण्णत्तो १, ५२-५५) । ९. अनुत्तरेषु विजय-वैजयन्त-जयन्ताऽपराजित-सर्वा-थसिद्धात्मास्थेऽपीपपादिका अनुत्तरीपपादिकाः । प्रति-तीर्थं दश दश मुनयो दारुणान् महोपसर्गान् सोढ्वा लब्धप्रातिहार्याः समाधिभिर्विना त्यक्तप्राणा ये विजयाद्यनुत्तरविमानेषूत्पन्नास्ते वर्ण्यन्ते यस्मिंस्तद-

नुत्तरीपपादिकदश नाम नवममङ्गम् । (शो.षो. जी. प्र. ३५७) ।

२ उपपाद अर्थात् जन्म ही जिनका प्रयोजन है वे प्रोपपादिक कहे जाते हैं । प्रत्येक तीर्थंकर के समय में बारण उपसर्गों को सहन करके विजयादि पांच अनुत्तर विधानों में उत्पन्न होने वाले दस दस महानुसिद्धों के चरित्र का जिस अंग में वर्णन किया जाता है उसे अनुत्तरीपपादिकदश या अनुत्तरीपपादिकदशांग कहते हैं । जैसे—वर्षमान तीर्थंकर के तीर्थ में श्रद्धादास आदि दस का (मूल में देखिये) । अनुत्पादानुच्छेद—अनुत्पादः असत्त्वम्, अनुच्छेदोऽविनाशः । अनुत्पाद एव अनुच्छेदः (अनुत्पादानुच्छेदः), असत् अभाव इति यावत्, सतः असत्त्वविरोधात् । एतौ पञ्चवद्विषयव्यवहारौ । (बच. पु. ८, पृ. ६-७); अणुत्पादानुच्छेदो नाम पञ्चवद्विषयौ, तेन असत्तावत्त्वाए अभाववयएसमिच्छादि, भावे उबलव्यमगणे अभावतविरोहादौ । (बच. पु. १२, पृ. ४५८) ।

पर्यायाधिक नय को अनुत्पादानुच्छेद कहा जाता है । अनुत्पाद का अर्थ असत्त्व और अनुच्छेद का अर्थ है अविनाश । 'अनुत्पाद ही अनुच्छेद' ऐसा कर्मधारय समास करने पर उसका अभिप्राय होता है असत् का अभाव । कारण कि कभी सत् का अभाव सम्भव नहीं है । अतः अभाव का व्यवहार पर्यायाधिक नय की अपेक्षा ही सम्भव है ।

अनुत्सेक—१. विज्ञानादिभिरुत्कृष्टस्यापि सतस्तत्कृतमदविरहोऽनहङ्कारताऽनुत्सेकः । (स. सि. ६, २६; स. भा. ६, २६, ४; स. श्लो. ६-२६; ल. सुप्रबो. वृ. ६-२६) । २. उत्तेको गर्वः श्रुत-जात्यादिजनितः, नोत्तेकोऽनुत्तेको विजितगर्वता । (स. भा. हरि. ब सिद्ध. वृ. ६-२५); उत्तेकश्चित्त-परिणामो गर्वरूपः, तद्विपर्ययोऽनुत्तेकः । (स. भा. हरि. ब सिद्ध. वृ. ६-६) । ३. ज्ञान-तपःप्रभृतिभि-गुणैर्बहुकृष्टोऽपि सन् ज्ञान-तपःप्रभृतिभिर्मदमहंकारं यन् करोति सोऽनुत्सेक इत्युच्यते । (स. वृत्ति श्रुत. ६-२६) ।

१ विशिष्ट ज्ञान और तप आदि से उत्कृष्ट होकर भी उनका मय—अहंकार—न करना, इसका नाम अनुत्सेक है ।

अनुदयबन्धोत्कृष्ट — १. अनुदये बन्धादुत्कृष्ट

स्थितिसत्कर्म यासां ता अनुदयबन्धोत्कृष्टाः । (पञ्चसं. स्तो. वृ. ३-६२) । २. यासां तु विपा-कोदयाभावे बन्धादुत्कृष्टस्थितिसत्कर्मवातिस्ता अनु-दयबन्धोत्कृष्टाः । (पञ्चसं. मलय. वृ. ३-६२; कर्म-प्र. यशो. टी. १, पृ. १५) ।

२ जिन कर्मप्रकृतियों का विपाकोदय के अभाव में बन्ध से उत्कृष्ट स्थितिसत्त्व पाया जाता है, उन्हें अनुदयबन्धोत्कृष्ट कहते हैं ।

अनुदयवती प्रकृति (अश्रुदयवर्द्ध)—१. चरित्त-समयमि दलियं जासि अन्नत्थ संकमे ताओ × × × ॥ (पञ्चसंग्रह ३-६६) । २. यासां प्रकृतीनां दलिकं चरित्तसमयेऽन्यासु प्रकृतिषु स्तिबुक्तसंक्रमेण सं-क्रम्य अन्यप्रकृतिव्यपदेशेनानुमवेत्, न स्वोदयेन, ताः अनुदयवत्योऽनुदयवतीसंज्ञाः । (पञ्चसं. मलय. वृत्ति ३-६६; कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. १५) ।

जिन कर्मप्रकृतियों का प्रवेशपिण्ड चरित्त समय में स्तिबुक्त संक्रमण के द्वारा अन्य प्रकृतियों में संक्रान्त होकर अन्य प्रकृतिरूप से ही विपाक को प्राप्त हो, स्वोदय से नहीं; उन प्रकृतियों को अनुदयवती प्रकृतियाँ कहते हैं ।

अनुदयसंक्रमोत्कृष्ट—१. अनुदये सक्रमेण उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म यासां ता अनुदयसंक्रमोत्कृष्टाः । (पञ्चसं. स्तो. वृ. ३-६२) । २. यासां पुनरनुदये संक्रमत उत्कृष्टस्थितिलाभस्ता अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा-स्याः । (पञ्चसं. मलय. वृ. ३-६२); अनुदये सति संक्रमत उत्कृष्टा स्थितियासां ता अनुदयसंक्रमोत्कृष्टाः । (पञ्चसं. मलय. वृ. ५-१५५) ।

२ जिन कर्मप्रकृतियों का विपाकोदय के अभाव में संक्रमण से उत्कृष्ट स्थितिसत्त्व पाया जावे, उन्हें अनुदयसंक्रमोत्कृष्ट कहते हैं ।

अनुदीर्घोपशामना—जा सा अकरणोवसामणा तिस्ते दुवे णामधेयाणि—अकरणोवसामणा त्ति वि अणुदिण्णोवसामणा त्ति वि । (कसायपा. वृत्ति पृ. ७०७) ।

वेणो अकरणोवसामना ।

अनुनादित्व — १. अनुनादित्वं प्रतिरवोपेतत्वम् । (समवा. अभय. वृ. सू. ३५) । २. अनुनादिता प्रति-रवोपेतता । (रायप. मलय. वृ. पृ. १६) ।

शब्द का प्रतिध्वनि से सहित होना, इसे अनुनादित्व कहते हैं ।

अनुपक्रम—१. जेणाउमुवकमिज्जइ अण्यसमुत्थेन इय-
रोगेणावि । सो अज्झवसाणाई उवकमो अनुवकमो
इमरो । (संग्रहणी. २६६) । २. इतरस्तु तद्विपरीतो
(आयुषोऽपवर्तनहेतुभूताव्यवसानादिनाऽऽत्मसमुत्थेन
बाह्येन च विधाग्नि-शस्त्रादिना विरहितो) अनुप-
क्रमः । (संग्रहणी. वे. बृ. २६६) ।

आयु के अपवर्तन (विघात) के कारणभूत अव्यव-
सान आदि तथा बाह्य विष, शस्त्र एवं अग्नि आदि
के अभाव का नाम अनुपक्रम है ।

अनुपगृह्ण—प्रमादाज्जातदोषस्य जिनमार्गैरतस्य
तु । ईर्ष्यादोषासन लोके तत् स्यादनुपगृह्णम् ।
(धर्मसं. भा. ४-४६) ।

ईर्ष्या के वश जिनमार्ग पर चलने वाले किसी
अभारिणा के प्रमादजनित दोष के प्रकट करने को
अनुपगृह्ण कहते हैं ।

अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय—१. निरुपाधि-
गुण-गुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा
जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणाः । (आलाप. पृ. १४८) ।

२. स्यादादिमो यथान्तर्लीना या शक्तिरस्ति यस्य
सतः । तत्तत्सामान्यतया निरूप्यते चेद्विशेषनिरपेक्षम् ॥
इदमत्रोदाहरणं ज्ञान जीवोपजीवि जीवगुणः । ज्ञेया-
लम्बनकाले न तथा ज्ञेयोपजीवि स्यात् ॥ (पञ्चा-
ध्यायी १, ५३५-३६) । ३. निरुपाधिगुण-गुणि-
नोर्भेदकोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारः, यथा केवल-
ज्ञानादयो गुणाः । (नयप्रवीप पृ. १०२) ।

१ उपाधिरहित गुण-गुणी के भेद को विषय करने
वाले नय को अनुपचरित-सद्भूत-व्यवहारनय कहते
हैं । जैसे जीव के केवलज्ञानादि गुण । २ वस्तु को
अन्तर्गत शक्ति के विशेष-निरपेक्ष होकर सामान्य-
रूप से निरूपण करने वाले नय को अनुपचरित-
सद्भूत-व्यवहारनय कहते हैं ।

अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय — १. संश्लेष-
सहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो
यथा जीवस्य शरीरमिति । (आलाप. पृ. १४८;
नयप्रवीप १४, पृ. १०३) । २. अथि वा ऽसद्भूतो
योऽनुपचरितास्यो नयः स भवति यथा । कोषाद्या
जीवस्य हि विवक्षिताएवेदबुद्धिर्भावाः ॥ (पञ्चाध्यायी
१-५४६) ।

१ जो नय संश्लेष (संयोग) युक्त वस्तु के सम्बन्ध को
विषय करता है वह अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय

कहलाता है । जैसे—जीव का शरीर । २ अनुबुद्धि-
पूर्वक होने वाले कोषादिक भावों में जीव के भावों
की विवक्षा करने को अनुपचरितसद्भूतव्यवहार-
नय कहते हैं ।

अनुपवेक्ष—अनर्थक उपदेशोऽनुपदेशः । (त. भा.
१, ४, २) ।

निरर्थक उपदेश का नाम अनुपवेक्ष है ।

अनुपरतकायिकी क्रिया—उपरतो देशतः
सर्वतो वा सावखयोगाद्विरतः । नोपरतोऽनुपरतः,
कुतश्चिदप्यनिवृत्त इत्यर्थः । तस्य कायिकी अनुपरत-
कायिकी । इयं प्रतिप्राणिनि वर्तते । इयमविरतस्य
वेदितव्या, न देशविरतस्य सर्वविरतस्य वा । (प्रज्ञाप.
मलय. बृ. २२-२७६) ।

जो सावख योग से—वायु कार्यों से—संबंधित या एक-
देश रूप से विरत नहीं है उसका नाम अनुपरत
(अविरत) है । उसके द्वारा जो जो शरीर से क्रिया
की जाती है वह अनुपरतकायिकी क्रिया कह-
लाती है ।

अनुपलम्भ—अन्योपलम्भोऽनुपलम्भः । (प्रमाणसं.
स्वो. बृ. ३१) ।

किसी एक के अभावस्वरूप जो अन्य की उपलब्धि
होती है उसका नाम अनुपलम्भ है । जैसे—क्षणक्षय
एकान्त सम्भव नहीं है, क्योंकि उसका अनुपलम्भ
है—वह वाया नहीं जाता । यहाँ क्षणक्षय एकान्त
का अनुपलम्भ कथंचित् नित्यानित्यात्मक अनेकान्त
की उपलब्धिस्वरूप है ।

अनुपवास—१. जलवर्जनचतुर्विधाहारत्यागः, ईष-
दुपवासोऽनुपवास इति व्युत्पत्तेः । (सा. व. स्वो.
टी. ५-३५) । २. × × × आरम्भादनुपवासः ॥
(धर्मसं. भा. ६-१७०) ।

१ जल को छोड़ कर शेष चारों प्रकार के आहार के
परित्याग को अनुपवास कहते हैं । २ अथवा गृह-
सम्बन्धी कार्य को करते हुए जो उपवास किया
जाता है उसे अनुपवास कहते हैं ।

अनुपस्थान, अनुपस्थापन (परिहारप्रायश्चित्त)

—१. अष्टकृष्टपाचार्यमूलैः प्रायश्चित्तग्रहणमनुपस्थाप-
नम् । (त. भा. ६, २२, १०) । २. परिहारो दुर्विहो
अथबहुषो पारंश्वो वेदि । तस्य अथबहुषो
बहुष्णेण छम्पासकालो उक्कस्तेण वारसवासपरेत्तो ।
कायभूमिदो परदो चैव कयविहारो पांडवदंगविर-

हिरो दुषधिरिहासेसज्जेसु कवमोणाभिगहो लव-
 पायविलपुरिमइयेद्वगण-णिग्गियादीहि सोसियरस-
 कहिरि-मांसो होदि । (अब. पु. १३, पृ. ६२) ।
 ३. परिहारोऽनुपस्थान-पारम्भिकभेदेन द्विविधः ।
 तत्रानुपस्थानं निब-परगणभेदाद् द्विविधम् । प्रमादा-
 द्ध्यमुनिसम्बन्धिनमुषि छात्रं वा पम्पासिण्डिप्रति-
 बद्धचेतनाचेतनद्रव्यं वा परस्मिन् वा स्तेनयतो मुनीन्
 प्रहरतो वा अन्यदप्येवमादि विरुद्धाचरितमाचरतो
 नव-दशपूर्वधरस्य आदिभिरिहसंहननस्य जितपरीवहस्य
 दुषधमिणो धीरस्य भवभीतस्य निजगणानुपस्थापनं
 प्रायश्चित्तं भवति । तेन ऋष्याधमाद् द्वात्रिंशद्-
 दण्डान्तरं विहितविहारेण, बालमुनीनि वन्दमानेन,
 प्रतिवन्दनाविरहितेन, गुरुणा सहालोचयता, जेप-
 जनेषु कृतमीनव्रतेन, बिष्टुपराङ्मुखपिच्छेन, जघ-
 न्यतः पञ्च-पञ्चोपवासा उत्कृष्टतः षण्मासोपवासाः
 कर्तव्याः । उभयमप्याद्वादशवर्षादिति । दर्पादन-
 रत्नोक्तान् दोषानाचरतः परगणोपस्थापनं प्राय-
 श्चित्तं भवतीति । स सापराधः स्वगणाचार्येण पर-
 गणाचार्यं प्रति प्रहेतव्यः । सोऽप्याचार्यस्तस्यालोचन-
 माकर्ण्य प्रायश्चित्तमदत्त्वा आचार्यान्तरं प्रस्थापयति
 सप्तमं यावत् । पश्चिमदश प्रथमालोचनाचार्यं प्रति
 प्रस्थापयति । स एव पूर्वः पूर्वोक्तप्रायश्चित्तेनैवमा-
 ची. ७-५६) । ४. परिहारोऽनुपस्थापन-पारम्भिक-
 भेदमाह । निजान्यगणभेदं तत्राद्यं तत्राद्यमुत्तमम् ॥
 द्वादशाभ्येषु षण्मास-षण्मासानामनं मतम् । जघन्यं
 पञ्च-पञ्चोपवासं मध्यं तु मध्यमम् ॥ द्वात्रिंशद्दण्ड-
 दूरालयस्थेन वसतेर्यतीन् । सर्वाण्यं प्रणमतापेतप्रति-
 वन्दनसाधुना ॥ स्वदोषस्यातये पिच्छं विभ्रागेन
 पराङ्मुखम् । सूरीतरैः सहोपात्तमोनेनैतद्विधीयते ।
 प्रमादेनान्यपालण्डिग्रहस्य-मतिसंयितम् । वस्तु स्तेन-
 यतः किञ्चित्चेतनाचेतनात्मकम् ॥ यतीन् प्रहरतो
 अन्यस्मिहरणादीश्च कुर्वतः । दश-नवपूर्वज्ञस्य त्र्याह-
 संहननस्य तत् ॥ करोति यदि दर्पेण दोषान् पूर्ववि-
 भाषितान् । सोऽप्यन्यगणानुपस्थापनेन विमुक्तयति ॥
 प्रायश्चित्तं तदेवात्र किन्तु स्वगणसुरिणा । आलोच्य
 प्रेषितः सप्तसूरिपार्ष्वमनुक्रमात् ॥ आलोच्य तैस्तै-
 रप्राप्तप्रायश्चित्तोऽप्यसुरिणा । तत्राद्यं प्रापित-
 स्तेन दत्तं चरति पूर्ववत् ॥ (आचा.भा. ६, ५३-६१) ।
 ३ परिहारप्रायश्चित्त अनुपस्थापन (जनकस्याप्य वा

अनुपस्थान) और पारम्भिक के भेद से दो प्रकार-
 का है । उनमें अनुपस्थापन भी दो प्रकारका है—
 निज-गण-अनुपस्थापन और परगण-उपस्थापन । जो
 साधु प्रमाद से दूसरे मुनि सम्मन्वी ऋषि या छात्र
 को, अन्य पालण्डी से सम्बद्ध चेतन-अचेतन द्रव्य
 को, अपवा परस्मो को चुराता है; मुनियों पर
 प्रहार करता है, या इसी प्रकार का अन्य भी विरुद्ध
 आचरण करता है; नौ-दश पूर्वों का चारक है,
 आदि के तीन संहननों में से किसी एक से सहित है,
 दुषधर्मी है, धीर है, धीर संसार से भयभीत है;
 ऐसे साधु को निजगण-अनुपस्थापन प्रायश्चित्त दिया
 जाता है । तबनुसार वह ऋष्याश्रम से ३२ वनव
 दूर जाता है, बालमुनियों को भी वन्दन करता है,
 गुरु के पास आलोचना करता है, शेष जन के प्रति
 मौन रखता है, अपराध को प्रगट करने के लिए
 पीछी को विपरीत स्वरूप से (उलटी) चारण
 करता है, इस प्रकार रहता हुआ वह १२ वर्ष तक
 कम-से-कम ५-५ और अधिक से अधिक ६-६ मास
 का उपवास करता है ।
 उपयुक्त अपराध को ही यदि कोई मुनि अभिमान
 के बश करता है तो उसे परगण-उपस्थापन प्राय-
 श्चित्त दिया जाता है । तबनुसार उसे अपने संघ का
 आचार्य अन्य संघ के आचार्य के पास भेजता है ।
 वह उसके अपराध की आलोचना को सुनकर बिना
 प्रायश्चित्त दिये ही अन्य आचार्य के पास भेजता है,
 इस प्रकार से उसे सातवें आचार्य के पास तक भेजा
 जाता है । वह भी उसकी आलोचना को सुनकर
 बिना प्रायश्चित्त दिये ही उसी प्रथम आचार्य के पास
 भेज देता है । तब वही उसे पूर्वोक्त (निजगण-
 अनुपस्थापनोक्त) प्रायश्चित्त को देता है । इस
 प्रकार अनुपस्थापन प्रायश्चित्त दो प्रकारका है ।
अनुपालनाशुद्ध—१. भादके उवसगो समे य दुग्भि-
 न्क्षवृत्तिकंतारे । जं पालिद ण भगं एवं धणुपाल-
 नाशुद्धं ॥ (मूल. ७-१४५) । २. कंतारे दुग्भिक्षे
 आयके वा महद् समुप्पण्णे । जं पालियं ण भगं तं
 जाण धणुपालनाशुद्धं ॥ (आच. भा. ६-२१४) ।
 अतंक (रोग), उपसगं, भग, दुग्भिक्षवृत्ति (अकाल
 के कारण भिक्षा की अप्राप्ति) और वनप्रवेश; इन
 कारणों के रहते हुए संरक्षित चारित्र के भग्न न
 होने देने का नाम अनुपालनाशुद्ध है ।

अनुप्रेक्षा (भावना) — १. अनित्याधारणसत्तारैकत्वान्यत्वात्सुख्यालसंबन्धनिर्जरासोकबोधिदुर्लभमर्थस्वा-
ख्यातस्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः । (त. ब्र. ६-७) । २. शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः । (स. सि. ६-२; त. सुखबो. वृत्ति ६-२) । ३. स्वभावा-
नुचिन्तनमनुप्रेक्षाः । शरीरादीनां स्वभावानुचिन्त-
नमनुप्रेक्षा वेदितव्याः । (त. बा. ६, २, ४) ४. स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा । (त. वसो. ६-२) ।
५. अनुचिन्तनमेतेषामनुप्रेक्षाः प्रकीर्तिताः । (त. सा. ६-१०) । ६. अनुप्रेक्षाऽहंघृणानामेव मुहुर्मुहुरनुस्म-
रणम् । (योगशा. स्वो. विव. ३-१२४) । ७. अनु-
प्रेक्ष्यन्ते शरीराद्यनुगतत्वेन स्तिमितचेतसा दृश्यन्ते
इत्यनुप्रेक्षाः । (अन. व. स्वो. टी. ६-५७) । ८. कायादिस्वभावादिचिन्तनमप्रेक्षा । (त. वृत्ति. श्रुत. ६-२); निज-निजनामानुसारेण तत्त्वानुचिन्तनमनु-
प्रेक्षा भवति । (त. ब्र. श्रुत. ६-७) । ९. अनु पुनः
पुनः प्रेक्षणं चिन्तनं स्मरणमनित्यादिस्वरूपाणामित्यनु-
प्रेक्षा, निज-निजनामानुसारेण तत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा
इत्यर्थः । (कार्तिके. टी. १) । १०. परिज्ञातार्थस्य
एकाग्रेण मनसा यत्पुनः पुनरभ्यसनमनुशीलनं सानु-
प्रेक्षा, अनित्यादिभावनाचिन्तनानुप्रेक्षा । (कार्तिके.
टी. ४६६) ।

२ शरीर आदि के स्वभाव का चिन्तन करना, इसका
नाम अनुप्रेक्षा है ।

अनुप्रेक्षा (स्वाध्याय) — १. अनुप्येहा नाम जो
मनसा परित्यज्ज, नो वायाय । (वशावै. नि. १-४८;
वशावै. पूणि १, पृ. २६) । २. अधिगतार्थस्य
मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा । (त. सि. ६-२५; त. वसो.
वा. ६-२५) । ३. अनुप्रेक्षा ग्रन्थार्थयोरेव मनसा-
भ्यासः । (त. भा. ६-२५; योगशा. स्वो.
विव. ४-६०) । ४. अधिगतार्थयोरेव मनसा-
भ्यासोऽनुप्रेक्षा । अधिगतपदार्थप्रक्रियस्य तत्ताय-
स्मिण्वदपितमनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा वेदितव्याः ।
(त. बा. ६, २५, ३; भाषभा. टी. ७८) ।
५. कम्मणिज्जरणदुमट्ठि-मज्जाणुगयस्स सुदणा-
णस्स परिमलणमणुपेक्खणा नाम । (बब. पु. ६,
पृ. २६३); सुदण्यस्स सुदाणुसारेण चित्तमणुपेहणं
णाम । (बब. पु. १४, पृ. ६) । ६. ग्रन्थार्थानु-
चिन्तनमनुप्रेक्षा । (अनुयो. हरि. वृ. ७, पृ. १०) ।

७. अनुप्रेक्षा नाम तत्त्वार्थानुचिन्ता । (तत्तिव. पृ. ८२) । ८. सत्वेहे सति ग्रन्थार्थयोर्मनसाभ्यासो-
ऽनुप्रेक्षा । (त. भा. सि. वृत्ति ६-२५) । ९. अवगतार्थानुप्रेक्षणमनुप्रेक्षा । (अ. भा.
विजबो. टी. १०३) । १०. साधोर्ध्वगतार्थस्य
योऽभ्यासो मनसा भवेत् । अनुप्रेक्षेति निविष्टः
स्वाध्यायः सः जिनेश्वरिभिः । (त. सा. ७-२०) ।
११. अधिगतपदार्थप्रक्रियस्य तत्तायःपिण्डवदपित-
चेतसो मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा । (बा. सा. पृ.
६७) । १२. अनुप्रेक्षा परिज्ञाते भावना या मुहु-
र्मुहुः । (भाषा. सा. ४-६१) । १३. अन्विति
ध्यानतः पश्चात् प्रेक्षा त्वालोचनं हृदि । अनुप्रेक्षा
स्यावसो चाव्ययेदाच्चतुविधा ॥ (लोकप्र. ३०,
४७०) । १४. अर्थार्थस्मरणार्थं च तन्चिन्तनमनु-
प्रेक्षा । (धर्मसं. स्वो. वृ. ३-५४, पृ. १४२) । १५.
साऽनुप्रेक्षा यदभ्यासोऽधिगतार्थस्य चेतसा । स्वा-
ध्यायलक्ष्म पाठोऽज्जल्लप्तास्मात्तापि विद्यते ॥ (अन.
व. ७-८६) । १६. निश्चितार्थस्य मनसाभ्यासोऽ-
नुप्रेक्षा । (त. सुखबो. वृ. ६-२५) । १७. परिज्ञा-
तार्थस्य एकाग्रेण मनसा यत्पुनः पुनरभ्यसनमनु-
शीलनं साऽनुप्रेक्षा । (त. ब्र. श्रुत. ६-२५) ।
२ यत्किं अर्थं का मन से अभ्यास करना अनुप्रेक्षा
स्वाध्याय है ।

अनुप्रेक्षावोधे—अनुप्रेक्षमाणस्यबोध्युपे चलयतः
स्थानमनुप्रेक्षावोधः । (योगशा. विव. ३-११०) ।
बस्तुस्वरूप का चिन्तन करते हुए बोध्यों के
बलाने को अनुप्रेक्षा बोध कहते हैं ।

अनुबन्धयुता मुदिता—अनुबन्धः सन्तानोऽभ्य-
वच्छिन्नसुखपरम्परया देव-मनुजजन्मसु कल्याण-
परम्परारूपस्तेन प्रयुज्यते सुखे परमवेहमवापेक्षया
प्राप्त-परापेक्षया च तुलीया । (बो. वृ. १३-१०) ।
देव और मनुष्य के जन्म में अवच्छिन्न कल्याण-
परम्परा के भोगने से प्राप्त होने वाली प्रसन्नता
को अनुबन्धयुता मुदिता भावना कहते हैं ।

अनुबन्धसारा (उपेक्षा)—अनुबन्धः कार्यविषयः
प्रवाहपरिणामस्तत्सारा [उपेक्षा अनुबन्धसारा] ।
यथा कश्चित् कुलविशालस्यादेरर्थाज्जनिदिव न
प्रवर्तते, तं चाप्रतमानमन्यथा तद्विद्वार्थी प्रवर्तयति,
विवक्षिते तु काले परिणामसुन्दरं कार्यमवेक्षमाणो

मया माध्यस्थ्यमालम्बते तथा तस्यानुबन्धसारोपेक्षा ।
(श्रीकृष्ण. सु. १३-१०) ।

कार्यविषयक प्रवाहपरिणामरूप अनुबन्ध से युक्त उपेक्षा अनुबन्धसारा उपेक्षा कहलाती है । जैसे—
कोई झालस्यादि के कारण बनार्जन आदि में प्रयत्न नहीं हो रहा था । तब किसी समय उसके हितैषी ने उसे उनमें प्रयत्न कराया । योग्य अवसर पर जब वह परिणाम में सुन्दर कार्य को देखता हुआ मध्यस्थता का झालम्बन लेता है तब उसके अनुबन्धसारा उपेक्षा कही जाती है ।

अनुभव भाषा—अनसारात्मिका द्वीन्द्रियाद्यसंनि-
पञ्चेन्द्रियपर्यन्तानां जीवानां स्वसंकेतप्रदशिका
भाषा अनुभवभाषा । (गो. जी. जी. प्र. २२६) ।
द्वीन्द्रिय से लेकर अस्पर्शो बन्धेन्द्रिय पर्यन्त जीवों की अपने संकेत को सूचित करने वाली जो अनस-
रात्मक भाषा है, वह अनुभव भाषा कही जाती है ।
अनुभव (बैदानस्वरूप)—अनुभवलक्षणं च योगदृष्टि-
समुच्चयानुसारेण लिख्यते — यथार्थवस्तुस्वरूपोप-
लब्धि-परम्परावरमण-स्वरूपरमण-तदाऽऽज्ञादनैकत्व-
मनुभवः । (ज्ञानसार सु. २६, पृ. ८७; अविद्या.
रस. १, पृ. ३३२) ।

रसु को यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि, पर पदार्थों में विरक्ति, आत्मस्वरूप में रमण और हेय-उपादेय के विवेक को अनुभव कहते हैं ।

अनुभव—देखो अनुभाग । १. विपाकोऽनुभवः ।
(त. सु. ८-२१) । २. तद्रसविशेषोऽनुभवः । यथा
अजा-गो-महिष्यादिसीराणां तीव्र-मन्दादिभावेन रस-
विशेषः तथा कर्म-पुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषो-
ऽनुभवः । (त. सि. ८-३; त. बा. ८, ३, ६;
मूला. सु. १२-१८४; त. तुलबोध सु. ८-३) ।

३. ज्ञानावरणादीनां कर्मप्रकृतीनामनुग्रहोपघातादिम-
कानां पूर्वान्वयतीव्र-मन्दभाव-निमित्तो विशिष्टः
पाको विपाकः, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावलक्षण-
निमित्तभेदजनितवैचल्यरूपो नावाविधो वा पाको
विपाकः, असावनुभव इत्याख्यायते । (त. बा. ८,
२१, १) । ४. विशिष्टः पाको नावाविधो वा
विपाकः, पूर्वान्वयतीव्रविभावनिमित्तविशेषाश्रयत्वात्
द्रव्यादिनिमित्तभेदेन विचल्यत्वाच्च, सोऽनुभवः ।
(त. श्लो. ८-२१) । ५. कर्मपुद्गलसामर्थ्य-
विशेषोऽनुभवो मतः । (ह. पु. ५८-२१२); कथाय-

तीव्रमन्दादिभावासन्नविशेषतः । विशिष्टपाक इष्टस्तु
विपाकोऽनुभवोऽयम् ॥ स द्रव्य-क्षेत्र-कालोक्तभव-
भावविभेदतः । विविधो हि विपाको यः सोऽनुभवः
समुच्यते ॥ (ह. पु. ५८, २८८-२८९) । ६. वि-
पाकः प्रागुपात्तानां यः शुभाशुभकर्मणाम् । असावनु-
भवो ज्ञेयः $\times \times \times$ । (त. सा. ५-४६) । ७. कर्म-
णां यो विपाकस्तु भव-क्षेत्राद्यपेक्षया । सोऽनुभव \times
 $\times \times$ ॥ (चन्द्र. च. १८-१०१) । ८. यथाजागो-
महिष्यादिसीराणां तीव्र-मन्दादिभावेन स्वकार्यकरणे
शक्तिविशेषोऽनुभवस्तथा कर्मपुद्गलानां स्वकार्य-
करणे सामर्थ्यविशेषोऽनुभवः । (अन. च. श्लो. टी.
२-३६) । ९. विशिष्टो विविधो वा पाक उदयः
विपाकः । यो विपाकः स अनुभव इत्युच्यते
अनुभागसंज्ञकश्च । तत्र विशिष्टः पाकस्तीव्र-मन्द-
मध्यमभावाल्लक्षणविशेषाद्भेदितव्यः । द्रव्य-क्षेत्र-काल-
भव-भावलक्षणकारणभेदोत्पादितनानात्वो विविधो-
ऽनुभवो जातव्यः । अनुभव इति कोऽर्थः ? आत्मनि
फलस्य दानम्, कर्मदत्तफलानामात्मना स्वीकरणमित्य-
र्थः । यदा शुभपरिणामानां प्रकर्षो भवति तदा शुभ-
प्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवो भवति, अशुभप्रकृतीनां तु
निकृष्टोऽनुभवो भवति, यदा अशुभपरिणामानां
प्रकर्षो भवति तदा अशुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवो
भवति, शुभप्रकृतीनां तु निकृष्टोऽनुभवो भवति ।
(त. वृ. धृत. ८-२१) ।

२ जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंस आदि के
दूध के रस में अपेक्षाकृत हीनाधिक मधुरता हुआ
करती है उसी प्रकार कर्मपुद्गलों में अपनी फलवान-
शक्ति में जो अपेक्षाकृत हीनाधिकता होती है उसका
नाम अनुभव या अनुभाव है ।

अनुभवावीचिभरण—कर्मपुद्गलानां रसोऽनुभवः ।
त च परमाणुषु षोडा बुद्धि-हानिरूपेण आवीचय इव
क्रमेणावस्थित [तस्य] स्व प्रलयोऽनुभवावीचिभरणम् ।
(अ. भा. विजयो. २५) ।

आयु कर्म सम्बन्धी परमाणुओं में छह प्रकार की
बुद्धि व हानि के कम से जल-तरंगों के समान
अवस्थित उक्त कर्मपुद्गलों के रस (अनुभाग) का
प्रतिक्षण प्रत्यक्ष होना, इसका नाम अनुभवावीचि-
भरण है ।

अनुभाव—देखो अनुभव । १. कर्माणां जो दु रसो
अञ्जनसाणजिण्ड सुह असुहो वा । बंधो सो अशु-

भागो $\times \times \times$ ॥ (मूला. १२-२०३) । २. को अनुभागो ? कम्भायं सगकज्जकरणसत्तो अनुभागो गाम । (अथ. ५, पृ. २) । ३. $\times \times \times$ इतर-स्तत्कलोदयः ॥ (आनार्य. ६-४८) । ४. तेषां कार्य-णवर्णभागतपुद्गलानां जीवप्रवेशानुविलम्बानां जीव-स्वरूपान्यथाकरणरसोऽनुभागबन्धः । (मूला. बृ. ५-४७) ; अनुभागः कर्मणां रसविशेषः । (मूला. बृ. १२-३) ; कर्मणां ज्ञानावरणादीनां यस्तु रसः सोऽनुभवः, ग्रन्थवसानैः परिणामैर्जनितः क्रोध-मान-माया-लोभतीव्रादिपरिणामभावतः शुभः सुखदः अशुभः असुखदः, वा विकल्पायः, सोऽनुभागबन्धः । (मूला. बृ. १२-२०३) । ५. शुभाशुभकर्मणां निर्जरासमये सुख-दुःखफलप्रदानशक्तियुक्तो ह्यनु-भागबन्धः । (वि. ता. बृ. ३-५०) । ६. $\times \times \times$ अनुभागो होइ तस्स सत्तीए । अनुभवणं जं तीवे तिज्जं मदे मंदाणुरूपेण ॥ (भाष. वे. ३४०) । ७. भावक्षेत्रादिसापेक्षो विपाकः कोऽपि कर्मणाम् । अनुभागो जिनैस्वतः केवलज्ञानभानुभिः ॥ (वर्ण. २१-११४) । ८. अनुभागो रसो ज्ञेयः $\times \times \times$ ॥ (यजुष्याध्यायी २-६३३) ।

१ कथावज्जित परिणामो के अनुसार कर्मों में जो शुभ वा अशुभ रस प्रादुर्भूत होता है उसका नाम अनुभाग है ।

अनुभागकाण्डकथात—पारदपडमसमयादो अंतो-मुहूर्तेण कालेण जो घादो गिण्यज्जदि सो अनुभाग-खंडयथादो गाम । (अथ. पु. १२, पृ. ३२) ।

जो अनुभाग का अंत प्रारम्भ होने के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल में निष्पन्न होता है उसका नाम अनुभागकाण्डकथात है ।

अनुभागदीर्घ—अप्यपणो उक्कस्सानुभागट्टाणाणि बधमाणस्स अनुभागदीर्घं । (अथ. पु. १६, पृ. ५०६) ।

अपने अपने उत्कृष्ट अनुभागस्थानों को बाँधने का नाम अनुभागदीर्घ है ।

अनुभागबन्ध — देखो अनुभव व अनुभाग ।

१. तस्यैव मोदकस्य यथा स्निग्ध-मधुरादिकेकगुण-द्विगुणादिभावेन रसो भवति एवं कर्मणोऽपि देशसर्व-धाति-शुभाशुभ-तीव्रमन्द्यादिअनुभागबन्धः । (स्थाना. अथ. बृ. ४, २, २६६) । २. कर्मपुद्गलानामेव शुभोऽशुभो वा धात्यधाती वा यो रसः सोऽनुभाग-

बन्धो रसबन्ध इत्यर्थः । (संस्क. वे. स्तो. दो. २१) ।

३. अनुभागो विपाकस्तीव्रादिभेदो रस इत्यर्थः । तस्य बन्धोऽनुभागबन्धः । (अभिधा. रा. १, पृ. ३६६) । जिस प्रकार लड्डू में स्निग्ध व मधुर आदि रस एकगुणे, दुग्धुने व तिलुने आदि रूप से रहता है उसी प्रकार कर्म में भी जो देशधाती व सर्वधाती, शुभ व अशुभ तथा तीव्र व मन्द आदि रस (अनु-भाग) होता है उसका नाम अनुभागबन्ध है ।

अनुभागबन्धस्थान—तिष्ठत्यस्मिन् जीव इति स्थानम्, अनुभागबन्धस्य स्थानमनुभागबन्धस्थानम्; एकेन कावायिकेणाध्यवसायेन गृहीतानां कर्मपुद्गला-नां विवक्षितकसमयबद्धरससमुदायपरिणाममित्यर्थः । (प्रब. सारो. बृ. १०५१) ।

‘तिष्ठति अस्मिन् जीवः इति स्थानम्’ इस निश्चित के अनुसार जीव जहाँ रहता है उसका नाम स्थान है । अनुभागबन्ध का जो स्थान है वह अनुभाग-बन्धस्थान कहा जाता है । अभिप्राय यह है कि किसी कथायुक्त एक परिणाम के द्वारा गृहीत कर्म-पुद्गलों के विवक्षित एक समय में बाँधे गये रस-समुदाय को अनुभागबन्धस्थान जानना चाहिए ।

अनुभागभोक्ष—भोक्त्रिदो उक्कट्टिदो अण्णपयडि संकामिदो अघट्टिदिगलणाए णिज्जिण्णो वा अनु-भागो अनुभागभोक्खो । (अथ. पु. १६, पृ. ३३८) । अपक्वित, उत्कवित, संकामित वा अघःस्थितिलन के द्वारा निर्जोष अनुभाग को अनुभाग-भोक्ष कहते हैं ।

अनुभागविपरिणामना—१. भोक्त्रिदो वि उक्क-ट्टिदो वि अण्णपयडि णीदो वि अनुभागो विपरि-णामिदो होदि । एदेण अट्टपदेण जहा अनुभागसं-कमो तहा गिरवयवं अनुभागविपरिणामना कायव्वा । (अथ. पु. १५, पृ. २८४) । २. तथा विविधैः प्रकारैः कर्मणां सत्तोदय-अय-अयोपशमोद्धर्तनापवर्तनादिभि-रेतद्रूपतयेत्यर्थः; गिरिसरिदुपलन्यायेन द्वय-क्षेत्रादि-भिरा करणविशेषेण वाऽवस्थान्तरापादनं विपरि-णामना । इह च विपरिणामना बन्धनादिषु तदव्ये-ष्यप्युदयादिष्वस्तीति सामान्यरूपत्वाद् भेदोक्तेति । $\times \times \times$ प्रकृतिविपरिणामनोपक्रमादयोऽपि सामा-न्यविपरिणामनोपक्रमलक्षणानुसारेणावबोद्धव्याः । (स्थाना. अथ. बृ. ४, २, २६६) ।

१ अपक्वित, उत्कवित अथवा अन्य प्रकृति को प्राप्त

कराना यथा भी अनुभाग विपरिचामित (विपरि-
भाजना युक्त) होता है। अतः अनुभावविपरिभाजना
को अनुभाजसंक्रमं ज्ञेया ही समझना चाहिए।

अनुभाजविभक्ति—तस्मै अनुभागस्त विहती
मेवो पर्वचो जम्हि ग्रहियारे पक्विज्जवि सा अनु-
भाजविहती णाम। (अथ. ५, पृ. २)।

अतः अधिकार में कर्मों के अनुभागगत जेव या
उत्तको विस्तार का वर्णन किया जाय उसे अनुभाग-
विभक्ति मान्यता अधिकार कहते हैं।

अनुभागसत्कर्मस्थान—अनुभागगुणानां यादिवज्ज-
मानं बन्धाणुभागद्वारेण सरिसं न होदि, बन्ध-
धट्टक-उज्जकाणं विज्जाले हेट्टिमउज्जकावो अणंत-
गुणं उवरिमधट्टकावो अणंतगुणहीणं होहुण वेट्टवि
तमणुभागसंतकम्मद्वारेण णाम। (अथ. पु. १२, पृ.
११२)।

जो जाता जाने वाला अनुभागस्थान बन्धानुभाग-स्थान
के लक्षण नहीं होता, किन्तु बन्ध सम्बन्धी अष्टांक
और ऊर्ध्व के मध्य में अर्थात् अनन्तगुण वृद्धि और
अनन्तगुण वृद्धि के अनन्तगुण में अथवा अनन्तगुण से
अनन्तगुणित और उपरिम अष्टांक से अनन्तगुणहीन
होकर अवस्थित होता है उसे अनुभागसत्कर्मस्थान
कहते हैं।

अनुभागसंक्रम—१. अनुभागो भोक्कहिदो वि
संकमो, उक्कहिदो वि संकमो, अण्णपयवि णीदो
वि संकमो। (क. पा. सू. पृ. ३४५; अथ. भा. ५,
पृ. २; अथ. पु. १६, पृ. ३७५)। २. अनुभागो
णाम कम्मण सगकज्जुप्पायणसत्ती, तस्स सकमो
सहायंतरसकंती। सो अनुभागसंकमो ति वुज्जइ।
(अथ. ६, पृ. २)। ३. तत्पदुपयं उज्जट्टिया व
भोवट्टिया व अनुभागा। अनुभागसंकमो एस अन्व-
पगइ णिया वावि। (कर्मप्र. संक्षेपक. ४६)।
४. उद्धतिताः प्रभूतीभूता यद्वाअवतिता ह्रस्वीकृता
अथवा अन्या प्रकृति नीता अन्यप्रकृतिस्वभावेन
परिणमिता अधिभागा अनुभागाः, एष सर्वोऽयनु-
भागसंक्रमः। (कर्मप्र. अथ. सू. सं. क. ४६)।
५. पदद्ग्रहप्रकृत्यनुयायिरसापादनं त्वनुभागसंक्रमः।
(पंचसं. अथ. सू. संक्रम. गा. ३३)।

१ अनुभाग का जो अयकर्मण, उत्कर्षण अथवा अन्य
प्रकृति रूप परिणमन होता है उसे अनुभागसंक्रम
कहते हैं।

अनुभागहस्त्य—सत्त्वात्ति पयवीणं अय्यप्यो जह-
ण्णाणुभागद्वारेणं बंधमाणस्त अनुभागरहस्तं। (अथ.
पु. १६, पृ. ५११)।

जीव के द्वारा बांधा गया जो सब प्रकृतियों का
अथवा जन्म अनुभागस्थान है उसे अनुभागहस्त्य
कहते हैं।

अनुभागोदीरणा—तथैव (वीर्यविशेषादेव) प्राप्तो-
दयेन रसेन सहाप्राप्तोदयो रसो यो वेधते साऽनु-
भागोदीरणेति। (स्थाना. अथ. सू. ४, २, २६६
पृ. २१०)।

वीर्यविशेष से उदय को प्राप्त हुए रस के साथ जो
अनुभवप्राप्त रस का वेधन होता है उसे अनुभागो-
दीरणा कहते हैं।

अनुभाव—देखो अनुभव। १. विपाकोऽनुभावः।
(अथ. त. सू. ८-२२)। २. सर्वासां प्रकृतीनां फल
विपाकोऽनुभावः। (त. भा. ८-२२)। ३. अनु-
भावो यो यस्य कर्मणः शुभोऽशुभो वा विपाकः।
(उत्तरा. सू. ३३, पृ. २७७)। ४. विपचन विपाकः
—उदयावसिकप्रवेशः, कर्मणां विशिष्टो नाना-
प्रकारो वा पाको विपाकः, अप्रसस्तपरिणामाना
तीव्रः शुभपरिणामानां मन्दः। यथोक्तकर्मविशेषानु-
भवनम् अनुभावः। × × × अथवाऽऽत्मनाऽनुभूयते
येन करणभूतेन बन्धेन सोऽनुभावबन्धः। (त. भा.
सिद्ध. सू. ८-२२)। ५. अनुभावो विपाकस्तीव्रादि-
भेदो रसः। (संज्ञा. अथ. सू. सू. ४)।

देखो अनुभव।

अनुभावबन्ध—देखो अनुभागबन्ध। १. अध्यव-
सायनिर्वर्तितः कालविभागः कालान्तरावस्थाने सति
विपाकवत्ता अनुभावबन्धः समासादितपरिपाकाव-
स्थस्य बदरादेरिषोषभोग्यत्वात् सर्व-देशात्त्येक-दि-
वि-चतुःस्थानशुभाशुभतीव्र-मन्दादिभेदेन वक्ष्यमाणः।
(त. भा. सिद्ध. सू. ८-४)। २. अनुभावबन्धो यस्य
यथाऽऽख्यां विपाकानुभवनमिति। (आवकप्र. टी.
गा. ८)। ३. तस्यैव च स्निग्ध-मधुराद्येक-द्विगुणा-
दिभावोऽनुभावः। यथाह—तात्सामेव विपाकनिबन्धो
यो नामनिर्बन्धनमिन्। स रसोऽनुभावसंज्ञस्तीव्रो
मन्दोऽथ मध्यो वा। (त. भा. हरि. सू. ८-४)।
४. अनुभावबन्धस्तु—कृतस्थितिकस्य स्वस्मिन् काले
परिपाकमित्यस्य वा या अनुभूयमानावस्था शुभाशुभा-
कारेण घृत-कीर-कोशातकीरसोराहृतिस्त्वाम्नात् सोऽनु-

भावबन्धः । (त. भा. सिद्ध. बृ. १-३); अनुभूयते येन करणभूतेन बन्धेन सोऽनुभावबन्धः । (त. भा. सिद्ध. बृ. ८-२२) । ५. अनुमानो विपाकस्तीव्रादिभेदो रसस्तस्य बन्धोऽनुभावबन्धः । (समवा. समय. बृ. ४; स्वाभा. समय. बृ. ४, २, २६६); कर्मणो देश-सर्वाधातुभाषामतीव्रमन्दादिरनुभावबन्धः । (स्वाभा. समय. बृ. ४, २, २६६) । ६. अनुभावबन्धस्तूच्यते—तत्र शुभाशुभानां कर्मप्रकृतीनां प्रयोगकर्मणोपासनां प्रकृति-स्थिति-प्रदेशरूपाणां तीव्रमन्दानुभावतयाऽनुभवनमनुभावः । स चैक-द्वि-त्रि-चतुःस्थानसेदेनानुगन्तव्यः । (आचारंग. शी. बृ. २, १, भा. १६२-६३, पृ. ८७) ।

हेसो अनुभावबन्धः ।

अनुभाषणाशुद्ध प्रत्याख्यान—१. अनुभासदि गुरुवयण अक्षर-पद-वञ्जनं कमविसुद्धं । दोसविसुद्धी-सुद्धं एवं अनुभासणानुद्धं ॥ (मूला. ७-१४४) । अनुभासद्वि गुरुवयणं अक्षर-पद-वञ्जनेहि परिसुद्धं । पंजलिमउडो ऽभिमुहो तं जाण अनुभासणानुद्धम् ॥ (आव. भा. २५३) ।

जो गुरु के द्वारा उच्चारित प्रत्याख्यान सम्बन्धी अक्षर (एक स्वर युक्त व्यंजन), पद और व्यंजन (संज्ञाकार, अनुस्वार व विसर्जनीय आदि); ये जिस कम से अवस्थित हैं उसी कम से उनका अनुभाव रूप से धोषशुद्ध उच्चारण करना; इसका नाम अनुभाषणाशुद्ध प्रत्याख्यान है ।

अनुभूतत्व—प्रक्षेपविशेषतः पुनः पुनश्चेतसि तत्स्वरूपाभिभावनमनुभूतत्वम् । (त. बृ. भूत. १-६) । विवक्षित वस्तुत्वस्य का तदन्तर्गत समस्त विशेषों के साथ जिस में बार-बार अनुभव करने को अनुभूतत्व कहते हैं ।

अनुभ्रष्ट—दर्शनाद् भ्रष्ट एवानुभ्रष्ट इत्यभिधीयते । न हि चारित्रविभ्रष्टो भ्रष्ट इत्युच्यते दुर्बः ॥ (वराह. २६-६६) ।

सम्बन्धज्ञान से भ्रष्ट हुआ जीव ही वास्तव में अनुभ्रष्ट कहालाता है ।

अनुमत—१. स्वयं न करोति, न च कारयति; किन्त्वभ्युपैति यत्तदनुमनम् । (म. भा. विजयो. ८१) । २. प्रयोक्तव्य मतसांभ्युपगमनमनुमतम् । (भा. सा. पृ. ३६); अनुमतमनुज्ञातं × × × । (आचा. सा. ५-१४) ।

कार्य को न स्वयं करता है, न कराता, किन्तु करते हुए भी अब से अनुमोदना या प्रशंसा करता है; इसे अनुमत कहते हैं ।

अनुमतिविरत—१. जो अनुमणं न कुणदि निहत्थकज्जेसु पावमूलेसु । भवियब्बं भावतो अनुमणविरथो ह्वे सो दु ॥ (कार्तिके. ३८८) ।

२. अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा । नास्ति खलु यस्य समवीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ॥ (रत्नक. ५-२५) ।

३. अनुमतिविनिवृत्त आहारादीनामारम्भानामनुमननाद् विनिवृत्तो भवति । (भा. सा. पृ. १६) ।

४. सर्वदा पापकार्येषु कुष्ठे-ज्जुमति न यः । तेनानुमनं युक्तं भण्यते बुद्धि-शालिना ॥ (मुभा. रत्न. ८५२) ।

५. त्यजति यो-ज्जुमतिं सक्ते विधौ विविजन्तुनिकायवित्तामिनि । हुतमुज्जीव विबोधपरायणो निगलितानुमतिं निगदन्ति तम् ॥ (वर्णप. २०-६१) ।

६. आरम्भसर्वविहीनचेताः कार्येषु मारीमिव हिररूपाम् । यो धर्म-सक्तोज्जुमतिं न वत्ते निगच्छते सोऽज्जुमन्तुमुच्यः ॥ (अमि. भा. ७-७६) ।

७. पुट्टो वा ऽपुट्टो वा णिय-गेहि परेहि च सगिहकज्जम्भि । अनुमणं जो ण कुणइ विषाण सो सावभो दसमो ॥ (बुध. भा. ३००) ।

८. नवनिष्ठापरः सोऽज्जुमतिव्युपरतः सदा । यो नानुमोदेत ग्रन्थमारम्भं कर्म वैहिकम् ॥ (सा. ब. ७-३०) ।

९. स एव यदि पुट्टो ऽपुट्टो वा निजैः परैर्वा ग्रहकार्येऽज्जुमतिं न कुर्यात्तदाऽज्जुमतिविरत इति दशमः आशको निगद्यते । (त. बुध. भा. ७-३६) ।

१०. ददात्यनुमतिं नैव सर्ववैहिककर्मसु । भवत्यनुमतत्यागी देशसंयमिनां वरः ॥ (आव. भा. ५४२) ।

११. यो नानुमन्यते ग्रन्थं सावधं कर्म वैहिकम् । नववृत्तधरः सोऽज्जुमतिमुक्तस्त्रिधा भवेत् ॥ (वर्णसं. भा. ८-५०) ।

१२. त्रतं दशमस्थानस्वमननुमननाल्लभम् । यत्राहारादिनिष्पत्तौ देवा नानुमतिः क्वचित् ॥ (लाटीसं. ७-४४) ।

१ जो समबुद्धि आशक आरम्भ, परिग्रह और वैहिक कार्यों में युक्त जाने पर अनुमति नहीं देता है उसे अनुमतिविरत कहते हैं ।

अनुमान—१. साध्याविनाभूतो लिङ्गात्साध्यनिश्चायकं स्मृतम् । अनुमानं तदभ्रान्तम् × × × ॥ (न्यासाव. ५) ।

२. लिङ्गात्साध्याविनाभावानिबोधैकलक्षणात् । लिङ्गीधीरनुमानम् × × × ।

(सचीय. १२) । ३. साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं तदत्यये । विरोधात् स्वचिदेकस्य विधान-प्रतिषेधयोः ॥ (स्यार्यवि. १७०-७१) । ४. इह लिङ्गज्ञानमनुमानम् । × × × अथवा ज्ञापकमनुमानम् । (नन्वी. हरि. बृ. पृ. ६२) । ५. अनुमीयतेऽनेनेत्यनुमानम् । (अनुयो. हरि. बृ. पृ. २६) । ६. साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं विदुर्बुधाः । प्राधान्य-गुणभावेन विधान-प्रतिषेधयोः ॥ (त. इलो. १, १२, १२०) । ७. साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् । (परीक्षा. ३-१४; प्र. मी. १, २, ७; प्या. बी. पृ. ६५; जैतव. पृ. १२१) । ८. साधनं साध्याविनाभावनियमलक्षणम्, तस्मान्निश्चयपथप्राप्तात् साध्यस्य साधयितुं शक्यस्याप्रसिद्धस्य यद्विज्ञानं तदनुमानम् । (प्रमाणवि. पृ. ३६) । ९. साध्याभावासम्भवनिश्चयसंज्ञासाधनादेव हि शक्याभिप्रेताप्रसिद्धत्वलक्षणस्य साध्यस्यैव यद्विज्ञानं तदनुमानम् । (प्र. क. मा. ३-१४, पृ. ३५४) । १०. अन्तर्ध्याप्याऽर्थप्रसाधनमनुमानम् । (बृहत्स. पृ. १७५) । ११. अन्विति लिङ्गदर्शन-सम्बन्धानुस्मरणयोः पश्चात्, मानं ज्ञानमनुमानम् । एतत्त्वलक्षणमिदम्—साध्याविनाभूयो लिङ्गात् साध्यनिश्चयकं स्मृतम् । अनुमानमभ्यातम् × × × ॥ (स्वाना. अभय. बृ. ४, ३, ३३८, पृ. २४६) । १२. अविनाभावनिश्चयास्तिसांस्त्रिगुणज्ञानमनुमानम् । (आ. बृ. १ अ.) । १३. दृष्टादुपदिष्टाद्वा साधनाद्यत्साध्यस्य विज्ञानं सम्यगर्थनिर्णयात्मकं तदनुमीयतेऽनेनेत्यनुमानं लिङ्गग्रहण-सम्बन्धस्मरणयोः पश्चात्परिच्छेदनम् । (प्र. मी. १, २, ७) । १४. लिङ्गज्ञानमनुमानम्, स्वार्थमित्यर्थः । × × × अथवा ज्ञापकमनुमानम् । (उप. प. बृ. ४८) । १५. अनु पश्चात् लिङ्गसम्बन्धग्रहण-स्मरणानन्तरम्, मीयते परिच्छेदते देश-काल-स्वभावविप्रकृष्टोऽर्थेनेन ज्ञानविशेषेण ह्यनुमानम् । (स्था. मं. २०) । १६. लिङ्ग-लिङ्गसम्बन्धस्मरणपूर्वकं ह्यनुमानम् । ब. इ. त. टीका पृ. ४१) । १७. साध्याध्यान्यानुपपन्नहेतुदर्शन-तत्सम्बन्धस्मरणजनितत्वं अनुमानम् । (अर्थसं. मलय. बृ. १२६) ।

१ साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं ।

अनुमानाभास—१. इदमनुमानाभासम् ॥ तत्रानिष्ठादिः पक्षाभासः ॥ अनिष्ठो मीमांसकस्यानित्यः

शब्दः ॥ सिद्धः आवयः शब्द इति ॥ नापितः प्रत्यक्षानुमानाद्यम-लोक-स्ववचनः ॥ (परीक्षा. ६, ११ से १५) । २. पक्षाभासादिसमुत्थं ज्ञानमनुमानाभासमवसेयम् । (प्र. न. त. ६-१७) ।

पक्ष न होकर पक्ष के समान प्रतीत होने वाले पक्षाभास (अनिष्ठ, सिद्ध व प्रत्यक्षादिबाधित साध्य युक्त वर्गों) बाधित से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमानाभास कहते हैं ।

अनुमानित दोष—१. प्रकृत्या दुर्बलो ग्लानोऽहं उपवासादि न कर्तुमलम्, यदि लघु दीयेत ततो दोषनिवेदनं करिष्यते इति वचनं द्वितीयो (अनुमानितो) दोषः । (त. बा. ६, २२, १) । २. यदि लघु मे शक्यपेक्षं किञ्चित् प्रायश्चित्तं दीयेत तवाहं दोषं निवेदयामीति दीनवचनम् । (त. इलो. ६-२२) ।

३. अनुमापिय—गुरोरभिप्रायमुपायेन ज्ञात्वालोचना । (अ. भा. चिन्मयो. ५६२) । ४. अनुमानितं शरीराहारतुच्छबलदर्शनेन दीनवचनेनाचार्यमनुमान्यात्मनि कक्षणापरमाचार्यं कृत्वा यो दोषमात्मीय निवेदयति तस्य द्वितीयोऽनुमानितदोषः । (ब्रूया. बृ. ११-१५) । ५. प्रकृत्या पिताधिकोऽस्मि, दुर्बलोऽस्मि, ग्लानोऽस्मि, नालमहमुपवासादिकं कर्तुम् ।

यदि लघु दीयेत तदोषनिवेदनं करिष्ये इति वचनं द्वितीयोऽनुमापितदोषः । (बा. सा. पृ. ६१) । ६. तपःशूर-स्तवात् तत्र स्वाशक्त्याख्यानुमापितम् ॥ (अन. ब. ७-४०) ; तथा भवत्यनुमापितं नामालोचनादोषः, गुरुः प्राथितः स्वल्पप्रायश्चित्तदानेन ममानुग्रहं करिष्यतीत्यनुमानेन ज्ञात्वा स्वापराधप्रकाशनात् । × × × (अन. ब. स्वो. बी. ७, ४०) । ७. ग्लानः क्लेशासहोऽप्यमर्त्यं प्रायश्चित्तं ममाप्यते । वेदोपाख्यां करिष्यामीत्यादिः स्यादनुमापितम् ॥ (आचा. सा. ६-३०) । ८. अनुमान्य अनुमानं कृत्वा लघुतपरापराधनिवेदनादिना लघुदण्डप्रदायकत्वादित्यस्वमाचार्यस्याकलम्य आलोचयत्येवोऽनुमानित आलोचनादोषः । (अथ. बृ. भा. मलय. बृ. १, ३४२) । ९. अनुमानितं वचनेनानुमान्य आलोचनम् । (त. वृत्ति अत. ६-२२) ।

छोटे से अपराध को प्रगट करके गुरु के दण्ड देने की उग्रता-अनुग्रहा का अनुमान करके बड़े दोषों की आलोचना करने को अनुमानित दोष कहते हैं ।

अनुमापित—वेदो अनुमानित ।

अनुमापित—वेदो अनुमानित ।

अनुमेय—अनुमेयाः अनुमानयम्याः । अथवा अनुगतं मेयं मानं येषां तेऽनुमेयाः प्रमेयाः । (आ.जी. वसु. ५) । अनुमानं ते जानने योग्यं अथवा प्रमेयं (प्रमाण की विषयभूत) वस्तु को अनुमेय कहते हैं ।

अनुमोदना—१. $\times \times \times$ अनुमोयण कम्ममोयण-पसंसा । (विण्ढनि. गा. ११७) । २. अनुमोदना त्वाचाकर्मभोजकप्रसंसा—कृतपुण्याः सुलम्बिका एते, ये इत्थं सदैव लभन्ते मुरुजन्ते वेत्येवंस्वरूपा । (विण्ढनि. मलय. वृ. ११७) ।

प्राचाकर्मवृत्ति भोजन के करने वाले साधु की प्रशंसा करना; इसका नाम अनुमोदना है ।

अनुयोग—१. अणुणा जोगो अणुजोगो अणु पच्छा-भावधो य वेने य । जम्हा पच्छाऽभिहित्यं सुत्तं धोवं च तेणानु ॥ (बृहत्क. १, गा. १६०) । २. अणु-जोगमणुजोगो सुयस्स नियण्ण जयभिधेयेणं । वा-वारी वा जोगो जो अणुक्खो ऽणुकूलो वा ॥ (विसेषा. १३८३) । ३. सूत्रस्यार्थेन अनुयोजनमनुयोगः ।

अथवा अभिधेयो व्यापारः सूत्रस्य योगः, अनुकूलो-अनुक्खो वा योगोऽनुयोगः । (आच. हरि. वृ. नि. १३०; समवा. अमय. वृ. १४७) । ४. अणुधोगो य नियोगो भास विभासा य वत्तिय चेव ।

एदे अणुधोगस्स उ नामा एयट्ठिया पंच ॥ (आच. नि. १२८; बृहत्क. १-१८७) । ५. अनु-योगो नियोगो भाया विभाया वार्तिकेत्यर्थः । (अच. पु. १, पृ. १५३-५४) । ६. किं कस्य केन कस्मिन् कियच्चिरं कतिविधमिति प्रश्नरूपोऽनुयोगः ।

(न्यायकु. ७-७६, पृ. ८०२) । ७. अनुयोजनमनुयोगः सूत्रस्यार्थेन सह सम्बन्धनम् । अथवा अनुक्खो अनुकूलो वा यो योगो व्यापारः सूत्रस्यार्थप्रतिपादनरूपः सोऽनुयोग इति । (स्वानां अमय. वृ. पृ. ३); अनु-रूपोऽनुकूलो वा सूत्रस्य निजाभिधेयेन सह योग इत्यनुयोगः । (स्वानां अमय. वृ. ४, १, २६२, पृ. २००) । ८. यद्वा अणुपिज्ञाया अणोः लघोः पश्चाज्जाततया वा अनु-शब्दवाच्यस्य योऽभिधेयो योगो व्यापारस्तत्सम्बन्धो वा अणुयोगोऽनुयोगो वेति । आह च—अथवा जमत्त्वधो बोध-पच्छमा-वेहि सुधमणुं तस्स । अभिधेये वावारी जोगो तेणं व संवो ॥ (जम्बूदी. शान्ति. वृ. ५) । ९. तत्रा-नुकूलः सूत्रस्यार्थेन योगोऽनुयोगः । (बृहत्क. वृ. १८७) । १०. सूत्रस्यार्थेन सहानुकूलं योजनमनुयोगः ।

अथवा अभिधेये व्यापारः सूत्रस्य योगः, अनुकूलो-अनुक्खो वा योगोऽनुयोगः । यथा घटशब्देन घटस्य प्रतिपादनमिति । (आच. मलय. वृ. नि. १२७) ।

११. सूत्रपाठानन्तरमनु पश्चात् सूत्रस्यार्थेन सह योगो घटना अनुयोगः, सूत्रार्थानात्पश्चादर्थकथनमिति भावना । यद्वाऽनुकूलः अविरोधी सूत्रस्यार्थेन सह योगोऽनुयोगः । (जीवाजी. मलय. वृ. पृ. २) ।

१२. तत्र चानुगतमनुरूपं वा श्रुतस्य स्वेनाभिधेयेन योजनं सम्बन्धनं तस्मिन् वानुरूपोऽनुकूलो वा योगः श्रुतस्यैवाभिधानव्यापारोऽनुयोगः । (उत्तरा. शा. वृ. पृ. ४) । १३. अनुयोजनमनुयोगः सूत्रस्यार्थेन सह सम्बन्धनम्, अथवा अनुक्खो अनुकूलो वा योगो व्या-पारः सूत्रस्यार्थप्रतिपादनरूपोऽनुयोगः । (जम्बूदी. शान्ति. वृ. पृ. ४) ।

१ अनु का अर्थ पश्चाद्भाव या स्तोक होता है । तदनुसार अर्थ के पश्चात् जायमान या स्तोक सूत्र के साथ जो योग होता है उसे अनुयोग कहते हैं ।

१० अर्थ के साथ सूत्र की जो अनुकूल योजना की जाती है उसका नाम अनुयोग है । अथवा सूत्र का अपने अभिधेय में जो योग (व्यापार) होता है उसे अनुयोग जानना चाहिए ।

अनुयोगद्वार श्रुतज्ञान—१. जतिएहि पदेहि चोद्दसमगणणं पडिबद्धेहि जो अत्थो जाणिज्जवि, तेसि पदाणं तत्त्वप्पण्णणाणस्य य अणियोगो ति सण्णा । (अच. पु. ६, पृ. २४); पुणो एत्थ (पडिब-तिसमासे) एगखरे बहिद्वे अणियोगद्वारसुदणणं होदि । (अच. पु. १३, पृ. २६६) ; पाहुडपाहुडस्स जे अहियारा तत्थ एक्केकस्स अणियोगद्वारमिदि सण्णा । (अच. पु. १३, पृ. २६६) । २. चउगइस-कूळकूळयपडिबत्तीदो दु उवरि पुळं वा । वण्णे संखेज्जे पडिबत्तीउद्धमिह अणियोगं ॥ चोद्दसमगणसंजुद अणियोगं $\times \times \times$ । (गो. जी. ३३६-४०) ।

३. चतुर्गतिस्वरूपप्ररूपकप्रतिपत्तिकार्यं तस्योपरि प्रत्येकमेकैकवर्णवृद्धिकमेण संख्यातसहस्रेषु पद-संघा-त-प्रतिपत्तिकेषु बृद्धेषु रूपेणतावन्मानेषु प्रतिप्रतिक-समासज्ञानविकल्पेषु गतेषु तच्चरमस्य प्रतिप्रतिक-समासोत्कृष्टविकल्पस्योपरि एकस्मिन्क्षरे बृद्धे सति अनुयोगाख्यं श्रुतज्ञानम् । (गो. जी. म. प्र. टी. ३३६) । ४. इत्याद्यनुयोगद्वारापामन्यतरदेकम-नुयोगद्वारम् । (कर्मवि. वे. स्वो. टी. गा. ७) ।

३. चतुर्गतिस्वरूपप्ररूपकप्रतिपत्तिकार्यं तस्योपरि प्रत्येकमेकैकवर्णवृद्धिकमेण संख्यातसहस्रेषु पद-संघा-त-प्रतिपत्तिकेषु बृद्धेषु रूपेणतावन्मानेषु प्रतिप्रतिक-समासज्ञानविकल्पेषु गतेषु तच्चरमस्य प्रतिप्रतिक-समासोत्कृष्टविकल्पस्योपरि एकस्मिन्क्षरे बृद्धे सति अनुयोगाख्यं श्रुतज्ञानम् । (गो. जी. म. प्र. टी. ३३६) । ४. इत्याद्यनुयोगद्वारापामन्यतरदेकम-नुयोगद्वारम् । (कर्मवि. वे. स्वो. टी. गा. ७) ।

३. चतुर्गतिस्वरूपप्ररूपकप्रतिपत्तिकार्यं तस्योपरि प्रत्येकमेकैकवर्णवृद्धिकमेण संख्यातसहस्रेषु पद-संघा-त-प्रतिपत्तिकेषु बृद्धेषु रूपेणतावन्मानेषु प्रतिप्रतिक-समासज्ञानविकल्पेषु गतेषु तच्चरमस्य प्रतिप्रतिक-समासोत्कृष्टविकल्पस्योपरि एकस्मिन्क्षरे बृद्धे सति अनुयोगाख्यं श्रुतज्ञानम् । (गो. जी. म. प्र. टी. ३३६) । ४. इत्याद्यनुयोगद्वारापामन्यतरदेकम-नुयोगद्वारम् । (कर्मवि. वे. स्वो. टी. गा. ७) ।

१ शीवहू नार्यभाष्यो ते सत्त्वद्वि जितने पदों के द्वारा जो अर्थ जाना जाता है उन पदों की और उनसे उत्पन्न ज्ञान की 'अनुयोगद्वार' यह संज्ञा है। प्रति-पत्तिरसमाप्त श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर की बुद्धि के होने पर अनुयोगद्वार श्रुतज्ञान होता है। प्रामुख-प्रामुख श्रुतज्ञान के जितने अधिकार होते हैं उनमें प्रत्येक का नाम अनुयोगद्वार है।

अनुयोगद्वारसमाप्त श्रुतज्ञान—१, तस्स (प्रणियो-यस्स) उवरि एगक्खरसुवणाणे वड्ढिदे प्रणियोग-समाप्तो होदि। (बब. पु. ६, पृ. २४); प्रणियोग-द्वारसुवणाणस्सुवरि एगक्खरे वड्ढिदे प्रणियोगद्वार-समाप्तो नाम सुवणाणं होदि। एवमेवेणुत्तरक्खर-वड्ढीए प्रणियोगद्वारसमाप्तसुवणाणं वड्ढिमाणं गच्छदि जाव एगक्खरेणुणापहुवपाहुवे ति। (बब. पु. १३, पृ. २७०)। २, तद्द्वयादिसमुदायः पुनर-नुयोगद्वारसमाप्ताः। (कर्मचि. वे. स्वो. टी. भा. ७)।

अनुयोगद्वार श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर की बुद्धि होने पर अनुयोगद्वारसमाप्त श्रुतज्ञान होता है। इसी प्रकार से आगे उत्तरोत्तर एक-एक अक्षर की बुद्धि होने पर एक अक्षर से हीन प्रामुखप्रामुख श्रुतज्ञान तक सब विकल्प अनुयोगद्वारसमाप्त के होते हैं।

अनुयोगसमाप्तावरणीय कर्म—प्रणियोगसमाप्त-सुवणाणस्स संवेज्जवियप्पस्स जादिदुवारेण एवत्त-मावण्णस्स जमावरणं तमणियोगसमाप्तावरणीयं। (बब. पु. १३, पृ. २७८)।

संज्ञात विकल्पस्वल्प अनुयोगद्वारसमाप्त श्रुतज्ञान के आच्छादित करने वाले कर्म को अनुयोगद्वार-समाप्तावरणीय कहते हैं।

अनुयोगावरणीय कर्म—प्रणियोगसुवणाणस्स जमावारणं कम्मं तमणियोगावरणीयकम्मं। (बब. पु. १३, पृ. २७८)।

अनुयोग श्रुतज्ञान को रोकने वाला कर्म अनुयोगावर-णीय कहा जाता है।

अनुलोम—१. $\times \times \times$ अनुलोमोअभिपेधो $\times \times \times$ । सत्त्वा भोसहजुत्ती गंधजुत्ती य बोयणविही य। रागविहि गीय-बाइयविही अमिप्येमणुलोमो ॥ (उत्तरा. नि. १, ४३-४४)। २, अनुलोमं मनो-हारि। (ससं. हरि. वृ. ७-४७)। ३, 'अनुलोम' इन्द्रियाणां प्रमोदहेतुतया अनुकूलश्रम्यकाकलीनी-तादिरिमिरे तः। (उत्तरा. नि. वृ. १-४३)।

इन्द्रियों को आनन्द उत्पन्न करने वाले अनुकूल सुखने योग्य काकलि नीत आदि विषयोंको अनुलोम कहते हैं।

अनुवाच—प्रसिद्धस्याऽऽचार्यपरम्परागतस्यार्थस्य अनु-पश्चाद्वावोऽनुवादः। (बब. पु. १, पृ. २०१)।

आचार्यपरम्परागत प्रसिद्ध अर्थ का पीछे उसी प्रकार से कथन करना, इसका नाम अनुवाच है।

अनुवीचिभाषण—१, अनुवीचिभाषणं निरवद्यानु-भाषणम्। (स. सि. ७-५)। २, अनुवीचिभाषण-मनुलोमभाषणमित्यर्थः। $\times \times \times$ विचार्य भाष-णमनुवीचिभाषणमिति वा। (त. बा. ७-५; सुखबो. ७-५)। ३, अनुकूलवचनं विचार्य भजनं ना निरव-द्यवचनमनवीचिभाषणमित्युच्यते। (त. सुखबो. वृत्ति ७-५)। ४, बीची बालहरी, तमनुकूल्य या भाषा वर्तते साऽनुवीचीभाषा, जिनसूत्रानुसारिणी भाषा अनुवीचीभाषा। (आ. प्रा. टी. ३२)। ५, अनु-वीचिभाषणं विचार्य भाषणमनवद्यभाषणं वा पञ्च-नम्। (त. वृत्ति श्रुत. ७-५)।

१ जिनागम के अनुसार निरवद्य वचन बोलने को अनुवीचिभाषण कहते हैं।

अनुशिष्टि—१, अनुशिष्टी सूत्रानुसारेण शासनम्। (भ. आ. चिजयो. ६८)। २, अनुशासनं शिक्षणं निर्यापकाचार्यस्य। (भ. आ. चिजयो. ७०); अनु-शिष्टी सूत्रानुसारेण शिक्षादानम्। (भ. आ. मूला. टी. २-६८)। ३, अनुशिष्टी निर्यापकाचार्येणारा-धकस्य शिक्षणम्। (भ. आ. मूला. ७०; अम. व. स्वो. टी. ७-८६)।

३ निर्यापकाचार्य के द्वारा आराधक को जो सूत्रानु-सार शिक्षा दी जाती है उसे अनुशिष्टि कहते हैं।

अनुश्रेणि—१, लोकमध्यादारम्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च आकाशप्रदेशानां कमसन्निविष्टानां वंक्तिः श्रेणि-रित्युच्यते। अनुशब्दस्य आनुपूर्व्येण वृत्तिः श्रेणेरानु-पूर्व्येणानुश्रेणीति। (स. सि. २-२६; त. बा. २, २६, १-२)। २, आकाशप्रवेशवन्ति. श्रेणिः ॥१॥ $\times \times \times$ अनोरानुपूर्व्यं वृत्तिः ॥२॥ (त. बा. २-२६; त. इतो. २-२६)।

लोक के मध्य भाग से लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे रूप में जो आकाशप्रदेशों की पंक्ति अनुक्रम से अवस्थित है उसे अनुश्रेणि कहते हैं।

अनुश्रुतः पदानुसारिबुद्धि—तत्रादिपदस्यार्थं श्रव्यं च परत उपश्रुत्य वा श्रव्यपदार्थ-श्रव्यविचारणा-

समर्थपटुतरमतयोऽनुश्रोतःपदानुसारिबुद्धयः। (योगशा. स्वी. विव. १-८, पृ. ३८)।

दूसरे से प्रथम पद के अर्थ और ग्रन्थ को सुनकर अन्तिम पद तक अर्थ और ग्रन्थ के विचार में समर्थ अतिशय निपुण बुद्धि वाले अनुश्रोतःपदानुसारि-बुद्धि ऋद्धि के धारक कहे जाते हैं।

अनुसन्धना—तत्सेव पणसंतरणद्वस्सऽणुसंधणा षडणा ॥ (आव. नि. ७०१)।

प्रवेशान्तर में नष्ट हुए सूत्र, अर्थ और उभय को संधटित करना—मिलाना, इसका नाम अनुसन्धना है।

अनुसमयापवर्तना (अनुसमयोवट्टणा)—जो (घादो) पुण उक्कीरणकालेण विणा एगसमएणेव पदवि सा अणुसमयोवट्टणा। (अव. पु. १२, पृ. ३२)। जो अनुभाग का घात उत्कीर्णकाल के बिना एक ही समय में होता है उसका नाम अनुसमयापवर्तना है।

अनुसारी (पदानुसारी) ऋद्धि—१. आवि-अव-साण-मग्गे गुरुवदेत्तेण एकवीजपदं। गेल्लिय उव-रिमगं जा गेल्लवि सा मदी हू अणुसारी ॥ (ति. प. ४-६८१)। २. उवरीमाणि चैव जाणंती अणु-सारी णाम। (अव. पु. ६, पृ. ६०)।

गुरु के उपदेश से किसी भी ग्रन्थ के आवि, मध्य या अन्त के एक बीजपद को सुनकर उसके उपरि-वर्ती समस्त ग्रन्थ को जान लेने को अनुसारी ऋद्धि कहते हैं।

अनुसूरिगमन—१. अणुसूरीपूर्वस्या दिशः पश्चिमा-शागमनं कूरातपे दिने। (अ. भा. विजयो. २२२)।

२. अनुसूरिम् अनुसूर्यम्—सूर्य पश्चात्कृत्य—गमनम्। (ह. भा. ब्रह्म. २२२)।

तीक्ष्ण आतप युक्त दिन में पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा की ओर गमन करना, यह अनुसूरिगमन (अनु-सूर्य) कायक्लेस कहलाता है।

अनुस्मरण—पूर्वानुभूतानुसारेण विकल्पनमनुस्मरणम्। (त. बा. १, १२, ११)।

पूर्व अनुभव के अनुसार विचार करना, इसका नाम अनुस्मरण है।

अनुज्ञान—१. श्रुते व्रते प्रसंख्याने संयमे नियमे अमे। यस्योच्चैः सर्वदा चेतः सोऽनुज्ञानः प्रकी-

स. ११

तितः ॥ (उपासका. ८६८)। २. अनुज्ञानः प्रवचने साङ्गेऽधीती × × ×। (अमरकोश २, ७, १०)। जिसका उन्नत चित्त सदा श्रुत, व्रत, त्याग, संयम, नियम और अम में लगा रहता है; उसे अनुज्ञान कहते हैं।

अनूढा—१. अनुरक्ते सुरक्तेन स्वीकृते स्वयमेव ये। अनूढा-परकीये ते भाषिते शिथिलव्रते ॥ (अर्थ. चि. व. ५-६२)। २. अनुरक्तानुरक्तेन स्वयं या स्वीकृता भवेन्। सातुडेति यथा राजो दुष्यन्तस्य शकुन्तला ॥ (वाग्भटा. ५-७२)।

जो अविवाहित अनुरक्त स्त्री अनुरक्त पुरुष के द्वारा [बिना माता-पिता की स्वीकृति के] स्वयं स्वीकार की जाती है वह अनूढा कही जाती है। जैसे—राजा दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला।

अनूपक्षेत्र—१. अनूपक्षेत्रं नाम मगध-मलय-वान-वास-कौकण-सिन्धुविषय-पूर्वदेशादि, यत्र पानीय प्रचुरमस्ति। (आव. स. टी. ६)। २. नद्यादिपानीय-बहुलोज्ज्वलः। × × × यदा अनूपोज्ज्वलः। बृहत्क. वृत्ति १०६१)। ३. अनूपदेशे सजले देशे। (अव. सू. मलय. बृ. ४-६०)। ४. जलप्राय-मनूपं स्यात्। (अमरकोश २, १, १०)।

१ जहाँ पानी प्रचुरता से हो ऐसे मगध, मलय, वानवास, कौकण और सिन्धु आदि देशों को अनूप क्षेत्र कहते हैं।

अनृत—१. असदभिधानमनृतम्। (त. सू. ७-१४)।

२. सच्छब्दः प्रशंसावाची। न सदसत्, अप्रशस्तमिति यावत्। असतोऽर्थस्याभिधानमसदभिधानमनृतम्।

ऋतं सत्यम्, न ऋतमनृतम्। (स. सि. ७-१४)।

३. असदिति सद्भावप्रतिषेधोऽर्थान्तरं गर्हा च। तत्र सद्भावप्रतिषेधो नाम भूतनिवृत्तः प्रभूतोद्भाव-

वनं च। तद्यथा—नास्त्यात्मा, नास्ति परलोक इत्यादि भूतनिवृत्तः। इत्यामाकतन्दुलमाभोऽयमात्मा, आदित्यवर्णः, निष्क्रिय इत्येवमाद्यभूतोद्भावनम्।

अर्थान्तरं यो गां ब्रवीत्यश्वम् अश्वं च गौरिति। गृहेति हिंसा-पारुष्य-वैशग्यादियुक्तं वचः सत्यमपि गृहितमेव भवतीति। (त. भा. ७-६)। ४. ऋतं सत्यार्थं। ऋतमित्येतत् पदं सत्यार्थं द्रष्टव्यम्।

सत्सु साधु सत्यम्, प्रत्यबायकारणानिष्पादकत्वात्। न ऋतमनृतम्। (त. बा. ७, १४, ४)।

अप्रवृत्त बन्धन अवस्था असत् अवस्था बन्धन का नाम अनूत (असत्त्व) है ।

अनूतानन्द (रौद्रध्यान) — १. अनूतवचनार्थं स्मृति-कल्पनाहारी रौद्रध्यानम् । (त. भा. ६-३६) । २. प्रबलराग-द्वेष-मोहस्यानूतानन्दं द्वितीयम् । अनूत-प्रयोजनं कन्या-क्षिति-निक्षेपव्यपसाप-सिध्नाभ्यासा-सम्पूतधातातिसन्धानप्रवणमसदभिधानमनूतम्, तत्प-रोपधातार्थमनुपरततीवरीद्राशयस्य स्मृतेः समन्वा-हारः तत्रैव दुर्धं प्रणिधानमनूतानन्दम् । (त. भा. हरि. वृ. ६-३६) । ३. प्रबलराग-द्वेष-मोहस्य अनू-तप्रयोजनवत् कन्या-क्षिति-निक्षेपव्यपसाप-पितृनास-त्यासम्पूतधाताभिसन्धानप्रवणमसदभिधानमनूतम् । (अधे हरि. वृत्तिवत्) । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-३७) । २ प्रबल राग, द्वेष व मोह से आकाश व्यक्त असत्त्व प्रयोजन के साधनभूत कन्या, भूमि व धरो-हर का अपलपन और परमिन्वा आदि रूप जो असन्धीचीन भाषण करता है, तथा दूसरों के धात का निरन्तर कुण्ट अभिप्राय रक्ता है और उसी का बार-बार चिन्तन करता है; इसे अनूतानन्द रौद्रध्यान कहते हैं ।

अनेक (नाना) — एकात्मताप्रबलहृच्च नाना । (मुत्तम्य. ४६) ।

जो वस्तु एकरूपता को नहीं छोड़ती है, वही वस्तु वस्तुतः नाना या अनेक कही जाती है — एकरूपता से निरपेक्ष वस्तु का वास्तव में वस्तुत्व ही अस-म्भव है, क्योंकि एकत्व और मानात्व ये दोनों धर्म परस्पर सापेक्ष रह कर ही वस्तु का बोध कराते हैं ।

अनेकजोत्रावधिज्ञान — १. तदनेकोपकरणोपयोगो-ज्जेकलोत्रः । (त. भा. १, २२, ४, पृ. ८३, पं. २६) । २. जमोहिणार्णं पञ्चिणियवक्केत्तं वज्जिय सरीरसव्वा-धयवेसु वट्टदि तमणेयवक्केत्तं थाम । तित्थयर-देव-भोर-इयार्णं ओहिणायणमणेयवक्केत्तं वेव, सरीरसव्वावय-वेहि सगविसयभूदत्थमहणादो । (धव. पु. १३, पृ. २६५) ।

२ जो अवधिज्ञान शरीर के शां-वकाचि रूप किसी नियत अवयव में न प्रवृत्त होकर उसके सभी अव-यवों में रहता है, उसे अनेकजोत्रावधि कहते हैं । तीर्थंकर, देव और नारकियों का अवधिज्ञान शरीर के सभी अवयवों द्वारा अपने विषयभूत अर्थ को ग्रहण करने के कारण अनेकजोत्र कहा जाता है ।

अनेकद्रव्यस्कन्ध — १. से कि तं अनेगदविषयसंघे ?

तत्स वेव देसे अवचिए, तत्स वेव देसे उवचिए, से तं अनेगदविषयसंघे । (अनुयो. सू. ५३) । २. अने-कद्रव्यस्वासा स्कन्धवचेति समासः, तस्यैवेत्यनुावर्त्त-मानं स्कन्धमार्थं सम्बध्यते, ततएव 'तस्यैव' स्य कस्यचित् स्कन्धस्य यो देशो नख-दन्त-केशादिलक्षणः अपचितो जीवप्रदेशैर्विरहितो यच्च तस्यैव देशः पृष्ठोदर-चरणादिलक्षण उपचितो जीवप्रदेशैर्व्याप्त इत्यर्थः । तयोर्येथोक्तदेशयोर्विशिष्टकपरिणामपरि-णतयोर्यो देहाख्यः समुदायः सोऽनेकद्रव्यस्कन्धः, सचे-तनाचेतनानेकद्रव्यात्मकत्वादिति भावः । (अनुयो. मल. हेम. वृत्ति ५३, पृ. ४२) ।

२ विशिष्ट परिणाम से परिणत अपचित (जीव-प्रदेश विरहित नख व दांत आदि) और उपचित (जीवप्रदेशों से व्याप्त पीठ व पैर आदि) स्कन्ध देशों का जो शरीर नामक समुदाय है वह अनेक-द्रव्यस्कन्ध कहलाता है ।

अनेकसिद्ध — १. इयसमए वि अनेगा सिद्धाः तेऽणे-गसिद्धा य । (नवतत्त्व. भा. ५६) । २. अनेकसिद्धा इति एकस्मिन् समये यावत् अष्टशतं सिद्धम् । (नन्दी. हरि. वृत्ति पृ. ५१; भा. प्र. टी. ७७) । ३. एकस्मिन् समये अनेके सिद्धाः अनेकसिद्धाः । (प्रज्ञाप. मल. वृ. १-७) । ४. एकस्मिन् समये अष्टोत्तरं शतं यावत् सिद्धा अनेकसिद्धाः । (योगशा-स्त्रो. बिब. ३-१२४) । ५. एकस्मिन् ससये अनेकैः सह सिद्धाः अनेकसिद्धाः । (शास्त्रभा. वृ. ११-५४) । ४ एक समय में अनेक (१०८ तक) जीवों के एक साथ सिद्ध होने को अनेकसिद्ध कहते हैं ।

अनेकसिद्धकेवलज्ञान — एकस्मिन् समयेऽनेकेषां सिद्धानां केवलज्ञानमनेकसिद्धकेवलज्ञानम्, एकस्मिन्समयेऽनेके सिद्धाश्चत उत्कर्षतोऽष्टोत्तरशतसंख्या वेदितव्याः । (आच. मल. वृ. ७८) । एक समय में सिद्ध होने वाले अनेक जीवों के केवल-ज्ञान को अनेकसिद्धकेवलज्ञान कहते हैं ।

अनेकाङ्गिक (अपरिसादिरूप संस्तराक) — अने-काङ्गिकः कथिकाप्रस्तारात्मकः । (व्यथ. सू. भा. मल. वृ. ८-८) ।

अनेक पुराने वस्त्रों के जोड़ से बनाई गई कपड़ी और तुष एवं वस्त्रों आदि से निर्मित प्रस्तारक

साध्या की अनेकाङ्गिक—अपरिशादिक्य संस्तारक कहते हैं ।

अनेकान्त—१. अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाण-नय-साधनः । अनेकान्तः प्रमाणात् तदेकान्तोऽपि तान्-यात् ॥ (स्वयम्भू. १०३) । २. अनेकान्त इति कोऽर्थः इति चेत् एकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकं—अस्तित्व-नास्तित्वद्वयादित्वरूपं परस्परविरुद्धसापेक्ष-क्षयित्वद्वयं यत्तस्य प्रतिपादने स्यादनेकान्तो भ्रम्यते । (समयशा. अथ. बृ. गा. ४४५) । ३. सर्वस्मिन्मपि जीवादिवस्तुनि भावाभावरूपत्वमेकानैकरूपत्वं नित्यानित्यरूपत्वमित्येवमादिकमनेकान्तात्मकत्वम् । (म्यायवी. पृ. ६८) ।

२ एक वस्तु में मुख्यता और शीघ्रता की अपेक्षा अस्तित्व-नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी धर्मों के प्रतिपादन को अनेकान्त कहते हैं ।

अनेकान्त-असात-कर्म—जं कम्मं प्रसादताए वडं प्रसंछुडं अपडिच्छुडं असादताए वेदिज्जदि तमेयंत-प्रसाव । तज्जदिरित्तमणेयंतप्रसाव । (अथ. पु. १६, पृ. ४६८) ।

जो कर्म असातस्वरूप से बाँधा गया है उसका संश्लेष और प्रतिश्लेष से सहित होकर अन्य (सात) स्वरूप से उदय में आना, इसका नाम अनेकान्त-असात कर्म है ।

अनेकान्त-सात-कर्म—जं कम्मं सादताए वडं प्रसंछुडं अपडिच्छुडं सादताए वेदिज्जदि तमेयंत-साव । तज्जदिरित्तं अणेयंतसाव । (अथ. पु. १६, पृ. ४६८) ।

जो कर्म सातस्वरूप से बाँधा गया है, उसका संश्लेष और प्रतिश्लेष से परिणतित होकर अन्य (असात) स्वरूप से उदय में आना, इसका नाम अनेकान्त-सातकर्म है ।

अनेकण तप—देखो अनशन । जउरय-छट्टट्टम-वसम-नुवासस-यकल-मास-उडु-अयण-संवच्छरेसु एस-णपरिच्चाओ अनेकणं नाम तवो । (अथ. पु. १३, पृ. ५५) ।

एक, दो, तीन, चार और पाँच दिन तथा पक्ष, मास, ऋतु, अयन और संवत्सर के प्रमाण से भोजन का परित्याग करने को अनेकण या अनशन तप कहते हैं ।

अनैकान्तिक हेत्वाभास—१. × × × योज्य-

वाप्यत्र युक्तोऽनैकान्तिकः स तु ॥ (म्यायव. २३) ।

२. विषयोऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः । (परीक्षा.

६-३०) । ३. यस्यान्यथानुपपत्तिः सन्निह्यते सोऽनै-

कान्तिकः । (अ. न. त. ६-४४; जैनतर्क. पृ.

१२५) । ४. निवमस्यासिद्धौ सन्नेहे वाऽन्यथानुपपत्त-

मानोऽनैकान्तिकः । (प्रमाणनी. २, १, २१) ।

५. यः पुनरन्यथापि—साध्यविपर्ययेणापि युक्तो वद-

मानकः, आदिशब्दात् साध्येनापि, सोऽन व्यतिकरे

अनैकान्तिकसंज्ञो ज्ञातव्य इति । (म्यायव. सिद्धिचि

वृत्ति २३) । ६. सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः । (म्या-

यवी. पृ. ८६); पक्ष-सपक्ष-विपक्षवृत्तिरनैकान्तिकः ।

(म्यायवी. पृ. १०१); ७. तथा च अन्यथा बोध-

पर्या अनैकान्तिकः । (सिद्धिचि. बृ. ६-३२, पृ. ४३) ।

१ जो हेतु साध्य से विपरीत के साथ भी रहता है

वह अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है । ३ जिस

हेतु की अन्यथानुपपत्ति सम्भव हो, वह भी अनैका-

न्तिक हेत्वाभास होता है । ६ पक्ष और सपक्ष के

समान विषय में भी रहने वाले हेतु को अनैकान्तिक

हेत्वाभास कहते हैं ।

अनैकाग्रप्रप—अनैकाग्रप्रमपि अन्यमनस्कत्वम् । (सा.

च. स्फो. टी. ५-४०) ।

एकाग्रता के अभाव को या जिस की बचलता को

अनैकाग्र्य कहते हैं ।

अनौजीविका—देखो शकटजीविका । अनौजीविका

शकटजीविका, शकट-रथ-तच्छक्रादीनां स्वयं परेण वा

निष्पादनेन बाह्येन विभ्रमणेन वृत्तिर्वहुभूतप्राप्तेष-

मदिका गवादीनां च बन्धादिहेतुः । (सा. च. स्फो.

टी. ५-२१) ।

गाड़ी, रथ और उनके पहियों आदि को स्वयं बना

कर या दूसरे से बनवा कर, उन्हें स्वयं चला कर या

बेचकर आजीविका करने को अनौजीविका कहते

हैं । यह आजीविका बहुतसे त्रस जीवों की हिंसा

का और बल-शोके आदि पशुधर्मों के बन्धादि का

कारण होने से हेय है ।

अन्त—यस्मात्पूर्वमस्ति, न परम्, अन्तः सः । (अमृ. बो.

हरि. बृ. पृ. ३२) ।

जिसका पूर्व है, किन्तु पर नहीं है, उसका नाम

अन्त है ।

अन्तकृत—अष्टकर्मग्राममन्तं विनाशं कुर्वन्तीत्यन्त-

कृतः । अन्तकृतो भूत्वा सिञ्जति सिञ्जन्ति, निस्ति-

पठित निष्पद्यन्ते स्वल्पेणेत्यर्थः, बुद्धमन्ति त्रिकाल-
गोचरानन्तार्थव्यञ्जनपरिणामात्मकाशेषवस्तुतत्त्वं बु-
ध्यन्त्यवगच्छन्तीत्यर्थः । (बच. पु. ६, पृ. ४६०) ।
जो छात्रों कर्मों का अन्त करके—उन्हें आत्मा से
सर्वथा पृथक् करके—अन्तकृत होते हुए सिद्धि को
प्राप्त होते हैं, निश्चित होते हैं—स्वल्प से सम्पन्न
होते हैं, तथा त्रिकालवर्ती वस्तुतत्त्व को प्रत्यक्ष
आपने लगते हैं; वे अन्तकृत कहलाते हैं ।

अन्तकृद्वा, अन्तकृद्वाङ्ग—१. अतयडदसासु ण
अंतयडण नगराह उज्जाणाहं चेइयाहं वणसकाहं
समोसरणाहं रायाणो धम्मा-पियरो धम्मापरिधा
धम्मकहाधो इहलोइय-परलोइया इडिड्विसेसा
योगपरिच्चागा पव्वज्जाधो परिष्सागा सुधपरिग्गहा
तबोवह्णाणाहं संलेहणाधो अत्तपच्चक्खाणाहं पाधो-
वगमणाहं अन्तकिरिप्पाधो प्राधविज्जंति । (नन्दी.
५२, पृ. २३२) । २. अन्तो विनावाः, स च कर्मण-
स्तत्फलभूतस्य वा ससारस्य, कृतो यैस्तेऽन्तकृतस्ते च
तीर्थंकरादयस्तेषां दशाः दशाभ्ययनानीति तत्तत्त्वयया
अन्तकृद्वा इति । (नन्दी. हरि. वृत्ति पृ. १०४) ।
३. ससारस्यान्तः कृतो यैस्ते अन्तकृतः । नाभि-मत्त-
ङ्ग-सोमिल-रामपुत्र-सुदर्शन-यमलीक-बलीक-किष्क-
म्बल-पालम्ब-धोर इत्येते दश वर्धमानतीर्थकर-
तीर्थे, एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेण्वय्ये
दश-दशानगारा दारुणानुपसर्गाणि निजित्य कृत्स्नक-
र्मक्षयादन्तकृतः दश अस्या वर्ण्यन्ते इति अन्तकृद्वा ।
अथवा अन्तकृतां दशां अन्तकृद्वा, तस्याम् अहं-
वाचार्थविधिः सिध्यतां च । (त. भा. १, २०, १२;
ध्व. पु. ६, पृ. २०१)—तत्र 'अथवा...सिध्यतां च'
नास्ति । ४. अंतयडदसा णाम अगं चउब्बिहोव-
सग्गे दारुणे सहियूण पाडिहेरं लद्धूण णिव्वाणं गदे
सुदंसणादि-दस-दससाहू तित्थं पडि वण्णेदि ।
(अथ. १, पृ. १३०) । ५. अतयडदसा णाम
अगं तेवीसलवण-अट्टावीससहस्रपदेहि एक्केक्कमिह
य तित्थे दारुणे बहुविहोसग्गे सहिऊण पाडिहेरं
लद्धूण णिव्वाणं गदे दस दस वण्णेदि । उक्तं च
तत्त्वार्थभाष्ये—'ससारस्यान्तः कृतो यैस्ते × × ×
वर्ण्यन्ते इति अन्तकृद्वा ।' (बच. पु. १, पृ.
१०२-३) । ६. अन्तकृतः सिद्धास्ते यत्र ख्यायन्ते
वर्धमानस्वामिनस्तीर्थं एवावन्तः इत्येवं सर्वकृतान्ताः
अन्तकृद्वाः । (त. भा. सिद्ध. वृ. १-२०) ।

७. अष्टाविंशतिसहस्रत्रयोविंशतिलक्षपदपरिमाणं
प्रतितीर्थं दश-दशानगाराणां निजितदारुणोपसर्गाणां
निरूपकमन्तकृद्वाम् । (श्रुतभ. टी. ८) । ८. प्रति-
तीर्थं दश दश मुनीश्वरास्तीर्थं चतुर्विधोपसर्गं सोढ्वा
इन्द्रादिभिर्विरचितां पूजादिप्रातिहार्यसम्भावनां
लब्ध्वा कर्मक्षयानन्तरं संसारस्यान्तमवसानं कृतव-
न्तोऽन्तकृतः, × × × दश-दशान्तकृतो वर्ण्यन्ते यस्मि
स्तदन्तकृद्वां नामाष्टममङ्गम् । (गो. जी. जी. प्र.
३५७) । ९. अतयडं वरमंगं पयाणि तेवीसलवणं सुस-
हस्सा । अट्टावीसं जत्थ हि वणिणज्जहं अंतकयणाहो ॥
पडितित्थं वरमुणिणो दह दह सहिऊण तिव्वमुव-
सगं । इदादिरइयपूर्यं लद्धा मुचत्ति ससार ॥ माहूण्यं
वरचरणं तेसि वणिणज्जए सया रम्मं । जहं बड्ड-
माणतित्थे दहायि अंतयडकेवलिधो ॥ भाय्यं राम-
पुत्तो सोमिल जमलीकणाम किक्की । सुवंसणो
बलीको य णमी अवंबड्ड [ट्ट] पुत्तलया ॥ (अंगव.
१, ४८-५१) । १०. तीर्थंकराणां प्रतितीर्थं दश
दश मुनयो भवन्ति । ते उपसर्गाणि सोढ्वा मोक्षं
यान्ति । तत्कथानिरूपकमष्टाविंशतिसहस्राधिकत्रयो-
विंशतिलक्षप्रमाणमन्तकृद्वाम् । (त. वृत्ति अन्त.
१-२०) ।

२ जिस अंग में अत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में होने
वाले दश दश अन्तकृत केवलियों का वर्णन किया
गया हो उसे अन्तकृद्वाणि कहते हैं । जैसे वर्धमान
जिनेन्द्र के तीर्थ में १ नभि २ मतंग १ सोमिल ४
रामपुत्र ५ सुदर्शन ६ यमलीक ७ बलीक ८ किष्क-
म्बल ९ पालम्ब और १० अष्टपुत्र; इनका वर्णन
इस अंग में किया गया है ।

अन्तगत-श्रवण—१. इहान्तः पर्यन्तो अण्यन्ते, गत
स्थितमित्यनर्थांतरम्, अन्ते गतमन्तगतम् अन्ते
स्थितम् । तच्च फड्डुकावस्थित्वादात्मप्रदेशान्ते, सर्वा-
त्मप्रदेशजयोपशमभावतो वा बोधारिकसारीरान्ते,
एकदिगुपलम्भाद्वा तदुद्योगितक्षेत्रान्ते गतमन्तगतम्,
इह चात्मप्रदेशान्तगतपृथक्ते । (नन्दी. हरि. वृ.
पृ. ३१-३२) । २. इहान्तशब्दः पर्यन्तवाची—यथा
वनान्ते इत्यत्र, तदत्र अन्ते पर्यन्ते गत व्यवस्थित-
मन्तगतम् । × × × तत्र यदा अन्तर्दतिप्यात्म-
प्रदेशेष्ववधिज्ञानमुपजायते तथा आत्मनोऽन्ते पर्यन्ते
स्थितमिति कृत्वा अन्तगतमित्युच्यते, तत्रैव पर्यन्त-
वर्तिमिरात्मप्रदेशैः साक्षादवधिर्कूपेण ज्ञानेन ज्ञानम्,

न शेषैरिति । अथवा औदारिकस्यान्ते गतं स्थितम् अन्तर्गतम्, कयाचित्कदशोपलम्भम् । इदमपि स्पष्टंकरूपमवधिज्ञानम् । अथवा—सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानां क्षयोपशमभावेऽपि औदारिकशरीरान्तर्गतकया दिशा यद्वाशादुपलभ्यते तदप्यन्तर्गतम् । (जन्वी. मलय. बृ. १०, पृ. ८३) । ३. इह पूर्वाचार्यप्रदर्शितमर्थत्रयम्—अन्ते आत्मप्रदेशानां पर्यन्ते गतः स्थितोऽन्तर्गतः । × × × इहावधिरूपधर्मानः कोऽपि स्पष्टंकरूपतयोत्पद्यते, स्पष्टं च नामावधिज्ञानप्रभाया गबाक्षजालादिद्वारविनिर्गतप्रदीपप्रभाया इव प्रतिनियतो विच्छेदविशेषः । × × × स आत्मनः पर्यन्ते स्थित इति कृत्वा अन्तर्गत इत्यभिधीयते, तैरेव पर्यन्तवर्तिभिरात्मप्रदेशैः साक्षादवबोधात् । अथवा औदारिकशरीरस्यान्ते गतः स्थितोऽन्तर्गतः, औदारिकशरीरमधिकृत्य कदाचिदेकया दिशोऽपलम्भम् । × × × अथवा सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानां क्षयोपशमभावेऽपि औदारिकशरीरस्यान्ते कयाचित्कदश दिशा यद्वाशादुपलभ्यते सोऽप्यन्तर्गतः । × × × एष द्वितीयः । तृतीयः पुनरयम्—एकदिग्भाविना तेनावधिना यदुद्योतिवं क्षेत्रं तस्यान्ते वर्ततेऽवधिरवधिज्ञानवतस्तदन्ते वर्तमानत्वात् । ततोऽन्ते एकदिग्गतस्यावधिविषयस्य पर्यन्ते गतः स्थितोऽन्तर्गतः । (प्रज्ञाप. मलय. बृ. ३३-३१७, पृ. ५३७) ।

३ अन्तर्गत बाह्य अवधि के स्वरूप का निर्देश तीन प्रकार से किया गया है—१ जिस प्रकार ऊरोर आदि में प्रकाश के आने-जाने के छेव होते हैं, उसी प्रकार अवधिज्ञानप्रभा के प्रतिनियत विच्छेदविशेष का नाम स्पष्टंकरूप है । ये स्पष्टंकरूप कितने ही पर्यन्तवर्ती आत्मप्रदेशों में और कितने ही मध्यवर्ती आत्मप्रदेशों में उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार से जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, वह आत्मा के अन्त में स्थित होने के कारण अन्तर्गत-अवधि कहा जाता है । २ यद्यपि अवधिज्ञानावधारण का क्षयोपशम सभी आत्मप्रदेशों में होता है, फिर भी जिसके द्वारा औदारिक शरीर के अन्त में किसी एक दिशा में बोध होता है, वह भी अन्तर्गत-अवधि कहा जाता है । ३ एक दिशा में होने वाले उस अवधिज्ञान के द्वारा प्रकाशित क्षेत्र के अन्त में अवधिज्ञानी के वर्तमान होने से वह अवधिज्ञान भी बूँद उगत क्षेत्र के अन्त

में स्थित रहता है; अतएव अन्तर्गत अवधिज्ञान कहा जाता है ।

अन्तर—१. अन्तरं विरहकालः । (स. सि. १-८) । २. अनुपहृतवीर्यस्य न्यग्भावे पुनरुद्भूतिवर्षमाह तद्वचनम् ॥८॥ अनुपहृतवीर्यस्य द्रव्यस्य निमित्तवशात्कस्यचित्पर्यायस्य न्यग्भावे सति पुनर्निमित्तान्तरात्तस्यैवाविर्भावदर्शनात्तदन्तरमित्युच्यते । (स. बा. १, ८, ८) । ३. × × × अन्तरं विरहो य सुष्णकालो य । (अथ. बृ. १, पृ. १५६ उद्धृत); अन्तरमुच्छेदो विरहो परिणामंतरगमणं गणित्यगमणं ग्रण्यभाववद्ग्राहणमिदं एयद्वो । (अथ. बृ. ५, पृ. ३) । ४. अन्तरं स्वभावपरित्यागे सति पुनस्तद्भावप्राप्तिः [पितः,] विरह इत्यर्थः । (अनुयो. हरि. बृ. पृ. ३५) । ५. कस्यचित् सन्तानेन वर्तमानस्य कुतश्चिदन्तरो विरहकालोऽन्तरम् । (न्यायकु. ७-७६, पृ. ८०३) । ६. कस्यचित् सम्मत्तदंशनादेर्युगस्य सन्तानेन वर्तमानस्य कुतश्चित्कारणान्मध्ये विरहकालोऽन्तरम् । (स. सुखबो. बृ. १-८) । ७. विवक्षितस्य गुणस्थानस्य गुणस्थानान्तरत्वं सति पुनरपि तदगुणस्थानप्राप्तिः यावन्न भवति तावान् कालोऽन्तरमुच्यते । (स. वृत्ति व्युत्. १-८) । २ अक्षत वीर्यविशेष से संयुक्त द्रव्य की किसी पर्याय का तिरोभाव होकर अन्य निमित्त के अनुसार पुनः उसके आविर्भूत होने पर मध्य में जो काल लगता है उसका नाम अन्तर है ।

अन्तरकरण—१. विवक्षित्यकमार्गं हेतुभोवरिमद्विदीप्तो मोक्षं गच्छे अंतोमुह्यतेमात्रं द्विदीप्तं परिणामविशेषेण गिसेगानमभावीकरणमन्तरकरणमिदं ग्रण्ये । (अथ. —कसा. पा. पृ. ६२६, टिप्पण १) । अन्तरं विरहो सुष्णभावोऽस्ति एयद्वो । तत्स करणमन्तरकरणं । हेत्वा उर्वरि च केतियाप्रो द्विदीप्तो मोक्षं गच्छे मज्जितलान् द्विदीप्तं अंतोमुह्यतेपमाणां गिसेये सुष्णतत्संपादनमन्तरकरणमिदं भणितं होइ । (अथ. —कसा. पा. पृ. ७५२, टि. १) । ३. अन्तरकरणं नामोदयक्षणादुपरि मिथ्यात्वस्थितिमन्तर्भूतवर्तमानात्मिकम्योपरितर्ती च विष्कम्भमिव्त्वा मध्यन्तर्भूतवर्तमानं तत्प्रदेशवेद्यदलिकाभावकरणम् । (कर्मप्र. यथो. टी. उपश. १७, पृ. २६०) ।

१ विवक्षित कर्मों की अवस्तन और उपरिम स्थितियों को छोड़ कर मध्यवर्ती अन्तर्भूत प्रमाण

स्थितियों के निचों का परिणामविशेष से अभाव करने को अन्तरकरण कहते हैं।

अन्तरङ्गक्रिया—अन्तरङ्गक्रिया च स्वसमय-परसमयपरिज्ञानरूपा ज्ञानक्रिया । (इष्यानु. टी. १-५)। स्वसमय और परसमय के जानने रूप ज्ञानक्रिया को अन्तरङ्ग क्रिया कहते हैं।

अन्तरङ्गछेद—अशुद्धोपयोगो हि छेदः, शुद्धोपयोगरूपस्य आत्मन्यस्य छेदनात्—तस्य हिसनात् । स एव च हिता । (अथ. सा. अमृत. वृ. ३-१६)। अशुद्धोपयोगोऽन्तरङ्गछेदः । (अथ. सा. अमृत. वृ. ३-१७)।

अशुद्ध उपयोग को अन्तरङ्गछेद कहते हैं, क्योंकि वह शुद्धोपयोगरूप मुनि धर्म का छेद (विघात) करता है। दूसरे शब्दों से उसे ही हिता कहा जाता है।

अन्तरङ्गज दुःख—न्यक्कारावशेच्छाविघातादिसमुत्थमन्तरङ्गजम् । (नीतिवा. ६-२३)।

तिरस्कार, अज्ञान और इच्छाविघात आदि से उत्पन्न होने वाले दुःख को अन्तरङ्गज दुःख कहते हैं।

अन्तरङ्गयोग—अन्तरङ्गक्रियापरः अन्तरङ्गयोगो ज्ञानक्रिया । (इष्यानु. टी. १-५)।

अन्तरङ्ग की क्रिया करने वाले योग को अन्तरङ्गयोग कहते हैं।

अन्तर-द्वितीय-समयकृत—तद्वर्णतरसमए (पठन-समयकद-अंतरादो अणंतरसमए) अंतरं दुसमयकदं गाम भवति । (जयध. अ. प. १०८०)।

अथन-समयकृत-अन्तर से अव्यवहित उत्तर समय में होने वाले अन्तर को द्वितीय समयकृत अन्तर कहा जाता है।

अन्तर-प्रथम-समयकृत—अम्हि समए अंतरचरि-मफाली गिवदिदा तम्हि समए अंतरपठमसमयकदं अण्णदे । (जयध. अ. प. १०८०)।

जिस समय में अन्तर स्थिति की प्रतिम फाली का पतन होता है उस समय में अन्तर-प्रथम-समयकृत कहा जाता है।

अन्तरात्मा (अंतररूपा)—१. $\times \times \times$ अंतर-अप्या इ अण्णसंकप्पो । (मोक्षवा. ५)। २. जण्णेषु जो ण वट्ठइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा ॥ (नि. सा. १५०)। ३. के जिनवयणे कुसला भेदं जाणंति जीव-देहाणं । गिज्जियदुट्ठमया अंतरअप्या य ते

तिविहा ॥ (कार्तिके. १६५)। ४. आन्तरः । चित्त-दोषात्मविभ्रान्तिः $\times \times \times$ ॥ (समाधि. ५)।

५. अट्टकम्मभ्यंतरो ति अंतररूपा । (अथ. पु. १, पृ. १२०)। ६. याचेतनस्यात्मविभ्रान्तिः सोऽन्तरात्मा-ऽभिधीयते । (अमित. आ. १५-५६)। ७. बहिर्भा-वानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः । सोऽन्तरात्मा यतस्तज्जैविभ्रम-ध्वान्तात्मस्करैः ॥ (आना. ३२-७)।

८. धम्मज्झाणं आयादि दंसण-आणेषु परिणदो णिच्चं । सो अणइ अंतररूपा $\times \times \times$ ॥ (आनसार ३१)। ९. स्वशुद्धात्मसंविज्ञानमुत्पन्नवास्तवबुद्ध्यात् प्रतिपक्षभूतेनेन्द्रियसुखेनासक्तो बहिरात्मा, तद्विलक्षणो-ऽन्तरात्मा । अथवा देहरहितनिजशुद्धात्मब्रह्मभावना-

लक्षणभेदज्ञानरहितत्वेन देहादिपरद्वेषेकत्वभावना-परिणतो बहिरात्मा, तस्मात् प्रतिपक्षभूतोऽन्तरात्मा । अथवा हेयोपादेयविचारकचित्तनिर्दोषपरमात्मनो भिन्ना रागादयो दोषाः, शुद्धचैतन्यलक्षण आत्मन्यु-

क्तलक्षणेषु चित्तदोषात्मसु निषु बीतरागसर्वज्ञप्रणी-तेषु अल्पेषु वा पदार्थेषु यस्य परस्परसापेक्षनय-विभागेन श्रद्धानं ज्ञानं च नास्ति स बहिरात्मा । तस्मात् विसृज्योऽन्तरात्मा । (बु. ब्रह्मसं. टी. १५)।

१०. कायादेः समधिष्ठायको भवत्यन्तरात्मा तु ॥ (योगशा. १२-७)। ११. पुनः सकर्मविस्थायात्मपि आत्मनि ज्ञानाद्युपयोगलक्षणे शुद्धचैतन्यलक्षणे महा-

नन्दस्वरूपे निर्विकारामृताध्याप्राधक्ये समस्तपरमाव-मुक्ते आत्मबुद्धिः अन्तरात्मा, सम्यग्बुद्धिगुणस्थान-

कतः क्षीणमोहं यावत् अन्तरात्मा । (आनसार बु. (१५-२)। १२. अन्तः अम्यन्तरे शरीरावेभिन्न [नः] प्रतिभासमानः आत्मा येषां ते अन्तरात्मानः,

परमसमाधिस्थिताः सन्तः देहविभिन्नं ज्ञानमयं पर-आत्मानं ये जानन्ति ते अन्तरात्मानः । (कार्तिके. टी. १६२)। १३. $\times \times \times$ तदविच्छातान्तरात्म-

तामेति । (अध्यात्मसार २०-२१)। तत्त्वश्रद्धा ज्ञानं महाप्रज्ञान्यप्रमादपरता च । मोहजयश्च यदा स्यात् तदान्तरात्मा भवेद् व्यक्तः ॥ (अध्यात्मसार २०,

२३, पृ. २६)। ३ जो आठ नवों से रहित होकर वेह और जीव के भेद को जानते हैं वे अन्तरात्मा कहलाते हैं। ५ आठ नवों के भीतर रहने से जीव को अन्त-रात्मा कहा जाता है। ११ सकर्म अवस्था में भी ज्ञानादि उपयोगस्वरूप शुद्ध चैतन्यमय आत्मा में

जिन्हें आत्मबुद्धि प्राप्त हुई है वे अन्तरात्मा कहलाते हैं, जो सम्यग्बुद्धि (बोध) गुणस्थान से लेकर शीघ्रकषाय (बारहवें) गुणस्थान तक होते हैं ।

अन्तराय—१. ज्ञानविच्छेदकरणमन्तरायः । (स. सि. ६-१०; त. श्लो. बा. ६-१०; त. सुखबो. बु. ६-१०) । २. विद्यमानस्य प्रवन्धेन प्रवर्तमानस्य मत्स्यादिज्ञानस्य विच्छेदविधानमन्तराय उच्यते । (त. बुति वृत्त. ६-१०) ।

फिली के ज्ञान में बाधा पड़नेवाला, यह एक अन्तराय नामक ज्ञानावरण का अंशक है ।

अन्तराय कर्म—१. दातृ-देयादीनामन्तरं मध्यमेतीत्यन्तरायः । (त. सि. ८-४) । २. अन्तरं मध्यम्, दातृ-देयादीनामन्तरं मध्यमेति ईयते वा ज्ञेनेत्यन्तरायः । (त. बा. ८, ४, २) । ३. दानादिविघ्नो-ज्जन्तरायस्तत्कारणमन्तरायम् । (आ. प्र. टी. ११) ।

४. अन्तरमेति गच्छति द्वयोरित्यन्तरायः । दाज-लाह-भोगोवभोगादिसु विषयकरणकलमो पोगमलक्ष-धो सकारणेहि जीवसमवेदो अन्तरायमिदं प्रणये । (अथ. पु. ६, पृ. १३-१४) ; अन्तरमेति गच्छतीत्यन्तरायम् । (अथ. पु. १३, पृ. २०६) । ५. विषयकरणमि दाबदमन्तरायं । (अथ. पु. २, पृ. २१) । ६. अन्तर्धीयते अनेनात्मनो वीर्य-लाभादीति अन्तरायः ।

अन्तर्धानं वा ज्ञप्तमनो वीर्यादिपरिणामस्येत्यन्तरायः । अन्तर्धानं वा ज्ञप्तमनो वीर्यादिपरिणामस्येत्यन्तरायः । (त. भा. सिद्ध. बु. ८-५) । ७. अन्तरं व्याघातम्, तस्यायः हेतुर्यत्तदन्तरायम् । दानाद्यनुभवतो विघा-तरूपतयोपतिष्ठते यत्तदन्तरायम् । (पञ्चसं. श्लो. बु. १-१) । ८. दानादिलब्धयो येन न फलन्ति वि-बाधिताः । तदन्तरायं कर्म स्याद् भाण्डागारिक-सन्निभम् ॥ (त्रि. श. पु. २, ३, ४७५) । ९. जीवं चार्थसाधनं चान्तराज्यते पततीत्यन्तरायं जीवस्य दानादिकर्मसं सिंसाधयिषोविघ्नोभूयाज्जन्तरा पतति ।

(शतक. मल. हेम. बु. १७, पृ. ५१) । १०. अन्तरा दातृ-प्रतिप्राहकयोरन्तविघ्नहेतुतया अयते गच्छतीत्यन्तरायम् । (कर्मसं. मलय. बु. भा. ६०८; प्रब. सारो. बु. १२५०) । ११. जीवं दानादिकं चान्तरा व्यवधानापावनाय एति गच्छतीत्यन्तरायम् । जीवस्य दानादिकं कर्तुमुद्यतस्य विघातकृद् भवतीत्यर्थः । (प्रज्ञाप. मलय. बु. २३-२८८; कर्मप्र. यज्ञो. टी. भा. १) । १२. जीवं चार्थसाधनं चान्तरा एति पततीत्यन्तरायम् । (कर्मसं. शो. बु. ६-१०) ।

१३. जीवं दानादिकं चान्तरा एति, न जीवस्य दानादिकं कर्तुं ददात्यन्तरायम् । (कर्मसं. वरमा. व्याख्या भा. ५-६) । १४. दातृ-देयादीनामन्तरं मध्यमेति ईयते वाज्ञेनेत्यन्तरायः । (त. सुखबो. बु. ८-४) ।

१५. दातृ-प्राप्तयोर्देयादेययोश्च अन्तरं मध्यम् एति गच्छतीत्यन्तरायः । (त. बुति वृत्त. ८-४) । १६. अस्ति जीवस्य वीर्याद्यो गुणोऽस्त्येकस्तदादिबन्त । तदन्तरयतीहेदमन्तरायं हि कर्म तत् । (पञ्चाध्यायी २-१००७) ।

१ जो कर्म दाता और देय आदि के बीच में आता है—दाज देने में बाधा डालता है—उसे अन्तराय कर्म कहते हैं ।

अन्तरायवर्ग—अन्तरायप्रकृतिसमुदायोऽन्तरायवर्गः । (पञ्चसं. मलय. बु. ५-४८) ।

अन्तराय कर्म की प्रकृतियों के समुदाय को अन्तराय-वर्ग कहते हैं ।

अन्तरिक्ष-महानिमित्त—१. रवि-ससि-महपट्टदीपं उदयत्यमणादियाहं ददृष्टुं । खीणतं दुक्ख-सुहं जं जाणइ तं हि णहणिमित्तं ॥ (सि. प. ४-१००३) । २. रवि-शसि-ग्रह-नक्षत्र-तारा-भगणोदयास्तमयादि-भिरतीतानागतफलप्रविभागप्रदर्शनमन्तरिक्षम् । (त. बा. ३, १६, ३; आ. सा. पृ. ६४) । ३. चंदाश्च-गहाणमुदयत्यवण-जयपराजय-गहघट्टण-विज्जुबडक - इवाउह-चंदाश्चपरिवेसुवरागविवेभयादि ददृष्टुं सुहासुहावगमो अन्तरिक्षं णाम महानिमित्तं । (अथ. पु. ६, पृ. ७४) । ४. अन्तरिक्षमादित्य-ग्रहाद्युदया-स्तमनम् । × × × यदन्तरिक्षस्य व्यवस्थितं ग्रह-बुधं ग्रहास्तमनं ग्रहविधातादिकं समीक्ष्य प्रजायाः शुभाशुभं विबुध्यते तदन्तरिक्षं नाम । (मूला. बु. ६-३०) । ५. गह-वेह-भूष-ग्रहसप्तमुहं यमन्तरि-रिक्षं तं । (प्रब. सारो. २५७-१४०८) । ६. अन्तरिक्षं आकाशप्रभवग्रहयुद्धभेदादिभावफलनिवेदकम् । (सप्तमा. अथ. बु. नू. २६) ।

२ आकाशगत सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा आदि के उदय-अस्त आदि अवस्थाविशेष को देख कर भूत-मर्षिण्यत् काल सम्बन्धी फल के विभागको विज्ञानाला, इसे अन्तरिक्ष-महानिमित्त या नजनि-मित्त कहते हैं ।

अन्तरिताथं—१. अन्तरिताः कालविप्रकृष्टाः अर्थाः । (आ. शो. बु. ५) । २. अन्तरिताः कालविप्रकृष्टा

रामादयः । (प्रा. बी. पृ. ४१) ।

काल-विप्रकृष्ट अर्थात् काल की अपेक्षा दूरवर्ती पदार्थों को अन्तरितार्थ कहते हैं । (जंसे—राम-रावण आदि) ।

अन्तर्गति—मनुष्यः तिर्यग्योनिवाच्यं यावदुत्पत्ति-स्थानं न प्राप्नोति तावदन्तर्गतिः । (त. भा. सिद्ध. पृ. ८-१२) ।

एक गति को छोड़कर दूसरी गति में गन्ध लेने के पूर्व जो जीव की मध्यवर्ती गति होती है, उसे अन्तर्गति कहते हैं । जंसे—मनुष्य मरकर जब तक तिर्यग्योनिष्वप्यने उत्पत्तिस्थान को नहीं प्राप्त कर लेता है, तब तक उसकी गति अन्तर्गति कहलाती है ।

अन्तर्धान—१. जं हवदि ग्रहिसत्तं अंतद्वाणाभि-
धाणरिद्धी सा । (ति. प. ४-१०३२) । २. अन्त-
र्धानमवश्यो भवेत् । (त. भा. १०-७) । ३. अदृश्य-
रूपशक्तताज्जर्धानम् । (त. भा. ३, ३६, ३, पृ. २०३) । ४. अन्तर्धानमवश्यत्वम् । (त. भा. सिद्ध. पृ. १०-७, पृ. ३१६; योगशा. स्वो. विव. १-८, पृ. ३७) । ५. अदृष्टरूपतोऽन्तर्धानमन्तविः । (त. वृत्ति धृत. ३-३६) ।

अदृश्य हो जाने का नाम अन्तर्धान ऋद्धि है ।

अन्तर्धि—अरि-विजिगीषोर्मण्डलान्तर्विहितवृत्तिरभ-
यवेतनः पर्वताटवीकृताश्रयश्चान्तविः । (नीतिभा. २६-२६) ।

जो शत्रु और उसे जीतने की इच्छा करने वाले के देशों के मध्य में रहे, दोनों ओर से बेलन से और किसी पर्वत या शटबी में आश्रय करके रहे, वह अन्तर्धि (बरट) कहलाता है ।

अन्तर्मल—एकत्र (जीवे) अन्तर्मलः कर्म, अन्यत्र (सुवर्णादी) अन्तर्मलः कालिमादिः । (प्रा. बी. वृत्ति. ४) ।

आत्मा का अन्तर्मल कर्म कहलाता है, और सुवर्ण आदि के अन्तर्मल कालिमा आदि कहलाते हैं ।

अन्तर्मुहूर्त—१. [मिण्णमुहूर्तादो] पुणो वि अव-
रेगे एगसमए अवगिधे सेसकालपमाणमंतोमुहूर्तं
होदि । एवं पुणो पुणो समय अवणेषव्या जाव उस्सासो
णिट्ठिदो ति । तो वि सेसकालपमाणमंतोमुहूर्तं वेव
होइ । (बब. पु. ३, पृ. ६७); × × × सामीप्या-
व वतमानान्तःशब्दग्रहात् मुहूर्तस्यान्तः अन्तर्मुहूर्तः ।

(बब. पु. ३, पृ. ६६-७०); मुहूर्तस्संतो अतोमुहूर्तं;
(बब. पु. ४, पृ. ३२४) । २. एगसमए हीणं
(मुहूर्तं) मिण्णमुहूर्तं तदो तेसं ॥ गो. जी. ५७४) ।
३. समयमावसि अवरं समऊणमुहूर्तयं तु उक्कसं ।
मज्झासंख्यवियपं वियाण अंतोमुहूर्तमिणं ॥ (गो.
जी. ५७४तमतः परं ओपक्कम्) । ४. अन्तर्मुहूर्तः
समयाधिकायावलिकामादिं कृत्वा समयोनमुहूर्तम् ।
(त. वृ. टि., पृ. १८) । ५. ग्रीणि सहस्राणि सप्त
शतानि अधिकसप्ततिरच्छवासाः मुहूर्तः कथ्यते
(३७७३) । तस्यान्तः अन्तर्मुहूर्तः । समयाधिका-
यावलिकामादिं कृत्वा समयोनमुहूर्तं यावत् । (त.
वृत्ति धृत. १-८) ।

३ एक समय अधिक आबली से लगाकर एक समय
कम मुहूर्त तक के काल को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं ।
अन्तर्व्याप्ति—पक्षीकृत एव विषये साधनस्य
साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः । यथानैकान्तात्मकं वस्तु
सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेरिति × × × । (प्र. न. त.
३, ३८-३६) ।

पक्ष के भीतर ही साध्य के साथ साधन की व्याप्ति
होने को अन्तर्व्याप्ति कहते हैं । जंसे—वस्तु अने-
कान्तात्मक है, क्योंकि, अनेकान्तात्मक होने पर ही
उसकी सत्ता घटित होती है । यहाँ पक्ष के अन्तर्गत
वस्तु को छोड़कर अन्य (अवस्तु) की सत्ता ही
सम्भव नहीं है, जहाँ कि उक्त व्याप्ति ग्रहण की जा
सके ।

अन्तःकरण—१. गुण-बोधविचार-स्मरणादिव्यापा-
रेषु इन्द्रियानपेक्षत्वाच्चक्षुरादिवत् बहिरनुपलब्धै-
श्च अन्तर्गतं करणं अन्तःकरणम् । (स. वि. १-१४;
त. वृत्ति धृत. १-१४) । २. नेन्द्रियमनिन्द्रियम्, नो-
इन्द्रिय च प्रोच्यते । अत्रेवदर्थं प्रतिषेधो ब्रह्मव्यो
यथाजुदरा कथ्यते । तेनेन्द्रियप्रतिषेधेनाहमनः करण-
मेव मनो गृह्यते, तदन्तःकरणं प्रोच्यते, तस्य
बाह्येन्द्रियैर्ग्रहणाभावादन्तर्गतं करणमन्तःकरणमिति
व्युत्पत्तः । (स. सुखबो. पृ. १-१४) ।

१ गुण-बोध के विचार और स्मरण आदि व्यापारों
में जो बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रखता है तथा
जो बस्तु आदि इन्द्रियों के समान बाह्य में दृष्टि-
योग्य भी नहीं होता है, ऐसे अन्तर्गतर करण (मन)
को अन्तःकरण कहते हैं ।

अन्तःशल्य—अन्तः मध्ये मनसीत्यर्थः, शल्यमिव

शल्यमपराधपदं यस्य सोऽन्तःशल्यो सज्जाभिमाना-
धिभिरजालोचिततावीचरः । (सम्भा. अभय. बृ. सु. १७, पृ. ३२) ।

अन्तःशल्यमरण में अपराधपद काटके के समान
बुझ रहा है पर लज्जा व अभिमानादि के कारण
जो दोष की आलोचना नहीं करता है, ऐसे साधु को
अन्तःशल्य कहते हैं ।

अन्तःशल्यमरण—तस्य (अन्तःशल्यस्य) मरणमन्तः-
शल्यमरणम् । (सम्भा. अभय. बृ. सु. १७, पृ. ३२) ।
अन्तःशल्य—अपराध की आलोचना न करने वाले-
का जो मरण होता है उसे अन्तःशल्यमरण कहते हैं ।
अन्तःशुद्धि—ममेदमहमस्येति संकल्पो जायते न
चेत् । चेतेतरमावेपु सास्तःशुद्धिर्जनोविता ॥ (बर्ध-
सं. भा. ७-४८) ।

‘यह मेरा है और मैं इसका हूँ’ इस प्रकारका संकल्प
यदि चेतन या अचेतन पदार्थों में न हो तो इसे
अन्तःशुद्धि कहा जाता है ।

अन्तःस्व वर्ण—अन्तःस्पर्शात्मनोर्वर्णयोर्मध्ये तिष्ठ-
न्तीति अन्तस्थाः य-र-ल-वर्णाः । ते हि कादि-माव-
सानस्पर्शानां श-व-स-हृकोष्मणां च मध्यस्थाः ।
(अभि. रा. भा. १, पृ. ६३) ।

क से लेकर म पर्यन्त स्पर्श नाम वाले तथा श, व,
स और ह इन ऊष्म नाम वाले वर्णों के मध्य में जो
य, र, ल, व वर्ण अवस्थित हैं; वे अन्तःस्व कहे
जाते हैं ।

अन्त्य सूक्ष्म—अन्त्यं परमाणुनाम् । (स. सि. ५,
२४; त. बा. ५, २४, १०; त. वृ. श्रुत. ५-२४) ।
परमाणुगत सूक्ष्मता को अन्त्य सूक्ष्म कहते हैं ।

अन्त्य स्थूल—१. अन्त्यं जगद्व्यापिनि महास्कन्धे ।
(स. सि. ५-२४; त. बा. ५, २४, ११) । २. तत्र
जगद्व्यापी महास्कन्धः अन्त्यस्थूलः । (त. वृ. श्रुत.
५-२४) ।

जगद्व्यापी महास्कन्ध-गत स्थूलता को अन्त्य स्थूल
कहते हैं ।

अन्ध—१. अन्धः योऽकार्यरतः । (प्रश्नो. १. भा.
१६) । २. एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेकस्तद्विद्भि-
रेव सह संवसति द्वितीयम् । एतद्व्यं मुचि म यस्य
स तत्त्वतोऽप्यस्तस्यापमार्गचलने सन् कोऽपराधः ॥
(अभि. रा. १, पृ. १०५) ।

१ अकार्यरत पुण्य को अन्ध कहते हैं ।

अन्न-पाननिरोध—१. गवादीनां क्षुत्पिपासाबाधा-
करणमन्न-पाननिरोधः । (स. सि. ७-२५; त. बा.
७, २५, ५; त. श्लो. ७-२५) । २. अन्न-पाननि-
रोधस्तु क्षुद्बाधाविकारोऽङ्गिनाम् । (ह. पु. ५८,
१६५) । ३. तेषां गवादीनां कुतश्चित्कारणात्
क्षुत्पिपासाबाधोत्पादनमन्न-पाननिरोधः । (बा. सा.
पृ. ५) । ४. अन्न-पानयोः भोजनोदकयोर्निरोधः
व्यवच्छेदः अन्न-पाननिरोधः । (बर्धसि. बृ. ३-२३) ।
५. अन्नं च पानं चान्नपाने, तयोर्निरोधः, गवादीनां
कुतश्चित्कारणात् क्षुत्पिपासाबाधोत्पादनमित्यर्थः ।
(स. सुखो. ७-२५) । ६. गो-महिषी-बलीवर्द-
वाजि-गज-महिष-मानव-शकुतादीनां क्षुत्पिपासादिपी-
डोत्पादनमन्न-पाननिरोधः । (त. वृ. श्रुत. ७-२५;
कार्तिके. टी. ३३२) । ७. नराणां गो-महिष्यादि-
तिरस्त्रां वा प्रमादतः । तृणाद्यन्नादिपानानां निरोधो
व्रतदोषकृत् ॥ (साटीसं. ५-२७१) ।

१ राध-भंस आदि प्राणियों के लाने-पीनेके सब वर
उन्हें भोजन-पान न देना, यह अन्न-पाननिरोध नामक
अहिंसानुष्ठान का अतीचार है ।

अन्नप्राशन—१. गते मासपूवक्ष्वे च जन्माद्यस्य
यथाक्रमम् । अन्नप्राशनमात्रात् पूजाविधिपुरस्सरम् ॥
(स. पु. ३६-६५) । २. नवान्नप्राशनं श्रेष्ठं शिषू-
नामन्नभोजनम् । (आ. वि. पु. १६—उद्धृत) ।
जन्म के तीन मास से लेकर नौ मास के भीतर
बालक को पूजाविधिपूर्वक अन्न खिलाना प्रारम्भ
करने को अन्नप्राशन कहते हैं ।

अन्नशुद्धि—अन्नशुद्धिश्चतुर्दशमलरहितस्याहारस्य
यतनया शोधितस्य हस्तपुटेऽर्पणम् । (सा. व. श्लो.
टी. ५-४५) ।

बीवह मलंसि रहित और अप्रथमपूर्वक शोधित आहार
को हस्त-पुट में अर्पण करना अन्नशुद्धि कहालाती है ।

अन्य (पर) गरणानुपस्थापन प्रायश्चित्त—देखो
अनुपस्थापन प्रायश्चित्त । दण्डानन्तरात्कान् (अन्य-
मुनि-छात्राद्यपहरण-तत्प्रहरणादीन्) दोषानाचरतः
पर (अन्य) गणोप [गणानुप] स्थापनं प्रायश्चित्तं
भवतीति । (बा. सा. पृ. ६४) ।

देखो अनुपस्थापन प्रायश्चित्त ।

अन्यता—अन्यता सर्वद्व्येषां परस्परं भेदपरिणा-

मोजनादिः । (स. भा. सिद्ध. वृत्ति ७-७) ।

सर्वं ब्रह्मं को अनादिकालीन परस्पर विभिन्नता को अन्यता कहते हैं ।

अन्यतीविक-प्रवृत्तानुयोग—अन्यतीविकेभ्यः कपि-सादिभ्यः सकाशात् प्रवृत्तः स्वकीयाचारवस्तुतत्त्वानामनुयोगो विचारः, तत्पुनस्करणार्थः शास्त्रसन्दर्भ इत्यर्थः, सोऽन्यतीविकप्रवृत्तानुयोग इति । (संज्ञा. अथ. वृ. सू. २६) ।

अन्यतीविक अर्थात् कपिल आदि अन्य मताव-लम्बिभ्यो से प्रवृत्त हुआ जो अपने आचार-विषयक अनुयोग (विचार) है उसके पुरस्कृत करने वाले शास्त्रसन्दर्भ को अन्यतीविक-प्रवृत्तानुयोग कहते हैं । अन्यत्वभावना—जीवानां देहात् पृथक्त्वे सति पुनःकलत्र-वनादिवदार्थभ्योऽप्यन्तर्भेदः, अतस्तत्त्व-वृत्त्या लोके कस्यापि सम्बन्धो नास्तीत्यादिचिन्तन-अन्यत्वभावना । (सम्बोध. वृ. १६) ।

जीव के शरीर से भिन्न होने पर उस शरीर से सम्बद्ध पुत्र-मित्र-कलत्र आदि तो उससे संबंधा भिन्न रहने वाले ही हैं, वस्तुतः जीवका इन सब में से किसी के साथ भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसा विचार करना; इसका नाम अन्यत्वभावना है ।

अन्यत्वानुप्रेक्षा—देहो अन्यत्वभावना । १. शरीरादव्यतिरेकचिन्तनमन्यत्वानुप्रेक्षा । (स. सि. ६-७) ।

२. शरीरात् व्यतिरेको लक्षणभेदादन्यत्वम् ॥३॥

× × × तत्र बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादन्यत्वम्, ततः कुशलपुरुषप्रयोगसन्निधौ शरीरादव्यतिरेकचिन्तनमन्यत्वानुप्रेक्षा । तदवाप्तये च ऐन्द्रियिकं शरीरम् अतीन्द्रियोऽहम्, अज्ञं शरीरं शोऽहम्, अमिदं शरीरं नित्योऽहम्, आद्यन्तवच्छरीरम् अनाद्यन्तोऽहम्, बहूनि मे शरीरशतसहस्राणि अतीतानि संसारे परिभ्रमन्, स एवाहम् अन्यस्तेभ्यः इत्येवं शरीरादन्यत्वम्, किमञ्ज पुनर्बाह्येभ्यः परिरुहेभ्य इति चिन्तनम् अन्यत्वानुप्रेक्षा । (स. भा. ६, ७, ५) । ३. शरीरव्यतिरेको लक्षणभेदोऽन्यत्वम् । (स. भा. ६-७) । ४. शरीरादपि जीवस्य व्यतिरेकोऽन्यत्वम् । (स. सुखको. वृ. ६-७) ।

५. जीवात् कायादिकस्य पृथक्त्वानुचिन्तनमन्यत्वानुप्रेक्षा भवति । तथाहि—जीवस्य बन्धं प्रति एकत्वे सत्यपि लक्षणभेदात् काय इन्द्रियमयः आत्माऽनि-

न्द्रियोऽप्यो वर्तते, कायोऽज्ञः आत्मा ज्ञानवान्, कायोऽनित्यः आत्मा नित्यः, कायः आद्यन्तवान् आत्मा अनाद्यन्तवान्, कायानां बहूनि कोटिलक्षाणि अति-क्रान्तानि आत्मा संसारे निरन्तरं परिभ्रमन् स एव तेभ्योऽप्यो वर्तते । एवं यदि जीवस्य कायादपि पृथक्त्वं वर्तते, तर्हि कलत्र-पुत्र-गृह-बाह्यादिभ्यः पृथक्त्वं कथं न बोधवीति ? अपि तु बोधवीत्येव । एवं भव्यजीवस्य समाहितचेतसः कायादिषु निःस्पृहस्य तत्त्वज्ञानभावनापरस्य कायादेर्मिन्नत्वं चिन्तयतो वैराग्योत्कृष्टता भवति । तेन तु अनन्तस्य मुक्ति-सौख्यस्य प्राप्तिर्भवतीत्यन्यत्वानुप्रेक्षा । × × × भवन्ति चात्र काव्यानि × × × नो नित्यं जडरूप-मैन्द्रियकमाद्यन्ताश्रितं वर्धं यत् सोऽहं तानि बहूनि चाश्रयमयं वेदोऽस्ति सङ्गादतः । नीर शीरवदङ्गुली-ऽपि यदि मे ज्यत्वं ततोऽन्यद् भृशं साक्षात्पुनःकलत्र-मित्र-गृह-रै-रत्नादिकं मत्परम् ॥ (स. वृत्ति भूत. ६-७) । ६. अण्णं देहं गिण्हदि जणणी अण्णाय होदि कम्मादो । अण्णं होदि कलत्तं अण्णो वि य जायदे पुत्तो ॥ एवं बाहिरवन्धं जाणदि रुवाडु अण्णो भिण्ण । जाणतो वि ण्ण जीवो तत्थेव हि रच्वदे भूढो ॥ ओ जाणिण्ण देत्तं जीवसरूवाडु तत्त्वदो भिण्ण । अण्णायं पि य सेवदि कज्जकरं तत्स अण्णत्तं ॥ (कालिके. ८०-८२) ।

१ शरीर से आत्मा को भिन्नता के बार-बार चिन्तन करने को अन्यत्वानुप्रेक्षा कहते हैं ।

अन्यथानुपपत्ति—१. अन्यथा अन्तेन साध्याभाव-प्रकारेण, या अनुपपत्तिः लिङ्गस्य अघटना [सा अन्य-थानुपपत्तिः] । (सिद्धिचि. टी. ५-१५, वृ. ३४६, पं. २०) ; अन्यथा साध्याभावप्रकारेण अनुपपत्तिः अन्यथानुपपत्तिः । (सिद्धिचि. टी. ५-२१, वृ. ३४८, पं. १७) ; तदभावे (व्यापकाभावे) अवश्यं तत् (व्याप्यं) न भवति इति अन्यथानुपपत्तिरेव समझिता । (सिद्धिचि. टी. ६-२, वृ. ३७६, पं. ५) । २. × × × असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिः । (प्र. न. त. ३-३०) ।

साध्य के अभाव में हेतु के अस्तित्व न होने को अन्य-थानुपपत्ति कहते हैं ।

अन्यथानुपपन्नत्व—अन्यथानुपपन्नत्वं साध्याभावे नियमेन साधनस्य अघटनम् । (सिद्धिचि. टी. ५, २३, वृ. ३६१, पं. १३) ।

देशो—अन्यानुपपत्तिः ।

अन्यदृष्टि—१. अन्यदृष्टिरित्यहंछासनव्यतिरिक्तां दृष्टिमाह । (त. भा. ७-१८) । २. जिनवचनव्यतिरिक्ता दृष्टिरन्यदृष्टिरसर्वज्ञप्रणीतवचनाभिरतिः । (त. भा. सिद्ध. बृ. ७-१८) ।

जिनशासन से भिन्न, असर्वज्ञप्रणीत अन्य मत-मतान्तरों से अनुराग रखने को अन्यदृष्टि कहते हैं ।

अन्यदृष्टिप्रशंसा—१. मनसा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञान-चारित्र्यगुणोद्भावनं प्रशंसा । (स. सि. ७-२३; त. बृ. श्रुत. ७-२३) । २. अन्यदृष्टियुक्तानां क्रियावा-दिनामक्रियावादिनामज्ञानिकानां वैयक्तिकानां च प्रशंसा । (त. भा. ७-१८) । ३. अन्यदृष्टीनां सर्वज्ञप्रणीतवचनव्यतिरिक्तानां $\times \times \times$ पाषण्डिनां प्रशंसा अन्यदृष्टिप्रशंसा । (धर्मबि. नृ. बृ. ३-२१) । १ मन से मिथ्यादृष्टि के ज्ञान-चारित्र्य गुणों के प्रगट करने को अन्यदृष्टिप्रशंसा कहते हैं ।

अन्यदृष्टिसंस्तव—१. अन्यदृष्टियुक्तानां क्रिया-वादिनामक्रियावादिनामज्ञानिकानां वैयक्तिकानां च संस्तवोऽन्यदृष्टिसंस्तवः । (त. भा. ७-१८) । २. मिथ्यादृष्टेर्भूतगुणोद्भावनवचनं संस्तवः । (स. सि. ७-२३) ।

२ मिथ्यादृष्टि के सबूत और असबूत गुणों की वचन से स्तुति करने को अन्यदृष्टिसंस्तव कहते हैं ।

अन्ययोगव्यवच्छेद—१. विशेषण-विशेष्याभ्यामुक्तौ च क्रियया सह । अयोग योगमपरैरत्यन्तायोग न चान्यथा ॥ व्यवच्छिन्नसि धर्मस्य निपातो व्यतिरेकः । सामर्थ्याच्चाप्रयोगोऽर्थो गम्यः स्यादेवकारयोः ॥ (सिद्धिबि. ६, ३२-३३) । २. न वै पुरुषेच्छया चित्रो धनुर्धर एव, पार्श्व एव धनुर्धरः, नीलं सरोजं प्रवत्येवेति अयोगव्यवच्छेदादिस्वभावस्थितवाक्येषु अन्य-यात्वं सम्भाव्यते, तथाप्रतिपत्तिप्रसंगात् । (सिद्धिबि. स्वो. बृ. ६, ३२-३३) । ३. विशेष्यसंगतैवकारो-ऽन्ययोगव्यवच्छेदबोधकः । यथा पार्श्व एव धनुर्धरः इति । अन्ययोगव्यवच्छेदो नाम विशेष्यभिनता-दाभ्यादिव्यवच्छेदः । तत्रैवकारेण पार्श्वान्यता-दाभ्यामावो धनुर्धरो बोध्यते । तथा च पार्श्वान्यता-दाभ्यामावधनुर्धराभिन्नः पार्श्व इति बोधः । (सप्तमं. पृ. २६) ।

विशेष्य के साथ प्रयुक्त एवकार को अन्ययोगव्यव-

च्छेद कहते हैं । जैसे—पार्श्व (अर्ध) ही धनुर्धर है ।

अन्यलिङ्ग—अन्यलिङ्गं भौत-परिवाजकादिवेषः । (त. भा. सिद्ध. बृ. १०-७) ।

जैन लिङ्ग से भिन्न भौत (भौतिक) व परिवाजक आदि के वेष को अन्यलिङ्ग कहते हैं ।

अन्यलिङ्गसिद्धा—१. अन्यलिङ्गसिद्धाः परिवाज-कादिविङ्गसिद्धाः । (भा. प्र. टी. ७६; गन्दी. हरि. बृ. पृ. ५१) । २. $\times \times \times$ वस्त्रलचीरी य धन्य-लिंगम् । (वचस्प. गा. ५७) । ३. अन्येषां परिवाजकादीनां लिङ्गेन सिद्धा अन्यलिङ्गसिद्धाः । (योगशा. स्वो. बिच. ३-१२४) । ४. अन्य-लिङ्गे परिवाजकादिसम्बन्धिनि वस्त्रल-काषा-यादिरूपे इत्यलिङ्गे व्यवस्थिताः सन्तो ये सिद्धा-स्तेऽन्यलिङ्गसिद्धाः । (प्राय. मलय. बृ. १-७) । ५. जन्मलिङ्गे परिवाजकादिसम्बन्धिन्येव व्यवस्थिताः सिद्धाः अन्यलिङ्गसिद्धाः । (शास्त्रवा. टी. ११-५४) ।

१ परिवाजक आदि अन्य लिङ्गों से सिद्ध होने वाले जीवों को अन्यलिङ्गसिद्ध कहते हैं ।

अन्यलिङ्गसिद्धकेवलज्ञान—अन्यलिङ्गसिद्धकेवल-ज्ञानं नाम यदन्वस्मिन् लिङ्गे वर्तमानाः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यमानाविशेषात् केवलज्ञानमुत्पाद्य केवलो-त्पत्तिसमकालमेव कालं कुर्वन्ति तदन्यलिङ्गसिद्ध-केवलज्ञानम् । यदि पुनस्तेऽन्यलिङ्गस्थिताः केवलमु-त्पाद्यात्मनोऽपरिशीलमायुः पश्यन्ति ततः साधुलिङ्ग-मेव परिगृह्णन्ति । (प्राय. मलय. बृ. ७८, पृ. ८५) । जो अन्य लिङ्ग में रहते हुए ही सम्यक्त्व को प्राप्त कर और भवनाविशेष से केवलज्ञान को उत्पन्न कर केवलोत्पत्ति के साथ ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं, उनके केवलज्ञान को अन्यलिङ्गसिद्धकेवलज्ञान कहते हैं ।

अन्य(पर) विवाहकरण—१. परस्य (अन्यस्य) विवाहः परविवाहः, परविवाहस्य करणं पर (अन्य) विवाहकरणम् । (स. सि. ७-२८; त. भा. ७, २८, १) । २. अन्येषां स्व-स्वापरव्यतिरिक्तानां विवा-हानां विवाहकरणं कन्याफललिप्तया स्नेहसम्बन्धा-दिना वा परिणयनविधानम् (योगशा. स्वो. बिच. ३-६४) । ३. स्वपुत्र-पुत्र्यादीन् वर्जयित्वा अन्येषां गोत्रिणां मित्र-स्वजन-परजनानां विवाहकरणं अन्य-विवाहकरणम् । (कार्तिके. टी. ३३८) ।

३ अक्षरें पुत्र पुत्री आदि को छोड़कर अन्य शेष वालों के, तथा निच व स्वजन-परजनाविधों के पुत्र पुत्री आदि का विवाह करना, यह अन्य (पर) विवाह-करण नामक ब्रह्मचर्यानुष्ठान का प्रतिचार है।

अन्यहितयुता करणा—अन्यहितयुता सामान्येनैव प्रीतिमत्तासम्बन्धविकलेष्वपि सर्वेषु एवान्येषु सत्त्वेषु केवलानां भिन्न भगवतां महामुनीनां सर्वानुग्रहपरायणा हितबुद्ध्या चतुर्थी करुणा (शोधक बृ. १३-६)। प्रीतिमत्ता (रागविषयता) का सम्बन्ध नहीं होने पर भी केवलियों के तमान महामुनियों के जो सर्वप्राणियों के अनुग्रहविषयक बुद्धि होती है, उसे अन्यहित-युता करणा कहते हैं।

अन्यापदेश—“अन्यस्य परस्य सम्बन्धी दुःखलक्षावि” इति व्यपदेशो व्याजोऽन्यापदेशः। (योगशा. स्तो. विच. ३-११६)।

‘यह दुःख अथवा खेद आदि अन्य गृहस्थ के हैं, मेरे नहीं हैं’, इस प्रकार के कपटपूर्ण वचन को अन्यापदेश कहते हैं। यह अतिशय विभागस्त का पाँचवां प्रतिचार है।

अन्यापोह—स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिन्यापोहः। (अष्टाशती ११)।

स्वभावान्तर से विचलित स्वभाव की भिन्नता को अन्यापोह कहते हैं।

अन्योन्यप्रगृहीतत्व—अन्योन्यप्रगृहीतत्व परस्परेण पदानां वाक्यानां वा सापेक्षता। (समवा. अभय. बृ. सू. ३५; रायप. टी. पृ. १६)।

पदों वा वाक्यों की परस्पर सापेक्षता को अन्योन्य-प्रगृहीतत्व कहते हैं।

अन्योन्याभाव—१. गवि योऽव्याघ्रभावश्च सोऽन्योन्याभाव उच्यते। (अमाल. ३८६)। २. गवि बलीवर्षे योऽयमव्वादीनामभावः सोऽन्योन्याभावः, अन्योऽपरो गोरस्वस्यस्यान्यस्याव्वादेर्गवि भगवस्ता-क्षरम्यनिषेधो यः सोऽन्योन्याभाव उच्यते इति सम्बन्धः। ३. तादात्म्याविच्छन्नप्रतिपोगिताका-भावत्वमन्योन्याभावलक्षणम्। (अष्टा. यशो. बृ. ११, पृ. १६६)।

गव आदि किसी एक वस्तु में अन्य अक्षर आदि के अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं।

अन्य—१. अवस्था-देश-कालात्ता भेदेऽपेक्ष्यव-स्थितिः। ॥ वा वृष्टा सोऽन्यो लोके व्यवहाराय

कल्पते। (न्यायि. २, १७७-७८)। २. अनु-रि-त्यध्युच्छिन्नप्रवाहरूपेण वर्तते यदा। अयतीत्यय-त्यर्थाद्विद्वान्तरन्वर्ततोऽन्यं द्रव्यम्॥ (पञ्चाध्यायी १-१४२)।

अवस्था, देश और काल के भेद के होते हुए जो कर्षणित्वात्मा की व्यवस्था देखी जाती है उसे व्यवहार के लिए अन्य माना जाता है।

अन्यदत्ति—१. आत्मान्यप्रतिष्ठायं सूनवे यद-शेषतः। समं समय-विताभ्यां स्ववर्गस्यातिसर्जनम्॥ सैषा सकलदत्तिः स्यात् ×। × ×॥ (सा. ब. १-१८, टि. १)। २. ग्रथाह्वयं सुतं योग्यं गोत्रजं वा तथाविषम्। ब्रूयादित् प्रशान् साक्षाज्जातिज्येष्ठस-धर्मणाम्॥ ताताद्यथावदस्माभिः पालितोऽयं गृहा-श्रमः। विरज्येनं जिह्वासूनां त्वमद्याहंसि नः पदम्॥

पुत्रः पुत्रोः स्वात्मानं सुविधेरिव केशवः। यः उप-स्कृते वपुर्गम्य. शत्रुः सुतच्छलात्॥ तद्विं मे घनं धर्मं पोष्यमप्यारमसात्कुरु। सैषा सकलदत्तिः परं पथ्या विवायिनाम्॥ (सा. ब. ७, २४-२७)।

३. सकलदत्तिः आत्मीयस्वसन्ततिस्थापनाय पुत्राय गोत्रजाय वा धर्मं घनं च समर्थं प्रदानमन्यदत्तिश्च सैव। (कार्तिके. टीका ३६१)।

२ अपनी सन्तानपरम्परा को स्थिर रखने के लिये पुत्र को या सगोत्री को धर्म के साधनभूत चैत्यालय आदि एवं धनादि के प्रदान करने को अन्यदत्ति कहते हैं। इसका दूसरा नाम सकलदत्ति भी है।

अन्यद्वृष्टान्त—१. साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रद-श्यते सोऽन्यद्वृष्टान्तः। (परीक्षा. ३-४४)। २. साधनसत्ताया यत्रावश्यं साध्यसत्ता प्रदश्यते सोऽन्यद्वृष्टान्तः। (षड्वर्णन. टीका ४-५५, पृ. २१०)।

२. अन्यव्याप्तिप्रदर्शनस्थानमन्यद्वृष्टान्तः। (न्या-यटी. पृ. ७८)।

१ जिस स्थान पर साध्य से व्याप्त साधन दिखाया जाय उसे अन्यद्वृष्टान्त कहते हैं।

अन्यवद्रव्याधिक—गिस्तेससहावाणं अण्ययकूषेण दम्बदम्बेदि [दम्बदम्बमिदि]। दम्बदम्बो हि जो सो अण्ययदम्बतिप्रो भणियो॥ (ल. नयच. २४); गिस्तेससहावाणं अण्ययकूषेण दम्बदम्बेहि। विव-हावणाहि जो सो अण्ययदम्बतिप्रो भणियो॥

(बृ. नयच. १६७, पृ. ७३); सामान्यमुपाध्वन्य-रूपेण द्रव्यं द्रव्यमिति द्रवति व्यवस्थापयतीत्यन्य-

द्रव्याधिकः । (आलाप.—नयच. पु. १४५) ।

यह भी द्रव्य है, यह भी द्रव्य है; इस प्रकार समस्त स्वभावों के अन्वय रूप से जो द्रव्य को स्थापित करता है उसे अन्वयद्रव्याधिक कहते हैं ।

अन्वयव्यतिरेकी — पञ्चरूपोपपन्नोऽन्वयव्यतिरेकी । (न्या. बो. पु. ६०) ।

जो हेतु पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अवाचितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व; इन पाँचों रूपों से युक्त होता है उसे अन्वयव्यतिरेकी हेतु कहते हैं । अपकर्षण (शोककटुण) — १. पदेषाणं छिदीनमो-वट्टणा शोककटुणा गाम् । (अच. पु. १०, पृ. ५३) । २. स्मित्यनुभागयोगोहानिरपकर्षणम् । (गो. क. जी. प्र. टी. ४३८) ।

कर्मप्रवेशों की विधायियों के हीन करने का नाम अपकर्षण है ।

अपक्रमचट्क — १. चतसृषु दिक्षुध्वमघस्वेति भवान्तरसंक्रमणवट्केनापक्रमेण युक्तत्वात् वट्कापक्रमयुक्तः । (पञ्चास्तिकाय अमृत. वृत्ति ७२) ।

२. छक्कापक्रमयुक्तो—अस्य वाक्यस्यार्थः कथ्यते—अपगता विनष्टः विरुद्धक्रमः प्राजलत्व यत्र स भवत्यपक्रमो वक्र इति ऊर्ध्वाधोमहादिकचतुष्टय-गमनरूपेण बहुविधेनापक्रमेण मरणान्ते युक्तः इत्यर्थः । (पञ्चा. का. जय. वृ. ७२) । ३. पूर्व-दक्षिण-पश्चिमोत्तरोर्ध्वाधोमहादिभेदेन संसारावस्थायां वट्कापक्रमयुक्तः । (गो. जी. म. प्र. ब जी. त. प्र. टी. ३५६) ।

मरण के समय विरुद्ध गति का न होना, इसका नाम अपक्रम है । यह ऊर्ध्व, अधः और पूर्वोर्ध्व आदि; इन छह विशाओं के भेद से छह प्रकारका है । इसीसे उसे 'अपक्रमचट्क' के नाम से कहा जाता है । अपक्व बोध — १. × × अपक्वं पावकादिभिः । इत्यैरत्यस्तपूर्वस्ववर्ण-गन्ध-रसं विदुः ॥ (आभा. सा. ८-५२; भाषा. टी. १००) । २. अपक्वं यदग्नि-नाज्येन वा इत्यनधूमादिना प्रकारेण न पक्वम् । (बृहत्क. वृ. १०८) ।

अग्नि आदि द्रव्य के द्वारा जिसका रूप, रस व गन्ध अन्यथा न हुआ हो, उसका सेवन करने पर अपक्व-शोध होता है ।

अपगतवेद — १. करित्त-तणेद्वावलीसरितपरिणाम-वेदधुमुत्सका । अवगतवेदा जीवा सगसंभवर्णत-

वरसोत्सका ॥ (आ. पंचसं. १-१०८; अच. पु. १, पृ. ३४२ उ; गो. जी. २७५) । २. अपगता-स्त्रयोऽपि वेदसन्तापा येषां तेऽपगतवेदाः, प्रकीर्णान्त-र्दाहा इति यावत् । (अच. पु. १, पृ. ३४२); मोह-णीयदम्बकम्मकसंधो तज्जणिदजीवपरिणामो वा वेदो । वेदजणिदजीवपरिणामस्स परिणामेण सह कम्मकसं-धस्स वा भभावो अवगदवेदो । (अच. पु. ५, पृ. २२२) । ३. करीषजेन तार्णेन पावकेनेष्टकेन च । समतो वेदतोऽपेताः सन्त्यवेदा गतव्यथा ॥ (पंचसं. अग्नि. १-२०२) ।

१ कारीष, तुण और इष्टिकायाक की अग्नि के समान जो कम से स्त्रीवेद, पुच्छवेद और नपुंसकवेद रूप परिणामों के वेदन (उपय) से रहित जीवों को अपगतवेद या अपगतवेदी कहते हैं ।

अपचयद्रव्यमन्द — अपचयद्रव्यमन्दस्तु यः कुशा-रीरतया कमपि प्रयासं न कर्तुमीष्टे । (बृहत्क. वृ. ६६७) ।

जो शरीर के कुशा होने से कुछ भी प्रयास (परि-श्रम) न कर सके उसे अपचयद्रव्यमन्द कहते हैं ।

अपचयपद — १. अवयवापचयतिबन्धानि—अथा छिन्नकर्णः छिन्ननासिक इत्यादीनि नामानि । अच. पु. १, पृ. ७७; छिण्णकरो छिण्णणासो काणो कुंटो इच्चादीणि अवचिदिणबन्धणाणि । (अच. पु. ६, पृ. १३७) । २. छिण्णकण्णो छिण्ण-णासो काणो कुंटो (टो) खजो बहिरो इच्चादीणि णामाणि अवचयपदाणि, सरीरावयवविगलतमवे-निसय एदेसि णामाणं पउत्तिदंसणादो । (अच. पु. १, पृ. ३३) ।

२ छिन्नकर्ण, छिन्ननास, काना, कुंड (कुबड़ा, मोना अथवा हाथ से हीन), कुबड़ा, लगड़ा और बहिरा आदि नामपद चित्तिव शरीरावयव की हीनता के सूचक होने से अपचयपद कहलाते हैं ।

अपचयभावमन्द — अपचयभावमन्दस्तु यो निजस-हजबुद्धेरभावेनान्यदीयाया बुद्धेरनुपजीवनेन हिताहि-तप्रवृत्ति-निवृत्ती न कर्तुमीशः स बुद्धेरपचयेन भावतो मन्दत्वावपचयभावमन्दः । अथवा यस्तु परिस्पृ-रतिः स बुद्धेः स्मृलसूत्रतया अन्तनिःसारताक्षण-मपचयमधिकृत्यापचयभावमन्दः । (बृहत्क. वृ. ६६७) जो अपनी बुद्धि की हीनता से अपने हित-अहित में प्रवृत्ति और परिहार न कर सके और परकी बुद्धि से

कार्य करे उसे बुद्धिहीनता के कारण भावनिक्षेप के धाव्य से अपव्यवभावन्य कहते हैं ।

अपद दोष—१. अपदं पद्यविधौ पद्ये विधातव्येऽन्य-
च्छन्दोऽभिधानम् । यथा आर्यापादे वैतालीयपादा-
भिधानम् । (आच. हरि. बृ. ८८२, पृ. ३७५) ।

३. अपदं यत्र पद्ये विधातव्येऽन्यच्छन्दोऽभिधानम् ।
(आच. मलय. बृ. ८८२, पृ. ४८३) ।

१ किसी पद्य की रचना में अन्य छन्द के कहने को अपददोष कहते हैं । जैसे—आर्या छन्द में वैतालीय छन्द के खरन की योजना । यह सूत्र के अलोक आदि ३२ दोषों में १८वां दोष है ।

अपद-संक्षिप्त-ब्रह्मपरिक्षेप—यत्तुनर्वर्णः [परिवे-
ष्टनं] सोऽपदपरिक्षेपः । (बृहत्क. बृ. ११२२) ।

वाचबिहीन वृत्तों से श्राल-नगरादि के शेषित करने को अपद-संक्षिप्त-ब्रह्मपरिक्षेप कहते हैं ।

अपवोपक्रम—अपदानां वृक्षादीनां वृक्षायुर्वेदोप-
देशाद् वार्धक्यादिगुणापादनमपवोपक्रमः । (आच.
नि. मलय. बृ. गा. ७६, पृ. ६१) ।

वाचरहित सचित वृक्षादिकों के वृक्ष सम्बन्धी आयु-
वर्ष के उपदेश से बृहत्त्व आदि गुणों का कथन
करना, इसे अपव-संचित-ब्रह्मोपक्रम कहते हैं ।

अपध्यान—१. वध-बन्धच्छेद-परस्वहरणाच्च पर-
कलत्रादेः । अध्यानमपध्यानं शासितं जिनशासने
विधायाः ॥ (रत्नक. ३-३२) । २. परेषां जय-परा-
जय-वध-बन्धनाङ्गच्छेद-परस्वहरणादि कथं स्यादिति
मनसा चिन्तनमपध्यानम् । (स. सि. ७-२१; त. भा.
७, २१, २१; भा. सा. पु. ६; त. पुस्तको. बृ. ७-२१;
त. वृत्ति भूत. ७-२१) । ३. अपध्यान इति अपध्या-
नाचरितोऽप्रशस्तध्यानेनसेवितः । अत्र देवदत्तधावक-
कोट्टणायकप्रभृतयो ज्ञापकम् । (भा. प्र. टी. २८६) ।

४. अपध्यानं जयः स्वस्य यः परस्य पराजयः । वध-
बन्धार्थहरणं कथं स्यादिति चिन्तनम् ॥ (ह. पु.
५८-१४६) । ५. संकल्पो मानसी वृत्तिविषयेऽनृत-
विणी । सैव दुःप्रणिधानं स्यादपध्यानमती विदुः ॥
(स. पु. २१-२५) । ६. नरपतिजय-पराजयादि-
संचितनलक्षणादपध्यानात् × × × । (त. श्लो.
७-२१) । ७. पापिन्द्र-जय-पराजय-सङ्गर-परदारग-
मन-चौराद्याः । न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं
केवलं यस्मात् ॥ (बृ. सि. १४१) । ८. स्वयं विषया-
नुमचरहितोऽप्ययं जीवः परकीयविषयानुभव दृष्टं

श्रुतं च मनसि स्मृत्वा यद्विषयामिषां करोति तद-
पध्यानं भण्यते । (बृ. ब्रह्मसं. २२) । ९. अपकृष्टं
ध्यानमपध्यानम् । तदनर्थदण्डस्य प्रथमो भेदः ।

× × × एवमार्त-रौद्रध्यानात्मकमपध्यानमनर्थ-
दण्डस्य प्रथमो भेदः । (योगशा. स्तो. विष.

३-७३, पृ. ४६५ व ४६७) । १०. वैरिघातो नरे-
न्द्रत्वं पुरघाताग्निदीपने । खचरत्वाद्यपध्यानं मूढ-
तात् परतस्त्यजेत् ॥ (योगशा. ३-७५) । ११.

वैरिघात-पुरघाताग्निदीपनादिविषयं रौद्रध्यानम्,
नरेन्द्रत्वं खचरत्वम्, आदिशब्दादस्त्ररौद्रविघातरीपरि-

भोगादि, तेष्वार्तध्यानरूपमपध्यानम् । (योगशा.
स्तो. विष. ३-७५) । ११. × × × अपध्यानं मार्त-
रौद्रात्म चान्वियात् । (सा. ब. ५-६) । १२. वधो

बन्धोऽङ्गच्छेद-स्वहृती जय-पराजयो । कथं स्यादस्य
चिन्तेत्यपध्यानं तन्मिगद्यते ॥ (धर्मसं. भा. ७-६) ।

१ राग-द्वेष के बशीभूत होकर दूसरों के बध, बन्धन,
छेदन और परस्त्री आदि के हरने का विचार करना

अपध्यान कहलाता है ।

अपरत्त्व—१. ते (परत्वापरत्वे) च क्षेत्रनिमित्ते प्रशं-
सानिमित्ते कालनिमित्ते च सम्भवतः । तत्र क्षेत्रनि-
मित्ते तावदाकाशप्रवेशाल्पबहुत्वापेक्षे । एकस्यां दिशि

बहुनाकाशप्रवेशानतीत्य स्थितः पदार्थः पर इत्यु-
च्यते । ततोऽप्यानतीत्य स्थितोऽपर इति कथ्यते ।

प्रशंसाकृते ग्रहिणादिप्रशस्तगुणयोगात् परो धर्मः ।
तद्विपरीतलक्षणस्त्वधर्मोऽपर इत्युच्यते । कालहेतुके-

शतवर्षः पुमान् परः, षोडशवर्षस्त्वपर इत्याख्या-
यते । (त. सुखबोध वृत्ति ५-२२) । २. दूरदेशवर्तिनि

गमंरूपे [धर्मंरूपे] व्रतादिगुणसहिते च अपरत्त्व-
व्यवहारो वर्तते । (त. वृत्ति भूत. ५-२२) ।

१ परत्व और अपरत्व तीन प्रकारके हैं—क्षेत्रनि-
मित्त, प्रशंसानिमित्त और कालनिमित्त । जिनमें के

क्षेत्रनिमित्त आकाशप्रवेशों के अल्प-बहुत्व की अपेक्षा
माने जाते हैं । जैसे—जो पदार्थ एक दिशा में

बहुत आकाशप्रवेशों को लांघकर स्थित है वह पर
और जो अल्प आकाशप्रवेशों को लांघकर स्थित है

वह अपर माना जाता है । प्रशंसानिमित्त—ग्रहिणा
आदि प्रशस्त गुणों के सम्बन्ध से धर्म को पर तथा

इसके विपरीत अधर्म को अपर कहा जाता है ।
कालहेतुक—सी वर्ष का बृद्ध पुत्र पर और सोलह

वर्ष का बालक अपर कहा जाता है ।

अपरमर्मवेधित्व—अपरमर्मवेधित्वं परममर्मादुद्ध-
टमस्वरूपत्वम् । (समवा. अभय. वृत्ति ३५, राघव.
बृ. पु. १६-१७) ।

दूधरे के मर्मस्थान के नहीं भेदने वाले वचन का
बोलना, इसका नाम अपरमर्मवेधित्व है ।

अपरविबेह—मेरोः सकाशात् पश्चिमायां विषयपर-
विबेहः । (त. वृत्ति श्रुत. ३-१०) ।

मेघ पर्वत से पश्चिम की ओर जो विबेह क्षेत्र का
आधा भाग अवस्थित है वह अपरविबेह कह-
लता है ।

अपरसंग्रह—द्रव्यत्वादीन्यवान्तरसामान्यानि मन्वा-
नस्तद्भेदेषु यजनिमीलिकामवलम्बमानः पुनरपरसं-
ग्रहः ॥ धर्माधर्माकाश-काल-पुद्गल-जीवद्रव्याणा-
मैक्यं द्रव्यादिभेदादित्यादिर्यथा ॥ (प्र. न. त. ७,
१६-२०; स्याद्वाचमं. टी. श्लो. २८; जैनतर्कप.
पृ. १२७; नयप्र. पृ. १०१) ।

जो द्रव्यत्व आदि अवान्तर सामान्यों को स्वीकार
करता हुआ उनके भेदों की उपेक्षा करता है उसे
अपरसंग्रहण्य कहते हैं ।

अपरसंग्रहाभास—द्रव्यत्वादिकं प्रतिजानानस्तद्वि-
शेषान् निरनुवानस्तदाभासः । (प्र. न. त. ७-२१) ।

द्रव्यत्व आदि अवान्तर सामान्यों के मानने वाले
तथा उनके विशेष भेदों का परिहार करने वाले
नय को अपरसंग्रहाभास कहते हैं ।

अपराजित—१. तैरेव विष्णुहेतुभिर्न पराजिताः
अपराजिताः । (त. भा. ४-२०) । २. तैरेव चाम्मु-
दयविषातहेतुभिर्न पराजिता इत्यपराजिताः । (त.
भा. सिद्ध. बृ. ४-२०) ।

जो विष्णु के कारणों से पराजित न हों, उन्हें अप-
राजित विमान कहा जाता है ।

अपराध (अवराह)—१. संसिद्धिराघसिद्धी साधि-
दमाराधिदं च एयद्वो । अयगदराघो जो खलु वेदा
सो होदि अवराहो ॥ (समयप्रा. ३३२) । २. पर-
द्रव्यपरिहारिण शुद्धस्वात्मनः सिद्धिः साधनं वा राधः,
अधनतो राधो यस्य भावस्य सोऽपराधः । (समयप्रा.
अमृत. बृ. ३३२) ।

२ पर द्रव्यों का परिहार करके शुद्ध आत्मा को
सिद्ध करना, इसका नाम राध है । इस प्रकारके
राध से जो रहित हैं उसे अपराध कहते हैं ।

अपरावर्तमाना (प्रकृति)—१. या तु बन्धोदयो-

मयं प्रति नान्यस्या उपघातं करोति सा अपरावर्त-
माना । (बंधसं. श्लो. बृ. ३-४४) । २. यास्त्व-
न्यस्याः प्रकृतेर्बन्धमुदयमुभयं वागनिवार्य स्वकीयं
बन्धमुदयमुभयं वा दर्शयन्ति, ता न परावर्तन्त इति
कृत्वाऽपरावर्तमाना उच्यन्ते । (शतक. ३. श्लो.
टी. १) ।

२ जो प्रकृतियों अन्य प्रकृतियों के बन्ध, उदय या दोनों
को ही नहीं रोक कर अपने बन्ध, उदय या दोनों
को प्राप्त होती हैं, परिवर्तित नहीं होती हैं, उन्हें
अपरावर्तमान प्रकृति कहते हैं ।

अपरिक्षेदित्व—अपरिक्षेदित्वं अनायाससम्भवः ।
(समवा. अभय. बृ. ३५; राघव. बृ. पु. १७) ।

अनायास विना परिश्रम के—ही वचन के निर्व-
मन को अपरिक्षेदित्व कहा जाता है । यह सत्य
वचन के वेदोंत अतिशयोक्ति में भीतीसर्वा है ।

अपरिगृहीता—या गणिकात्वेन पुंस्त्वलीत्वेन वा
परपुरुषयमनशीला अस्वामिका सा अपरिगृहीता ।
(स. सि. ७-२८; त. वा. ७, २८, २; त. लुक्को. बृ.
७-२८; त. बृ. श्रुत. ७-२८) ।

जो पतिविहीन स्त्री गणिका या पुंस्त्वली रूप से पर
पुरुषों के पास आती जाती हो उसे अपरिगृहीता इत्य-
रिका कहते हैं ।

अपरिगृहीतागमन—१. अपरिगृहीता नाम वेद्या
अन्यसक्ता गृहीतभाटी कुलाङ्गना वा अनायेति,
तद्वगमनम् अपरिगृहीतागमनम् । (भा. प्र. टी. २७३;
आच. हरि. बृ. ६, पु. ८२५) । २. वेद्या स्वैरिणी
प्रोषितभर्तृकादिरनाया अपरिगृहीता, तदभिगममा-
चरतः स्वदारसन्तुष्टस्यातिचारः, न तु निवृत्तपर-
दारस्य । (त. भा. सिद्ध. बृ. ७-२३) ।

वेद्या अथवा अन्य पुरुष में आसक्त होकर भाड़े को
ग्रहण करने वाली अनाय व कुलीन स्त्री अपरिगृहीता
कहलाती है । इस प्रकारकी अपरिगृहीता स्त्री के
साथ समागम करना, यह ब्रह्मचर्य-अनुव्रत का एक
अतिचार है ।

अपरिग्रह—१. मयेदंभावो मोहोदयज. परिग्रहः,
ततो निवृत्तिरपरिग्रहता । (भ. भा. विजयो. टी.
५७) । २. विज्ञाय जन्तुक्षपणप्रवीणं परिग्रहं यस्तुण-
वज्जहाति । विमर्षितोद्दामकथायशस्तुः प्रोक्तो मुनी-
न्दैरपरिग्रहोऽस्ती ॥ (बर्धप. २०-६१) । ३. सर्व-
भावेषु मूर्च्छायास्त्यागः स्यादपरिग्रहः । (योगशा.

३-२४; त्रि. श. पु. च. १, ३, ६२६) ।

१ जोह के उदय से होने वाले 'अनेकभाव को—यह केरा है, इस प्रकार की भगवद्बुद्धि को' परिग्रह कहा जाता है । उस परिग्रह से निवृत्त हो जाना, इसका नाम अपरिग्रहाव्रत है ।

अपरिग्रहमहाव्रत—घण-घण्णाइवत्पूणं परिग्गह-विज्जज्जणं । तिविहेणावि जोगेणं पंचमं तं महज्जयं ॥ (गु. गु. षट्. स्को. टी. ३, पृ. १३) ।

जन-जान्मावि सर्व प्रकारके परिग्रह का यावज्जीवन जन-जन-काय से त्याग करने को अपरिग्रहमहाव्रत कहते हैं ।

अपरिणत दोष—१. तिलतंडुलउसणोदय चणोदय तुतोदयं अविद्धत्थं । अणं तहाविहं वा अपरिणद जेव वेण्हिज्जो ॥ (मूला. ६-५४) । २. तथाऽपरिणतोऽविध्वस्तोऽन्यादिकेनापवदः, तमाहारं पानादिकं वा यथादत्तेऽपरिणतनामानदोषः । (मूला. बु. ६-४३) । ३. देवद्वयं मिश्रमचित्त्वेनापरिणमनादपरिणतम् । (योगशा. स्को. विच. बु. १-३८, पृ. १३७) । ४. तुयचणतिलतण्डुलजलमुष्णजल च स्ववर्णगन्धरसैः । अरक्षितमपरमपीदृगमपरिणतम् $\times \times \times$ ॥ (अन. च. ४-३२) ।

२ अग्नि आदि से जिन पदार्थों के रूप, रस, गन्ध आदि नहीं बदले हैं, ऐसे पदार्थों को आहार में ग्रहण करने पर अपरिणत दोष होता है ।

अपरिणामक साधु—जो दम्ब-क्षेतकयकाल-भाव-भो जं जहा जिणक्खायं । त तह असद्वहं जाण अपरिणामयं साहुं ॥ (बृहत्क. ७६४) ।

जिनवेव ने जिस वस्तु को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जंता कहा है उसका उसी प्रकार से अज्ञान नहीं करने वाले साधु को अपरिणामक कहते हैं ।

अपरिमितकाल सामायिक—ईर्यापयादी (सामायिकग्रहणं) अपरिमितकाल वेदितव्यम् । (त. बु. भुत. ६-१८) ।

ईर्यापय आदि में जिस सामायिक को ग्रहण किया जाता है वह अपरिमितकाल सामायिक कहलाती है । अपरिवर्तमान परिणाम—अणुसमयं बहदमाणा हायमाणा च जे संकितेस-विशोहिपरिणामाते अपरिणतमाणा पाम । (चव. पु. १२, पृ. २७) ।

प्रतिशयय वर्षमान या हीयमान संकेस च विमुद्ध

परिणामों को अपरिवर्तमान परिणाम कहते हैं ।

अपरिण्णविन् (आचार्य)—जो अन्नस्त वि दोसे न कहेइ अ सो अपरिसावी । (गु. गु. षट्. स्को. टी. ७, पृ. २८) ।

जो कुछ दूसरों के भी दोषों को न कहे, उसे अपरिण्णविन् कहते हैं ।

अपरिण्णविन् (स्नातक)—निष्क्रियत्वात् सकल-योगनिरोधे त्वपरिण्णवि । (त. भा. सिद्ध. बु. ६-४६) ।

योगों का निरोध हो जाने पर सर्व प्रकारके कर्माजब से रहित हुए अयोगिकेवली को अपरिण्णवि स्नातक कहते हैं ।

अपरीक्षित प्रतिसेवना — १. अपरिच्छिद्यति कज्जाकज्जाइ अपरिस्सिउं सेवइ । (जीत. बु. पृ. ३, पं. १६) । २. आद्य-व्ययमपरीक्ष्य पडिसेवणा । (जीत. बु. वि. व्या. पृ. ३४, ७) ।

अपने आद्य-व्यय का विचार न करके जो अनाद—विशेष नियम—में प्रवृत्त होता है, इसे अपरीक्षित प्रतिसेवना कहते हैं ।

अपरीक्षी—अपरीक्षी युक्तायुक्तपरीक्षाधिकः । (व्यव. भा. मलय. बु. ६३४, पृ. ८४) ।

योग्य-अयोग्य की परीक्षा से रहित व्यक्ति अपरीक्षी कहलाता है ।

अपरीतसंसार—१. संसारअपरितो दु० प० त० अनादीए वा सपञ्जवसिते अनादीए वा अपञ्जवसिते । (प्रज्ञाप. १८-२४७) । २. अनादियमिच्छादिद्वी अपरितसंसारी अथापवत्तकरणं अपुब्बकरणं अणियट्टिकरणमिदि एवाणि तिण्णि करणाणि कादूण सम्मसं गहिदपढमसमए जेव सम्मतगुणेण पुब्बित्तो अपरितो संसारो ओहिट्टिदूण परितो पोगलपरियट्टस अदमेत्तो होदूण उक्कसेण विट्ठिदि । (चव. पु. ४, पृ. ३३५) । ३. संसारापरीतः सम्यक्त्वादिना अकृतपरिमितसंसारः । $\times \times \times$ संसारापरीतो द्विधा—अनाद्यपयवसितो यो न कदाचनपि संसारव्यवच्छेदं करिष्यति, यस्तु करिष्यति सो अनादि-सपयवसितः । (प्रज्ञाप. मलय. बु. १८-२४७, पृ. ३६४) ।

२ अनादि निष्क्यादुद्धि जीव अपरीतसंसार—अनन्तसंसार की परमिततासे रहित—कहालाता है । ३ जितने सम्यक्त्व आदि के द्वारा संसार की परि-

२ अनादि निष्क्यादुद्धि जीव अपरीतसंसार—अनन्तसंसार की परमिततासे रहित—कहालाता है । ३ जितने सम्यक्त्व आदि के द्वारा संसार की परि-

मित नहीं किया है वह अपरीतसंसार या संसारा-परीत कहलाता है। वह अनादि-अपर्यवसित और सावि-सपर्यवसित के श्रेष्ठ से दो प्रकारका है। जिसका संसार अनादि होकर कभी अन्त को प्राप्त होने वाला नहीं है—जैसे अमव्य जीव का—वह अनादि-अपर्यवसित अपरीतसंसार कहलाता है। और जिसका संसार अनादि होकर भी अन्त को प्राप्त होने वाला है—जैसे अमव्य जीव का—उसका नाम अनादि-सपर्यवसित अपरीतसंसार है।

अपर्याप्ति—१. अपर्याप्ता आहार-शरीरेन्द्रिय-प्राणापान-माषा-मनःपर्याप्तिभी रहिताः। (भा. प्र. टी. ७०)। २. अपर्याप्तकनामकर्मोदयादन्यन्त्र-पर्याप्तियोगादपर्याप्तास्त एवापर्याप्तका इति। (नन्वी. हरि. बृ. पु. ४४)। ३. अपर्याप्तनामकर्मोदयजनितशक्त्याविर्भावितवृत्तः अपर्याप्ताः। (ब्रह्म. पु. १, पु. २६७)। अपञ्जतणामकम्मोदयसहिद-पुत्रिकाइयादन्नो अपञ्जता त्ति वेत्तव्वा, नाणिप्पणसरिीरा; पञ्जतणामकम्मोदय [ये] णणिप्पणसरिीरणं पि गहणप्पसंगादो। (ब्रह्म. पु. ३, पु. ३३१)। अपञ्जतणामकम्मोदएण अपञ्जता भण्णति। (ब्रह्म. पु. ६, पु. ४१६)। ४. तद्विषयनामोदयादपर्याप्तकाः। (चंस. स्वो. बृ. ३-६)। ५. ये पुनः स्वयोग्यपर्याप्तविकलास्ते अपर्याप्ताः। (चंस. ब्रह्म. बृ. १-५)। ६. ये पुनः स्वयोग्यपर्याप्ति-परिसमाप्तिविकलास्तेऽपर्याप्तकाः। (ब्रह्म. स्वो. बृ. २)। ७. अपर्याप्तनामकर्मोदयादपर्याप्तका ये स्वपर्याप्तीन् पूरयन्तीति। (स्वाना. अथ. बृ. २, १, ७३)। ८. अपर्याप्तकजीवस्य नास्तुते वपुः-पूर्णताम्। अपर्याप्तकसंज्ञस्य तद्विषयस्य पाकतः॥ (भाटीसं. ५-७६)।

३ जो पृथिवीकायिक आदि जीव अपर्याप्त नाम-कर्म के उदय से सहित होते हैं उन्हें अपर्याप्त कहा जाता है। जिन जीवों का शरीर पूर्ण नहीं हुआ है, उन्हें अपर्याप्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अन्वया पर्याप्त नामकर्म के उदय में भी जिनका शरीर पूर्ण नहीं हुआ है उनके भी अपर्याप्त होने का प्रसंग प्राप्त होता है।

अपर्याप्तनाम—१. जसस कम्मस्स उदएण जीवो पञ्जतीओ सयाणेदुं ण सक्कवि तस्स कम्मस्स

अपञ्जतणामसण्णा। (ब्रह्म. पु. ६, पु. ६२)। २. ता एव वदं यथास्वं शक्तयो विकला अपर्याप्ति-यस्ता यस्योदयाद् अवन्ति तदपर्याप्तकनाम। (कर्मस्त. गो. बृ. ६-१०; शतकप्र. ब्रह्म. हे. बृ. ३८, पु. ५०)। ३. यदुदयाच्च स्वयोग्यपर्याप्ति-परिसमाप्तिसमर्थो न भवति तदपर्याप्तकनाम। (ब्रह्म. सारो टी. भा. १२६४; पु. ३६५)। ४. यदुदयात् स्वयोग्यपर्याप्तिपरिसमाप्तिकला जन्तवो भवन्ति तदपर्याप्तनाम। (कर्मवि. वे. स्वो. बृ. ५०)। ५. पर्याप्तकनामविपरीतमपर्याप्तकनाम यदुदयात् स्वयोग्यपर्याप्तिपरिसमाप्तिसमर्थो न भवति। (कर्मवि. ब्रह्म. बृ. ५)। ६. अपर्याप्तकनाम उक्त-विपरीतम्—यदुदयात् सम्पूर्णपर्याप्तनिष्पत्तिर्भवति। (ब्रह्मसं. ब्रह्म. बृ. भा. ६१६)। ७. वद्विषयपर्याप्त्याभावहेतुरपर्याप्तनाम। (भ. भा. मूला. टी. २१२४)। ८. यस्योदये स्वपर्याप्तिभिरपरिपूर्णो भवति, न्यून एव कालं करोति, तदपर्याप्तनाम च ज्ञातव्यम्। (कर्मवि. बृ. व्याख्या ७३, पु. ३३)।

१ जिस कर्म के उदय से जीव अपनी वषाद्योग्य पर्याप्तियों को पूरा न कर सके, उसे अपर्याप्त नाम-कर्म कहते हैं।

अपर्याप्ति—एतासां (पर्याप्तीनां) अनिष्पत्तिर-पर्याप्तिः। (ब्रह्म. पु. १, पु. २५६); पर्याप्तीनामवर्ग-निष्पन्नामस्या अपर्याप्तिः। (ब्रह्म. पु. १, पु. २५७)।

पर्याप्तियों की अपूर्णता अथवा उनकी अपूर्णता का नाम अपर्याप्ति है।

अपर्याप्तिनाम—१. वद्विषयपर्याप्त्याभावहेतुर-पर्याप्तिनाम। (स. सि. ८-११; त. भा. ८, ११, ३३; त. ब्रह्म. ८-११)। २. अपर्याप्तिनिर्वर्तकम-पर्याप्तिनाम, (अपर्याप्तिनाम) तत्परिणाममोक्ष-दलिकद्रव्यमात्मनोपाप्तमित्यर्थः। (त. भा. ८-१२)। ३. यदुदयेन अपरिपूर्णोऽपि जीवो जियते तदपर्याप्तिनाम। (त. वृत्ति. भूत. ८-११)।

१ कुछ प्रकारकी अपर्याप्तियों के अभाव का जो कारण है उसे अपर्याप्ति नामकर्म कहते हैं।

अपलाप—१. कदचिस्सकावे भुतमचीत्थान्यो गुरु-रित्यभिधानमपलापः। (भ. भा. विजयो. टी. १११)। किसी के दास में आगम को पकड़कर अथ वृद्ध का

नाथ बतलाया अपत्याप कहलाता है ।

अपवर्ग—१. तद्भावे (रागादिप्रक्षये) अपवर्गः । स ध्यात्य-
मित्तो कुक्षविवर्ग इति । (बर्मे. २, ७४-७५) ।
अपवर्गो फलं यस्य जन्म-मृत्यादिवर्जितः । परमानन्द-
रूपवत् × × × । (बर्मे. श्लोक ५-२६, पृ.
६३) । २. अपवृज्यन्ते उच्छिद्यन्ते जालि-जरा-
मरणादयो दोषा प्रस्मिन्मिष्यपवर्गः मोक्षः । (बर्मे.
बु. ब. मृ. १, श्लोक २) ।

जहाँ जन्म, जरा और मरणादि दोषों का अत्यन्त
विनाश हो जाता है ऐसे मोक्ष का नाम अपवर्ग है ।
अपवर्त—बाह्यप्रत्यक्षवशाद्युक्तो ह्यसौऽपवर्तः ।
बाह्यस्योपघातनिमित्तस्य विष-शस्त्रादेः सति सन्नि-
धाने ह्यसौऽपवर्त इत्युच्यते । (त. भा. २, ५३, ५) ।
आयुविघात के बाह्य निमित्तक्य जो विष व शस्त्र
आदि हैं उनकी समीपता के होने पर जो उस (आयु-
स्थिति) में कमी होती है उसका नाम अपवर्त है ।
अपवर्तन—वेदो अपकर्षणं व अपवर्तना । १. अप-
वर्तनं वीर्यमन्तर्मुहूर्तात् कर्मफलोपभोगः । (त. भा.
२-५२) । २. अपवर्तनं स्थिति-रसहापनम् । (ब्रह्मी.
हरि. बु. ११) । ३. अपवर्तनं स्वप्रकृतावेव स्थितेः
ह्रस्वीकरणं प्रकृत्यन्तरे वा स्थितेर्नयनम् । (पंचसं.
स्वो. बु. संक्रम. गा. ३५) । ४. वीर्यं यः सकला-
युक्तकर्मफलोपभोगस्तदपवर्तनम् । (त. भा. सिद्ध.
बु. २-५१) । ५. अपवर्तनं स्थितिह्रासः । विशेषा.
बु. गा. ३०१५) । ६. अपवर्तनं दीर्घकालवैद्यस्या-
युषः स्वल्पकालवैद्यतापादनम् । (संज्ञहृषी. द्वे. बु.
२५६) । ७. अपवर्तनं तेषामेव कर्मपरमाणूनां दीर्घ-
स्थितिकालतामपगमन्य ह्रस्वस्थितिकालतया व्यव-
स्थापनम् । (पंचसं. मलय. बु. संक्रम. गा. ३५) ।
१. अपनी प्रकृति में ही स्थिति के कम करने अथवा
अन्य प्रकृति में उस स्थिति के ले जाने को अपवर्तन
कहा जाता है ।

अपवर्तना—१. प्रा वंघा उक्कहृदइ सम्बहि-
कहृणा ठिह-रसाणं । किट्टीवज्जे उभयं किट्टीसु
घोवट्टणा णवरं । (कर्मप्र. २२३) २. अपवर्तना
नाम प्राक्तनजन्मविपरिचितस्थितेरुत्पत्तापादनमध्य-
वसानादिविशेषात् । (त. भा. सिद्ध. बु. २-५१) ।
३. ह्रस्वीकरणमपवर्तनाकरणम् । (पंचसं. स्वो.
बु. क्षण. क. गा. १) । ४. ह्रस्वीकरणमोवट्टणाकरणम् ।
(कर्मप्र. बु. क्षण. क. गा. २) । ५. अपवर्त्यते ह्रस्वी-

क्रियते स्थित्यनुभागी यथा सा अपवर्तना । (पंचसं.
मलय. बु. गा. १-१) । ६. तयोरेव (स्थित्यनु-
भायोः) ह्रस्वीकरणमपवर्तना । अपवर्त्यते ह्रस्वी-
क्रियते स्थित्यापि यथा साऽपवर्तना । (कर्मप्र. मलय.
बु. गा. १-२) । ७. अपवर्त्यते ह्रस्वीक्रियते टी
यथा साऽपवर्तना । (कर्मप्र. यशो. टी. गा. १-२) ।
१ सर्वत्र—वन्धावस्थकाल में—जो स्थिति और
अनुभाग की अपवर्तना होती है—उन्हें कम किया
जाता है, इसका नाम अपवर्तना या अपकर्षण है ।
अपवर्तनास्तंक्रम—प्रभूतस्य सतः स्तोकीकरणम-
पवर्तनास्तंक्रमः । (पंचसं. मलय. बु. संक्रम. गा. ५७) ।
जिसके द्वारा कर्मों की प्रचुर स्थिति और अनुभाग
को कम किया जाय उसे अपवर्तनास्तंक्रम कहते हैं ।
अपवर्त्य—१. बाह्यस्योपघातनिमित्तस्य विष-
शस्त्रादेः सन्निधाने ह्रस्वं भवतीत्यपवर्त्यम् । (त.
ति. २-५३) । २. विष-शस्त्र-वेदनादिबाह्य-
निमित्तविशेषेणापवर्त्यते ह्रस्वीक्रियते इत्यपवर्त्यम्,
अपवर्तनीयमित्यर्थः । (त. लुक्को. २-५३) ।

१ जो आयु उपघात के कारणभूत विष-शस्त्रादिक
बाह्य निमित्त के मिलने पर हानि को प्राप्त हो
सकती है वह अपवर्त्य आयु कहलाती है ।

अपवाद—१. × × × रहियस्स तमववाभो उच्चियं
चियरस्स × × × ॥ (उप. पब ७८४) । २. बाल-
बुद्ध-श्रान्त-म्लानेन वरीरस्य शृङ्गात्यतस्त्वसाधन-
भूतसंयमसाधनत्वेन भूषभूतस्य छेदो यथा न स्या-
त्तथा बाल-बुद्ध-श्रान्त-म्लानस्य स्वस्य योग्यं मूढेवा-
चरणमाचरणीयमित्यपवादः । (प्रब. सा. अनुवृत्.
बु. ३-३०) । ३. रहितस्य ब्रह्मादिभिरेव तदनुष्ठान-
मपवादो भण्यते । कीदृशमित्याह—उचितमेव
परुषकादिपरिहाय्या तथाविधान्नपानाद्यासेवनाकूपम् ।
कस्येत्याह—इतरस्य ब्रह्मादियुक्तापेक्षया तद्रहित-
स्यैव । तद्रहितस्य पुनस्तदीचित्येनैव च यदनुष्ठानं
सोऽपवादः । (उप. पब बु. टी. ७८४) । ४. विशेष-
योक्ता विधिरवादः । (ब. प्रा. टी. २४) ।

२ सामान्य विधि का निर्देश कर देने पर पश्चात्
आवश्यकता के अनुसार जो उत्तमं यथावश्यक
विशेषता का विधान किया जाता है, इसका नाम
अपवाद है । जैसे—शुद्ध आत्मतत्त्व का सामान्य
संयम है और उस संयम का मूल कारण शरीर है ।
अतएव जो साधु बाल है, बुद्ध है, श्रान्त (यका

हुया) है, अपवा रोगपीडित है; उसके द्वारा संयम के मूल साधनभूत उस शरीर का जिस प्रकार विनाश न हो, इस प्रकार से कुछ वृत्त (विचित्र) संयम भी आचरण योग्य है; इस प्रकारका विशेष विधान ।

अपवादसापेक्ष उत्सर्ग—आल-बुद्ध-आन्त-म्लानेन संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन भूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कसमाचरणमाचरता शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूत-संयमसाधनत्वेन भूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा आल-बुद्ध-आन्त-म्लानस्य स्वस्य योग्यं वृद्ध्याचरण-माचरणीयमित्यपवादसापेक्ष उत्सर्गः ॥ (अब. सा. अमृत. बु. ३-३०, पृ. ३१४) ।

आल, बुद्ध, आन्त और रोगपीडित साधु के द्वारा शुद्ध आत्मतत्त्व का साधन होने से भूलभूत संयम का जिस प्रकार विनाश न हो, इस प्रकार संयत के अपने योग्य वृत्तियों कठोर आचरण के करते हुए भी उक्त संयम के मूल साधनभूत शरीर का जिस प्रकार से विनाश न हो; इस प्रकार उक्त आल, बुद्ध, आन्त व रण साधु के द्वारा अपने योग्य वृत्त भी आचरण आचरणीय होता है; इस प्रकारका विधान अपवादसापेक्ष-उत्सर्ग कहलाता है ।

अपवाधिक लिङ्ग — यतीनामपवादकारणत्वात् परिग्रहोऽपवादः । अपवादो मत्स्य विद्यत इत्यपवादिकं परिग्रहसहितं लिङ्गमत्येयपवादिकलिङ्गम् । (अ. भा. विजयो. व मूला. टी. ७७) ।

साधु के लिए अपवाद का कारण होने से परिग्रह अपवाद है, अतः उस परिग्रह-सहित वेध को अपवाधिक लिङ्ग कहा जाता है ।

अपबुद्धि—सज्जमांजल-संजमलदीहितो हेट्टा परिग्रहमाणस संकिलेसवसेण पडिसमयमणंतगुणहाणि-परिणामो भोवद्विद्विप्पि भण्णदे । (अब. व. ८१६) । संयमासंयम और संयम लब्धियों से ज्युल होते हुए जीव के जो संक्लेश के जस प्रतिसमय अमल-गुणित हानिक्य परिणाम होते हैं, इसका नाम अपबुद्धि है ।

अपहृत (स्य) संयम—१. अपहृतसंयमस्त्रिविधः—उत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्चेति । तत्र प्रायुक्तसत्याहारमात्रबाह्यसाधनस्य स्वाधीनतत्त्वानुचरणकरत्वं बाह्यजन्यनिपाते आत्मानं ततोऽपहृत्य जीवान् परि-

पालयत उत्कृष्टः । शुद्धा प्रमृज्य जन्तून् परिहरतो मध्यमः । उपकरणान्तरेण्यथा जघन्यः । (स. भा. ६, ६, १५; त. स्तो. वा. ६-६; त. वृ. वृत्त. ६-६; कार्तिके. टी. ३६६) । २. प्राणीश्रेयपरिहारोऽपहृतसंयमः । (वा. सा. वृ. ३३) । ३. अपहृत्यसंयम इति—प्रोज्ज्य परिवर्ज्य संयमं लभते, वरन-पाना-व्यतिरिक्तमनुपाकारकं चरणस्य वर्जयतः संयमसामः । भक्त-पानादि वा संसक्तं विधिना परित्यज्यत इति । (स. भा. सिद्ध. वृ. ६-६) । ४. अपहरणमपनयनं पञ्चेन्द्रिय - द्वीन्द्रियादीनामपनयनमुपकरणेभ्योऽप्यथ संक्षेपणमु[म]पवर्तनम्, तस्य संयमः निराकरणम्, उदरकृत्यादिकस्य वा निराकरणमपहरणसंयमः । (मूला. वृ. ५-२२०) ।

अपहृतसंयम उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकारका है । उनमें प्रायुक्त वसति व आहार मात्र बाह्य साधनों से सहित होते हुए बाहिरी जीवों के आने पर उनसे अपने आपको दूर कर उनको रक्षा करते हुए निर्दोष संयम के पालन करने को उत्कृष्ट अपहृतसंयम कहते हैं । मोरचिन्की जैसे वृत्त उपकरण से जीवों को दूर करना मध्यम अपहृतसंयम है । अन्य उपकरण से जीवों को दूर करना जघन्य अपहृतसंयम है ।

अपान—१. गतकृपः प्रणिहन्ति शरीरिणो बहति यो वितर्धं पृथक् वचः । हरति विस्रमदलमनेकधा भवनबाणहतो भजतेऽङ्गनाम् ॥ विविधदोषविधायि-परिग्रहः पिबति मद्यमयं वितमानसः । कुमिकुला-कुलितं व्रतते पलं कलिलकर्मविधानविचारदः । दुष्ट-कुटुम्बपरिग्रहपञ्जरः प्रशमशीलगुणव्रतवजितः । शुक्कवाय-भुजङ्गमसेवितो विषयलोसलपानमुक्षति तम् ॥ (अमृत. वा. ३६-३६) । २. अपानः सम्म-स्त्वरहितप्राणी । (सा. व. स्तो. टी. २-६७) । ३. व्रतसम्यक्त्वनिर्मुक्तो रागद्वेषमम्वितः । सोऽपानं जघन्यो जीवैर्यो निष्प्यात्सपटावृतः ॥ (पूज्य. उवा. ४८) ।

२ जो सम्मत्त्व से रहित हो उसे अपान कहते हैं ।

अपान—१. तेनैव (वीर्यन्तराय-ज्ञानाचरणशयोप-क्षमाङ्गोपाङ्गानामोदयापेक्षिणा) आत्मना बाह्यो वायुरभ्यन्तरीक्रियमाणो निःस्वासलक्षणोऽपानः । (अ. सि. ५-१६; त. वा. ५, १६, ३६; त. वृत्ति. वृत्त. ५-१६; कार्तिके. टीका २०६) । २. अधो-

यस्मिन्मीरणीयानः । (त. भा. हरि. वृ. ८-१२) ।
३. अपानः कुम्भसमन्वापृष्टपृष्ठान्तप्राणिणः ।
(योगशा. ५-१६) । ४. मूत्र-पुरीषगर्मादीनपनय-
तीत्यपानः । (योगशा. स्त्रो. विच. ५-१३) ।

वीर्योपाय और आनावरण कर्म के अयोपसम तथा
अयोपाय नामकर्म के उदय युक्त आत्मा के द्वारा
जो बाहिरी वायु नीतर की जाती है, उसका नाम
अपाय है ।

अपाय—देखो अवाय । १. अमुदय-निःश्वेसार्था-
नां क्रियाणां विनाशकप्रयोगोऽपायः । (स. सि.
७-६) । २. अमुदय-निःश्वेसार्थानां नाशकोऽपायो
अथ वा ॥ अमुदय-निःश्वेसार्थानां क्रियासाधनानां
नाशकोऽर्जयोऽपाय इत्युच्यते, अथवा ऐहलौकिकादि-
सन्तर्षिणं भयमपाय इति कथ्यते । (त. भा. ७, ६,
१; त. बुज्जयो. वृ. ७-६) ।

२ अमुदय और निःश्वेस की साधक क्रियाओं के
विनाशक प्रयोग को अथवा ऐहलौकिक आदि सात
प्रकारके भय को अपाय कहते हैं ।

अपायवर्षा—इह-परलोकाबाए दंसेह अवायवंसी हु ।
(बु. गु. च. स्त्रो. वृ. ७, पृ. २८) ।

इस लोक और पर लोक में वायु के फल रूप अपाय
(विनाश) के देखने वाले पुच्छ को अपायवर्षा
कहते हैं ।

अपायविचय—१. कल्लाणपावगाओ पाए विच-
णावि जिणमदमुविचच । विचणादि वा अपाये
जीवाण सुहे य अमुहे य ॥ (मूला. ५-२०३; अ.
आ. १७१२) । २. जात्यन्ववन्मिध्यादृष्टयः सर्वज्ञ-
प्रणीतमार्गाद्विमुक्ता भोक्षाणिनः सम्मङ्गमार्गापरिज्ञा-
नात्सुदूरमेवापयन्तीति सन्मार्गापायचिन्तनमपायवि-
चयः । अथवा, मिध्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र्येभ्यः कथं
नाम इमे प्राणिनोऽप्युचित स्मृतिसमन्वाहारोऽपाय-
विचयः । (स. सि. ६-३६; अ. आ. जूला. टी.
१७०६) । ३. सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचयः ।

मिध्यादर्शनपहितचलुमाय आचार-विनयाप्रसादवि-
चयः संसारविमुक्तये भवन्त्यविद्याबाहुल्यादन्वयत् ।
तद्यथा—जात्यन्वा बलवन्तोऽपि सत्पथात्प्रभ्युताः
कुशलमार्गादिशकेनाननुष्ठिताः नीचोन्नतशैलविषमोप-
सकठिनस्थाणुनिहितकण्टकाकुलाटभीदुर्गपतिताः परि-
स्पन्दवन्तोऽपि न तत्त्वमार्गमनुसर्तुमर्हन्ति, देशकाभा-
वात् । तथा सर्वज्ञप्रणीतमार्गाद्विमुक्ता भोक्षाणिनः

सम्मङ्गमार्गापरिज्ञानात्सुदूरमेवापयन्तीति सन्मार्गा-
पायचिन्तनमपायविचयः । अतस्सन्मार्गापायसमाधानं
वा । अथवा मिध्यादर्शनादुचितचेतोभिः प्रवादिभिः
प्रणीतादुसन्मार्गात् कथं नाम इमे प्राणिनोऽप्येव, अना-
यतनसेवापायो वा कथं स्यात्, पापकरणवचनभा-
वनादिनिवृत्तिर्वा कथमुपजायते इत्यपायापितचिन्त-
नमपायविचयः । (त. भा. ६, ३६, ६-७) ।

४. अपाया विपदः शारीर-मानसनि दुःखानीति
पर्यायाः, तेषां विचयः अन्वेषणम् । (त. भा. हरि.
वृ. ६-३७; त. भा. सि. वृ. ६-३७) । ५. अपाय-
विचयं नाम मिच्छादरिषणाविरह-यमाव-कसाय-
जोगा संसारजीवभूया दुःखसावहा अइमयाणय सि वा
जाणिऊण वञ्जेयस्स ति अयइ । (इश्वर. वृ. अ. १,
वृ. ३२) । ६. आलव-विकया-नीरव-परीषहासोव-
पायस्तु ॥ (अशमर. इलो. २४८) । ७. संसारहेतवः
प्रायस्त्रियोगानां प्रवृत्तयः । अपायो वर्जनं तासां स
मे स्यात् कथमित्यसम् । चिन्ताप्रबन्धसम्बन्धः शुभ-
लेपयानुरञ्जितः । अपायविचयाख्यं तत्प्रथमं धर्म्य-
मीक्षितम् ॥ (ह. पु. ५६, ३६-४०) । ८. मिच्छ-
तासंज्ञम-कसाय-जोगजणिदकम्मसमुपपण्णाह-जरा-
मरण-वेयणाणुसरणं तेहिंतो अवायचिन्तणं च अवाय-
विचयं णाम धम्मज्झाणं । एत्थ माहाओ—रागद्वीस-

कसायासवादिकिरियासु बट्टमाणानं । इह-परलोगा-
वाए भाएज्जो वृज्जपरिवज्जी । कल्लाणपावगा जे
उवाए विचिणादि जिणसयमुवेचच । विचिणादि वा
अवाए जोवाणं जे सुहा असुहा ॥ (चव. पु. १३, पृ.
७२ ड.) । ९. तापत्रयादिजन्माब्धिगततापाय-
विचिन्तनम् । तदपायप्रतीकारचिन्तोपायानुचिन्त-
नम् ॥ (स. पु. २१-४२) । १०. असन्मार्गादिपायः
स्यादनपायः स्वमार्गतः । स एवोपाय इत्येव ततो
येन नोदितः ॥ (त. इलो. ६, ३६, ३) । ११. अना-
दी संसारे स्वेवं मनोवाक्यवृत्तेर्ममाशुभमनोवाक्य-
यस्यापायः कथं स्यादित्यपाये विचयो भीमांसा अस्मि-
नस्तीत्यपायविचयं द्वितीयं धर्म्यं ध्यानम् । जात्य-
न्वसंस्थानीया मिध्यादृष्टयः समीचीनमुक्तिमार्गा-
परिज्ञानाद् दूरमेवापयन्ति मार्गादिति सन्मार्गापाये
प्राणिनां विचयो विचारो यस्मिस्तदपायविचयम् ।
मिध्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र्येभ्यः कथमिमे प्राणिनोऽप्यु-
चित स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयः । (अ. आ.
विज्जयो. टी. १७०८) । १२. कथं मार्गं प्रपञ्चेरन्नमी

उन्मायतो जनाः । अपायमिति या चिन्ता तदपाय-
विचारणम् । (त. सा. ७-४१) । १३. अपायविचय
ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः । अपायः कर्मणो यत्र सो
ऽपायः स्मर्यते बुधैः । (आना. ३४-१) । १४. तत्रा-
पायविचयं नामानाद्याजजन्तवे यथेष्टचारिणो जीवस्य
मनोवाक्कायविशेषोपाजितपापानां परिवर्जनं तत्कथं
नाम मे स्यादिति संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धः प्रथमं धर्म्यम् ।
(आ. सा. पु. ७७) । १५. भेदाभेदरत्नत्रयभावना-
बलेनास्माकं परेषां वा कदा कर्मणामपायो विनाशो
भविष्यतीति चिन्तनमपायविचयं ज्ञातव्यम् । (बु.
ब्रह्मसं. ४८; कार्तिके. टीका ४८२) । १६. एवं
रागद्वेषमोहैर्जायमानान् विचिन्तयेत् । यत्रापायास्तद-
पायविचयध्यानमिष्यते ॥ (भि. क्ष. पु. च. २,
३, ४५६; योगशा. १०-१०; गु. गु. ब. लो. टी.
२, पु. १०) । १७. कुर्मोत्तमदुरीहितैरुचितं
मिथ्याचिरत्यादिभिर्व्यापज्जन्म-जरा-मृतिप्रभृतयो वा
ऽपाय एनःकृताः । जीवेऽनादिभवे भवेत्कथमतोऽपा-
यादपायः कदा कस्मिन् केन ममेत्यपायविचयः सत्का-
रणादीक्षणम् ॥ (आसा. सा. १०-३०) । १८. असु-
हकम्मस्स पासो सुहस्स वा होइ केणुवाएण । इय
चित्तंतस्स हवे अवायविचयं पर आणं ॥ (आवसं. वे.
३६८) । १९. शुभाशुभकर्मभ्यः कथमपायो जीवानां
भवेदित्यपायविचयं ध्यायतीत्यर्थः । (अ.सा. मूला. टी.
१७१२) । २०. कर्मात्मनोः सर्वेषां विस्लेषोऽयमपायः,
विचयस्तद्भावनी भावना । (आत्मप्र. ८८) ।
२१. एव सन्मार्गापायः स्यादिति चिन्तनमपायविचयः,
सन्मार्गापायो नैवमिति वा । (त. सुखबो. बु. ६,
३६) । २२. अपायविचयत्येतां वाढं यः शुभाशुभकर्म-
णाम् । अपायविचयं × × × ॥ (आवसं. नाम.
६४०) । २३. मिथ्यादृष्टयो जन्मान्धसदृशाः सर्वज्ञ-
वीतरागप्रणीतसन्मार्गपरार्द्धमुखाः मोक्षमाकाङ्क्षन्ति,
तस्य तु मार्गं न सत्यम् परिजानते, तं मार्गमतिद्वारं
परिहृत्स्तीति सन्मार्गविनाशचिन्तनमपायविचयः उच्य-
ते । अथवा मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र्य-
णाम् अपायो विनाशः कथमपीषां प्राणिनां भविष्य-
तीति स्मृतिसमन्वाहरोऽपायविचयो भण्यते । (त.
बु. श्रुत. ६-३६) । २४. रागद्वेषकायासवादि-
क्रियासु प्रवर्तमानानामिह-परलोकयोरपायान् ध्याये-
दिति अपायविचयः । (धर्मसं. वृत्ति ३-२७, पु.
१०) । २५. आसन्नविकथागौरवपरीवर्हादपरिपायस्तु ।

(लोकप्र. ३०-४५६) । २६. अपायविचयं नाम
अनादिसंसारे यथेष्टचारिणो जीवस्य मनोवा-
क्कायप्रवृत्तिविशेषोपाजितपापानां परिवर्जनम्, तत्कथं
नाम मे स्यादिति । अथवा मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र्ये-
भ्यः स्वजीवस्य अन्वेषां वा कथम् अपायः विनाशः
स्यादिति सङ्कल्पश्चिन्ताप्रबन्धः प्रथमं धर्म्यम् ।
(कार्तिके. टी. ४८२) ।

१ जिनमत का आशय लेकर कल्याणप्रापक उपायों
का—सम्बन्धर्शन, ज्ञान और चारित्र्य का—चिन्तन
करना; इसका नाम अपायविचय है । अथवा अपायों
का—क्रमविधान स्वरूप स्थितिलक्षण, अनुमान-
लक्षण, उत्कर्षण और अपकर्षण का—तथा जीवों
के सुख व दुःख का विचार करना, इसे अपायविचय
कर्मस्थान कहा जाता है ।

अपायानुप्रेक्षा—अपायानां प्राणातिपाताद्याश्रयद्वार-
जन्मानामनर्थानामनुप्रेक्षा अनुचिन्तनमपायानुप्रेक्षा ।
(शेष. अमय. बु. २०, पु. ४५) ।

अपायों का—हिंसादिरूप आश्रयद्वारों से उत्पन्न
होने वाले अनर्थों का—बार बार विचार करना,
इसका नाम अपायानुप्रेक्षा है ।

अपार्षक — पौरुषपर्ययोगादप्रतिसम्बन्धार्थमपार्ष-
कम् । यथा दश दाडिमानि खड्गपूपाः कुण्डमन्नाजिनं
पलपिण्डः त्वर कीटिके दिशमुदीचीं स्पर्शनकस्य
पिता प्रतिसीन इत्यादि । (आव. हरि. व मलय. बु.
८८१) ।

पुष्पपरि सम्बन्ध से रहित होने के कारण असम्बद्ध
अर्थ वाले शब्दसमूह को अपार्षक कहते हैं । जैसे—
वस अनार छह पूसा कुण्ड बकरी का घमड़ा मोत-
पिण्ड है कीटो शीघ्रता कर उत्तर दिशा को स्पर्शन
का पिता प्रतिसीन, इत्यादि असम्बद्ध प्रलाप । यह
सूत्र के ३२ श्लोकों में चौथा श्लोक है ।

अपूर्वकरण—१. ततः परमपूर्वकरणम्, अप्राप्तपूर्वं
तादृग्ध्ववसायान्तरं जीवेनेत्यपूर्वकरणमुच्यते अन्वि
विदारयताम् । (त. भा. हरि. बु. १-३, पु. २५) ।
२. करणाः परिणामाः, न पूर्वा. अपूर्वाः—नामा-
जीवापेक्षया प्रतिसमयमादितः क्रमप्रवृद्धासंख्येलोक-
परिणामस्यास्य गुणस्यान्तर्निहितसमयवृत्तिप्राणिनो
व्यतिरिक्त्यान्वयसमयवृत्तिप्राणिभिर्प्राप्या अपूर्वाः, अच-
तनपरिणामैरसमाना इति यावत्; अपूर्वावृत्ति के कर-
णादपूर्वकरणः । (अव. १, पु. १८०); करणं

परिणामः, अपूर्वार्थानि च ताणि करणानि च अपूर्व-
करणानि, असमानपरिणामा त्ति जं उत्तं होदि ।
(अथ. पु. ६, पु. २२१) । ३. अपूर्वार्थः समये समये
अन्ये क्षुद्रतराः, करणाः यत्र तदपूर्वकरणम् । (पंच-
सं. अमि. १-२८८, पु. ३८; अन. ब. स्वो. टी.
२-४७) । ४. अप्राप्तपूर्वमपूर्वं स्थितिघात-रसघाताद्य-
पूर्वार्थनिवर्तकं वा अपूर्वकम्, तच्च करणं च अपूर्व-
करणम् । (आव. मलय. बृ. नि. १०६) । ५. अपूर्-
वंम् अभिनवम्, अनन्यसदृशमिति यावत्, करणं
स्थितिघात-रसघात-गुणशेषि-गुणसङ्क्रम-स्थितिबन्धा-
नां पञ्चानामर्थानां निवर्तनं यस्यासावपूर्वकरणः ।
(पंचसं. मलय. बृ. १-१५; कर्मस्त. वे. स्वो. टी.
२; अमि. बृ. ८-५) । ६. अपूर्वविगुणापत्ति-
त्वादपूर्वकरणं मतम् । (गुण. क. ३७) । ७. येना-
प्राप्तपूर्वेण अष्टवसायविशेषेण तं ग्रन्थि चनरागद्वेष-
परिणतिरूपं भेत्तुमाभरेत तदपूर्वकरणम् । (गुण. क.
टी. २२) । ८. अपूर्वार्थानि करणानि स्थिति यावत्
रसघात-गुणशेषि-स्थितिबन्धादीनां निवर्तनानि
यस्मिन् तदपूर्वकरणम् । (आनसार. पु. ५-६) ।

२ मोहकर्म के उपशम या क्षपण को प्रारम्भ करते
हुए जो अन्तर्गृहीत तक प्रतिपद्य अपूर्व हो अपूर्व—
इस गुणस्थान में विद्यमान समयवर्ती जीवों को छोड़
कर अन्य समयवर्ती जीवोंके न पाये जाने वाले—
भाव होते हैं उन्हें अपूर्वकरण परिणाम कहते हैं ।

अपूर्वकरणे गुरास्थान—१. देखो अपूर्वकरण ।
भिणसमयद्विष्टिं दु जीवेहि गु होदि सव्वदा सरिसो ।
करणेहि एकसमयद्विष्टिं सरिसो विसरिसो वा ॥
एदम्हि गुणद्वारे विसरिससमयद्विष्टिं जीवेहि ।
पुब्बमपत्ता जम्हा होंति अपुब्बा ह परिणामा ॥
तारिसपरिणामद्विजनीका ह जियेहि गलियतिभिरेहि ।
मोहत्स पुब्बकरणे खणुवसमणुज्जया भणिया ॥
(प्रा. पंचसं. १, १७-१८; अथ. पु. १, पु. १८३
अ.; गो. जी. ५२-५४) । २. एवमपुब्बमपुब्ब जहु-
त्तरं जो करेह छिंजं । रसखंड तमाय सो होह
अपुब्बकरणो त्ति ॥ (शतकप्र. ६, भा. भा. ८८, पु.
२९; गु. गु. ब. स्वो. बृ. १८, पु. ४५) । ३. समए
समए मिणा भावा तम्हा अपुब्बकरणो ह ॥ जम्हा
उवरिमभावा हेडिमभावहेहि गलिय सरिससं । तम्हा
बिदियं करणं अपुब्बकरणेत्ति पिदिह ॥ (ब. सा.
३६, पु. ब ५१) । ४. अपूर्वः करणो येषां भिन्नं

क्षणमुपेयुषाम् । अभिन्नं सव्वोऽन्यो वा ते अपूर्व-
करणाः स्मृताः ॥ (पंचसं. अमि. १-१५) । ५. स
एवातीतसंज्ञबलनकषायमन्दोदये सत्यपूर्वपरमाह्लादै-
कमुक्तानुभूतिलक्षणापूर्वकरणोपशमक-क्षपकसंज्ञो ऽन्त-
मगुणस्थानवर्ती भवति । (बृ. इत्यसं. ११) ।
६. अपूर्वार्थानि अपूर्वार्थानि करणानि स्थितिघात-रसघात-
गुणशेषि-स्थितिबन्धादीनां निवर्तनानि यस्मिन् तद-
पूर्वकरणम् । (कर्मप्र. मलय. बृ. उपश. भा. १२) ।
७. खण्ण उवसमेण य कम्माणं जं अउब्बपरि-
णामो । तम्हा सं गुणठाणं अउब्बणामं तु सं भणियं ॥
(आवसं. वे. ६५८) । ८. क्रियन्ते ऽपूर्वपूर्वार्थानि
पञ्चामून्यत्र संस्थितैः । निवृत्तिबादरस्तेनापूर्वकरण
उच्यते ॥ स्थितिघातो रसघातो गुणशेष्यभिरुहणम् ।
गुणसङ्क्रमणं चैव स्थितिबन्धवच्च पञ्चमः ॥ (सं.
कर्मप्र. १, १२-१३; लो. प्र. ३, ११६७-६८;
योगशा. स्वो. विच. १-१६, पु. १३२) ।

१ जिस गुणस्थान में भिन्नसमयवर्ती जीवों के
परिणाम कभी सदृश नहीं होते हैं तथा एक समय-
वर्ती जीवों के परिणाम कदाचित् सदृश और कदा-
चित् विसदृश भी होते हैं उसे निम्नसमयवर्ती
जीवों के द्वारा अप्राप्तपूर्व परिणामों के प्राप्त करने
से अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं । ६ जिस गुण-
स्थान में स्थितिघात, रसघात, गुणशेषि और
स्थितिबन्ध आदि के निवर्तक अपूर्व कार्य होते हैं उसे
अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं ।

अपूर्वस्पर्धक—१. संसारावस्थाए पुब्बसलद्विष्ट-
स्वाणि पुब्बफहएहिता अणंतगुणहाणीए भोवट्टिज्ज-
माणसहावाणि वाणि फट्टयाणि ताणि अपुब्बफह-
याणि त्ति मण्यंते । (अथ. प्र. ११०६) । २. वर्ध-
मानं मतं पूर्वं हीयमानमपूर्वकम् । स्पर्धकं द्विविधं
जेयं स्पष्टककमकोविदैः ॥ (पंचसं. अमि. १-४६) ।
१. संसार-अवस्था में जिन्हें पहले कभी नहीं प्राप्त
किया, किन्तु क्षपकशेषों में ही अवसर्जनकाल
में जिन्हें प्राप्त किया है, और जो पूर्वस्पर्धकों से
अनन्तगुणित होन अनुभावाभाविताले हैं, ऐसे स्पर्धकों
को अपूर्वस्पर्धक कहते हैं ।

अपूर्वार्थ—१. अनिश्चितो ऽपूर्वार्थः । वृष्टोऽपि
समारोपासादृक् । (वरीभा. १, ४-५) । २. स्व-
क्षेपाकारविशेषरूपतया वानवगतोऽस्ति सोऽप्यपूर्व-
र्धः । (प्र. क. भा. १-४, पु. ५६) । ३. वः प्रसा-

गान्तरण संशयादिष्ववच्छेदेनानध्यवसितः सोऽपूर्वा-
र्धः । (प्रमेयर. १-४) ।

१ प्रमाणात्तर से अनिश्चित पदार्थको अपूर्वार्ध कहते हैं । तथा एक बार जान लेने के पश्चात् भी यदि उसमें संशय, विषय या अनध्यवसाय हो जाय तो वह पदार्थ भी अपूर्वार्ध कहलाता है ।

अपोहारव्यवहार—अपोहारव्यवहारो हि भेद-
व्यवहारः । (न्यायक. २-७, पृ. २७७) ।

भेद-व्यवहार को अपोहारव्यवहार कहते हैं ।

अपोह(हा)—१. अपोहनम् अपोहः, निश्चय इत्य-
र्थः । (भाव. मलय. बृ. १२; नन्दी. मलय बृ. पा. ७८, पृ. १७६) । २. अपोह्यते संशयनिवन्धनवि-
कल्पः अनया इति अपोहा । (बब. पु. १३, पृ. २४२) । ३. उक्ति-युक्तिभ्यां विरुद्धादयोः प्रत्य-
भावसम्भावनया व्यावर्तनमपोहः ॥ अथवा ज्ञान-
सामान्यग्रहो ज्ञानविशेषोऽपोहः । (नीतिशा. ५-५१, पृ. ५२) । ४. अपोह उक्ति-युक्तिभ्यां विरुद्धादयोः प्रत्य-
पायसम्भावनया व्यावर्तनम् । × × × अथवा
अपोहो विशेषज्ञानम् । (योगशा. स्वो. विच. १-५१, पृ. १५२; ललितवि. पृ. ४३; अर्थवि. बृ. १-३३; अर्थसं. स्वो. बृ. १-१४, पृ. ६; आद्यगुणवि. पृ. ३७) । ५. ईहितविशेषनिर्णयरूपोऽपोहः । (जम्बूद्वी. पृ. ३-७०) ।

२ जिसके द्वारा संशय के कारणभूत विकल्प को दूर किया जाय, ऐसे ज्ञानविशेष को अपोह या अपोहा कहते हैं ।

अप्काय—१. पृथिवीकायिकजीवपरित्यक्तः पृथिवी-
कायो मृतमनुष्यादिकायवत् । × × × एवमवा-
दिष्वपि योज्यम् । (स. सि. २-१३) । २. पृथिवी-
कायिकजीवपरित्यक्तः पृथिवीकायः, मृतमनुष्यादि-
कायवत् । × × × एवमायः, अप्कायः । (स. बा. २, १३, १) ।

३ अप्कायिक जीव के द्वारा छोड़े हुए जल शरीर को अप्काय कहते हैं ।

अप्कायिक जीव—१. पृथिवी कायो ज्यास्तीति
पृथिवीकायिकः तत्कायसम्बन्धवशीकृत आत्मा ।
एवमवादिष्वपि योज्यम् । (स. सि. २-१३; स. बा. २, १३, १) । २. ओसा म हिमो बूमरि हरचणु
सुद्धोदयो घणोदो य । एदे ह आउकाया जीवा
जिणसासज्जुद्धा ॥ (अंशसं. १-७८; बब. पु. १,

पृ. २७३ उद्धृत) । ३. अप्कायो विद्यते यस्य स
अप्कायिकः । (स. वृत्ति भूत. २-१३) ।

अप् (जल) ही जिनका शरीर हो, उन्हें अप्कायिक कहते हैं । जैसे—ओस, वर्ष और सुद्ध जल आदि ।

अप्जीव — १. समवाप्तपृथिवीकायनामकर्मोदयः
कर्मणकाययोगस्थो यो न तावत् पृथिवी कामत्वेन
शुक्लति स पृथिवीजीवः । एवमवादिष्वपि योज्यम् ।
(स. सि. २-१३; स. बा. २, १३, १) । २. अपः
कायत्वेन यो गृहीष्यति विग्रहगतिप्राप्तो जीवः सो-
ऽप्जीवः कथ्यते । (स. वृ. भूत. २-१३) ।

अप्काय नामकर्म के उदय से युक्त जो जीव कर्मण काययोग (विग्रहगति) में स्थित होता हुआ जलको शरीररूप से ग्रहण नहीं करता है—अप्रागे उसे ग्रहण करने वाला है—वह अप्जीव कहलाता है ।

अप्रकीर्णप्रसृतत्व—१. अप्रकीर्णप्रसृतत्वं सुसम्ब-
न्धस्य सतः प्रसरणम् । अथवा ऽसम्बन्धानधिकारि-
त्वातिविस्तरयोरभावः । (समवा. अथय. बृ. ३५) ।

२. अप्रकीर्णप्रसृतत्वं सम्बन्धाधिकारपरिमितता ।
(रायप. टी. पृ. १६) ।

१ उसमें सम्बन्धयुक्त वचन के विस्तार का नाम अप्रकीर्णप्रसृतत्व है । अथवा वचन में सम्बन्धविहीन अनधिकारिता और अतिविस्तार का न होना, यह अप्रकीर्णप्रसृतत्व है । यह वक्तव्य वचन के ३२ अर्थों में १६वां अर्थ है ।

अप्रणतिवाक्—१. यां भुत्वा तपोविज्ञानाधिकेष्वा-
पि न प्रणमति सा ऽप्रणतिवाक् । (स. बा. १, २०, १२; बब. पु. १, पृ. ११७) । २. वञ्चनाप्रवर्ण जीवं कर्ता निःकृतिवाक्यतः । न नमत्यधिकेष्वात्मा सा चाप्रणतिवाग्भूतः । (ह. पु. १०-६५) । ३. तव-
णाणादिसु प्राणियवयणमवयवविवयणं । (अंशप. पृ. २६२) ।

१ जिस वचन को सुनकर जीव तप और विज्ञान में अधिक महापुरुषों को भी प्रणाम नहीं करता है वह अप्रणतिवाक् (अप्रणतिवचन) कहलाता है ।

अप्रतिघात ऋद्धि—१. सेल-सिला-तरुमहाणम्भ-
तरं होइद्वेष गयणं व । जं वच्चवि सा गिद्धी अप्प-
डिवादेति गुणजामं ॥ (ति. प. ४-१०३१) ।
२. अद्रिमध्ये वियतीव गमनागमनमप्रतिघातः । (स. बा. ३-३६) । ३. पर्वतमध्येऽपि आकाश इव गम-
नम् अप्रतिघातः । (स. वृत्ति भूत. २-३६) ।

१ अक्षय के समान शूल, शिला, वृक्ष और भित्ति आदि पदार्थों के भीतर से बिना किसी व्याघात के निकल जाने को अप्रतिपात कहते हैं ।

अप्रतिधातिस्थ—अग्रिमध्येऽपि निःसङ्गमनम् अमतिष्ठादित्यम् । (योगशा. स्को. विव. १-८) ।

इसको अप्रतिपात कहते हैं ।

अप्रतिपात—१. प्रतिपतनं प्रतिपातः, न प्रतिपातः प्रतिपातः । उपशान्तकथायस्य चारित्र्यमोहोदेकात् प्रच्युतसंयमशिक्षरस्य प्रतिपातो भवति, क्षीणकथायस्य प्रतिपातकारणामावादप्रतिपातः । (स. सि. १-२४) । २. $\times \times \times$ निजरूपतः । प्रच्युत्य सम्भवत्वास्याप्रतिपातः प्रतीयते ॥ (स. व्लो. १, २४, २) ।

१ चारित्र्यस्य पतनं के शिक्षर से नहीं गिरने को अप्रतिपात कहते हैं । प्रतिपात उपशान्तकथाय जीव का हो होता है, किन्तु क्षीणकथाय का नहीं होता ।

अप्रतिपाति (सौ)—देखो अप्रतिपात । १. प्रतिपातीति बिनापी, विद्युत्प्रकाशवत् । तद्विपरीतोऽप्रतिपाती । (स. भा. १. २२, ४, पृ. ८२) । २. जमोहि-बाणमुपपन्नं संतं केवलबाणे समुपपन्ने जेव विण-स्सदि, अण्णहा ण विणस्सदि; तमपिडिवादी णाम । (अव. पु. १३, पृ. २६५) । ३. न प्रतिपाति अप्रतिपाति, यत् किलाऽलोकास्य प्रवेशमेकमपि पश्यति, तदप्रतिपातीति भावः । (कर्मवि. वे. स्को. वृ. या. ८) । ४. न प्रतिपाती अप्रतिपाती । यत्केवलज्ञानाद्वा मरणाद्वारतो वा न असमुपयातीत्यर्थः । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३३-३१७, पृ. ५३६) । ५. यत्प्रवेशम-लोकस्य वृष्टमेकमपि अमम् । तत्स्यादप्रतिपात्येव केवलं तदनन्तरम् । (लोकप्र. ३-८४७) । ६. या केवलप्राप्तेरामरणाद्वाऽतिष्ठानमप्रतिपाति । (जैन-त. पृ. ११८) ।

१ जो अवधिज्ञान बिजली के प्रकाश के समान निरन्तर नहीं है, किन्तु केवलज्ञान की प्राप्ति तक स्थिर रहने वाला है, उसे अप्रतिपाती अवधि कहते हैं । ३ जो अलोक को एक प्रवेश को भी देखता है उसे अप्रतिपाती अवधिज्ञान कहा जाता है ।

अप्रतिबद्ध—१. अन्तरालप्राग्न-नगरादिसन्निवेशस्थ-यति-गृहसत्कार-सन्मान-प्राध्वनकनसादी सर्वत्राप्रति-बद्धत्वात् 'अप्यडिबद्धो य सम्बत्' इत्युच्यते । (अ. भा. विजयो. टी. ४०३) । २. अप्यडिबद्धो आसक्ति-

रहितः । (अ. भा. मूला. टी. ४०३) ।

जो ग्राम, नगर व अरण्यादि में रहने वाले मुनि वा गृहस्थ के द्वारा किये जाने वाले आचर-सत्कार से बोधित न होकर सर्वत्र अनासक्त रहता है; ऐसे विमोहो साधु को अप्रतिबद्ध कहते हैं ।

अप्रतिबुद्ध—१. कस्मै णोकम्महि य अहुमिदि अहं कं कम्म णोकम्मं । आ एसा ललु बुद्धी अप्प-डिबुद्धो हुवदि ताव ॥ (समयमा. २२) । २. अप्रति-बुद्धः स्वसंविधिगुण्यो बहिरात्मा । (समयमा. अव. पृ. २२) ।

कर्म-नोकर्म को आत्मा और आत्मा को कर्म-नोकर्म समझने वाला जीव अप्रतिबुद्ध (बहिरात्मा) कहा जाता है ।

अप्रतिलेख—अप्रतिलेखश्चक्षुषा पिच्छिकया वा द्रव्यस्थानस्याप्रतिलेखनमवधानम् । (मूला. वृ. ५-२२०) ।

विचक्षित द्रव्य या उसको स्थान को धांस से न देखने और पिच्छी से प्रनाजित न करने को अप्रतिलेख कहते हैं ।

अप्रतिधावी—अप्रतिधावी निश्छिद्रवीलभाजनवत् परकपितात्मगुह्यजलाप्रतिअवगन्धीनः । (सम्बोधस. वृ. व्लो. १६) ।

निश्छिद्र पत्थर का बर्तन जिस प्रकार जल को धारण करता है—उसे नहीं निकलने देता—उसी प्रकार जो दूसरे की गुप्त बात को स्थिरता से धारण करता है—उसे प्रगट नहीं होने देता उसे अप्रतिधावी कहते हैं । यह आचार्य के ३६ गुणों में से एक (८वाँ) है ।

अप्रत्यवेक्षणबोध—आलोकितं प्रमृष्टं च, न पुनः शुद्धमशुद्ध चेति निरूपितमित्यादान-निक्षेपकणा-च्चतुर्थोऽप्रत्यवेक्षणाख्यो बोधः । (अ. भा. मूला. टी. ११६८) ।

वस्तु को देखकर और पिच्छी से स्वच्छ करके भी उसकी शुद्धि-अशुद्धि को न देखते हुए उसे ग्रहण करना या रक्षना, यह आदान निक्षेपजसंज्ञित का अप्रत्यवेक्षण नामका चौथा बोध है ।

अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण—१. प्रमाज्जनी-सत्काराणे जीवाः सन्ति न सन्तीति वाऽप्रत्यवेक्षितं यन्निक्षिप्यते तदप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणम् । (अ. भा. विजयो. ८६४) । २. प्रमाज्जनीसत्काराणि जीवाः

सन्त्यज, न सन्तीति वा अप्रत्यवेक्षितं निक्षिप्यमाणम-
प्रत्यवेक्षितानिलेपः । (अम. प. स्तो. टी. ४-२८) ।
भूमि आदि को प्रमार्जन के पश्चात् 'यहाँ पर जीव
हैं वा नहीं' इस प्रकार देखे बिना ही वस्तु को रख
देना अप्रत्यवेक्षितानिलेपोपकरण कहलाता है ।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजित-संस्तरूपक्रमण—अप्र-
त्यवेक्षिताप्रमाजितस्य प्रावरणादेः संस्तरस्योपक्रमणं
अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितसंस्तरूपक्रमणम् । (स. सि.
७-३४; त. बा. ७, ३४, ३; आ. सा. पु. १२;
त. वृत्ति भूत. ७-३४) ।

बिना देखे और बिना शोचे बिस्तर आदि के बिछाने,
लौटने व ढकी करने आदि को अप्रत्यवेक्षिताप्रमा-
जितसंस्तरूपक्रमण कहते हैं ।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितादान—अप्रत्यवेक्षिताप्रमा-
जितस्याहुंदाचार्यपूजोपकरणस्य गन्धमास्यधूपान्देरा-
त्मप्रवित्तानाद्यर्थस्य च वस्त्रादेरादानमप्रत्यवेक्षिता-
प्रमाजितादानम् । (स. सि. ७-३४; त. बा. ७,
३४, ३; आ. सा. पु. १२; त. वृ. भूत ७-३४) ।

बिना देखे व बिना शोचे पूजा के उपकरणों को,
गन्ध, मास्य व धूप आदि को तथा वस्त्रादि को ग्रहण
करना; अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितादान कहलाता है ।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितोत्सर्ग—१. अप्रत्यवेक्षिता-
प्रमाजिताया भूमौ मूत्र-पुरीषोत्सर्गोऽप्रत्यवेक्षिताप्र-
माजितोत्सर्गः । (स. सि. ७-३४; त. बा. ७,
३४, ३) । २. तत्र जन्तवः सन्ति न सन्ति वेति
प्रत्यवेक्षणं चक्षुषोर्ग्रापरः, मृदुनोपकरणेन यत्किम्यते
प्रयोजनं [प्रमार्जनं] तत्प्रमार्जनम्, अप्रत्यवेक्षितायां
भुवि मूत्र-पुरीषोत्सर्गोऽप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितोत्सर्गः ।

(आ. सा. पु. १२) । ३. प्रत्यवेक्षते स्म प्रत्यवेक्षि-
तानि, न प्रत्यवेक्षितानि अप्रत्यवेक्षितानि; अप्रत्य-
वेक्षितानि च तानि अप्रमाजितानि अप्रत्यवेक्षिताप्र-
माजितानि । मूत्र-पुरीषादीनामुत्सर्जनं त्यजनम्
उत्सर्गः $\times \times \times$ । अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितभूमौ मूत्र-
पुरीषादेरुत्सर्गः अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितोत्सर्गः । (त.
वृ. भूत. ७-३४) ।

बिना देखे और बिना शोचे भूमि पर मल-मूत्रादि
के छोड़ने को अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितोत्सर्ग कहते हैं ।
अप्रत्याख्यान—ईवत्प्रत्याख्यानमप्रत्याख्यानं देश-
संयमं $\times \times \times$ । (अ. आ. मूला. टी. २०६६; त.

मुक्तबो. वृ. ८-६) ।

कोड़े से प्रत्याख्यान (तत्) का नाम अप्रत्याख्यान
(वैरासंयम) है ।

अप्रत्याख्यानक्रिया—१. सयमघातकर्मोदयवशाद्-
निवृत्तिरप्रत्याख्यानक्रिया । (स. सि. ६-५; त.
बा. ६ ५, ११; त. मुक्तबो. वृ. ६-५) । २. संयम-
विघातिनः कषायाद्यरीयुः प्रत्याख्यानं न प्रत्याबध्
इत्यप्रत्याख्यानक्रिया । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६) ।

३. कर्मोदयवशान् पापादनिवृत्तिरपि क्रिया । अप्रत्या-
ख्यानसंज्ञा सा $\times \times \times$ ॥ (ह. पु. ५८-८२) ।

४. वृत्तमोहोदयात् पुंतामनिवृत्तिः कुकर्मणः । अप्र-
त्याख्या क्रियेत्येताः पंच पंच क्रियाः स्मृताः ॥
(त. वृत्ति. ६, ५, २६) । ५. सयमघातकर्मविपाक-
पारतन्त्र्याभिन्नं तावद्वर्तनमप्रत्याख्यानक्रिया । (त. वृ.
भूत. ६-५) ।

१ संयम का घात करने वाले कर्म के उदय से
विषय-कषार्थों से विरहित न होना अप्रत्याख्यान-
क्रिया है ।

अप्रत्याख्यानक्रोधादि—१. अप्रत्याख्यानकषाया-
दयाद् विरतिर्न भवति । (त. बा. ८-१०) । २. अ-
विद्यमानप्रत्याख्याना अप्रत्याख्यानाः, देशप्रत्याख्यानं
सर्वप्रत्याख्यानं च नैषामुदये लभ्यते । (आ. प्र. टी.
१७, अमं संप्रहृषि मलय. वृ. ६१४) । ३. न विद्यते
देशविरति-सर्वविरतिरूपं प्रत्याख्यानं येषु उदयप्राप्ते-
षु सत्सु तेऽप्रत्याख्यानाः । (आच. नि. हरि. वृ. १०६;
कर्मवि. पू. व्या. ४१) । ४. सर्वं प्रत्याख्यानं देश-
प्रत्याख्यानं च येषामुदये न लभ्यते ते भवन्त्यप्रत्या-
ख्यानाः । सर्वनिषेधवचनोऽयं नञ् । (प्रज्ञापना. मलय.
वृ. २३-२६३, पु. ४६८) । ५. न विद्यते प्रत्या-
ख्यानं यदुदये तेऽप्रत्याख्यानकषायाः । (पंचसं. स्तो.
वृ. १२३) । ६. अविद्यमानं प्रत्याख्यानं येषामुदयात्
तेऽप्रत्याख्यानाः क्रोधादयः । अपरे पुनरावरणशब्द-
मन्त्राणि सम्बन्धन्ति 'अप्रत्याख्यानावरणाः' इति ।

अप्रत्याख्यानं देशविरतिः, तदप्यानुवृन्तिः । (त. भा.
सिद्ध. वृ. ८-१०, पु. १३६) । ७. न विद्यते (कर्म-
वि.—वेद्यते) स्वल्पमपि प्रत्याख्यानं येषामुदयात्तेऽप्र-
त्याख्यानाः । (पंचसं. मलय. वृ. ३-५; कर्मप्र मलय.
वृ. १-१, पु. ४; कर्मवि. वे. स्तो. वृ. १७; षडशी.
मलय. वृ. ७६, पु. ७६) । ८. देशविरतिगुणविघाती

अप्रत्याख्यानः । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १४-१८८) ।

१. मात्स्यप्युत्सहेद्येषां प्रत्याख्यानमिहोदयात् । अप्रत्याख्यानसंज्ञाऽतो द्वितीयेषु निवेदिता ॥ (कर्मवि. वे. स्तो. वृत्ति वा. १७ उद्धृत) । १०. अप्रत्याख्यान-

रूपाश्च देशवन्नविधातिनः । (उपासका. ६२५) । ११. न विद्यते प्रत्याख्यानं अणुव्रतादिरूप यस्मिन्

नोऽप्रत्याख्यानो देशविरत्यावारकः । (स्थाना. सू. २४६, पृ. १८३) ।

१ जिनके उदय से तत्त का अभाव होता है, उन्हें अप्रत्याख्यानक्रोधादि कहा जाता है ।

अप्रत्याख्यानारण क्रोधादि—१. यदुदयाद्देश-
विरतिं संयमासंयमाख्यामत्यामपि कर्तुं न शक्नोति ते
देशप्रत्याख्यानानामनुव्रतोऽप्रत्याख्यानारणः । क्रोध-
मान-माया-लोभाः । (स. सि. ८-६; त. वा. ८,
६, ५; त. वृ. स्तु. ८-६) । २. अप्रत्याख्यानं संय-
मासयमः, तमावृणोतीति अप्रत्याख्यानारणीयम् ।

(धव. पु. ६, पृ. ४४) । ३. ईष्यप्रत्याख्यानमप्रत्याख्या-
न देशसंयममावृण्वन्ति निरुधन्तीत्यप्रत्याख्याना-
वरणाः क्रोधमानमायालोभाः । (भ. आ. मूला. टी.
२०६६; गो. जी. जी. प्र. टी. २८३; त. मुल्लवो.
वृ. ८-६) । ४. त एव च क्रोधादयो यथाक्रमं पृथि-
वीरेखाऽस्थि-मेघपशूङ्गकर्मरागसमाना (कर्मस्तव

गो. वृत्ति में आये 'सर्वस्तरानुबन्धिन्' विशेषण
अधिक है) अप्रत्याख्यानारणः उच्यन्ते । नमो
[नमो]ऽस्पायंस्वात्स्व प्रत्याख्यानमप्रत्याख्यान देव-
विरतिरूपम्, तदप्यावृण्वन्तीत्यप्रत्याख्यानावरणाः ।

(शतक. मल. हेम. वृ. ३८, पृ. ४६; कर्मस्तव गो.
वृत्ति ६-१०, पृ. १६) । ५. न एव च क्रोधादयो
यथाक्रमं पृथिवीरेखाऽस्थिमेघपशूङ्गकर्मरागसमाना-
सम्बत्तरानुबन्धिनीऽप्रत्याख्यानावरणाः । (कर्मस्तव
गो. वृ. ६-१०, पृ. १६) ।

१ जिनके उदय से लेश मात्र भी संयमासंयम न
धारण किया जा सके उन्हें अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-
मान-माया-लोभ कहते हैं ।

अप्रत्युपेक्षण—अप्रत्युपेक्षणं गोचरापश्रस्य शय्या-
देवक्षुषाऽग्निरक्षणम् । (आ. प्र. टी. ३२३) ।

इन्द्रियविषयता को प्राप्त शय्या आदि का आलस्य से
निरक्षण नहीं करने को अप्रत्युपेक्षण कहते हैं ।

अप्रत्युपेक्षित—अप्रत्युपेक्षितं सर्वथा चक्षुषाऽग्निरि-
क्षितम् । (जीतक. वृ. वि. व्या. पृ. ३१) ।

अप्रत्युपेक्षित—वेदो अप्रत्युपेक्षणः ।

अप्रथमसमय - सयोगिभवस्थ - केवलज्ञान —
यस्मिन् समये केवलज्ञानम् उत्पन्न तस्मिन् समये
तत्प्रथमसमय-सयोगिभवस्थकेवलज्ञानम्, शेषेषु तु
समयेषु शैलंगीप्रतिपत्तेरर्वाक् वर्तमानमप्रथमसमय-
सयोगिभवस्थ-केवलज्ञानम् । (आव. मलय. वृ. ७८,
पृ. ८३) ।

जिस समय में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है उस समय
में वह प्रथमसमय-सयोगिभवस्थ-केवलज्ञान कहलाता
है । तत्पश्चात् शैलेशी अवस्था प्राप्त होने के पहले
तक उक्त प्रथम समय के सिद्धांश शेष समयों में वर्त-
मान सयोगिकेवली के केवलज्ञान को अप्रथमसमय-
सयोगिभवस्थ-केवलज्ञान कहते हैं ।

अप्रदेशत्व—[कालद्रव्यस्य] एकप्रदेशमात्रत्वाद-
प्रदेशत्वमिष्यते । (त. सा. ३-२१) ।

एक प्रदेश मात्र के पाये जाने से पुद्गल परमाणु
और कालाणुके अप्रदेशत्व माना गया है ।

अप्रदेशानन्त—एकप्रदेशे परमाणौ तद्व्यतिरिक्ता-
परो द्वितीयः प्रदेशोऽन्यत्रप्रदेशभाक् नास्तीति पर-
माणुरप्रदेशानन्तः । (धव. पु. ३, पृ. १५-१६) ।

एकप्रदेशी पुद्गल परमाणु में कृत्त अन्त नाम-
वाला ब्रूंसग प्रदेश नहीं सम्भव है, अतएव वह
अप्रदेशानन्त कर्तव्यता है ।

अप्रदेशासंख्यात—ज तं अपदेसासवेज्जय न जोग-
विभागे पत्तिच्छेदे पच्च एगो जीवपदेनो । (धव.
पु. ३, पृ. १२४) ।

योग के अविभागी प्रतिच्छेदों की अपेक्षा एक जीव-
प्रदेश अप्रदेशासंख्यात कहा जाता है ।

अप्रदेशिक अनन्त ज त अपवेमियाणन त पर-
माणू । (धव. पु. ३, पृ. १५) ।

परमाणु को अप्रदेशिक-अनन्त कहा जाता है ।

अप्रभावना—कुदशनस्य माहात्म्यं दूरीकृत्य ज्ञा-
दितः । श्रोतने न यदाहंन्यमनो स्यादप्रभावना ॥
(धर्मसं. आ. ४-५२) ।

मिथ्यादर्शन के माहात्म्य को दूर करके जैनदर्शन
के माहात्म्य के नहीं फैलाने को अप्रभावना कहते हैं ।

अप्रमत्तसंयत—१. णट्ठाससपमाओ वयगुणसीलो-
निर्ममिओ णाणी । अणुवसमओ अखवओ उअण-
णिलीणो ह्व अपमत्तो सो ॥ (प्रा. पंचसं. १-१६;
धव. पु. १, पृ. १७६ उ.; गो. जी. ४६; भावसं. वे.

६१४) । २. न प्रमत्तसयता अप्रमत्तसयताः पञ्च-
दशप्रमादरहितता इति यावत् । (ध्व. पु. १, पृ.
१७८) । ३. प्रमादहेतुकसायस उदयाभावेन अप-
मत्तो होदूषण (प्रमादहेतुकसाधोदयो जस्स णरिथ सो
अपमत्तो) । (ध्व. पु. ७, पृ. १२) । ४. प्रमाद-
रहितोऽप्रमत्तसयतः । (त. बा. ६, १, १८) ।
५. पञ्चसमिधो तिगुत्तो अपमत्तजई भुण्णय्वो ।
(चम्पस. भा. गा. ८७, पृ. २१; गु. गु. षट्. स्वो.
वृत्ति १८, पृ. ४५) । ६. सयतो अप्रमत्तं स्वात्पूर्व-
वरप्राप्तसयम् । प्रमादवरहाद् वृत्तेर्वृत्तिमस्वनितां
वसत् ॥ (त. सा. २-२४) । ७. मज्जलणोक्कमाया-
णुदधो मदो जवा नवा होदि । अपमत्तगुणो नेण य
मयमत्तो सज्जो होदि ॥ (गो. जी. ४५) । ८. स
एव (मद्गुष्टिः) जनरेखादिगदुशमज्जनकपाय-
मन्दोदयं मतिं निष्प्रमादशुद्धाऽऽत्मसवित्तिमज्जनक-
व्यक्ताव्ययनप्रमादरहितः सन् गलमगुणमभ्यानवर्तो
अप्रमत्तसयतो भवति । (बृ. ब्रह्मस. टी. १३) ।
९. मोऽप्रमत्तसयतो य. सयमी न प्रमाद्यति । (योग-
शा. स्वो. विव. १-१६) । १०. नास्ति प्रमत्तमस्येति
अप्रमत्ता विकथादिप्रमादरहितः, अप्रमत्तश्चास्मी
स-यनश्चेत्यप्रमत्तमयन । (कर्मस्त. मो. बु. २, पृ.
७२) । ११. न प्रमत्तोऽप्रमत्तः, यद्वा नास्ति प्रमत्त-
मस्यप्रमत्तः, अप्रमत्तश्चास्मी भयनश्चाप्रमत्तसयतः ।
(पञ्चस मलय. बु. १-१५, पृ. २१) । १२. चतु-
धांना कपायाणा जात मन्दोदयं सति । भवेत् प्रमाद-
हीनत्वादप्रमत्तो महावती । (गु. क्मा. ३२, पृ. - ५) ।
१३. यश्च निद्राकपायादिप्रमादरहितो व्रती । गुण-
स्थान भवत्सम्याप्रमत्तसयताभिषम् ॥ (लोकप्र. ३,
११६६) ।

१ सर्व प्रकारके प्रमादों से रहित और व्रत, गुण
एवं शील से मण्डित तथा सद्ब्रह्मान में लीन ऐसे
सम्यग्ज्ञानवान् साधु को अप्रमत्तसयन कहते हैं ।
अप्रमाद — पञ्चमहज्वर्याणि पञ्चसमिधो तिणिण्
गुतीप्रो णिस्सेसकसायाभाभो च अप्पमादो णाम ।
(ध्व. पु. १४, पृ. ८६) ।

पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुणित्यों को
धारण करना तथा समस्त कषायों का अभाव होना;
इसका नाम अप्रमाद है ।

अप्रमाज्जनासंयम — अप्रमाजनासयमः पात्रादेरप्र-
माज्जनया विविश्रमाज्जनया वेति । (सप्तवा. अभय.

वृ. १७, पृ. ३२) ।

पात्र आदि को या तो मांजना हो नहीं—स्वच्छ
नहीं करना—या उन्हें विधिपूर्वक नहीं मांजना—
उनके मांजने में घागमोक्ष विधि की उपेक्षा करना;
इसका नाम अप्रमाज्जनासंयम है ।

अप्रवीचार — प्रवाचागं हि वेदनाप्रतीकारस्तद-
भावं तेषा (वैवेयकादिवासाना) परमसुखमनवरत-
मित्येतस्य प्रतिपत्त्यर्थमप्रवीचारा इत्युच्यते । (त.
बा. ४, ६, २) । २. प्रवीचारो मैधुनसेवनम् × ×
× प्रवीचारो वेदनाप्रतीकारः । वेदनाभावाच्छंया.
देवाः अप्रवीचाराः, अनवरतसुखा इति यावत् । (ध्व.
पु. १, पृ. ३३८-३६) ।

१ कामवेदना के प्रतीकार का नाम प्रवीचार है ।
उत्तरे रहित ग्रंथेयकादिवासी देवों को अप्रवीचार
कहा जाता है ।

अप्रशस्त ध्यान — अप्रशस्तं (ध्यान) अपुण्यासव-
कारणत्वात् । (त. बा. ६, २८, ४) ।

पापासव के कारणभूत आतं-रोद्रस्वरूप ध्यान को
अप्रशस्त ध्यान कहते हैं ।

अप्रशस्त निदान — १. माणं जाइ-कुल-रुक्मादि
अ. इरिय-गणवर-जिणत् । सोभगाणादेय पत्थतो
अप्पसत्थं तु ॥ (अ. बा. १२१७) । २. भोगाय
मानाय निदानमौशीर्यदप्रशस्त द्विविध तदिष्टम् ।
विमुक्तिसाभप्रतिबन्धहेतोः संसार-कान्तारनिपातका-
त् ॥ (अमित. धा. ७-२५) ।

१ मान कषाय से प्रेरित होकर परभय में उत्तम कुल,
जाति, एवं रूपादिके पाने की इच्छा करना; तथा
प्राचायं, गणवर और तीर्थंकरादि पदों के पाने की
कामना करना अप्रशस्त निदान कहलाता है ।

अप्रशस्त निःसरणात्मक तैजस — तत्त्व धप्प-
सत्त्व बारहजोयणायामं णवजोयणवित्थारं सूचि-
अयुलस्स सखेज्जविभागबाहुलं जासवणकुसमसकास
भूमि-पव्वदादिदहणकसमं पडिवक्खरहिंयं रोसिपणं
वामंसप्पभव इच्छियस्सेतमेत्तावसप्पणं । (ध्व. पु.
४, पृ. २८) ।

बारह धोजन लम्बे, नौ धोजन चौड़े, सूक्ष्मगुल के
संक्षयसत्त्व भाग मोटे, जयापुष्प के समान रक्तवर्ण-
वाले, पृथिवी व पर्वतादि के जलाने में समर्थ, प्रति-
पक्षसे रहित तथा बाधे कल्पसे प्रगट होकर क्षरीष्ट
स्थान तक फैलने वाले तैजस शरीर को अप्रशस्त

मिःसरभासक तेवस कहते हैं । यह तेवस शरीर कोष के बलीभूत हुए साधु के बायें कंधे से निकलता है ।

अप्रशस्त-नोधागम-भावोपक्रम—अप्रशस्तो गणिकादीनाम्, गणिकाप्रशस्तेन संसाराभिर्वधिना व्यवसायेन परभावमुपकामन्ति । (व्यव. सु. भा. मलय. सू. १, पृ. २) ।

संसार बढ़ाने वाले गणिकादि के अप्रशस्त व्यवसाय से जो पर भाव का उपक्रम होता है उसे अप्रशस्त-नोधागम-भावोपक्रम कहते हैं ।

अप्रशस्त-प्रतिसेवना—१. अप्यसत्येति अप्रशस्तेन भावेन सेवइ । (जीतक. सू. पृ. २, पं. १८-१९) ।

२. बल-वर्णाद्यैः प्रासुकभोज्यपि ज पडिसेवइ सा अप्रशस्तप्रतिसेवना । कि पुण अविमुद्धा अहाकम्माइ ? (जीतक. सू. वि. व्या. ५, पृ. ३४) । ३. अप्रशस्तो बल-वर्णादिनिमित्तं प्रतिसेवो । (व्यव. भा. मलय. सू. भा. ६३४) ।

१ बल व वर्णादि की प्राप्तिके लिए प्रासुक भी भोजन के सेवन करने को अप्रशस्त प्रतिसेवना कहते हैं ।

अप्रशस्त प्रभावना—मिच्छत-अण्णाणह्ण अप्यसत्या [पहावणा] । (जीतक. सू. पृ. १३) ।

मिष्यात्त्व और अन्नान आदि भावों की प्रभावना करने को अप्रशस्त प्रभावना कहते हैं ।

अप्रशस्त भावशीति—पैहंतुमिस्तेषामेव संयमस्थानानां संयमकाण्डकानां लेदयापरिणामविशेषाणां वा ऽवस्तात् संयमस्थानेष्वपि गच्छति सा अप्रशस्ता भावशीति । (व्यव. भा. मलय. सू. भा. ४०६) ।

जिन हेतुओं के द्वारा उन्हीं विवक्षित संयमस्थानों, संयमकाण्डकों एवं लेदयापरिणामविशेषों के नीचे संयमस्थानों में भी जाये उसे अप्रशस्त भावशीति कहते हैं ।

अप्रशस्त भावसंयोग—से कि तं अप्रसत्ये ? कोहेण कोही, माणेण माणी, मायाए मायी, लोहेण लोही, से तं अप्रसत्ये । (धनुयो. सू. १३०, पृ. १४४) जीव कोष के संयोग से कोषी, मान के संयोग से मानी, माया के संयोग से मायी और लोभ के संयोग से लोभी कहा जाता है । इस प्रकारके अप्रशस्त भाव के संयोग से प्रसिद्ध ऐसे (कोषी आदि) नाम अप्रशस्त भाव संयोग जनित माने गये हैं ।

अप्रशस्त राग—प्री-राज-चोर-भक्तविकाराऽऽला-

पाकर्णन-कीतूहलपरिणामो हि अप्रशस्तरागः । (मि. सा. वृ. १-६) ।

स्त्री, राजा, चोर और भोक्तृनादि विषयक विकार-भावों के कहने-सुनने का कीतूहल होना; यह अप्रशस्त राग है ।

अप्रशस्त वात्सल्य—असन्नाह्निहृत्पाणं अप्यसत्त्वं [वच्छलं] । (जीतक. सू. पृ. १३, पं. १८-१९) ।
अवसन्न—अवसाद या शोक को प्राप्त—गृहस्थों के साथ वात्सल्य भाव रखने की अप्रशस्त वात्सल्य कहते हैं ।

अप्रशस्त विहायोगति—१. जस्तं कम्मसं उदएण खरोट्ट-सियालानं न अप्यसत्या गर्हं होज्ज सा अप्यसत्त्वविहायोगदीनाम । (व्यव. पु. ६, पृ. ७७) ।

२. उच्छ-खरावप्रशस्तगतिनिमित्तमप्रशस्तविहायोगतिनाम । (त. वा. ८, ११, १८; त. कुसलो. सू. ८, ११) । ३. जस्तुदएणं जीवो धमणिद्वए उ गच्छइ गर्हणं । सा असुहा विहगर्हं उट्ठाईणं हवे सा उ । (कर्मवि. वर्ग. १२६, पृ. ५३) । ४. यस्य कर्मण उदयेनोच्छ-भृगाल-इवादीनामिवाप्रशस्ता गतिर्भवति, तदप्रशस्तविहायोगतिनाम । (भूता. सू. १२-१६५) ।

५. यदुदयात् पुनरप्रशस्ता विहायोगतिर्भवति, यथा खरोट्ट-महिषादीनाम्, तदप्रशस्तविहायोगतिनाम । (षष्ठ कर्म. मलय. सू. ६, पृ. १२५; सप्ततिका के. स्त्रो. सू. ५, पृ. ५३) ।

१ जिस कर्म के उदय से ऊट, गर्बह और भृगाल आदि के समान निम्न जाल उत्पन्न हो उसे अप्रशस्त विहायोगति नामकर्म कहते हैं ।

अप्रशस्तोपबृंहण—अप्यसत्या (उववृहा) मिच्छताइमु (अभुज्जयस्स उच्छाहववृद्धणं उववृहणं) । (जीतक. सू. पृ. १३, पं. १५-१६) ।

मिष्यात्त्व आदि में उद्यत प्राणियों के उत्साह के बढ़ाने की अप्रशस्त उपबृंहण (उपबृंहण) कहते हैं ।
अप्रशस्तोपशमना—१. जा सा वेशकरपुवसामणा तित्से अण्णाणि दुवे गामाणि—अणुणोवसामणा त्ति च अप्यसत्पुवसामणा त्ति च । (व्यव. पु. १५, पृ. २७५, २७६) । २. कम्मपरमापूणं बज्जतरंगकारणवसेण केत्तिवाणं पि उदीरणावसेण उदयाणागमणपइण्णा अप्यसत्त्व-उवसामणा त्ति अण्णवे । (अवध. अ. प. ६७०—अवध. पु. ६, पृ. २५४ का टिप्पण १) ।

३. संसाराधोगम-अप्यसत्त्वपरिणामनिर्बन्धनतादो

एसा अप्रसत्त्वोपशमणा त्ति भण्णवे । (अवध.—क. पा. पु. ७०८ का टिप्पण २) ।

किन्हीं कर्म-परमानुषोंका बाह्य और अन्तरंग कारणों के बराबरा किन्हीं का उद्योगा के बरा उद्यम में न आना, इसका नाम अप्रसत्त्वोपशमना है । इसी को दूसरे नाम से अनुषोपशमना भी कहा जाता है ।

अप्रसेनिकाकुशील — कश्चिदप्रसेनिकाकुशीलः विद्याभिमर्शोपपन्नयोगैर्वा ऽस्यतत्त्विकित्सां करोति, सोऽप्रसेनिकाकुशीलः । (भ. धा. विजयो. टी. १६५०) ।

जो साधु विद्या, मंत्र और औषधि के द्वारा असंयमी जनों की चिकित्सा करता है उसे अप्रसेनिका-कुशील कहते हैं ।

अप्रामाण्य — $\times \times \times$ अर्थाव्याप्तावपरिच्छेदसामर्थ्यलक्षणाप्रामाण्यस्य (अप्रामाण्यस्य लक्षणं ह्यर्थान्याप्तावपरिच्छेदसामर्थ्यम्) $\times \times \times$ । (प्र. क. भा. पु. १६३ पं. १३) ।

अर्थ के सम्यचापन के—जैसा कि वह है नहीं जैसा—जानने के सामर्थ्य का नाम अप्रामाण्य है । तात्पर्य यह कि पदार्थ के जानने में जो यथार्थता का अभाव होता है उसे अप्रामाण्य समझना चाहिए ।

अप्रियवचन—१. अतिकर भीतिकरं सेदकर वैर-शोक-कलहकरम् । यदपरमपि तापकर परस्य तत्सर्व-मप्रियं ज्ञेयम् ॥ (पु. सि. ६८) । २. कर्कश-निष्ठुर-भेदन-विरोधनादिबहुभेदसमुत्तम् । अप्रियवचन प्रोक्त प्रियवाक्यप्रवणवाणीकः ॥ (अमित. भा. ६-४४) ।

२ कर्कश, निष्ठुर, दूसरे प्राणियों का छेदन भेदन करने वाले और विरोध को उत्पन्न करने वाले वचनों को अप्रिय वचन कहते हैं ।

अबद्धभुत—बद्धमबद्ध तु सुभं बद्ध तु दुर्वालयग निहिद्धं । तत्त्विवरीयमबद्धं $\times \times \times$ ॥ (आव. नि. १०२०) ।

हावसांग रूप बद्ध भुत से भिन्न भुत को अबद्धभुत कहते हैं ।

अबन्ध (अदन्धक)—१. सिद्धा अर्थात् ॥७॥ बंधकारणवदिरित्तमांस्कारणैर्हि संजुतत्तादो । (वट्ठं. २, १, ७—अव. पु. ७, पु. ८-६) ।

२. मिच्छाताजम-कसाव-ओगाण बंधकारणाण

सव्वेसिमजोगिम्ह अभावा अजोगिणो प्रबंधया । (अव. पु. ७, पु. ८) ।

जो सिद्ध जीव बन्ध के कारणों से रहित होकर मोक्ष के कारणों से समुत्त हैं वे, तथा मिच्छात्वादि सभी बन्धकारणों से रहित अजोगी जिन भी अबन्धक हैं ।

अबला—अबल त्ति होदि ज सेण दढ हिवियम्म धिदिवलं अत्थि । (भ. धा. ६८०) ।

जिसके हृदय में कुछ बंधबल न हो उसे अबला कहते हैं ।

अबहुभुत—अबहुभुतो नाम येनाऽऽचारप्रकल्पाध्ययनं नाधीतम्, अधीतं वा विस्मारितम् । (बृहत्स. सुति ७०३) ।

जिसने आचारकल्प का अध्ययन नहीं किया, अबध्या पढ़ करके भी उसे भुला दिया है, ऐसे व्यक्ति को अबहुभुत कहते हैं ।

अबाधा, अबाधाकाल—वेको अबाधा । १. होई अबाधकालो जो किर कम्मस्स अणउदयकालो । (सत्क. भा. ४२, पु. ६७) । २. ततच्च सप्ततिः सागरापमाना कोटीकोटयो मोहनीयस्योत्कृष्टा स्थितिर्भवति । अत्र च सप्तवर्षसहस्राणि कर्मणोऽनुदयलक्षणाऽबाधा इष्टव्या । बद्धमपीत्यनेतत् कर्म सप्तवर्षसहस्राणि यावद्विपाकोदयलक्षणा बाधा न करोतीत्यर्थः । (सत्क. अल. हेम. बु. ५१, पु. ६५) । बंधने के पश्चात् भी कर्म जितने समय तक बाधा नहीं पहुँचाता—उद्यम में नहीं आता है—उतना समय उसका अबाधाकाल कहा जाता है ।

अबाधितविषयत्त्व—साध्याविपरीतनिश्चायकप्रबलप्रमाणरहितत्वमबाधितविषयत्वम् । (म्या. बी. पु. ८५) ।

साध्य से विपरीत के निश्चायक प्रबल प्रमाण के अभाव को अबाधितविषयत्व कहते हैं ।

अबुद्धजागरिका—जे इमे अणगारा अणवंतो इरियासमिया भासासमिया जाव गुत्तबंभयारी, एए णं अबुद्धा अबुद्धजागरिया जागरति । (अणवती सू. १२, १, ११ पु. २५५) ।

ईयंतिसिद्धि और आभासमिति से युक्त गुप्त बह्मचारी—नौ बह्मगुप्तियों (शोलवाडों) से संरक्षित बह्मार्थ के परिपालक—तक साधु अबुद्धजागरिका आगुत होते हैं ।

अबुद्धि — धात्वस्यबुःस्त्रीजायाभोपायचित्ताभ्य-
त्वादिनिर्वायपरदुःखसोचनानुचरणान्नाबुद्धिः । (भ.
भा. भूला. टी. १७५४) ।

जिसे अपने बुद्ध से दूर करने की चिन्ता न हो, पर
दूसरे के बुद्ध में बुद्धी होकर जो उसे दूर करने
का प्रयत्न करता है वह अबुद्धि है—प्रज्ञानतावशा
ऐसा करता है ।

अबुद्धिपूर्वा निर्जरा—नरकादिषु गतिषु कर्मफल-
विपाकजाऽबुद्धिपूर्वा, सा प्रकुशलानुबन्धा । (स. सि.
६-७; त. भा. ६, ७, ७) ।

नरकादिक गतियों में कर्मों के उदय से फल को बेते
हुए जो कर्म भड़ते हैं उसे अबुद्धिपूर्व-निर्जरा कहते हैं ।

अबुद्धिपूर्व विपाक—देखो अबुद्धिपूर्वा निर्जरा ।

१. नरकादिषु कर्मफलविपाकोदयोऽबुद्धिपूर्वकः । (त.
भा. ६-७) । २. बुद्धिः पूर्वा यस्य—कर्मं शाट्यामि
इत्येवंलक्षणा बुद्धिः प्रथम यस्य विपाकस्य—स
बुद्धिपूर्वः, न बुद्धिपूर्वोऽबुद्धिपूर्वः । (त. भा. सिद्ध.
वृत्ति ६-७) ।

२ नरकादि में 'मैं कर्म को दूर करता हूँ' इस
प्रकारके विचार से रहित जो कर्मफल का विपा-
कोदय होता है उसे अबुद्धिपूर्व विपाक कहा जाता है ।

अब्रह्म—१. मैथुनमब्रह्म । (त. सू. ७-१६) ।

२. अहिंसादयो गुणा यस्मिन् परिपाल्यमाने बृहन्ति
वृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म । न ब्रह्म अब्रह्म इति ।
(स. सि. ७-१६; त. सुखको. वृत्ति ७-१६; त.
वृत्ति श्रुत. ७-१६) । ३. अहिंसाविगुणबृंहणाद्

ब्रह्म । अहिंसादयो गुणा यस्मिन् परिपाल्य-
माने बृहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म । न ब्रह्म
अब्रह्म । किं तत्? मैथुनम् । (त. भा. ७, १६,
१०) । ४. स्त्री-पुंसयोर्मिथुनभावो मिथुनकर्म वा
मैथुनम्, तदब्रह्म । (त. भा. ७-११) । ५. कथा-

यादिप्रमादपरिणतस्यात्मनः कर्तुः कार्यादिकरण-
व्यापारात् × × × मोहोदये सति चेतनाचेतनयोरा-
(सिद्ध-वृत्ति—चेतनस्रोतसोरा) सेवनमब्रह्म । (त. भा.
हरि. स. सिद्ध. बु. ७-१) । ६. अब्रह्मान्यत्तु रत्यर्थं

स्त्री-पुंसमिथुनेहितम् । (ह. पु. ५६-१३२) । ७.

अहिंसाविगुणबृंहणाद् ब्रह्म, तद्विपरीतमब्रह्म । (त.
श्लो. ७-१६) । ८. यद्वेदरागयोगामैथुनमभिधीयसे
तदब्रह्म । (गु. सि. १०७) । ९. मैथुन मदोद्वेकाद-

ब्रह्म परिकीर्तितम् । (त. सा. ८-७७) । १०.

वेदतीव्रोदयात् कर्म मैथुन मिथुनस्य यत् । तदब्रह्मा-
पदामेकं पदं सदगुणलोपनम् ॥ (भा. सा. ५-४७) ।

११. स्त्री-पुंसव्यतिकरलक्षणमब्रह्म । (शास्त्रभा. टी.
१-४) ।

२ अहिंसादि गुणों के बढ़ाने वाले ब्रह्म के अभाव
को—उसके न पालन करने को—अब्रह्म कहते हैं ।

४ स्त्री-पुरुषों की रागपूर्ण चेष्टा (मैथुन क्रिया) को
अब्रह्म कहा जाता है ।

अब्रह्मचर्या—ततो (ब्रह्मतः आत्मनः) ज्यो वामलो-
चनाशरीरगतो रूपादिपर्यायोऽब्रह्म, तत्र चर्या नामा-
भिलाषापरिणतिः । (भ. भा. विजयो. टी. ८७६) ।

ब्रह्म से भिन्न जो स्त्री के शरीरगत लावण्य आदि
है उसका नाम अब्रह्म है, इस अब्रह्म की अभिलाषा
करना या उसमें परिणत होना, इसे अब्रह्मचर्या
कहते हैं ।

अब्रह्मवर्जन—१. पुण्योदयगुणजुलो विसेशो
विजयभोहणिज्जो य । वज्जइ अब्रममेग तथो उ
राइ पि चिरचित्तो ॥ सिगारकहाविरमो इत्थीए,
सम रहम्मि गो ठाइ । चयइ य प्रतिपसग तहा
विहुस च उवकोस ॥ एव जा लम्मासा एसोहि-
गतो इहरहा दिट्ठ । जावज्जीव पि इम वज्जइ
ग्याम्म लोगम्मि ॥ (पञ्चभाषक १०, ४६४-६६) ।

२. परस्त्रीस्मरण यत्र न कुर्वान्न च कारयेत् ।
अब्रह्मवर्जनं नाम स्थूल तुर्यं च तद् व्रतम् ॥ (धर्मसं-
धा. ६-६३) ।

१ पूर्व पांच प्रतिमाओं का परिपालन करते हुए
स्थिरतापूर्वक रात में भी अब्रह्म का संबंधा त्याग
कर देना और भुगारकथा को छोड़कर स्त्री के
साथ एकान्त में न रहते हुए शरीर के भुंगार को
त्याग देना; यह अब्रह्मवर्जन नामकी छठी प्रतिमा
है। इसका परिपालन छह मास प्रथवा जीवन पर्यन्त
भी किया जाता है । २ जिस व्रत में परस्त्री का स्मरण
न स्वयं करता है और न दूसरो को कराता है उसे
स्थूल अब्रह्मवर्जन (चतुर्थ अणुव्रत) कहते हैं ।

अभद्र—अभद्र हि ससारदुःखम् अनन्तम्, तत्कारण-
त्वान्मिथ्यादक्षनमभद्रम् । तद्भोगान्मिथ्याद्वृत्तिर-
भद्र । (युक्त्यनु. टी. ६३) ।

ससार सम्बन्धी अनन्त दुःख का नाम अभद्र है ।
उस अभद्र का कारण होने से मिथ्यादर्शन को और
उस मिथ्यादर्शन के योग से मिथ्याद्वृत्ति जीव को

भी अभय कहा जाता है ।

अभयदान—१. दानान्तरायस्याऽत्यन्तसंक्षयात् अभयन्त-प्राणि-गणाऽनुग्रहकं क्षायिकं अभयदानम् । (स. सि. २-४; त. बा. २, ४, २) । २. दानान्तरायाक्षयादभयदानम् । (त. दली. २-४) । ३. भवत्यभयदाने तु जीवानां वधवर्जनम् । मनोवाक्कायैः करण-कारणाऽनुमतेरपि ॥ (त्रि. ज. पु. १, १, १५७); तत्पर्यायक्षयाद् दुःखोत्पादानं सत्त्वैकान्तस्त्रिधा । वधस्य वर्जनं तेष्वभयदानं तदुच्यते ॥ (त्रि. स. पु. १, १, १६६) । ४. जं सुहृम-वायराण जीवाण ससत्तिष्ठो सयाकालं । कीरइ रक्खणजयणा तं जाणह अभयदानं ति ॥ (म. गु. व. ब. २, ५, ६) । ५. धर्म्य-काम-मोक्षाणां जीवितव्ये यतः स्थितिः । तद्दानतस्ततो दत्तास्ते सर्वे सन्ति देहिनाम् ॥ (अमिल. भा. ६-८४) । ६. जं कीरइ परिरक्खाणि च्चं मरण-भयभीरुजीवाण । तं जाण अभयदानं सिहामणिं सव्वदाणाण ॥ (बलु. भा. २३८) । ७. सर्वेषां देहिना दुःखाद्विभ्यतामभयप्रदः । (सा. ध. २-७५) । ८. मण्येस जीवाण अभयं जो देह मरणभीरुणं । (भावसं. वे. ४६) । ९. अभयं प्राणसंरक्षा । (भावसं. बा. ५-६६) । १०. सर्वेभ्यो जीवराक्षिभ्यः स्वशक्त्या कर्णोस्त्रिभिः । दीयेतऽभयदानं यद्दयादानं तदुच्यते ॥ (धर्मसं. भा. ६-१६१) ।

१. अनन्त प्राणियों के अनुग्रह करने वाले दान को—विष्य उपदेश को—अभयदान कहते हैं । यह अभयदान दानान्तराय के सर्वथा निर्मूल हो जाने पर सयोगकेवली प्रवस्था में होता है । ४. सुख और आदर जीवों की अपनी शक्ति प्रमाण रक्षा करने और उन्हें दुःख नहीं पहुँचाने को भी अभयदान कहते हैं । (यह अभयदान उक्त दानान्तराय के क्षयोपशम से होता है) ।

अभयमुद्रा—दक्षिणहस्तेन ऊर्ध्वाङ्गुलिना पताकाकारेण अभयमुद्रा । (निर्घणकलिका १-३३) । बाहिने हाथ की अंगुलियों को ऊँचा करके पताका (ध्वज) के आकार करने को अभयमुद्रा कहते हैं । **अभय**—१. सम्यग्दर्शनादिभावेन भविष्यतीति भव्यः, तद्विपरीतोऽभव्यः । (स. सि. २-७); सम्यग्दर्शनादिभिर्धर्मैर्यस्य भविष्यति स भव्यः, यस्य तु न भविष्यति सोऽभव्यः । (स. सि. ८-६) । २. भव्या जिणेहि भणिया इह बलु जे सिद्धिमण-

जोमा हु । ते पुण अणाइपरिणामभावो हुंति पा-यव्वा ॥ विवरीया उ अभव्वा न कदाइ भवन्नवस्स ते पार । गच्छिमु जंति व तद्वा तत्तु ज्विय भावघ्नो नवर ॥ (भा. प्र. भा. ६६-६७) । ३. तद्विपरीतोऽभव्यः । यो न तथा (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-वारिन्-परिणामेन) भविष्यत्यसावभव्य इत्युच्यते । (स. बा. २, ७, ८); सम्यक्त्वादिव्यक्तिभावाभावाभ्यां भव्या-भव्यत्वमिति विकल्पः कनकेतरपाषाणवत् ॥ (स. बा. ८, ६, ९) । ४. अव्यवधाना ये धर्मं जिनप्रोक्तं कदाचन । अव्यवत्त्वविज्ञाना मिथ्याज्ञानपरायणाः ॥ अनाद्यनिवना सर्वे मग्ना संसारसागरे । अभव्यास्ते विनिविष्टा अव्यपाषाणसन्निभाः ॥ (बराङ्ग. २६, ८-९) । ५. निर्वाणपुरस्कृतो भव्यः, × × × तद्विपरीतोऽभव्यः । (अव. पु. १, ५, १५०-१५१); भविष्या सिद्धी जेसि जीवाण ते भवति भवसिद्धा । तत्त्विवरीदाऽभव्या संसारारोणं मित्रकृति ॥ (अव. पु. १, ५, ३६४ उद्धृत; गो. जी. ५५६); सिद्धि-पुरस्कृता भविष्या नाम, तत्त्विवरीया अभविष्या नाम । (अव. पु. ७, ५, २४२) । ६. अभव्यस्तद्विपक्षः स्यादन्वपाषाणसन्निभः । मुक्तिनकारणसामग्री न तस्यास्ति कदाचन ॥ (न. पु. २४-२६) । ७. अव्यव्यः सिद्धिगमनायोग्यः कदाचिदपि यो न सेस्यति । (स. भा. सिद्ध. वृत्ति २-७) । ८. भव्याः सिद्धत्वयोग्याः स्मृः विपरीतास्तथापरे । (स. सा. २-६०) । ९. रयणतयसिद्धीए ण्णतचउट्टयसत्त्वगो भविदुं । जुग्गो जीवो भवो तत्त्विवरीयो अभव्यो हु ॥ (भा. त्रि. १४) । १०. सम्यग्दर्शनादि-पर्यायविर्भाव-शक्तियस्यास्ति स भव्यः, तद्विपरीतलक्षणः पुनरभव्यः । (त. सुखबो. वृ. २-७ ब. ८-६) । ११. अभव्याः अनादिपारिणामिकाभव्यभावयुक्ताः । (मन्वो हरि. वृ. ११४) । १२. भविष्यत्सिद्धिको भव्यः सुवर्णोपलसन्निभः ॥ अभव्यस्तु विपक्षः स्यादन्वपाषाणसन्निभः । (जम्बू. च. ३, २६-३०) । १. भविष्य में जो सम्यग्दर्शनादि पर्याय से कभी भी परिणत नहीं हो सकते हैं वे अभव्य कहलाते हैं । **अभव्यसिद्धिकप्रायोग्य**—अवसिद्धियाणमवसिद्धियाणं च जत्थं तिदि-अणुभागबंधादिपरिणामा सरिखा होव्वण पयट्ठं ति, सो अभवसिद्धियपाधोग्गविसयो ति भण्ये । (अव्यव. भा. ध. ५, ८३८ का वि. १) ।

चित्त स्थान पर अन्य और अन्वय दोनों के स्थिति और अनुमान अन्वय जाति करने वाले परिणाम समान होकर प्रयुक्त होते हैं, उन्हें अन्वयसिद्धि-प्राप्तोपेक्ष परिणाम कहते हैं।

अभावप्रमाणता—प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते ॥ साऽऽप्तमनोऽपरिणामो वा विज्ञान वाऽन्य-वस्तुनि ॥ प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते । वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥ (प्रमाल. ३८१-८२; प्र. क. भा. पृ. १८६ व १६५ उ.) । प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अनुत्पत्ति को, अथवा उक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणरूप आत्मा के परिणत न होने को, अथवा अन्य वस्तु-विषयक विज्ञान को अभाव प्रमाण कहते हैं।

अभिगत—१. सम्मत्तस्मि अभिगमो विजा-णमो वा वि अन्वगमो वा । (बृहत्क भा. ७३४) । २. सम्बन्धे य आभिमुख्येन गतः प्रविष्टः सोऽभिगत उच्यते, यो वा जीवादपदार्थानां 'विज्ञायकः' विशेषेण ज्ञाता सोऽभिगतः, यद्वा य अन्वुपगतः—'यावज्जीव भया मुक्तादमूल न मोक्त-व्यम्' इति कृताऽन्वुपगमः सोऽभिगतः । (बृहत्क. पृ. ७३४) ।

जो सम्बन्ध के अभिमुख हो चुका है, अथवा जीवादि पदार्थों का विशेषरूप से ज्ञाता है, अथवा जो यह प्रतिज्ञा कर चुका है कि मैं जीवन पर्यन्त मृत्यु के पादमूल को नहीं छोड़ूंगा, उसे अभिगत कहते हैं। यह उत्सारकल्पयोग्य के कुछ गुणों में से एक है।

अभिगतचारित्रार्थ—हेलो अभिगतचारित्रार्थ ।

अभिगमन—अभिगमन सर्वथाह्यान्मण्डलादभ्यन्तर-प्रवेशनम् । (जीवाजी. मलय. पृ. ३-२, पृ. १७६; सूर्यप्र. पृ. १३-८१) ।

बाहिरी मण्डल से भीतरी मण्डल में प्रवेश करने को अभिगमन कहते हैं।

अभिगमद्वि—१. सो होइ अभिगमद्वि सुप्रणालं जेण अन्वयो दिट्ठं । एक्कारसमगाइ पइन्त्य दिट्ठि-वाप्पो य । (उत्तरा. २८-२९, पृ. ३२०) । २. अर्थ-नः सकलसूत्रविषयिणी रुचिरभिगमद्विः । (अर्थसं. स्को. पृ. २, २२, पृ. ३८) ।

जिससे अर्थस्वरूप से ग्यारह अंग, शरीरार्थ और दृष्टिवाद रूप सकल अज्ञान का अन्त्यास किया है

उसे अभिगमद्वि कहते हैं।

अभिगृहीत—१. अभिगृहीतं यद्दशाभिमुख्येन गृ-हीतं स्वीकृतं प्रभदानम् अभिगृहीतमुच्यते । (अ. भा. विजयो. टी. ५६) । २. अभिगृहीतं परोपदे-शादाभिमुख्येन स्वीकृतम्, परोपदेशजम् इत्यर्थः । (अ. भा. भूला. टी. ५६) । ३. अन्वय आभिमुख्येन तत्त्वबुद्ध्या, गृहीत यथा भीत-भागवत-बीडादिभिः । (अर्थसं. स्को. पृ. ४-२) ।

२ दूसरे के उपदेश से ग्रहण किये गये निष्पत्त्य को अभिगृहीत निष्पत्त्य कहते हैं।

अभिगृहीत दृष्टि—अभिमुखं गृहीता दृष्टिः, इत्येव तत्त्वमिति बुद्धवचनं सांख्य-कणादादिवचनं वा । (स. भा. सिद्ध. पृ. ७-१८, पृ. १००) ।

तत्त्व—यथायं वस्तुस्वरूप—यही है, इस प्रकार बुद्ध, सांख्य व कणाद आदि के वचनों पर अज्ञा करने को अभिगृहीत दृष्टि कहते हैं।

अभिगृहीता (निष्पत्त्य) क्रिया—तत्राभिगृहीता नयाणां त्रिविष्टयधिकानां प्रभाविसत्तानाम् । (स. भा. सिद्ध. पृ. ६-६) ।

तीन सौ त्रिविष्टय अधिकारियों के तत्त्व पर अज्ञा रखने को अभिगृहीता क्रिया कहते हैं।

अभिगृहीता भाषा—१. जा पुण भासा अर्थं अभिगृहीतं भासिया सा अभिगृहीता । (अर्थसं. पृ. २८०, पृ. २३६) । २. अर्थमभिगृह्य योच्यते घटादि-वत् । (अर्थसं. नि. हरि. पृ. २७७, पृ. २१०) ।

३. भाषा चाभिगृहे बोद्धव्या—अर्थमभिगृह्य या प्रोच्यते घटादिवदिति । (आश. ह. पृ. अल. हेव. टि. पृ. ८०) । ४. अभिगृहीता प्रतिनियतार्थवधारणम् । (प्रज्ञाप. मलय. पृ. ११-१६६) । ५. अभिगृहीता प्रतिनियतार्थवधारणरूपा यथेदमिदानीं कर्तव्यमिदं नेति । यद्वा × × × अभिगृहीता तु अर्थमभिगृह्य योच्यते घटादिवत् । (अर्थसं. आल. स्को. पृ. ३-४१, पृ. १२३) । ६. अनेकेषु कार्येषु पृष्ठेषु यदेकतरस्या-वधारणमिदमिदानीं कर्तव्यमिति सा अभिगृहीता ऽथवा घट इत्यादिप्रसिद्धप्रवृत्तिनिमित्तरूपदाभि-धानं सेति द्रष्टव्यम् । (आशार. टी. ७८) ।

१ अर्थ की ग्रहण करके जो भाषा बोली जाती है—

जैसे 'घट' आदि—वह अभिगृहीता भाषा कही जाती है। ६ अनेक कार्यों के पृष्ठे जाने पर 'इस समय इसे करो' इस प्रकार किसी एक का निश्चय

करके जो भाषा बोली जाती है—

करने वाली भावा को अभिग्रहीता भावा कहते हैं ।
अथवा प्रवृत्तिभिन्नक प्रसिद्ध पदों के कथन को
अभिग्रहीता भावा कहते हैं ।

अभिग्रहमतिक—अभिग्रहा इत्यादिषु नानारूपा
नियमाः, तेषु स्व-परविषये मतिः तद्ग्रहण-ग्राहण-
परिणामो यस्यासी अभिग्रहमतिकः । (सम्बोधस.
पृ. गा. ११, पृ. १७) ।

इत्यादिकों के विषय में जो अनेक प्रकार के नियम
हैं उन्हें अभिग्रह कहते हैं । उक्त नियमरूप अभि-
ग्रहों में स्व और पर के विषय में ग्रहण करने
कराने क्य जिसकी मति (परिणाम) हुआ करती
है, उसे अभिग्रहमतिक कहते हैं ।

अभिघातगति (क्रियाभेद)—जतुगोलक-कन्दु-दा-
रुपिण्डादीनामभिघातगतिः । (त. भा. ५, २४, २१) ।
लास का गोला, गैर और काष्ठपिण्ड आदि की
ग्रन्थ से हाड़ित होने पर ओ गति होती है उसे
अभिघातगति कहते हैं ।

अभिजातत्व—१. अभिजातत्वं वक्तुं प्रतिपाद्यस्य
वा भूमिकानुसारिता । (सम्ब. अभय. पृ. सू. ३५,
पृ. ६) । २. अभिजातत्वं यथाविवक्षितार्थोन्निधान-
शीलता । (राय. टी. पृ. १६) ।

२ विवक्षित अर्थ के अनुसार कथन की शैली का
नाम अभिजातत्व है । यह पंथीस सत्यवचनानिश्चयों
में अटारहवा है ।

अभिज्ञा (प्रत्यभिज्ञा)—‘तदेवेदम्’ इति ज्ञानमभि-
ज्ञा । (सिद्धि. टी. ४-१, पृ. २२६, पं. ५) ।

‘यह वही है’ इस प्रकारका जो ज्ञान (प्रत्यभिज्ञान)
होता है उसे अभिज्ञा कहते हैं ।

अभिज्ञान-नाममिबन्धन—जो नामसहो पवृत्तो
संतो अण्णाणं येव जाणावेदि तमभिज्ञाणनिबन्धनं
नाम । (चव. पु. १, पृ. २) ।

जो नामशब्द प्रवृत्त होकर केवल अपना ही बोध
कराता है, उसे अभिज्ञान-नाम-मिबन्धन कहते हैं ।
यह नाममिबन्धन के तीन भेदों में से दूसरा है ।

अभिज्ञानमल—अभिज्ञानमलं तद्वाचकः शब्दः ।
(चव. पु. १, पृ. ३३) ।

मल-वाचक शब्द को अभिज्ञानमल कहते हैं ।

अभिधायकविधि—तद्- (अभिधेयविधि-) ज्ञापक-
स्वाभिधायकविधिः । (अष्टस. यशो. पृ. ३, ५०) ।

विवक्षित अर्थ (अभिधेय) का ज्ञापन कराने वाली
विधि को अभिधायक विधि कहते हैं ।

अभिधेयविधि—यस्य बुद्धिः प्रवृत्तिजननीमिच्छां
सूते सोऽभिधेयविधिः । (अष्टस. यशो. पृ. ३, ५०) ।
जिसकी बुद्धि प्रवृत्ति की जनक इच्छा को उत्पन्न
करे उसे अभिधेयविधि कहते हैं ।

अभिध्या—सदा सत्त्वेष्वभिग्रोहानुध्यानम् अभिध्या ।
यथा—अस्मिन् मृते सुखं वसामः । (त. भा. सिद्ध.
पृ. ६-१) ।

प्राप्तिों के विषय में सदा अभिग्रोह के चिन्तन
करने को अभिध्या कहते हैं । जैसे—इसके मर जाने
पर हम सुख से रह सकते हैं ।

अभिनय—अभिनयः चतुर्भिराङ्गिक-वाचिक-सा-
त्त्विकाहार्यभेदः समुचितैरसमुदितैर्वाऽभिनेतव्यवस्तु-
भावप्रकटनम् । (अम्बुद्वी. पृ. ५-१२१, पृ. ४१४) ।
कायिक, वाचनिक, सात्त्विक और आहार्य इन चार
भेदों के द्वारा, चाहे वे समुदाय रूप में हों या
पृथक् पृथक्, अभिनेतव्य (जिस वृत्तान्त को मकल
करके प्रगट किया जाय) वस्तु को भाव को प्रगट
करना, इसका नाम अभिनय है ।

अभिनयानुज्ञा—अभिनयानुज्ञा नाम यदा कि-
सान्यो देवेन्द्रः समुत्पद्यते तदा तत्कालवर्तिभिः साधु-
भिर्यवसावभिनयोत्पन्नतयाऽवग्रहमनुज्ञाप्यते सा तेषां
साधूनामभिनयानुज्ञा । (बृहत्क. पृ. ६७०) ।

जब कोई नया देवेन्द्र उत्पन्न होता है तब वह
तत्कालवर्ती साधुओं के द्वारा अवग्रह (उपाधय)
के लिये अनुज्ञापित किया जाता है, यह उन साधुओं
की अनुज्ञा अभिनयानुज्ञा कहो जाती है ।

अभिनिबोध—१. अभिनिबोधनमभिनिबोधः ।
(स. सि. १-१३) । २. अभियुक्त्येन नियतं बोधन-

मभिनिबोधः । (त. भा. १, १३, ५) । ३. प्रत्या-
भिमुहो गियतो बोधः (अभिनिबोधः), स एव स्वा-
धिकप्रत्ययोपादानादभिनिबोधकम् । (नन्दी. पृ. पृ.
१०) । ४. प्रत्याभिमुहो निप्रपो बोधो जो सो

मग्नो अभिनिबोधो । (चिन्तेषा. भा. ८०, पृ. ३७) ।

५. अर्थाभिमुखो नियतो बोधोऽभिनिबोधः । (आच.
हरि. पृ. १, पृ. ७) । ६. ग्रहिमुह-गियमिदृशु जो

बोधो सो ग्रहिनिबोधो । (चव. पु. ६, पृ. १५-१६) ।
७. यस्तदावरजसबोपशमादिनिद्र्यानिद्र्यामलम्बाच्च

भूतभूतद्वन्द्वं विकलं विधेयेणाद्युच्यते तदभिनिबो-
धिकज्ञानम् । (पंचा. का. अनुत्त. बृ. ४१) । ८. अहि-
मुह्यिभ्यमित्योह्यमाभिनिबोह्यमणिदिदियञ्च ।
(नौ. जी. ३०६) । ९. स्थूलवाग्योचरानन्तरार्थस्य
स्वाभिनिषिचरम् । प्रत्यक्षं निभतस्यैतद् बोधादभिनि-
बोधनम् ॥ शा. सा. ४-३२) । १०. अभिनिबोधो
हेतोर्लघ्यानुपपत्तिनियमनिवचयः । (लघी. अथय.
कृत्ति ४-४, पृ. ४५) । ११. अभिमुखेषु नियमिते-
ष्वर्थेषु यो बोधः स अभिनिबोधः, अभिनिबोध एवा-
भिनिबोधिकम् । (भूता. बृ. १२-१८७) । १२. ध-
र्माभिमुखोऽविपर्ययरूपवान्वितो ऽसंययरूपत्वाद्
बोधः सवेदनमभिनिबोधः । स एव स्वाधिकप्रत्ययो-
पादानादाभिनिबोधिकम् । (स्वामांश सू. ४६३, पृ.
३३०) । १३. धर्माभिमुखो नियतः प्रतिनियतस्व-
रूपो बोधो बोधविशेषो ऽभिनिबोधः $\times \times \times$ ।
अथवा अभिनिबुध्यतेऽनेनाऽस्मात् अस्मिन् वेति
अभिनिबोधः तदावरणकर्मक्षयोपशमः । (आच. मलय.
बृ. १, पृ. १२; नन्दी. मलय. बृ. सू. १, पृ. ६५) ।
१४. अभिमुखो वस्तुयोग्यदेशावस्थानापेक्षी, नियत
इन्द्रियाध्याश्रय स्व-स्वविषयापेक्षी बोधः अभिनि-
बोधः । (अमृयो. मल. हेन. बृ. १, पृ. २) । १५. धर्मा-
भिमुखो नियतो बोधोऽभिनिबोधः, $\times \times \times$ अभि-
निबुध्यते वा अनेनास्मात् अस्मिन् वा अभिनिबोधः
तदावरणकर्मक्षयोपशमः । (धर्मसं. मलय. बृ. ८-१६,
पृ. २६१) । १६. तत्र चायमाभिनिबोधिकज्ञान-
शब्दार्थः—अभि इत्याभिमुख्ये, नि इति नैयत्ये, ततश्च
अभिमुखः वस्तुयोग्यदेशावस्थानापेक्षी, नियत इन्द्रिय-
मनः समाश्रित्य स्व-स्वविषयापेक्षी बोधन बोधो
ऽभिनिबोधः । (कर्मवि. दे. स्वो. बृ. गा. ४, पृ. ६) ।
१७. लिङ्गाभिमुखस्य नियतस्य लिङ्गिनां बोधन
परिज्ञानमभिनिबोधः स्वाध्यानुमानं भण्यते । (त.
बुधबो. १-१३) । १८. ध्यादिदशानादग्न्यादिप्रती-
तिरनुमानमभिनिबोधः । (अन. प. स्वो. टी. ३-४;
त. बृ. नूत. १-१३) ।

२ अर्थाभिमुख होकर जो नियत विषय का ज्ञान
होता है वह अभिनिबोध कहलाता है । १६ वस्तु
के योग्य देश में अवस्थान की अपेक्षा रख कर जो
इन्द्रिय और मन के आश्रय से अपने नियत विषय
का—जैसे वस्तु से रूप का—बोध होता है, उसे
अभिनिबोध कहते हैं ।

अभिनिवेश—अभिनिवेशश्च नीतिपथमागतस्यापि
पराभिभवपरिणामेन कार्यस्यारम्भः । स च नीचानां
भवति । यदाह—दण्डः श्रमयति नीचान् निष्फल-नयवि-
शुण्डदुष्कारारम्भैः । ओतोऽविलोमतरणव्यसनमिरा-
यास्यते मत्स्यैः ॥ (योगशा. स्वो. वि. १-५३, पृ.
१५६) ।

नीतिमार्ग पर न चलते हुए भी दूसरे के अभिभव
(तिरस्कार) के विचार से कार्य के प्रारम्भ करने
को अभिनिवेश कहते हैं । यह नीच जनों के ही
होता है । सो ही कहा है—नीच जन जो अभिमान
के बंधीभूत होकर निरर्थक व अनैतिक दुष्कर कार्यों
को किया करते हैं उनका वह परिश्रम उन मछ-
लियों के समान है जिनकी प्रवाह के विरुद्ध तैरने
की श्रादत है ।

अभिन्नदशपूर्वी—१. रोहिणिपट्टदीण महाविज्जा-
णं देवदाग्रे पचसया । अगुष्टपसेणाई खुर्याविज्जाण
सत्तसया ॥ एतूण पेसणाई मग्गते दसमपुव्वपडण-
म्मि । णेच्छति सजमत्ता ताग्रे जे ते अभिण्णदस-
पुव्वी । (ति. प. ४, ६६८-६६) । २. एत्थ दस-
पुव्विणो भिण्णाभिण्णेषेण दुविहा होति । तत्थ
एक्कारसयाणि पडिदूण पुणो $\times \times \times$ रोहिणि-
आदिपचसयमहाविज्जाग्रे सत्तसयदहरविज्जाहि
अणुगयाग्रे कि मय्यं आणवेदि ति दुवकति । एव
दुक्कमाणाण सव्वविज्जाण जो लोभ मच्छदि सो
भिण्णदसपुव्वी, जो पुण ण तासु लोभ करेदि कम्म-
मल्लयत्थो सो अभिण्णदसपुव्वी णाम । (अब. पु. ९,
पृ. ६८) । ३. दशपूर्वाण्यधीयमानस्य विद्यानुप्रवाद-
स्या क्षुत्सलविद्या महाविद्याश्चाङ्गुष्ठप्रसेनाद्याः प्रज्ञ-
प्त्वादयश्च तै[ताभि] रागत्य रूप प्रदर्श्यं, सामर्थ्यं
स्वकमाऽऽभाष्य पुरः स्थित्वा ब्राह्मण्यतां किमस्मा-
भिः कर्तव्यमिति तिष्ठन्ति । तद्वचः श्रुत्वा न भवन्ती-
भिरस्माकं सामर्थ्यमस्तीति ये वदस्यविचलितचित्तास्ते
अभिन्नदशपूर्विणः । (भ. धा. विजयो. टी. ३४) ।
४. दशपूर्वाण्युत्पादपूर्वादिबिद्यानुवादान्तान्येषा सन्ती-
ति दशपूर्विणः । अभिन्ना विद्याभिरप्रण्यवितचारि-
त्रास्ते च ते दशपूर्विणश्च, विद्यानुवादापाठे स्वयमा-
गतद्वादशशतविद्याभिरचलितचारित्राः । (भ. धा.
भूता. टीका ३४) ।

१. रोहिणी आदि महाविद्याओं के पांच सो तथा
अंगुष्ठप्रसेनादि ऋद्ध विद्याओं के सत्त सौ वैभत्ता

प्राकर विद्यानुवाद नामक दसवें पूर्व के पड़ते समय प्राप्ता देने के लिए प्रार्थना करते हैं, फिर भी जो उन्हें स्वीकार नहीं करते ऐसे साधुओं को अभिन्न-दशपूर्व कहते हैं।

अभिन्नाक्षरदशपूर्व—पुलाक-बकुश-प्रतितेवनाकु-शीलेषु उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वाणि श्रुतं भवति । कोऽर्थः ? अभिन्नाक्षराणि एकेनाप्यक्षरेण ग्रन्थानां दशपूर्वाणि भवन्तीत्यर्थः । (स. वृत्ति श्रुत. ६-४७) । जो उत्पादपूर्वादि दस पूर्व एक अक्षर से भी कम न हों, ऐसे परिपूर्ण दस पूर्वों को अभिन्नाक्षरदशपूर्व कहा जाता है।

अभिन्नाक्षर—१. जात्योपजीवनादि परिहरत अभिन्नाक्षरः । (व्यव. भा. मलय. वृ. ३-१६४, पृ. ३५) । २. न भिन्नो न केनचिदप्यतिचारविशेषेण लघ्वित अभिचारो ज्ञान-चारित्रादिको यस्यासा-वभिन्नाक्षरः । (अभि. रा १, पृ. ७२५) ।

२ जिसका आचार किसी अतिचारविशेष के द्वारा लघ्वित नहीं होता है उसे अभिन्नाक्षर कहा जाता है।

अभिमान—१. मानकथायादुत्पत्त्योऽद्भुद्धारोऽभिमानः । (स. सि. ४-२१) । २. मानकथायोदया-पादितोऽभिमानः । (स. भा. ४, २१, ४, त. मुल्ल-बो. वृ. ४-२१; त. वृत्ति श्रुत. ४-२१) ।

१ मान कथाय के उदय से जो अन्तःकरण में अहं-कारभाव उदित होता है उसका नाम अभिमान है।

अभिमुखार्थ—को अभिमुख्यो ? इदिय-णोइदिय-याण गहणपाप्पोसो । (धव. पु. १३, पृ. २०६) ।

अभिमुख और भियमित अर्थ के ग्राहक ज्ञान का नाम अभिनिबोधिक है। इस लक्षण में प्रविष्ट 'अभिमुख अर्थ' का स्वरूप इस प्रकार निश्चित किया गया है—जो पदार्थ इन्द्रिय और मन के द्वारा ग्रहण के योग्य होता है उसे प्रकृत में अभि-मुखाय जानना चाहिए।

अभिरुद्ध—१. अभिरुद्धस्तु पर्यायः । (स. सि. ४-४४) । २. × × × अभिरुद्धोऽस्तु नयोऽभिरुद्धिविषयः पर्यायशब्दार्थभिन् । (सिद्धि-वि. ११-३१, पृ. ७३६) ।

जो पर्यायवाच्यो शब्दों की अपेक्षा अर्थ में भेद करे उसे अभिरुद्ध (समभिरुद्ध) कहते हैं। जैसे—एक ही इन्द्र-व्यक्ति को इन्द्र्य किया की अपेक्षा इन्द्र व

अकन किया से अक्ष भी कहा जाता है।

अभिलाप—अभिलप्यते येन यो वा असी अभिलापः शब्दसामान्यम् अर्थसामान्यम् च । (सिद्धि-वि. टी. १-८, पृ. ३८, पं. ५-६) ।

जिस (अब्ब) के द्वारा कहा जाता है वह शब्द तथा जो कुछ (अर्थ) कहा जाता है वह भी अभिलाप कहलाता है (बौद्धमतानुसार) ।

अभिवर्द्धितमास—१. अभिवर्द्धि इकतीसा चउ-वीस भागसयं च तिगहीन । भावे मूलाहनुषो पगय पुण कम्मभासेण ॥ (बुहत्क. ११३०) । २. अभि-वर्द्धिभो य मासो एकतीसं भवे अहोरत्ता । भाग-सयमेगवीसं चउवीस-सएण छेएण ॥ (ज्योतिष्क. २-३६) । ३. एकत्रिंशद् दिनानि एकविंशत्पुत्तर-शत चतुर्विंशत्पुत्तरशतभागानाम् (३१३३३) अभि-वर्द्धितमासः । (स. भा. सिद्ध. वृ. ४-१५) । ४. अभि-वर्द्धितो नाम मुख्यतः त्रयोदश-चन्द्रमासप्रमाणः सव-त्सरः, पर तद्द्वादशभागप्रमाणो मासोऽप्यवबे सनु-दयोपचाराद् अभिवर्द्धितः । स चैकत्रिंशदहोरात्राणि चतुर्विंशत्पुत्तरशतभागिकृतस्य चाहोरात्रस्य निकहीन चतुर्विंश शत भागाना भवति । (बुहत्क. वृ. वा. ११३०) । ५. तथा हि—अभिवर्द्धितमासस्य दिन-परिमाणमेकत्रिंशदहोरात्रा एकविंशत्पुत्तरं शतं भागानाम् अहोरात्राव च × × × । (व्यव. भा. मलय. वृ. २-१८, पृ. ७) ।

२ इकतीस दिन-रात और एक दिन के एक सौ बीस भागों में से एक सौ इक्कीस भाग प्रमाण (३१३३३) कालको अभिवर्द्धित मास कहते हैं।

अभिवर्द्धित संवत्सर—१. अभिवर्द्धितो नाम मुख्यतः त्रयोदश-चन्द्रमासप्रमाणः संवत्सरः । (बुहत्क. वृ. ११३०) । २. तेरस य चंदमासा एसो अभि-वर्द्धिभो उ नायव्वो । (ज्योतिष्क. २-३६) । ३. आइच्च-तेय-तविया लण-लव-दिवसा 'उऊ' परिण-मंति । पूरेइ गिण्णयलए तमाहु अभिवर्द्धियं जाण (गाम) । (सूर्यप्र. ५८) । ४. अभिवर्द्धितसंवत्सरे च एकस्मिन् अहोरात्राणा त्रीण शतानि व्यशीत्यवि-कानि चतुर्वत्वारिंशच्च द्वाष्टिभागा अहोरात्रस्य । (सूर्यप्र. वृ. १०, २०, ५६), तिन्नि अहोरत्त-सया तेसीई चेव होइ अभिवर्द्धो । चोयासीस भागा वावट्टिएण छेएण ॥ (सूर्यप्र. वृ. १०, २०, ५७ उ.); त्रीण्यहोरात्रशतानि व्यशीत्यविकानि

अभिवर्द्धितो नाम मुख्यतः त्रयोदश-चन्द्रमासप्रमाणः संवत्सरः, पर तद्द्वादशभागप्रमाणो मासोऽप्यवबे सनु-दयोपचाराद् अभिवर्द्धितः । स चैकत्रिंशदहोरात्राणि चतुर्विंशत्पुत्तरशतभागिकृतस्य चाहोरात्रस्य निकहीन चतुर्विंश शत भागाना भवति । (बुहत्क. वृ. वा. ११३०) । ५. तथा हि—अभिवर्द्धितमासस्य दिन-परिमाणमेकत्रिंशदहोरात्रा एकविंशत्पुत्तरं शतं भागानाम् अहोरात्राव च × × × । (व्यव. भा. मलय. वृ. २-१८, पृ. ७) ।

२ इकतीस दिन-रात और एक दिन के एक सौ बीस भागों में से एक सौ इक्कीस भाग प्रमाण (३१३३३) कालको अभिवर्द्धित मास कहते हैं।

अभिवर्द्धित संवत्सर—१. अभिवर्द्धितो नाम मुख्यतः त्रयोदश-चन्द्रमासप्रमाणः संवत्सरः । (बुहत्क. वृ. ११३०) । २. तेरस य चंदमासा एसो अभि-वर्द्धिभो उ नायव्वो । (ज्योतिष्क. २-३६) । ३. आइच्च-तेय-तविया लण-लव-दिवसा 'उऊ' परिण-मंति । पूरेइ गिण्णयलए तमाहु अभिवर्द्धियं जाण (गाम) । (सूर्यप्र. ५८) । ४. अभिवर्द्धितसंवत्सरे च एकस्मिन् अहोरात्राणा त्रीण शतानि व्यशीत्यवि-कानि चतुर्वत्वारिंशच्च द्वाष्टिभागा अहोरात्रस्य । (सूर्यप्र. वृ. १०, २०, ५६), तिन्नि अहोरत्त-सया तेसीई चेव होइ अभिवर्द्धो । चोयासीस भागा वावट्टिएण छेएण ॥ (सूर्यप्र. वृ. १०, २०, ५७ उ.); त्रीण्यहोरात्रशतानि व्यशीत्यविकानि

अभिवर्द्धितो नाम मुख्यतः त्रयोदश-चन्द्रमासप्रमाणः संवत्सरः, पर तद्द्वादशभागप्रमाणो मासोऽप्यवबे सनु-दयोपचाराद् अभिवर्द्धितः । स चैकत्रिंशदहोरात्राणि चतुर्विंशत्पुत्तरशतभागिकृतस्य चाहोरात्रस्य निकहीन चतुर्विंश शत भागाना भवति । (बुहत्क. वृ. वा. ११३०) । ५. तथा हि—अभिवर्द्धितमासस्य दिन-परिमाणमेकत्रिंशदहोरात्रा एकविंशत्पुत्तरं शतं भागानाम् अहोरात्राव च × × × । (व्यव. भा. मलय. वृ. २-१८, पृ. ७) ।

२ इकतीस दिन-रात और एक दिन के एक सौ बीस भागों में से एक सौ इक्कीस भाग प्रमाण (३१३३३) कालको अभिवर्द्धित मास कहते हैं।

अभिवर्द्धित संवत्सर—१. अभिवर्द्धितो नाम मुख्यतः त्रयोदश-चन्द्रमासप्रमाणः संवत्सरः । (बुहत्क. वृ. ११३०) । २. तेरस य चंदमासा एसो अभि-वर्द्धिभो उ नायव्वो । (ज्योतिष्क. २-३६) । ३. आइच्च-तेय-तविया लण-लव-दिवसा 'उऊ' परिण-मंति । पूरेइ गिण्णयलए तमाहु अभिवर्द्धियं जाण (गाम) । (सूर्यप्र. ५८) । ४. अभिवर्द्धितसंवत्सरे च एकस्मिन् अहोरात्राणा त्रीण शतानि व्यशीत्यवि-कानि चतुर्वत्वारिंशच्च द्वाष्टिभागा अहोरात्रस्य । (सूर्यप्र. वृ. १०, २०, ५६), तिन्नि अहोरत्त-सया तेसीई चेव होइ अभिवर्द्धो । चोयासीस भागा वावट्टिएण छेएण ॥ (सूर्यप्र. वृ. १०, २०, ५७ उ.); त्रीण्यहोरात्रशतानि व्यशीत्यविकानि

अभिवर्द्धितो नाम मुख्यतः त्रयोदश-चन्द्रमासप्रमाणः संवत्सरः, पर तद्द्वादशभागप्रमाणो मासोऽप्यवबे सनु-दयोपचाराद् अभिवर्द्धितः । स चैकत्रिंशदहोरात्राणि चतुर्विंशत्पुत्तरशतभागिकृतस्य चाहोरात्रस्य निकहीन चतुर्विंश शत भागाना भवति । (बुहत्क. वृ. वा. ११३०) । ५. तथा हि—अभिवर्द्धितमासस्य दिन-परिमाणमेकत्रिंशदहोरात्रा एकविंशत्पुत्तरं शतं भागानाम् अहोरात्राव च × × × । (व्यव. भा. मलय. वृ. २-१८, पृ. ७) ।

२ इकतीस दिन-रात और एक दिन के एक सौ बीस भागों में से एक सौ इक्कीस भाग प्रमाण (३१३३३) कालको अभिवर्द्धित मास कहते हैं।

अभिवर्द्धित संवत्सर—१. अभिवर्द्धितो नाम मुख्यतः त्रयोदश-चन्द्रमासप्रमाणः संवत्सरः । (बुहत्क. वृ. ११३०) । २. तेरस य चंदमासा एसो अभि-वर्द्धिभो उ नायव्वो । (ज्योतिष्क. २-३६) । ३. आइच्च-तेय-तविया लण-लव-दिवसा 'उऊ' परिण-मंति । पूरेइ गिण्णयलए तमाहु अभिवर्द्धियं जाण (गाम) । (सूर्यप्र. ५८) । ४. अभिवर्द्धितसंवत्सरे च एकस्मिन् अहोरात्राणा त्रीण शतानि व्यशीत्यवि-कानि चतुर्वत्वारिंशच्च द्वाष्टिभागा अहोरात्रस्य । (सूर्यप्र. वृ. १०, २०, ५६), तिन्नि अहोरत्त-सया तेसीई चेव होइ अभिवर्द्धो । चोयासीस भागा वावट्टिएण छेएण ॥ (सूर्यप्र. वृ. १०, २०, ५७ उ.); त्रीण्यहोरात्रशतानि व्यशीत्यविकानि

चतुस्त्वारिंशच्च द्व्यष्टिभागा अहोरात्रस्य एता-
वदहोरात्रप्रमाणोऽनिर्वाहितसंवत्सरः । × × × तथा
यस्मिन् संवत्सरेऽधिकमाससंक्रमेण त्रयोदश चन्द्रमासा
भवन्ति सोऽभिर्वाचितसंवत्सरः । (सूर्यप्र. बृ. सू. ५-७; पृ. १५४); यस्मिन् सवत्सरे क्षण-सव-
विचक्षा ऋतवः प्रादित्यतेजसा कुवाज्जीव तपता परि-
णमन्ति, यद्वयं सवर्षाणि निम्नस्थानानि स्थलानि च
जलेन पूरयति तं संवत्सरं जानीहि, यथा तं संवत्सर-
मभिर्वाचितमाहुः पूर्ववयः इति । (सूर्यप्र. बृ. ५८,
पृ. १७३) । ५. एवंविधेन (प्रभिवर्द्धनेन) मासेन
द्व्यष्ट्यमासप्रमाणोऽभिर्वाचितसंवत्सरः । स चायं त्रीणि
पञ्चाग्न्यान् श्रयशीत्यधिकानि चतुस्त्वारिंशच्च
द्व्यष्टिभागाः (३८३ $\frac{५}{८}$) । (त. भा. सिद्ध. बृ. ४-१५) ।

२ तेरह चान्द्रमास प्रमाण अभिर्वाचित संवत्सर
होता है ।

अभिषव—१. द्रवो बृष्यो वाऽभिषवः । (स. सि.
७-३५) । २ द्रवो बृष्यं वाऽभिषवः द्रवः । सौवीरा-
दिकः बृष्य वा द्रव्यमभिषवः इत्यभिधीयते । (त.
भा. ७, ३५, ५) । ३. द्रवो बृष्य चाभिषवः । (त.
मन्त्रो. ७-३५) । ४. अभिषवाहार इति—सुरा-सौवीर-
क - मासप्रकार - पर्णक्याद्यनेकद्रव्यसमाधानिष्पन्नः
सुरा-सौबु-मधुपारादिरभिष्वयवृक्षद्रव्योपयोगो वा ।
(त. भा. सिद्ध. बृ. ७-३०) । ५. सौवीरादिद्रवो
वा बृष्य वाऽभिषवाहारः । (आ. सा. पृ. १३) ।
६. अभिषवाऽनेकद्रव्यसन्धानिष्पन्नः । सुरा-सौ-
वीरकादिः मासप्रकारलक्षणादिर्वा सुरामध्वाद्यभिष्व-
न्दिद्रव्योपयोगो वा । (योगशा. स्वो. विव. ३-६८,
पृ. ५६५) । ७. अभिषवः सुरा-सौवीरकादिमति-
प्रकारलक्षणादिर्वा । सुरामध्वाद्यभिष्वन्दिबृष्यद्रव्योप-
योगो वा । (धर्मसं. भा. स्वो. बृ. २-५०, पृ.
१०६) । ८. द्रवो बृष्यश्चोभयोऽभिषवः । (त. बृति
श्रुत. ७-३५) ।

२ द्रव (कांजी) अथवा बृष्य (गरिष्ठ) द्रव्य को
अभिषव कहा जाता है । ४ मद्य, सौवीरक (कांजी),
विशिष्ट प्रवस्थागत मांस और पर्णको आदि अनेक
द्रव्यों के समुदाय से निर्मित गरिष्ठ लक्षा को अभि-
षव कहते हैं ।

अभिष्वङ्ग—१. अभिष्वङ्गा बाह्याभ्यन्तरोपकरण-
विषयसुखे राग आसक्तिः । (त. भा. सिद्ध. बृ.

८-१०) । २. 'पेञ्जे' ति प्रियस्य नावः कर्म वा
प्रेम, तत्त्वानभिष्वक्तमाया-सोमलक्षणमेवस्वभाव-
मभिष्वङ्गमात्रमिति । (स्वात्मार्ण अथर्व. बृ. १-४८,
पृ. २४) । ३. भावो नाम जीवस्य परिणामः,
सोऽभिष्वङ्गोऽभिधीयते । × × × येन वन-बान्ध-
कलत्रादिगाढं परिणामेनास्य जन्तोरन्ते—प्रायस्यां
नारकादिभवदुःखलक्षण भयमुत्पद्यते स तथाभूतः
परिणामोऽभिष्वङ्गः, न सर्वोऽपीति भावार्थः ।
(आव. हरि. बृ. मल. हेम. टि. पृ. १०६-७) ।

१ बाह्य और अन्त्यन्तर उपकरण युक्त विषय-सुख
में जो राग या आसक्ति होती है उसे अभिष्वङ्ग
कहते हैं । यह सोम का पर्याय नाम है ।

अभिष्वङ्करण—२. अभिष्वङ्कणं तस्यैव विवक्षित-
कालस्य संवर्द्धनम्, परतः करणमित्यर्थः । (बृहत्क.
बृ. १६७५) । २. अभिष्वङ्कणं पश्चादपसरणम् ।
(आव. हरि. बृ. मल. हेम. टि. पृ. ८७) ।

१ वस्तुके विवक्षित विवर्द्धनादि काल को बढ़ाना
—आगे करना, इसका नाम अभिष्वङ्कण बाहर
प्राप्ति का है ।

अभिहृत—१. एकदेशात् सर्वस्मादाऽऽगतमोहना-
दिक अभिषटम् [अभिहृतम्] । (भूला. बृ. ६-१६) ।
२. स्वाहायातमभिहृतं ग्रामवारगृहान्तरात् । (आवा.
सा. ८-३२) । ३. ग्रीन् सतत वा गृहान् पङ्क्त्या
स्थितान् मुक्त्वाऽप्यतोऽस्त्रिणात् । देशाद्ययोग्यमायात-
मन्नाद्यभिहृतं यने । (अन. व. ५-१६) । ४. ग्रामान्
पाटकात् गृहान्तराद्यद्यायात तदभिहृतम् । (भा. प्रा.
टी. ६६) ।

३ एक पंक्ति में स्थित तीन या सत्त घरों को छोड़
कर उससे बाहिर के प्रदेश से आये हुए प्रयोग्य
आहारके लेने पर अभिहृत (अभिषट) नामका
उद्गम-दोष होता है ।

अभीक्षणज्ञानोपयोग—१. जीवादिवर्थाव्यवस्त्व-
विषये सम्मुखाने नित्यं युक्ताऽभीक्षणज्ञानोपयोगः ।
(स. सि. ६-२४) । २. ज्ञानमाद्यनायां नित्ययुक्तता
ज्ञानोपयोगः । मर्यादिविकल्पं ज्ञानं जीवादिवर्थाव्य-
वस्त्वविषय प्रत्यक्ष-परोक्षलक्षणम् भक्षाननिवृत्त्य-
व्यवहितफल हिताहितानुभयप्राप्तिपरिहारोपेक्षाव्यव-
हितफल यत्तस्य भावनाया नित्ययुक्ता ज्ञानोपयोगः ।
(त. वा. ६, २४, ४; आ. सा. पृ. २५; त. बृति
श्रुत. ६-२४; त. पुल्लो. ६-२४) । ३. अभिष्वङ्ग-

णाणोवजोगुत्तदाए—अभिक्खणं णाम बहुवारमिदि भणिदं होदि । णाणोवजोगो ति भावसुव वव्वसुदं वाजेक्खवे । तेषु मुहुम्महुमुत्तदाए तित्थयरणा-कम्मं वज्झद, दंसणविसुज्झदादीहि विणा एदिस्से अणुववतीदो । (अथ. पु. ८, पृ. ६१) । ४. संज्ञान-भावनायां तु या नित्यमुपयुक्ता । ज्ञानोपयोग एवासी तत्राभीक्ष्ण प्रसिद्धितः ॥ (त. हलो. वा. ६, २४, ६) । ५. अज्ञाननिवृत्तिफले प्रत्यक्ष-परोक्षलक्ष-णज्ञाने । नित्यमभियुक्तोक्तस्तज्ज्ञानोपयोगस्तु ॥ (ह. पु. ३४-१३५) । ६. अभीक्ष्णं ज्ञानोपयोग इति—अभीक्ष्णं मुहुर्मुहुः प्रतिक्षणं ज्ञानं द्वावद्याङ्गं प्रवचनं प्रदीपाङ्कुशप्रासादप्लवस्थानीयं, तत्रोपयोगः प्रणिधानम् । सूत्रार्थोभयविषयं आत्मनो व्यापारः, तत्परिणामितेति यावत् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-२३) । १ जीवादि पदार्थों के स्वकीय स्वस्वरूप के जानने रूप सम्यग्ज्ञान में नित्य उपयुक्त रहने को अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग कहते हैं ।

अभेदब्राह्मण्य—अभेदब्राह्मण्य द्रव्याधिकनयगृहीत-सत्तावभिन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुशक्तिकस्य सदादिप-दस्य कालाद्यभेदविशेषप्रतिसम्पानेन पर्यायाधिकनय-पर्यालोचनप्रादुर्भवच्छक्यायं बाधप्रतिरोधः । (शास्त्रवा. यशो. टी. ७-२३, पृ. २५४) ।

द्रव्याधिक नयके द्वारा ग्रहण की गई सत्ता आदि से अभिन्न अनन्त धर्मस्वरूप वस्तु के ग्रहण करने की शक्तिबाले सत्-असत् आदि पदों की, काल आदि के अभेद की लक्ष्य करके पर्यायाधिक नयसे उत्पन्न होनेवाली शक्ति से अनन्तधर्मात्मक वस्तु के ग्रहण-रूप अर्थ में, बाधाको दूर करना; इसका नाम अभेद-ब्राह्मण्य है ।

अभेदोपचार—अभेदोपचारश्च पर्यायाधिकनयगृही-तान्यापोहपर्यवसितसत्तादिमात्रशक्तिकस्य तात्पर्यानु-पपत्त्या सदादिपदस्योक्तार्थे लक्षणा । (शास्त्रवा. यशो. टी. ७-२३, पृ. २५४) ।

पर्यायाधिक नयसे ग्रहण किये गये तथा अग्न्यापोह में जिनका पर्यवसान है ऐसे, केवल सत्-असत् आदि धर्मों के ग्रहण करने की शक्तिबाले 'सत्' आदि पदों की तात्पर्य के धटित न हो सकने से अनन्त-धर्मात्मक वस्तु के ग्रहण में जो लक्षणा की जाती है, इसका नाम अभेदोपचार है ।

अभीक्ष्णमुद्भववेशन—××× चाण्डालादिनिके-

तने । प्रवेशो भ्रमतो भिक्षोरभीक्ष्णमुद्भवेशनम् ॥ (अन. व. ५-५३) ।

भिक्षार्थं भ्रमण करते हुए भिक्षुका चाण्डालादि अस्पृश्य ब्राह्मण के घर में प्रवेश करने पर अभीक्ष्ण-मुद्भववेशन नामक अन्तराय होता है ।

अभ्यन्तरा अवधि—तत्र योग्यविः सर्वासु विक्षु स्वद्योत्य क्षेत्र प्रकाशयति, अर्वावमता च सह सात-त्येन तत् स्वव्याप्त्यं क्षेत्रं सम्पन्नं सोऽभ्यन्तरावधिः । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१७, पृ. ५३६) ।

जो अवधिज्ञान सर्व विज्ञानों में अपने विषयभूत क्षेत्र को प्रकाशित करे और अपने स्वार्थों के साथ सदा अपने विषयभूत क्षेत्र में सम्बद्ध रहे उसे अभ्यन्तरा-अवधि कहते हैं ।

अभ्यन्तरा निर्वृत्ति—देखो ब्राह्मन्तरनिर्वृत्ति ।

१. उत्सेषाङ्गुलासक्येयभागप्रमितानां विबुधानामा-त्मप्रदेशानां प्रतिनियत्वक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनाव-स्थितानां वृत्तिरभ्यन्तरा निर्वृत्तिः । (स. सि. २-१७; त. वा. २, १७, ३; मूला. १-१६) ।

२. विबुधात्मप्रदेशवृत्तिरभ्यन्तरा । (त. हलो. २-१७) । ३. नेत्रादीन्द्रियसंस्थानावस्थितानां हि वर्तनम् । विबुधात्मप्रदेशानां तत्र निर्वृतिरान्तरा ॥ (त. सा. २-४१) । ४. अभ्यन्तरा चक्षुरादीन्द्रिय-ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशिष्टोत्सेषाङ्गुलासक्येय-

भागप्रमितात्मप्रदेशशिलिष्टसूक्ष्मपुद्गलसंस्थानरूपा । (त. बुल्लवो. वृ. २-१७) । ५. तत्रोत्सेषासक्येय-भागप्रमितानां बुधानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियत-चक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनार्वास्थिता या वृत्तिरभ्यन्तरा निर्वृत्तिः । (आचारा. वृत्ति २, १, ६४ पृ. ६४) ।

६. बाह्यनिर्वृत्तीन्द्रियस्य स्वर्तनोपमितस्य या । धारोपमानानिर्वृत्तिरत्यन्तपुद्गलात्मिका । (लोकप्र. ३-७५, पृ. ३६) । ७. ××× लङ्गध्यानीया या बाह्यनिर्वृत्तेः लङ्गधारासमाना स्वच्छतरपुद्ग-लसमुद्गात्मिका अभ्यन्तरा निर्वृत्तिः ××× । (नन्दी. मलय. वृ. सु. ३, पृ. ७५) । ८. उत्सेषा-

ङ्गुलासक्येयभागप्रमितानां बुधात्मप्रदेशानां प्रति-नियतचक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शान्द्रियसंस्थानेनाव-स्थितानां वृत्तिरभ्यन्तरा निर्वृत्तिः । (मूला. वृ. १-१६) । ९. मूर्त्तिकादिसंस्थानात्परतः उत्सेषा-ङ्गुलासक्येयभागप्रमितानां बुधानामावरणक्षयोपशम-विशिष्टानां सूक्ष्मपुद्गलप्रदेशशिलिष्टानां प्रतिनियत-

यक्षुरादीन्द्रियध्वजानेनाऽभ्यस्तितानामात्मप्रदेशानां
वृत्तिरभ्यन्तरोपधिः । (त. वृत्ति भूत. २-१७) ।
१ उत्तेषाह्मस्य के ध्वजस्थाने भग प्रमाण शुद्ध
आत्मप्रदेशों को प्रतिनियत यक्षु आदि इन्द्रियों के
आकाररूप से रक्षण होने को अभ्यन्तरोपधिः
कहते हैं ।

अभ्यन्तरोपधिभ्युत्सर्ग—१. $\times \times \times$ अभ्यन्तरो-
पधित्यागश्चेति । $\times \times \times$ कोषादिरात्मभावोऽभ्य-
न्तरोपधिः, कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वा
ऽभ्यन्तरोपधित्याग इत्युच्यते । (स. लि. ६-२६) ।

२. अभ्यन्तरः शरीरस्य कषायाणां चेति । (स. भा.
६-२६) । ३. कोषादिभावनिवृत्तिरभ्यन्तरोपधिभ्यु-
त्सर्गः । कोष-मान-माया-लोभ-मिथ्यात्व-हास्य-रस्य-
रति-शोक-भयादिदोषनिवृत्तिरभ्यन्तरोपधिभ्युत्सर्ग
इति निर्दिष्टीयते । कायत्यागश्च नियतकालो याव-
ज्जीवं वा । कायत्यागश्चाभ्यन्तरोपधिभ्युत्सर्ग इत्यु-
च्यते । म पुनर्द्विषय—नियतकालो यावज्जीवं
चेति । (त. भा. ६. २६, ४-५) । ४. अभ्यन्तरः
शरीरस्य कषायाणां चेति शरीरस्य पर्यन्तकाले
विज्ञायां किञ्चित्कस्त्वं शरीरक परित्यजति—उज्झ-
ति । यद्योक्तम्—‘जं पिय डम शरीर इट्ठ कत्’
इत्यादि । कोषादयः कषायाः ससारपरिभ्रमणहेतवः,
तेषां भ्युत्सर्गः परित्यागो मनोवाककार्य. कृत-कारिता-
नुमतिरिति चेति । (त. भा. लिङ्ग. वृ. ६-२६) ।

१ कोष, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, हास्य, रति,
अरति, शोक व अय आदि दोषों के त्याग को तथा
नियत काल तक वा यावज्जीवन शरीर के त्याग को
और अभ्यन्तरोपधिभ्युत्सर्ग कहते हैं ।
अभ्याख्यान—१. हिंसादेः कर्मणः कर्तुविरतस्य
विरताविरतस्य वा ऽभ्यमस्य कर्तव्यमिष्टानमभ्याख्या-
नम् । (त. भा. १, २०, १२, पृ. ७५) । २ अभ्या-
ख्यानं तद्गुणशून्यत्वे अपि तद्गुणानुपगमलक्षणम् ।
(आ. प्र. टी. १२३) । ३. अभ्यमस्य कर्तव्यं अनिष्ट-
कथनमभ्याख्यानम् । (ध्व. पु. ५, पृ. ११६) ।
४. कोषमानमायालोभादिभिः परेण्विद्यमानदोषोद्-
भावनमभ्याख्यानम् । (ध्व. पु. १२, पृ. २८५) ।
५. हिंसाकर्तुः कर्तुं वा कर्तव्यमिति भाषणम् । अभ्या-
ख्यानम् $\times \times \times$ ॥ (ह. पु. १०-६२) । ६. अभ्या-
ख्यानं प्रकटमसद्विचारोपणम् । (स्थानार्थ अभय. वृ.
१-४६, पृ. २४) । ७. अभ्याख्यानमसद्विचारोपणम् ।

(प्रज्ञापना मलय. वृ. २२-२८०, पृ. ४३८) ।
८. इणमणेण कियमिदि अणट्ठकहणमभ्यमख्यानं नाम ।
(अङ्गवज्जणीसी पृ. २६२) । ९. अभ्याख्यानं मिथ्या-
कलङ्कदानम् । (कस्पसु. वृ. ११८) ।

१ हिंसादि कार्य का करने वाला, चाहे वह
विरत हो चाहे विरताविरत हो, ‘वह उसका कर्ता
है’ इस प्रकार उसके सम्बन्ध में कहना; इसे अभ्या-
ख्यान कहते हैं । २ अथवा जिसमें जो गुण नहीं हैं,
उसमें उस गुणका सद्भाव बतलाने को अभ्याख्यान
कहते हैं ।

अभ्यास—यावत्प्रमाणो यो राशिर्भवेत् स्वरूप-
सम्पत्त्या । स न्यस्य तावतो वारान् गुणितोऽभ्यास
उच्यते ॥ (लोकप्र. १-१६५) ।

विवक्षित राशि स्वरूप व संख्या से जितनी हो, उस
स्थापित कर उतने बार गुणा करने को अभ्यास
कहते हैं । जैसे— $५ \times ५ \times ५ \times ५ \times ५ = ३१२५$ ।

अभ्यासवर्ती—१. गुरुणो य नामकं चो अभ्यासे
वर्तते सथा । साहू आगार-दिगिर्ह हि सद्विदो वति
काऊण ॥ (व्यव. भा. १-७६, पृ. ३१) । २. गुरो-
रभ्यासे समीपे वर्तते इति शीलोऽभ्यासवर्ती गुप्ताद-
पीठिकाप्रत्यासन्नवर्तीति भावः । (व्यव. भा. मलय.
वृ. १-७८, पृ. ३१) ।

जो साधु ज्ञान, दर्शन और संयम के लाभ की
इच्छा से सदा गुरु के समीप रहता है तथा नेत्र व
मुखादि के आकार और शरीर की चेष्टा से यदि
कुछ संदेश दिया जाता है तो उसके करने में उद्यत
रहता है, ऐसे साधु को अभ्यासवर्ती कहा जाता है ।
यह श्रौचचारिक विनय के ७ भेदों में प्रथम है ।

अभ्यासासन—देखो अभ्यासवर्ती । अभ्यासासनम्
उपचरणीयस्यातितेऽवस्थानम् । (समवा. अभय. वृ.
६१, पृ. ८६) ।

उपचरणीय—आवर-सत्कार करने के योग्य गुरु
आदि के—समीप में स्थित रहने को अभ्यासासन
कहते हैं ।

अभ्याहृत (आहारदोषमेव)—१. स्वप्नामादे. साधु-
निमित्तमभिमुखमानीतमभ्याहृतम् । (वसन्त. हरि.
वृ. ३-२, पृ. ११६; बर्गसं. मान. स्त्रो. वृ. ३-२२,
पृ. ४०) । २. गृह-प्राप्तादे. साध्वर्षं यदानीत् तदभ्या-
हृतम् । (योगशा. स्त्रो. विव. १-३८, पृ. १३४) ।
३. स्व-परप्राप्तात् साधुनिमित्तं य आनीयते सोऽभ्या-

हृतपिण्डः । (आच. ह. वृ. मय. हेम. वि. पृ. ८१) ।
१ स्वकीय धाम धावि से साधु को निमित्त लाये हुये
आहार को अभ्याहृत कहते हैं ।

अभ्याहृत (वसतिकादोषभेद) — कुडपाद्यर्ष कुटी-
रक-कटादिकं स्वार्थं निष्पन्नमेव यत्सयतार्थमानीत
तदभ्याहृतम् । (भ. धा. विजयो. व मूला. टी. २३०;
कार्तिके. टी. ४४६, पृ. ३३७-३८) ।

अपनी कुटी (भोंपड़ी) के बनाने के लिए लाए गये
कुटीरक और बटाई धावि यदि साधु को लिये बी
जाती है तो यह उसके लिये अभ्याहृत नामका
वसतिकादोष होता है ।

अभ्युत्थान—१. अभ्युत्थानं गुर्वादीनां प्रवेश-निष्क्रमणयोः । (भ. धा. विजयो. टी. ११६) । २. गुर्वादीनां प्रवेश-निष्क्रमणयोः सम्मुखमुत्थानं अभ्युत्थानम् । (भ. धा. मूला. टी. ११६) । ३. अभ्युत्थानमासनत्यागः । (समवा. अभय. वृ. ६१, पृ. ६५) ।
१ गुप्त धावि के आने-जाने पर उनके सम्मान प्रदर्शनार्थं अपना आसन छोड़कर खड़े हो जाने को अभ्युत्थान कहते हैं ।

अभ्युदय—१. पूजायाश्चैवर्षवर्ष-परिजन-कामभोग-भूमिच्छेदः । अनिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः ॥ (रत्नक. धा. १३५) । २. इन्द्रपदं तीर्थकरगर्भवितार-जन्माभिषेक-सास्त्राज्य - चक्रवर्ति-पद-नि क्रमणकल्याण - महामण्डलेवरादिराज्यादिकं सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तमहमिन्द्रपदं सर्वं सासारिकं विशिष्टमविशिष्टं सुखमभ्युदयमित्युच्यते । (त. वृत्ति भूत. ७-२६) ।

१ पूजा-प्रतिष्ठा, धन-सम्पत्ति, आशा, ऐश्वर्य, बल, परिजन और कामभोग; इत्यादि की प्रचुरता से प्राप्ति होना, इसका नाम अभ्युदय है ।

अञ्ज—एवं बंधं पाविद्वेष से अञ्जानं वा अवारिसु वा मेहा मग्ना णाम । (अच. पु. १४, पृ. ३५) ।
वर्षा-बिहीन मेघ अञ्ज कहलाते हैं ।

अञ्जावकाशशयन—अञ्जावकाशसयणं बहिनिरावरणदेशे शयनम् । (भ. धा. विजयो. व मूला. टी. २२५) ।

गृह धावि के बाहर निरावरण स्थान में सोने को अञ्जावकाशशयन कहते हैं ।

अञ्जावकाशातिचार—१. सचित्तायां भूमौ बल-

सहितहरितसमुत्थितायां विवरवत्यां शयनम्, अकृत-भूमि-शरीरप्रमाज्जनस्य हस्त-पादसंकोच-प्रसारणम्, पार्श्वान्तरसंचरणम्, कण्ठयनं वा, हिम-समीरणाभ्यां हृतस्य कर्दतदुपशमो भवतीति चिन्ता, वशदलादि-भिरुपरि निपतितहिमापकर्षणम् अवशयायघट्टना वा, प्रचुरवातातपदेशोऽयमिति संक्लेशः अग्नि-प्रावरणादीनां स्मरणम्; अञ्जावकाशातिचारः । (भ. धा. विजयो. टी. ४८७) । २. अञ्जावकाशस्य हिमवाताभ्यामुपहृतस्य कर्दतदुपशमः स्वादिति चिन्ता, वशदलादिभिरुपरि निपतितहिमस्यापकर्षणमवशयायघट्टना वा, प्रभूतवातातपदेशोऽयमिति संक्लेशोऽग्नि-प्रावरणादीनां स्मरणमित्यादिकोऽञ्जावकाशातिचारः । (भ. धा. मूला. टी. ४८७) ।

१ सचित्त, असजीब-बहुल एवं सछिन्न भूमिपर सोना; भूमि व शरीर के प्रमाज्जन के बिना ही हाथ-पैर धावि को सकोड़ना व फैलाना, करबट बलना, शरीर को कुजलाना तथा बर्फ व बाघ से पीड़ित होने पर 'कब यह शान्त होता है' ऐसा चिन्तन करना, बल के पत्तों धावि से ऊपर पड़ी घोंसबिन्दुओं को हटाना; इत्यादि अञ्जावकाशशयन के प्रतिचार हैं ।

अञ्जावकाशी—अञ्जेऽवकाशोऽस्ति येषां तेऽञ्जावकाशिनः, शीतकाले बहिःशायिनः । (योगिभ.टी.१२) ।
शीतकाल में निरावरण प्रवेश में सोनेवाले साधु को अञ्जावकाशी कहते हैं ।

अमध्यस्थ (अमज्जस्थ)—जे णवि वट्टह रागे णवि दोसे दोण्ह मज्झयारम्मि । सो होइ उ मज्झयो सेसा सव्वे अमज्जस्था ॥ (आच. नि. गा. ८०३) ।
जो न तो राग में बतमान रहता है और न द्वेष में भी, किन्तु उनके मध्य में अवस्थित रहता है; वह मध्यस्थ होता है । शेष सबको अमध्यस्थ जानना चाहिये ।

अमनस्क—१. न विद्यते मनो येषां तेऽमनस्काः । (स. सि. २-११; त. बा. २, ११, १; त. पुल्लवो. २-११) । २. मनसो ब्रह्म-भावभेदस्य सन्निधानात् समनस्काः, तदसन्निधानादमनस्काः । × × × केचित् पुनरमनस्काः, शिक्षाद्यप्राप्तिवेदनकार्यस्य मित्रे-रग्यधानुपपत्तेः । (त. क्लो. २-११) । ३. ये पुनर्भावमनसंबोधोपयोगमात्रेण मनःपर्याप्तिकरणविशेष-निरपेक्षेण युक्तास्तेऽमनस्काः । (त. धा. सि. वृ. २-११) । ४. न विद्यते पूर्वोक्तं (ब्रह्म-भावभेदं)

द्विप्रकारं मनो येषां तेऽमनस्काः । (त. वृत्ति धृत. २-११) ।

२ इन्द्र-भाव स्वकृष मनसे रत्नित जीर्णों को अमनस्क कहते हैं ।

अमनोज—१. अमनोज अग्रिय विष-कण्टक-शत्रु-शस्त्रादि, तद् बाधाकारणत्वादमनोजम् इत्युच्यते । (स. सि. ६-३०) । २. अग्रियममनोजं बाधाकारणत्वात् । यदाग्रियं वस्तु विष कण्टक-शत्रु-शस्त्रादि तद् बाधाकारणत्वादमनोजमित्युच्यते । (स. बा. ६, ३०, १) । ३. अग्रियममनोजम्, बाधाकारणत्वात् । (स. इलो. ६-३०) ।

१ विष, कण्टक और शत्रु आदि जो बाधा के कारण हैं, उन अग्रिय पदार्थों को अमनोज कहते हैं ।

अमनोज-सम्प्रयोग-सम्प्रयुक्त आर्तध्यान (अमणुष्ण-संप्रयोग-संपवत्त अट्टजभास)—१. अमणुष्ण णाम अप्पिय, समंततो जोगो संपधोगो तेण अपिप-एण समंततो सपउत्तो नम्म विप्पयोगाभिकंखी मति-समण्णागते यावि भवइ, सतिसमण्णागते णाम चित्तणिरोहो काउ भायइ जहा कह णाम मम एनेसु अण्डिठेसु विसएसु सइ मजोगो न होज्जति, तेसु अण्डिठेसु विसयादिसु पढोम समावण्णा अप्पत्तेसु इठ्ठेसु परमणिद्धिमावण्णो गगहोसवमगयो नियमा उदयकिलिन्नं व्व पावकम्मय उवचिणाइ ति अट्टम्म पढो भेदो मनो । (वसं. बू. पृ. २६ ३०) । २. कदा ममाजेन उवर-शून-शत्रु-रोगादिना वियोगो अप्पिय-नीत्येवं चिन्तनम् आर्तध्यान प्रथमम् । (मूला. बू. ५-१६८) । ३. अमनोज्ञानां शब्दादिविषयाणा नवाधारवस्तूना च रासमादीनां सप्रयोगे तद्विप्रयोग-चित्तनमसंप्रयोगे प्रार्थना च प्रथमम् । (धर्मसं. मान. स्तो. बू. ३, २७, पृ. ८०) । ४. अमणुन्नाण सदाह-विसयवत्तूण दोसमइलेस्स । धणिधं विधोगचित्तण-मसपधोगाणुत्तरण च ॥६॥ (आव. ४ अ.—अभि. रा. १ पृ. २३५) ।

१ अमनोज (अनिष्ट) वस्तुओं का संयोग होने पर उनके वियोग का अभिलाषी होकर जो यह विचार किया जाता है कि इन अनिष्ट विषयों के साथ मेरा संयोग कैसे नष्ट होगा, यह अमनोजसम्प्रयोग नाम-का प्रथम आर्तध्यान है । इसके आशय से अनिष्ट विषयों में द्वेषभाव को प्राप्त होकर और अप्राप्त इष्ट पदार्थों में लोभपता को प्राप्त होकर जीव

राग-द्वेष के बन्दीभूत होता हुआ पाप कर्म का संभव करता है ।

अमात्य (अमच्च)—१. सज्जनवयं पुरवरं चित्ततो अमच्च (च्छ) इ नरवति च । व्यवहार-नीतिकुशलतो अमच्च एवारिसो × × × ॥ (अव्य. भा. ३, पृ. १२६) । २. अमात्यः देणाधिकारीत्यर्थः । (त्रि. सा. टी. ६८३) । ३. यो व्यवहारकुशलतो नीतिकुशलस्य च सज्जनपदं पुरवरं नरपति च चिन्तयन्नावतिष्ठते स एतादृशो भवति अमात्यः । अथवा यो राज्ञोऽपि शिक्षां प्रयच्छति । (अव्य. भा. मलय. बू. ३, पृ. १२६) ; अमात्यो राजकार्य-चिन्ताकृत् । (अव्य. भा. मलय. बू. २-३३) । ४. अमात्याः सहजन्मानो मंत्रिणः । (कल्पसूत्र बू. ३-६२) ।

१ जो व्यवहारचतुर व नीतिकुशल होता हुआ जनपदों सहित बौद्ध नगर और राजा की भी चिन्ता करता है वह अमात्य कहलाता है । २ देश का जो अधिकारी होता है उसे अमात्य कहा जाता है । **अमार्गदर्शन**—चौरमार्गप्रयच्छकानां मार्गान्तरक-वेन तदज्ञापनम् । (आ. गु. वि. पृ. १० ; प्रश्नव्या. बू. पृ. १६३) ।

चोरों का मार्ग पृच्छने वालों को दूसरा मार्ग बताकर उससे अन्वेषित रखना, इसे अमार्गदर्शन कहते हैं । **अभिन्नक्रिया**—१. अभिन्नक्रिया द्वेषसंज्ञा । (गु. गु. ब. बू. १५, पृ. ४१) । २. अभिन्नक्रिया पित्रादिवृ-श्वल्पेऽप्यपराधे तीव्रतरदण्डकरणम् । (धर्मसं. मान. स्तो. बू. ३, २७, पृ. ८२) ।

२ पिता आदि के द्वारा अत्य भी अपराध के हो जाने पर तीव्र दण्ड देने को अभिन्नक्रिया कहते हैं । **अमूढदृक्**—अतत्त्वे तत्त्वअज्ञानं मूढदृष्टिः स्वलक्ष-णात् । नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोऽस्त्य मूढदृक् ॥ (साटीसं. ४-१११ ; पंचाध्या. २-५८६) जिस जीव की अतत्त्व में तत्त्वअज्ञान्य मूढ दृष्टि नहीं रहती है वह अमूढदृक् कहलाता है ।

अमूढदृष्टि—१. जो हृदय असंभूदो चेदा सध्वेसु कम्मभावेसु । सो सल्लु अमूढविट्ठी सम्माविट्ठी भुणे-दब्बो ॥ (समवसा. २५०) । २. कापये पथि दु खाना कापयस्येऽव्यसम्मति । असपुत्तिरनुत्तोति-रमूढा दृष्टिरुच्यते ॥ (रत्नक. १४) । ३. बहुविधेषु दुर्नयदर्शनवर्त्मसु तत्त्वब्रह्मासमानेषु युक्त्यमात्रं

परीक्षा-वक्षुषा व्यवसाय्य अथ्यवस्य विरहितमोहता
अमूढदृष्टिता । (त. भा. ६, २४, १; भा. सा. पृ.
३; त. सुखलो. ६-२४; कांतिके. टी. ३२६) ।
४. अमूढदृष्टिश्च बालतपस्वितपोविद्यातिसायवर्शनं
मूढा स्वरूपान् चलिता दृष्टिः सम्यग्दर्शनादिरूपा
यस्याऽसावमूढदृष्टिः । (शशबं. हरि. बृ. पृ. १०२;
व्यव. भा. मलय. बृ. १-६४, पृ. २७; धर्मवि. बृ.
बृ. २-११; धर्मसं. मान. स्वो. बृ. पृ. १६) । ५. अय-
लज्जा-साहायो हिंसाऽऽरंभो ण मण्णधे धम्मो । जो
जिणवयणे लीगो अमूढविट्ठी हवे सो दु ॥ (कीर्तिके.
बृ. ४१८) । ६. यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोकीर्ण-
ज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि भावेषु मोहाभावादमूढ-
दृष्टिः । (समयप्रा. अमृत. बृ. २५०) । ७. लोके शास्त्रा-
भासे समयभासे च देवताऽऽभासे । नित्यमपि तत्त्व-
रचिना कर्तव्यमममूढदृष्टित्वम् ॥ (पु. सि. २६) ।
८. देव-धर्म-समयेषु मूढता यस्य नास्ति हृदये कदा-
चन । चित्तदोषकलितेषु सन्मतेः सोऽप्यंते स्फुटम-
मूढदृष्टिकः ॥ (अमित. भा. ३-७६) । ९. वीत-
रागसंबन्धप्रणीतागमायद् बहिर्भूतैः कुदृष्टिभिर्यत्
प्रणीतं धानुवाद-लज्जवाद-हरमेखल-भूद्रविद्या-व्यन्तर-
विकुर्वाणदिकमज्ञानिजनचित्तचमत्कारोत्पादकं दृष्ट्वा
श्रुत्वा च योऽस्ती मूढभावेन धर्मदुदृष्ट्या तत्र रचि
भक्ति न कुर्वते स एव व्यवहारोऽमूढदृष्टिरुच्यते ।
(बृ. ब्रह्मसं. टी. ४१) । १०. मनो-नाक्-कार्यैर्मिथ्या-
दर्शनादीना तद्वतां चाप्रशंसाकरणम् अमूढं सम्यग्-
दर्शनम् । (रत्नक. टी. १-१४) । ११. तदन्यज्ञान-
विज्ञानप्रशंसाविस्मयोऽभिज्ञता । युक्तियुक्तजिनोक्तेर्या
रचिः सा ऽमूढदृष्टिता । (आभा. सा. ३-६०) ।
१२. न मूढा अमूढा, अमूढा दृष्टिः रचिर्यस्यासाव-
मूढदृष्टिस्तस्य भावो ऽमूढदृष्टिता, लौकिक-साम-
यिक-बैदिकमिथ्याव्यवहारोऽपरिणामो ऽमूढदृष्टिता ।
(मूला. बृ. ५-४) । १३. जेगविह्वा इह्दीभो
पूयं परमादिणं च दट्ठण । जस्स ण मुक्कइ दिट्ठी
अमूढविट्ठिं तयं विति ॥ (व्यव. भा. मलय. बृ.
१-६४, पृ. २७ उद्धृत) । १४. यो देव-लिङ्ग-समयेषु
तमोमयेषु लोके गतानुगतिकेऽप्यपचैकपान्थे । न
द्वेषित रज्यति न च प्रचरिद्विचारः सोऽमूढदृष्टिरिह
राजति रेवतीवत् ॥ (अन. ब. २-१०३) ; अमूढा
पठनायतनस्थापाननभिभूता, दृष्टिः सम्यक्त्वं यस्या-

सावमूढदृष्टिः । (अन. ब. स्वो. टी. २-१०३) ।
१५. अमूढा ऋद्धिमत्कृतौषिकवर्शनेऽप्यविगीतमस्मद्-
दर्शनम् इति मोहरहितता, सा चाऽस्ती दृष्टिश्च बुद्धि-
रूपा अमूढदृष्टिः । (उत्तरा. ने. बृ. २८-३१) । १६.
परवाइहंवरैहि अमूढविट्ठी उ सुलसाई । (गु. गृ. व. स्वो.
बृ. ७, पृ. २७) । १७. दोषदृष्टेषु शास्त्रेषु तपस्वि-
देवतादिषु । चित्तं न मुह्यते क्वापि तदमूढं निगद्यते ।
(भावसं. नाम. ४१३) । १८. परतत्त्वेषु मोहोऽक-
कत्वं अमूढदृष्टित्वम् । (आ. भा. टी. ७७) । १९.
अनाहंतदृष्टतत्त्वेषु मोहरहितत्वममूढदृष्टिता । (त.
वृत्ति अत. ६-२४) । २०. देवे गुरो तथा धर्मं दृष्टि-
स्तत्त्वार्थदर्शिनी । क्वाता ऽप्यमूढदृष्टिः स्यादन्यथा
मूढदृष्टिता ॥ (साटीसं. ४-२७७; पंचाध्यायो
२-७७३) ।
१ कुःलोको कारवभूत कुपार्थ—मिथ्यादर्शनादि-और
उसमें स्थित मिथ्यादृष्टि जीवों की भी मन-बचन-
कायसे प्रशंसा न करना, इस का नाम अमूढदृष्टि है ।
३ जो सन्मार्ग के समान प्रतीत होने वाले मिथ्या-
मार्गों में धरोकारूप नेत्र के द्वारा युक्ति के अभाव
को देखकर—उन्हें युक्तिहीन जानकर—उनमें
गुण नहीं होता है उसे अमूढदृष्टि जानना चाहिए ।
अमूर्त—१. जे लतु इंदियगेज्जा विसया जीवेहि
हुति ते मुत्ता । सेतं हवदि अमृत × × × । (पंचा.
का. ६६) । २. स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णाभावस्त्वभावम-
मूर्तम् । (पंचा. का. अमृत. बृ. ६६) । ३. अमूर्ताः
नाम-गोत्रकर्मसयाद् रूपादित्संनिवेशमयमूर्तिरहिताः ।
(शास्त्रभा. टी. ११-५४) ।
१ जीव जिन विषयों को इन्द्रियों से ग्रहण कर सकते
हैं वे भूत होते हैं । उनसे भिन्न जोष सबको अमूर्त
जानना चाहिए । ३ नाम व गोत्र कर्मों का अर्थ हो
जाने पर रूपादिभय भूति—शरीर—से रहित भूत
जीवों को भी अमूर्त जानना चाहिए ।
अमूर्तत्व—१. × × × अमूर्तत्वं विपर्ययात् ।
(ब्रह्मानु. ११-५) । २. × × × अमूर्तत्वं गुणो
मूर्तत्वाभावसमनि (न्वि) तत्वमिति । (ब्रह्मानु. टी.
११-५) । ३. अमूर्तत्वं रूपादिरहितत्वम् । (सं-
तति. पं. पृ. २५) ।
२ भूतता के अभावकण गुण का नाम अमूर्तत्व है ।
अमूर्तब्रह्मभाव—अवगाह्यादियो अमूर्तव्यवभावो ।

(बच. पु. १२, पृ. २) ।

अबवाहण आदि को अमृत अर्थात् इष्टभाषा कहा जाता है ।

अमृतसाखी (अमरुसाखी)—१. येषां पाणिपुट-प्राप्तं भोजनं यत् किंचिदमृततामास्कन्दति, येषां वा व्याहृताणि प्राणिनाममृतवदनुग्राहकाणि भवन्ति ते अमृतसाखिणः । (त. भा. ३-३६, पृ. २०४) ।

२. जेसि हृत्पत्ताहारो अमरुसादसरूपेण परिणमइ ते अमरुसविणो जिण । (बच. पु. ६, पृ. १०१) ।

३. अमृतसाखिणो येषां पात्रपतितं कदलमप्यमृतस-कीर्यंविपाकं जायते, वचनं वा शारीर-मानसदुःख-प्राप्तानां देहिनां अमृतवस्तुनर्पकं भवति ते अमृत-साखिणः । (योगशा. स्तो. विच. १-८) । ४. येषां पाणिपात्रगतमलं वचनं चामृतवद् भवति ते अमृत-साखिणः । (त. वृत्ति भूत. ३-३६) ।

१ जिनके हाथ में रक्षा हुषा गीरस भी आहार अमृत के समान सरस बन जाय, तथा जिनके वचन अमृत के समान प्राणिनों का अनुग्रह करने वाले हों, उन्हें अमृतसाखी कहते हैं ।

अमृताखवी ऋद्धि (अमियासवी रिद्धी)—मुनि-पाणि-सठियाणि रक्ताहाराऽऽदियाणि जीय लणे । पार्षति अमियभावं एसा अमियासवी रिद्धी ॥ ग्रहवा दुःखादीणं नहेसिवयणस्स सवणकालमि । णासंति जीए सिगं सा रिद्धी अमियासवी नाम ॥ (सि. प. ४, १०८४-८५) ।

जिसके प्रभाव से साधु के हाथ में दिया गया कस भी आहार अमृत के समान स्वादिष्ट हो जाय; अबवा जिसके प्रभाव से मुक्त से निकले हुए वचन प्राणिनों को अमृत के समान हितकारी होते हैं, वह अमृताखवी ऋद्धि कही जाती है ।

अमेवक—परमार्थेन व्युत्पन्नानुत्पन्नयोतिवैककः । सर्वभावान्तरव्यतिस्वभावत्वादेवकः ॥ (नाटक स. क. १-१८) ।

आत्मा पूर्ण जातुलक्ष्य ज्योति से एक होता हुआ अत्यन्त सब भावों से रहित स्वभाव वाला है, अतएव उसे अमेवक—एक भाष्यस्वभाव—कहा जाता है ।

अमेध्य—लोपोऽमेध्येन पादावेरमेध्यं × × × (अन. व. ५-४४) ; अमेध्यं नामान्तरायो भोजनत्यागकरणं स्यात् । यः किम् ? यो लेपः उपदेहः । कस्य ? पादा-देवचरण-जङ्घा-जान्वादेः । कस्य ? साधोः स्वान्तरं

गच्छतः स्थितस्य वा । केन ? अमेध्येनासुप्तेन पुरीषा-दिद्रव्येण । (अन. व. स्तो. टी. ५-४४) ।

अपवित्र मल-मूत्रादि से साधु के पैर आदि के सिप हो जाने पर अमेध्य नामका भोजन-अन्तराय होता है ।

अम्बधारी बोध—स्वयं स्वापयति स्वापननिमित्तं विधानं बोपदिशति यस्मै दाने स दाता दानाय प्रवर्तते, तद्दानं यदि युक्ताति तदा तस्याम्बधारी नामोत्पादनदोषः । (मूला. वृ. ६-२८) ।

यदि साधु दाता के बच्चों को स्वयं बुलाता है और उनके बुलाने का उपदेश भी देता है तो चूंकि इससे दाता दान में प्रयुक्त होता है; अतएव उस दाता के द्वारा दिये जाने वाले दान को यदि साधु ग्रहण करता है तो वह अम्बधारी नामक उत्पादनदोष का भागी होता है ।

अम्ल—१. आश्रयणक्लेदनकृदम्लः । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६०; त. भा. सिद्ध. वृ. ५-२३) ।

२. जस्त कम्मस्स उदएण सरीरपोमला अंक्खिर-सेण परिणमति तं अम्लं णामकम्मं । (बच. पु. ६, पृ. ७५) । ३. अग्निदीपनादिकृद् अम्लीकाद्याश्रितो अम्लः । यदम्यदायि—अम्लोऽग्निदीपितकृतस्निग्धः शोफपित्तकापहः । क्लेदनः पाचनो रुच्यो मूढवा-तानुलोमकः ॥ यदुदयाज्जीवशरीरमम्लीकादिवद् अम्लं भवति तदम्लनाम । (कर्मवि. हे. स्तो. वृ. ४०, पृ. ५१) ।

१ आश्रयण और क्लेदन को करने वाला रस अम्ल कहलाता है । २ जिस कर्म के उदय से शरीर को पुद्गल अम्ल रस से परिणत होते हैं, उसे अम्ल नामकर्म कहते हैं ।

अयन—१. × × × उडुत्तिदयं । अयनं × × × ॥ (सि. प. ४-२८६) । २. तिण्णि उऊ अयनं । (अनुयो. १३७; जम्बूद्वी. सु. १८) । ३. तिन्नि य रिचवो अयनमेणं ॥ (जीवस. ११०) । ४. ते (ऋतवः) त्रयोऽयनम् । (त. भा. ४-१५) ।

५. ऋतवस्त्रयोऽयनम् । (त. भा. ३-३८, पृ. २०६) । ६. × × × येषां त्रयं स्यादयनं तथैकम् । (वराह. २७-६) । ७. तोहि उडूहि अयन । (बच. पु. १३, पृ. ३००) ; दिणयरस्स दक्खिणुत्तरगममयनं । (बच. पु. १४, पृ. ३६) । ८. ऋतुत्रयमयनम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ४-१५; वंशा. का. अय. वृ. २५) ।

१. अयन—१. × × × उडुत्तिदयं । अयनं × × × ॥ (सि. प. ४-२८६) । २. तिण्णि उऊ अयनं । (अनुयो. १३७; जम्बूद्वी. सु. १८) । ३. तिन्नि य रिचवो अयनमेणं ॥ (जीवस. ११०) । ४. ते (ऋतवः) त्रयोऽयनम् । (त. भा. ४-१५) ।

५. ऋतवस्त्रयोऽयनम् । (त. भा. ३-३८, पृ. २०६) । ६. × × × येषां त्रयं स्यादयनं तथैकम् । (वराह. २७-६) । ७. तोहि उडूहि अयन । (बच. पु. १३, पृ. ३००) ; दिणयरस्स दक्खिणुत्तरगममयनं । (बच. पु. १४, पृ. ३६) । ८. ऋतुत्रयमयनम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ४-१५; वंशा. का. अय. वृ. २५) ।

६. ऋतूनां त्रितयं अयनम् । (ह. पु. ७-२२; त. सुप्रबो. ३-३८; नि. सा. टी. ३१; म. पु. २-२५) । १०. तिष्ठिण उद्ध अयनमेकको दुः । (अं. टी. प. १३-७) । ११. रिउतियमूनं अयणं । (भाषसं. दे. ३१५) ।

१ तीन ऋतुओं (२×३=६ मास) को अयन कहते हैं । ७ सूर्य के दक्षिण गमन और उत्तर गमन का नाम अयन है, जिसे कम से दक्षिणायन और उत्तरायण कहा जाता है ।

अथशःकीर्ति—१. तत् (पुण्यगुणक्यापनकारण यशस्कीर्तिनाम) प्रत्यनीकफलमयशःकीर्तिनाम । (त. सि. ८-११; त. स्वो. ८-११) । २. तद्-यशोनिवर्तकयशोनाम- विपरीतमयशोनाम । (त. भा. ८-१२) । ३. तत्प्रत्यनीकफलमयशस्कीर्तिनाम । पापगुणक्यापनकारणम् अथशःकीर्तिनाम वेदितव्यम् । (त. भा. ८, ११, ३६; अ. भा. मूला. टी. २१२४) । ४. अथशःकीर्तिनामोदयादुदास्य-जनैर्निमित्तस्वभावो भवति । (पंचसं. स्वो. बु. ३-१२७) । ५. जस्स कम्मस्सुदणं संताणमसंताणं वा अयगुणानमुद्भावणं जणेण कीरदि तस्स कम्मस्स अजसकित्तिसण्णा । (अब. पु. ६, पु. ६६); जस्स कम्मस्सुदणं अजसो कित्तियज्ज लोएण त अजस-कित्तिणाम् । (अब. पु. १३, पु. ३६६) । ६. तद्धि-परीतमयशोनाम—दोषविषया प्रक्यातिरयशोना-मेति । (त. भा. सिद्ध. पु. ८-१३, पु. १६३) । ७. तत्प्रत्यनीकमपरमयशस्कीर्तिनाम, यदुदयात् सद्-भूतानामसद्भूतानां आप्यगुणानां स्थापनं तदयशस्की-र्तिनाम । (मूला. बु. १२-१६६) । ८. पापगुण-क्यापनकारणमयशस्कीर्तिनाम । (त. सुप्रबो. ८, ११) । ९. यदुदयवशान्मध्यस्थस्यापि जनस्य अग्र-शस्यो भवति, तदयशःकीर्तिनाम । (वष्ट कर्म. मलय. बु. ५; प्रज्ञाप. मलय. बु. २६३, पु. ४७५; पंचसं. बु. ३-६; कर्मप्र. बु. १-६) । १०. अथशःप्रधाना कीर्तिरयशःकीर्तिः यदुदयाज्जीवस्य लोका अवर्णवा-दादीन् गृह्णन्ति तदयशःकीर्तिनाम । (कर्मवि. परमा. ७५, पु. ३३) । ११. यदुदयात् पूर्वप्रदक्षिते यशःकीर्तिः न भवति तदयशःकीर्तिनाम । (कर्मवि. दे. स्वो. बु. ५०) । १२. पुण्ययशः प्रत्यनीकफल-मयशस्कीर्तिनाम । (श्री. क. श्री. प्र. टी. ३३) । १३. पापदोषप्रकटनकारणम् अथशःकीर्तिनाम । (त.

वृत्ति भुत्. ८-११) ।

५ जिस कर्म के उदय से जनों के द्वारा सत् और असत् अवयवों का उद्भावन किया जाता है उसे अथश-स्कीर्ति नामकर्म कहते हैं ।

अयुत—×××वशाहतं तद्वयुतं वदन्ति ॥ (वर्गास २७-७) ।

वस से युक्ति हजार (१०००×१०=१००००) को अयुत कहा जाता है ।

अयोग—१. प्रदद्यावातिर्कर्मणि शुक्लध्यान-कृशा-नुना । अयोगो याति शीलेशो मोक्ष-लक्ष्मी निरा-लवः ॥ (पंचसं. अमिता. १-५०) । २. अयोगो मनोवाककायव्यापारविकलः । (वर्मवि. बु. ८-४८, पु. १०१) ।

जो शुक्लध्यानरूप अग्नि से घातिया कर्मों को नष्ट करके योगों से रहित हो जाता है उसे अयोग वा अयोगिकेवली कहते हैं ।

अयोगिकेवली—१. न विद्यते योगो यत्र स भव-त्ययोगः, केवलमस्यास्तीति केवली, अयोगप्रवासी केवली च अयोगिकेवली । (अब. पु. १, पु. १६२) । २. योगानां तु श्रये जाते स एवायोगिकेवली । (योग-शा. १-१६) ।

केवलो अयोग ।

अयोगव्यवच्छेद—१. विशेषणसंगतैवकारोऽयोग-व्यवच्छेदबोधकः, उद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरणा-भावाप्रतियोगित्वम् ॥ (सप्तमं. पु. २५) । २. वि-शेषणेन सह उक्तः (एवकारः) अयोगं व्यवच्छिन्तति । (सिद्धिबि. ३२-३३, पु. ६४७) ।

विशेषण के साथ प्रयुक्त एवकार (अवधारणार्थक अव्यय) को अयोगव्यवच्छेद कहते हैं । जैसे—शंख वाष्पुर् ही होता है ।

अयोगिकेवलिनगुणस्थान—योगः पूर्वोक्तो विद्यते यस्यासौ योगी, न योगी अयोगी, अयोगी चासौ केवली च अयोगिकेवली, तस्य गुणस्थानमयोगि-केवलिनगुणस्थानम् । (पंचसं मलय. बु. १-१५, पु. ३२) ।

योग से रहित हुए अयोगिकेवली के गुणस्थान (१४) को अयोगिकेवलिनगुणस्थान कहते हैं ।

अयोगिकेवली—तदो कमेण विहरिय जोगणिरोंहं काऊण अयोगिकेवली होदि । (अब. पु. १, पु. २२३) जो योगों का निरोध कर चुके हैं, ऐसे जीवहों गुण

स्थानवर्ती जिन अयोगिकेवली कहलतें हैं।

अयोगिजिन—१. जेसि न सति जोगा सुहासुहा पुण्णपावसंजणया । ते होति अयोगिजिना अणोच-माणंतवलकलिया ॥ (प्रा. पंचसं. १-१००; अच. पु. १, पृ. २८० उद्धृत; गो. जी. वा. २४२) । २. अनोबाक्कायवर्गणालम्बनकर्मदातनिमित्तात्स-प्रदेशपरिस्पन्दलक्षणयोगरहिताश्चतुर्दशगुणस्थानवति-नो ज्योगिजिना भवन्ति । (बृ. ब्रह्मसं. टी. १३) । ३. जिनके पुण्य-पाप के जनक सुख-असुख योग नहीं पाये जाते ऐसे अनुपम अनन्त बल से युक्त जिनेश्वरों को अयोगिजिन कहते हैं ।

अयोगिजिनगुणस्थानकाल—पञ्चलभ्रमजरकाल-स्थितिकमयोगिजिनसंज्ञं चतुर्दशं गुणस्थानं वेदि-तव्यम् । (स. वृत्ति भूत. ६-१) ।

जिस गुणस्थान की स्थिति अ, इ, उ, ऋ और लृ इन पाँच ह्रस्व अवस्थाओं के उच्चारणकाल के बरा-बर है उसे (१४) अयोगिजिनगुणस्थान कहते हैं । अयोगिभवस्थकेवलज्ञान—शैलेश्यवस्थायामयोगि-भवरथकेवलज्ञानम् (आच. नि. मलय. बु. ७८, पृ. ८३) शैलेशो अवस्था में होने वाले अयोगिकेवली के केवलज्ञान को अयोगिभवस्थकेवलज्ञान कहते हैं । अयोगी—न यांमी अयोगी । (अच. पु. १, पृ. २८०) ।

जो योगी—योगयुक्त-नहीं है, उसे अयोगी कहते हैं । अरण्य—मनुष्यसंचारक्ष्य वनस्पतिजातवल्ली-गुलमप्रभृतिभिः परिपुणं मरण्यम् । (नि. सा. बु. ५८) । मनुष्यों के आवागमन से क्षूय और बुल, बेलि, लता एवं गुल्मादि से परिपूर्ण स्थान को अरण्य कहते हैं ।

अरति—१. यदुदयाहं साविषु ओत्सुक्यं सा रतिः । अरतिस्तद्विपरीता । (स. सि. ८-६; स. भा. ८, ६, ४; स. सुखबो. ८-६) । २. एतेष्वेव (बाह्या-भ्यन्तरेषु वस्तुषु) अतीतिरतिः । (आ. प्र. टी. १८) ३. दध्यन्ते-कालभावेसु जेसिमुदण जीवस्स अरई समुप्पज्जइ तेसिमरदि त्ति सण्णा । (अच. पु. ६, पृ. ४७); नन्व-पुत्र-कलत्रादिषु रमणं रतिः । तत्प्रति-पक्षा अरतिः । (अच. पु. १२, पृ. २८५); जस्स कम्मस्स उदण दध्यन्ते-काल-भावेसु अरई समु-प्पज्जदि तं कम्मं अरई णाम । (अच. पु. १३, पृ. ३६१) । ४. रमणं रतिः संयमविषया वृत्तिः, तद्वि-

परीता त्वरतिः । (उत्तरा. नि. सा. बु. ८६, पृ. ८२) । ५. अरतिस्व तन्मोहनीयोदयजनितश्चित्तवि-कारः उद्वेगलक्षणः । (स्थानांग अमय. बु. १-४८, पृ. २४) । ६. अरतिमोहनीयोदयाचित्तोद्वेगः । (औपया. अमय. बु. ३४, पृ. ७६) । ७. अरतिमनि-सो विकारः । (समवा. अमय. बु. २२, पृ. ३६) । ८. सच्चित्ताचित्तसु य बाहिरदब्बेसु जस्स उदणं । अरई होइ ह्म जीये सो उ विवागो अरइमोहे । (कर्मवि. गर्भ म. ५७, पृ. २७) । ९. यदुदयवशात् पुनर्बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु अतीति करोति तद्वरतिमोह-नीयम् । (अर्णसं. मलय. बु. ६१५, पृ. २३१; प्रज्ञाप. मलय. बु. २३-२६३, पृ. ४६६; पंचसं. बु. ३-५) । १०. अरतिस्त्वैगः अशुभपरिणामः । (भूला. बु. ११, १०); न रमते न रम्यते वा यथा साऽरतिर्यस्य पुद्गलस्कन्धस्योदयेन ब्रह्मादिव्यवृत्तिर्जायते तस्या-रतिरिति संज्ञा । (भूला. बु. १२-१६२) । ११. यदु-दयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा जीवस्य बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुष्वरतिः अतीतिर्मयति तत् अरतिमोहनीयम् । (कर्मवि. वे. स्तो. बु. २१, पृ. ३७-३८) । १२. तथा यदमनोभेषु शब्दादिविषयेषु संयमे वा जीवस्य चित्तोद्वेगः सा अरतिः । (बृहत्क. सं. बु. २२, पृ. ४१) । १३. यदुदयाद् देश-पुत्र-ग्राम-मन्दिरादिषु तिष्ठन् जीवः रति तत्राग्रे, परदशादिगमने चोत्सुक्यं करोति सा रतिः । रतिविपरीताऽरतिः । (स. वृत्ति भूत. ८-६) ।

१ जिसके उदय से वेशादि के विषय में अनुत्सुकता होती है उसे अरति (नोकषाय) कहते हैं । ३ पुत्र-पौत्रादिकों में जो प्रीति का आभाव होता है उसका नाम अरति है ।

अरतिपरीषहजय—१. सयतस्येन्द्रियेष्टविषय-सम्बन्धं प्रति निरुत्सुकस्य गीतन्तुय वादित्रादि-विरहितेषु क्षान्त्यागार-वेवकुल-तस्काटर-शिला-गुहा-दिषु स्वाध्याय-ध्यान-भावनारतिमास्कन्दतो दृष्ट-श्रुतानुभूतरति-स्मरण-तत्कथाश्रवण - कामशरप्रवेश-निविवरहृदयस्य प्राणिषु सदा सदयस्यारतिपरीषह-जयोऽवसेयः । (स. सि. ६-६) । २. संयमे रति-भावावरतिपरीषहजयः । संयतस्य × × × अरति प्रादुष्यती वृत्तिविशेषान्निवारयतः सयमरतिभाव-नात् विषयसुखरतिविषाहारसेवेव विपाककटुकेति चिन्तयतः रतिपरिबाधाभावावरतिपरीषहजय इति

निष्पीयते । (त. बा. ६, ६, ११; बा. सा. पु. ५१) । ३. दुवारिन्द्रियवृन्दरोगनिकरकूरादिबाधोत्करैः श्रोद्भूतामरतिं श्रोतोत्करपरित्राणे गुणोत्पोषणे । मंजु क्षीणतरां करोत्यरतिजिद् बीरः स बन्धः सतां यो वण्मयदण्डनाहितमतिः सत्यप्रतिजो व्रती ॥ (भाषा. सा. ७-१५) । ४. लोकापवादभय-सद्व्रतरक्षणा-शरोषक्षुदादिभिरसहामुदीर्यमाणाम् । स्वात्मोन्मुखो घृतिविशेषहृतेन्द्रियायं वृणुः शृणात्वरतिमाश्रितसंयमधीः ॥ (अन. ब. ६-६५) ।

१ महाव्रतों का परिपालन करने वाले संयत के अशीष्ट विषयों के प्रति उत्पुङ्गता न रहने से जो वह गीत, नृत्य और वादित्रादि से बिहीन शून्य (निर्जन) गृहादि में रहता हुआ स्वाध्याय व ध्यान में अनु-रक्त रह कर कामकाजि के अवश आदि से विर-हित होता है, यह उसका भरतिरतिवृत्त है ।

भरतिरति—भरतिः भरतिमोहनीयोदयाचिन्तोद्वेगः, तत्फल रतिः विषयेषु मोहनीयाचिन्ताभरतिः भरतिरतिः । (श्रीपपा. अमय. पु. ३५, पृ. ७६) । भरतिमोहनीय के उदय से होने वाली चिन्तोद्वेगरूप रति के फलस्वरूप जो विषयों में मन को अनुराग होता है उसे भरतिरति कहा जाता है ।

भरतिवाक्—१. तेषु (शब्दादिविषय-देशादिवु) एवारत्युपादिका भरतिवाक् । (त. बा. १, २०, १२, पु. ७५; अच. पु. १, पृ. ११७) । २. तेषु (इदिविषयेषु) अरडउपाद्या अरविवाया । (अंग-पण्णत्ती पृ. २६२) ।

इन्द्रियविषयों में भरति उत्पन्न करने वाले लक्षणों को भरतिवाक् कहते हैं ।

अरहस्—अरहं ति अरहं अशोकादिमहापूजाहंत्वात्, अविद्यमान वा रह. एकांत प्रच्छन्न सर्वज्ञत्वाद् यस्य सोऽरहा । (श्रीपपा. अमय. पु. १०, पृ. १५) ।

अशोकादि पूजा के जो योग्य हैं वे अरहन् कहलाते हैं । अरवाह रहस् शब्द का अर्थ एकान्त या गुप्त होता है, सर्वज्ञ हो जाने से जिनके लिए कोई भी पदार्थ रहस् (गुप्त) नहीं रहा है, अर्थात् जिनके सर्वज्ञत ज्ञान से कुछ भी बचा नहीं है, वे अरहस् (अरहंत जिन या केवली) कहलाते हैं ।

अरहस्कर्म—रहः अन्तरम्, अरहः अनन्तरम्, अरहः कर्म अरहस्कर्म । (अच. पु. १३, पृ. ३५०) ।

रहस् शब्द का अर्थ अन्तर और अरहस् शब्द का

अर्थ अनन्तर—अन्तर से रहित (अनावि)—होता है, अरहस् अर्थात् अन्तर से रहित जो अनावि कर्म है, वह अरहस्कर्म कहलाता है ।

अरिष्ट—न विद्यते ऽरिष्टम् अकल्याणं येषां ते अरिष्टाः । (त. वृत्ति भूत. ४-२५) ।

जिनके अकल्याण-जनक कोई वस्तु न पाई जावे उन लौकान्तिक देवों को अरिष्ट कहते हैं । वह लौकान्तिक देवों का एक भेद है ।

अरुण—अरुणः उद्यद्भास्करः, तद्वत्जोविराजमानाः अरुणाः । (त. वृत्ति भूत. ४-२५) ।

जो उदित होते हुए सूर्य के समान तेज से मुशीभित होते हैं, वे अरुण नामक लौकान्तिक देव कहलाते हैं ।

अरुहा—न रोहन्ति न भवाङ्कुरोदयमासयन्ति, कर्मबीजाभावादिति अरुहाः । (पञ्चसूत्र व्याख्या २) । कर्मरूपी बीज के विनष्ट हो जाने से जो संसार-रूपी अंकुर की उत्पत्ति का आशय नहीं लेते, अर्थात् जिनका संसार सदा के लिए मध्य हो चुका है, उन्हें अरुह (अरहत) कहा जाता है ।

अरूप ध्यान—१. अरूप ध्यायति ध्यान पर संवेद-नात्मकम् । सिद्धरूपस्य लाभाय नीरूपस्य निरेनसः ।

(अमि. बा. १५-५६) । २. व्योमाकारमनाकारं निष्पन्नं शान्तमच्युतम् । चरमाङ्गात् कियन्मूलं स्व-प्रदेशैर्नैः स्थितम् ॥ लोकाग्रविश्रारसीन शिबी-भूतमनामयम् । पुरुषाकारमापन्नमप्यमृतं च चिन्त-येत् ॥ निष्कलस्य विशुद्धस्य निष्पन्नस्य जगद्गुरोः । विदालन्दमयस्योच्चैः कथं स्यात् पुरुषाकृतिः ॥ विनिर्गतमपूच्छिष्टप्रतिमे भूविकोदरे । यादुगगन-संस्थानं तदाकारं स्मरेद् विभुम् ॥ (मानार्णव ४०, २२-२५) ।

१ रूपरहित (अमूर्तिक) निर्मल सिद्धस्वरूप की प्राप्ति के लिए रूपावि से रहित और पाप-पंक से विमुक्त हुए सिद्ध के स्वरूप का जो संवेदनात्मक ध्यान किया जाता है, उसे अरूप (रूपतीत) धर्म ध्यान कहते हैं ।

अरूपी—१. न विद्यते रूपमेवामित्यरूपाणि । रूप-प्रतिषेधे तत्सहचारिणां रसादीनामपि प्रतिषेधः । तेन अरूपाण्यमृतनीत्यर्थः । (स. सि. ५-४) । २. गुणा-विभागपश्छिन्नेति समाणा जे णिद्ध-लुक्लसगुणजुत्तपो-गला ते खविणो णाम, विसरिसा पोगला अरुविणो णाम । (अच. पु. १४, पृ. ३१-३२) । ३. शब्द-

रूप-रस-स्पर्श-गन्धात्यन्तव्युदासतः । पञ्च द्रव्याध्य-
रूपाणि × × × ॥ (त. सा. ३-१६) ।

२ जो लिङ्ग-गन्ध-पुद्गल-गुणाविभागाप्रतिच्छेदों से
समान होते हैं वे रूपी और उनसे भिन्न अरूपी
कहलाते हैं । ३ जो पाँच द्रव्य शब्द, रूप, रस,
गन्ध और स्पर्श से रहित हैं उन्हें अरूपी कहते हैं ।
अरूप्यालम्बनी—सः (स्वरूपानन्दपिपासितः) एव
अहंस्तिष्ठत्स्वरूपं ज्ञान-दर्शन-चारित्र्याद्यन्तर्पर्यायवि-
शुद्धशुद्धाध्यात्मधर्मम् अवलम्बते इति अरूप्यालम्बनी ।
(भा. सा. वृ. २७-६) ।

आत्मस्वरूप ज्ञानव्याप्त-यान के इच्छुक पुरुष के
द्वारा अहंस्त व सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप का तथा
ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यादि अनन्त पर्यायों से विशुद्ध शुद्ध
आत्मा का आलम्बन करके जो ध्यान किया जाता
है, उसे अरूप्यालम्बनी वृत्ति कहते हैं ।

अर्चना (अर्चनरा) — चर-बलि-गुण-फल-गन्ध-
धूव-दीवारीहि सगमत्पिपासो अर्चना । (बब. पु.
८, पृ. ६२) ।

बब, बलि (नैवेद्य), गुण, फल, गन्ध, धूव और दीप
आदि के द्वारा अपनी भक्ति के प्रकाशित करने को
अर्चना कहते हैं ।

अर्चा—अर्चा—तथा आलिताद्भेदेः सयतस्य गन्धा-
क्षतादिभिः पावपूजनम् । (सा. व. टी. ५-४५) ।
साधु का पावप्रक्षालन करके जो उसकी गन्ध व
क्षत आदि से पावपूजा की जाती है, इसका नाम
अर्चा है ।

अर्चि (अर्चनी)—१. अर्चनी नाम आगासानुगमा
परिच्छिन्ना अग्निसिद्धा । (बसव. वृ. पृ. १५६) ।
२. बाह्यप्रतिबद्धो ज्वालाविशेषोऽर्थः । (आचार्य
श्री. वृ. १, १, ३, पृ. ११८, पृ. ४४) ।

अग्नि की ऊपर उठती हुई ज्वाला या शिखा को
अर्चि कहते हैं ।

अर्थ (जय)—१. अर्थते इत्यर्थः, निर्वचीयते इति यावत्
(त. सि. १-२) । २. तत्र अर्थन्ते इत्यर्थाः, अर्थन्ते
गम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते इति यावत् । ते च रूपादयः ।
(आच. नि. हरि. व मलय. वृ. ३) । ३. अर्थते परि-
च्छिद्यते गम्यते इत्यर्थो द्वादशांगविषयः । (बब. पु.
६, पृ. २५६) । ४. अर्थते गम्यते ज्ञायते निर्वचीयते
इत्यर्थः । (त. वृत्ति अत. १-२) । ५. × × ×
अर्थः स्व-परगोचरः । (साटीसं. ३-४६) ।

१ जिसका निश्चय किया जाता है अर्थात् जो ज्ञान
के द्वारा जाना जाता है उसे अर्थ कहते हैं ।

अर्थ (द्रव्य)—१. द्रव्याणि गुणा तेसि पञ्चाया
मट्टसण्णिया भगिया । (प्रब. सा. १-८७) ।

२. प्रतिक्षणं स्थित्युदय-व्याप्तात्मतत्त्वव्यवस्थं सदि-
हार्यरूपम् । (मुक्त्यनु. ४६) । ३. परापरपर्याया-
वाप्ति-परिहार-स्थितिलक्षणेऽर्थः । (प्रमाणसं. स्तो.
वृ. ७-६६, पृ. १२१, पं. २२-२३) । ४. तद्द्रव्य-
पर्यायात्मार्यो बहिरन्तश्च तत्त्वतः । (सुप्रिय. ७) ।

५. अनेकपर्यायकलापमाजोऽर्थः । (त. भा. सिद्ध.
वृ. ६-६) ; अर्थः परमाष्वादिः । (त. भा. सिद्ध.
वृ. ६-४६) । ६. अर्थः अर्थक्रियासमर्थः प्रमाण-
गोचरो भावः द्रव्य-पर्यायात्मकः । (न्यायकु. २-७,
पृ. २१३, पं. २२-२३) । ७. मानेनार्थ्यते इत्यर्थ-
स्तत्त्वं चार्थः स्वरूपतः ॥ स्थित्युपपत्तिव्याप्ता द्रवति
द्रोष्यत्यपदुद्भवत् । स्वपर्यायानिति द्रव्यमर्थोस्तान् विव-

क्षितान् ॥ (आभा. सा. ३, ६-७) । ८. द्रव्याणि
च गुणाश्च पर्यायाश्च अभिधेयभेदेऽप्यभिधानभेदेन
अर्थाः । तत्र गुण-पर्यायान् प्रति गुण-पर्यायैर्यन्त
इति वा अर्थाः द्रव्याणि, द्रव्याण्याश्रयत्वेन प्रति-

द्रव्यैराश्रयभूतैर्यन्त इति वा अर्था गुणाः, द्रव्याणि
क्रमपरिणामेनेति द्रव्यैः क्रमपरिणामेनार्थते इति वा
अर्था पर्यायाः । (प्रब. सा. अमृत. वृ. १-८७) ।

९. अनन्तज्ञान-सुखादिगुणान् तथैवामूर्तत्वातीन्द्रियस्व-
सिद्धत्वादिपर्यायाश्च इयति गच्छति परिणमति
आश्रयति येन कारणेन तस्मादर्थो भण्यते । (प्रब.
सा. जय. वृ. १-८७) । १०. अर्थो ध्येयो ध्यानीयो

ध्यातव्यः परार्थः द्रव्यं पर्यायो वा । (कार्तिके. टी.
४८७) ।

३ जो एक (तबीन) पर्याय को प्राप्ति (उत्पाद),
पूर्व पर्याय का विनाश (अप्य) और स्थिति (अर्थ्य)
से सहित होता है वह अर्थ (द्रव्य) कहलाता है ।

अर्थ (अभिधेय)—१. अर्थो वाक्यस्य भावार्थः ।
(भा. सा. वृ. २७-५) । २. अर्थः शब्दस्याभिधेयम् ।
(बोडसक वृ. १३-४) ।

शब्द या वाक्य के वाक्य को अर्थ कहा जाता है ।

अर्थ (पुरुषार्थ)—१. यतः सर्वप्रमोजनसिद्धिः सो-
ऽर्थः । (नीतिभा. २-१; योगशा. वृ. १-५२, पृ.
१५४; आ. गृ. वि. पृ. ४; धर्मसं. मान. स्तो. वृ.
१, १४, पृ. ६) । २. अर्थो वैश्यादिव्यसनव्यावर्तनेन

निष्प्रसूहमर्थस्योपार्जनादुपाजितस्य च रक्षणाद्वरजितस्य च वर्द्धनाद् यथाभ्याम् ग्राममुवर्णादिसम्पत्तिः । (सा. च. स्वो. टी. २-५६) ।

१ समस्त प्रयोजन के साधनभूत वन का नाम अर्थ है ।

अर्थ (अभिलषणीय) — १. अर्थात् अभिलष्यते प्रयोजनार्थिभिरित्यर्थो हेय उपादेयश्च । (प्र. क. मा. पृ. ४, पं. २२-२३) । २. अर्थः व्यवहारिणा हेयत्वेन उपादेयत्वेन वा प्राध्यमानो भावः । (न्यायकु. १-५, पृ. ११६) ।

१ प्रयोजनार्थों के लिए जो वस्तु अभीष्ट होती है उसे अर्थ कहा जाता है ।

अर्थ (सम्यक्त्वभेद) — १. सजातार्थात् कुतश्चित् प्रवचनवचनाग्न्यस्तरेणार्थद्विष्टः । (भ्रातृमानु. १४) ।

२. प्रवचनविषये स्वप्रत्ययसमर्थोऽर्थः (उपासका. पृ. ११४; अम. च. स्वो. टी. २-६२) ।

१ आगमबचनों के बिना किसी अर्थविशेष के आशय से जो तत्त्वबद्धान् होता है उसे अर्थ सम्यक्त्व कहते हैं ।

अर्थकथा — १. विज्ञा-सिण्मुवाप्रो ग्रणिवेप्रो सचप्रो य दक्कलत् । सामं दण्णो भेप्रो उवणयाणं च अत्य-कहा ॥ (वसवै. नि. १८६, पृ. १०६) । २. अत्य-कहा नाम जा अत्यनिमित्तं कहा कहिज्जइ सा अत्य-कहा । (वसवै. बु. पृ. १०२) । ३. विद्यादिरर्थस्तत्प्रधाना कथाऽर्थकथा । (वसवै. हरि. बु. पृ. १०७) । ४. अर्थस्य कथा अर्थार्जितोपायकथनप्रबन्धाः सेवाया वाणिज्येन लेखवृत्त्या कृषिकर्मणा समुद्रप्रवेशेन शत्रुवादेन मंत्रतंत्रप्रयोगेण वा इत्येवमाद्यर्थार्जनिमित्तवचनार्थकथाः । (भूला. बु. ६-८६) । ५. सामादि-शत्रुवादादि-कृष्यादिप्रतिपादिका । अर्थोपादानपरमा कथार्थस्य प्रकीर्तिता ॥ (मु. गु. च. स्वो. बु. २, पृ. ५) ।

४ सेवा, कृषि व वाणिज्य आदि के द्वारा वन के उपार्जन करने के कारणभूत वचनप्रबन्ध को अर्थकथा कहते हैं ।

अर्थकरण — अर्थभिनिवर्तकमधिकरण्यादि जैन द्रम्मादि निष्पाद्यते, अर्थार्थ वा करणमर्थकरणं यत्र यत्र राज्ञोऽर्थविचल्यन्ते, अर्थ एव वा तैस्तैरुपायैः क्रियत इत्यर्थकरणम् । (उत्तरा. नि. भा. बु. ४, १८४, पृ. १६५) ।

जिसके द्वारा द्रव्यों—सोना व चांदी आदि के सिक्कों—आदि का उत्पादन होता है, अथवा वना-र्जन के लिए जो कुछ किया जाता है उसे अर्थकरण कहते हैं । अथवा विविध उपायों से अर्थ-उपार्जन करने को अर्थकरण कहते हैं ।

अर्थकर्त्ता—तेसिमणेयाणं बीजपदाणं दुवालसंग-प्याणमठारस-सत्तसय-भास-कुभासकूवाणं पस्वभो अत्यकत्तारो नाम । (अम. पु. ६, पृ. १२७) ।

अठारह भावा व सत्त सौ कुभावा रूप आबशांग-स्वरूप अनेक बीजपदों की प्ररूपणा करने वाला अर्थकर्त्ता कहलाता है ।

अर्थकल्पिक—अत्यस्स कप्पितो खलु आवासममादि जाव सुयगडं । योत्तणं छेयसुयं जं जेणऽहियं तदट्टस्स । (बृहत्क. ४०८) ।

जिसने आबदयक सूत्र से लगाकर सूत्रकृतांग तक के सूत्रों के अर्थ का अध्ययन किया है, तथा सूत्रकृतांग सूत्र से ऊपर भी छेवसूत्र को छोड़ कर समस्त सूत्रों के अर्थों को पढ़ा है, ऐसे साधु को अर्थकल्पिक कहते हैं ।

अर्थक्रिया — १. तत्र त्रिलक्षणाभावतः अवस्तुनि परिच्छेदलक्षणार्थक्रियाभावात् । (अम. पु. ६, पृ. १४२) । २. अर्थक्रिया—अर्थस्य ज्ञानस्य अग्न्यस्य वा क्रिया करणम् । (न्यायकु. २-८, पृ. ३७२) । ३. अर्थ-क्रिया—अर्थस्य कार्यस्य क्रिया करणं निष्पत्तिः । (लघीय. अमय. बु. २-१, पृ. २२) । ४. तत्रार्थक्रिया ऽर्थदण्डरूपा । (मु. गु. बट्ट. स्वो. बु. १५, पृ. ४१) ।

१ वस्तु का ज्ञान का विषय होना, यही उसकी अर्थक्रिया है । ३ अथवा अर्थ शब्द का अर्थ कार्य है, उस कार्य का करना, यह वस्तु की अर्थक्रिया है । ४ प्रयोजनसिद्धि के लिए जो प्राणिपीडनात्मक क्रिया की जाती है वह अर्थक्रिया कही जाती है ।

अर्थक्रियाकारिता—पूर्वाकारपरिहारात्तराकारस्वी-कारावस्थानस्वरूपलक्षणपरिणामेन वस्तूनामर्थक्रिया-कारिता । (स्था. रह. पृ. ६) ।

पूर्व आकार के परित्याग (अप्य), उत्तर आकार के ग्रहण (उत्पाद) और अवस्थान (प्रोध्य) स्वरूप परिणाम से वस्तुओं के अर्थक्रियाकारिता हुआ करती है ।

अर्थचर—अर्थेषु चरन्ति पर्यटन्ति अर्थचराः कार्य-

नियुक्ताः कनकव्यासादिसदृशाः । (त. वृत्ति भुल. ४-४) ।

जो अर्थ के विषय में पर्यटनशील रहते हैं, ऐसे कार्य में नियुक्त भुवर्णाध्यक्ष आदि के सदृश अर्थचर कहलाते हैं ।

अर्थज—देखो अर्थ (सम्पत्ति) । १. वाग्विस्तर-परित्यागाद्युपदेशमहायतेः । अर्थमात्रसमादानसमुत्थादचिरार्थजा । (स. पु. ७४-४४७) । २. अङ्गबाह्य-भूतोपमत्वात् कुतश्चिदर्थवदङ्गबाह्यभूतं विनापि यत्प्रभवति तत्सम्पत्त्यर्थं अर्थसम्पत्त्वं निगद्यते । (वर्णन-प्रा. टी. १२) ।

१ उपवेष्टा के वचनविस्तार के बिना ही अर्थ मात्र के ग्रहण से उत्पन्न हुए सम्पदवर्धन को अर्थज सम्पद-वर्धन कहते हैं ।

अर्थदण्ड—१. अर्थः प्रयोजनं गृहस्थस्य क्षेत्र-वास्तु-धन-शरीर-परिजनादिविषयम्, तदर्थम् आरम्भो भूतोपमदोऽर्थदण्डः, दण्डो निग्रहो यातना विनाश इति पर्यायाः । अर्थेन प्रयोजनेन दण्डोऽर्थदण्डः, स चैव भूतविषयः उपमर्दनलक्षणे दण्डः क्षेत्रादिप्रयोजनमपेक्षमाणोऽर्थदण्ड उच्यते । (आच. हरि. बृ. ६, पृ. ८३०) । २. दण्डः प्राणातिपातादिः, स चार्थाय इन्द्रियादिप्रयोजनाय यः सोऽर्थदण्डः । (स्थालांग अथव. बृ. पु. ६६, पृ. ४४) । ३. यः स्व-स्वीय-स्वजनादिनिमित्तं विधीयमानो भूतोपमदः सोऽर्थदण्डः, सप्रयोजन इति यावत् । प्रयोजनं च येन विना गार्हस्थ्यं प्रतिपालयितुं न शक्यते, सोऽर्थदण्डः । × × × यदाह—ज इदिय-सयणाई पडुच्च पावं करेज्ज सो होई । अत्थो दण्डो इत्तो अन्नो उ अण-त्पदंओ ति ॥ (धर्मसं. मान. त्त्वो. बृ. २-३५, पृ. ८१) ।

१ क्षेत्र, वास्तु, धन, शरीर व परिजन आदि विषयक जो गृहस्थ का प्रयोजन है उसको सिद्ध करने के लिए जो प्राणिपौडाजनक आरम्भ किया जाता है उसका नाम अर्थदण्ड है ।

अर्थबुधरा (व्यसनभेद)—१. अतिव्ययोऽप्राप्तव्ययवर्चार्थस्य रूपण । (नीतिशा. १६-१६, पृ. १७८) । २. अर्थोत्पत्तिहेतवो ये सामाद्युपायचतुष्टयप्रभृतयः प्रकारास्तेषां यद् बुधर्ण तदर्थबुधराव्यसनम् । (बृहत्क. बृ. ६४०) ।

१ अत्यधिक व्यय और अयोग्य पात्र के लिए किये

गये अर्थक व्यय का नाम अर्थबुधरा है । यह एक राजा को नष्ट करने वाला व्यसन है । २ धन कमाने के जो साधन आदि चार उपाय हैं उनमें बुधरा लगाने को अर्थबुधरा व्यसन कहते हैं ।

अर्थनय—१. अर्थ-व्यञ्जनपर्यायिनिभिन्नतिङ्ग-संस्था-काल-कारक-पुरुषोपग्रहभेदेरभिन्न वर्तमानमात्र वस्तु-प्यवस्थन्तोऽर्थनयाः, न शब्दभेदेनार्थभेद इत्यर्थः । (अथ. पु. १, पृ. ८६); क्रिया-गुणाद्यर्थगतभेदेनार्थ-भेदेनात् संग्रह-व्यवहारजुंमूत्राः अर्थनयाः । (अथ. पु. ६, पृ. १८१) । २. वस्तुनः स्वार्थं स्वधर्मभेदेन भिन्नानोऽर्थनयः, अभेदको वा । अभेदरूपेण सर्वं वस्तु इति एति गच्छति इत्यर्थनयः । (जयध. १, पृ. २२३); सहायिणरवेकत्वा अर्थनया । (जयध. १, पृ. २२३) । ३. अर्थनयाः अर्थमेव प्राधान्येन शब्दो-पसर्जनमिच्छन्ति । (सूत्रक. शी. बृ. २, ७, ८१, पृ. १८७) । ४. अर्थप्रधानो नयः अर्थनयः । (अष्टस. बृ. १६, पृ. २१२) ।

१ जो नय अर्थ और व्यञ्जन पर्यायों के साथ विविध लिपि, संख्या, काल, कारक, पुरुष और उपग्रह के भेद से अभिन्न वर्तमान मात्र वस्तु को विषय किया करते हैं उन्हें अर्थनय कहते हैं ।

अर्थनिर्यापणा—अर्थः सूत्राभिधेय वस्तु, तस्य निरितं भूयं यापना निर्वाहणा पूर्वापरसाङ्गत्येन स्वयं ज्ञानतोऽन्येषां च कथनतो निर्गमना निर्यापणा । (उत्तरा. नि. शा. बृ. १-५८, पृ. ३६) ।

सूत्रार्थ का पूर्वापर संगति के साथ अपने लिये ज्ञान से तथा अन्यो के लिए वचनों से निर्वाह करना, इसका नाम अर्थनिर्यापणा है । यह वाचनासम्पत् का अन्तर्गम भेद है ।

अर्थपद—१. जेतिएहि अक्खरेहि अत्थोवल्लो होदि, तं अत्यपदं । (अथ. पु. ६, पृ. १६६; पु. १३, पृ. २६६) । २. जेतिएहि अक्खरेहि अत्थो-वल्लो होदि, तेसि अक्खराणं कलावो अत्यपदं नाम । (जयध. १, पृ. ६१); तस्य जेहि अक्खरेहि अत्थोवल्लो होदि तमत्यपदं । वाच्यमर्थपदमित्यन-वर्तितरम् । (जयध. २, पृ. १७); जतो सोदाराणं पयदत्यविसए सम्मवगमो समुप्यज्जइ तमद्वस्स वाच्यं पदमदुपदमिदि अण्णदे । (जयध. पत्र ६८४) । २ जितने अक्षरों के द्वारा अर्थका परिज्ञान हो जाता है उनके समुदायक पद का नाम अर्थपद है ।

अर्थपर्याय—१. अनुसन्धुक्गुणपदबुद्धि-हानिरूपेण प्रतिक्षणं प्रवर्तमाना अर्थपर्यायाः । (प्रब. सा. अथ. बृ. १-८०); प्रतिमयपरिणतिरूपा अर्थपर्याया भव्यन्ते । (प्रब. सा. अथ. बृ. २-३७) । २. सूक्ष्मोऽवागोचरो वेद्यः केवलज्ञानिनां स्वयम् । प्रतिक्षणं विनाशी स्यात्पर्यायो ह्यर्थसंज्ञकः । (भाषसं. वाच. ३७६) । ३. अर्थपर्यायो भूतत्व-भविष्यत्वसंस्पर्श-रहितशुद्धवर्तमानकालावच्छिन्नं वस्तुस्वरूपम् । (भ्या. शी. पृ. १२०) । ४. प्रतिव्यक्त्यनुगतं सत्त्वं चार्थ-पर्यायः । (स्या. रह. पत्र १०) ।

१ अनुसन्धुक् गुण के निमित्त से छह प्रकारकी बुद्धि एवं हानिरूप से जो प्रतिक्षण पर्याय उत्पन्न होती हैं, उन्हें अर्थपर्याय कहते हैं ।

अर्थपर्यायनैगम—अर्थपर्यायोस्तावद् गुण-मुख्यत्व-भावतः । क्वचिद्वस्तुन्यभिप्रायः प्रतिपत्तुः प्रजायते ॥ यथा प्रतिक्षणध्वंसि सुखसंविच्छरीरिणः । (त. श्लो. १, ३३, २८-२९, पृ. २७०) ।

जो अर्थपर्यायों में एक की गौणता और दूसरे की मुख्यता करके विभक्तित वस्तु के विषय में जो ज्ञाता का अभिप्राय होता है उसे अर्थपर्याय-नैगम कहते हैं । जैसे—शरीरधारी आत्मा का सुख-संवेदन प्रतिक्षण विनाश को प्राप्त हो रहा है । यहाँ पर उत्पाद-व्यय-प्रोव्ययुक्त सत्तारूप अर्थपर्याय तो विरोध होने से गौण है और संवेदनरूप अर्थपर्याय विरोध होने के कारण मुख्य है ।

अर्थपर्यायाशुद्धद्रव्यनैगम—क्षणमेकं सुखी जीवो विषयीति विनिश्चयः । विनिदिष्टोऽर्थपर्यायाशुद्ध-द्रव्यनैगमः ॥ (त. श्लो. १, ३३, ४२ पृ. २७०) । अर्थपर्यायको गौणरूपसे और अशुद्ध द्रव्य को प्रधान रूप से विषय करने वाले नय को अर्थपर्यायाशुद्ध-द्रव्यनैगमनय कहते हैं । जैसे—विषयी जीव एक क्षण मात्र सुखी है । यहाँ पर सुखरूप अर्थपर्याय तो गौण है और संसारी जीवरूप अशुद्ध द्रव्य मुख्य है ।

अर्थरश्मि—देखो अर्थ (सम्यक्त्व) । वचनविस्तार-विरहितार्थग्रहणजनितप्रसादा अर्थरश्मयः । (त. भा. ३, ३६, २) ।

वचनविस्तार से रहित अर्थ के ग्रहण से ही जिनके प्रसन्नता—तत्त्वरश्मि—प्राप्तमूर्त हुई है वे अर्थरश्मि

अ. १७

वर्धन-आर्थ कहलाते हैं ।

अर्थविज्ञान—अर्थविज्ञानमूहापोहयोगान्मोह-सन्धेह-विपर्यासव्युदासेन ज्ञानम् । (योगज्ञा. स्यो. विव. १, ५१; आ. बृ. वि. पृ. ३७) ।

ऊहापोहपूर्यक वस्तु-गत संशय, विपर्यास और मोह (अनव्यवसाय) को दूर करके यथार्थ ज्ञानने को अर्थविज्ञान कहते हैं ।

अर्थविनय—१. अभ्यासविति-छंदाणुवत्तणं देस-कालदाणं च । अन्मुद्राणं भ्रंजनि-प्रासणदाणं च भय-कण ॥ (वसव. नि. ९-३१२; उत्तरा. नि. शा. बृ. १-२६, पृ. १६ उद्बृत्त) । २. अर्थप्राप्तिहेतुरीप्सवरा-जानुवर्तनमर्थविनयः । (उत्तरा. नि. शा. बृ. १-२६, पृ. १७) ।

१ राजा आदि के समीप में स्थित रहना, उनके अभि-प्राय के अनुसार कार्य करना, देश-काल के अनुसार प्रस्ताव उपस्थित करना तथा उठकर खड़े हो जाना व उन्हें आसन देना इत्यादि जो अर्थ की प्राप्ति के लिये विनय की जाती है वह सब अर्थविनय कह-लाता है ।

अर्थ-व्यञ्जनपर्यायार्थनैगम—१. अर्थ-व्यञ्जन-पर्यायो गोचरीकृते परः । चास्मिन्ने सुखजीवित्व-मित्येवमनुरोधतः ॥ (त. श्लो. १, ३३, ३५ पृ. २७०) । २. तत्र सूक्ष्मः क्षणक्षयोऽवागोचरोऽर्थ-पर्यायो वस्तुनो धर्मः । स्थूलः कालान्तरस्वायी चागोचरो व्यञ्जनपर्यायोऽर्थधर्मः । एतद्वर्मद्वयास्ति-त्वावलम्बी अर्थव्यञ्जनपर्यायार्थनैगमो भवति । (त. सुखो. १-३३) ।

१ जो अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय इन दोनों को एक साथ विषय करे, उसे अर्थ-व्यञ्जनपर्यायार्थ नैगमनय कहते हैं । जैसे—धर्मात्मा सुखजीवी होता है ।

अर्थशुद्धि—१. व्यञ्जनशब्दस्य सान्निध्यादर्थशब्दः शब्दामिधेये वर्तते । तेन सूत्रार्थोऽर्थ इति गृह्यते । तस्य का शुद्धिः ? विपरीतरूपेण सूत्रार्थनिरूपणा-भ्याम् अर्थाधारत्वनिरूपणायाम् अर्थपरीत्यस्य अर्थ-शुद्धिरित्युच्यते । (अ. भा. विजयो. टी. ११३) । २. अर्थशुद्धिः सम्यक्सूत्रार्थनिरूपणा । (अ. भा. भूला. टी. ११३) ।

२ सूत्र के अर्थ के सम्यक् प्रतिपादन को अर्थसुद्धि कहते हैं ।

अर्थशास्त्रविनय—प्रत्येक सिध्यमर्थ आशयति एवोऽर्थशास्त्रविनयः । (अथ. भा. मलय. वृ. १०, ३१३) ।

सिध्य के लिए प्रत्येकपूर्वक सूत्र का अर्थ सुनाने को अर्थशास्त्रविनय कहते हैं ।

अर्थसम—अर्थते परिच्छिद्यते गम्यते इत्यर्थो द्वाव-शांगविषयः, तेन अत्येन समं नह वट्टदि ति अत्य-समं । इवमुदाहरिये अप्येविकस्य संजमज्जिदसुव-णाणावरणकस्योवसमसमुपपन्नबहिरगसुव संयुद्धा-वारमत्यसमं इदि वुत्त होदि । (अथ. पु. ६, पु. २५६); कारकभेदेन (पठन) अर्थसमम् । (अथ. पु. ६, पु. २६१); गण-बीजपदेहि विणा संजमवलेण केवत्ताणं व सयवुद्धेसुपपण-कदि-अणियोगो अत्येण सह वुत्तोदो अत्यसमं नाम । (अथ. पु. ६, पु. २६८); अर्थो गणहरदेवो, भागमसुत्तेण विणा सयलसुदणाण-वज्जाएणं परिणदत्तादो । तेण समं सुदणाण अत्य-समं । अथवा अर्थो बीजपदं, ततो उप्पण सयल-सुदणाणं अत्यसमं । (अथ. पु. १४, पु. ८) ।

जो द्वावशांग के विषयभूत अर्थ के साथ रहता है, वह भागम का अर्थसम नामक अधिकार कहलाता है । तात्पर्य यह कि द्रव्यभूत के चारक आचार्यों की अपेक्षा न कर संयम से प्रादुर्भूत भुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से जो भुत स्वयंभूतों के आश्रित होता है, वह अर्थसम कहलाता है ।

अर्थसमय—१. तेषाम् (पञ्चास्तिकायानाम्) एवा-भिधान-प्रत्ययपरिच्छिन्नानां वस्तुरूपेण समवायः संघातोऽर्थसमयः, सर्वपदार्थसाथं इति यावत् । (पञ्चा. का. अमृत. वृ. ३) । २. तेन द्रव्यागमरूपशब्दसम-येन वाक्यो भावभूतरूपज्ञानसमयेन परिच्छेद्यः परञ्चानामस्तिकायानां समूहोऽर्थसमय इति अण्यते । (पञ्चा. का. जय. वृ. ३) ।

२ द्रव्यागमरूप शब्दसमय के द्वारा कहे गये और आव-भूतरूप ज्ञानसमय के द्वारा जाने गये पांच अस्तिकायरूप पदार्थों के समुदाय को अर्थसमय कहते हैं ।

अर्थसंक्रान्ति—१. द्रव्य विहाय पर्यायमुपैति, पर्यायं त्यक्त्वा द्रव्यमित्यर्थसंक्रान्तिः । (त. सि. ६-४४; त. भा. ६-४४, पं. ११) । २. द्रव्यं हित्वा पर्यायं, तं त्यक्त्वा द्रव्ये संक्रमणं अर्थसंक्रान्तिः । (त. वसो. ६,

४४, १) । ३. प्राक् शब्दस्ततस्तत्त्वालम्बनमिद-मस्य स्वरूपम्, अयमस्य पर्यायः, ततस्तदर्थचिन्तनं साकल्येन, ततः शब्दार्थयोः स्वरूपविक्षेपचिन्ताप्रति-बन्धः प्रणिधानमर्थसंक्रान्तिः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-४६) । ४. अर्थविधान्तरापत्तिरर्थसंक्रान्ति-रिष्यते । (ज्ञानार्थ ४२-१६) । ५. द्रव्यात् पर्या-यार्थं पर्यायाच्च द्रव्यार्थं संक्रमणमर्थसंक्रान्तिः । (त. सुलक्ष्णो. ६-४४) । ६. द्रव्यं विमुच्य पर्यायं गच्छति, पर्यायं विहाय द्रव्यमुपैति इति अर्थसंक्रान्तिः । (भाषा. टी. ७८) । ७. द्रव्यं ध्यायति, द्रव्यं त्यक्त्वा पर्यायं ध्यायति, पर्यायं च परिहाय पुनर्द्रव्यं ध्यायति इत्येवं पुनः पुनः संक्रमणमर्थसंक्रान्तिः । (कार्तिके. टी. ४८७; त. वृत्ति अंत. ६-४४) ।

१ ध्यानावस्था में द्रव्य का चिन्तन करते हुए पर्याय का और पर्याय का चिन्तन करते हुए द्रव्य का चिन्तन करने लगना, यह अर्थसंक्रान्ति है ।

अर्थसिद्धि—× × × पठरत्यो अत्यपरो व मम्मणो अत्यसिद्धति ॥ (आव नि. ६३५) ।

राजगृहनिवासी मम्मण के समान जो प्रचुर अर्थ (धन) के संग्रह में तत्पर रहता है वह अर्थसिद्ध कहलाता है ।

अर्थोच्चार—अर्थोऽभिधेयोऽनेकान्तात्मकस्तेन सह पाठविः अर्थोच्चारः । (मूला वृ. ५-७२) ।

अनेकान्तात्मक अर्थ के साथ—न्यायित अग्निप्राय-पूर्वक—शास्त्र का पाठ आदि करने को अर्थोच्चार कहते हैं ।

अर्थोपपत्ति—१. अर्थोपत्तिरियं चिन्ता मेयान्यापोह-नोहनम् । (सिद्धि. ३-६, पु. १८२) । २. प्रमाण-वदकविज्ञातो यच्चातु. (योऽर्थः) साध्याभावे नियमे-नामवन् यत्रादृष्टमर्थं कल्पयेत् सा अर्थोपपत्तिः । (सिद्धि. टी. ३-६, पु. १८२) । ३. अर्थोपत्तिरपि दृष्ट-श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यदृष्टार्थ-कल्पना । × × × अत्यसादिभिः वदभिः प्रमाणी-प्रसिद्धो योऽर्थः स येन विना नोपपद्यते तस्यार्थस्य कल्पनमर्थोपपत्तिः । (प्र. क. भा. पु. १८७) । ४. वाज्जो “प्रमाणवदकविज्ञातो यत्रार्थोऽन्यथाभवन् । अदृष्ट कल्पयेदन्यं साध्यापत्तिरुदाहृता ॥” इत्येतल्ल-क्षणमस्तिता मीमांसकैः परिकल्पिताथोपपत्तिः सा × × × । (न्यायकु. ३-२१, पु. ५०४) ।

३ अत्यसादि वद प्रमाणों के द्वारा जाना गया अर्थ

जिस अशुद्ध पदार्थ के बिना सम्भव नहीं है, उसकी कल्पना जिस प्रमाण में की जाती है, उसका नाम अर्थापत्ति है। जैसे—नीचे जलप्रवाह को देखकर ऊपर संज्ञात अशुद्ध वृष्टि की कल्पना।

अर्थापत्तिदोष—अर्थापत्तिदोषो यत्रार्थाविनिष्ठा-पत्तिः। यथा—‘ब्राह्मणो न हन्तव्यः’ इत्यादि-ब्राह्मणघातापत्तिः। (आच. हरि. व मलय. बु. नि. ८८३)।

जहाँ पर अभीष्ट अर्थ से अनिष्ट की अपत्ति आये उसे अर्थापत्तिदोष कहते हैं। जैसे—‘ब्राह्मण की हत्या नहीं करना चाहिए’ इस अभीष्ट अर्थसे ब्राह्मण-घात की अपत्ति। यह ३२ सूत्रदोषों में से एक है। अर्थापत्ति क्रिया—अत्रानिर्वाहो ग्लानादौ वाज्नेवणीय-ग्रहणमर्थापत्तिः। (धर्मसं. भान स्तो. बु. ३-२७, पु. ८२)।

निर्वाह न होने पर या रोगादि से पीड़ित होने पर अनेवणीय (नहीं लेने योग्य) भी आहार के ग्रहण करने को अर्थापत्ति क्रिया कहते हैं। यह वाप के हेतु-भूत १३ क्रियास्थानों में प्रथम है।

अर्थापत्तिग्रह—१. व्यक्तग्रहणमर्थापत्तिग्रहः। (स. सि. १-१८; त. बा. १, १८, २; त. सुखबो. १-१८)।

२. व्यञ्जनावग्रहचरमसमयोपात्तशब्दाद्यर्थापत्तिग्रह-नक्षणोऽर्थापत्तिग्रहः। (आच. नि. हरि. बु. ३, पु. १०)।

३. अर्थस्वसंभोगहो अर्थोग्रहो, सो य वज्रणावग-हातो चरमसमयाणतर एकसमय अवसिद्धिदिय-

[अवसिद्धिदिय-] गेहृतो अर्थावगग्रहो भवति, चक्षिदियस्स मणसो य वज्रणाभावे पठमं वेव जं

अवसिद्धिमर्थावगग्रहकाले यो एगसमयं सो अर्थोग्रहो भाणेयस्वो। (नन्दी. बु. पु. २६)। ४. अप्राप्तार्थ-ग्रहणमर्थापत्तिग्रहः। (धर्म. पु. १, पु. ३५४); अप-

त्तार्थावगग्रहणमर्थावगग्रहो। (धर्म. पु. ६, पु. १६; पु. ६, पु. १५६; पु. १३, पु. २२०)। ५. दूरेण य जं गहणं इदिय-गोइदिएहि अर्थविककं। अर्थाव-

ग्रहणाणं नायव्वं तं समासेण ॥ मण-चनसुविसयाणं णिदिट्ठा सम्भवावरसीहि। अर्थावगग्रहबुद्धी नायव्वा

होदि एक्का दु। (जं. बो. व. १३-६६ व ६८)। ६. प्राप्ताप्राप्तार्थबोधावगग्रहो व्यञ्जनार्थयोः (अप्रा-

प्तार्थबोधोऽर्थस्यावगग्रहः)। (आचा. सा. ४-११)। ७. अर्थापत्ति इत्यर्थः, अर्थस्यावगग्रहणम् अर्थापत्तिग्रहः,

सकलरूपादिविशेषनिर्पेक्षाऽनिर्वैयसाभ्याम्यमात्ररूपा-

र्थग्रहणम् एकसामयिकम् इत्यर्थः। (नन्दी. मलय. बु. २७, पु. १६८)। ८. तत्र अवग्रहणमवग्रहः,

अर्थस्यावगग्रहोऽर्थावगग्रहः, अनिर्देयसामान्यरूपाद्यर्थ-ग्रहणमिति भावः। आह च नन्दाध्ययनकुण्डित—

सामन्तस्स क्वाइविसेसणरहियस्स अनिर्देयस्समव-

ग्राहण अवग्राह इति। (प्रभाष. मलय. बु. १५-२००, पु. ३१०)। ९. व्यञ्जनावग्रह-

चरमसमयोपात्तशब्दाद्यर्थावगग्रहणोऽर्थावगग्रहः सा-

मान्यमात्रानिर्देयग्रहणमेकसामयिकमर्थावगग्रह इति

भावः। (आच. मलय. बु. ३, पु. २५)। १०. अर्थावगग्रहस्तु

किमपीदमित्येतान्मात्रो मनःपट्टः पञ्चभिरिन्द्रियैर्वैस्त्वबोधोः। (कर्मस्तव गो. बु. ६-१०, पु. ८१)। ११. अर्थस्यावगग्रहणमवग्राहो-

ऽर्थपरिच्छेदः। (कर्मवि. व्या. गा. १३)। १२. अर्थत इत्यर्थः, तस्य शब्द-रूपादिभेदानामन्यतरेणापि

भेदेनानिर्धारितस्य सामान्यरूपस्यावगग्रहणमर्थावगग्रहः,

किमपीदमित्यव्यक्तज्ञानमित्यर्थः। (कर्मवि. डे. स्तो. बु. ५, पु. १२; अव. सारो. बु. १२५३)। १३. शब्दादेयः परिच्छेदो मनाक् स्पष्टतरो भवेत्। किंचि-

दित्यात्मकः सोऽयमर्थावगग्रह उच्यते ॥ (लोकप्र. ३-७०६)।

१ व्यक्त पदार्थ के अवग्रह को अर्थावग्रह कहते हैं। २ व्यञ्जनावग्रह के अन्तिम समय में गृहीत शब्दादि

अर्थ के अवग्रहण का नाम अर्थावग्रह है। ४. अप्राप्त पदार्थ के ग्रहण को अर्थावग्रह कहते हैं।

अर्थमागधी भाषा—१. नगहृद्विसयभासाणिबद्धं अर्थमागहं अट्टारसदेसीभासाणियय वा अर्थमागहं।

(निशीथचूर्ण—पादयसहमहणधो प्रस्ता. पु. २१, सन् १६२८)। २. प्राकृतादीनां वर्णां भाषाविधे-

वाणा मध्ये या मागधी नाम भाषा ‘रसोलंसी माग-

ध्याम्’ इत्यादिलक्षणवती सा अतमाश्रितस्वकीयसम-

ग्रलक्षणाऽर्थमागधीत्युच्यते। (समवा. अभय. बु. ३४, पु. ५६)।

१ जो भाषा आधे नगधे देस में बोली जाती थी, अथवा जो अट्टारह देसी भाषाओं में मिलत थी, उसका नाम अर्थमागधी है।

अपत्ति—१. अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजन-वशाद्यस्य कस्यचिदर्थस्य विवक्षाया अपातितं प्राधान्य-मपितमुपनीतमिति यावत्। (स. सि. ५-३२; त. सुखबो. ५-३२)। २. अर्थापत्तिविवक्षाप्राप्तितप्राधा-

म्यवपिषत् ॥ अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजन-
वशात् यस्य कस्यचित् धर्मस्य विनशया प्रापित-
प्राधान्यम् अर्थक्यमपितमुपनीतमिति यावत् । (स.
भा. ५, ३२, १) । ३. अपित निवक्षितमुपात्तं विव-
क्षितमित्यनर्थान्तरम् । (स. भा. हरि. बृ. ५-३१) ।
४. अपितं निवक्षितमुपात्तम् । (स. भा. सिद्ध. बृ.
५-३१) । ५. वस्तु तावदनेकान्तात्मकं वर्तते । तस्य
वस्तुनः कार्यवशात् यस्य कस्यचित् स्वभावस्य प्रापि-
तमपितं प्राधान्यम् उपनीतं विवक्षितामिति यावत् ।
(स. वृत्ति भूत. ५-३२) ।

१ प्रयोजन के वश अनेकान्तात्मक वस्तु के जिस
किसी धर्म को विवक्षावश जो मुख्यता प्राप्त होती
है उसे अपित कहते हैं ।

महं’भाव—सम्महंसणि पस्सइ जाणइ णाणेण
वज्ज-पज्जाया । सम्मसगुणविशुद्धो भावो अरहस्स
णायब्बो ॥ बोधभा. ४१) ।

सम्यक्त्व गुण से विशुद्ध होकर जो वशं से ब्रह्मों
और उनकी पर्यायों को देखता है, तथा ज्ञान से उन्हें
जानता है, यह अर्हन्त का स्वरूप है ।

महं’वर्णजनन—१. महंदादीना यशोजनन
विदुषां परिषदि धन्येषामविद्वद्वेदिना दृष्टेष्टविरुद्ध-
वचनताप्रवर्धनेन निवेद्य तत्संवादिबचनतया महत्ता-
प्रस्थापन भगवता वर्णजननम् ॥ (अ. भा. विजयो.
४७) । २. सुमतादीना दृष्टेष्टविरुद्धवचनताप्रका-
शनेनासर्वज्ञत्वं प्रजाप्य तत्संवादिबचनतया महत्त्व-
प्रस्थापनमर्हता वर्णजननम् । (अ. भा. मूला. ४७) ।

सर्वज्ञता से रहित अन्य—बुद्ध, कपिलच कणाव आदि
के—वचनों में प्रत्यक्ष व अनुमान से विरोध दिखला
कर भगवान् अर्हन्त के वचनों में विस्वाद्य रहित
होने से महत्त्व को प्रकट करना, इसका नाम महं’व-
र्ण जनन है ।

अर्हन्—१. अरिहंति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरु-
त्तमा कोए । रजहता अरिहति य अरहता तेण
उच्चंति ॥ हंता अरि च जम्मं अरहता तेण
वुच्चंति ॥ अरिहति वदण-णमसणाणि अरिहंति
पूय-सवकार । अरिहंति सिद्धिममणं अरहता तेण
उच्चंति ॥ (मूला. ७-४ व ७, ६५-६५) । २. वण-
घाइकम्मरहिमा केवलणाणाइपरमगुणसहिमा ।
चोत्तीसातिसयजुदा अरिहता एरिसा हंति ॥ (नि.
सा. ७१) । ३. तेरहमे गुणढाणे सजोइकेवलिय

होइ अरिहंती । वउत्तीसअइसमगुणा हंति हु तस्स-
जुपडिहारा ॥ (बोधभा. ३२) ४. देवाधुर-मण-
एसुं अरिहा पूजा सुरुत्तमा जम्हा । अरिणो हंता
रयं हंता अरिहंता तेण वुच्चंति ॥ (आव. नि.
६२२) । ५. ववणा-अमंसणा-पुयणादि अरहंतीति
अरहंता, अरिणो वा हंता अरिहंता । (नन्दी. बृ. पृ.
३८) । ६. अशोकाष्टमहाप्रातिहायिकरूपा पूजा-
महंतीत्यहंतः, तीर्थंकरा इत्यर्थः । (आ. प्र. टी. १,
नन्दी. मल्ल. बृ. सू. ४०, पृ. १६२; वंजसूत्र व्या.
४; ललितवि. पृ. ७६ व ८६; आच. हरि. बृ.
नि. ७०, पृ. ४८; नि. १७६, पृ. ११६; नि.
४१७, पृ. १६६) । ७. अरिहन्ति, अर्हन् अशोकादि-
महापूजाहंत्वात्, अविद्यामानं वा रहः एकान्तं प्रच्छन्नं
सर्वज्ञत्वाद् यस्य सोऽरहः । (श्रीपपा. अथय. बृ. १०,
पृ. १५; वसवै. नि. हरि. बृ. १-६०, पृ. ६२; आच.
नि. मल्ल. बृ. ७० व १७६, पृ. ७६ व १६१) ।

८. अतिशयपूजाहंत्वाद्वाहंन्तः । स्वर्गावतरण जन्मा-
भिषेक - परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिवर्णेषु
देवकृतानां पूजानां देवाधुर-आनवप्राप्तपूजाभ्योऽभि-
कृतादतिशयानामहंत्वात् योग्यत्वात् अर्हन्तः । (अच.
पु. १, पृ. ४४) ।

१ भगवान् अरहन्त जूँकि नमस्कार व पूजा के योग्य
होते हुए वेनों में सर्वश्रेष्ठ हैं, तथा ज्ञानावरण और
वशानावरण रूप रज एवं मोह और अन्तराय रूप
अरि के विघातक हैं; अतएव वे ‘महंन्’ इस साधक
नाम से प्रसिद्ध हैं ।

अलङ्कृत—१. अन्याम्यस्वरं गेयकरणेन यदल-
कृतमिव गीयते तदलङ्कृतम् । (रायप. पृ. १३१) ।
२. अलङ्कृतमुपमासलङ्कारोपेतम् । (अव्य. भा.
मल्ल. बृ. ७-१६०) । ३. अन्योऽन्यस्फुटशुभ-
स्वरविशेषाणां करणादलङ्कृतम् । (अभ्यूही. बृ.
१-६) ।

१ बिबिध स्वरविशेषों के करनेसे जो अलङ्कृत के समान
पाया जाता है उसे अलङ्कृत कहा जाता है । २ उपमा
आदि अलंकारों से युक्त होने के कारण जिनवचन
को अलङ्कृत—अलंकार गुण युक्त—माना जाता है ।
अलात—अलाय नाम उम्मुप्राहिय पंजर-(पज्ज-)
लिय । (वसवै. बृ. पृ. १५६) ।

उत्पुङ्गु—अर्धरन्ध्र—जलते हुए काष्ठका नाम अलात
है ।

उत्पुङ्गु—अर्धरन्ध्र—जलते हुए काष्ठका नाम अलात
है ।

उत्पुङ्गु—अर्धरन्ध्र—जलते हुए काष्ठका नाम अलात
है ।

उत्पुङ्गु—अर्धरन्ध्र—जलते हुए काष्ठका नाम अलात
है ।

उत्पुङ्गु—अर्धरन्ध्र—जलते हुए काष्ठका नाम अलात
है ।

उत्पुङ्गु—अर्धरन्ध्र—जलते हुए काष्ठका नाम अलात
है ।

उत्पुङ्गु—अर्धरन्ध्र—जलते हुए काष्ठका नाम अलात
है ।

अलाभ—इच्छिदद्वोबलद्वी लाहो णाम, तच्चिवरी-
यो अलाहो । (अ. पु. १३, पृ. ३३४) ।

इच्छित पदार्थ की प्राप्तिक्रम लाभ से विपरीत
अलाभ कहा जाता है ।

अलाभविजय—१. बायुवदसंगदानेकदेशचारिणो-
ऽभ्युपगतैककालसम्भोजनस्य वाच्यमस्य तत्समितस्य
वा सकृत्स्वतमुदर्शनमात्रतत्रस्य पाणिपुटमात्रपात्रस्य
बहुषु दिवसेषु बहुषु च गृहेषु भिक्षामनवाप्याऽप्य-
संक्लिष्टचेतसो दातृविशेषपरीक्षानिरुक्तस्य लाभा-
दप्यलाभो मे परमं तप इति सन्तुष्टस्यालाभविजयो-
ऽवसेयः । (त. सि. ६-६; त. वृत्ति भूत. ६-६) ।

२. अलाभेऽपि लाभवत्सन्तुष्टस्यालाभविजयः ।
बायुवदनेकदेशचारिणः, अप्रकाशितवीर्यस्याभ्युपग-
तैककालभोजनस्य, सकृन्मूर्तिसंदर्शनव्रतकालस्य 'देहि'
इति असम्भवाकप्रयोगादुपरतस्य अनुपातविग्रहप्रति-
क्रियस्य, अक्षेदं वषवचेदम् इति व्यपेतसङ्कल्पस्य,
एकस्मिन् ग्रामे अलब्ध्वा ग्रामान्तरान्ववर्णनिरुक्त-
स्य, पाणिपुटमात्रपात्रस्य, बहुषु दिवसेषु बहुषु च
गृहेषु भिक्षामनवाप्याऽप्यसंक्लिष्टचेतसः, नायं दाता
तत्रान्यो वदान्योऽस्तीति व्यपगतपरीक्षस्य, लाभा-
दप्यलाभो मे परमं तपः इति सन्तुष्टस्य अलाभ-
विजयोऽवसेयः । (त. भा. ६, ६, २० । ३. अलाभे-
ऽपि लाभादलाभो मे परं तपोवृद्धिरिति सकल्पेना-
लाभपरीषहसहनम् । (अ. भा. विजयो. टी. ११६) ।

१ जो बायु के समान परिग्रह से रहित होकर अनेक
देशों में भ्रमन करता है, जिसने दिन में एक ही बार
भोजन लेने का नियम स्वीकार किया है, जो भोजन के
साथ समितियों का पालन करता है, वचन से किसी
प्रकारकी याचना न करके जो केवल शरीर को
बिखलाता है, हाथ ही जिसके पात्र हैं, तथा बहुत
दिन ब बहुत घरों में घूमकर भी भिक्षा के न प्राप्त
होने पर संक्लेश से रहित होता हुआ लाभ से अलाभ
को ही भेष्ट समझ कर सन्तुष्ट रहता है, ऐसा साधु
अलाभविजयी होता है ।

अलाभपरीषहजय—देखो अलाभविजय । १.
अलाभः अन्तरायकर्मदयापाहाराद्यलाभकृतपीडा,
[तस्य परिषहनम् अलाभपरीषहजयो भवति] ।
(मूला. बु. ५-५८) । २. अलाभस्तु याचिते सति
प्रत्याख्यानं विद्यमानमविद्यमानं वा न ददाति, यस्य
स्वं तत्कदाचिद् वा दत्ते कदाचिन्न, कस्तत्रापरितोषो

न यच्छति सति ? × × × अलाभेऽपि समचेतसैव
अधिकृतस्यानेनैव भवितव्यमित्यलाभपरीषहजयः ।
(त. भा. सिद्ध बु. ६-६) । ३. ह हो देह सहायता
नव समुद्दिश्यैव पोष्यो मया पूतो मत्तपसो गृहावधि-
मतो भ्रान्त्वाऽप्यनाप्तेऽस्तेन । दोषः कोऽपि न विद्यते
मम पुनर्लाभादलाभक्षमा तां पूति प्रतनोत्यतः प्रिय-
तमं वैवेत्यलाभक्षमा ॥ (आभा. सा. ७-१४) ।
नानादेशविहारिणो विभ्रममपेक्ष्य बहुषूच्चनीचैर्गृहेषु
भिक्षामनवाप्याऽप्यसंक्लिष्टचेतसो दातृविशेषपरीक्षा-
निरुक्तस्य 'अलाभो मे परमं तपः' इत्येवमधिक-
गुणमलाभ मन्वमानस्य यदलाभपीडासहनं सोऽलाभ-
परीषहजयः । (पंचसं. मलय. बु. ४-२२) । ५. निः-
संगो बहुदेशचार्यानिर्लवन्मोनी विकायप्रतीकारोऽश्वेद-
मिदं वष इत्यविमुशान् ग्रामेऽस्तभिक्षः परे । बह्लोक-
स्वपि बह्लह मम परं लाभादलाभस्तपः स्यादित्याप्त-
वृत्तिः पुनो स्मरयति स्मार्तानलाभं सहन् ॥ (अ. भा.
ब. ६-१०३) । ६. यो मुनिरङ्गीकृतैकवारनिर्दोष-
भोजनः चरण्युरिबानेकदेशचारी भोजनान् वाच्यमः
समो वा सकृन् निजशरीरदर्शनमात्रतः करयुगल-
मात्राभ्यः बहुभिदिवसैरप्यनेकामन्दरेषु भोजनम-
लब्ध्वापि अनातं-रोक्षेताः दास्यवातुपरीक्षणपराङ्-
मुखो लाभादलाभो वरं ऋणवृद्धिहेतुं परमं तप
इति सन्तुष्टचेताः भवति स मुनिरलाभविजयी वेदि-
तव्य । (त. वृत्ति भूत. ६-६) ।

देखो अलाभविजय ।

अलीक—तत्रालीकं साधुमसाधुं ब्रवीति, असाधु
साधुमित्यादि । (बृहत्क. बु. ७५३) ।

जो मर्यादा साधु को असाधु और असाधु को साधु
कहता है वह अलीकरूप असत् वचन का भावी
होता है । यह भाषाचपल के चार भेदों में असत्त-
लापी नामक प्रथम भेद है ।

अलेख्य—१. अलेख्यं यच्च हस्ते न सज्जति ।
(अ. भा. विजयो. २२०) । २. अलेख्यं हस्तालेप-
कारि मथितादिकम् (अ. भा. मूला. टी. २२०) ।
जो हाथ में लिप्य न हो ऐसे छाँड़ आदि को अले-
ख्य कहाकर कहते हैं ।

अलेख्य (अलेस्तिश्च)—१. किण्वादलेसरहिया
संसारविणिग्या अणंतसुहा । सिद्धिपुरीसंपत्ता अले-
स्तिर्या ते मुणेयव्वा ॥ (आ. पंचसं. १-१५३; अ. पु.
१, पृ. ३६० उ.) । २. वद्देव्याज्जीता अलेस्याः (अ.

पु. १, पृ. ३६०); लेस्साए कारणकम्माणं जए-
पुण्णजीवपरिणामो सइया सद्धी, तीए धलेस्सिओ
होदि । (चव. पु. ७, पृ. १०६) ।

१ कृष्णादि छहों लेख्याओं से रहित जीवों को—
अयोगिकेवली और सिद्धों को—अलेख्य कहते हैं ।

अलोक, अलोकाकाश—१. × × × भागास-
मदो परमणंतं ॥ (भूता. ८-२३) । २. लोयाया-
सट्ठाणं सयंपहाणं सदब्बल्लकं हु । सम्बमलोयायास
तं सम्भासं [तस्सम्भासं] हवे गियमा । (सि. प. १,
१३३) । २. ततो (लोकाद्) बहिः सर्वतोऽन्त-
मलोकाकाशम् । (स. सि. ५-१२) । ३. बहिः सम-
न्तादनन्तमलोकाकाशम् । (त. बा. ५, १२, १८) ।

४. लोकायन्ते उपलभ्यन्ते यस्मिन् जीवादिद्रव्याणि स
लोकः, तद्विपरीतोऽलोकः । (चव. पु. ५, पृ. ६; पु. ११,
पृ. २) । ५. सर्वतोऽन्तविस्तारमनन्तं स्वप्रदेशकम् ।
द्रव्यान्तरविनिर्भूतमलोकाकाशाधिप्यते । (ह. पु. ४,
१) । ६. यावति पुनराकाशे जीव-पुद्गलयोर्गति-
स्थिती न सम्भवतो धर्माधर्मौ नावस्थितौ, न कालो
दुर्लभितस्तावत्केवलमाकाशमात्मत्वेन स्वलक्षण यस्य
सोऽलोकः । (अव. सा. अमृत. बृ. २-३६) । ७. शुद्ध-
काकाशावृत्तिरूपोऽलोकः । (पंचा. का. अमृत. बृ. ८७)
८. अलोकः केवलाकाशरूपः । (श्रीपपा. अव्यय. बृ. ३४,
पृ. ७६) । ९. अलोकस्तु धर्मास्तिकायादिविद्युक्तः ।
(कर्मवि. ग. पू. व्या. १७, पृ. ११) । १०. × × ×
ततो परदो अलोगुत्तो ॥ (अव्यय. २०) । ११.
तस्मात्लोकाकाशात्परतो बहिर्भागेऽन्तमाकाशमलो-
कः । (बृ. अव्यय. टी. २०) । १२. तस्माद् बहि-
र्भूतं शुद्धमाकाशमलोकः । (पंचा. का. जय. बृ. ८७;
अव. सा. जय. बृ. २-३६) । १३. लोकायन्ते जीवा-
दयः पदार्थाः यत्रांशौ लोकः, × × × तद्विपरीतो-
ऽलोकोऽन्तमानावच्छिन्नशुद्धाकाशरूपः (रत्नक. टी.
२-३) । १४. × × × संसमलोयं हवेऽजतं (बृ. न.
व. ६६) । १५. × × × स्यादलोकस्ततो (लोकाद्)
अव्याया ॥ सोऽव्यलोको न शून्योऽस्ति षड्भिरव्यैर-
शेषतः । व्योममात्रावशेषत्वात् व्योमात्मा केवल
भवेत् ॥ (पंचाव्या. २, २२-२३) । १६. × × ×
अलोक्तेषां (धर्मादीनां) विनोपगतः । निरवधिः
स्वयं तस्याऽवधित्वं तु निरर्थकम् ॥ (अव्यानु. त.
१०-६) ।

१ लोक से बाहिर सब ओर जितना भी अनन्त

आकाश है वह सब अलोकाकाश कहलाता है ।

अलोलुप—विधाधिप याचते किंचिद्यो न सांसारिकं
फलम् । ददानो योगिना दानं भाषन्तं तमलोलुपम् ॥
(अभित. ध्या. ६-८) ।

जो किसी भी सांसारिक फल की मन, बचन और
काय से याचना नहीं करता हुआ निष्काम भाव से
योगी जनों को दान देता है वह दाता अलोलुप कह-
लाता है । उसके इस गुण को अलोलुप गुण कहा
जाता है ।

अलोलुप्य—अलोलुप्यं सांसारिकफलानपेक्षा । (सा.
व. स्वो. टी. ५-७७) ।

वेत्तो—अलोलुप ।

अल्पतर-उदय—जमेण्ह पदेसगमुविदं अणंतर-
उवरिमसमए तत्तो धोवदरे पदेसग्ये उदयमागवे
एसो अल्पदरउदयो णाम । (चव. पु. १५, पृ. ३२५) ।
वर्तमान समय में जो प्रवेशाद्य उदय को प्राप्त है
उससे अव्यवहित आगे के समय में उसकी अपेक्षा
अल्पतर प्रवेशाद्य के उदय को प्राप्त होने पर वह
अल्पतर उदय कहलाता है ।

अल्पतर-उदीरणा—जाग्रो एण्ह पयडीओ उदी-
रेदि ततो अणतरविदिकतसमए बहुदरियाओ उदी-
रेदि ति, एसा अपवन्-उदीरणा । (चव. पु. १५,
पृ. ५०) ।

वर्तमान समय में जितनी प्रकृतियों की उदीरणा
कर रहा है, अनन्तर अतिक्रान्त समय में उनसे जो
बहुतर प्रकृतियों की उदीरणा की जाती है, इसका
नाम अल्पतर उदीरणा है ।

अल्पतर बन्ध—१. × × × एगाईऊणगम्म वि-
इधो उ । (कर्मप्र. सत्ता. गा. ५२, पृ. ८५) ।
२. यदा तु प्रभूताः प्रकृतौर्बन्धन् परिणामविशेषतः
स्तोका बद्धमारभते, यथाऽष्टौ बद्ध्वा सप्त वध्नाति,
सप्त वा बद्ध्वा षट्, षट् वा बद्ध्वा एकाम्,
तदानी स बन्धोऽल्पतरः । (कर्मप्र. अव्यय. वृ. सत्ता.
५२) । ३. यत्र त्वष्टविधादिबहुबन्धको भूत्वा
पुनरपि सप्तविधाद्यल्पतरबन्धको भवति स प्रथम-
समय एवाल्पतरबन्धः । (अतक. वे. स्वो. बृ. २२) ।
१ अधिक कर्मप्रकृतियों को बांध करके जो फिर
परिणामविशेष से एक आदि से हीन कर्मप्रकृतियों का
बन्ध होता है, इसे अल्पतर बन्ध कहते हैं ।

अल्पतरविभक्तिक — ओसक्काविदे बहुवराओ

विहृतीभी एसो अल्पदरविहृतिधो । बहुदराधो विहृतीभी अनन्तरव्यतिक्रान्ते समये बहुस्थितिविकल्पेषु व्यवस्थितेषु, श्रोसकविदे—वर्तमानसमये स्थितिकाण्डघातेन अश्वःस्थितिगलनेन वा अपकषितेषु, एषः अल्पतरविभक्तिकः । (जयध. पु. ४, पृ. २) ।

अल्पबहुत अतीत समय में बहुत स्थितिविकल्पों के रहने पर फिर वर्तमान समय में स्थितिकाण्डघात के द्वारा अथवा अश्वःस्थितिगलन के द्वारा उनका अपकषण होने पर वह अल्पतरविभक्तिक कहलाता है ।

अल्पतरसंक्रम—१. श्रोसकविदे बहुवराधो एहिमल्पदराणि संक्रामेदि सित्त एस अल्पदरो । एत्थ घोमकविद-सदो अणंनरविदिककंसमयवाचओ सित्तैत्थो । अथवा बहुदराधो पुत्थित्तसमयसकमादो एहिमोसकविदे इदानीमपकषिते न्यूनीकृते अल्पनराणि स्पृक्षकानि संक्रमयनोऽल्पतरसंक्रम इति सूत्रार्थस्मृत्यः । (जयध. ६, पृ. ६५-६६) । २. जे एहिं अणुभागस्स फट्ठा संक्रामिज्जंति ते जइ अणनरविदिकने समए संक्रामिदफ्फहिंनो बहुआ होति तो एसो भुजगारसंक्रमो । अह जइ तत्तो थोवा होति तो एसो अल्पदरसंक्रमो । (धम. पु. १६, पृ. ३६८) ।

वर्तमान समय में जो अणुभाग के स्पर्शक संक्रमण को प्राप्त हो रहे हैं, वे यदि अनन्तर अतीत समय में सक्रामित स्पर्शकों को अपेक्षा अल्प होते हैं तो यह अल्पतरसंक्रम कहलाता है ।

अल्पबहुत्व—१. अल्पबहुत्वम् अन्योन्यापेक्षया विशेषप्रतिपत्तिः । (स. सि. १-८) । २. संख्याता-साम्यतमनिश्चयेऽपि अन्योन्यविशेषप्रतिपत्त्यर्थम् अल्पबहुत्ववचनम् । सख्यातादिष्वन्यतमेन परिमाणेन निश्चितानामन्योन्यविशेषप्रतिपत्त्यर्थमल्पबहुत्ववचनं क्रियते—इमे एभ्योऽप्या इमे बहव इति । (स. भा. १, अ. १०) । ३. एतेऽप्ये बहवश्चैतेऽमीभ्योऽर्थांतिविविक्तये । कथ्यतेऽल्पबहुत्वं तत्संख्यातो भिन्नसंख्यया । (त. श्लो. १, अ. ५७) । ४. संख्यातासाम्यतमनिश्चयेऽपि परस्परं विशेषप्रतिपत्ति-निमित्तमल्पबहुत्वम् । (न्यायसू. ७-७६, पृ. ८०३; त. सुखो. १-८) । ५. अल्पबहुत्वं गत्यादिरूप-मार्गनास्थानादिवृत्तौ जीवानां परस्परं स्तोक-भूयस्त्वम् । (वड्डीति मलय. वृ. २, पृ. १२२-२३) ।

१ परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा हीमाधिकता के बोध को अल्पबहुत्व कहते हैं ।

अल्पसावद्यकर्मार्थ—अल्पसावद्यकर्मार्थाः भावकाः आधिकाश्च, विरत्यविरतिपरिणतत्वान् । (त. बा. ३, ३६, २) ।

विरति और अविरति रूप से परिणत—देशवर्तों का पालन करने वाले—भावक व आधिकार्य अल्पसावद्यकर्मार्थ कहलाते हैं ।

अल्पावग्रह—अल्पश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमपरिणाम आत्मा ततःशब्दादीनामन्यतममल्प शब्दमवगृह्णाति । (त. बा. १, १६, १६) ।

श्रोत्रेन्द्रियावरण के अल्प क्षयोपशम से परिणत आत्मा जो ततःविलत आदि शब्दों में किसी एक अल्प शब्द का अवग्रह करता है, यह श्रोत्रज अल्प-अवग्रह कहलाता है ।

अल्पाहारारभोदयं—तत्राहारः पुंसो द्वित्रिशतक-वनप्रमाणः । कवलाष्टकाम्यवहारोऽल्पाहारारभोदयम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-१६) ।

पुरुष के ३२ प्रातः प्रमाण आहार में से आठ प्रातः मात्र आहार के ग्रहण करने को अल्पाहार-अवभोदयं तप कहते हैं ।

अल्पाहारारभोदयं—देखो अल्पाहारारभोदयं । कवलाष्टकाम्यवहारोऽल्पाहारारभोदयम् । (योगशा. स्त्रो. विच. ४-८६) ।

आठ प्रातः आहार के ग्रहण करने को अल्पाहारारभोदयं तप कहते हैं ।

अस्लीवणबन्ध—देखो अस्लीवणबन्ध । १. जो सो अस्लीवणबंधो नाम तस्स इमो णिद्दो—से कड-याणं वा कुड्डाणं वा गोबरपीडाणं वा पागाराणं वा साडियाणं वा जे चामण्णे एवमादिवा अण्णदब्बाण-मण्णदव्वेहि अस्लीविदाणं बंधो होदि सो सब्बो अस्लीवणबंधो नाम । (वद्वं. ५, ६, ४२—पु. १४, पृ. ३६) । ३. लेवणवित्तेसेण जहिदाणं दब्बाणं जो बंधो सो अस्लीवणबंधो । (धम. पु. १४, पृ. ३७) ।

कटक, भित्ति, गोबरपीड, कोद, शादिका (साड़ी आदि वस्त्र) तथा अन्य भी इसी प्रकार के पदार्थों का जो इतर पदार्थों से सम्बन्ध—एकरूपता—होती है, उसका नाम अस्लीवण या अस्लीवणबन्ध है ।

अवक्तव्य उदय—अणतरादीवसमए उदएण विणा

एहिमुदयमागये. एतो अवस्तव्यउदग्रो णाम । (अव. पु. १५, पृ. ३२५) ।

अनन्तर अतीत समय में उदय के न होते हुए इस समय—वर्तमान समय—में उदय को प्राप्त होना, इसका नाम अवस्तव्य उदय है ।

अवस्तव्य उदीरणा—अणुदीरणाघो उदीरतस्य अवस्तव्य-उदीरणा । (अव. पु. १५, पृ. ५१) ।

अनन्तर अतीत समय में उदीरणा से रहित होकर वर्तमान समय में उदीरणा करने वाले की इस उदीरणा को अवस्तव्य-उदीरणा कहा जाता है ।

अवस्तव्य ब्रह्म—१. अस्थंतरभूएहि य णियएहि य दोहि समयमाईहि । वयणविसेसाईयं दब्बमवस्तव्यं पडइ ॥ (सम्मतिस. १-३६, पृ. ४४१-४२) ।

२. स्वब्रह्म-क्षेत्र-काल-भावेः परब्रह्म-क्षेत्र-काल-भावेः च युगपदादिष्टमवस्तव्यं ब्रह्मम् । (यञ्ज्या. का. अमृत. बृ. १४) ।

२ स्वकीय ब्रह्म, क्षेत्र, काल, भाव और परकीय ब्रह्म, क्षेत्र, काल, भाव; दोनों के द्वारा एक साथ ब्रह्म का कथन करने पर अवस्तव्य (स्वावस्तव्यं ब्रह्मम्) भङ्ग होता है ।

अवस्तव्य बन्ध—अथ तु सर्वथा अवन्धको भूत्वा पुनः प्रतिपत्त्य बन्धको भवति स आद्यसमयेऽवस्तव्य-बन्धः । (शालक. वे. स्मो. बृ. २२) ।

जहाँ जीव सर्वथा अवन्धक होकर परिणाम के अज्ञाती के गिरता हुआ फिर से बन्धक होता है वहाँ प्रथम समय में अवस्तव्य बन्ध होता है ।

अवस्तव्यविभक्तिक—१. अवहितियाधो विहितियाधो एतो अवस्तव्यविहितियो । (कसायपा. बृ. २३५, पृ. १२३) । २. गित्संतकम्मिधो होदूण जदि स संतकम्मिधो होदि तो अवस्तव्यविहितियो होदि, बडिड-हाणि-अवट्टाणमभावाधो । (अवच. पु. ४, पृ. ३) ।

२ यदि सत्कर्म से रहित होकर जीव फिर से सत्कर्म वाला होता है तो वह अवस्तव्य-विभक्तिक होता है ।

अवस्तव्य संक्रम—भोसकविदे असंकमादो एहि संकामेदि ति एस अवस्तव्यसंकमो । (कसायपा. बृ. २६७, पृ. ३७४) ।

अनन्तर अवस्तन समय में संक्रमण से रहित होकर इस समय—वर्तमान समय में—अबि संक्रमण अवस्था से परिणत होता है तो उसका यह संक्रमण अवस्तव्य संक्रमण कहालाता है ।

अवगाढरश्मि — आचारादिद्वादशाङ्गानिनिविष्ट-अदानोऽवगाढरश्मिः (त. वा. ३, ३६, २) ।

आचारादि द्वादशाङ्ग के अध्ययन द्वारा जो बृहत् अदान होता है उसे अवगाढरश्मि या अवगाढसम्प-रश्मि कहते हैं ।

अवगाढसम्पत्त्व—१. अङ्गाङ्गवाह्यसद्भावभाव-नातः समुद्गता । क्षीणमोहस्य या श्रद्धा सावगादेति कथ्यते । (स. पु. ७४-४४८) । २. वृष्टिः साङ्गा-ङ्गवाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा । (आत्मानु. १४) । ३. त्रिविधस्यागमस्य निःशेषतोऽन्यतमदेशा-वगाहलीकमवगाढम् । (उपासका. पृ. ११४) । ४. अवगाढा त्रिविधस्यागमस्य निःशेषतोऽन्यतमदेशाव-गाहलीका । (अन. ब. स्मो. टी. २-६२) । ५. अङ्गान्यङ्गबाह्यानि च शास्त्राध्यधीत्य यदुत्पद्यते सम्पत्त्वं तदवगाढम् । (ब. प्रा. टी. १२) ।

देसो—अवगाढरश्मि ।

अवग्रह—१. विषय-विषयिसन्निपातसमयानन्तर-माद्यं ग्रहणम् अवग्रहः । (स. सि. १-१५; अव. पु. १, पृ. ३५४ व ३७६; अव. पु. ६, पृ. १६; अव. पु. ६, पृ. १४४) । २. तत्राव्यक्तं यथास्वमिन्द्रिय-

विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः । अवग्रहो ग्रहो ग्रहणमालोचनमवधारण इत्यनर्थान्तरम् । (स. भा. १-१५; अने. ज. प. १८) । ३. विषय-विषयि-सन्निपातसमयानन्तरमाद्यं ग्रहणमवग्रहः । विषय-विषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति, तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रहः । (त. वा. १, १५, १) । ४. असाध्ययोगे ससालोकोऽर्थाकारविकल्पधीः । अवग्रहो × × × ॥ (लघीय. १-५) । ५. विषय-विषयिसन्निपातानन्तर-माद्यं ग्रहणं अवग्रहः × × × तदनन्तरभूतं सम्भाज-दर्शनं स्वविषयव्यवस्थापनविकल्पमुत्तरपरिणामं प्रतिपद्यतेऽवग्रहः । (लघीय. स्मो. बृ. १-५, पृ. ११५-१६) । ६. मर्यादया सामान्यस्यानिर्देश्यस्य स्वरूप-नामादिकल्पनारहितस्य दर्शनमालोचनम् । तदेवावधारणमालोचनावधारणम् । एतदवग्रहोऽभि-

धीयते, अवग्रहणमवग्रह इत्यन्वर्थयोगादिति । (स. हरि. बृ. १-१५) । ७. इह सामण्यस्य क्वाचिद्व्यव-

स्तस्य विसेसनिर्वेकस्तस्य अग्रिहं सस्स अवग्रहणमव-ग्रहः । (जम्बी. बृ. पु. २५) । ८. विषय-विषयिसंपा-

तानन्तरमाद्यं ग्रहणमवग्रहः । विसमो बाहिरो अट्ठो, विसई इदियाणि, तेसि दोण्ह पि संपादो णाम णाण-

जणजोगावत्वा, तद्वत्तरमुप्यणं चाणमवमाही ।
(अव. पु. ६, पु. १६); अवग्रहो नाम विषय-विषय-
सणिवायानंतरभावी पदमो बोधवित्तो । (अव. पु.
६, पु. १८); विषय-विषयसन्निपातानन्तरभावं
ग्रहणमवग्रहः । (अव. पु. ६, पु. १४४ अ पु. १३, पु.
२१६); अवग्रह्यते धनेन वटाद्यर्था इत्यवग्रहः ।
(अव. पु. १३, पु. २४२) । ६. अवधार्ययोगजात-
वस्तुमात्रग्रहणलक्षणात् । जातं यद् वस्तुभेदस्य ग्रहणं
तदवग्रहः । (त. स्तो. १, १५, २) ।

३ पदार्थं शीरं उसे विषय करने वाली इन्द्रियों का
योग्य वेस में संयोग होने के अनन्तर उसका सामान्य
प्रतिभासक्य दर्शन होता है, उसके अनन्तर वस्तु
का जो प्रथम बोध होता है उसे अवग्रह कहते हैं ।
अवग्रहावरणीय—अवग्रहस्य यदावरणं कर्म तद-
वग्रहावरणीयम् । (अव. पु. १३, पु. २१७) ।
जो कर्म अवग्रहज्ञान को प्राप्ताधिकार करता है उसे
अवग्रहावरणीय कहते हैं ।

अवदान—अवदीयते लण्ययते परिच्छिते अन्त्येभ्यः
अयः अनेनेति अवदानम् । (अव. पु. १३, पु.
२४२) ।

जिसके द्वारा विचक्षित पदार्थ अन्य पदार्थों से पुष्प-
क्य में जाना जाता है उसका नाम अवदान है । यह
अवग्रहज्ञान का नामान्तर है ।

अवद्य—१. अवद्यं गद्यम् । (त. सि. ७-६) । २.
अवद्यं गद्यम्, निन्द्यमिति यावत् । (त. लुल्लो.
७-६) ।

निम्नित वा गहित वस्तु को अवद्य कहते हैं ।

अवधारण—अवधारणं दत्तावधानतया ग्रहणम् ।
(अर्थवि. भू. पु. ३-६०) ।

सावधानता से पदार्थ या सूत्रार्थ के ग्रहण करने को
अवधारण कहते हैं ।

अवधारणी भाषा—अवधार्यतेऽनगम्यतेऽर्जोऽनवे-
त्यवधारणी, अवधीयवीजभूता इत्यर्थः । भाष्यते
इति भाषा, तद्योग्यतया परिणामितनिवृत्त्यमान-
द्रव्यसंहतिः । (प्रभाष. मलय. पु. ११-१६१) ।

पदार्थ का निश्चय करने वाली—ज्ञान की बीजभूत
—भाषा को अवधारणी भाषा कहते हैं ।

अवधारवान्—अवधारवमवहारे आलोच्यतस्स तं
सर्वम् ॥ (गु. गु. वट्. स्तो. पु. ७, पु. २८) ।

अवधारण में जो उस सबको देखता है उसे अव-
धारवान् वा अवधारवान् कहते हैं ।

अवधिमरण—१. अवधिमर्यादायाम्, अवधिमरि-
यानि द्रव्याणि साम्प्रतं आमुष्कत्वेन दृष्टीतानि पुन-
रामुष्कत्वेन दृष्टीत्वा मरिष्यति, इत्यतोऽवधिमरणम् ।
(उत्तरा. धृषि ५, पु. १२७-२८) । २. यो
यादृशं मरणं साम्प्रतमुपैति तादृगेव मरणं यदि
अविष्यति तदवधिमरणम् । (अ. आ. विजयो. टी.
२५; आ. आ. टी. ३२) । ३. अवधिमर्यादा, तेन
मरणमवधिमरणं, यानि हि नारकादिमवनिवृत्त्यन-
तयाऽऽमुःकर्मदलिकान्यनुभूय त्रियते यदि पुनस्त-
न्वेवानुभूय मरिष्यति तदा तदवधिमरणमुच्यते ।
(समवा. अवय. पु. १७, पु. ३३) । ४. यादृशेन
मरणेन पूर्वं भूतस्तादृशेनैव मरणमवधिमरणम् । (अ.
आ. मूला. टी. २५) । ५. एतदुक्तं भवति—देशतः
सर्वतो वा सादृश्येनावधीकृतेन विधेयितं मरणमव-
धिमरणम् । (आ. आ. टी. ३२) ।

२ वंसा मरण वर्तमान काल में प्राप्त होता है वंसा
ही मरण यदि अविष्य काल में होने वाला है तो
उसे अवधिमरण कहते हैं । ३ अवधि का अर्थ
मर्यादा है, उस अवधि से होने वाला मरण अवधि-
मरण कहलाता है, अर्थात् नारक आदि भय के
कारणभूत जिन आयुक्रमप्रदेशों का अनुभव करके
मरता है उनका ही अनुभव करके यदि अविष्य में
मरेगा तो उसे अवधिमरण कहा जायगा ।

अवनमन (ओरण्)—ओणदं अवनमनं भूमा-
वासनमित्यर्थः । (अव. पु. १३, पु. ८६) ।

भूमि स्थित होना—भूमि का स्पर्श कर अवनति
(नमस्कार) करना, यह अवनमन है ।

अवबद्ध—अवबद्धः परेभ्यो द्रव्यं दृष्टीत्वा मास-
वर्षादियन्तं सेवां यतः । (आ. वि. पु. ७४) ।

दुस्तरों से कम सेकर मास वा वर्ष आदि निश्चित काल
तक सेवा के अन्तर्ग में बंध जाने को अवबद्ध कहते
हैं । ऐसा अव्यति बीजा के अव्यव्य होता है ।

अवमस्तकसाधन—अवमस्तकसाधनमधोमुखदानम् ।
(अ. आ. मूला. टी. २२५) ।

नीचे मुख करके सोने को अवमस्तकसाधन कहते हैं ।

अवमान—से कि तं श्रोमाणे ? जणं श्रोमिज्जइ ।
तं जहा—इत्येव वा वंडेण वा अनुपकेण वा जुणेण

वा नासिधाए वा अस्त्रेण वा सुलेण वा × × ×
एएणं अवमानपमाणेणं किं पद्योअणं एएणं ? अवमान-
पमाणेणं आस-चिअ-रहम-करकचिय-कड-पड-भित्ति-
परिस्त्रेवसंसियाणं वव्वाणं अवमानपमाणणिभित्ति-
सम्बलं भवइ से तं अवमाणे । (अनुयो. १३२, पृ.
१५४) । २. निर्वर्तनादिविभागेन क्षेत्रे येनावगाह्य
मीयते तदवमानं दण्डादि । (त. भा. ३, ३८, ३) ।
४. अवमीयते तथा अवस्थितमेव परिच्छिद्यतेऽनेनाव-
मीयत इति वाऽवमानं । (अनुयो. हरि. वृ. पृ.
७६) । ४. निर्वर्तनादिविभागेन क्षेत्रे येनावगाह्य
मीयते तदवमानं दण्डादि । (त. सुखबो. ३-३८) ।
१ जिसके द्वारा अवमित किया जाता है—कुएँ आदि
का प्रमाण जाना जाता है—उसको अवमान जो कुछ
(कुआँ आदि) जाना जाता है उसको भी अवमान
प्रमाण कहा जाता है । इसके द्वारा लाल (साईं या
कुआँ आदि), पित्त (ईंट आदि), रक्षित (प्रासाद-
पीठ आदि), ऋक्षित (करोत से चोरी गई लकड़ी
आदि), चटाई, बरत घोर भित्त आदि की परिधि
का प्रमाण जाना जाता है ।

अवमोदयं—१. वत्तीसा किर कवला पुरिसस्स दु
होहि पयविआहारो । एगकवलादिहि ततो ऊभिय-
यहणं उमोदरियं । (मुला. ५-१५३) । २. समय-
प्रमाण-बोधप्रशम-सन्तोष-स्वाध्यायादिसुखसिद्धयर्थं -
मवमोदयम् । (व. सि. २-१६; त. भा. ६, १६,
३) । अवममित्युपनाम, अवममुदरमस्य (इति)
अवमोदरः, अवमोदरस्य भावः अवमोदयम्—न्यूनोद-
रता । (त. भा. ६-१६) ।

१ पुण्य का जो वत्तीस प्राप्त प्रमाण स्वाभाविक
आहार है, उसमें कमशः एक-दो प्रासाद कम करके
एक प्राप्त तक आहार के ग्रहण करने को अवमोदयं
तप कहते हैं ।

अवमोदयार्तिचारः—मनसा बहुभोजनादरः, परं
बहु भोजयामीति चिन्ता, भुङ्क्व यावद् भवतस्तुप्ति-
रिति वचनम्, भुक्त्वं मया वल्लियुक्ते सम्यक्
कृतमिति वा वचन. कण्ठदेशमुपसृणुय हस्तसंज्ञया
प्रदर्शनं अवमोदयार्तिचारः । (भ. भा. विषयो. ४
मुला. टी. ४८७) ।

मन से अधिक भोजन में रुचि रक्कना, दूसरे को
अधिक खिलाने की चिन्ता करवा, 'जब तक तुम्हें
न हो तब तक खाते रहो' इस प्रकार के वचन

कहना, 'मैंने बहुत खाया' इस प्रकार कहने पर
'बहुत अच्छा किया' इस प्रकार के अनुमोदनात्मक
वचन कहना, गले का स्पर्श करके हाथ के संकेत से
बहु कहना कि आब तो कण्ठ पर्यन्त भोजन किया
है; ये सब अवमोदयंस्त के अतिचार हैं—उसे
मस्तिन करने वाले हैं ।

अवमोदयं—१. गुणवत्सु महत्सु असद्वृत्तदोषोद्-
भावनमवर्णवादः । (स. सि. ८-१३) । २. अन्तः-
कलुषदोषावसद्वृत्तमलोद्भावनमवर्णवादः । गुण-
वत्सु महत्सु स्वमतिकलुषदोषान् असद्वृत्तमलोद्-
भावनमवर्णवाद इति वक्ष्यते । (त. भा. ६, १३, ७;
त. व्लो. ६-१३) । ३. गुणवत्सु महत्सु चान्तः-
कालुष्यसद्भाववादसद्वृत्तदोषोद्भावनमवर्णवदनमव-
र्णवादः । (त. सुखबो. ६-१३) । ४. गुण-
वता महता असद्वृत्तदोषोद्भावनमवर्णवादः । (त.
वृत्ति सूत. ६-१३) ।

१ गुणी महा पुण्यों में जो दोष नहीं हैं, उनको अन्त-
रंग की कलुषता से प्रगट करने को अवर्णवाद
कहते हैं ।

अवलम्बना—अवलम्बने इन्द्रियादीनि स्वोत्पत्तये
इत्यवग्रह अवलम्बना । (वच. पु. १३, पृ. २४२) ।
चूँकि अवग्रह अतिज्ञान अपनी उत्पत्ति में इन्द्रियादि
का अवलम्बन लेता है, अतः उसका अवलम्बना यह
कृत्वा तात्पर्य का नाम है ।

अवलम्बनाकरण—परिमितप्राप्त्यवतरिमट्टि-
द्वयस्स ओवकहण्णाए हेट्ठा भिवदणमवलवणाकरण
णाम (वच. पु. १०, पृ. ३३०) ।

परमधिक प्राप्त्य कर्म की अवतरिम स्थिति के शब्द का
अपकर्षण के वश नीचे गिरने का नाम अवलम्बना-
करण हैं ।

अवलम्ब ब्रह्मचारी—१. अवलम्बब्रह्मचारिणः
क्षुल्लकरूपेणागममयस्य परिगृहीतगृहावासा भवन्ति ।
(भा. सा. पृ. २०; सा. च. स्मो. टी. ७-१६) ।
२. पूर्वं क्षुल्लकरूपेण समम्यस्यागमं पुनः । गृहीत-
गृहावासास्तेऽवलम्बब्रह्मचारिणः ॥ (धर्मसं. भा.
६-२१) ।

गृह के समीप क्षुल्लक वेष धारण करके परमाणम
का अभ्यास कर जो पीछे गृहावास को स्वीकार
करते हैं उन्हें अवलम्ब ब्रह्मचारी कहते हैं ।

अवलोकन—अवलोकनं ह्रतां चौराणामपेक्षाबुद्ध्या

दर्शनम् । (प्रश्नव्या. बृ. पु. १६३; आह्वगु. पु. १०) ।

परधन हरण करने वाले चोरों को अपेक्षाबुद्धि से देखने का नाम अवलोकन है ।

अवश्यायचरणा—अवश्यायमाभित्य तदाश्रयजी-
वानुपरोधेन यान्तोऽवश्यायचरणाः । (योगशा. स्वो.
विध. १-६, पृ. ४१) ।

हिमकणों (घोसबिन्दुओं) का आश्रय लेकर चलते हुए भी तदाभित जीवों की बिराष्टना नहीं करने वाले साधनों को अवश्यायचारण कहते हैं ।

अवध्वञ्जका—अवध्वञ्जकं नाम विवक्षितविध्वंस-
नादिकालस्य ह्लासकरणम्, अर्वाक्करणमित्यर्थः ।
(बृहत्क. व. १६७५) ।

विषयित वस्तु के विघटन आदि कालके ह्रास करने अर्थात् पहले करने या कम करने को अवघटन कहते हैं ।

श्रवस्वन्न—१. जिनवचनानभिज्ञो मुक्तचारित्रभारो
ज्ञानाचरणश्रष्टः करणालसोऽवस्वन्नः । (बा. सा. पृ.
६३) । २. ज्ञान-चारित्रहीनोऽवस्वन्नः स्यात् करणा-
लसः ॥ (आचा. सा. ६-६१) । ३. श्रवसीदति
सामाचार्यामित्यवस्वन्नः । (आश. ह. पृ. म. हे. टि. पृ.
८१) । ४. सामाचार्यविवयेऽवसीदति प्रमाद्यति यः
सोऽवस्वन्नः । (प्रब. सारो. पृ. १०६) । ५. श्रवस्वन्न
श्रावद्यकदिष्वनुद्यमः, क्षताचारः । (आश. भा.
मलय. व. ३-१६५, पृ. ३५) ।

१ जिनबचन से प्रभावित होकर जो साधु ज्ञान और आचरण से भ्रष्ट होता वृथा इन्द्रियों के शयीन होता है उसे अवसन्न भ्रमण कहा जाता है ।
४ सामाचार्य के विषय में प्रमादयुक्त साधु अवसन्न कहा जाता है ।

अवसन्नमरण (श्रोसण्णमरण)—वेदो भासन्न-
 मरण । निर्वाणमार्गप्रस्थितात् संयतसाधायो हीनः
 प्रच्युतः सोऽभिधीयत श्रोसण्ण इति, तस्य मरणं
 श्रोसण्णमरणमिति । श्रोसण्णग्रहणेन पार्श्वस्थाः स्व-
 च्छन्दाः कुशीलाः ससक्ताश्च गृह्णन्ते । तथा चोक्तम्
 —पार्श्वो सच्छदो कुशीलससप्त होति श्रोसण्णा ।
 ज सिद्धिपुत्थिदादो भोहीणा साधुसत्थादो ॥ (भ.
 प्रा. विजयो. २५) ।

मोक्षमार्ग में गमन करते हुए साधुसमूहों से जो
हीन है उसे अवसन्न तथा उसके मरण को अवसन्न-

मरण कहा जाता है ।

अवसन्नासनिष्का— × × × प्रणतानतपरमाणु-
समुदयसमागमेण विना एकिकसे भोसण्णासणिंयाए
वि संभवाभावा । (वच. पृ. ४, प. २३) ।

अनन्तानन्त परमाणुओं के समुदाय से जो स्कन्ध निर्मित होता है, उसका नाम अक्षतप्रासन्निका है। अन्त्य इसके अक्षतप्रासन्न और उत्सन्नप्रासन्न प्रादि नामान्तर भी पाये जाते हैं।

अवसर्पिणी—१. तैरेण (अनुभवादिभिरेण) अवसर्प-
णशीला अवसर्पिणी । (त. सि. ३-२७; त. हलो.
३-२७) । २. अनुभवादिभिरवसर्पणशीला अवसर्पि-
णी । अनुभवादिभिः पूर्वोक्तैरवसर्पणशीला हानिस्वा-
भाविका अवसर्पिणी समा । (त. बा. ३,
२७, ४) । ३. जल्य [बलाउ-उत्सेहाण] हाणी होवि
सो घोसपिणी । (बघ. पु. ६, पृ. ११६; अथय.
१, पृ. ७४) । ४. अवसर्पति वस्तुना क्षतिप्र

क्रमेण सा । प्रोक्ताऽवसर्पिणी सार्था $\times \times \times$ ॥ (३. पु. ७-५७) । ५. भूयवल्-विहवसरीर-सरीरहिः, धम्मणाणगभीरमचरीरहिः । मोहदट्टतर्पहिं धवसर्पिणी (अ. पु. पुष्प. २, वृ. २४) । ६. (अवसर्पिणीए) उस्से-वासऽऽव-नसाण हाणी-वट्ठो य हांति ति । (अि. सार. ७७६) । ७. अवसर्पतिं हीयमानाऽऽरकतया धवसर्प-यति वा ऽऽयुधक-शरीरादिभावान् हापयतीति धव-सर्पिणी । (इषाणां अन्नध. बु. १-५०; प्रव. सारो. बु. १०३२; जम्बूद्वी. बु. २-१८) । ८. अवसर्पतिं क्रमेण हानिमुपपद्यन्ते शुभा भावा अस्मामित्यवसर्पि-णी । (ज्योतिष्क. मलय. बु. २-८३) । ९. उपभो-गादिभिरवसर्पणशीला धवसर्पिणी । (त. सुलबो. ३-२७) । १०. अवसर्पयति हानिं नयति भोगादीन् इत्येवधीलाऽवसर्पिणी । (त. वृत्ति श्रुत. ३-२७) । ११. यस्या सर्वे शुभा भावाः क्षीयन्तेऽनुक्षणं क्रमात् । अशुभाश्च प्रवृत्तन्ते सा अवस्यवसर्पिणी ॥ (लोकप्र. २६-४४) ।

१ जिस काल में जीवों के अनुभव, प्रायुप्रमाण और शरीरादि कम से घटते जाते हैं उसे अवसर्पिणी कहते हैं ।

भवसंज्ञासंज्ञा—देखो भवसन्नासन्निका । अनन्ता-
नन्तसंस्थानपरमाणुसमुच्चयः । भवसंज्ञादिकासंज्ञा
स्कन्धजातिस्तु जायते ॥ (ह. पृ. ७-३७) ।

अनन्तानन्तसंख्या वाले परमाणुओं के समुदाय को

अवसंज्ञासंज्ञा कहते हैं ।

अवस्तोभन—अवस्तोभनम् अनिष्टोपशान्ते निष्ठी-
वनेन धुमुकरणम् । (बृहत्क. नृ. १३०६) ।

अनिष्ट की उपशान्ति के लिये धुम करके धू-धू करने
को अवस्तोभन कहते हैं ।

अवस्थान—पुनिल्लद्विदिसंतसमाणद्विदीणं बंधन-
मधंष्टाणं गाम । (अथ. ४, पृ. १४१) ।

पुनं के स्थितितत्त्व के समान स्थितियों के बंधने का
नाम अवस्थान है ।

अवस्थित—१. इतरोऽधिः सम्यग्दर्शनादिगुणाव-
स्थानाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्तत्परिमाण एवाऽवतिष्ठते,
न हीयते नापि बध्नेति लिङ्गवत् भावसंज्ञायादा केवल-
ज्ञानोत्पत्तेर्वा । (स. सि. १-२२; त. भा. १, २२,
४; त. ब्रह्म. १-२२; त. ब्रुति. अत. १-२२) ।

२. अवस्थितं यावति क्षेपे उत्पन्न भवति ततो न
प्रतिपतत्या केवलप्राप्तेः, अवतिष्ठते प्रा अवसंज्ञाया
जात्यन्तरस्यापि भवति लिङ्गवत् । (त. भा. १-२३) ।

३. जं भोहिणाणं उप्पज्जिव वट्ठिद-हाणीहि विणा
दिणयरमंडलं व अवट्ठिदं होदूण अच्छदि जाव केवल-
णाणमुत्पणं ति तं अवट्ठिदं गाम । (अथ. पु. १३,
पृ. २६४) । ४. अवस्थितोऽधिः शुद्धैरवस्थानानि-
यम्यते । सर्वोऽङ्गना विरोधस्याप्यभावान्नानवस्थितेः ॥
(स. ब्रुति. १, २२, १४) । ५. अवस्थितमिति—अव-
तिष्ठते स्म अवस्थितम्, यथा मात्रया उत्पन्नं तां मात्रा
न जहातीति यावत् । (स. भा. सिद्ध. नृ. १-२३) ।

६. अवस्थित यत्र प्रतिपतति आदित्यमण्डलवत् ।
(कर्मस्तब गो. नृ. ६-१०) । ७. यद्वाणि-वृद्धिम्यां
विना सूर्यमण्डलवदेकप्रकारमेव अवतिष्ठते तदवस्थि-
तम् । (गो. जी. न. प्र. व जी. प्र. टी. ३७२) ।

१ जो अवस्थिज्ञान सम्यग्दर्शनादि गुणों के अवस्थान
से जिस परिमाण में उत्पन्न हुआ है उससे अब के
अन्त तक या केवलज्ञान की प्राप्ति होने तक न
घटता है और न बढ़ता है, किन्तु उतने ही प्रमाण
रहता है उसे अवस्थित अवधि कहते हैं ।

अवस्थित उपतप (अवट्ठिदुगतव)—१. तत्त्व
विश्वद्रुमेगोववासं काळण पारिय पुणो एकहंतरेण
मच्छंतस्स किंचिणिमित्तेण छट्ठोववासो जादो, पुणो
तेण छट्ठोववासेण विहरंतस्स अट्ठोववासो जादो ।
एवं दसम-बुधालसादिकमेण हेट्ठा ण पदतो जाव
जीविदंतं जो विहरंति अवट्ठिदुगतवो गाम । (अथ.

पु. ६, पृ. ८६) । २. वीक्षोपवासं कृत्वा पारणा-
नन्तरयेकान्तरेण चरतां केनापि निमित्तेन षष्ठोप-
वासे जाते तेन विहरतामष्टमोपवासं भवे तेनाचर-
तामेवं दश-द्वादशादिकमेणावो न निवर्तमानानां याव-
ज्जीवं येषां विहरणं तेऽवस्थितोपतपसः । (भा. सा.
पृ. ६८) ।

१ वीक्षा के लिये एक उपवास करके षष्ठ्यात् पारणा
करता है, तत्पश्चात् एक दिन के अन्तर से उपवास
करता हुआ किसी निमित्त से एक उपवास के स्थान
पर षष्ठ्योपवास (दो उपवास) करने लगता है ।
फिर दो उपवासों से विहार करता हुआ षष्ठ्योपवास
के स्थान में अष्टमोपवास करने लगता है । इस
प्रकार दशम और द्वादशम आदि के क्रम से जो
जीवन पर्यन्त इन उपवासों को बढ़ाता ही जाता है,
वीछे नहीं हटता है, वह अवस्थित-उपतप का धारक
होता है ।

अवस्थित-उदय—तत्तिये तत्तिये चैव पदेसगे उव-
यमागदे अवट्ठिद-उदयो गाम । (अथ. पु. १४, पृ.
३२५) ।

अनन्तर अतीत और वर्तमान दोनों ही समयों में
यदि उतने ही प्रवेशाप्र का उदय होता है तो वह
अवस्थित-उदय कहलाता है ।

अवस्थित-उदीरणा—दोसु वि समएसु तत्तिया
चैव पयडीसो उदीरंतस्स अवट्ठिद-उदीरणा । (अथ.
पु. १४, पृ. ५०) ।

अनन्तर अतीत और वर्तमान दोनों ही समयों में
यदि उतनी ही प्रकृतियों की उदीरणा की जाती है
तो वह अवस्थित-उदीरणा कहलाती है ।

अवस्थित गुणकार—× × × ज छेत्तोवमभग-
णिजीवपमाणं होदि एसो परमोहोए दब्ब-खेत्त-काल-
भावानं सत्तागरासि ति पुव द्वेदब्बो । पुणो दो
धावलियाए असखेज्जादिभागा समसत्ता, ते वि पुव द्वे-
दब्बा । तत्त्व दाहिणपासद्वियस्स पडिगुणगारो अवट्ठिद-
गुणगारो ति बोणि गामाणि । (अथ. नृ. ६, पृ. ५५) ।

संज्ञोपव अग्नि जीवों के प्रमाण को परमावधि के
अथ, क्षेत्र, काल और भाव की क्षलाका राशि मान-
कर उसे अलग रखना चाहिये । पश्चात् समान संख्या
वाले आक्षेपों के दो अवस्थित भागों को भी अलग
रखना चाहिये । इनमें दाहिने पार्श्व भाग में स्थित

राशि को अवस्थित भुणकार या प्रतिभुणकार कहा जाता है।

अवस्थित (ज्योतिष्क)—अवस्थिता इत्यविचारिणोऽवस्थितविमानप्रदेशा अवस्थितलेखा-प्रकाशा इत्यर्थः। सुखशीतोष्णरम्यश्चेति। (त. भा. ४, १६)।

अर्द्धाई द्वीप के बाहिर स्थित सूर्य-चन्द्रादि ज्योतिषी के चूँकि संचारसे रहित हैं, अतएव वे अवस्थित कहे जाते हैं। उनके विमानों के प्रवेश, वर्ण और प्रकाश भी स्थिर हैं। उक्त विमान सुखर शीत व उष्ण किरणों से संयुक्त हैं।

अवस्थित (द्रव्य)—१. इयत्ताव्यभिचाराववस्थितानि। धर्मादीनि षडपि द्रव्याणि कदाचिदपि षडिति इयत्त्वं नातिवर्तन्ते, ततोऽवस्थितानीत्युच्यन्ते। (स. सि. ५-४)। २. इयत्तानतिवृत्तेरवस्थितानि। धर्मादीनि षडपि द्रव्याणि कदाचिदपि षडिति इयत्त्वं नातिवर्तन्ते, ततोऽवस्थितानीत्युच्यन्ते। अववा, धर्माधर्म-लोकाकाशैकजीवाना तुल्यासत्त्वेष्वप्रदेशस्त्वम्, प्रलोकाकाशस्य पुद्गलाना चानन्तप्रदेशत्वमित्येतदियत्त्वम्, तस्याननिवृत्तेः अवस्थितानीति व्यपदिश्यन्ते। (त. भा. ५, ४, ३)। ३. इयत्तां नातिवर्तन्ते यतः षडिति जानुचिन्। अवस्थितत्वमेतेषा कथयन्ति ततो जिनाः॥ (त. सा. ३-१५)।

२ धर्मादिक छहों द्रव्य चूँकि कभी भी 'छह' इतनी संख्या का प्रतिक्रमण नहीं करते—सवा छह ही रहते हैं, हीनाधिक नहीं; इसलिये वे अवस्थित कहे जाते हैं। अववा—धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव; ये समानरूप से असंख्यातप्रदेशी हैं तथा प्रलोकाकाश और पुद्गल अनन्तप्रदेशी हैं, यह जो उनके प्रदेशों का नियत प्रमाण है उसका चूँकि वे द्रव्य कभी प्रतिक्रमण नहीं करते हैं; इसलिये वे अवस्थित कहे जाते हैं।

अवस्थितबन्ध—यत्न तु प्रथमसमये एकविधादि-बन्धको भूत्वा द्वितीयसमयादिष्वपि तावन्मात्रमेव बध्नाति सोऽवस्थितबन्धः। (सप्तक. वे. स्तो. बृ. २२)।

प्रथम समय में एकविध आदि जैसा बन्ध हो रहा था, द्वितीयसमय में भी यदि उतना ही बन्ध होता है तो वह अवस्थित-बन्ध कहलाता है।

अवस्थितविभक्तिक—१. प्रोक्तकाविदे [उत्स-

क्काविदे वा] तत्तियाधो चेव विहृतीधो एसो अव-द्विदविहृतिधो। (कसायपा. बृ. २३४, पृ. १२३; ज्यष. पु. ४, पु. २)। २. प्रोक्तकाविदे उत्सक्काविदे वा यदि तत्तियाधो तत्तियाधो चेव द्विदिविहृतिधो द्विदिविहृतीधो होंति तो एसो अवद्विदविहृतिधो गाम। (ज्यष. ४, पु. २-३)।

अपकर्षण करने पर यदि उतनी ही स्थितिबिभक्तियां रहती हैं तो यह जीव अवस्थितविभक्तिक कहलाता है।

अवस्थित संक्रम—जदि तत्तियो तत्तियो चेव दोसु वि समएसु फह्वाण संक्रमो होदि तो एसो अवद्विदसक्रमो। (ज्य. पु. १६, पृ. ३६८)।

यदि अनन्तर प्रतीत और वर्तमान दोनों ही समयों में उतना-उतना मात्र ही स्पर्शकों का संक्रमण होता है तो इसे अवस्थित संक्रम जानना चाहिये।

अवात्सल्य—साधर्मिकस्य सधस्य पीडितस्य कुत-श्चन। न कुर्याद् यसमाधानं तदवात्सल्यमीरितम्। बर्म्मस. भा. ४-५१)।

किसी भी कारण से पीडित साधर्मों उनके संबंध का समाधान नहीं करना, इसे अवात्सल्य कहते हैं।

अवान्तरसत्ता—१. अन्या तु प्रतिनियतवस्तुवर्तिनी स्वरूपास्तित्वसूचिकाऽवान्तरसत्ता। (पञ्चा. का. प्रमुल. बृ. ८)। २. प्रतिनियतवस्तुव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता, प्रतिनियतैकपर्यायव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता। (नि. सा. बृ. ३४)। ३. अपि चावान्तरसत्ता सद्द्रव्यं सन् गुणवच पर्यायः। संक्षोत्पादध्वतो सदिति प्रोव्य किलेति विस्तारः॥ (पञ्चाध्यायी १-२६६)।

१. जो प्रतिनियत वस्तु में अवाप्त रहकर अपने स्वरूप के अस्तित्व की सूचना देती है उसे अवान्तरसत्ता कहते हैं।

अध्याय, अध्याय—१. अध्यायो, अवसाधो, बुद्धी, विज्णाणी [विज्णत्ती], आउंडी, पञ्चाउंडी। (षट्-सं. ५, ५, ३६—पु. १३, पृ. २४३)। २. विशेष-निर्ज्ञानाद्यात्वात्मावगमनमध्यायः। (स. सि. १, १५)। ३. ववसायं च अध्याय × × ×॥ (आव. नि. ३; विशेषा. १७८)। ४. तत्सावगमोऽध्यायो। (विशेषा. १७६)। ५. अवगमनमध्यायो त्ति य अथावगमो तयं हवइ सव्वं। (विशेषा. गा. ४०१)। ६. अध्यायो निधस्यः॥ (नधीय १-५); स्थितिविशेषनिर्णयोऽध्यायः। (नधीय. स्तो. बृ.

१-५; प्र. म. त. २-६; प्र. जी. १, १, २८) ।
 ७. विशेषनिर्ज्ञानाद्यात्मास्यावगमनमवायः । आधादि-
 विशेषनिर्ज्ञानात्स्य याथात्म्येनावगमनमवायः दाक्षि-
 णातोऽप्यम्, युवा, गौर इति वा । (त. वा. १, १५,
 ३); म. प्रकान्तार्थविशेषनिश्चयोऽवायः । (आव.
 हरि. वृ. २, पृ. ६) । ८. ईहितस्यार्थस्य निश्चयो-
 ऽवायः । (अव. पु. १, पृ. ३५४); ईहितस्यार्थस्य
 सन्देहापोहनमवायः । (अव. पु. ६, पृ. १७);
 ईहाण्तरकालभावी उत्पण्णसन्देहाभावरूपो अवायो ।
 (अव. पु. ६, पृ. १८); ईहितस्यार्थस्य विशेष-
 निर्ज्ञानाद् याथात्म्यावगमनमवायः । (अव. पु. ६,
 पृ. १५४); स्वगतलिङ्गविज्ञानात् संशयनिराकरण-
 द्वारेणोत्पन्ननिर्णयोऽवायः । यथा उत्पन्न-पक्षविशे-
 षादिभिर्बलाकार्पणितरेवेयं न पताकेति, वचनश्रवणतो
 दाक्षिणात्य एवायं नोदीच्य इति वा । (अव. पु. १३,
 पृ. २१८); अवेयते निश्चयते मीमांस्यतेऽर्थोऽने-
 त्यवायः । (अव. पु. १३, पृ. २५३) । १०. ईहादो
 जवरिमं गाणं विचारफलप्य अवायो । (अव. पु.
 १, पृ. ३३६) । ११. तस्यैव (ईहागृहीतार्थस्यैव)
 निर्णयोऽवायः । (त. वलो. १, १५, ४) । १२.
 भवितव्यताप्रत्ययरूपात् तदोहितविशेषनिश्चयो-
 ऽवायः । (प्रमाणप. पृ. ६८) । १३. ईहणकरणेण
 जवा सुणिण्णो होदि सो अवायो दु । (गो. जी.
 गा. ३०८) । १४. तत्त्वप्रतिपत्तिरवायः । (सिद्धिचि.
 वृ. २-६) । १५. तद्विषयस्य (ईहाविषयस्य)
 देवदत्त एवायमित्यवधारणावान्व्यवसायोऽवायः ।
 (प्रमाणप. पृ. २८) । १६. सापि (ईहापि) अवायो
 भवति—आकाक्षितविशेषनिश्चयो भवति । (न्यायकु.
 १-५, पृ. ११६) । १७. प्रकान्तार्थविशेषनिश्चयो-
 ऽवायः । (स्वानां अमय. वृ. ३६४, पृ. २६६) ।
 १८. पुरुष एवायमिति वस्तुव्यवसायात्मको निश्चयो
 ऽवायः । (कर्मस्तव गो. वृ. ६-१०, पृ. ८१) ।
 १९. ईहितस्यार्थस्य भवितव्यतारूपस्य सन्देहापो-
 हनमवायः भव्य एवाय नामव्यः, भव्यत्वाविनाभावि-
 स्यम्यदर्शन-ज्ञान-चरणानामुपलम्भात् । (भूला. वृ.
 १२-१८७) । २०. ईहितार्थस्य लिङ्गं यस्तद्विशेष-
 विनिश्चयः । अवायो साट एवायमिति भाषाविभि-
 र्यथा ॥ (आभा. सा. ४-१४) । २१. ईहाकोडीकृते
 वस्तुनि विशेषस्य 'शाङ्ख एवाय शब्दो न शाङ्खः'
 इत्येकपस्यावधारणम् अवायः । (प्रमाणप. स्वी. वृ.

१, १, २८) । २२. ईहियमत्यस्त पुणो बाणु पुरि-
 सो ति बहुवियप्यस । जो णिच्छयावबोवो सो हु
 अवायो वियाणाहि । (अं. वी. प. १३-५६) ।
 २३. तदनन्तर- (ईहानन्तर-) मपायो निश्चयः ।
 (कर्मचि. पृ. व्या. १३, पृ. ८; व्यव. भा. वृ. १०,
 २७६; गु. गु. व. स्वी. वृ. ३७, पृ. ८६) । २४.
 पुरुष एवायमिति वस्तुव्यवसायात्मको निश्चयो-
 ऽवायः । (कर्मस्तव गो. वृ. वा. ६-१०, पृ. ८१) ।
 २५. सद्भूतविशेषानुयायिनिङ्गदर्शनावसद्भूतविशेष-
 प्रतिकोपेण सद्भूतविशेषावधारणमवायज्ञानम् ।
 (अमं. मलय. वृ. ४४); अवग्रहानन्तरमीहितस्यार्थ-
 स्यावगमो निश्चयो यथा शाङ्ख एवायं शब्दो न
 शाङ्ख इति अवायः । (अमं. मलय. वृ. ८२३) ।
 २६. ईहितस्यार्थस्य निर्णयरूपो योऽव्यवसाय.
 सोऽवायः शाङ्ख एवायं शाङ्ख एवायमित्यादिरूपो
 अवधारणात्मको निर्णयोऽवायः । (प्रमाण. मलय.
 वृ. १५, २, २००) । २७. तस्यैव अवग्रहीतस्य
 ईहितस्यार्थस्य निर्णयरूपोऽव्यवसायोऽवायः शाङ्ख
 एवाय शाङ्ख एवायमित्यादिरूपोऽवधारणात्मकः प्रत्य-
 योऽवाय इत्यर्थः । (नन्वी. मलय. वृ. २६, पृ. १६८;
 आव. नि. मलय. वृ. २, पृ. २३) । २८. ईहितस्यैव
 वस्तुनः स्थापुरेवाय न पुरुष इति निश्चयात्मको
 बोधोऽवायः । (कर्मचि. परमा. व्या. १३, पृ. ६) ।
 २९. कुतश्चित्तद्गतोत्पन्न-पक्षविशेषादिविशेषविज्ञा-
 नाद् बलाकैवेय न पताकेत्यवधारणं निश्चयोऽवायः ।
 (त. सुखावो. १-१५) । ३०. ईहितस्यैव वस्तुनः
 स्थापुरेवायमित्यादिनिश्चयात्मको बोधविशेषोऽवा-
 यः । (कर्मचि. वे. स्वी. वृ. वा. १३) । ३१. याथा-
 त्म्यावगमन वस्तुस्वरूपनिर्धारणम् अवायः । (त.
 वृत्ति. अत. १-१५) । ३२. अवेहितस्य तस्यैवमि-
 मेवेति निश्चयः । अवायो $\times \times \times$ ॥ (लोकप्र. ३,
 ७१२) । ३३. ततो सुणिण्णो खलु होदि अवायो
 दु वस्तुजादाण । (अमय. २-६२) ।

७ भाषादिविशेष के ज्ञान से यथार्थरूप में ज्ञानना
 इसका नाम अथाय है । जैसे—यह वक्षिणी ही
 है, युवक है, अथवा गौर है इत्यादि । कहीं-कहीं
 इसका उल्लेख अथाय शब्द से भी हुआ है । (देखो
 नं. २६ आदि) ।

अथिप्रहृगति—विग्रहो व्याघातः कौटिल्यमित्यर्थः ।
 स यस्या न विद्यतेऽसावविग्रहा गतिः । (त. सि.

२-२७; त. बा. २-२७; त. श्लो. २-२७; त. सुखबो. २-२७; त. वृत्ति श्रुत. २-२७)।

विग्रह का अर्थ एकावट या कुटिलता होता है, तदनुसार जीव की जो गति वक्रता, कुटिलता या मोड़ से रहित होती है उसे अविग्रहगति कहते हैं। अर्थात् एक समय वाली श्रृङ्गगति या इधुगति का नाम अविग्रहगति है।

अविषुष्ट—विक्रोशनमिव यद्विस्वर न भवति तदविषुष्टम् । (जम्बूद्वी. बृ. १-६)।

जो स्वर विकाश (चिल्लाहट) के समान विस्वर (अवगकट) न हो उसे अवषुष्ट कहते हैं।

अविचार—(देखो अवबोधाचार) यद् व्यञ्जनार्थं योगेषु परावर्तविवर्जितम् । चिन्तनं तदवबोधाचार स्मृतं सव्यधानकोविदैः ॥ (गुण. कला. ७६, पृ. ४७; भाष. स. बाम. ७१८)।

जो ध्यान व्यञ्जन, अर्थ और योग के परिवर्तन से रहित होता है उसे अविचार या अवबोधाचार कहते हैं।

अविचारभक्तप्रत्याख्यान—१. अविचार वक्ष्यमाणाहंदिनानाप्रकाररहितम् ॥ (भ. प्रा. बिजयो. टी. ६५)। २. अविचार परगणसंक्रमणलक्षणविचाररहितम् ॥ (भ. प्रा. मूला. टी. ६५)।

पर गण या अर्थ संघ में गमन का परित्याग कर आहार-वान के क्रमशः त्याग करने को अविचारभक्तप्रत्याख्यान कहते हैं।

अविच्युति (अवायज्ञानभेद)—१. अवायज्ञानानन्तरमन्तर्मुहूर्तं यावत्तदुपयोगादविच्यवनमविच्युतिः । × × × अविच्युति-वासना-स्मृतयश्च धरणलक्षणसामान्यान्वर्थयोगाद्वारणेत्यभिप्रेक्ष्यते । (अर्थसं. मलय. बृ. ४४) ; अथग्रहादिक्रमेण निश्चितार्थविषये तदुपयोगादप्रभोऽविच्युतिः । (धर्मसं. मलय. बृ. ८२३)। २. तत्रैकार्थोपयोगसातत्यानिवृत्तिरविच्युतिः । (जैनतर्क. पृ. ११६)।

अवायज्ञान के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त तक निश्चय किये गये पदार्थ के उपयोग से च्युत नहीं होने को अर्थात् उसकी धारणा बनी रहने को अविच्युति कहते हैं। अविच्युति, वासना और स्मृति ये तीन धरण सामान्य स्वरूप अन्वर्थक सम्बन्ध से धारणा कहे जाते हैं।

अवितथ श्रुत—वितथमसत्यम्, न विद्यते वितथं यस्मिन् श्रुतज्ञाने तदवितथम्, तथ्यमित्यर्थः । (अथ.

पृ. १३, पृ. २८६)।

जिस वचन में वितथ—असत्यता—नहीं होती, उसे अवितथ श्रुत कहते हैं।

अविद्या—१. अविद्या विपर्ययात्मिका सर्वभावेष्ट्वनित्यानास्माद्युचि-दुःखेषु नित्य-सात्मक कृचि-मुखाभिमानरूपा । (त. बा. १, १, ४६)। २. नित्यशुच्यात्मताख्यातिरनित्याशुच्यानात्मसु । अविद्यातत्त्वधीविद्या योगाचार्यैः प्रकीर्तिता ॥ (ज्ञानसार १४-१)। ३. अविद्या विप्लवज्ञानम् । (सिद्धिचि. टी. पृ. ७४७)। ४. अविद्या कर्मकृतो बुद्धिविपर्यासः । (आच. ह. बृ. मस. हेम. टि. पृ. ५६)। ५. अनित्ये चेतनात् जातिभिन्नमूर्तपुद्गलग्रहणोत्पन्ने परसंयोगे या नित्यताख्यातिः सा अविद्या, अशुचिषु शरीरादिषु श्रवन्मवद्वाररन्ध्रेषु कृध्यस्वरूपावतरणमिति तेषु कृचि-ख्यातिः अनात्मसु पुद्गलादिषु आत्मताख्यातिः 'ग्रह मन्थे' इति बुद्धिः इदं शरीरं मम ग्रहमेवेति तस्य पुष्टी पुष्टः इति ख्यातिः कथम ज्ञानं तत्र रमणम्, इयमविद्या । (ज्ञानसार बृ. १४-१)।

अनित्य, अनात्म, अशुचि और दुःख रूप सब पदार्थों में नित्य, सात्म, कृचि और सुख रूप जो अभिमान होता है; इस प्रकार की विपरीत बुद्धि को बौद्ध-मतानुसार अविद्या माना गया है।

अविनेय—१. तत्त्वार्थश्रवण-ग्रहणाभ्यामसम्पादितगुणा अविनेयाः । (स. सि. ७-११)। २. तत्त्वार्थश्रवणग्रहणाभ्यामसम्पादितगुणा अविनेयाः । तत्त्वार्थोपदेश-श्रवण-ग्रहणाभ्यां विनीयन्ते पात्रीक्रियन्ते इति विनेयाः, न विनेयाः अविनेयाः । (त. बा. ७, ११, ८; त. श्लो. ७-११)। ३. अविनेया नाम मृत्तिष्ठकाष्ठ-कुड्यभूता ग्रहण-धारण-विज्ञानोहापोहविरुक्ता महामोहाभिभूता दुष्टावस्थाहिताश्च । (त. बा. ७-६)। ४. तत्त्वार्थोपदेश श्रवण-ग्रहणाभ्यां विनीयन्ते पात्रीक्रियन्ते इति विनेयाः, न विनेया अविनेयाः । (त. सुखबो. बृ. ७-११)। ५. तत्त्वार्थकर्णन-स्वीकरणाभ्यामृते अनुत्पन्नसम्पक्वादिगुणा न विनेतुं शिक्षयितुं शक्यन्ते ये ते अविनेयाः । (त. वृत्ति श्रुत. ७-११)।

१ तत्त्वार्थ के श्रवण और ग्रहण के द्वारा विनीतता आदि सद्गुणों को न प्राप्त करने वाले अविनेय कहे जाते हैं।

अविपाकनिर्जरा—१. यत्कर्म अप्राप्तविपाककालं

धीपक्वमिदं विषयवत्तमस्मात् प्रनुदीर्घं बलादुदीर्य उदयावली प्रवेष्ट्य वेद्यते भ्रात्राभ्यन्तरादिपाकवत् सा प्रविपाकजा निर्जरा । (त. सि. ८-२३; त. भा. हृत्. पु. ८-२४; त. भा. ८, २३, २; त. भा. सिद्ध. पु. ८-२४; त. सुखबो. पु. ८-२३) ।

२. यत्तुपायविपाच्यं तदाऽऽप्रादिवत्तपाकवत् । प्रनुदीर्घं मुदीर्याऽऽनुनिर्जरा त्वविपाकजा ॥ (ह. पु. ५८, २६५) । ३. प्रनुदीर्घं तपःशक्त्या यत्रोदीर्योदयावलीम् । प्रवेष्ट्य वेद्यते कर्म सा भवत्यविपाकजा ॥ (त. सा. ७-४) । ४. × × × प्रविपक्व उवाय-सकषयादो ॥ (बृ. न. क. १५८) । ५. तपसा निर्जरा या तु सा चोपक्रमनिर्जरा । (चन्द्र. क. १८, ११०) । ६. विधीयते या (निर्जरा) तपसा महीयसा विधेयणी सा परकर्मवारिणी ॥ (अमि. भा. ३-६५) । ७. द्वितीया निर्जरा भवेत् प्रविपाकजाताऽनुभवमन्तरैर्कहेलया कारणवशात् कर्मविनाशः । (मूला. पु. ५-४८) । ८. परिणामविशेषोत्थाऽप्राप्तकालाविपाकजा । (भाषा. सा. ३-३४) । ९. यत्कर्म बलादुदयावलीं प्रवेष्ट्यानुभूयते भ्रात्रादिवत् सेतरा । (अन. क. स्तो. टी. २-४३) । १०. उपक्रमेण दत्तकालानां कर्मणां यत्नमविपाकजा । (अ. भा. मूला. टी. १८४७) । ११. यच्च कर्म विपाककालमप्राप्तमनुदीर्घं बुद्धयमनागतम् उपक्रमक्रियाविशेषबलादुदीर्य उदयमानीय भ्रात्राद्यते सहकारफलकदलीकल-कण्टकफलाविपाकवत् बलाद् विपाच्य भुज्यते सा प्रविपाकनिर्जरा कथ्यते । (त. वृत्ति. धृत. ८-२३) । १२. प्रविपाकनिर्जरा तपसा क्रियमाणाऽनशनादि-द्वादशप्रकारेण विधीयमाना । यथा अप-कानां कदलीफलानां हठात् पाचनं विधीयते तथा अनुदयप्राप्तानां कर्मणां तपश्चरणादिना त्रिद्व्यभिसेपेण कर्मनियेकाणां गालनम् । (कार्तिके. टी. १०४) ।

१ जिस कर्मका उदयकाल धर्म प्राप्त नहीं हुआ है, उसे तपश्चरणादिरूप औपक्रमिक क्रियाविशेष के सामर्थ्य से बलपूर्वक उदयावली में प्रवेश कराके भ्रात्रादि फलों के पाक के समान वेदन करके को प्रविपाकनिर्जरा कहते हैं ।

प्रविभागप्रतिच्छेद—१. प्रविभागपलिच्छेदो नाम नस्ति विभागो जस्य सो प्रविभागपलिच्छेदो, सजोगिस्त करणवीर्यं बुद्धीं छिज्जमाणं २ जाहे विभागं नो हव्यमाणञ्छति ताहे प्रविभागपलिच्छे-

दोति वा वीर्यपरमाणु ति वा भावपरमाणु ति वा एगट्ठा । (कर्मप्र. बृ. १-५, पु. २३); प्रविभागपलिच्छेदपक्षवशां नाम सरीर-पदेसां गुणिनां क्षुण्णितं क्षुण्णितं विमज्जंतं जं विभागं ण देति सो प्रविभागपलिच्छेदो बुच्छति । कर्मप्र. बृ. बं. क. भा. ५, पु. २४) । २. एक-मिह परमाणुमि जो जहण्णणञ्छिदो प्रणुभागो तस्स प्रविभागपलिच्छेदो ति सण्णा । (अब. पु. १२, पु. ६२); एगपरमाणुमि जा जहण्णिया बह्वी सो प्रविभागपलिच्छेदो नाम । तेण पमाणेण परमाणुणं जहण्णणुणे उक्कस्सगुणे वा छिज्जमाणे प्रणतविभाग-पलिच्छेदा सव्वजीवेहिं प्रणतगुणेत्ता होंति । (अब. पु. १४, पु. ४३१) । ३. यस्यां सत्त्व प्रज्ञाच्छेदनकेन विभागः कर्तुं न शक्यते सोऽजोऽविभाग उच्यते । किमुक्तं भवति ? इह जीवस्य वीर्यं केवलप्रज्ञाच्छेदन-केन छिद्यमानं छिद्यमानं यदा विभागं न प्रयच्छति तदा सोऽन्तिर्मोऽजोऽविभाग इति । (कर्मप्र. अल्य. पु. १-५, पु. २४) ।

१ सयोगी जीव के वीर्यगुण के वृद्धि से तब तक छेद किये जावें, जब तक कि उससे भागे और कोई विभाग उत्पन्न न हो सके । ऐसे अन्तिम प्रविभागी अंश को प्रविभागप्रतिच्छेद कहते हैं । इसी को वीर्यपरमाणु प्रथवा भावपरमाणु भी कहा जाता है । २ एक परमाणु में जो अल्प प्रनुभाग की वृद्धि होती है उसका नाम प्रविभागप्रतिच्छेद है ।

प्रविरतसम्यग्दृष्टि—१. नो इदि एषु विरदो णो जीवे दावरे तसे चावि । जो सदृष्टि जिणुतं सम्मा-इद्वी प्रविरदो सो ॥ (प्रा. पंचसं. १-११; अब. पु. १, पु. १७३ उ; गो. जी. २६; भावसं. वे. २६१) । २. स्वाभाविकान्तजानाद्यनन्तगुणाधारभूतं निज-परमात्मद्रव्यमुपादेयम् । इन्द्रियसुखादिरद्रव्यं हि हेतमित्यहेतुसर्वज्ञानी-निश्चय-अव्यवहारनयसाध्यसा-धकभावेन मन्यते, परं किन्तु भूमिरेखादिसदृश-क्रोधादिद्वितीयकषायोदयेन मारणनिमित्तं तत्तद्विर-हीततत्स्करवदात्मनिगदादिसहितः सन्निद्रियसुखमनु-भवतीत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम् । (बृ. पुण्यसं. १३, पु. २८) । ३. विरमति स्म सावधयोगेभ्यो निवर्तते स्मेति विरतः, × × × न विरतोऽविरतः, यद्वा क्लोबभावे क्लृप्त्यये विरमणं विरतम्, सावधयोग-प्रत्याख्यानम्, नास्य विरतमस्तीत्यविरतः, स चासी

सम्यग्दृष्टिस्थेति अविरतसम्यग्दृष्टिः । (बंधसं. मल्ल. बृ. १-१५, पृ. २०) । ४. तिविहे वि ह्नु सम्मते येवा वि न जस्स विरड् कम्म-वसा । सो अविरप्पो ति भण्ड $\times \times \times$ ॥ (अलक. भा ८६, पृ. २१; गु. बृ. वट्. स्वो. बृ. १८) । ६. अविरतमम्यग्दृष्टिरप्रत्याक्ष्यानकोदये । (योगवा. स्वो. विव. १-१६) । ७. सम्यक्त्वे सति विरतिर्यत्र स्तोकाऽपि नो भवेत् । सोऽत्राविरतिसम्य-क्त्वगुणस्तुयो निगद्यते । (सं. कर्मप्रकृतिवि. ६) । ८. द्वितीयानां कथायाथामुदयाद् व्रतवर्जिनम् । सम्य-क्त्वं केवलं यत्र तच्चतुर्थं गुणास्पदम् ॥ (गुण. कम्मा. १६, पृ. १२) । ८. सावद्ययोगविरतो यः स्यात् सम्यक्त्ववानपि । गुणस्थानमविरतसम्यग्दृष्ट्याख्य-मस्य तत ॥ (लोकप्र. ३-११५७) ।

१ जो इन्द्रियविषयों से विरत नहीं है, अतः व स्वा-वर जीवों का रक्षण भी नहीं करता है, किन्तु जिणवाणी पर भट्टा रखता है वह अविरतसम्यग्-दृष्टि—चतुर्थं गुणस्थानवर्ती—कहा जाता है ।

अविरति—१. विरमण विरतिः, न विद्यते विरति-रस्येत्यविरतिः, अथवा अविरमणमविरतिरसंयम इत्य-नर्थभेदः, तद्धेतुत्वादविरतिरस्येत्यविरतिलोभपरिणा-मः सर्वेषामेव हिसानामविरमणभेदानां लोभः । (जयच. प. ७७७) । २. अविरतिस्तु सावद्ययोगा-निवृत्तिः । (आव. नि. हरि. बृ. ७४०, पृ. २७६; विसेवा. भा. बृ. गा. ७४०. पृ. ६३४; आव. मल्ल. बृ. ७४०, पृ. ३६५) । ३. अविरतिः सावद्य-योगेभ्यो निवृत्त्यभावः । (षडशीति मल्ल. बृ. ७४) । ४. अम्यन्तरे निजपरमात्मस्वरूपभावनोत्पन्न-परमसुखाभूतचित्तविलक्षण, बहिर्विषये पुनरवतरूपा चेत्यविरतिः । (बृ. इन्द्रसं. टी. ३०, पृ. ७६) । ५. निर्विकारस्वसंविद्विपरितव्रतपरिणामविकारो-ऽविरतिः । (समयप्रा. जय. बृ. ६५) ।

१ हिंसावि पापों से विरत होने का नाम विरति है । ऐसी विरति के अभाव को अविरति कहते हैं । अविरति और असंयम ये समानार्थक शब्द हैं । इस अविरति का प्रमुख कारण लोभ है, अतः उस लोभ परिणाम को भी अविरति कहा जाता है । अविराधना—विराधना अपराधासेवनम्, तन्नि-येषादविराधना । (बोद्धसक बृ. १३-१४) ।

अपराध के सेवन का नाम विराधना है, उससे विप-रीत अविराधना जानना चाहिये । तात्पर्य यह कि धारण किये हुए सम्यक्त्व, व्रत या चारित्र्य की विराधना या अपराधना नहीं करने को अविराधना कहते हैं ।

अविरुद्धानुपलब्धि—१. अविरुद्धानुपलब्धिः प्रति-येवे सप्तया—स्वभाव-व्यापक-कार्य-कारण-पूर्वोत्तर-महत्वरानुपलम्भभेदात् । (परीक्षा. ३-७८) । २. अविरुद्धस्य प्रतिषेध्येनार्थेन सह विरोधमप्राप्तस्य वस्तुनोऽनुपलब्धिरविरुद्धानुपलब्धिः । (स्याह्वा. १. २-८६) ।

२ प्रतिषेध्य पदार्थ के साथ विरोध को नहीं प्राप्त होने वाली वस्तु की अनुपलब्धि को अविरुद्धानुप-लब्धि कहते हैं ।

अविसंबाद—१. भुतेः प्रमाणान्तराभाधनं पूर्वापरा-विरोधश्च अविसंबादः । (लघोय. स्वो. बृ. ५-४२) ।

२. अयिसंबादो हि ब्रूहीतेऽर्थे प्राप्तिः प्रमाणान्तर-वृत्तिर्वा स्यात् । (स्यामकु. ३-१०, पृ. ४१०) ।

किसी दूसरे प्रमाण से बाधा न पहुँचना और पूर्वापर विरोध की सम्भावना न रहना, यह आवयमविषयक अविसंबाद है ।

अवेक्षा—अवेक्षा जन्तवः सन्ति न सन्तीति वा चतुर्धा अवलोकनम् । (सा. ब. स्वो. टी. ५-४०) । यहाँ पर जीव हैं या नहीं हैं, इस प्रकार आँख से देखने को अवेक्षा या अवेक्षण कहते हैं ।

अवैशद्य—१. अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभा-सनम् । तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम् ॥ (लघो-य. ४) । २. अस्मात् (वैशद्यात्) परम् अन्यथाभूत यद् विशेषाऽप्रतिभासनं तद् बुद्धेः अवैशद्यम् । (न्यायकु. १-४, पृ. ७४) ।

१. अनुमान आदि की अपेक्षा अधिक अर्थात् वर्णं व आकार आदि की विशेषता के साथ जो पदार्थ का ग्रहण होता है, वह वैशद्य का स्वरूप है । इससे विप-रीत का नाम अवैशद्य है ।

अथ्यक्त दोष—१. आलोचिद असेसं सव्व एवं मए ति जाणादि । बालस्सालोचेतो जवमो आलो-चनादीसो ॥ (म. आ. ५६६) । २. अस्यापराधेन ममातिचारः समानस्तमयेव वेत्ति । अस्मै यदुक्त तदेव मे युक्तं लभूकत्तंममिति स्वदुश्चरितसंबन्धं

दसमो दोषः (स. बा. ६, २२, २) । ३. परगृहीतस्यैव प्रायश्चित्तस्याऽनुमतेन स्वदुश्चरितसंवरणं (दशमो दोषः) । (स. श्लो. ६-२२) । ४. यत्किंचित्प्रयोजन-मुद्दिष्टमात्मना समानाद्यैव प्रमादाच्चरितमावेध महदपि गृहीतं प्रायश्चित्तं न फलकरमिति नवमोऽव्यक्तदोषः । (बा. सा. पु. ६१-६२) । ५. स्वसमानज्ञान तपोबाल-स्यालोचनं भवेत् । अव्यक्तं ह्यी-भयप्रायश्चित्तभीत्या-विहेनुत । (आभा. सा. ६-३६) । ६. अव्यक्तः प्रायश्चित्ताद्यकुशलो यस्तस्यात्मीयं दोषं कथयति यो लघुप्रायश्चित्तनिमित्तं तस्याव्यक्तनाम नवमम् । (भूला. वृ. ११-१५) । ७. अव्यक्तोऽपीतार्थः तस्याव्यक्तस्य गुरोः पुरतो यदपराधालोचनं तद-व्यक्तमेव नवमः (अव्यक्तः) आलोचनादोषः । (अव्य. भा. मलव. वृ. १-३४२, पृ. १६) । ८. अव्यक्तं प्रकाशयति दोषम्, स्फुटं न कथयतीत्यव्यक्त-दोषः । (आचम्रा. टी. ११८) ।

१. जैन मन, बचन और काय से स्वयं किये गये, कराये गये व अनुमत इस सब दोष की आलोचना कर ली है; सो यह जानता है । इस प्रकार ज्ञान-बाल या चारित्रबाल के पास आलोचना करना, यह आलोचना का अव्यक्त नामका दोष है । २. मेरा अपराध इसके अपराधके समान है, उसे यही जानता है । इसे जो प्रायश्चित्त दिया गया है वही मेरे लिये योग्य है, इस प्रकार अपने अपराध को ढगट न करना, इसे आलोचना का अव्यक्त नामक दोष कहा जाता है । आलोचना के दस दोषों में इसका कहीं नीचे और कहीं दसवें सेव रूप में उल्लेख हुआ है ।

अव्यक्तबालमरण—१. अव्यक्तः शिशुर्मर्त्य-कामकार्याणि यो न वेति, न च तदाचरणसमर्थशरीरः सोऽव्यक्तबालः, तस्य मरणमव्यक्तबालमरणम् । (अ. भा. टी. २५) । २. धर्मार्थ-कामकार्याणि न वेति न तदाचरणसमर्थशरीरोऽव्यक्तबालः । [तस्य मरण-मव्यक्तबालमरणम् ।] (आचम्रा. श्रुत. टी. ३२) । जो धर्म, धर्म और कामरूप कार्यों को न जानता है और न जिसका शरीर उसके आचरण करने में समर्थ है; उसे अव्यक्त बाल कहते हैं । ऐसे व्यक्ति के मरण को अव्यक्तबालमरण कहते हैं ।

अव्यक्तमन—कार्यं कारणोपचाराच्चिन्ता मनः, व्यक्तं निष्पन्नं संशय-विपर्ययानध्यवसायविरहितं

मनः येषां ते व्यक्तमनसः । [न व्यक्तमनसः अव्यक्त-मनसः ।] (अच. पु. १३, पृ. ३३७) ।

कार्य में कारण का उपचार करके यहाँ मन शब्द से चिन्ता का अभिप्राय लिया गया है । जिनका मन व्यक्त नहीं है, अर्थात् संशय, विपर्यय व अव्यक्त-साध से रहित नहीं है उन्हें अव्यक्तमन कहा जाता है । ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान ऐसे अव्यक्तमन जीवों की संज्ञा आदि को नहीं जानता है ।

अव्यक्तमिष्यात्व—अव्यक्तं मोहलक्षणम् । (गुण. क्रमा. ६, पृ. ३) ।

मोहस्वरूप मिष्यात्व को अव्यक्तमिष्यात्व कहते हैं । अव्यक्तेश्वर दोष — यदाऽव्यक्तेश्वरेण बारितं शुक्लति तदाऽव्यक्तेश्वरो नाम । (अन. ध. स्तो. टी. ५-१५) ।

जिस धान का स्वामी कोई अव्यक्त—अप्रज्ञापूर्व-कारी या बालक—हो, उसके द्वारा वर्णित आहा-रादि के ग्रहण करने पर अव्यक्तेश्वर नाम का निषिद्ध उद्गम दोष होता है ।

अव्यय—अव्ययो लब्धानन्तचतुष्टयस्वरूपादप्रच्युत । (समाधिशतक ६) ।

अनन्तचतुष्टयरूप स्वरूप के प्राप्त करने पर जो फिर उससे च्युत नहीं होता है उसे अव्यय कहते हैं ।

अव्याकृता (भाषा)—१. अव्याकृता चैन अस्पष्टा-ऽप्रकटार्था । (दशमं हरि. वृ. नि. ७-२७७; आच. ह. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ८०) । २. अव्याकृता प्रति-गम्भीरशब्दार्था अव्यक्ताक्षरप्रयुक्ता वा । (प्रज्ञाप. मलव. वृ. ११-१६६) । ३. अज्ञानीरमहत्या अवो-धवा अहव अव्यक्ता । (भाषार. ७६) ; प्रतिगम्भीरो दुर्जन[त]तात्पर्यो महान् अर्थो यस्याः साऽव्याकृता भवति । अथवा बालादीनामव्यक्ता भाषाऽव्याकृता भवति । (आचार. टी. ७६) ।

३ जिसका अर्थ कठिन्ता से जाना जाता है ऐसी भाषा को अव्याकृता कहते हैं । अथवा बालक आदि की अव्यक्त भाषा को अव्याकृता जानना चाहिये ।

अव्याघात—१. न विद्यते प्रत्ययान्तरेण व्याघातो बाधास्त्येवव्याघातम् । (अ. भा. विजयो. टी. २१०४) । २. नास्ति प्रत्ययान्तरेण व्याघातो निश्चि-द्रव्य पथ विसाक्षात्कारप्रतिबन्धो यस्य तदव्याघातम् । (अ. भा. भूला. टी. २१०४) ।

अन्व किसी भी कारण के द्वारा बाधा जिसके सम्भव नहीं है उसे अध्याघात कहते हैं ।

अध्याप्त, अध्याप्ति—१. लक्ष्यकदेशवतित्वमध्याप्तिः कीर्तिता बुधैः । यथा जीवस्य देहत्वमसिद्धं परमात्मनि ॥ (मोक्षधं. १६) । २. लक्ष्यकदेशवृत्त्याध्याप्तम् । यथा गोः श्वावलेयत्वम् । (न्यायबी. पृ. ७) । २ जो लक्षण लक्ष्य के एक देश में रहे उसे अध्याप्त—अध्याप्ति बोध से दूषित—कहा जाता है ।

अध्याबाध—न विद्यते विविधा कामादिजनिता या समताद् बाधा दुःखं येषां ते अध्याबाधाः । (त. भूति भूत. ४-२५) ।

जिनके काम-विकारादि जनित बाधाएँ नहीं होतीं ऐसे लौकान्तिक देव अध्याबाध नाम से कहे जाते हैं ।

अध्याबाध सुख—१. अणुवममयेयमकलयममलमजरमकजममयमभव च । एयतियमच्चतियमव्याबाधं मुहमजेय । (भ. भा. २१५३) । २. सहजशुद्धस्वरूपानुभवसमुत्पन्नरागादिविभावरहितसुखामृतस्य यदेकदेशसवेदन कृत पूर्वं तस्यैव फलभूतमव्याबाधमनन्तसुखं भण्यते । (बृ. ब्रह्मसं. १४) । ३. वेदनीयकर्मादयजनितसमस्तबाधारहितत्वाव्याबाधगुणश्चेति । (परमात्मप्र. टी. ६१) ।

१ अनुपम, अपरिमित (अनन्त), अविनश्वर, कर्म-मल के सम्बन्ध से रहित, जरा से बिहीन, रोग से उन्मुक्त, भय से विरहित, संसार से अतीत, ऐकान्तिक, आत्यन्तिक और अजेय ऐसे बाधारहित सुखिसुख को अध्याबाध सुख कहा जाता है ।

अध्याहृत—इह ऐकान्तिकमिह परलोकाविरुद्धं फलान्तरावाधित वाध्याहृतमुच्यते । (आच. नि. हरि. ब मलय. बृ. ६३६) ।

जो इहलोक और परलोक के बिरोधसे सर्वथा रहित हो उसे अध्याहृत कहा जाता है ।

अध्याहृतपौर्वापर्य—अध्याहृतपौर्वापर्यत्वं पूर्वापर-वाक्याविरोधः । (समवा. अमय. बृ. ३५; राख्य. बृ. पृ. १६) ।

जो वचन पूर्वापर कथन से अविरुद्ध हो वह अध्याहृतपौर्वापर्य वचन कहलाता है । यह वचन के ३५ अतिशयोक्ति में नौवां है ।

अभ्युच्छेदित्व—अभ्युच्छेदित्वं विवक्षितार्थानां सम्यक्सिद्धिं यावत् अनवच्छिन्नवचनप्रमेयता । (समवा. अमय. बृ. ३५) ।

विवक्षित अर्थ की सम्यक् सिद्धि होने तक निरन्तर स्वरूप से वचनों का प्रयोग करने को अभ्युच्छेदित्व कहते हैं । यह ३५ सत्यवचनातिशयोक्ति में अन्तिम है । **अभ्युत्पन्न**—१. गृहीतोऽगृहीतोऽपि बाधो यथावदविद्यतस्वरूपोऽभ्युत्पन्नः । (प्र. क. भा. ३-२१, पृ. ३६६) । २. अभ्युत्पन्नं तु नाम-जाति-संख्यादिविशेषापरिज्ञानेनानिर्णीतविषयानध्यवसायग्राह्यम् । (प्र. र. भा. ३-२१) ।

१ गृहीत वषणा अगृहीत वषार्थ का जब तक वषार्थ स्वरूप निश्चित नहीं हो जाता, तब तक उसे अभ्युत्पन्न कहा जाता है ।

अशब्द—निरतिचारत्वादाशब्दः । (त. भा. सिद्ध. बृ. ६-४६, पृ. २८६) ।

अतिचार से रहित स्नातक मुनि को अशब्द कहा जाता है । यह स्नातक के पांच अंशों में दूसरा है ।

अशब्दलाचार—अध्याहृताविपरिहारी अशब्दलाचारः । (अच. भा. मलय. बृ. ३-१६४, पृ. ३५) । अध्याहृत आदि दोनों का परिहार करने वाले साधु के आरिष को अशब्दलाचार कहते हैं ।

अशब्दलिंगज भूत—भूमलिंगादौ जलणावगमो असहलिंगजो । (धव. पु. १३, पृ. २४५) ।

अध्यायानुपपत्ति रूप लिंग से होने वाले ज्ञान को अशब्दलिंगज भूत कहा जाता है । जैसे—भूम लिंग से होने वाला अग्नि का ज्ञान ।

अशरणानुप्रेक्षा—१. मणि-मंतोसह-रक्खा हय-मय-रहभो य सयसविज्जामो । जीवाणं ण हि सरणं तिसु लोए मरणसमयमिह ॥ सगो ध्वे हि दुग्गं भिच्छा देवा य पहरणं वज्ज । अशरावणो गद्धो इवसं ण विज्जवे सरणं ॥ जवणिहि षडवहरयणं हय-मत्तगद्ध-चाउरगवस । चक्केससं ण सरणं पेच्छजो कहिये काले ॥ आह-जर-मरण-रोग-भयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा । तम्हा आदा सरणं बंधोदव-सत्तकम्मवदिरित्तो ॥ (आवसानु. ८-११) । २. हय-गय-रह-गर-बल-बाहणाणि मंतोसधाणि विज्जामो । मच्चुमयस्सं ण सरणं णिगदी पीदी य पीया य ॥ जम्म-जरा-मरण-समाहिदमिह सरणं ण विज्जवे लोए । जर-जरण-महारिउवारणं तु जिणसासणं मुच्चा ॥ मरणमयमिह उवगवे देवा वि सद्धया ण तारंति । धम्मो ताणं सरणं यदि त्ति चित्तेहि सरणत्तं ॥ (जुला, ८, ५-७) । ३. यथा मुग्धावकस्यैकान्ते

बलवता क्षुधितेनामिवैषिणा व्याघ्रेणाभिभूतस्य न किञ्चिच्छरणमस्ति तथा जन्म-जरा-मृत्यु-व्याधि-प्रभृतिव्यसनमध्ये परिभ्रमते जन्तोः शरणं न विद्यते । परिपुष्टमपि शरीरं भोजनं प्रति सहायी भवति न व्यसनोपनिपाते, यत्नेन संचिता अर्था अपि न अवा-न्तरमनुगच्छन्ति, सविभक्तसुख-दुःखाः सुहृदोऽपि न मरणकाले परित्रायन्ते, बान्धवाः समुदिताश्च रुजा परीतं न परिपालयन्ति, अस्ति चेत् सुचरितो धर्मो व्यसनमहार्णवे तारणोपायो भवति । मृत्युना नीय-मानस्य सहस्रनयनादयोऽपि न शरणम् । तस्माद् भवव्यसनसङ्कटे धर्म एव शरणम् । सुहृदर्थोऽप्यनपायी, नाम्यकिञ्चिच्छरणमिति भावना अक्षरानुप्रेक्षा । (त. सि. ६-७) । ४. यथा निराश्रये जनविरहिते वनस्थलीपृष्ठे बलवता क्षुत्परिणतेनामिवैषिणा सिंह-नाम्नाहतस्य मृगशिशोः शरणं न विद्यते, एव जन्म-जरा-मरण-व्याधि-प्रियविप्रयोगाऽप्रियमप्रयोगेऽप्यस्ता-लाभ-दारिद्र्य-दोर्मन्य-दोर्मनस्य-मरणादिसमुत्थेन दुःखेनाम्नाहतस्य जन्तोः संसारे शरणं न विद्यते इति चिन्तयेत् । एव ह्यस्य चिन्तयतो नित्यमशरणोऽस्मी-ति नित्योद्विग्नस्य सांसारिकेषु भावध्वनमिध्वङ्गो भवति । अहंछासनोक्त एव विचो घटते, तद्वि परं शरणमित्यशरणाणुप्रेक्षा । (त. भा. ६-७) । ५. क्षुधितस्याप्रादिदुःखमृगशावज्जगतोर्जरा-मृत्युद्वयान्तरे परित्राणाभाबोऽशरणत्वम् । जगत् द्विविधम्—लौकिकं लोकोत्तरं चेति । तत्प्रत्येकं त्रिधा—जीवा-जीव-मिश्रकभेदात् । तत्र राजा देवता वा लौकिक जीवशरणम्, प्राकागादि अजीवशरणम्, ग्राम-नगरा-दि मिश्रकम् । पञ्च पुरवो लोकोत्तर जीवशरणम्, तत्प्रतिबिम्बाद्यजीवशरणम्, सधर्मोपकरणसाधुवर्गो मिश्रकशरणम् । तत्र यथा मृगशावस्य एकान्ते बल-वता क्षुधितेन ग्रामिवैषिणा व्याघ्रेणाभिभूतस्य न किञ्चिच्छरणमस्ति तथा जन्म-जरा-मृत्यु-व्याधि-प्रियविप्रयोगाप्रियसंबन्धोपेक्षितालाभ-दारिद्र्य-दोर्मन-स्यादिसमुत्थेन दुःखेनाभिभूतस्य जन्तोः शरणं न विद्यते, परिपुष्टमपि शरीरं भोजनं प्रति सहायी भवति न व्यसनोपनिपाते, यत्नेन संचिता अर्था अपि न अवान्तरमनुगच्छन्ति, सविभक्तसुख-दुःखाः सुहृदो-ऽपि न मरणकाले परित्रायन्ते, बान्धवाः समुदिताश्च रुजा परीतं न परिपालयन्ति । अस्ति चेत् सुचरितो धर्मो व्यसन-महार्णवतरणोपायो भवति । मृत्युना

नीयमानस्य सहस्रनयनादयोऽपि न शरणम् । तस्माद् भवव्यसनसङ्कटे धर्म एव शरणम् । सुहृदर्थोऽपि अन-पायी, नाम्यत् किञ्चिच्छरणमिति भावनमशरानु-प्रेक्षा । (त. भा. ६, ७, २) । ६. व्याधिरितास्ये सति यत्कृताङ्गे [-तान्ते] न प्राणिनां प्रा[त्रा]णमिहास्ति किञ्चित् । मृगस्य सिंहोपनिशातवष्ट्रा यत्र प्रविष्टा-त्मतनोरिवात्र ॥ (बराण्य. ३१-८७) । ७. तस्य भवे किं शरणं जस्य सुरिदाण दीसदे विसधो । हरि-हर-बंभादीया कालेण य कवलिया जस्य ॥ सीहस्त कमे पडिदं सारंगं जहू ण रक्सदे को वि । तह मिच्छुणा य गहिदं जीवं पि ण रक्सदे को वि ॥ जइ देवो वि य रक्सदि मतो तंतो य सेतपालो व । मिय-माणं पि मणुस्त तो मणुया अकन्तया होति ॥ × × × वसण-माण-चरित्त शरण सेवेह परमसडाए । अण्ण कि पि ण शरण संसारे संसरताण ॥ (कार्त्तिके. २३-२५ व ३०) । ८. न स कोऽप्यस्ति दुबुद्धे शरीरो भुवनत्रये । यस्य कण्ठ कृतात्मस्य न पाशः प्रसरिष्यति । समापतति दुर्गारे यम-कण्ठीरवकने । जायते तु न हि प्राणी सोद्योमैस्त्रिदशैरपि ॥ आरब्ध्वा मृगबालिकैव विपिनं संहार-दन्तिद्विधा पुतां जीव-कला निरेति पवनव्याजेन भीता सती । त्रातु न क्षमसे यद्वि क्रमपदप्राप्ता वराकीमिमां न त्व निर्वृण लज्जसे ऽत्र जनने भोगेषु रन्तु सदा ॥ (आनार्णव श्लो. १-२ व १७, पृ. २६ व २६) । ९. दत्तोदये-ऽर्धनिचये हृदये स्वकार्ये सर्वः समाहितमतिः पुरतः समास्ते । जाते त्वपायसमयेऽनुपतो पतनेः पोतादिब हूनवतः शरणं न तंस्ति ॥ बन्धुव्रजैः सुमटकोटि-भिराप्तवर्गैर्मन्त्रास्त्र-तन्त्रविधिभिः परिरक्ष्यमाणः । जन्तुर्बलादिबलतोऽपि कृतात्मदूतैरामीयते यमवशाद्य वराक एकः ॥ संसीदतस्तव न जातु समस्ति शास्ता त्वत्तः परं परमवाप्तसमग्रबोधैः । तस्या स्थिते त्वमि यतो दुरितोपतापसेनेयमेव सुविधे विबुधा भिया स्यात् ॥ (वशस्ति. २, ११२-१४) । १०. इन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्येते यन्मृत्योर्नान्ति गोचरम् । अहो तदन्तकातङ्कैः कः शरण्यः शरीरिणाम् ॥ पितृमनुः स्वसुभ्राणुस्तनयानां च पथताम् । अत्राणो नीयते जन्तुः कर्मभिर्यमसधमि ॥ शोचते स्वजानान्तं नीय-मानान् स्वकर्मभिः । नेष्यमाणं तु शोचन्ति नारमानं भूदुःखः ॥ संसारे दुःख-दावाग्निज्वलज्ज्वालाकारो-जिते । वने मृगार्थकस्येव शरणं नास्ति देहिनः ॥

(योगशा. ४, ६१-६४) । ११. संसारदुःखोपद्रुतस्य शरणाभावोऽशरणत्वम् । (त. सुखबो. वृ. ६-७) ।

१२. तत्तत्कर्मफलपितवपुषां सम्भवस्तिष्ठितार्थं मन्वा-
नाना प्रसभसुवशोद्यतं भट्टकुमासाम् । यद्वह्यं त्रि-
जगति नृणां नैव केनापि देव तद्वन्मुपुषंसनरसिक्-
स्तद्वपुषा त्राणदेव्यम् ॥ सत्प्राजां पश्यतामप्यभिनयति
न किं स्व यमश्चण्डिमान शक्राः सीदन्ति दीर्घं क्व
न दयितवधूदीर्घनिद्रामनस्ये । प्राः काल-व्यालदंष्ट्रां
प्रकटतरतपोविक्रमा योगिनोऽपि व्याक्रोष्टु न कमन्ते
तविह बहिरहो यत् किमप्यस्तु किं मे ॥ (अन. ब. ६, ६०-६१) । १३. यथा मृगबालकस्य निर्जने
वने बलवता मांसाकांक्षिणा क्षुचितेन द्वीपिना गृही-
तस्य किञ्चिच्छरणं न वर्तते, तथा जन्म-जरा-मरण-
रोगादिदुःखमध्ये पर्यटतो जीवस्य किमपि शरणं न
वर्तते, सम्पुष्टोऽपि कार्यः सहायो न भवति भोज-
नादन्यत्र दुःखागमने, प्रयत्नेन सञ्चिता अपि रायो
भवान्तर नानुगच्छन्ति, सविमक्तसुखा अपि सुहृदो
मरणकाले न परिरक्षन्ति रोगग्रस्त पुमांसं संगता
अपि बान्धवा न प्रतिपालयन्ति, सुचरितो जिनधर्मो
दुःख-महासमुद्रसन्तरणोपायो भवति, यमेन नीय-
मानमात्मानमिन्द्र-वरणेन्द्र-वक्रवत्यादयोऽपि शरणं न
भवन्ति, तत्र जिनधर्म एव शरणम् । एवं भावना
अशरणानुप्रेक्षा भवति । (त. वृत्ति भूत. ६-७) ।

१ मणि, मंत्र, श्रौचधि, रक्षक, धोड़ा, हाथी, रथ
और विद्या; ये कोई भी मरण के समय में प्राणी
का रक्षण नहीं कर सकते हैं । वेको जिस इन्द्र का
स्वर्ग तो दुर्ग के समान है, देव जिसके किकर हैं,
बल जिसका शास्त्र है, और हाथी जिसका ऐरावत
है; उसको भी मरण से बचाने वाला कोई नहीं है ।
जन्म और मरण प्रावि से यदि कोई रक्षा कर
सकता है तो वह कर्मबन्धनावि से रहित अपना
आत्मा ही कर सकता है । इत्यादि प्रकार बार-बार
चिन्तन करना अशरणानुप्रेक्षा है ।

अशरणभावना—देहितां मरणादिभये संसारे शरणं
किमपि नास्तीत्यादिचिन्तनमशरणभावना । (सम्बो-
धस. वृ. १६, पृ. १८) ।

मरणादि के भय से व्याप्त संसार में रक्षा करने
वाला कोई भी नहीं है, इस प्रकार चिन्तन करने का
नाम अशरणभावना है । (वेको अशरणानुप्रेक्षा) ।

अशरीर—जैसि शरीरं गच्छि ते अशरीरा । के ते ?

परिणिष्कृषा । (बच. पु. १४, पृ. २३८); अद्व-
कम्म-कवचादो णिगया असरीरा णाम । (बच. पु.
१४, पृ. २३६) ।

जिनके शरीर का सम्बन्ध सदा के लिए छूट चुका
है, और जो आठ कर्म रूप कवच से निकल चुके हैं,
ऐसे सिद्ध परमात्मा अशरीर कहे जाते हैं ।

अशुचित्व-अनुप्रेक्षा—१. शरीरमिदमत्यन्ताशुचि-
योनि शुक्लोणितशुचित्वसर्वाधतमवस्करवदशुचिभा-
जनं त्वद्मात्रप्रच्छादितमतिपूतितर्पणमप्यनिन्दितो-
बिलमङ्गारवदारमभावमाश्रितमप्याश्वेवापादयति ।
स्नानानुलेपन-भूषणधर्ष-वास-मात्यादिभिरपि न शक्य-
मशुचित्वमपहर्तुमस्य । सम्यग्दर्शनादि पुनर्मांश्यमान
जीवस्यात्यन्तिकी शुद्धिमाश्रिभावयतीति तत्त्वतो
भावनमशुचित्वानुप्रेक्षा । (स. सि. ६-७) । २. शरी-
रस्याद्युत्तराशुभकारणत्वादिभिरशुचित्वम् । (त. बा.
६, ७, ६) । ३. अशुभकारणत्वादिभिरशुचित्वम् ।
(त. इलो. ६-७) । ४. शरीरस्याऽशुभकारण-कार्य-
स्वभावत्वमशुचित्वम् । (त. सुखबो. ६-७) ।

१ कौयं व शरिरे से बुद्धिगत यह शरीर पुरोषात्म्य
(दृष्टी) के समान अपवित्रता को उत्पन्न करने
वाला है । जन्म से प्राच्छादित होकर निरन्तर मल-
मूत्रादि को बहाने वाले इस शरीर की अपवित्रता
स्नान और सुगन्धित उपदन प्रावि से भी दूर नहीं
को जा सकती है । जीव की आत्यन्तिक शुद्धि को
सम्यग्दर्शनादि ही प्रगट कर सकते हैं । इस प्रकार
निरन्तर विचार करना, यह अशुचित्व-अनुप्रेक्षा है ।
इसे अशुचि-भावना भी कहते हैं ।

अशुद्ध-उपयोग—उपयोगो हि जीवस्य परद्रव्य-
सयोगकारणमशुद्ध । (प्रब. सा. अमृत. वृ. २-६४) ।
पर-द्रव्य के संयोग के कारणभूत जीव के उपयोग को
अशुद्धोपयोग कहते हैं ।

अशुद्ध-ऋजुसुन्नय—जो सो असुद्धो उज्जुसुदणभो
सो चरुसुपांसयवैजणपज्जयविसभो । (बच. पु. ६,
पृ. २४४) ।

जो चक्षु इन्द्रिय से स्पृष्ट—उसके द्वारा बेजी गई—
अंजन पर्याय को विषय करता है उसे अशुद्ध ऋजु-
सुन्नयम कहते हैं ।

अशुद्ध चेतना—१. कार्यानुसृतिलक्षणा कर्मफलानु-
सृतिलक्षणा आशुद्धचेतना । (पंचा. का. अमृत. वृ.

१६)। २. $\times \times \times$ अशुद्धाऽऽत्मकर्मजा ॥ (पञ्च-
ध्यायी २-१६३) ।

कार्यभूमिति औष कर्मफलानुभूति को अशुद्ध चेतना
कहते हैं ।

अशुद्ध द्रव्यनैगम—यस्तु पर्यायवद् द्रव्यं गुणवद्वेति
निर्णयः । व्यवहारनयाज्जातः सोऽशुद्धद्रव्यनैगमः ॥
(त. दलो. १, ३३, ३६) ।

द्रव्य पर्याय वाला अथवा गुण वाला है, इस प्रकार जो
व्यवहार नय के आश्रित निर्णय होता है उसे अशुद्ध-
द्रव्यनैगम नय कहते हैं ।

अशुद्ध द्रव्यलक्षण—सर्वद्रव्यविशेषेषु च द्रव्यं द्रव्य-
वित्यनुगतबुद्धि-व्यवहारविधाननिबन्धनद्रव्योपाधि
तदेवाशुद्धद्रव्यलक्षणम् । (स्या. रह. बृ. पु. १०) ।
सर्व द्रव्यविशेषों में 'यह द्रव्य है, यह द्रव्य है' इस
प्रकारकी अनुगत बुद्धि, व्यवहार और बचन की
कारण जो द्रव्य-उपाधि है यही अशुद्ध द्रव्य का
लक्षण है ।

अशुद्धद्रव्य-व्यञ्जनपर्यायनैगम—विद्यते चापरो-
ऽशुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायौ । अर्थीकरोति यः सोऽत्र ना
गुणीति निगद्यते ॥ (त. दलो. १, ३३, ४६) ।

जो नैगम नय अशुद्ध द्रव्य और व्यञ्जन पर्याय को
विषय करता है उसे अशुद्ध द्रव्य-व्यञ्जनपर्याय नैगम-
नय कहते हैं । जैसे मनुष्य गुणी है । यहाँ पर गुण-
वान् अशुद्ध द्रव्य है और मनुष्य व्यञ्जनपर्याय है ।
कथञ्चित् अनेकरूप से दोनों को यह नय जानता है ।

अशुद्ध द्रव्याधिक या अशुद्ध द्रव्यास्तिक नय—

१. अशुद्धद्रव्याधिकः पर्यायकलङ्काश्रितद्रव्यविषय-
व्यवहारः । (अथ. पु. १, पु. २१६) । २. अशुद्ध-
स्तु द्रव्याधिको व्यवहारनयमताश्रितलम्बी एकान्त-
नित्यचेतनाऽचेतनवस्तुद्रव्यप्रतिपादकसाध्यवशेनाश्रितः ।
सम्भस्ति. बृ. वा. ३, पु. २८०) । ३. व्यवहारनय-
मताश्रितलम्बी अशुद्धद्रव्यास्तिको नयश्च द्वैतप्रति-
पादनपरः, भेदकल्पनासापेक्षो ह्यशुद्धद्रव्यास्तिक इति
बोध्यम् । (स्या. रह. बृ. पु. १०) । ४. कर्मोपाधि-
सापेक्षोऽसावशुद्धद्रव्याधिकः, यथा क्रोधादिकर्मज-
भाव आत्मा । उत्पाद-व्ययसापेक्षोऽसावशुद्धद्रव्याधिकः,
यच्चैकस्मिन् समये द्रव्यमुत्पाद-व्यय-श्रीव्ययुक्तम् । भेद-
कल्पनासापेक्षोऽसावशुद्धद्रव्याधिकः, यथात्मनोदर्शन-
ज्ञानाद्ययो गुणाः । (नयप्रदीप २, पु. ६६।१) ।
१ पर्यायरूप कर्मक से मिलनता को प्राप्त हुए द्रव्य

को विषय करने वाला जो व्यवहार है उसे अशुद्ध-
द्रव्याधिकनय कहते हैं । २ व्यवहारनय के विषय-
भूत पर्याय का आश्रय लेकर जो साध्यमत में चेतन
पुनश्च और अचेतन प्रकृति इन दो तत्त्वों का एकान्त
रूप से कथन किया गया है, यह अशुद्ध द्रव्याधिक-
नय के आश्रित है ।

अशुद्ध पर्यायाधिकनय—अशुद्धपञ्चबहुए वंजन-
पञ्चायपरतते सुदुमपञ्चायभेदेहि गाणतमुवगए
 $\times \times \times$ । (अथ. पु. १३, पु. १६६-२००) ।

जो व्यञ्जनपर्याय के बशीभूत हो—उसे विषय
करता है—वह अशुद्ध पर्यायाधिकनय कहलाता है ।

अशुद्ध भाव—१. अन्यस्योपाधिकः स्मृतः । (द्रव्यानु.
१२-८) । २. अन्योऽशुद्धभाव औपाधिकः,
उपाधिनितबहिर्भाविपरिणमनयोग्यता ह्यशुद्धस्व-
भावात् । (द्रव्यानु. टी. १२-६) ।

उपाधि (अस्वाभाविक धर्म) से उत्पन्न होने वाले
बाह्यी भावों को अशुद्ध भाव कहते हैं ।

अशुद्ध संप्रह—१. होइ तमेव अशुद्धो इगजादिवि-
सेसगहणेण ॥ (त. न. च. ३६) । २. तथा द्रव्य-
मिति घट इति च द्रव्यत्व-घटस्वाभावान्तरसामान्येन
सकलजीवादिद्रव्य-सौवर्णादिघटव्यवतीना संप्रहणाव-
शुद्धसंप्रहो विज्ञेयः । (त. सुल्लो. १-३३) ।

१ जो किसी एक जातिविशेष को ग्रहण करे उसे
अशुद्ध संप्रहनय कहते हैं । २ द्रव्यत्व या घटत्वरूप
अन्तर्गत सामान्य के द्वारा जो सकल जीवादि द्रव्यों
को और सुवर्णादिय घट अवितियों को ग्रहण करता
है वह अशुद्ध संप्रहनय कहलाता है ।

अशुद्ध सद्भूतव्यवहार—अशुद्धगुण-गुणिनोरशुद्ध-
द्रव्य-पर्याययोर्भेदकयनमशुद्धसद्भूतव्यवहारः । (नय-
प्रदीप पु. १०२; द्रव्यानु. टी. ७-४) ।

अशुद्ध गुण-गुणों के और अशुद्ध द्रव्य-पर्याय के भेद-
कथन को अशुद्ध सद्भूतव्यवहार कहते हैं ।

अशुभ काययोग—१. प्राणातिपाताऽज्वादान-
मैयुनप्रयोगादिरशुभः काययोगः । (त. सि. ६-३;
त. वा. ६, ३, १; त. सुल्लो. ६-३; त. वृत्ति
व्युत्. ६-३) । २. हिसनाऽह्मचोर्यादि काये कर्माशुभं
विदुः । (उपासका. ३५४) ।

हिंसा, चोरी और मैयुनसेवन आदि काय सम्बन्धी
अशुभ क्रियाओं को अशुभ काययोग कहते हैं ।

अशुभ क्रिया—ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपसामतीचारा

अशुभक्रियाः । (न. भा. विजयो. टी. ६) ।
 ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में अतीचार या दोष
 लगाने वाली क्रियाओं को अशुभ क्रिया कहते हैं ।
 अशुभ तैजसशरीरसमुद्घात—१. तत्त्व अप्सत्त्वं
 (तेजासरीरसमुद्घातं) बारहजोययायामं णवजोय-
 णवित्थारं सूचि-बंगुलस्स संखेज्जदिभागबाहल्ल जास-
 वणकुसुमसंकाशं भूमिपव्वाददिदहणक्खमं पड्विक्ख-
 र्हियं रोसिषणं वामंसप्यभवं इच्छियेत्तेमेत्तविसप्प-
 णं । (अव. पु. ४, वृ. २८) ; कोवं गदस्स सजदस्स
 वामंसादो बारहजोययायामेण णवजोयणविकल्लभेण
 सूचि-बंगुलस्स संखेज्जदिभागमेत्तबाहल्लेण जासवण-
 कुसुमवण्णेण णिस्सग्गिहूणं सगक्खेत्तज्जभंतरद्वियसत्त-
 विणासं काळ्ळण पुणो पविसमाणं तं चेव संजदं भारेदि
 तं अमुहं (णिस्सरणप्ययं तेजइयरीरं) णाम । (अव.
 पु. १४, वृ. ३२८) । २. स्वस्य मनोऽनिष्टजनकं
 किञ्चित्कारणान्तरमवलोक्य समुत्पन्नक्रोधस्य संयम-
 निधानस्य महामुनेर्मूलशरीरमत्यज्य सित्दूरपुञ्जप्रभो
 दीर्घतन्त्रं द्वादशयोजनप्रमाणं सूक्ष्मङ्गुलसंख्येयभाग-
 भूलविस्तारो नवयोजनाप्रविस्तारः काह्लाकृतिपुरुषो
 वामस्कन्धान्निर्गम्य वामप्रदक्षिणेन हृदये निहितं
 विच्छेदं वस्तु भस्मसाकृत्य तेनैव सयमिना सह स च
 भस्म व्रजति द्वीपायनवत्, असावशुभतेजःसमुद्घातः ।
 (बु. ब्रह्मसं. १०, वृ. २१; कालिके. टी. १७६) ।
 १ महातपस्वी भुवि के किसी कारण से क्रोध उत्पन्न
 होने पर जो उसके बायें कंधे से जपायुष्य के
 समान लाल वर्ण वाला पुतला निकलकर बारह
 योजन लम्बे, नौ योजन चौड़े और सूक्ष्मङ्गुल के
 संख्यातर्बे भाग बाहल्य वाले अपने क्षेत्र के भीतर
 स्थित जीवों का विनाश करके शरीर में प्रविष्ट
 होता हुआ उस साधु को भी मार डालता है; उसे
 अशुभ-तैजस-शरीर कहते हैं । वह समुद्घात अथवा
 में निकलता है और पृथिवी-पर्यन्तारि के जो जलाने
 में समर्थ होता है ।
 अशुभ मनोयोग—१. वचचिन्तनेर्ष्याऽसूयादिरशुभो
 मनोयोगः । (स. सि. ६-३; त. बा. ६, ३, १;
 त. सुखबो. ६-३; त. वृत्ति श्रुत. ६-३) । २. मदे-
 र्प्यासूयनादि स्यान्मनोव्यापारसंश्रयम् । (उपासका.
 ३५५) ।
 दूसरे के बच-वचनानादि का बिचार करने तथा ईर्ष्या
 और डाह करने आदि को अशुभ मनोयोग कहते हैं ।

अशुभ योग—१. अशुभपरिणामनिर्वृत्तवाशुभः ।
 (स. सि. ६-३) । २. प्राणातिपाताऽनृतभावण-
 वचचिन्तनादिरशुभः । (त. बा. ६, ३, १) । ३.
 मिथ्यादर्शनाद्यनुरञ्जितोऽशुभः । (स. व्लो. ६-३) ।
 ४. प्राणातिपातादिलक्षणस्त्रिविधोऽप्यशुभः [योगः] ।
 (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-४) । ५. संक्लेशपरिणाम-
 हेतुकस्त्रिविधोऽपि कार्यादियोगोऽशुभः । (त. सुखबो.
 ६-३) । ६. अशुभपरिणामनिर्वृत्तो निष्पन्नो योगः
 अशुभः । (त. वृत्ति श्रुत. ६-३) ।
 १ कुत्सित परिणाम से प्रादुर्भूत मन-वचन-काय की
 क्रिया को अशुभ योग कहते हैं ।
 अशुभ वाग्योग—१. अनृतभावण-परुषाऽसम्भव-
 नादिरशुभो वाग्योगः । (स. सि. ६-३; त. बा.
 ६, ३, १; त. सुखबो. ६-३) । २. असत्याऽसम्भ-
 वारूप्यप्रायं वचनगोचरम् । (उपासका. ३५४) ।
 ३. असत्याऽहिताऽमित-कर्कश-कर्णशूलप्रायभाषणादि-
 रशुभः वाग्योगः । (त. वृत्ति श्रुत. ६-३) ।
 १ असत्य, परुष (कोटोर) और असम्भ भाषण को
 अशुभ वाग्योग कहते हैं ।
 अशुभ श्रुति—देखो दुःश्रुति । १. हिंसा-रागादिप्र-
 वर्धनदुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिः । (स.
 सि. ७-२१; त. बा. ७, २१, २१) । २.
 हिंसादिकथाश्रवणभीषणव्यापृति [व्यापृति] लक्षणा-
 च्चाशुभश्रुतेः × × × । (त. व्लो. ७-२१) ।
 ३. रागादिप्रवृत्तितो दुष्टकथाश्रवण-श्रावण-शिक्षण-
 व्यापृतिरशुभश्रुतिः । (बा. सा. पु. १०; त. सुखबो.
 ७-२१) । ४. यत्राधीते श्रुते कामोच्चाटन-क्लेश-
 मूर्च्छनैः । अशुभ जायते पुसामशुभश्रुतिरिच्छते ॥
 (धर्मसं. भा. ७-१३) ।
 १ हिंसा, राग और द्वेष आदि बढ़ाने वाली खोटी
 कथाओं को सुनने-सुनाने और पढ़ने-पढ़ाने को अशुभ
 श्रुति कहते हैं । यह एक धनर्वन्द्य का श्रेय है, जिसे
 दुःश्रुति भी कहते हैं ।
 अशुभोपयोग—१. विसयकसाधोगादो दुस्सुदिदु-
 च्चित्तदुद्वेगोद्विज्जुदो । उगो उग्गमगपरो उवधोगो
 जस्स सो अशुहो ॥ (अव. सा. २-६६) । २. विशि-
 ष्टोदयदशाविश्रान्तदर्शन-ज्ञान-चारित्रमोहीन्यपुद्ग-
 लानुवृत्तिपरस्तेन परिगृहीताशोभनपरागतत्वात् परम-
 भट्टारकमहादेवाविशेषपरमेश्वरार्हसिद्धसाधुभ्योऽन्य-
 त्रोन्मार्गश्रद्धाने विषय-कषायदुःश्रवण-दुराणयदुष्टसेव-

नीचताचरणे च प्रवृत्तोऽशुभोपयोगः । प्रब. सा. अभुत. वृ. २-६६ । ३. उपयोगोऽशुभो राग-द्वेष-मोहैः क्रियाऽऽभनः । (अध्या. रह. ५६) ।

१ विषय-कषाय से आविष्ट जो तीव्र उपयोग राग-द्वेषोत्पादक मिथ्या शास्त्रों के सुनने, दुष्परिण करने और दूषित आचरण करने वाले मिथ्यादृष्टियों के सहवास में रहने रूप उन्मार्ग में प्रवृत्त होता है उसे अशुभोपयोग कहते हैं । उस उपयोगस्वरूप जीव को भी अनेक विवक्षा में अशुभोपयोग कहा जाता है ।

अशोभन—अशोभनं गर्वादिदूषितं वचनम् । (बृहत्. वृ. ७५३) ।

अहंकार आदि दोषों से दूषित वचन को अशोभन वचन कहते हैं । ऐसे अशोभन वचन का बोलने वाला अस्तप्रलापी भावाचपल कहलाता है ।

अभुतनिश्चित—१. यपुलः पूर्वं तदपरिकर्मितमतेः क्षयोपशमपटीयस्त्वात् भीत्यतिक्वादिलक्षणमुपजायते तदभुतनिश्चितमिति । (आच. नि. हरि. वृ. १, पृ. ६) ।

२. यत् प्रायः श्रुताभ्यासमन्तरेणापि सहजविशिष्ट-क्षयोपशमवशादुत्पद्यते तदभुतनिश्चितमौत्पत्तिक्यादि-बुद्धिचतुष्टयम् । (कर्मवि. वे. स्वी. वृ. ४, पृ. १०) ।

३. प्रायः श्रुताभ्यासमन्तरेणापि यत्सहजविशिष्टक्षयोपशमवशादुत्पद्यते तदभुतनिश्चितम् । (प्रब. सारो. वृ. १२५३) ।

२ शास्त्राभ्यास के बिना ही स्वाभाविक विशिष्ट क्षयोपशम के वश जो औत्पत्तिकी आदि चार बुद्धि स्वरूप विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है उसे अभुत-निश्चित आग्निनिबोधिक मतिज्ञान कहते हैं ।

अभुपात अन्तराय—××× अभुपातः क्षुधा-त्मनः ॥ पातोऽभूणां मृत्येयस्य स्वापि वाक्चन्दतः श्रुतिः । (अन. व. ५, ४५-४६) ।

शोक से स्वयं अभुपात होना तथा किसी के घर जाने पर अग्न्य व्यक्तिके आक्रमण को सुनकर या मर जाने पर शोकाकुल मनुष्य के श्रमियों के गिरने को अभुपात कहते हैं । यह एक भोजन का अन्तराय है ।

अश्लाघाभय — अश्लाघाभयम् अकीर्तिभयम् । (ललितवि. पं. पृ. ३८) ।

अकीर्ति या अपकीर्ति के भय को अश्लाघाभय कहते हैं ।

अश्लोकभय—‘श्लोकः श्लाघायाम्’ श्लोकं श्लोकः श्लाघा प्रशंसा, तद्विपर्ययोऽश्लोकः, तस्माद् भयम् अश्लोकभयम् । (आच. भा. हरि. वृ. १८४, पृ. ४७३) । १. ‘श्लोकः श्लाघायाम्’ श्लोकः प्रशंसा श्लाघा, तद्विपर्ययोऽश्लोकः, तस्माद् भयम् अश्लोक-भयम् । (आच. भा. मलय. वृ. १८४, पृ. ४७३) । वैश्वो अश्लाघाभय ।

अश्वकण्णकरणा (अस्सकण्णकरणा)—वैश्वो आदोल-करणा । १. अस्सकण्णकरणेति वा आदोलकरणेति वा शोवट्टण-उब्बट्टणकरणेति वा तिणिणं नामाणि अस्स-कण्णकरणास्स । (कसायवा. वृ. ४७२, पृ. ७८७; धम्म. पु. ६, पृ. ३६४) । २. अश्वस्य कर्णः अश्वकर्णः, अश्वकर्णवत्करणमश्वकर्णकरणम् । यथाश्वकर्णं अघ्रा-त्प्रभृत्या मूलात् क्रमेण हीयमानस्वरूपो दृश्यते, तथेद-मपि करणं क्रोधसंज्वलनात् प्रभृत्या लोभसंज्वलनाद्य-धाक्रममनन्तगुणहीनानुभागस्पर्शकसंस्थानव्यवस्थाकर-णमश्वकर्णकरणमिति लक्ष्यते । (धम्म. पु. ९, टि. ५) ।

२ जिस प्रकार धोड़े का कान अग्र भाग से मूल भाग पर्यन्त उत्तरोत्तर हीन बिज्जयी देता है उसी प्रकार जिस करण (परिणामविशेष) के द्वारा संज्वलन क्रोध से संज्वलन लोभ तक अनुभागस्पर्शकों की व्यवस्था उत्तरोत्तर हीन होती हुई की जाती है उसे अश्वकर्णकरण कहते हैं । अश्वकर्णकरण, आदोलकरण और अपवर्तनोद्गर्तनाकरण ये तीनों एकाग्रक नाम हैं । आदोल नाम हिडोला का है । जिस प्रकार हिडोले का स्तम्भ धीरे रस्ती के अन्तराल में त्रिकोण आकार धोड़े के कान समुच्च दिखता है, इसी प्रकार यहाँ पर भी क्रोधादि संज्वलन कषाय के अनुभाग का सन्निवेश भी कम से बढ़ता हुआ दिखता है, इसलिए इसे आदोलकरण कहते हैं । क्रोधादि कषायों का अनुभाग हानि-बुद्धि रूप से बिज्जई देने के कारण इसको अपवर्तनोद्गर्तनाकरण भी कहते हैं ।

अश्वकर्णकरणाद्धा (अस्सकण्णकरणाद्धा)—१. संताणि वज्जमाणागसरूवधो फट्ठगणिजं कुणइ । सा अस्सकण्णकरणाद्धा ××× ॥ (बंधसं. उपस. ७५) । २. सन्ति विद्यमानानि मायाकर्मदलानि बध्यमानसंज्वलनलोभस्वरूपेण फट्ठकानि यत्क-रोति साऽश्वकर्णकरणाद्धा प्रथमा भज्यते । (बंधसं. स्वी. वृ. उपस. ७५) । ३. विद्यमानानि यानि संक्षि-प-

तानि भायाकर्मदसिकानि पूर्ववदसंज्वलनलोमदलिकानि वा तानि बध्यमानस्वरूपतस्तत्कालबध्यमानसंज्वलनलोरूपतया । किमुक्तं भवति ? तत्कालबध्यमानसंज्वलनलोमस्पृक्षकानां चात्यन्त नीरसानि यत्र करोति सा अश्वकर्णकरणाद्वा । (पंचसं. मलय. पृ. ७५) ।

अश्वकर्णकरण के काल को अश्वकर्णकरणाद्वा कहते हैं । जिस काल में विद्यमान भायाकषाय के प्रवेश-पिण्ड को संज्ञात करते हुए बध्यमान संज्वलन लोम के स्पर्शकों स्वरूप किया जाता है, वह अश्वकर्णकरणाद्वा कहलाता है ।

अष्टम धरा— देखो ईषत्प्राग्भार । तिहुवण-मुड्ढाकडा ईसिपभारा धरटुमी रंदा । दिग्धा इगि-सगरज्जू अडजोयणपमिदबाहूला ॥ (त्रि. सा. १५६) ।

लोक के सिद्धर पर जो एक राजु चौड़ी, सात राजु लम्बी और आठ योजन ऊँची आठवों पृथिवी है उसे अष्टम धरा कहते हैं ।

असतीपोष—१. सारिका-शुक-मार्जार-धव-कुर्कुट-कलापिनाम् । पोषो दास्याश्च विसार्यमसतीपोषणं विदुः ॥ (त्रि. श. पु. छ. ३, ३५७; योगसा. ३-११२) । २. असतीपोषः प्राणिज्जप्राणिपोषो भाटिग्रहणार्थं दासपोषश्च । (सा. च. स्वो. टी. ५-२२) ।

१ हिसक प्राणियों—जैसे मैना, तोता, बिल्ली, कुत्ता, भुर्गा व और आदि—को पालना तथा भाड़ा प्राप्त करने के लिए दासी का भी पोषण करना असतीपोष कहलाता है ।

असत्—प्रतीतिपक्षत्वं—(त. भा. ५-२६) । उत्पाद, व्यय व शीघ्र स्वरूप सत् से विपरीत असत् कहलाता है ।

असत्प्रतिपक्षत्वं—तादृशमवयवप्रमाणशून्यत्वमसत्-प्रतिपक्षत्वम् । (न्यायदी. पृ. ८५) ।

साध्य के अभाव के निश्चय कराने वाले सवान वल्युक्त अर्थ प्रमाण के अभाव को असत्प्रतिपक्षत्व कहते हैं ।

असत्य (प्रथम)—स्वक्षेत्र-काल-भावः सदपि हि यस्मिन् निषिध्यते वस्तु । तत् प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र । (पु. सि. ६२) ।

जिस वचन में स्वकीय इष्य-क्षेत्र-काल-भाव से विद्यमान भी वस्तु का उसी स्वकीय इष्य-क्षेत्र-काल-भाव से निवेद्य किया जाता है वह प्रथम असत्य है । जैसे देवदत्त के अपने इष्य-क्षेत्र-काल-भाव से रहते हुए भी यह कहना कि यहाँ देवदत्त नहीं है ।

असत्य (द्वितीय)—असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परलोक-काल-भावैस्तैः । उद्भाव्यते द्वितीयं तदनुत्तमस्मिन् यथास्ति घटः ॥ (पु. सि. ६३) ।

जो वस्तु परब्रह्म-क्षेत्र-काल-भाव से असत् है उसे उत्तम परब्रह्म-क्षेत्र-काल-भाव से सत् कहना, यह असत्य वचन का दूसरा भेद है । जैसे घटस्वरूप से घट के न होने पर भी यह कहना कि 'यहाँ घट है' ।

असत्य (तृतीय)—वस्तु सदपि स्वकालात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् । अनूतमिदं च तृतीयं विशेष गौरिति यथायवः ॥ (पु. सि. ६४) ।

स्वब्रह्म-क्षेत्र-काल-भाव से विद्यमान पदार्थ को पर-ब्रह्म-क्षेत्र-काल-भाव से सत् कहना, यह असत्य का तीसरा भेद है । जैसे गाय को घोड़ा कहना ।

असत्य (चतुर्थ) — गहितमवयवसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं वत् । सामान्येन त्रेधा मतमिदमनूतं तुरीयं तु ॥ पैशुन्याहासगर्भं कर्कशमसमजसं प्रलपितं च । अन्यदपि यदुत्सृजं तत् सर्वं गहितं गतितम् ॥ छेदन-भेदन-मारण-कर्षण-बाणिज्य - चौर्यवचनादि । तत् सावद्य यस्मात् प्राणिवधायाः प्रवर्तन्ते ॥ धरति-करं भीतिकरं छेदकरं बर-शोक-कलहकरम् । यदपरमपि तापकरं परत्ये तत् सर्वमप्रिय ज्ञेयम् ॥ (पु. सि. ६५-६८) ।

गहित, सावद्य और अप्रिय वचनों को बोलना; यह असत्य का चौथा भेद है । आगम विषय जो भी पिशुनता व हास्य आदि से गतित, कठोर और असमंजस (अधोम्य) वचन हो वह गहित कहलाता है । जिस वचन के आशय से प्राणी के शरीर के छेदने-भेदने, बध करने तथा कुत्रि कार्य, व्यापार और चोरी आदि में प्रवृत्ति हो; उसे सावद्य कहते हैं । जो वचन धर्षीति, भय, खेद, बरभाव, शोक और लड़ाई-झगड़ा कराने वाला हो उसे तथा और भी जो सन्तापजनक वचन हो उसे अप्रिय कहा जाता है ।

असत्य मनोयोग—१. × × × तद्विवरीयो

मोक्षो $\times \times \times$ ॥ (प्रा. पंचसं. १-८६; ध्व. पु. १, पृ. २८१ उद्.; गो. जी. २१८) । २. तद्विपरीतो मोक्षमनोयोगः । [असत्यं वित्तं मोक्षमित्यन्यन्तरम् । असत्ये भवः असत्यमनः, तेन योगः असत्यमनोयोगः ।] (ध्व. पु. १, पृ. २८०) । ३. तद्विपरीतः असत्यार्थ-विषयज्ञानजननशक्तिरूपभावमनसा जनितः प्रयत्न-विशेषः मृषा(असत्य)मनोयोगः । (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. पु. २१६) ।

३ असत्य पदार्थ के विषय करने वाले ज्ञान को जल्पन करने वाली शक्तिरूप भावमन से जनित प्रयत्नविशेष को असत्य मनोयोग कहते हैं ।

असत्यामृषा भाषा—१. जं नेव सच्चं नेव मोक्षं नेव सच्च-मोक्ष असच्चमोक्षं नाम । तं चतुर्थं भास-जायं । (आचार. सू. २, १, १, ३५५ पु. ३५४) । २. चतुर्थी भाषा बोध्यमाना न सत्या नापि मृषा नापि सत्यामृषा भ्रामन्मृषाज्ञापनादिका साऽभा-सत्याऽभूयेति । (आचार. शी. वृ. २, १, १, ३५५ पु. ३५४) । ३. $\times \times \times$ असच्चमोक्षा य पडि-सेहा ॥ (दशमं. नि. २७२) । ४. यत्तु वस्तुसाधक-बाधकत्वाविवक्षया व्यवहारपतितस्वरूपमात्राभिधि-स्तया प्रोच्यते तदनत्यामृषम् । (आच. हृ. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ७६) । ५. या पुनस्तिष्ठन्मृषा भाषा-स्वनधिकृता तल्लक्षणयोगतस्तज्ज्ञानान्तर्भाविनी सा भ्रामन्मृषाज्ञापनादिविषया असत्यामृषा । (प्रज्ञाप. मलम. वृ. ११-१६१) । ६. भणहिमया जा नीतु वि ण य धाराहण-विग्राहणुवउत्ता । भासा असच्च-मोक्षा एसा भणिया दुवालसहा ॥ (आचार. ६६) ; या तिसुष्वपि सत्या-मृषा-सत्यामृषाभाषा-स्वनधिकृता, एतेनोक्तभाषात्रयविलक्षणभाषात्वमेत-ल्लक्षणमुक्तम्, य पुनर्न धाराधन-विराधनोपयुक्ता, एतेनापि परिभाषानिर्यजितमनन्तराद्यकविराधकत्व-लक्षणांतरमाक्षिप्तम्, एषामत्यामृषा भाषा । (आचार. टी. ६६) ।

१ जो भाषा सत्य, असत्य और उभय तीनों रूप से रहित अर्थात् अनुभवरूप हो वह चतुर्थी असत्या-मृषा भाषा है जो भ्रामन्मृषादिक है ।

असत्य-मृषा मनोयोग—ण य सच्चमोक्षजुतो जो दु भणो सो असच्चमोक्षमणो । जो जोगो तेण हवे असच्चमोक्षो दु मणजोगो ॥ (प्रा. पंचसं. १-६०; ध्व. पु. १, पृ. २८२ उद्.; गो. जी. २१६) ।

जो मन न सत्य है और न असत्य है वह असत्य-मृषा (अनुभव) मन कहलाता है । उसके आशय से होने वाले योग को असत्य-मृषा मनोयोग कहते हैं । असत्यमृषा वचनयोग—जो णं व सच्चमोक्षो तं जाण असच्चमोक्षवचजोगो । भ्रमणाणं जा भासा सण्णीणामंणीयादी ॥ (प्रा. पंचसं. १-६२; ध्व. पु. १, पृ. २८६ उद्.; गो. जी. २२१) । सत्यता और असत्यता से रहित (अनुभव) वचन के द्वारा जो योग होता है उसे असत्यमृषा वचनयोग कहते हैं ।

असत्य वचनयोग—१. तच्चिवरीयं मोक्षं । (भ. प्रा. ११६४) । २. तच्चिवरीयो मोक्षो । (प्रा. पंचसं. १-६२; गो. जी. २२०) । ३. असत्यार्थ-विषयो वाक्यादारप्रयत्नः भ्रमत्ववचोयोगः । (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. २२०) ।

असत्य अर्थ को विषय करने वाले वचन के व्यापार रूप प्रयत्न को असत्यवचनयोग कहते हैं ।

असदारम्भ असत्—असुन्दर—आरम्भोऽभ्येत्य-सदारम्भः, अविद्यमान वा यदागमे व्यवच्छिन्नं तदा-रभत इत्यगदारम्भः, न सदा—न सर्वदा—स्वशक्ति-कालाद्यपेक्ष आरम्भोऽभ्येत्येति वा । (योगशास्त्र. १-३) ।

असत्—असमीचीन—कार्य के आरम्भ करने वाले को असदारम्भ (बाल) कहते हैं । अथवा असत् अर्थात् आरम्भ में जो व्यवच्छिन्न है उसके आरम्भ करने वाले को असदारम्भ (बाल) कहा जाता है । अथवा जो अपनी शक्ति और काल की अपेक्षा सदा आरम्भ नहीं करता है वह असदारम्भ (बाल) कहलाता है । यह असदारम्भ का निष्कृत लक्षण है (असत्-आरम्भ या अ-सदा-आरम्भ) ।

असद्वृक्ष अनुभाग—अथ जे उदीरेदि अणंगासु वग्गणासु ते असरिसा णाम । (कत्तामया. वृ. पृ. ८८४) ।

अनेक वग्गणाओं में जिन अनुभागों को उदीरणा की जाती है, उनका नाम असद्वृक्ष अनुभाग है ।

असद्वृक्षवैषग्रहण—असद्वृक्षवैषग्रहणं नाम स्वयमार्यं सन्नार्यवैष करोति, पुरुषो वा स्वं रूपमन्तर्हित्य स्त्रीवैष विदधातीत्यादि । (बृहत्क. वृ. १३०६) । स्वयं आर्य होते हुए अनार्य के वैष के कारण करने

को, प्रथमा पुण्य होते हुए स्त्री के लेश के कारण करने को असद्व्यवहार कहते हैं ।

असद्व्यापन—१. पापायजयत्वाहोहन्मिध्यात्वा-
द्वस्तुविभ्रमात् । कषायजयत्वाहोहन्मिध्यात्वा-
रिणाम् ॥ (ज्ञानार्णव ३-३०, पृ. ६६); भ्रजात-
वस्तुत्वस्य रागाद्युपहृतात्मनः । स्वातन्त्र्यवृत्तिर्या
जन्तोस्तदसद्व्यापनमुच्यते ॥ (ज्ञानार्णव २५-१६) ।
वस्तुस्वरूप के न जानने और राग-द्वेषादि से
प्राबल्य होने के कारण जीव के जो स्वेच्छाचारिता
होती है, उसे असद्व्यापन कहा जाता है । यह दुर्ध्यान
बुद्ध अभिप्राय व मिथ्यात्वादि के निमित्त से हुआ
करता है ।

असद्व्यापनस्थापना—प्राकृतिमति सद्व्यापनस्थापना,
प्रजाकृतिमति तद्विपरीता । (ध्व. पु. १४, पृ. ५) ।
विवक्षित वस्तु के आकार से शून्य वस्तु में उस
वस्तु की स्थापना को असद्व्यापनस्थापना कहते हैं ।
दूसरे नाम से इसे अतदाकारस्थापना भी कहा
जाता है ।

असद्व्यापनस्थापनाकाल —असद्व्यापनकालो
णाम भणभेद-भेद-मट्टी-ठिकरादिस्तु वसतां सि
बुद्धिवलेण ठवदा । (ध्व. पु. ४, पृ. ३१४) ।
भणभेद, गेरु, मट्टी और ठीकरे आदि में जो बुद्धि-
बल से यह वसन्त है इस प्रकार से जो वसन्त काल
का आरोप किया जाता है उसे असद्व्यापनस्थापना-
काल कहते हैं ।

असद्व्यापनस्थापनानिबन्धन—तद्विवरीयं (सम्भाव-
द्ववर्णविषयविवरीयं) असद्व्यापनद्ववर्णविषय ।
(ध्व. पु. १५, पृ. २) ।

जो निबन्धन विवक्षित द्रव्य का अनुकरण करता है
उसकी उस रूप से कल्पना करने रूप सद्व्यापन-
पना से विपरीत स्वरूप वाला असद्व्यापनस्थापना-
निबन्धन होता है ।

असद्व्यापनस्थापनापूजा —वराटकादी सङ्कल्प्य
जिनोऽयमिति बुद्धितः । याऽर्चा विधीयते प्रार्थ्यै-
सद्व्यापना मता त्वियम् ॥ (धर्मसं. भा ६-८६) ।
जिनेन्द्र के आकार से रहित कौडी आदि में 'यह
जिन है' इस प्रकार बुद्धि से संकल्प करके जो
पूजन की जाती है उसे प्राच्य जन असद्व्यापन-
स्थापना पूजा कहते हैं ।

असद्व्यापनस्थापनावयव—अजहासरूपेण (एवेति,

(चक्रबन्ध-मुरवबन्ध-विज्जाहरबन्ध-भागपासबन्ध-संसर-
वासबन्धादीण) तेषु (सीवणी-सद्व्यवहारोपकट्टादितु)
द्ववर्णा असद्व्यापनद्ववर्णबन्धो नाम । (ध्व. पु. १४,
पृ. ५) ।

श्रीपथी, और और असोक वृक्ष की लकड़ी आदि
में चक्रबन्ध व मुरवबन्ध आदि बन्धनों की
प्रयथास्वरूप से—उन आकारों के न रहने पर
भी—स्थापना करना; इसे असद्व्यापनस्थापनावयव
कहते हैं ।

असद्व्यापनस्थापनाभाव—तद्विवरीदो (सम्भाव-
द्ववर्णभावो विवरीदो) असद्व्यापनद्ववर्णभावो ।
(ध्व. पु. ५, पृ. १८३) ।

विराम और सरागी भावों का अनुकरण नहीं करने
वाली स्थापना को असद्व्यापनस्थापनाभावनिक्षेप
कहते हैं ।

असद्व्यापनस्थापनामङ्गल—१. बुद्धीए समारो-
विदमंगलपञ्चयपरिणदजीवगुणसकलवस-वराटकादयो
असद्व्यापनद्ववर्णमङ्गल । (ध्व. पु. १, पृ. २०) ।

२. मुख्याकारभूषा वस्तुमात्रा पुनरसद्व्यापनस्थापना,
परोपदेशादेव तत्र सोऽयमिति संप्रत्ययात् । (त. वस्तो.
१, ५, ५४, पृ. १११) ।

१ अस (चोपड़ खेलने के पाँसे) और वराटक
(कोड़ी) आदि में मंगल पर्याय से परिणत जीव के
गुण स्वरूप की बुद्धि से कल्पना करना असद्व्यापन-
स्थापनामंगल है ।

असद्व्यापनस्थापनावेदना—अण्णा (पाएण अनु-
हरतद्व्यभेजेण इच्छिदद्ववर्णवर्णरूपसद्व्यापनद्ववर्णवेद्य-
णाविवरीदा) असद्व्यापनद्ववर्णवेद्यणा । (ध्व. पु. १०,
पृ. ७) ।

वेदना के आकार से रहित द्रव्य में वेदना की स्था-
पना करने को असद्व्यापनस्थापनावेदना कहते हैं ।

असद्व्यवहार—१. अण्णेति अण्णपुणो भण्ड
असद्व्यवहार $\times \times \times$ । (बु. न. व. २२३) । २. अस-
द्व्यवहारो द्रव्यादेरुपचारतः । परपरिणति-
स्लेषजन्यो $\times \times \times$ । (यः परद्रव्यस्य परिणत्या
मिश्रितः प्रथमं द्रव्यादेरुपचारतः उपचर-
णात् परपरिणतिस्लेषजन्यः—परस्य वस्तुनः परिणतिः
परिणयनं, तस्य स्लेषः संसर्गः तेन जन्यः परपरिणति-
स्लेषजन्यः) असद्व्यवहारः कथ्यते । (द्रव्यानु. टी.
७-४, पृ. १००) । ३. अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्या-

न्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः । (नवप्रवीण पृ. १०३) ।

इ अन्य अर्थ में प्रसिद्ध अर्थ के अन्य अर्थ में समारोप करने को असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं ।

असद्वेद्य—१. यत्कलं दुःखमनेकविधं तदसद्वेद्यम् । अग्रशस्तं वेद्यमसद्वेद्यम् । (स. सि. ८-८; त. श्लो. ८, ८) । २. यत्कलं दुःखमनेकविधं तदसद्वेद्यम् । नारकादिगतिषु नानाप्रकारजातिविशेषावकीर्णसु कायिकं बहुविधं मानसं चातिदुःसहं जन्म-जरा-मरण-प्रिय-विप्रयोगाऽप्रियसंयोग-व्याधि-वध-वन्धादिजनितं दुःखं यस्य कलं प्राणिनां तदसद्वेद्यम् । अग्रशस्तं वेद्यम् असद्वेद्यम् । (स. बा. ८, ८, २) । ३. यत्कलं दुःखमनेकविधं कायिकं मानसं चातिदुःसहं नरकादिषु गतिषु जन्म-जरा-मरण-वध-वन्धादिनिमित्तं भवति तदसद्वेद्यम् । अग्रशस्तं वेद्यमसद्वेद्यम् । (त. सुखबो. वृ. ८-८) । ४. यदुदयान्नरकादिगतिषु शरीर-मानसादिदुःखं नानाप्रकारं प्राप्नोति तदसद्वेद्यम् । (त. वृत्तिभूत. ८-८) ।

२ जिसके उद्यमे से नरकादि गतियों में शारीरिक व मानसिक आदि माना प्रकार के दुःखों का वेदन हो उसे असद्वेद्य कहते हैं ।

असमीक्ष्याधिकरणम्—१. असमीक्ष्य प्रयोजनमाधिक्येन करणं असमीक्ष्याधिकरणम् । (स. सि. ७, ३२; त. श्लो. ७-३२; सा. च. श्लो. टी. ५-१२) । २. असमीक्ष्य प्रयोजनमाधिक्येन करणं असमीक्ष्याधिकरणम् । अधिपरिभावे वर्तते, करोतिश्चापूर्वप्राप्तुमि, प्रयोजनमसमीक्ष्य आधिक्येन प्रवर्तनमधिकरणम् । तत् त्रेधा काय-बाह्यमनोविषयभेदात् । तदधिकरण त्रेधा व्यवतिष्ठते । कुतः ? काय-बाह्यमनोविषयभेदात् । तत्र मानसं परानर्थकाभ्यादिचिन्तनम्, वाग्यत निष्प्रयोजनकथाभ्यानां परपीडाप्रधानं यत्किञ्चन वक्तृत्वम्, कायिकं च प्रयोजनमन्तरेण लब्धंतिष्ठन्नासीनो वा सचित्तेतरपत्र-पुष्प-फलच्छेदन-भेदन-कुट्टन-क्षेपणादीनि कुर्यात् । अग्नि विष-क्षारादिप्रदान चारभेद इत्येवमादि, तत्सर्वमसमीक्ष्याधिकरणम् । (स. बा. ७, ३२, ४-५; त. सुखबो. वृ. ७-३२; सा. सा. पृ. १०) । ३. असमीक्ष्य घनालोभ्य प्रयोजनमात्मनोऽर्थमधिकरणं उचितादुपयोगादतिरेकरणमसमीक्ष्याधिकरणम्, युसल-वाच-शिलासुषुप्तक शस्त्र-गोधूमयन्त्रकशिलाभ्यादिदानलज्जन-

म् । (स. बा. सिद्ध. वृ. ७-२७) । ४. असमीक्ष्याधिकरणं पञ्चमम्—असमीक्ष्य प्रयोजनमपर्यालोभ्य आधिक्येन कार्यस्य करणमसमीक्ष्याधिकरणम् । (स. क. टी. ३-३५) । ५. असमीक्ष्य अधिचार्य अधिकस्य करणम् असमीक्ष्याधिकरणम् । तत् त्रिधा भवति—मनोगत वाग्यतं कायगतं चेति । तत्र मनोगतं मिथ्यादृष्टीनामनर्थककाभ्यादिचिन्तनं मनोगतम् । निष्प्रयोजनकथा-परपीडावचनं यत्किञ्चिद् वक्तृत्वादि कं वाग्यतम् । नि.प्रयोजनं सचित्ताचित्तदल-फल-पुष्पादिच्छेदनादिकम् अग्नि-विष-क्षारादिप्रदानादिकं कायगतम् । एवं त्रिविधं असमीक्ष्याधिकरणम् । (त. वृत्तिभूत. ७-३२) । ६. असमीक्ष्याधिकरणमनस्पीकरणं हि यत् । अर्थात् स्वायंमसमीक्ष्य वस्तुनोऽनवधानतः । (साटीस. ६-१४४) । ७. असमीक्ष्यैव तथाविधकार्येनपर्यालोभ्यैव प्रवणतया यद् व्यवस्थापितमधिकरणं चास्युत्सल-शिलापुत्रक-गोधूमयन्त्रकादि तदसमीक्ष्याधिकरणम् । (अर्थवि. वृ. ३-३०) ।

२ प्रयोजन का विचार न करके अधिकता से प्रवृत्ति करने को असमीक्ष्याधिकरण कहते हैं । इसके तीन भेद हैं—मनोगत, वाग्यत और कायगत असमीक्ष्याधिकरण । मिथ्यादृष्टियों के द्वारा रचे गये अनर्थक काव्य आदि का चिन्तन करना मनोगत असमीक्ष्याधिकरण है । बिना प्रयोजन दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाली कथाओं का कहना व स्वेच्छाचरिता से जो कुछ भी बोलना, यह वाग्यत असमीक्ष्याधिकरण है । बिना प्रयोजन सचित्त-अचित्त वज्र व कल-कुल आदि का छेदन भेदन आदि करना, तथा अग्नि-विष आदि का देना; यह कायगत असमीक्ष्याधिकरण है ।

असम्यक्त्व (अवर्शन) परीषह—असम्यक्त्वपरीषहः—सर्वपापस्यानेभ्यो विरतः प्रकृष्टतपोऽनुष्ठायी निःसङ्गाहं तथापि धर्माधर्मोपदेवतारकादिभावा-न्नेष्टे, अतो मृषा समस्तमेतदिति असम्यक्त्वपरीषहः । (आच. सू. हरि. वृ. ४, पृ. ६५८) ।

ऐसो अवर्शनपरीषह ।

असंकुट—सम्बन्ध लोगागासं विभापदि ति असंकुटो । (अच. पु. १, पृ. १२०) ।

जीव केवलितसम्बन्धत अवस्था में पूर्ण सम्बन्धोका-कास को व्याप्त करता है, अतः उसे असंकुट कहा जाता है ।

असंक्षिप्त—दोषपरिहारी असंक्षिप्तः । (अच.

भा. मलय. वृ. ३-१६४, पृ. ३५) ।

संस्नेह आदि बोध रहित व्यक्ति को असंखिलष्ट कहते हैं ।

असंखेपाढा—१. जहणधो धाउअबंभकालो जहण्वित्समणकालपुरस्सरो असंखेपाढा नाम । (अब. पु. ६, पृ. १६७ टि. १) । २. न विद्यते अस्मादन्यः संखेयः, स चासौ प्रदा च असंखेपाढा, धावत्यसंखेयभागमात्रत्वात् । (श्री. क. जी. प्र. टी. १५८) । जिससे संखित प्रायुर्बन्धकास और न हो ऐसे आबलीके असंख्यातबे भाग मात्र कास को असंखेपाढा कहते हैं ।

असंखेय—१. संख्यामतीतोऽसंखेयः । (स. सि. ५-८) । २. स (असंखेयः कालः) च गणितविषयातीतत्वादुपमया कयाचिन्नियम्यते । (स. भा. सिद्ध. वृ. ४-१५) । ३. संख्याविशेषातीतत्वादसंखेयः । (स. भा. ५, ८, १) । ४. जो रासी एगैगखे भवणिज्जमाणे णिट्ठादि सो असंखेज्जो, जो पुण ण समय्पइ सो रासी अणतो । (अब. पु. ३, पृ. २६७) ; $\times \times \times$ तदो (संखेज्जादो) उवरि जमोहिणानविस्सो तमसंखेज्जं नाम । (अब. पु. ३, पृ. २६८) ।

१ जो राशि संख्या से रहित—गणनातीत—हो, वह असंखेय या असंख्यात कही जाती है ।

असंगानुष्ठान—यत्त्वम्यासातिशयात् सात्मीभूतमिव चेष्टयते सद्भिः । तदसङ्गानुष्ठानं भवति त्वेत् तत् तदावेवात् ॥ (बौद्धशक १०-७) ।

जो अनुष्ठान पुनः पुनः सेवन रूप अस्यास की अधिकता से किया जाता है उसे असंगानुष्ठान कहते हैं । यह अनुष्ठान के प्रीत्यनुष्ठान आदि चार भेदों में अस्ति है ।

असंघातित—असंघातितः एकफलकात्मकः । (अब. सू. भा. मलय. वृ. ८-८) ।

जो संस्तारक (विद्यमान का साधन) एक पट्टिये रूप होता है उसे असंघातित एकांगिक अपरिशादिसंस्तारक कहते हैं ।

असंक्षिप्त— $\times \times \times$ भवत्वेवं यदि मनोऽनपेक्ष्य ज्ञानोत्पत्तिमात्रमाश्रित्यासंक्षिप्तस्य निबन्धनमिति । (अब. १, पृ. ४०६) ; जोईदियावरणत्स सख्य-पादिफह्याणमुदएण असिण्णसत्स्य संसणादो । (अब. पु. ७, पृ. ११२) ।

नोइन्द्रियावरण के लब्धधाति स्पर्शकों के उदय से जो जीव की अवस्था—मन के बिना शिक्षा उप-देशादि के न ग्रहण कर सकने योग्य—प्राप्त होती है उसे असंक्षिप्त कहते हैं ।

असंक्षिप्त—जस्स णं नत्थि ईहा अयोहो मग्गणा गवेसणा चित्ता वीमंसा से णं असन्नीति लब्भइ । से तं कालिघोवएसेणं । $\times \times \times$ जस्स णं नत्थि अभिसंचारणपुब्बिअा करणसत्ती से णं असण्णीति लब्भइ । से त हेऊवएसेणं । $\times \times \times$ असणि-सुअस्स खअधोवसमेणं असण्णी लब्भइ । से तं दिट्ठि-वाधोवएसेणं । $\times \times \times$ से तं असणिंसुअं । (नन्वी. सू. ३६) ।

कालिक्युपवेश से, हेतुपवेश से और बुष्टिवाधोपवेश से असंखी तीन प्रकार का है । जिसके ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेसणा, चित्ता और विमर्श नहीं होते वह कालिक्युपवेश से असंखी कहा जाता है । चिद्ध-मान अर्ध के पर्यालोचन का नाश ईहा और निश्चय का नाश अपोह है । अन्वय वर्ण के अन्वेषण की मार्गणा और व्यतिरेक वर्ण के स्वरूप के पर्यालोचन की गवेसणा कहा जाता है । यह कैसे हुआ, इस समय क्या करना चाहिए तथा भविष्य में यह कैसे होगा ; इत्यादि विचार को चित्ता और यथावस्थित वस्तु के स्वरूप के निर्णय को विमर्श कहते हैं । जो बुद्धिपूर्वक अपने शरीर के संरक्षणार्थ अनीष्ट आहार-रादि में प्रभुत नहीं हो सकता है वह हेतु के उपवेश की अपेक्षा असंखी कहा जाता है । बुष्टिवाध के उपवेशानुसार मिथ्याबुष्टि को असंखी कहा जाता है । इन तीन प्रकार के असंखियों के धृत को असंक्षिप्त कहते हैं ।

असंखी—देखो असंक्षिप्त । १. सम्यक् जानातीति संज्ञं मनः, तदस्यातीति संज्ञी । $\times \times \times$ तन्निवरीदो असण्णी दु ॥ (अब. पु. १, पृ. १५२) ; शिक्षा-क्रियोपदेशालापप्राप्ती संज्ञी, तद्विपरीतोऽसंज्ञी । (अब. पु. ७, पृ. ७) । २. अतस्तु विपरीतो यः सोऽसंज्ञी कथितो जिनेः । (स. सा. २-६३) । ३. $\times \times \times$ मणवज्जिय जे ते धुवु असणि । सिक्खालावाइं न सेति पाव, अण्णाण गूढ दढ भूढभाव । असु णव जि समत्ति उ पंच ताह, वज्जरइ जिणिदु असणिगाहं ॥ (म. पु. पुण. १२, पृ. १७५-७६) । ४. $\times \times \times$

असंज्ञी हेयादेयविशेषकः ॥ (बंधसं. अमित. ३१६, पृ. ४४) । ५. शिक्षोपदेशनालापग्राहिणः संज्ञिनो मताः । प्रवृत्तमानसप्राणा विपरीतस्वसंज्ञिनः ॥ (अमित. आ. ३-११) । ६. शिक्षा-क्रियोपदेशालापग्राहिकः संज्ञी, तद्विपरीतोऽसंज्ञी । (मूला. बृ. १२-१५६) । ७. यथोक्त- (विशिष्टस्मरणादिरूप-) मनोविज्ञान-विकला असंज्ञिनः । (जीवाजी. मलय. बृ. १-१३, पृ. १७) ; ये तु सम्मूर्च्छनजैम्य उत्पन्नास्तेऽसंज्ञिनः । (जीवाजी. मलय. बृ. १-३२. पृ. ३५) । ८. संज्ञानं संज्ञा भूत-मवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचनम्, सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः, विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानभाजः इत्यर्थः । यथोक्तमनोविज्ञानविकला असंज्ञिनः । (बंधसं. मलय. बृ. १-५) ।

१ जो जीव मन के न होने से शिक्षा, उपदेश और आलाप आदि को ग्रहण न कर सके उन्हें असंज्ञी जीव कहते हैं ।

असंतोष— तत्रास्ततोवास्तुप्यभावः । (योगशा. खो. विव. २-२०६) ।

तुष्टि के अभाव को असंतोष कहते हैं ।

असन्दिग्धत्व— १. असन्दिग्धत्वम् असंशयकारिता । (सनवा. अमय. बृ. ३५) । २. असन्दिग्धत्वं परिस्फुटार्थप्रतिपादनात् । (रायप. मलय. बृ. ४, पृ. २७) । सन्नेह या संशय से रहित वचन के प्रतिपादन को असन्दिग्धत्व कहते हैं । यह ३५ सत्यवचनातिशयो में ११वां है ।

असन्दिग्धवचनता—असन्दिग्धवचनता परिस्फुटवचनता । (उत्तरा. नि. सा. बृ. १-५८, पृ. ३६) । सन्नेह रहित स्पष्ट वचनों के बोलने को असन्दिग्धवचनता कहते हैं । यह चार प्रकार की वचनसम्पत् में चौथा है ।

असंप्राप्त उदय— १. असंप्रप्तउदयो नाम अप्रत-कालिय पद्मोपेण कालपत्तेण सम वेदज्जति । स च्चेव ठिइउदीरणा बुच्चइ । (कर्मप्र. बृ. उदी. गा. २६, पृ. ४३) । २. यत्पुनरकालप्राप्त कर्मदलिक-भुदीरणाप्रयोगेण धीर्यविशेषसंज्ञितेन समाकृष्य काल-प्राप्तेन दलिकेन सहानुभूयते सोऽसम्प्राप्त्युदयः । (कर्मप्र. मलय. बृ. २६, पृ. ४३; कर्मप्र. यथो. बृ. २६, पृ. ४४) ।

२ जो कर्मदलिक उदय को प्राप्त नहीं हुआ है उसका धीर्यविशेषरूप उदीरणा के प्रयोग से अपकर्षव

करके उदयप्राप्त दलिके साथ वेदन करना, इसका नाम असंप्राप्त उदय है ।

असंबद्धप्रलाप— १. धर्मार्य-काम-मोक्षाऽसम्बद्धा वाग् असंबद्धप्रलापः । (त. बा. १, २०, १२, पृ. ७५) । २. धर्मत्व-काम-मोक्षाऽसम्बद्धवयमसंबद्धा-लाभो । (अंगपण्णसी पृ. २६२) ।

१ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से असम्बद्ध वचनों को असम्बद्धप्रलाप कहते हैं ।

असंभव— १. बाधितलक्ष्यवृत्तसम्भवि । (म्याघवी. पृ. ६) । २. लक्ष्ये त्वनुपपन्नत्वमसंभव इतीरितः । (मोक्षार्थ. १७) ।

जो लक्षण लक्ष्य में ही न रहता हो उसे असम्भवी कहते हैं । असम्भव नाम भी इसी लक्षणवश का है ।

असंयत— १. असंयतो नाम कथं भवति ? सजम-पादीन कम्माणमुदण । (वट्ठं. २, १, ५४-५५ पृ. ७, पृ. ६५) । २. चारित्रमोहस्य सर्वधातिस्पर्ष-कस्योदयात् असंयत भौदयिकः । (त. सि. २-६; त. सुल्लो. २-६; त. वृत्ति भुत. २-६) । ३. जीवा चउदसभेया इद्विविसया य भट्ठोवस तु । जे तेसु णेव विरया असजया ते मुणेयम्बा ॥ (प्रा. पंचसं. १-१३७; धव पु. १, पृ. ३७३ ज.) । ४. चारित्र-

मोहोदयादनिवृत्तिपरिणामोऽसंयतः । चारित्रमोहस्य सर्वधातिस्पर्षकोदयात् प्राप्नुयथातेऽग्निवविषये द्वेषा-भिलापनिवृत्तिपरिणामरहितोऽसंयत भौदयिकः । (त. बा. २, ६, ६) । ५. सज्वलनवर्जकपायद्वादयाको-दयादसंयतत्वमेकरूपम् । (त. भा. सिद्ध. बृ. २-६) । ६. वृत्तिमोहोदयात् पुंसोऽसंयतत्वं प्रचक्ष्यते । (त. इलो. २, ६, १०) । ७. महता तपसा युक्तो मिथ्या-दृष्टिरसंयतः । (वरांग. २६-६७) ।

४ चारित्रमोहनीय कर्म के सर्वधाती स्पर्षकों के उदय से प्राणिहिंसा और इन्द्रियविषयों में क्रम से द्वेष और अभिलाषा की निवृत्तिरूप परिणाम का न होना, इसका नाम असंयत है ।

असंयतसम्यग्दृष्टि— १. सम्यक्त्वोपेतच्चारित्रमो-दयादि (वा)पावित्ताविरतिरसंयतसम्यग्दृष्टिः । श्रोप-शमिकेन क्षायोपशमिकेन क्षायिकेण वा सम्यक्त्वेन समन्वितच्चारित्रमोहोदयादत्यन्तमविरतिपरिणामप्रव-णोऽसंयतसम्यग्दृष्टिरिति व्यपदिश्यते । (त. बा. ६, १, १५) । २. वृत्तमोहस्य पाकेन वनित्ताविरति-मंत्रेत् । जीवः सम्यक्त्वस्युक्तः सम्यग्दृष्टिरसंयतः ॥

(त. सा. २-२१) । ३. पाकाच्चारित्रमोहस्य व्यस्त-
प्राप्यसंयमः । त्रिव्येकतमसम्यक्त्व-सम्यग्दृष्टिरम-
यतः ॥ (पंचसं. अमृत. ६-२३) ।

१ सम्प्रादर्शन से युक्त होकर जो चारित्रमोहनीय के
उदय से संयमभाव से विहीन है उसे असंयतसम्य-
ग्दृष्टि कहते हैं ।

असंयम—१. असंयमो ह्यविरतिलक्षणः । (आव.
नि. हरि. ब मलय. वृ. ७४०) । २. प्राणातिपाता-
दिलक्षणीऽसंयमः । (आव. हरि. वृ. ११०६, पृ.
११६) । ३. छक्कायवहो मण-इन्द्रियाण भजमो
असजमो मणिमो । इति बारसहा × × × ॥ (पंच-
सं. अ. ४-३) । ४. षट्कायवधो मनइन्द्रियाणाम-
यमोऽसंयमो भणित इति द्वदशधा । (पंचसं. स्वो. वृ.
४-३) । ५. प्राणिघाताक्षविषयभावेन स्यादसंयमः ।
(त. सा. २-८५) । ६. पण्णां कायानां पृथिव्यप्ते-
जोवायु-वनस्पति-त्रसलक्षणानां वधो हिंसा, तथा
मनसोऽन्त-करणस्येन्द्रियाणां च श्रोत्रादीनां पञ्चानां
स्व-स्वविषये यथेच्छ प्रवर्तमानानामयमोऽनियत्रण-
मिति, एवममुना प्रकारेण द्वादशधा द्वादशप्रकारो-
ऽसंयमोऽविरतिरूपो भणितः । (पंचसं. मलय. वृ.
४-३) । ७. व्रताभावात्मको भावो जीवस्यासंयमो
मतः । (पंचाध्यायी २-११३३) ।

३ षट्काय जीवों का घात करने तथा इन्द्रिय और
मन के नियन्त्रित न रखने का नाम असंयम है ।

असंविश्व—असंविश्वः शिथिलाः पार्श्वस्थादयः ।
(बृहत्क. वृ. ४२१) ।

पार्श्वस्थ आदि शिथिलाचारी साधुओं को असंविश्व
कहते हैं ।

असंवृतबकुल—प्रकटकारी तु असंवृतबकुलः । (त.
भा. सिद्ध. वृ. ६-४६; प्रब. सारो. वृ. ७२४; अर्ध-
सं. बान. स्वो. वृ. ३-५६, पृ. १२५) ।

जो शरीर व उपकरणों की बिभूषा आदि को प्रगट
में किया करते हैं, ऐसे साधुओं को असंवृतबकुल
कहते हैं ।

असंसार—अनागतितरसंसारः शिवपदपरमामृतमुख-
प्रतिष्ठा । (त. बा. ६, ७, ३) ।

आपत्ति—संसार परिभ्रमण—३ रहित होकर मुक्ति
के सर्वोत्कृष्ट मुख में प्रतिष्ठित होना, वह आत्मा
की असंसार (सिद्ध) अवस्था है ।

असंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना — न संसारोऽ-

संसारो मोक्षस्तं समापन्ना मुक्तास्ते च ते जीवाश्च
तेषां प्रज्ञापना । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १-५) ।

मोक्ष को प्राप्त हुए सिद्ध जीवों की प्रज्ञापना अर्थात्
प्रकृपणा करने को असंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना
कहते हैं ।

असंस्कृत (असंख्य)—उत्तरकरणे कयं जं किञ्चि
सख्यं तु नायव्वं । सेसं असंख्यं खलु असंख्यस्सेस
निज्जुत्ती ॥ (उत्तरा. नि. १८२) ।

अपने कारणों से उत्पन्न धादि के उत्तरकाल में
विशेषाधानस्वरूप उत्तरकरण के द्वारा जो निर्मित
होता है उसे संस्कृत कहते हैं । इसको छोड़कर शेष
सब असंस्कृत कहे जाते हैं ।

असंहार्यमति—संहार्या जेष्या परकीयागमप्रक्रि-
याभिरसमञ्जसाग्निर्द्विर्द्वयस्यासौ संहार्यमतिः, न
संहार्यमतिरसंहार्यमतिर्भगवद्वर्हत्प्रणीततत्त्वश्च द्वा । (त.
भा. सिद्ध. वृ. ७-१८) ।

जिसको अर्हदुपपिष्ट तत्त्वों पर धडा हो तथा
जिसको बुद्धि असमीचीन मिथ्यादृष्टियों की आगल-
प्रक्रियाओं से अपहृत नहीं की जा सकती है उसे
असंहार्यमति कहते हैं ।

असात—१. असाद दुक्ख । (अव. पु. ६, पृ. ३५) ।
२. अनारोग्यादिजनितं दुःखमसातम् । (शतक. मल.
हेम. वृ. ३७, पृ. ४५) ।

२ रोग आदि के होने से जो पीड़ा होती है उसका
नाम असात है ।

असातवेदनीय—१. परित्यापकेण यदेच्छते तद-
नातवेदनीयम् । (आ. प्र. टी. १४; अमंसंग्रहणी
मलय. वृ. ६११) । २. यदुदयान्तरकादिगतिषु

शारीर-मानसदुःखानुभवं तदसातवेदनीयम् । (मूला.
वृ. १२-१८६) । ३. असाद दुक्खम्, त वेदावेदि भुजा-
वेदि ति असादवेदणीयं । (अव. पु. ६, पृ. ३५) ।

४. अनारोग्यादिजनित दुःखमसातम्, तद्रूपेण विपा-
केन वेद्यते इत्यसातवेदनीयम् । (शतक. मल. हेम.
वृ. ३७, पृ. ४५) । ५. यस्योदयान् पुनः शरीरे

मनसि च दुःखमनुभवति तदसातवेदनीयम् । (प्रज्ञाप.
मलय. वृ. २३-२६३, पृ. ४६७) । ६. दुःखकारणे-
न्द्रियविषयाणुभवन् कारणस्यरतिमोहनीयोदयबलेन

तदसातवेदनीयम् । (गो. क. जी प्र. टी. २५) ।
१ जिस कर्म का वेदन—अनुभवन—परित्याप के साथ
किया जाता है उसे असातवेदनीय कहते हैं ।

असातसमयप्रबद्ध—अकम्मस्वरूपेण द्विदा योगला असादकम्मस्वरूपेण परिणदा जवि होंति, ते असाद-समयप्रबद्धा नाम । (अब. पु. १२, पृ ४८६) ।

अकर्मस्वरूप से स्थित पुद्गल जब असातावेदनीय कर्म के स्वरूप से परिणत होते हैं तब उनका नाम असातसमयप्रबद्ध होता है ।

असातावेदनीय—असादं दुक्खं, तं वेदावेदि भुंजावेदि ति असादावेदणीयं । (अब. पु. ६, पृ ३५); जीवत्स सुहसहावत्स दुक्खुप्पाय दुक्खपसमण-हेतुदव्वाणमवसारयं च कम्ममसादावेदणीयं नाम । (अब. पु. १३, पृ. ३५७) ।

असाताका अर्थ दुःख होता है, उस दुःख का जो वेदन कराता है उसे असातावेदनीय कर्म कहते हैं । **असाताम्य स्थिति**—एकम्हि द्विविसेसे णम्हि समयप्रबद्धसेसयमत्थि सा द्विदी सामण्णा ति णाद-व्वा । जम्हि णत्थि सा द्विदी असामण्णा ति णाद-व्वा । (कसायपा. मू. पृ. ८३५) ।

जिस स्थितिविशेष में समयप्रबद्ध शेष नहीं पाये जाते हैं उसे असाताम्य स्थिति कहते हैं ।

असावद्य कर्मार्थ—असावद्यकर्मार्थः संयताः, कर्मजयार्थोद्धतविरतिपरिणतत्वात् । (त. भा. ३, ३६, २) । २. असावद्यकर्मार्थस्तु यतयः । (त. वृत्ति भूत. ३-३६) ।

अभि-मयी आदि सावद्य कर्मों से रहित होकर कर्म-अवजनक विरति में परिणत हुए मृत्तियों को असा-वद्यकर्मार्थ कहते हैं ।

असिकर्मार्थ—१. असिचतुरादिप्रहरणप्रयोग—कुशलाः असिकर्मार्थः । (त. भा. ३, ३६, २) । २. असि-तरवारि-वसुनन्दक-वसुर्बाण-छुरिका-कट्टा-रक-कुन्त-पट्टिण-हल-मुगल-गदा-मिडिमाल-लोहवन-शक्ति-वक्रागुचचक्रवः असिकर्मार्थः उच्यन्ते । (त. वृत्ति भूत. ३-३६, पृ. ३६६) ।

१ खड्ग व वज्र आदि शस्त्रों के प्रयोग करने में कुशल श्रम्यों को असिकर्मार्थ कहते हैं ।

असिद्ध—संशयादिब्यवच्छेदेन हि प्रतिपन्नमयस्वरूपं सिद्धम्, तद्विपरीतमसिद्धम् । (प्र. क. भा. ३-२०, पृ. ३६६) ।

जिसका स्वरूप प्रमाण से सिद्ध न हो, ऐसे पदार्थ (साध्य) को असिद्ध कहते हैं ।

असिद्धत्व—१. कर्मोदयसामान्यापेक्षोऽसिद्धः । घना-

दिकर्मबन्धस्तान्तरपरतंत्रस्यात्मनः कर्मोदयसामान्ये सति असिद्धत्वपर्यायो भवतीत्योदयिकः । (त. भा. २, ६, ७; त. सुखबो. २-६) । २. असिद्धतं भट्ट-कर्मोदयसामान्यं । (अब. पु. ५, पृ. १८६); अथाइकम्मचउत्कोदयजिदमसिद्धतं नाम । (अब. पु. १५, पृ. १३) । ३. कर्ममात्रोदयादेवासिद्धत्वम् । (त. वस्तो. २, ६, १०) ।

१ कर्मसामान्य का उदय होने पर जो जीव को अवस्थाविशेष होती है उसका नाम असिद्धत्व है ।

असिद्धहेत्वाभास—१. असिद्धस्त्वप्रतीतो यः $\times \times \times$ । (न्यायवतार, २३) । २. अन्यथा च संभूणुरसिद्धः । (सिद्धिभि. त्वो. मू. ६-३२, पृ. ४३०, पं. ३) । ३. असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः । (परीक्षा. ६-२२) । ४. यस्यान्यथानुपपत्तिः प्रमाणेन न प्रतीयते सोऽसिद्धः । (प्र. न. त. ६-४८) । ५. नासन्ननिश्चितसत्त्वो वाग्यथानुपपन्न इति सत्त्वस्या-सिद्धौ सन्देहे वाऽसिद्धः । (प्रमाणबी. २, १, १७) । ६. अनिश्चितपक्षवृत्तिरसिद्धः । (न्यायबी. ३, पृ. ८६) ; अनिश्चितपक्षप्राप्तोऽसिद्धः । (न्यायबी. पृ. १००) ।

६ पक्ष में जिस हेतु के रहने का निश्चय न हो उसे असिद्धहेत्वाभास कहते हैं ।

असुल्लक्षणा—असुलं सुल्लामावः, यस्मिन् प्राणिनि दुःखिते सुलं नास्ति तस्मिन् याऽनुकम्पा लोकप्रसिद्धा आहार-वस्त्र-शयनासनादिप्रदानलक्षणा सा द्वितीया । (वीरशक मू. १३-६) ।

जिनके सुल नहीं, ऐसे दुखी प्राणियों पर अनुकम्पा या दया के करने को असुल्लक्षणा कहते हैं ।

असुर—१. देवगतिनामकर्मविकल्पस्यासुरस्त्वसंबन्ध-नस्य उदयादयस्त्यति परानित्यसुराः । (त. सि. ३-५; त. भा. ३, ५, २; त. वृत्ति भूत. ३-५; त. सुखबो. ३-५) । २. तत्र महिसाद्यनुष्ठानरतयः सुरा नाम । तद्विपरीताः (हिसाद्यनुष्ठानरतयः) असुराः । (अब. पु. १३, पृ. ३६१) ।

२ जिनका स्वभाव अहिंसा आदि के अनुष्ठान में अनुराग रखने वाले सुरों से विपरीत होता है उनका नाम असुर है ।

असुरकुमार—१. गम्भीराः भीमन्तः काला महा-काया रत्नोत्कटमुकुटभास्वराष्ट्रूडामणिचिह्ना असुर-कुमाराः । (त. भा. ४-११) । २. असुरकुमारस्त-

पाविषनामकमोदयान्निधित्तरीरावयवाः सर्वांगो-
पायेषु परमलावण्याः कृष्णरुचयो रत्नोत्कटमुकुट-
भास्वरा महाकायाः । {संग्रहणी वेचनत्र. १७} ।
३. असुरकुमारा भवनवासिनश्चन्द्रामणिमुकुटरलाः ।
(जीवाजी. मलय. वृ. ३, १, ११७) । ४. अस्त्यन्ति लि-
पन्ति देवान् सुरान् ते असुराः कुमाराकाराः, कुमार-
वत् क्रीडाप्रियत्वाच्च कुमाराः, ते च ते कुमाराश्च
असुरकुमाराः । (वन्दकप्र. वृ. २) ।

१ जो भवनवासी वेच वस्त्रीर, शोभासम्पन्न, वर्ण ते
कृष्ण, महाकाय और अपने मुकुट में चन्द्रामणि रत्न
को धारण करते हैं उन्हें असुरकुमार कहते हैं ।
असूया—१. असूया क्रोधपरिणाम एव । यथाऽयं ते
पिता गतासुकस्तनुः । (त. भा. हरि. वृ. ६-१) ।
२. असूया क्रोधविशेष एव । यथा—राजपत्न्यभिरतो-
ऽयम्, तथापि शुद्धवृत्तमात्मनं मन्यते इति । (त. भा.
सिद्ध. वृ. ६-१) । ३. गुणेषु दोषाविष्करणं असूया ।
(स्या. मं. टी. ३) ।

२ विशेष प्रकार के क्रोध का नाम असूया है । जैसे
—राजपत्नी में रत होता हुआ भी वह अपने को
सवाचारी मानता है । ३ दूसरे के गुणों में दोषों के
निकालने को असूया कहते हैं ।

असूय—असूय रक्तं रससम्भवो घातुः । (योगशा.
स्थो. विव. ४-७२) ।

रस से उत्पन्न होने वाली रक्तरूप घातु का नाम
असूय है ।

अस्ति-अवस्तव्यद्रव्य—१. सम्भावे आदितो देसो
देसो य उभयहा जस्त । तं अस्थि अवस्तव्य च होइ
दवियं वियप्यवसा । (सम्मति. ३, १, ३८ वृ.
४४६) । २. स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावं युगपत्स्व-पर-
द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावं वादिष्टमस्ति जावस्तव्यं च
द्रव्यम् । (पंचा. का. अमृत. वृ. १४) ।

२ स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के साथ ही युगपत् स्व-
परद्रव्यादिचतुष्टय से विवक्षित द्रव्य को अस्ति-
अवस्तव्य कहते हैं ।

अस्तिकाय—१. जेहि अस्थि-सहायो गुणेहि सह
पञ्चएहि विविहेहि । ते होति अस्थिकाया गिप्यण्ण
जेहि तइसुक्कं ॥ (पंचा. का. ५) । २. प्रदेशप्रचयो
हि कायः, स एवामस्ति ते अस्तिकायाः जीवादेयः
पञ्चैवोपदिष्टाः । (त. भा. ४, १४, ५) । ३. संति

जबो तेजेदे अस्थि ति भणति जिणवरा जम्हा ।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अस्थिकाया य ।
(द्रव्यसं. २४) । ४. अस्त्यः प्रदेशास्तेषां कायः
सचातः अस्तिकायः । (अमृतो. हरि. वृ. पृ. ४१ ;
प्रज्ञाप. मलय. वृ. १-३ ; जीवाजी. मलय. वृ. ४) ।
१ जिनका गुणों और अनेक प्रकार की पर्यायों के
साथ अस्ति स्वभाव है—अनेक या तद्रूपता है—वे
अस्तिकाय कहलाते हैं ।

अस्तित्व—१. अस्तित्वं भावानां भीमो धर्मः सत्ता-
क्यत्वम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. २-७) । २. तत्रा-
स्तित्वं परिज्ञेयं सद्भूतत्वगुणं पुनः । (द्रव्यानु-
११-२) ।

१ पदार्थों के सत्ताक्य मौलिक धर्म का नाम
अस्तित्व है । यह जीवादि पदार्थों का साधारण
अनादि पारिणामिक भाव है ।

अस्तिद्रव्य—स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावं वादिष्टमस्ति-
द्रव्यम् । (पंचा. का. अमृत. वृ. १४) ।

स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से विव-
क्षित द्रव्य को अस्तिद्रव्य (कचंचित् द्रव्य है) कहते हैं ।
अस्ति-नास्ति-अवस्तव्यद्रव्य—१. सम्भावाऽसम्भावे
देसो देसो य उभयहा जस्त । तं अस्थि अस्थि अवस्तव्यं
च दवियं वियप्यवसा ॥ (सम्मति. ३, १, ४० वृ.
४४७) । २. स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावं परद्रव्य-क्षेत्र-
काल-भावं च युगपत्स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावं वा-
दिष्टमस्ति च नास्ति जावस्तव्यं च द्रव्यम् ॥ (पंचा.
का. अमृत. वृ. १४) ।

२ स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-
भाव से कलत्र तथा स्व और पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-
भाव से युगपत् विवक्षित द्रव्य को अस्ति-नास्ति-
अवस्तव्यद्रव्य कहते हैं ।

अस्ति-नास्तिद्रव्य—१. ग्रह देसो सम्भावे देसो-
ऽसम्भावपञ्जवे गियग्रो । तं दवियमस्थि अस्थि य
आएसविसेसियं जम्हा ॥ (सम्मति. ३, १, ३७
वृ. ४४६) । २. स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावं परद्रव्य-
क्षेत्र-काल-भावं च क्रमेणादिष्टमस्ति च नास्ति च
द्रव्यम् । (पंचा. का. अमृत. वृ. १४) ।

२ स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-
भाव की अपेक्षा कम से विवक्षित द्रव्य को अस्ति-
नास्तिद्रव्य कहते हैं ।

अस्ति-नास्तिप्रवादपूर्व—१. पञ्चानामस्तिकाया-
नामर्षो नयानां चानेकपर्यायैरिदमस्तीदं नास्तीति च
कास्त्येन यथावभासितं तदस्ति-नास्तिप्रवादम् ।
अथवा षण्णामपि द्रव्याणां भावाभावपर्यायविधिना
स्व-पर्यायाभ्यामुभयनयवशीकृताभ्यामपितानपित-
सिद्धाभ्यां यत्र निरूपणं तदस्ति-नास्तिप्रवादम् ।
(स. भा. १, २०, १२) । २. अस्थिरस्थिपवाहं नाम
पुत्र्यं मृदु-रज्जुं वत्युषं १८ सङ्घितसदपाहुकाणं
३९० सङ्घितसपदेहि ६०००००० जीवाजीवाणं
अस्थि-गस्थितं षण्णेति । (अथ. पु. १, पु. ११५);
षण्णामपि द्रव्याणां भावाभावपर्यायविधिना स्व-पर-
पर्यायाभ्यामुभयनयवशीकृताभ्यामपितानपितसिद्धाभ्यां
यत्र निरूपणं षष्ठिपदघातसहस्रं ६०००००० क्रियते
तदस्तिनास्तिप्रवादम् । (अथ. पु. २, पु. २१३) ।
३. अस्थि-गस्थिपवादो सत्त्वब्रह्मणं सत्त्वादिव-
उत्पत्तेः अस्थितं परत्त्वादिवउत्पत्तेः गस्थितं च पर-
वेदि । विहि-पक्षितेहृद्यमे नयनहृद्यसीणे नाणादुष्ण-
यगिराकरयदुवारेण पक्षेदि ति जनिदं होदि ।
(अथ. पु. १, पु. १५०) । ४. यद्यथा लोके अस्ति
नास्ति च तद्यथा तथोच्यते तदस्ति-नास्तिप्रवादम् ।
(समवा. अमय. पु. १४); यत्लोके यथास्ति यथा
नास्ति, अथवा स्याद्वादाभिप्रायतः तदेवास्ति
नास्ति वेत्येवं प्रवर्ततीत्यस्ति-नास्तिप्रवादम् । (समवा.
अमय. पु. १८) । ५. षष्ठिलक्षणं षट्पदार्थानामनेक-
प्रकारैरस्तित्व-नास्तित्वप्रमसूचकमस्ति-नास्तिप्रवा-
दम् । (भुतम. टी. ११) । ६. जीवादिवस्तु अस्ति
नास्ति चेति प्रकथनं षष्ठिलक्षणपदप्रमाणं अस्ति-
नास्तिप्रवादपूर्वम् । (स. भुति. भुत. १-२०) । ७.
स्थि अस्थि-गस्थिपमुद्रा तेषि इह स्वर्णं पवादो ति ।
अस्थि यदो तो रम्भा (?) अस्थि-गस्थिपवादपूर्वम्
च । (अंग. २, २-४२, पु. २८६) ।
२ भाव पर्याय व अभाव पर्याय विधि ते जित पूर्व-
भुत में द्रव्याधिक और पर्यायाधिक इन उभय नवों
के आश्रित स्व पर्याय और पर पर्याय—स्व-परवच्य-
ओष-काल-भाव—ते विचारा के अनुसार ऊहों रव्यों
की प्रकृषणा की जाती है उसे अस्ति-नास्तिप्रवादपूर्व
कहते हैं । उसके पदों की संख्या साठ भाग है ।
अस्तिस्वभाव—अस्तिस्वभाव भ्रान्तातः स्वद्रव्या-
विग्रहे नये । (द्रव्या. १३-१) ।
स्ववच्य-ओषादि के द्वारा वस्तु के अस्तित्व के ग्रहण

करने वाले नयका विषय अस्तिस्वभाव है ।
अस्तेयमहावत—१. जेने पणि कने वापि स्थितं
नष्टं च विस्मृतम् । हार्यं न हि परद्रव्यमस्तेयवत-
मुच्यते । (वरीय. १३-११४) । २. अनादानमद्र-
तस्यास्तेयवतमुदीरितम् । (त्रि. भा. पु. १, ३,
६२४) । ३. सकलस्याप्यदत्तस्य ग्रहणाद् विनिवर्त-
नम् । सर्वथा जीवनं यावत् तदस्तेयवतं मतम् ।
(चर्मसं. भाव. स्तो. पु. ३, ४२, पु. १२४) ।
१ ओत, मार्ग और कल (कीचड़) आदि में स्थित,
नष्ट और विस्मृत दूसरे की वस्तु के ग्रहण न करने को
अस्तेयवत कहते हैं ।
अस्त्रमुद्रा—वसिष्ठकरेण मुष्टि बद्ध्वा तर्जनी-
मध्यमे प्रसारयेत् इति अस्त्रमुद्रा । (निर्वाचक. पु.
३१) ।
वाहिने हाथ से मुट्टी बांधकर तर्जनी और मध्यमा
अंगुलियों के फैलाने को अस्त्रमुद्रा कहा जाता है ।
अस्थि—× × × अस्थि कीकणं मेदसम्भवम् ।
(बोधसा. स्तो. विच. ४-७२) ।
मेवा से उत्पन्न होने वाली कीकण (हड्डी) वातु को
अस्थि कहते हैं ।
अस्थितिकरण—परीयहोपसर्गाभ्यां सम्भागाद्
अवयवां नृणाम् । स्वधत्तो न स्थिति कुर्वावस्थिती-
करणं मतम् । (चर्मसं. भा. ४-४०) ।
परीयह और उपसर्ग आदि से पीड़ित होकर सम्भार्य
से अष्ट होने वाले अनुष्यों को अपनी शक्ति के होने
पर भी उसमें स्थिर नहीं करना अस्थितिकरण
शेष कहलाता है ।
अस्थिरनाम—१. तद्विपरीतं (अस्थिरभावस्य
निवर्तकम्) अस्थिरनाम । (स. सि. ८-११; स.
भा. ८-१२; स. भा. ८, ११, ३५; स. स्तो. ८,
११) । २. तद्विपरीतमस्थिरनाम । यदुपधादीपदुप-
धासाधिकरणात् स्वल्पशीतोष्णादिसम्बन्धात् अङ्गो-
पाङ्गानि कृशीमवन्ति तदस्थिरनाम । (स. भा. ८,
११, ३५) । ३. यदुपधातदवयवानामेव (शरीरावय-
वानामेव) चलता अवति कर्ष-जिह्वावीनाम् । (भा.
प्र. टी. २३) । ४. वस्तु कम्मस्स उपएण रस-वहिर-
मांस-मेव-मज्जहि-सुखकामं परिणामो होवि तमभिरं
नाम । (अथ. पु. १, पु. १३); वस्तु कम्मस्सुपएण
रसादीननुभिरमवाहुसकूवेण परिणामो होवि तमभिरं
नाम । (अथ. पु. १३, पु. ३५५) । ५. अस्थिरना-

मोदयादस्थिराणि जीवानामङ्गोपाङ्गानि भवन्ति । (पंचसं. स्तो. बृ. ३-६) । ६. अस्थिरनामापि शरीरावयवानामेव, यदुदयादस्थिरता चलता मृदुता भवति कर्म-स्वभादीनां तदस्थिरनामेति । (त. भा. हरि. व. सिद्ध. बृ. ८-१२) । ७. चलभावनिवर्तक-मस्थिरनाम । (ज. भा. विजयो. टी. २१२४) । ८. जीहा-अमुहार्थं ध्याययवाण वस्त उदएणं । निष्कृती उ शरीरे जायइ तं अस्थिरनामं तु । (कर्म-वि. नमं. १४१, पृ. ५७) । ९. यदुदयाद् [अस्या-यवः शरीरावयवाः] जिह्वाविवदस्थिरा भवन्ति तदस्थिरनाम । (कर्मस्तव. बृ. ६-१०, पृ. ८७) । १०. यतश्च भू-जिह्वादीनामस्थिराणां निष्पत्तिर्भवति तदस्थिरनाम । (समवा. अभय. बृ. ४२) । ११. यदुदयाद् एतेषां रसादिस्पर्शानुनामस्थिरत्व-मुत्तरोत्तरपरिणामो भवति तदस्थिरनाम । (भूला. बृ. १२-१६६) । १२. यदुदये जीवस्यास्थिरा ग्रीवा-दयो भवन्ति तदस्थिरनाम । (कर्मवि. पू. व्या. ७५, पृ. ३३) । १३. यस्योदयादीपदुपकासादिकरणे स्व-त्पथोत्पन्नादिस्पर्शानुनामस्थिराणि कृषीभवन्ति तदस्थिरनाम । (त. सुखो. बृ. ८-११) । १४. यदुदययवाज्जिह्वादीनामवयवानामस्थिरता भवति तदस्थिरनाम । (प्रभाष. मलय. बृ. २३-१६३, पृ. ४७४; धर्मसंग्रहो मलय. बृ. ६२०; वण्ट कर्म. मलय. बृ. ६; पंचसं. मलय. बृ. ३-८, पृ. ११७; प्रच. सारो. बृ. १२६५) । १५. यदुदयेन भू-जिह्वा-वयवा अस्थिरा भवन्ति तदस्थिरनाम । (शतक. मल. हेम. बृ. ३७-३८, पृ. ५०; कर्मवि. वे. स्तो. बृ. ५०, पृ. ५८) । १६. जिह्वा-भूषभृतीनामंगा-वयवानां यस्य कर्मण उदयानिष्पत्तिः (पुनः) शरीरे जायते तत् अस्थिरनाम । (कर्मवि. परवा. व्या. बृ. १४१, पृ. ५८) । १७. चातूपचातूनां स्थिरभावे-नानिवर्तनं यतस्तदस्थिरनाम । (गो. क. जी. प्र. टी. ३३) । १८. अस्थिरभावकारकमस्थिरनाम । (त. वृत्ति. भूत. ८-११) । १९. तद्विपरीतमस्थिरनाम, यदुदयाज्जिह्वादीनां शरीरावयवानामस्थिरता । (कर्मप्र. यशो. बृ. १, पृ. ७-८) । २. जिसके उदय में कुछ उपवास आदि के करने से तथा थोड़े शीत या उष्णता के सम्बन्ध से धर्म-उपाय कृपाता को प्राप्त होते हैं उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं । ३ जिस कर्म के उदय से शरीर के काल व जीव

आदि अवयवों में अस्थिरता या चंचलता हो उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं ।

अस्नानव्रत (अण्हाण) — १. ष्हाणादिवज्जनेन व विलितवत्स-मल-सेदसम्भवं । अण्हाणं घोरगुणं संज-मदुगपासवं मुणिषो ॥ (भूला. १-३१) । २. संयम-द्वयकार्यं स्नानादेर्वर्जं मुनेः । जल-स्वेदमलाति-गात्रस्यास्नानता स्मृता ॥ (आषा. सा. १-४३) ।

१ शरीर के जल (सूक्ष्म मेल), मल और पसीना से लिप्त होने पर भी इन्द्रियसंयम और प्राणि-संयम की रक्षा के लिए स्नान के सर्वथा परित्याग को अस्नानव्रत कहते हैं । यह मुनि के २८ मूलगुणों में से एक है ।

अहंकारः — १. अहंकारोऽहंकारोऽहमस्य स्वामीति जीवपरिणामः । (युक्त्यनु. टी. ५२, पृ. १३२) । २. ये कर्मकृता भावाः परमार्थनयेन चात्मनो भिन्नाः । तत्रात्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपतिः ॥ (तत्त्व-बु. १५) । ३. अहंकारोऽहमेव कपटीभान्यसम्पन्न इति । (त. भा. सिद्ध. बृ. ८-१०) । ४. कर्मजनितदेह-पुत्र-कलत्रादौ ममेदमिति ममकारस्तर्थाभावेन गौर-स्त्वृतादिदेहोऽहं राजाहमित्यहंकारलक्षणमिति । (बृ. ब्रह्मसं. टी. ४१) ।

२ जो कर्मजनित भाव वस्तुतः आत्मा से भिन्न हैं उनमें अपनेपन का जो बुराग्रह होता है उसका नाम अहंकार है ।

अहृन्निश — अहोरात्रमष्टप्रहरात्मकमहृन्निशम् । (आष. नि. हरि. बृ. ६६३) ।

आठ घहरों के समुदायकृप दिन-रात को अहृन्निश कहते हैं ।

अहिंसा — अप्रादुर्भावः सलु रागादीनां भवत्यहिंसे-ति । (पु. सि. ४४) ।

रागादि भावों की अनुद्भूति या अनुत्पत्ति को अहिंसा कहते हैं ।

अहिंसाधुव्रत — १. सकल्प्याद् कृतकारितमननाद्यो-गत्रयस्य चरस्वभावः । न हिमस्ति यत्तवाहुः स्पूल-वधाद् विरमणं निपुणाः ॥ (रत्नक. स्तो. ५३) ।

२. नसप्राणिव्यपरोपणान्निवृत्तोऽप्यारोति प्राद्यमपु-त्रतम् । (त. सि. ७-२०) । ३. प्राणातिपाततः स्मृताद्विरतिः । (पद्मच. १४-१८४) । ४. द्विग्न्या-दिव्यपरोपणान्निवृत्तः । द्विग्न्यादीनां जङ्गमानां प्राणिनां व्यपरोपणात् विषा निवृत्तः अगरीत्याद्य-

मणुव्रतम् । (त. वा. ७, २०, १) । १. देवतातिथि-
प्रीत्यर्थं मंत्रोपविशयाय च । न हिंसाः प्राणिनः
सर्वे अहिंसा नाम तद्व्रतम् ॥ (बराह. १५-११२) ।
६. असत्त्वावरकायेषु असत्कामाऽपरोपणात् । विरतिः
प्रथमं प्रोक्तमहिंसास्यमणुव्रतम् ॥ (ह. पु. ५८-१३८) ।
७. बावरेह सदधो अस्यान सत्तं परं पि मण्णतो ।
णिदण-नारहणजुत्तो परिहरमाणो महारंभे ॥ तसधावं
जो ण करदि मणवयकाएहि जेव कारयदि । कुब्बंतं
पि ण इच्छदि पढमवयं जायदे तस्स ॥ (कात्तिके.
३३१-३३२) । ८. अणुव्रतं द्वीन्द्रियादीनां अङ्गमप्राणिनां
अमत्तयोगेन प्राणः यपोनाम्नोवाक्कायैव निवृत्तः ।
(आ. सा. पृ. ४) । ९. शुद्धीन्द्रियाणि भेदेषु चतुर्धा
असत्कामिकाः । विज्ञाय रक्षणं तेषामहिंसाशु-
व्रतं मतम् ॥ (सुभा. सं. ७६४) । १०. शान्ताष्ट-
कपायस्य सङ्कल्पैर्नभस्मिन्सनाम् । अहिंसतो दयार्द्रस्य
स्यादहिंसेत्यणुव्रतम् ॥ (सा. अ. ४-७) । ११. देवय-
पियर-णिमित्तं मतोसहिजंतमयणिमित्तेण । जीवा ण
मारियण्णा पढमं तु अणुव्वयं होह ॥ (अ. ए. १४३) ।
१२. योगत्रयस्य सम्बन्धात् कृतानुमतकारितैः । न
हिनस्ति जसन् स्पृशमहिंसाव्रतमादिमम् ॥ (आचसं.
आन. ४५२) । १३. देवता-मंत्रसिद्धयर्थं पर्वण्यौषधि-
कारणात् । न भवन्त्यङ्गिनी हिंसाः प्रथमं तवजु-
व्रतम् ॥ (पुण्य. उपा. २३) । १४. जसनां रक्षणं
स्पृशदृष्टसंकल्पनागसाम् (?) । निःस्वार्थं स्वावरा-
णां च तदहिंसाव्रतं मतम् ॥ (अमरसं. आ. ६-८) ।
१५. असहिंसापरित्यागमलक्षणोऽणुव्रताऽऽह्वये ।
(लाटीसं. ५-२६१) । १६. निरागो द्वीन्द्रियादीनां
संकल्पाध्वानपेक्षया । (अमरसं. आन. २-२५,
पृ. ५७) ।
१ मन, वचन और काय से तथा कृत, कारित और
अनुमोदन से अस जीवों की सांकेतिक हिंसाका
परित्याग करने को अहिंसाशुद्धत कहते हैं ।
अहिंसासमाख्यत—१. कुल-ओणि-जीव-मगण-ठाणा-
इसु जाणिऊण जीवाणं । तस्सार्अणियसत्तणपरिणाओ
होह पढमवदम् ॥ (नि. सा. ५६) । २. कार्येदिय-
गुण-मगण-कुलाउ-ओणीसु सव्वजीवाणं । जाऊण य
ठाणाइसु हिंसाविज्जणमहिंसा ॥ (सुला. १-५) ;
एइदियादिपाणा पंचविधाअज्जमीरणा सम्भं । ते ललु
ण हिंसिद्वजा मण-अचि-कायेण सव्वत्थ ॥ (सुला.
५-६२) । ३. हिंसानूत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो वि-

रतिर्व्रतम् ॥ देहा-सर्वतोऽणुमहती ॥ (त. सु. ७,
१-२) । ४. पढमे अंते महव्वए पाणाइवायाओ वेर-
मणं सम्भं अंते × × पढमे अंते महव्वए उवट्ठिओमि
सम्भन्धो पाणाइवायाओ वेरमणं । (अससं. सु. ४-१,
पृ. १४४) । ५. पढमे अंते महव्वए उवट्ठिओमि
सम्भन्धो पाणाइवायाओ वेरमणं । (पासिकसु. पृ.
१८) । ६. अहिंसा नाम पाणातिवायविरती । (अससं.
अ. पु. १५) ; सा य अहिंसाह वा अज्जीवाइवातो
ति वा पाणातिपातविरह ति वा एगट्ठा । (अससं.
अ. पु. २०) । ७. किप्पासु स्थानपूर्वासु ब्रवादिपरि-
वर्जनम् । वर्णां जीवनिष्कायानामहिंसाऽऽद्यं महा-
व्रतम् ॥ (ह. पु. २-११७) । ८. प्राणिवियोगकरणं
प्राणिनः अमत्तयोगात् प्राणवधः, ततो विरतिरहिंसा-
व्रतम् (अ. आ. विजयो. टी. ४२१, पृ. ६१४) ।
९. अग्रतिपीडयाः सूक्ष्मजीवाः, बादरजीवानां गत्या
दिमार्गणा-गुणस्थान-कुल-योग्याऽऽणुध्यायिकं ज्ञात्वा
गमनस्फन-शयनासनादिषु स्वयं न हननम्, परंवा न
चातनम्, अन्येषामपि हिंसतां नानुमोदनं हिंसाविरतिः
(अहिंसासमाख्यतम्) । (आ. सा. पृ. ४०) । १०.
सत्याद्युत्तरनिःशेषयमजातमिन्नव्यनम् । धीर्लक्ष-
यं चिच्छानमहिंसास्यं महाव्रतम् ॥ वाक्-चित्त-
तनुमियं न स्वप्नेऽपि प्रवर्तते । अर-स्थिराऽङ्गिनां
चातस्तदाद्यं व्रतमीरितम् ॥ (आमरसं. ८, ७-८) ।
११. प्रमादोऽज्ञान-संशय-विषय-रग-द्वेष-स्मृतिभ्रंश-
योगदुष्प्रणिधान-वर्मानादरभेदादष्टविधः । तद्योगात्
जसनां स्वावराणां च जीवानां प्राणव्यपरोक्षं हिंसा,
तन्निषेधादहिंसा प्रथमं व्रतम् । (योगसा. स्को. विज.
१-२०) । १२. जन्म-काल-कुलाक्षाईर्जात्वा सस्वतति
श्रुतेः । त्यागस्त्विशुद्धया हिंसाधेः स्थानादो त्याद-
हिंसनम् ॥ (आत्मा. सा. २-१६) । १३. न यत्
प्रमादयोगेन जीवितव्यपरोपणम् । जसनां स्वावराणां
च तदहिंसाव्रतं मतम् ॥ (योगसा. १-२०; नि. सा. पु.
पृ. १, ३, ६२२) । १४. सम्भाओ पाणाइवायाओ
वेरमणं । (अससं. ५) । १५. पाणातिपातं तिबिहं
तिविहेण जेव कुज्जा अ कारये पढमं सो अव्वयसस-
णं । (नारदाव्यव. १-३) । १६. तसणां वावराणं
अ अं जीवाणमहिंसणं । तिबिहेवावि जोगेण पढमं
तं महव्वयं । (पु. पु. अ. स्को. अ. पु. १३) ।
१७. प्रमादयोगतोऽशेषजीवाऽऽणुध्यापरोपणात् । नि-
वृत्तिः सर्वेषां यावज्जीवं सा प्रथमं व्रतम् ॥ (अमरसं.)

नाम. ३-४०, पृ. १२१) । १८. प्रमादयोगाद्यत्सर्व-
जीवास्त्वध्यपरोपणम् । सर्वथा यावज्जीवं च प्रोच्ये
तत् प्रथमं व्रतम् ॥४॥ (अभि. रा. भा. १, पृ.
८७२) ।

२ काय, इन्द्रिय, गुणस्वान, भार्यणा, कुल, धाम्य और
योगि; इनके आश्रय से सब जीवों को जानकर
स्वान-शयनादि क्रियाओं में हिंसा का परित्याग
करना; इसका नाम अहिंसामहाव्रत है ।

अहोरात्र—१. एरणं मुहुत्तपमाणेन तीसं मुहुत्ता
अहोरत्तं । (अनुयो. १३७, पृ. १७६) । २. तीसमुहुत्ता
अहोरत्तो । (जीवज्वाल १०८; भगवती. भा. ६;
जन्मवृत्ती. सू. १८) । ३. ते (मुहुर्ताः) त्रिंश-
दहोरात्रम् । (त. भा. ४-१५) । ४. त्रिंशन्मुहुर्ता
अहोरात्रः । (त. भा. ३, ३८, ७, पृ. २०६; त.
सुखबो. ३-३८) । ५. अहोरात्रमष्टप्रहारात्मकम्, अहो-
रत्रमिदं । (आच. नि. हरि. बृ. ६६३, पृ. २५७) ।
६. कलाया दशमभागश्च त्रिंशन्मुहुर्तं च अवयवहो-
रात्रम् । (यव. पु. ६, पृ. ६३) । ७. त्रिंशन्मुहुर्तमहो-
रात्रम् । (त. भा. सिद्ध. बृ. ४-१५) । ८. गगन-
मर्माणमनायतो दिवारात्रः (अहोरात्रः) । (पंचा.
का. अमृत. बृ. २५) । ९. त्रिंशन्मुहुर्तहोरात्रः ।
(पंचा. का. जय. बृ. २५) । १०. आदित्यस्य हि
परिवर्तनं मेरुप्रादक्षिण्येन परिभ्रमणं अहोरात्रमभि-
धीयते । (न्यायबु. २-७, पृ. २५५) । ११. पट्टि-
नालिकमहोरात्रम् । (नि. सा. बृ. ३१) ।

१ तीस मुहुर्तं प्रमाण काल को अहोरात्र कहते हैं ।
आकस्मित—१. अत्तेन व पाणेन व उदकरणेन
किरियकम्मकरणेन । अणुकपेऊण गणि करेइ आलो-
यणं कोई ॥ आलोइवं असेत्तं होहिदि काहिदि अणु-
गहमिओ ति । इय आलोचंतत्तं ह् पढओ आलो-
यणादोसो ॥ (अ. भा. ५६३-६४) । २. उपकर-
णेणु दत्तेषु प्रायश्चित्तं मे लघु कुर्वन्तीति विचिन्त्य
दानं प्रथममालोचनादोषः । (त. भा. ६, २२, २) ।
३. प्रायश्चित्तलघुकरणाद्युपकरणदानम् । (त. इलो.
६-२२) । ४. तत्रोपकरणेषु दत्तेषु प्रायश्चित्तं मे लघु
कुर्वन्तीति विचिन्त्य भयदानं [भयादानं] प्रथम आक-
स्मितदोषः । (आ. सा. पृ. ६१) । ५. भक्तमानोप-
करणादिनाचार्यमाकम्पात्मीयं कृत्वा यो दोषमालो-
चयति तस्याकस्मितदोषो भवति । (भूता. बृ. ११,
१५) । ६. ददात्यल्पं मम प्रायश्चित्तं नीत्येति सूत्रे ।

परोपकरणानां यद् दानमाकम्पित मतम् ॥ (आचा.
सा. ६-२६) । ७. आकम्पितं गुरुच्छेदभयादावर्जनं
गुरोः । (अन. व. ७-४०) । ८. आचरितः सन्ना-
चार्यः स्तोत्रं मे प्रायश्चित्तं दास्यतीति बुद्ध्या वैद्या-
वृत्त्यकरणादिभिरालोचनाचार्यमाकम्प्य आश्रय यदा-
लोचयति एष (आकम्पित) आलोचनादोषः । (अथ.
भा. मलय. बृ. १-३४२, पृ. १६) । ९. आलोचनां
कुर्वन् शरीरे कम्प उत्पद्यते भयं करोतीत्याकम्पित-
दोषः । (आचम्रा. टी. ११८) । १०. आकम्पितम्
उपकरणादिदानेन गुरोरनुकम्पायमुत्पाद्य आलोचयति ।
(त. वृत्ति श्रुत. ६-२२) ।

१ भोजन, पान, उपकरण और कृतिकर्म के द्वारा
आचार्य को अपने प्रति वधात्रं करते हुए कोई
आलोचना करता है । वह सोचता है कि इस प्रकार
से सब आलोचना हो जावेगी व आचार्य यह अनु-
ग्रह—अल्प प्रायश्चित्त देने क्य—करेंगे ही । उक्त
क्रिया से आलोचना करने पर आकम्पित दोष
होता है ।

आकर—१. आकरो लवणाद्युत्पत्तिभूमिः । (श्रीषा.
अभय. बृ. ३२, पृ. ७४; प्रथमभा. बृ. पृ. ७५) ।
२. आकरो लोहाद्युत्पत्तिभूमिः । (कल्पसू. बृ.
४-८८) ।

नमक आदि (लोहा व गेरू आदि) के उत्पन्न होने
के स्थान को—लमिको—आकर कहते हैं ।

आकर्ष—आकर्षणम् आकर्षः, प्रथमतया भुवत्स्य वा
ग्रहणम् । (आच. नि. हरि. व मलय. बृ. ८५७) ।
सम्यक्त्व, श्रुत, वैश्वरिति और सर्वैरिति; इन
सामाधिक्यों को प्रथम बार छोड़कर जो फिर से
ग्रहण करना है, उसका नाम आकर्ष है ।

आकस्मिक भय—देखो अकस्माद्भव । १. वज्र-
निमित्ताभावा ज अवमाकन्धियं त ति । (विशेषा.
३४५१) । २. यत्तु बाह्यनिमित्तमन्तरेणाहेतुकं भयम्
अकस्माद् भवति तदाकस्मिकम् । (आच. भा. हरि.
बृ. १८४, पृ. ४७२) । ३. यद् बाह्यनिमित्तमन्तरे-
णाहेतुकं भयमुपजायते तदाकस्माद् भवतीत्याकस्मि-
कम् । (आच. भा. मलय. बृ. १८४, पृ. ५७३) ।
४. विद्युत्पाताद्याकस्मिकभयम् । (त. वृत्ति श्रुत.
६-२४) । ५. अकस्माज्जातमित्युक्त्वाकस्मिकभय
स्मृतम् । तद्यथा विद्युत्पादीनां पातात्पातोऽनुषारि-
णाम् ॥ जीतिर्नृवाद्यथा सौस्थ्यं वा भूद् दौस्थ्यं कदापि

मे । इत्येवं मानसी चिन्ता पर्वानुकूलितचेतसा ॥ अर्था-
वाकस्मिकभ्रान्तिरस्ति मिथ्यात्ववाचिनः । कुतो
मोक्षोऽस्य तद्वशीते निर्भीकैकपदव्युते ॥ (पञ्चाध्यायी
२, ५४३-५४५; लाटीसं. ४, ६६-६८) । ४. निहं-
तुकं केवलस्वमनोभ्रान्तिजनितं यद् भयं तदाकस्मिक-
भयम् । (पु. पु. षट्. स्वो. वृ. ६, पृ. २५) ।

१ बाह्य निमित्त के बिना जो अकस्मात् भय होता
है वह प्राकस्मिक भय कहलाता है ।

प्राकस्मिकी क्रिया—सहसाकारेण प्राकस्मिकी
क्रिया । (पु. पु. षट्. स्वो. वृ. १५, पृ. ४१) ।
सहसा किसी कार्य के हो जाने को प्राकस्मिकी क्रिया
कहते हैं ।

प्राकाङ्क्षा—१. अभिधानापर्यवसानमाकाङ्क्षा ।
(अष्टस. यशो. वृ. १०३, पृ. ३५३) । २. $\times \times \times$
यत्पदं बिना यत्पदस्यानन्वयस्तत्पदे तत्पदवस्वरूपे
सम्बन्धे पदान्तरव्यतिरेकेणान्वयाभावे च । (अभि-
धा. २, पृ. ५७) ।

प्राक्कल्पनापि के न होने का नाम प्राकाङ्क्षा है ।
अभिप्राय यह कि जब तक प्राक् से श्रोता को
विचक्षित अर्थ का बोध नहीं होता है, तब तक
उसकी प्राकाङ्क्षा बनी रहती है ।

प्राकार—१. प्राकियतेऽनेनाभिप्रेतं ज्ञापते इत्याकारो
बाह्यचेष्टारूपः । स एवान्तराकृतयमकरूपत्वात्वास्त-
क्षणमिति । (अब. नि. हरि. वृ. ७५१, पृ. २८१) ।

२. प्राकारोऽङ्गुलि-हस्त-भ्रू-नेत्रक्रिया-शिरःकम्पादि-
रनेकरूपः परशरीरवर्ती । $\times \times \times$ प्राकारः शरी-
रावयवसमवायिनी क्रियाज्जतगंतक्रियासूचिका ।
अनधिकृतसन्निधौ चेष्टाविशेषः स्वाकृतप्रकाशनमा-
कारः । (त. भा. हरि. वृ. ७-२१) ।

३. कम्म-कर्तारभावो प्रागारो । (अब. पु. १३, पृ.
२०७) । ४. पमाणदो पुणभूवं कम्ममागारो । (अब.
वृ. १, पृ. ३३१); प्रागारो कम्मकारयं समस्तत्व-
सत्त्वादो पुण काळण बुद्धिगीयरमुवणीयं । (अब.
१, पृ. ३३८) । ५. भेदग्रहणमाकारः प्रतिकर्मव्यव-
स्थाय । (म. पु. २४-२) । ६. कोप-प्रसादजनिता
शारीरी वृत्तिराकारः । (नीतिभा. १०-३७) ।

७. प्राकारः सत्त्वसामान्यादवान्तरजातिविशेषो मनु-
व्यत्वादिः । (न्यायसू. १-५, पृ. ११६) । ८. प्राकारः
स्मृतधीसंवेद्यः प्रस्थानादिभावसूचको दिगवलोकना-
दिः । (अतक. वृ. नि. व्याख्या वृ. ३८) । ९. प्राकारः

प्रतिवस्तुनियतो ग्रहणपरिणामः । (पञ्चसं. अलस.
वृ. वा. ५, पृ. ७) । १०. प्राकारोऽयं विकल्पः स्यात्
 $\times \times \times$ । (लाटीसं. ३-१६; पञ्चाध्यायी २,
३६१) ।

१ अन्तरङ्ग अभिप्राय को सुचित करने वाली शरीर
की बाह्य चेष्टा को प्राकार कहते हैं । ३ कर्म-कर्ता-
पन को प्राकार कहा जाता है । ७ सत्तासामान्य की
अपेक्षा अवान्तर जातिविशेषरूप मनुष्यत्वादि को
प्राकार कहते हैं । इस प्रकार के प्राकार को अवग्रह
ग्रहण किया करता है ।

प्राकारशुद्धि—प्राकारशुद्धिस्तु राजाद्यभियोगादि-
प्रत्याख्यानपवादमुक्तीकरणमिति । (वर्मबिन्दु
वृ. वृ. ३-१४) ।

राजादि के द्वारा लगाये गये अभियोग से व त्राहि-
सम्बन्धी अपवाद से मुक्त करने को प्राकारशुद्धि
कहते हैं । यह प्राकारशुद्धि अनुवृत्तादि ग्रहण की
विधि में गणित है ।

प्राकाश—१. सर्वेति जीवाणं सेसाणं तद्यह पुण-
लाणं च । ज देवि विवरमखिलं तं लोए हवदि
आयासं ॥ (पंचा. का. गा. ६०) । २. अवग्रहणं
आयासं जीवादीसज्जदब्बाणं ॥ (नि. सा. ३०) ।

३. प्राकाशस्यावगाहः । (त. वृ. ५-१८) । ४. जीव-
पुद्गलादीनामवगाहिनामवकाशदानमवगाहः प्राका-
शस्योपकारो वेदितव्यः । (स. सि. ५-१८) । ५.
प्राकाशं व्यापि सर्वस्मिन्मवगाहनलक्षणम् । (वर्णा.
२६-३१) । ६. प्राकाशान्तेऽस्मिन् द्रव्याणि स्वयं

प्राकाशते इत्याकाशम् । (त. वा. ५, १, २१; त.
स्वो. ५-१); जीवादीनि द्रव्याणि स्वे स्वे पर्यायैः
अव्यतिरेकेण यस्मिन्प्राकाशान्ते प्रकाशान्ते तदाकाशम्,
स्वयं चात्मीयपर्यायमयादया प्राकाशते इत्याकाशम् ।

अवकाशदानात्ता । अथवा इतरेषां द्रव्याणाम् अव-
काशदानात्ताकाशम् । (त. वा. ५, १, २१-२२) । ७.
सज्जदब्बाण अवकाशदानजतजतो आगासं । (अनुवो.
वृ. वृ. २६) । ८. आगासतियकासो अवगाहनलक्षणो ।

(वसवै. वृ. ४, पृ. १४२) । ९. सर्वद्रव्यस्वभावाऽऽ-
दीपनादाकाशम्, स्वभावेनावस्थानादित्यर्थः । (अनुवो.
हरि. वृ. वृ. ४१) । १०. प्राकाशान्ते दीप्यन्ते स्व-
वर्णयिता आरमादयो यत्र तदाकाशम् । (वसवै. हरि.
वृ. १-११८) । ११. एवमागासदब्बं पि (ववगदपंच-
वण्णं, ववगदपंचरसं, ववगदपुण्ड्रं, ववगदधट्टाकासं) ।

णवरि आगासदव्वमणंतपदेसियं सव्वगयं ओगाहण-
लक्षणं । (ध्व. पु. ३, पृ. ३); ओगाहणलक्षणं
आयासदव्वं । (ध्व. पु. १५, पृ. ३३) । १२. जीवा-
दीनां पदार्थानामवगाहनलक्षणम् । यत् तदाकाशम-
स्पर्शममूर्तं व्यापि निष्क्रियम् । (अ. पु. २५-३८;
अम्वूत्वा. ३-३८) । १३. आकाशमनन्तप्रदेशाध्या-
सितं सर्वेषामवकाशदानसामर्थ्यपितम् । (अ. भा.
विजयो. टी. ३६) । १४. सयलाणं दव्वानं जं हावुं
सक्कवे हि धवगासं । तं आयासं $\times \times \times$ ॥
(कार्तिके. २१३) । १५. तच्च (लोत्रं) धवगाह-
लक्षणमाकाशम् । (सूत्रक. श्री. बु. १, नि. ६, पृ.
५) । १६. जीवादीनि द्रव्याणि त्वैः त्वैः पर्याप्ति-
रव्यतिरेकेण यस्मिन्नाकाशान्ते प्रकाशान्ते तदाकाशम् ।
स्वयं चात्मीयपर्यायिमर्यादया आकाशान्ते इत्याकाशम् ।
(त. सुखबो. ५-१) । १७. द्रव्याणामवकाशं वा
करोत्याकाशमस्त्यतः ॥ जीवानां पुद्गलानां च काल-
स्याधर्म-धर्मयोः । धवगाहनहेतुत्वं तद्विषं प्रतिपद्यते ॥
(त. सा. ३, ३७-३८) । १८. सव्वेसि दव्वानं धव-
यासं देहं तं तु आयासं । (भाषसं. वे. ३०८) ।
१९. चैयणरहियममुत्तं धवगाहणलक्षणं च सव्वगयं ।
लोयालोयविशेयं तं णहव्व जणुहिदुं ॥ (बु. न.
अ. ६८) । २०. धवकाशप्रदं व्योम सर्वगं स्वप्रति-
ष्ठितम् । (ज्ञानार्णव ६-३५, पृ. ६०) । २१. नित्य
व्यापकमाकाशमवगाहैकलक्षणम् । चराचराणि
भूतानि यत्रासम्बाधमासते ॥ (चन्द्र. अ. १८-७२) ।
२२. धवगाहनलक्षणमाकाशम् । (पंचा. का. अय.
बु. ३) । २३. पञ्चानामवकाशदानलक्षणमाकाशम् ।
(नि. सा. बु. १-६); आकाशस्य धवकाशदान-
लक्षणमेव विशेषगुणः । (नि. सा. बु. १-३०) ।
२४. सर्वगं स्वप्रतिष्ठं स्यादाकाशमवकाशदम् ।
लोकासोको स्थितं व्याप्य तदनन्तप्रदेशमाक् ॥
(योगशा. स्वो. विष. १-१६, पृ. ११२) । २५.
सर्वेषां द्रव्याणामवकाशदायकमाकाशम् । (अ. भा.
मूला. टी. ३६; आरा. सा. टी. ४) । २६. आ-
समन्तात् सर्वाण्यपि द्रव्याणि काशान्ते दीप्यन्तेऽत्र
व्यवस्थितानि इत्याकाशम् । (जीवाजी. जलध. बु.
४) । २७. आकृति मर्यादया स्व-स्वभावपरित्याग-
रूपया काशान्ते स्वरूपेण प्रतिभासन्ते अस्मिन् व्यव-
स्थिताः पदार्था इत्याकाशम् । यदा त्वभिधावाह
तदा आकृति सर्वभावाभिध्याप्याकाशान्ते इत्याकाशम् ।

(प्रज्ञा. जलध. बु. १-३) । २८. धवगाहो आगासं
 $\times \times \times$ । (मधसत्त्वप्र. भा. १०) । २९. धवगा-
हनक्रियावतां जीव-पुद्गलादीनां तत्क्रियासाधनभूत-
माकाशद्रव्यम् । (श्री. जी. जी. प्र. टी. ६०५) ।
३०. सकलतत्त्वमनन्तमनादिमत्सकलतत्त्वनिवासदमा-
त्मगम् । द्विविधमाह कर्चविदसम्भितं किल तदेक-
मपीह समन्वयात् ॥ (अध्यात्मक. ३-३३) ।
३१. यो इत्ते सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहनम् ।
लोकासोकाकारेण द्रव्याकाशः स उच्यते । (द्रव्यानु.
१०-६) ।

१ जो सब जीवों को तथा सोव—धर्म, अधर्म और
काल—एवं पुद्गलों को जो स्थान देता है उसे
आकाश कहते हैं ।

आकाशगता बूलिका—१. आयासगया नाम
तेतिएहि जेव परेहि (२०६८२००) आगासगम-
णमिसंत-तंत-तवच्छराणि वण्णेदि । (ध्व.
पु. १, पृ. ११३; अय. १, पृ. १३६);
आकाशगतायाम् द्विकोटि-नवसतसहस्रं कान्मनवतिस-
हस्र-द्विसतपदायां (२०६८२००) आकाशगमन-
हेतुभूतविद्या-मंत्र-तंत्र-तपोविशेषाः निरूप्यन्ते ।
(ध्व. पु. ६, पृ. २१०; अम्वूत्वा टी. ६; गो. जी.
जी. प्र. ३६२) । २. सुण्डगुणं बाणवदी अष्टगवदी
सुण्य दो वि कोडिपर्यं । आयासे गमणाणं तंत-अंतावि-
गयणया । (अम्वूत्वा ३६) । ३. आयासगया
गमणे गमणस्स सुमंत-तंत-अंताइ । हेदूणि कहांदि
तवमवि तत्तियपयेत्तसंबद्धा ॥ (अंगप. ३-६) ।

१ आकाश में गमन करने के कारणभूत विद्या, मंत्र,
तंत्र एवं तप का वर्णन करने वाली बूलिका को
आकाशगता बूलिका कहते हैं ।

आकाशगामित्व—१. उट्टोषो आसीणो काउस्स-
योगे इदरेण ॥ गच्छेदि जीए एसा सिद्धी गयण-
गामिणी नाम । (सि. प. ४, १०३३-३४) ।
२. पर्यङ्कावस्थानिषण्णा वा कायोत्तगंशरीरा वा
पादोद्धारणिसंपणविधिमन्तरेणाकाशगमनकुवाला आ-
काशगामिनः । (त. भा. ३, ३६, ३, पृ. २०२; आ.
सा. पृ. ६७) । ३. पलियंक-काउस्सग-सयणासण-
पादुक्खेवादिसव्वपयारेहि आगासे संवरणसमत्वा
आगासगामिणो । (ध्व. पु. ६, पृ. ८०); आगासे
अहिच्छाए गच्छंता इच्छिदपदेसं माणुसुतरपव्वयाव-
रुद्धं आगासगामिणो सि वेत्तव्वा । (ध्व. पु. ६,

पृ. ८४) । ५. पर्वकासनेनोपविष्टः सन् आकाशे गच्छति, ऊर्ध्वस्थितो वा आकाशे गच्छति, सामान्यतयोपविष्टो वा आकाशे गच्छति, पादनिक्षेपणो-
त्क्षेपणं विना आकाशे गच्छति आकाशगामित्वम् ।
(त. वृत्ति. श्रुत. ३-३६)

२ जिस ऋद्धि के प्रभाव से पर्वकासन से बैठे हुए अथवा कायोत्सर्ग से स्थित साधु पर्वों को उठाने व रखने की विधि के बिना ही आकाशगमन में कुशल होते हैं उसे आकाशगामित्व या आकाशगामिनी ऋद्धि कहते हैं ।

आकाशचारण—चउहिं श्रंगुलेहितो ग्रहियपमा-
णेण भूमीदो उवरि धायासे गच्छतो आगासचारणा
गाम । × × × जीवपीडाए विणा पादुक्खेवेण
आगासचारणा गाम । (अ. पु. ६, पृ. ३०);
चरणं चारित्तं संजमो पावकिरियाणिरोहो ति
एयद्धो, तम्हि कुसलो णिउणो चारणो, तवविसे-
सेण जणिवआगासद्वियजीव[व]परिहरणकूसलत्त-
णेण सहिदो आगासचारणो । आगासगमणनेतजुत्तो
आगासगामी । आगासगामित्तादो जीववचपरिहरण-
कूसलत्तणेण सहिदो आगासचारणो । आगासगमण-
नेत जुत्तो आगासगामी । आगासगामित्तादो जीव-
वचपरिहरणकूसलत्तणेण विसेसिदआगासगामित्तस
विसेसुवणभादो अत्थि विसेसो । (अ. पु. ६,
८४-८५) ।

भूमि से चार श्रंगुल ऊपर आकाश में चलने की शक्ति वाले साधुओं को आकाशचारण कहते हैं । ये आकाशचारण ऋद्धि पावलेप करते हुए भी प्राणियों को पीड़ा न पहुँचा कर आकाश में गमन किया करते हैं ।

आकाशातिपातो—आकाश व्योम, अतिपतन्ति अतिक्रामन्ति, आकाशगामिविद्याप्रभावात् पादले-
पादिप्रभावाद्वा आकाशाद्वा हिरण्यवृष्टपादिकमिष्ट-
मनिष्टं वातशयेन पातयन्तीत्येवंशीलाआका-
शातिपातनः । आकाशवादिनो वा—अमूर्तानामपि
पदार्थानां साधने समर्थवादिन इति भावः । (श्रीपपा.
अथ. वृ. १५, पृ. २६) ।

जो आकाशगामी विद्या के प्रभाव से अथवा पाद-
लेपादि के प्रभाव से आकाश में आ जा सकते हैं, अथवा आकाश से इष्ट व अनिष्ट सोने आदि की वर्षा कर सकते हैं वे आकाशातिपाती कहे जाते हैं ।

अथवा जो अमूर्त आकाशादि की सिद्धि में समर्थ होते हैं उन्हें आकाशादिवादी कहते हैं ।

आकाशादिवादी—देखो आकाशातिपाती ।

आकाशास्तिकायानुभाव—जीवादिव्याणमाहा-
रत्तमागस्तिययाणुमागो । (अ. पु. १३, पृ. ३४६) ।
जीवादि इष्यों को आश्रय देना, यह आकाशास्ति-
कायानुभाव है ।

आकिञ्चन्य—१. होऊँ य निस्संगो गियमावं
णिग्गहितु सुह-दुहवं । णिहं देण दु वट्ठदि अणयारो
तस्सर्गकचव्व ॥ (आवशानु. ७६) । २. उपात्तेष्वपि
शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिः
आकिञ्चन्यम् । नास्य किञ्चनास्तीत्यकिञ्चनः,
तस्य भावः कर्म बाकिञ्चन्यम् । (त. सि. ६-६;
अन. अ. लो. टी. ६-५४) । ३. शरीर-वर्माणकर-
णादिषु निर्ममत्वमाकिञ्चन्यम् । (त. भा. ६-६) ।

४. ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिराकिञ्चन्यम् । उपा-
त्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभि-
सन्धिनिवृत्तिराकिञ्चन्यमित्याख्यायते । नास्य कि-
ञ्चनास्तीत्यकिञ्चन्यं, तस्य भावः कर्म बाकिञ्च-
न्यम् ॥ (त. भा. ६, पृ. २१) । ५. पक्षी उवमाए
जं धम्मवुवरणाइलोभरेणेण (?) । वत्थुस्स अगहणं
खलु त आकिञ्चणमिह भणियं ॥ (यत्तिथमंवि. ११,
१३) । ६. अकिञ्चनता सकलग्रन्थत्पागः । (अ.
आ. विजयो. टी. ४६) । ७. तिबिहेण जो विवज्जवि
वेयणमियर च सव्वहा संगं । सोयववहारवरिदो
णिग्गंगत्त हवे तस्स ॥ (कार्तिके. ४०२) । ८. ममे-
दमित्युपात्तेषु शरीरादिषु केषुचित् । अभिसन्धिनि-
वृत्तिर्या तदाकिञ्चन्यमुच्यते ॥ (त. सा. ६-२०) ।

९. × × × वपुरादिनिर्ममतया नो किञ्चनाऽऽस्ते
यतेराकिञ्चन्यमिव च ससृतिहरो धर्मः सता सम्मतः ॥
(पद्मन. पं. १-१०१) । १०. अकिञ्चनोऽहुमित्य-
स्मिन् पथ्यक्षुण्णचरे वरन् । तदवृष्टतरं ज्योतिः
पथ्यत्यानन्दनिर्भरम् ॥ (अन. अ. ६-५४) । ११.
उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहणं नैर्मम्यं वा
आकिञ्चन्यम् । (त. सुखबो. ६-६) । १२. नास्ति
धस्य किञ्चन किमपि अकिञ्चनो निष्परिग्रहः,
तस्य भावः कर्म वा आकिञ्चन्यम् । निजशरीरा-
दिषु संस्कारपरिहाराय ममेदमित्यभिसन्धिनिषेध-
नमित्यर्थः । (त. वृत्ति. श्रुत. ६-६) ।

१ जो अनगार (साधु) बाह्य-आश्रयन्तर समस्त

परिग्रह से रहित होकर पुनः-पुनः देने वाले निष्क-
भाव—राम-देव—का निग्रह करता हुआ निर्द्वन्द्व-
भाव से—सर्व संकल्प से रहित होकर निराकुल भाव
से—रहता है उसके आकिञ्चन धर्म होता है।

आकीर्ण (आइण्ण)—१. आकीर्यते व्याप्यते विन-
यादिभिर्गुणैरिति आकीर्णः । (उत्तरा. नि. सा. वृ.
पा. १-६४, पृ. ४६) । २. आइण्णं नाम जं साह-
हिं प्रायरियं विणा वि भोमादिकारणेहि गेह्ण्ड ।
(अभिषा. २, पृ. ५) ।

१ जो विनयादि गुणों के द्वारा व्याप्त किया जाता
है—उन्से परिपूर्ण होता है—उसे आकीर्ण कहते हैं ।

आकुञ्चन (आउंटण)—१. आउंटणं गात्रसंखेव ।
(आश. वृ. ६, पा. ११४) । २. आकुञ्चनं जंघादेः
सङ्कोचनम् । (प्रब. सारो. वृ. २०६, पृ. ४८) ।
२ जाँघ आदि के संकोचने को आकुञ्चन कहते हैं ।

आकुट्टी—‘कुट्ट खेदने’ आकुट्टनमाकुट्टः, स विद्यते
यस्यासावाकुट्टी । (सूत्रक. शी. वृ. १, १, २, २५) ।
प्राणी के अवयवों के छेदन-भेदनादिक्रिय व्यापार का
नाम आकुट्ट है । उससे जो सहित होता है उसे
आकुट्टी कहा जाता है ।

आक्रन्दन—१. परितापजाताश्रुपातप्रचुरविप्रलापा-
दिभिर्यक्तक्रन्दनमाक्रन्दनम् । (त. सि. ६-११; त.
भा. ६, ११, ४; त. बलो. ६-११) । २. परिताप-
निमित्तेन अश्रुपातेन प्रचुरविलापेन धंगविकारादिना
चभिर्यक्तं क्रन्दनम् आक्रन्दनं प्रत्येतव्यम् । (त.
भा. ६, ११, ४) । ३. आक्रन्दनमुच्चरतं विलपनम् ।
(त. भा. हरि. वृ. ६-१२) । ४. परितापसंयुक्ताश्रु-
निपाताङ्गविकारप्रचुरविलापादियक्तम् आक्रन्द-
नम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-१२) । ५. आक्रन्द्यते
आक्रन्दनम् । परितापसंजातवाष्पतनबहुविलापादि-
भिर्यक्तं प्रकटं धंगविकारादिभिर्युक्तं क्रन्दनमित्यर्थः ।
(त. वृत्ति भूत. ६-११) ।

१ परिताप के कारण अश्रुपातपूर्वक विलाप करते
हुए चिल्ला-चिल्ला कर रोने को आक्रन्दन कहते हैं ।

आक्रोशपरीषहजय—१. मिथ्यादर्शनोद्भूतामर्षपक्ष-
धावशान्तिदासम्यवचनानि क्रोधाग्निशिक्षाप्रवर्धनानि
शृण्वतोऽपि तदर्थेऽवसाहितचेतसः सहसा तत्प्रति-
कारं कर्तुमपि शक्नुवतः पापकर्मविपाकमभिचिन्त-

यतस्ताम्याकर्ष्य तपस्वरणभावनापारस्य कषाय-विष-
लवमात्रस्याप्यनवकाशमात्महृदयं कुर्वत आक्रोशपरी-
षहसहनमवधार्यते । (त. सि. ६-६; धंसं. मलय.
वृ. ४-२३) । २. अक्कोसेज्ज परो भिक्खुं न तेसि
पडिसंजले । सरिसो होइ बालाणं तम्हा भिक्खुं न
संजले ॥ (उत्तरा. २-२४) । ३. अग्निष्टवचनसहन-
माक्रोशपरीषहजयः । तीव्रमोहाविष्टमिथ्यादृष्टपा-
र्य-भ्रमेच्छ-क्षलपापाचार - यत्तोद्भूतचिन्तितप्रयुक्त‘मा’-
शब्द-विकार-पर्यावशानाक्रोशादीन् कर्णविरचनान्
हृदयशूलोद्भावकान् क्रोधज्वलनशिक्षाप्रवर्धनकरान-
प्रियान् शृण्वतोऽपि दुःखमनसः भस्मसात् कर्तुमपि
समर्थस्य परमार्थावगाहितचेतसः शब्दमात्राविष-
स्तदर्शान्वीक्षणविनिवृत्तव्यापारस्य स्वकृताशुभकर्मो-
दयो मर्मव यतोऽमीषां मां प्रति द्वेष इत्येवमादिभि-
रपार्यैरिष्टवचनसहनमाक्रोशपरीषहजय इति निर्णी-
यते । (त. भा. ६, ६, १७; भा. सा. वृ. ५३) ।
४. आक्रोशः अग्निष्टवचनम्, तद् यदि सत्यं कः
कोपः ? शिष्ययति हि मामयमुपकारी, न पुनरेवं
करिष्यामीति । असत्यं चेत् सुतरां कोपो न कर्तव्य
इत्याक्रोशपरीषहजयः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६) ।
५. आक्रोशस्तीर्थयात्राद्यर्थं पर्यटतः मिथ्यादृष्टिबि-
भुक्तावज्ञा-संघनिन्द्यावचनकृता बाधा, × × ×
अमर्षं सहनम्, × × × ततः परीषहजयो भवति ।
(मूला. वृ. ५-५७) । ६. मिथ्यादर्शनोद्भूतोदीरिता-
न्यमर्षविज्ञा-निन्दावचनानि क्रोधहृतबहोदीपनपटि-
ष्ठानि शृण्वतोऽपि तत्प्रतीकारं कर्तुमपि शक्नुवतो
दुरन्तः क्रोधादिकषायोदयनिमित्तपापकर्मविपाक इति
चिन्तयतो यत्कषायलवमात्रस्यापि स्वहृदयेऽनव-
काशदानमेष आक्रोशपरीषहजयः । (धंसं. मलय.
वृ. ४-२३) । ७. वर्णी कर्ण-हृदां विदारणकरान्
क्रूराशयैः प्रेरितानाक्रोशान् धनगर्जतर्जनस्ररान्
शृण्वन्तशृण्वन्निव । शस्त्राऽऽयुतमसम्पदापि सहितः
शान्ताशयचिन्तयन् यो बाल्यं क्षलसंकुलस्य शयन-
क्लेशशमी तं स्तुवे ॥ (आषा. सा. ७-२१) । ८.
मिथ्यादृष्टवचनदुष्कृतिकाण्डैः प्रविध्यतोऽपि मृषं
निरोद्धुम् । अमोऽपि यः साम्प्रति पापपाकं ध्यायन्
स्वमाक्रोशविष्णुरेषः ॥ (अन. व. ६-१००) ।
९. परं भस्मसात्कर्तुं शक्तस्याप्यग्निष्टवचनानि
शृण्वतः परमार्थावहितचेतसः स्वकर्मणो दोषं प्रयच्छ-

तोऽनिष्टवचनसहस्रमाक्रोशजयः । (प्राह. सा. टी. ४०) । १०. यो मुनिर्मय्यादर्शनोद्धततीव्रक्रोशसहितानामज्ञानिजनानामवज्ञानं निन्दामसम्भवचनानि च लम्बितोऽपि शृण्वन्पि क्रुधमिज्ज्वालां न प्रकटयति, आक्रोशेषु श्रुतचेतास्तत्प्रतीकारं विधातुं शीघ्रं शक्नुवन्पि निजपापकर्मोदयं परिचिन्तयन् तद्वाक्यान्श्रुत्वा तपोभावनापरान्तरङ्गो निजहृदये कथामविषमविषकणिकामपि न करोति स मुनिराक्रोश-परीषहविजयी भवति । (त. वृत्ति श्रुत. ६-६) । ११. आक्रोशनमाक्रोशोऽस्त्यभावात्मकः, स एव परीषहः आक्रोशपरीषहः । (उत्तरा. सा. वृ. २, पृ. ८३) । १२. आक्रोशोऽनिष्टवचनम्, तच्छ्रुत्वा सत्येतरालोचनया न कुप्येत । (प्राच. ४, हरि. वृ. पृ. ६५७) । १३. आक्रुष्टोऽपि हि नाक्रो-गेत् क्षमाश्रमणतां विदन् । प्रत्युताक्रोष्टरि यति-विषन्तयेदुपकारिताम् ॥ (च. ३ अथि.—अभिधा. १, पृ. १३१) । १४. नाक्रुष्टो मुनिरा-क्रोशेऽस्त्वय्यानाद्यवर्जकः । अप्रक्षेपोपकारित्वं न तु द्वेषो कदाचन । (प्राच. १, अ. व. द्वि.—अभिधा. १, पृ. १३१) । १५. नाप्यज्ञातः किमपि द्विजातिरपवा शूद्रोऽपवा तापसः किं वा तत्त्वनिवेशपेशलमतियों-गीश्वरः कोऽपि वा । इत्यस्वल्पपिकल्पजल्पमुखरैः संभाष्यमाणो जनैर्नो रष्टो न हि चैव हृष्टहृदयो योगीश्वरो गच्छति ॥ (उत्तर. २ अ. १—अभिधा. १, पृ. १३१) । १ क्रोध बढ़ाने वाले, अत्यन्त अपमान कारक, कर्कश, और निन्दा बचनों को सुन करके प्रतीकार करने में समर्थ होते हुए भी उस और ध्यान न डेरकर पाप कर्म का फल मान उसके सहन करने को आक्रोश-परीषहजय कहते हैं ।

प्राक्षेपणी कथा—१. प्राक्खेवणी कहा सा विज्जा-चरणमुवदिस्सदे जत्थ । (अ. भा ६५६) । २. आयादे ववहारे पणत्ती चेव दिट्ठिवाए य । एसा जउज्जिहा खलु कहा उ प्रक्खेवणी होइ ॥ (वसवै. नि. १६४, पृ. ११०) । ३. प्राक्षेपणी पराक्षेपकारिणीमकरोत् कथाम् । (पद्यच. १०६-६२) । ४. श्रोत्रपेक्षयाऽऽ-चारादिभेदानाश्रित्य अनेकप्रकारेति कथा त्वाक्षेपणी भवति । × × × प्राक्षिप्यन्ते मोहान् तत्त्वं प्रति धनया भव्यप्राणिनः इति प्राक्षेपणी । (वसवै. हरि. वृ. नि. १६४, पृ. ११०) । ५. तथा प्रक्खेवणी

नाम छद्म-णवपयत्पार्थ सखं दिमंतर-समवाधां-तरणिराकरण सुद्धिं करोती पक्खेदि । (चव. पु. १, पृ. १०५); प्राक्षेपणीं तत्त्वविधानभूतां × × × । (चव. पु. १, पृ. १०६ ज.) । ६. प्राक्षेपणीं स्व-मतसंग्रहणी × × × यथाहम् । (अन. व. ७-८८) । ७. प्रथमानुयोग-करणानुयोग-चरणानुयोग-द्रव्यानुयोग-रूपपरमागमपदार्थानां तीर्थंकरादिवृत्तान्त-लोकसंस्था-न-देश-सकलयतिधर्म-पंचास्तिकायादीनां परमताशंका-रहितं कथन प्राक्षेपणी कथा । (गो. जी. सं. प्र. व. जी. प्र. टी. ३५७) । ८. आयादं ववहारे हेक दिट्ठं-दिट्ठिवायाई । देसिज्जइ जीए सा प्रक्खेवणि-देसणा पढमा ॥ (गृ. मृ. वट्. स्वो. वृ. २, पृ. ५) । ९. प्राक्खेवणीकहाए कहिज्जए [कहिज्जमाणाए] पण्हवो सुभब्बम्म । परमदशकारहिद तिरथयरपुराण-वित्ततं ॥ पढमाणुभोग-करणानुभोग-वरचरण-दम्ब-अनुभोगं । सटाणं लोयस्स य जदि-सावय-बम्मवि-त्थारं ॥ (अंगपण्णत्ती १, ५६-६०) । ५ नाना प्रकार की एकान्त बुद्धियों और दूसरे समयों के निराकरणपूर्वक शुद्धि करने के छह द्रव्यों और नौ पदार्थों के स्वरूप का निरूपण करने वाली कथा को प्राक्षेपणी कथा कहते हैं ।

प्राक्षेपरारो रत्त—विज्जा चरणं व तवो पुरिसक्का-रो य समिइ गुत्तीभो । उवइस्सइ खलु जहिणं कहाइ प्रक्खेवणीइ रत्तो ॥ (वसवै. नि. १६५, पृ. ११०) । जहाँ ज्ञान, चारित्र्य, तप, पुण्यार्थ, समिति और भुक्ति का उपवेश दिया जाता है वह प्राक्षेपणी कथा का रत्त (सार) है ।

प्राख्यायिकानिःसृता—जा कूटकहाकेली प्रक्खाइ-अणिस्सिया हुवे एसा । जह भारह-रामायणसत्थं-अंबद्वयपाणि ॥ (भाषार. ५०); या कूटकथा-केनिरेखाख्यायिकानिःसृता भवेत् । यथा—भारत-रामायणशास्त्रेऽसम्बद्धवचनानि । (भाषार. टी. ५०) ।

असत्य कथा-केलिरूप भाषा को प्राख्यायिकानिःसृता कहते हैं । जैसे—भारत व रामायण आदि ग्रन्थों के असम्बद्ध वचन ।

प्रागति—१. अणगदीदो इच्छिदगदीए प्रागमण-भागदी नाम । (चव. पु. १३, पृ. ३४६) । २. प्राग-मनमागतिः, नारकत्वादेव प्रतिनिवृत्तिः । (स्थाना. अथय. वृ. १-२६ पृ. १८) ।

१ अग्यगति से इच्छित गति में आने को आगमि कहते हैं ।

आगम—१. तस्त् मुह्यदवयणं पुष्पावरदोसविरहितं सुखं । आगममिव परिकल्पितं $\times \times \times$ ॥ (नि. सा. ८) । २. सुधम्मातो आरब्ध आयरियपरं परेगागतमिति आगमो, अतस्त वा वयणं आगमो । (अनुयो. बृ. पु. १६) । ३. आगमनमागमः—आङ् अभिविधि-मर्यादावन्तात् अभिविधिना मर्यादया वा, गमः परिच्छेद आगमः । (आच. नि. हरि. बृ. २१, पु. १६) । ४. आगमतत्त्वं ज्ञेयं तद्दृष्टेष्टाविरुद्धवाच्यतया । उत्सर्गादिसमन्वितमसमवैयर्थ्यशुद्धं च ॥ (बोधवच १-१०) । ५. आगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते अतीन्द्रिया पदार्थाः अनेनेत्यागमः । (जीतक. बृ. वि. व्याख्या पु. ३३) । ६. आचार्यपारम्पर्येणागच्छतीत्यागमः । (अनुयो. हरि. बृ. ४-३८, पु. २२) । ७. आगमो ह्यप्राप्तवचनमाप्त दोषस्तयाद्विदुः । (ललितवि. पु. ६६) । ८. आगमस्त्वगच्छति अव्यवच्छिन्ना वर्ण-पद-वाक्यराशिः आप्तप्रणीतः पूर्वापरविरोधकारहितस्तदालोचनातत्त्ववचः आगमः उच्यते, कारणे कार्योपचारात् । (त. भा. सिद्ध. बृ. १-३, पु. ४०) । ९. पूर्वापरविरुद्धादेर्व्यपेक्षेते दोषसहतेः । छोटकः सर्वभावानामाप्तव्याहृतिरागमः ॥ (धव. पु. ३, पु. १२ व १२३ उ.) ; आगमो हि णाम केवलणागपुरस्सरो पाएण अणियित्तविसस्रो अचित्तियसहाप्पो जुत्तिगोयरादीदो ॥ (धव. पु. ६, पु. १५१) । १०. आगमः सर्वज्ञेन निरस्तराग-क्षेपेण प्रणीतः उपयोपायतत्त्वस्य व्यापकः । (अ. आ. विजयो. टी. २३) । ११. हेयोपादेयरूपेण वतुर्गण-समाश्रयात् । कालत्रयगतनिर्णय समयान्तागमः स्मृतः ॥ (उपासका. १००) । १२. आप्तवचनादि-निबन्धनमर्थज्ञानमागमः । (परीक्षा. ३-६६; व्या. बी. पु. ११२) । १३. यत्र निर्वाण-संसारौ निगद्येते सकारणी । सर्वबाधकनिर्मुक्त आगमोऽपि बुधस्तुतः ॥ (धर्मप. १८-७४) । १४. $\times \times \times$ पुष्पावरदोसवज्जियं वयणं (आगमो) । (व. आ. ७) । १५. आप्तोक्तिजार्थविज्ञानमागमस्तद्वचोऽथवा । पूर्वापरविरुद्धार्थं प्रत्यक्षाद्यैरवाधितम् ॥ (आचा. सा. ३-५) । १६. आगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते अर्था अनेनेत्यागमः, आप्तवचनसम्पाद्यो विप्रकृष्टार्थप्रत्ययः । उक्तं च—दृष्टेष्टाव्याहृताद् वाक्यात् परमार्थाभिधायिनः ।

तत्त्वप्राहितयोत्पन्नं मानं शब्दं प्रकीर्तनम् ॥ आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् । तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापयचट्टनम् ॥ (स्थाना. अथव. बृ. ३३८, पु. २४६) । १७. आप्तवचनादाविर्भूतमर्थ-संवेदनमागमः, उपचारादाप्तवचनं चेति । (अ. न. त. ४-१; जैनसर्क. १, पु. १६) । १८. अवाधितार्थप्रतिपादकम् आप्तवचनं आगमः । (रत्नक. टी. ४) ; अव्यक्तानां हेयोपादेयतत्त्वप्रतिपत्तिहेतु-भूतागम $\times \times \times$ । (रत्नक. टी. ५) । १९. शब्दादेव पदार्थानां प्रतिपत्तिरुदागमः । (नि. भा. पु. च. २, ३, ४४२) । २०. तद् (आप्त) वचनाज्जात-मर्थज्ञानमागमः । आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुध्यन्तेऽर्था अनेनेत्यागमः । (रत्नाकरा. ४-१, पु. ३५) ; स च स्मर्यमाणः शब्द आगमः । (रत्नाकरा. ४-४, पु. ३७) । २१. आ अभिविधिना सकलश्रुतविषयव्याप्तिरूपेण, मर्यादया वा यथावस्थितप्रकृपणया, गम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते अर्था येन स आगमः । (आच. नि. मलय. बृ. २१, पु. ४६) । २२. आगमस्तन्मुखारविन्दवि-निर्गतसमस्तवस्तुविस्तारसमर्थनदक्षवचनुरवचनसन्दर्भः । (नि. सा. बृ. १-५) । २३. आगमो वीतरागवचनम् । (धर्मरत्नप्र. स्वो. बृ. पु. ५७) । २४. पूर्वापरविरुद्धात्मबोधसत्तावर्जितः । यथावद्वस्तुनिर्णीतित्यत्र स्यादागमो हि सः ॥ (भावसं. बाल. ३३०) । २५. तत्रागमो यथासूत्रादाप्तवाक्य प्रकीर्तितम् । पूर्वापरविरुद्धं यत्प्रत्यक्षाद्यैरवाधितम् ॥ (लाटीसं. ५-१५७) ।

१ पूर्वापरविरोधादि दोषों से रहित शुद्ध आप्त के वचन को आगम कहते हैं ।

आगमब्रह्म—१. अनुपयुक्तः प्राभूतज्ञास्यात्मा आगमः । अनुपयुक्तः प्राभूतज्ञायी आत्मा आगमब्रह्ममित्युच्यते । (त. भा. १, ५, ६) । २. आत्मा तत्प्राभूतज्ञायी यो नामानुपयुक्तधीः । सोऽआगमः समाम्नातः स्याद् ब्रह्मं लक्षणान्वयात् ॥ (त. श्लो. १, ५, ६१) । ३. तत्र आत्मा यो जीवादि-प्राभूतं तत्त्वतो जानाति, परन्तु चिन्तन-परप्रतिपादनलक्षणोपयोगानुपयुक्तः, स आगमब्रह्मम् । (न्याय-कु. २ पु. ८०६, पं. ११-१२) । ४. तत्र जीवादि-प्राभूतज्ञायी चिरपरप्रतिपादनाद्युपयोगरहितः श्रुत-ज्ञानी आगमब्रह्मम् । (लक्ष्मी. अथव. टी. ७-४, पु. ६८) ।

१ जो जीव विवक्षित प्राप्त का ज्ञाता होकर वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से रहित होता है उसे आगमब्रह्म कहते हैं ।

आगमब्रह्म-अप्रायणीय—अभोगियपुण्यहरो धनुवजुतो आगमदव्यभोगिणं । (बच. पु. ६, पृ. २२५) ।

जो अप्रायणीय पुण्य का ज्ञाता होता हुआ तद्विषयक उपयोग से रहित होता है उसे आगमब्रह्म-अप्रायणीय पुण्य कहते हैं ।

आगमब्रह्मकरण—ब्रह्मस्य द्रव्येण द्रव्ये वा करणं ब्रह्मकरणमिति । $\times \times \times$ आगमतः करणशब्दार्थ-ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः । (आच. भा. मस्य. बु. १५३, पृ. ५५८) ।

करण शब्द के अर्थ के ज्ञाता, पर अनुपयुक्त—तद्विषयक उपयोग से रहित—पुरुष को आगमब्रह्मकरण कहते हैं ।

आगमब्रह्मकर्म—१. $\times \times \times$ तत्पदम् । कर्मागमपरिजायुगजीवो उवचोपरिहीणो ॥ (गो. क. ५५) । २. तत्र कर्मस्वरूपप्रतिपादकागमस्य वाच्य-वाचक-ज्ञातु-अयसम्बन्धपरिज्ञायकजीवो य. तदवधि-धारण-निस्तनव्यापाररूपोपयोगिरहितः स आगमब्रह्मकर्म भवति । (गो. क. जी. प्र. टी. ५५) ।

१ जो जीव कर्मागम का ज्ञाता होकर वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से रहित होता है, उसे आगमब्रह्मकर्म कहते हैं ।

आगमब्रह्मकर्मप्रकृतिप्राप्त—कम्मपयडिपाहुड-जाणधो धनुवजुतो आगमदव्यकम्मपयडिपाहुडं । (बच. पु. ६, पृ. २३०) ।

कर्मप्रकृतिप्राप्त का ज्ञानकार होकर जो वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से रहित हो उसे आगमब्रह्मकर्म-प्रकृतिप्राप्त कहते हैं ।

आगमब्रह्मकाल—आगमदो दव्यकालो कालपाहुड-जाणधो धनुवजुतो । (बच. पु. ५, पृ. ३१५) ।

जो कालविषयक आगम का ज्ञाता होकर वर्तमान में अनुपयुक्त है उसे आगमब्रह्मकाल कहते हैं ।

आगमब्रह्मक्षेत्र—आगमदो दव्यक्षेत्रं क्षेत्रपाहुड-जाणधो धनुवजुतो । (बच. पु. ५, पृ. ५) ।

जो क्षेत्रप्राप्त का ज्ञाता होकर वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से रहित हो उसे आगमब्रह्मक्षेत्र कहते हैं ।

आगमब्रह्मचयनलब्धि—तत्त्व चयनलब्धिवत्-

पारधो धनुवजुतो आगमदव्यचयनलब्धो । (बच. पु. ६, पृ. २२८) ।

जो 'व्ययनलब्धि वस्तु' का पारगामी होकर वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से रहित हो उसे आगमब्रह्म-व्ययनलब्धि कहते हैं ।

आगमब्रह्मजिन—जिणपाहुडजाणधो धनुवजुतो धविणट्ठसंस्कारो आगमदव्यजिनो । (बच. पु. ६, पृ. ६) ।

जो जिनप्राप्त का ज्ञाता होकर तद्विषयक संस्कार से रहित होता हुआ वर्तमान में उसके उपयोग से रहित हो उसे आगमब्रह्मजिन कहते हैं ।

आगमब्रह्मजीव—जीवप्राप्तज्ञायी मनुष्यजीवप्राप्तज्ञायी वा अनुपयुक्त आत्मा आगमब्रह्मजीवः । (स. सि. १-५; स. धृति धृत. १-५) ।

जीवविषयक अथवा मनुष्यजीवविषयक प्राप्त का ज्ञाता होकर जो वर्तमान में उसके उपयोग से रहित है उसे आगमब्रह्मजीव कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्याग—द्रव्येण बाह्वृत्त्या इन्द्रियसु-लाभिलाषेण उपयोगभूतेन वा यत् त्यागः द्रव्य-त्यागः, द्रव्यस्य द्रव्याणां वा आहारोपविश्रमुत्स्य त्यागः, द्रव्यरूपः त्यागः द्रव्यत्यागः, स च आगमतः द्रव्यत्यागः [त्याग] स्वरूपज्ञानी अनुपयुक्तः । (मान-सार बु. ८, उत्पत्तिका, पृ. २६) ।

जो जीव त्यागस्वरूप का ज्ञाता होकर तद्विषयक उपयोग से रहित होता है उसे आगमब्रह्मव्याग कहते हैं ।

आगमब्रह्मदृष्टिबाह—तत्त्व दिदृष्टिवादजाणधो धनुवजुतो भट्टाभट्टसंस्कारो पुरिसो आगमदव्यदिदृष्टिवादो । (बच. पु. ६, पृ. २०४) ।

जो दृष्टिबाह का ज्ञाता होकर वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से रहित होता हुआ उसके विस्मृत या अविस्मृत संस्कार से युक्त हो उसे आगमब्रह्म-दृष्टिबाह कहते हैं ।

आगमब्रह्मनन्दो—तत्रागमतो नन्दिशब्दार्थज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः । (बृहत्क. बु. २५) ।

नन्दि-शब्द और उसके अर्थ का ज्ञाता होकर वर्तमान में अनुपयुक्त पुरुष को आगमब्रह्मनन्दो कहते हैं ।

आगमब्रह्मनमस्कार—नमस्कारप्राप्तं नामास्ति ग्रन्थः यत्र नय-प्रमाणादि-निक्षेपादिमुखेन नमस्कारो

निरूप्यते, तं यो वेत्ति, न च साम्प्रतं तन्निरूप्येऽयं
उपयुक्तोऽप्यगतचित्तत्वात् । स नमस्कारयाचात्स्य-
प्रादिभूतज्ञानस्य कारणत्वादागमद्रव्यनमस्कार इत्यु-
च्यते । (भ. भा. विजयो. टी. ७५३) ।

नमस्कारविषयक प्राप्त का जाता होकर जो वर्त-
मान में तद्विषयक उपयोग से रहित होता हुआ
उसके अर्थ का निरूपण नहीं कर रहा है उसे
भागमद्रव्य-नमस्कार कहते हैं ।

भागमद्रव्यनारक — षेरद्वयपाहुडजाणधो अणु-
वजुत्तो भागमद्रव्यणेरद्वयो । (बघ. पु. ७, पु. ३०) ।
नारकप्राप्त का जाता होकर वर्तमान में अनुप-
युक्त जीव को भागमद्रव्यनारक कहते हैं ।

भागमद्रव्यपरिहार — तत्र भागमतः परिहार-
शब्दार्थज्ञाता तत्र आनुपयुक्तः । (अथ. भा. अलस.
बु. २-२७, पु. १०) ।

परिहार शब्द के अर्थ के जानने वाले, किन्तु वर्तमान
में तद्विषयक उपयोग से रहित पुरुष को भागम-
द्रव्यपरिहार कहते हैं ।

भागमद्रव्यपूर्ण — भागमतो द्रव्यं पूर्णमदस्यार्थ-
ज्ञाता अनुपयुक्तः । (ज्ञानसार बु. १-८) ।

जो 'पूर्ण' पद के अर्थ का ज्ञाता होकर तद्विषयक
उपयोग से रहित होता है उसे भागमद्रव्यपूर्ण
कहते हैं ।

भागमद्रव्यपूर्वगत — पुष्पमणवपारधो अणुवजुत्तो
भागमद्रव्यपुष्पगत । (बघ. पु. ६, पु. २११) ।

पूर्वगत भूत के पारगामी, किन्तु वर्तमान में उसके
उपयोग से रहित पुरुष को भागमद्रव्यपूर्वगत
कहते हैं ।

भागमद्रव्यप्रकृति — भागमो गयो सुदणानं दुवा-
लसगमिदि एयट्ठो । भागमस्स दब्बं जीवो भागम-
दब्ब, सा चेव पयसो भागमद्रव्यपयडी । (बघ. पु.
१३, पु. २०३) ।

भागमद्रव्य से अभिप्राय जीव का है । वही
प्रकृति भागमद्रव्यप्रकृति कही जाती है । तात्पर्य यह
कि जीवप्रकृतिविषयक भागम के ज्ञाता, किन्तु वर्त-
मान में अनुपयुक्त जीव को भागमद्रव्यप्रकृति
कहते हैं ।

भागमद्रव्यप्रतिक्रमण — प्रमाण-नय-निक्षेपादिभिः
प्रतिक्रमणावद्यकरूपज्ञ-सूत्रानुपयुक्तः प्रत्यक्षप्रति-
क्रमणकारणत्वादागमद्रव्यप्रतिक्रमणशब्देनोच्यते ।

(भ. भा. विजयो. टी. ११६) ।

प्रमाण, नय और निक्षेप आदि के द्वारा प्रतिक्रमण
आवश्यक विषयक भागम का ज्ञाता होकर जो वर्त-
मान में उसके उपयोग से रहित है उसे भागमद्रव्य-
प्रतिक्रमण कहते हैं ।

भागमद्रव्यदब्ब — जो सो भागमदो दब्बबंधो नाम
तस्स इमो णिद्दो सो — ठिद जिवं परिजिवं वायणोव-
गवं सुत्तसमं अत्थसमं गंथसमं नामसमं थोससमं ।
जा तत्थ वायणा वा पुच्छणा वा पडिच्छणा वा
परिखट्टणा वा अणुपेहणा वा थय-थुदि-वम्मकहा वा
जे चामण्णे एवमादिमा अणुवजोता दब्बे ति कट्ठु
जावदिया अणुवजुता भावा सो सव्वो भागमदो
दब्बबंधो नाम । (बट्ठ. — बघ. पु. १४, पु. २७) ।

स्थित, जित एवं परिमित आदि जो बन्ध सम्बन्धी
भागम के नौ अधिकार हैं; उनका ज्ञाता होकर
तद्विषयक वाचना-पुच्छनादि उपयोगनिक्षेपों से जो
वर्तमान में रहित है उसे भागमद्रव्यदब्ब कहते हैं ।

भागमद्रव्यदब्बक — बंधपपाहुडजाणया अणुव-
जुत्ता भागमद्रव्यबंधया नाम । (बघ. पु. ७, पु. ४) ।
बन्धकविषयक प्राप्त का ज्ञाता होकर जो वर्तमान
में उसके उपयोग से रहित होता है उसे भागम-
द्रव्यदब्बक कहते हैं ।

भागमद्रव्यभाव — भावपाहुडजाणधो अणुवजुत्तो
भागमद्रव्यभावो । (बघ. पु. ५, पु. १८४) ।

भावविषयक प्राप्त का ज्ञात, किन्तु वर्तमान में
उसके उपयोग से रहित जीव को भागमद्रव्यभाव
कहते हैं ।

भागमद्रव्यमंगल — १. भागमधोअणुवजुत्तो मंगल-
सहाणुवासिधो वत्ता । तन्नाणलद्धिसिद्धिधोअि नोव-
उत्तो ति तो दब्बं ॥ (विसेवा. २६) । २. तत्र
भागमतः सत्त्वागममधिकृत्य, भागमापेक्षमित्यर्थः ।
× × × तत्रागमतो मंगलशब्दाभ्येता अनुपयुक्तो
द्रव्यमंगलम्, 'अनुपयोगो द्रव्यम्' इति वचनात् ।
(आच. नि. हरि. बु. १, पु. ५) । ३. तत्र भागमदो
द्रव्यमंगलं नाम मंगलपाहुडजाणधो अणुवजुत्तो,
मंगलपाहुडसरयणा वा, तस्सत्पट्टवणकसरयणा
वा । (बघ. पु. १, पु. २१) ।

३ जो जीव मंगलप्राप्त का ज्ञाता होकर वर्तमान में
तद्विषयक उपयोग से रहित होता है उसे, अथवा
मंगलप्राप्त को शब्दरचना वा उसल प्राप्तार्थ की

स्वात्मस्वरूप धारकों की रचना को भी आगमब्रह्म-
व्यक्त कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्यक्त—आगमतो मास-सम्बन्धजाता तत्र
अनुपयुक्तः । (व्यव. भा. मलय. बृ. १-१४) ।

‘मास’ शब्द के धर्म के जानने वाले, पर वर्तमान में
उसमें अनुपयुक्त पुरुष को आगमब्रह्मव्यक्त कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्यक्त—तस्य आगमदम्बजगो नाम
योगपाहुडजागमो अनुपयुक्तः । (व्यव. पु. १०, पृ.
४३३) ।

योगविषयक प्राप्त के साधक, किन्तु वर्तमान में
उसके उपयोग से रहित पुरुष को आगमब्रह्मव्यक्त
कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्यक्त—वन्दनाभ्यावर्णनप्राप्तजोऽनु-
पयुक्त आगमब्रह्मव्यक्तः । (मूला. बृ. ७-७७) ।

वन्दना के वर्णन करने वाले प्राप्त के साधक,
किन्तु वर्तमान में अनुपयुक्त जीव को आगमब्रह्म-
व्यक्त कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्यक्त—वगमपाहुडजागमो अनुप-
युक्तो आगमदम्बवगमा नाम । (व्यव. पु. १४, पृ.
३२) ।

वर्तमानप्राप्त का ज्ञाता होकर जो तद्विषयक उपयोग
से रहित होता है उसे आगमब्रह्मव्यक्त कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्यक्त—वेयणपाहुडजागमो अनुपयुक्तो
आगमदम्बवेयणा । (व्यव. पु. १०, पृ. ७) ।

वेदनाविषयक प्राप्त के साधक, किन्तु वर्तमान में
उसके उपयोग से रहित जीव को आगमब्रह्मव्यक्त
कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्यक्त—आगमतो व्यवहारपदजाता
तत्र आनुपयुक्तः । (व्यव. भा. मलय. बृ. १-६) ।

जो जीव व्यवहार पद का ज्ञाता होकर तद्विषयक
उपयोग से रहित हो उसे आगमब्रह्मव्यक्त कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्यक्त—आविब्रतत्वब्राह्मिज्ञानपरिणतिरा-
त्मा आगमब्रह्मव्यक्तः । (भ. भा. विजयो. टी. ११८६) ।

आत्मा की काल में व्रत के ग्रहण करने वाले ज्ञान से
परिणत होने वाले आत्मा को आगमब्रह्मव्यक्त
कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्यक्त—ब्रह्मसमः आगमतः शमस्वरूप-
परिज्ञानी अनुपयुक्तः । (शानसार बृ. ६, पृ. २२) ।

शमस्वरूप का ज्ञानकार होता हुआ जो वर्तमान में
तद्विषयक उपयोग से रहित हो उसे आगमब्रह्मव्यक्त
कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्यक्त—ब्रह्मव्यक्तो द्विधा आगमतो
नोआगमतश्च । आगमतो ज्ञाताऽनुपयुक्तः । (दशै.
नि. हरि. बृ. ३-१५३) ।

जो धर्मशास्त्र का ज्ञाता होकर तद्विषयक उपयोग
से रहित होता है उसे आगमब्रह्मव्यक्त कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्यक्त—१. से कि तं आगमतो दम्बसुखं ?
जस्स णं सुणं ति पयं सिक्खियं ठियं जियं जाव, णो
अणुपेहाए । कम्हा ? अनुपयुक्तो दम्बमिति कट्टु ।

नेगमस्स णं एगो अनुपयुक्तो आगमतो एणं दम्बसुखं
जाव ‘कम्हा’ । जइ जाणइ अनुपयुक्तो न भवइ । से
तं आगमतो दम्बसुखं । (अनुयो. सू. ३३,
पृ. ३२) । २. यस्य कस्यचित् श्रुतमिति पवं श्रुत-

पदामिषेयमाचारविशास्त्रं शिक्षितं स्थितं यावद्वा-
चनोपगतं भवति स जन्तुस्तत्र वाचना-पृच्छनादि-

भिवर्तमानोऽपि श्रुतोपयोगेऽवर्तमानत्वादागमतः—
आगममाश्रित्य—ब्रह्मश्रुतमिति समुदायार्थः । (अनुयो.
मल. हेम. बृ. ३३) । ३. यस्य श्रुतमिति पवं शिक्षिता-

दिगुणान्वितं ज्ञातम्, न च तत्रोपयोगः, तस्य आगमतो
ब्रह्मश्रुतम् । (उत्तरा. नि. शा. बृ. १-१२, पृ. ८) ।

२ जिसके ‘श्रुत’ पद और उसके वाच्यभूत आचारानादि
आगम शिक्षित व स्थित आदि के कम से वाचनोप-

गत तक (अनुयोगद्वारा सूत्र १३) गुणों से युक्त हों,
वह वाचना-पृच्छना आदि से युक्त होता हुआ जो

अनुपयोग से रहित होता है तब उसे आगम-
ब्रह्मश्रुत कहा जाता है ।

आगमब्रह्मव्यक्त—सामायिकवर्णनप्राप्तजायी
अनुपयुक्तः आगमब्रह्मव्यक्तः सामायिक नाम । (मूला.
बृ. ७-१७; अम. व. स्वो. टी. ८-१६) ।

सामायिक के वर्णन करने वाले प्राप्त का ज्ञाता
होकर जो वर्तमान में उसके उपयोग से रहित है
उसे आगमब्रह्मव्यक्त कहते हैं ।

आगमब्रह्मसिद्धि—सिद्धस्वरूपप्रकाशनपरिज्ञानप-
रिणतिसामर्थ्याप्यासित आत्मा आगमब्रह्मसिद्धिः ।
(भ. भा. विजयो. टी. १); आगमब्रह्मसिद्धिः सिद्ध-
प्राप्तज्ञः सिद्धज्ञानोच्यतेऽनुपयुक्तः । (भ. भा.
विजयो. टी. ४६) ।

सिद्धों के स्वरूप का निरूपण करने वाले आगम का

ज्ञाता होकर वर्तमान में जो उसके उपयोग से रहित है उसे आगमब्रह्मव्यस्कन्ध कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्यस्कन्ध—से कि तं आगमतो दब्धकलं-
धे ? अस्त्वं नं खंधे त्ति पयं सिक्खियं सेसं जहा
दब्बावस्सए (सू. १३-१४) तथा भाणिदब्ब ।
नवरं खंभाभिलावो जाव । (अनुयो. सू. ४६) ।

जिससे 'स्कन्ध' यह पद शिक्षितादि के क्रम से बाध-
नोपगत तक ज्ञात है, पर वर्तमान में जो तद्विषयक
उपयोग से रहित है, उसे आगमब्रह्मव्यस्कन्ध
कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्यस्तव—चतुर्विंशतिस्तवव्यावर्णनप्राप्त-
शाध्यनुपयुक्त आगमब्रह्मव्यस्तवः । (भूला. वृ. ७-४१) ।
चौबीस तीर्थंकरों के स्तवनविषयक प्राप्त का ज्ञाता
होकर भी जो वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से
रहित हो उसे आगमब्रह्मव्यस्तव कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्यस्पर्शन—तत्त्व फोसणपाहुडजाणयो
अणुवजुत्तो खण्णोवममसहिम्नो आगमदो दब्बफोसणं
णाम । (धव. पु. ४, पृ. १४२) ।

स्पर्शनविषयक प्राप्त के ज्ञाता, किन्तु वर्तमान में
उसके उपयोग से रहित, लयोपशमयुक्त पुरुष को
आगमब्रह्मव्यस्पर्शन कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्याङ्ग—अगमुदपारमो अणुवजुत्तो भट्टा-
भट्टसत्कारो आगमदब्बज । (धव. पु. ६, पृ. १६२) ।
जो अंगभूत का पारगामी होकर उसके बिनष्ट
अथवा अविनष्ट संस्कार से सहित होता हुआ वर्त-
मान में तद्विषयक उपयोग से रहित हो उसे आगम-
ब्रह्मव्याङ्ग कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्याध्ययन—से कि तं आगममो दब्बज्ज-
यणे ? अस्त्वं नं अज्जयणेत्ति पयं सिक्खियं ठियं
जियं मियं परिजियं जाव एवं जावइया अणुवउत्ता
आगममो तावइयाई दब्बज्जयणाइ । एवमेव बवहा-
रस्स वि । संगहस्स नं एगो वा अण्णेगो वा जाव, से
तं आगममो दब्बज्जयणं । (अनुयो. सू. १५०, पृ.
२५०) ।

जिस जीव के 'अध्ययन' यह पद मिलित, स्थित,
जित, मित व परिमित आदि गुणवाचनोपगत तक
है, इस प्रकार जैन नय की अपेक्षा जितने भी
अध्ययन उपयोग से रहित हैं वे सब ब्रह्म-अध्ययन
हैं । धर्मिप्राय यह है कि जो जीव अध्ययन पद का
मिलित-स्थित आदि के कम से ज्ञाता तो है; पर

तद्विषयक उपयोग से रहित है, वह आगमब्रह्मव्यस्कन्ध
कहा जाता है । जैन नय की अपेक्षा एक दो आदि
जितने भी अध्ययन उपयोग से रहित होते हैं उसने
(एक-दो आदि) वे आगमब्रह्मव्यस्कन्ध कहे जाते हैं ।
आगमब्रह्मव्यानन्त—तत्त्व आगमदो दब्बाणंत्तं अण-
तपाहुडजाणमो अणुवजुत्तो । (धव. पु. ३, पृ. १२) ।
जो जीव अनन्तविषयक प्राप्त का ज्ञाता होकर वर्त-
मान में तद्विषयक उपयोग से रहित हो उसे आगम-
ब्रह्मव्यानन्त कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्यानुपूर्वी—से कि तं आगममो दब्बाणु-
पुब्बी ? अस्त्वं नं आणुपुब्बत्ति पयं सिक्खियं ठियं
जियं मियं परिजियं जाव, नो अणुपेहाए । कम्हा ?
अणुवमोदो दब्बमिति कट्टु । जेगमस्स नं एगो
अणुवउत्तो आगममो एवा दब्बाणुपुब्बी जाव 'कम्हा' ।
जइ जाणए अणुवउत्ते ण अबइ, से तं आगममो
दब्बाणुपुब्बी । (अनुयो. सू. ७२) ।

जिसके आनुपूर्वी पद मिलित व स्थित आदि के कम
से बाधनोपगत तक वृत्तों से सहित हैं, परन्तु जो
तद्विषयक उपयोग से रहित है; उसे आगमब्रह्मव्यानु-
पूर्वी कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्यानुयोग—आगमतोऽनुयोगपदार्थाज्ञाता
तत्र चानुपयुक्तः । (आच. नि. मल्ल. पृ. १२६) ।
अनुयोग पद के अर्थ के जानने वाले, किन्तु वर्तमान
में उसके उपयोग से रहित जीव को आगमब्रह्मव्यानु-
योग कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्यान्तर—अंतरपाहुडजाणमो अणुवजुत्तो
अंतरदब्बाणमो वा आगमदब्बन्तरं । (धव. पु. ५,
पृ. २) ।

अन्तरविषयक आगम के शायक, किन्तु वर्तमान में
अनुपयुक्त जीव को आगमब्रह्मव्यान्तर कहते हैं ।
अथवा अन्तरविषयक ब्रह्म-आगम को आगमब्रह्मव्या-
न्तर कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्याहंत—आगमब्रह्मव्याहंतहंतस्वरूपव्या-
वर्णनप्राप्तमोऽनुपयुक्तस्तदर्थजन्यत्र व्यावृत्तः । (अ.
आ. विजयो. टी. ४६) ।

अहंत के स्वरूप का वर्णन करने वाले आगम के
ज्ञाता, किन्तु वर्तमान में उसके उपयोग से रहित
होकर अन्य विषय में उपयुक्त जीव को आगम-
ब्रह्मव्याहंत कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्यात्यबहुत्व—अप्याबहुपपाहुडजाणमो

अनुवजुतो आगमब्रह्मव्याख्यकम् । (बब. पु. ५, पृ. २४२) ।

जो जीव अल्पबहुत्वप्राप्त का ज्ञाता होकर वर्तमान में उसके उपयोग से रहित हो उसे आगमब्रह्मव्याख्यक कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्याख्यक—अस्तं नं भावस्तए त्ति पवं सिक्खितं ठितं जितं मितं परिजितं नामसमं बोस-समं अहीणस्सरं अक्खणस्सरं अण्णाइदस्सरं अक्ख-सिअं अमिलिअं अवक्खामेसिअं पडिपुण्णं पडिपुण्ण-बोसं कंठोद्विप्यमुक्कं गुरुवायणोवगयं, से नं तत्त्व वायणाए पुच्छणाए परिअट्टणाए धम्मकहाए, नो अनुप्येहाए । कम्हा ? अनुवधोगो दव्वमिति कट्टु । (अनुवो. सू. १३) ।

जिते भावदयक वह पद सिद्धित, स्थित, जित व मित आदि के क्रम से पुरुषाचनोपगत तक है और जो वाचना, प्रच्छन्ना, परिवर्तना एवं वर्णकथा में व्यापृत है; पर अनुप्रेक्षा (चिन्तन) में व्यापृत नहीं है, उसे आगमब्रह्मव्याख्यक कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्योत्तर — ब्रह्मोत्तरमागमतो ज्ञाताऽनुप-युक्तः । (उत्तरा. नि. शा. बृ. १-१, पृ. ३) । 'उत्तर' पद के अर्थ के ज्ञाता, किन्तु वर्तमान में अनु-पयुक्त जीव को आगमब्रह्मव्योत्तर कहते हैं ।

आगमब्रह्मव्योपक्रम — आगमत उपक्रमशब्दार्थस्य ज्ञाता तत्र आनुपयुक्तः, अनुपयोगो द्रव्यमिति वच-नात् । (व्यच. भा. मलय. बृ. १-१, पृ. १; अन्वू-ही. शा. बृ. पृ. ५) ।

जो उपक्रम पद का ज्ञाता होकर वर्तमान में तद्विष-यक उपयोग से रहित हो उसे आगमब्रह्मव्योपक्रम कहते हैं ।

आगमभाव—१. आगमः प्राप्तज्ञायी पुमांस्तत्रो-पयुक्तवीः । (त. श्लो. १, ५, ६७) । २. जीवादि-प्राप्तविषयोपयोगाविष्ट आत्मा आगमभावः । (न्यायसू. ७-७६, पृ. ८०७) । ३. तत्र आगम-भावो जीवादिप्राप्तज्ञायी तदुपयुक्तः श्रुतज्ञानी । (लघोच. ब्रह्म. बृ. ७-४, पृ. ६८) ।

२ जीवादिप्राप्तविषयक उपयोग से युक्त जीव को आगमभाव निक्षेप कहते हैं ।

आगमभाव-अध्ययन—से कि आगममो भावजन्म-यने ? जाणए उवउत्ते, सेतं आगममो भावजन्मणे । (अनुवो. सू. १५०, पृ. २५१) ।

अध्ययन का ज्ञाता होकर जो वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से भी रहित हो, उसे आगमभाव-अध्ययन कहते हैं ।

आगमभावकर्म—कम्मागमपरिजाणगजीवो कम्मा-गमम्हि उवजुत्तो । भावागमकम्मो त्ति य तस्स य सण्णा हवे गियमा ॥ (घो. क. ६५) ।

कर्मविषयक आगम को जानते हुए उसमें उपयुक्त जीव को आगमभावकर्म कहते हैं ।

आगमभावकर्मप्रकृतिप्राप्त—कम्मपयडिपाहुड-जाणमो उवजुत्तो आगमभावकम्मपयडिपाहुडं । (बब. पु. ६, पृ. १३०) ।

कर्मप्रकृतिप्राप्त के ज्ञायक और उसमें उपयुक्त जीव को आगमभावकर्मप्रकृतिप्राप्त कहते हैं ।

आगमभावकाल — कालपाहुडजाणमो उवजुत्तो जीवो आगमभावकालो । (बब. पु. ४, पृ. ३१६) । कालविषयक आगम के ज्ञायक और उसमें उपयुक्त जीव को आगमभावकाल कहते हैं ।

आगमभावकृति—जा सा भावकदी णाम सा उवजुत्तो पाहुडजाणगो ॥ एत्थ पाहुडसदो कदीए विसेसिदव्वो, पाहुडसामण्णेअ अडियाराभावादो । तदो कदिपाहुडजाणमो उवजुत्तो भावकवित्ति सिद्धं । (बद्धं. ४, १, ७४—पु. ६, पृ. ४५१) ।

जो जीव कृतिप्राप्त का ज्ञाता होकर तद्विषयक उपयोग से भी युक्त है उसे आगमभावकृति कहते हैं ।

आगमभावक्षेत्र—आगमदो भावसेतं सेतपाहुड-जाणगो उवजुत्तो । (बब. पु. ४, पृ. ७ व पु. ११, पृ. २) ।

क्षेत्रविषयक आगम का ज्ञाता होकर जो जीव उसमें उपयुक्त है उसे आगमभावक्षेत्र कहते हैं ।

आगमभावग्रन्थकृति—गयकइपाहुडजाणमो उव-जुत्तो आगमभावग्रन्थकई णाम । (बब. पु. ६, पृ. ३२२) ।

ग्रन्थकृतिविषयक प्राप्त का ज्ञाता होकर जो जीव उसमें उपयुक्त है उसे आगमभावग्रन्थकृति कहते हैं ।

आगमभावचतुर्विंशतिस्तव—चतुर्विंशतिस्तवव्या-वर्णनप्राप्तज्ञायी उपयुक्त आगमभावचतुर्विंशति-स्तवः । (भूला. बृ. ७-४१) ।

चतुर्विंशतिस्तव के वर्णन करने वाले प्राप्त के

ज्ञाता होकर उसमें उपयुक्त जीव को आगमभाव-
व्यवस्थितिस्तव कहते हैं ।

आगमभावव्यवनलब्धि — चयनलब्धिव्युपारम्भो
उवजुत्तो आगमभावचयनलब्धी । (ध्व. पु. ६, पृ. २२८) ।

व्यवनलब्धि नामक वस्तु का पारंगत होकर उसमें
उपयुक्त जीव को आगमभावव्यवनलब्धि कहते हैं ।

आगमभावजिन — जिणपाहुडजाणमो उवजुत्तो
आगमभावजिनो । (ध्व. पु. ६, पृ. ८) ।

जिनविषयक प्राप्त का ज्ञाता होकर उसमें उपयुक्त
जीव को आगमभावजिन कहते हैं ।

आगमभावजीव — १. जीवप्राभूतविषयोपयोगा-
विष्टो मनुष्यजीवप्राभूतविषयोपयोगयुक्तो वात्मा
आगमभावजीवः । (स. सि. १-५) । २. तत्प्रा-
भूतविषयोपयोगाविष्ट आत्मा आगमः । जीवादि-
प्राभूतविषयोपयोगेनाविष्ट आत्मा आगमतो भाव-
जीवो भावसम्यग्दर्शनमिति चोच्यते । (स. बा. १, ५, १०) । ३. तत्र जीवप्राभूतविषयोपयोगाविष्टः
परिणत आत्मा आगमभावजीवः कथ्यते, मनुष्यजीव-
प्राभूतविषयोपयोगसंयुक्तो वात्मा आगमभावजीवः
कथ्यते । (स. वृत्ति भूत. १-५) ।

१ जीवविषयक अथवा मनुष्यजीवविषयक प्राप्त का
ज्ञाता होकर उसमें उपयुक्त जीव को आगमभाव-
जीव कहते हैं ।

आगमभावदृष्टिवाद—दिट्ठिवादजाणमो उवजुत्तो
आगमभावदिट्ठिवादी । (ध्व. पु. ६, पृ. २०५) ।

दृष्टिवाद का शायक होकर उसमें उपयुक्त जीव को
आगमभावदृष्टिवाद कहते हैं ।

आगमभावनन्दी—तत्रास्सगतो नन्दि-शब्दार्थस्य
ज्ञाता तत्र बोधयुक्तः । (बृहत्. मलय. वृ. २४) ।
नन्दी शब्द के अर्थ का ज्ञाता होकर जो तद्विषयक
उपयोग से भी युक्त है उसे आगमभावनन्दी
कहते हैं ।

आगमभावनमस्कार — स्थापना(?) अर्हदादीनां
आगमनमस्कारज्ञानं आगमभावनमस्कारः । (अ.
भा. विजयो. टी. ७५३) ।

अरिहन्त आदि के नमस्कारविषयक आगम के
ज्ञाता और उसमें उपयुक्त जीव को आगमभाव-
नमस्कार कहते हैं ।

आगमभावनारक—गेरइयपाहुडजाणमो उवजुत्तो
आगमभावनेरइमो नाम । (ध्व. पु. ७, पृ. ३०) ।

नारकविषयक प्राप्त का ज्ञाता होकर जो जीव
उसमें उपयुक्त है उसे आगमभावनारक कहते हैं ।

आगमभावपूर्ण—भावपूर्णः आगमतः पूर्णपदार्थः
[यज्ञः] समस्तोपयोगी । (ज्ञानसार वृ. १-८,
पृ. ४) ।

जो 'पूर्ण' पद के अर्थ का ज्ञाता होकर तद्विषयक उप-
योग से सहित हो उसे आगमभावपूर्ण कहते हैं ।

आगमभावपूर्वगत—बोहसविज्जाट्ठाणपारमो उव-
जुत्तो आगमभावपूर्वगत्यं । (ध्व. पु. ६, पृ. २११) ।

बोह विज्ञास्थानरूप पूर्णों का पारंगत होकर जो
जीव उसमें उपयुक्त है उसे आगमभावपूर्वगत
कहते हैं ।

आगमभावप्रकृति—जा सा आगमदो भावपयडी
णाम तिससे इमो णिहंसो—ठिद जिदं परिजिदं वाय-
णोवगदं सुत्तसमं अत्थसमं गंथसमं णामसमं
बोससमं । जा तत्थ वायणा वा पुच्छणा वा पडिच्छ-
णा वा परियट्ठणा वा अणुपेहणा वा यय-मुदि-धम्म-
कहा वा जे चामण्णे एवमादिया उवजोगा भावे त्ति
कट्ठु जावदिया उवजुता भावा सा सव्वा आगमदो
भावपयडी णाम । (वट्ठं. ५, ५, १३६—ध्व. पु. १३, पृ. ३६०) ।

जो जीव प्रकृतिविषयक स्थित व जित आदि धोव-
सम पर्यन्त आगमाधिकारों से युक्त होकर तद्विषयक
वाचना-प्रच्छनादि में व्याप्त भी हो उसे आगम-
भावप्रकृति कहते हैं ।

आगमभावप्रतिक्रमण—प्रतिक्रमणप्रत्यय आगम-
भावप्रतिक्रमणम् । (अ. भा. विजयो. टी. ११६) ।

प्रतिक्रमणविषयक आगम के ज्ञान से युक्त होकर जो
जीव तद्विषयक उपयोग से भी सहित हो उसे आगम-
भावप्रतिक्रमण कहते हैं ।

आगमभावबन्ध—जो सो आगमदो भावबंधो
णाम तरस इमो णिहंसो—ठिदं जिदं परिजिदं वाय-
णोवगदं सुत्तसमं अत्थसमं गंथसमं णामसमं बोस-
समं । जा तत्थ वायणा वा पुच्छणा वा पडिच्छणा
वा परियट्ठणा वा अणुपेहणा वा यय-मुदि-धम्मकहा
वा जे चामण्णे एवमादिया उवजोगा भावे त्ति कट्ठु

जावदिया उवजुत्ता भावा सो सब्बो आगमदो भाव-
वंचो णाम । (बध्. ५, ६, १२—पु. १५, पृ. ७) ।
जो जीव ज्ञानविषयक आगम के स्थित-जित्तवि नौ
अर्थाधिकारों से सहित होकर तद्विषयक वाच्यता-
अच्छनाविरूप उपयोग से भी युक्त हो उसे आगम-
भाववत्त्व कहते हैं ।

आगमभावभाव — भावपाहुडजाणधो उवजुत्तो
आगमभावभावो णाम । (बध्. पु. ५, पृ. १८४) ।
भावविषयक प्राप्त का ज्ञायक होकर तद्विषयक उप-
योगयुक्त पुरुष को आगमभावभाव कहते हैं ।

आगमभाववर्गशा — वर्गणापाहुडजाणधो उवजुत्तो
आगमभाववर्गणा । (बध्. पु. १५, पृ. ५२) ।
वर्गणाविषयक प्राप्त का ज्ञाता होकर तद्विषयक
उपयोग से युक्त पुरुष को आगमभाववर्गणा
कहते हैं ।

आगमभाववेदना — तत्त्व वेद्यणाणियोगहारजाणधो
उवजुत्तो आगमभाववेदना । (बध्. पु. १०, पृ. ८) ।
वेदना अनुयोगद्वारा का ज्ञाता होकर तद्विषयक उप-
योग से युक्त पुरुष को आगमभाववेदना कहते हैं ।
आगमभावसामायिक — सामायिकवर्णनप्राभूत-
ज्ञायुपयुक्तो जीव आगमभावसामायिक नाम ।
(मूला. बृ. ८—१७) ।

सामायिक का वर्णन करने वाले प्राप्त का ज्ञाता
होकर उसमें उपयुक्त जीव को आगमभावसामा-
यिक कहते हैं ।

आगमभावाप्रायणीय — तत्त्व अग्गेणियपुब्बहरो
उवजुत्तो आगमभावमोणियं । (बध्. पु. ६, पृ.
२२५) ।

आप्रायणीय पूर्व का ज्ञाता होकर तद्विषयक उपयोग
से युक्त जीव को आगमभावाप्रायणीय कहते हैं ।

आगमभावान्तर — अंतरपाहुडजाणधो उवजुत्तो
भावगमो वा आगमभावान्तरं । (बध्. पु. ५, पृ. १) ।
अंतरविषयक प्राप्त के ज्ञायक और उसमें उपयुक्त
जीव को आगमभावान्तर कहते हैं । अथवा अन्तर-
विषयक भावागम को आगमभावान्तर कहते हैं ।

आगमभावार्हन् — महद्दव्यावर्णनपरप्राप्तप्रत्य-
योर्हन्निर्भासो बोध आगमभावार्हन् । (अ. धा.
विजयो. टी. ४६) ।

अरहन्त के स्वरूप का वर्णन करने वाले प्राप्त के
ज्ञान से सहित जीव को अथवा उनके स्वरूप के

प्रकाशक बोध को आगमभावार्हन् कहते हैं ।

आगमभावाल्पबहुत्व — अप्पावहुडपाहुडजाणधो
उवजुत्तो आगमभावप्पावहुत्वं । (बध्. पु. ५, पृ.
२४२) ।

अल्पबहुत्वविषयक प्राप्त का ज्ञाता होकर तद्विषयक
उपयोग से युक्त पुरुष को आगमभावाल्पबहुत्व
कहते हैं ।

आगमभावावश्यक—१. से किं तं आगमतो
भावावस्त्यं ? जाणए उवउत्ते, से तं आगमतो
भावावस्त्यं । (अनुयो. सू. २३, पृ. २८) । २. संवे-
गजणितविसुज्झमाणभावस्स सुतमणुस्सरतो तदा
भावयोगपरिणयस्स आगमतो भावावस्त्यं भवति ।
(अनुयो. बृ. पृ. १३) । ३. तत्र आगमतो भावा-
वश्यकज्ञाता उपयुक्तः, तदुपयोगान्मत्वात् । अथवा-
ऽऽवश्यकार्थोपयोगपरिणाम एवेति । (आव. नि. हरि.
बृ. ७६, पृ. ५२) । ४. ज्ञायक उपयुक्त आगम-
तो भावावश्यकम् । इदमुक्तं भवति—आवश्यक-
पदार्थस्तज्जणितसवेगेन विशुद्धधर्माणस्तत्र चोप-
युक्तः साध्यादिरागमतो भावावश्यकम् । (अनुयो.
मल. हेय. बृ. सू. २३, पृ. २८) ।

१ आवश्यकविषयक शास्त्र के जानने वाले और
उसमें उपयुक्त जीव को आगमभावावश्यक कहते हैं ।

आगमभावोपक्रम—१. भावोपक्रमो द्विधा आग-
मतो नोभागमतस्य । आगमतो ज्ञाता उपयुक्तः ।
(आव. नि. हरि. बृ. ७६, पृ. ५५) । २. भावोप-
क्रमो द्विधा आगमतो नोभागमतस्य । तत्रागमत
उपक्रमशब्दार्थस्य ज्ञाता तत्र चोपयुक्तः, उपयोगो
भावनिक्षेप इति वचनात् । (व्यव. भा. मलय. बृ.
१, पृ. २) । ३. आगमत उपक्रमशब्दार्थस्य ज्ञाता
तत्र चोपयुक्तः । (बम्बई. शा. बृ. पृ. ६) ।
२ उपक्रम शब्द के अर्थ के ज्ञाता और उसमें उपयुक्त
जीव को आगमभावोपक्रम कहते हैं ।

आगमसिद्ध — आगमसिद्धो तत्त्वंगपरमो गोयमो
न्व गुणरावी । (आव. नि. ६३५) ।

जो गौतम के समान गुणसमूह से अलंकृत होकर
समस्त अंगयुक्त का धारणी हो उसे आगमसिद्ध
कहते हैं ।

आगमभास—१. राय-वेध-मोहाक्रान्तपुरुषवच-
नाज्जातमागमाभासम् । (परीक्षामुक् ६-५१) ।

२. अनाप्तवचनप्रभवं ज्ञानभागमाभासम् । (प्र. म. त. ६-८३) ।

१ राग, द्वेष और मोह से व्याप्त पुरुष के वचनों से उत्पन्न हुए या रचे गये भाग्य को प्रागमाभास कहते हैं ।

प्रागमोपलब्धि—१. अस्तागमप्यमाणेण अस्वर किञ्चि अविसयत्ये वि । अवियाऽनविया कुरवो नारग दियलोय मोक्खो य । (बृहत्क. भा. १-५३) ।

२. प्राप्ताः सर्वज्ञाः, तत्प्रणीत प्रागम प्राप्तागमः, × × × इयमत्र भावना—प्राप्तागमप्रामाण्यवशात् तस्मिन्तस्मिन् वस्तुनि योऽक्षरलाभः, यथा—अव्य इति अव्य इति देवकुरव इत्यादि, सा प्रागमोपलब्धिः । (बृहत्क. भा. अलव. बृ. १-५३) ।

प्राप्तप्रणीत प्रागम के द्वारा विचक्षित वस्तु के विषय में जो प्रक्षरों का लाभ होता है—जैसे अव्य, प्रभव्य और देवकुरव आदि—उसे प्रागमोपलब्धि कहते हैं ।

प्रागाल—१. × × × नीयामो एह प्रागलो ॥ (पंचसं. उपस. २०, पृ. १६२) । २. द्वितीयस्थिते-र्यत्पतति तदागालः । (पंचसं. स्त्रो. बृ. उपस. २०, पृ. १६२) । ३. प्रागालमागालो, विविद्विद्विदपे-साण पढमद्विदीए भोकइइणवावसेणागमणमिदि वुत्तं होदि । (अवध. अ. प. ६५४) । ४. यत्पुनर्द्वितीय-

स्थितेः सकाशादुदीरणाप्रयोगेण समाकृष्योदये प्रक्षिपति स प्रागालः । (पंचसं. अलव. बृ. उपस. २०, पृ. १६३) । ५. यत्पुनर्द्वितीयस्थितेः सकाशादुदी-रणाप्रयोगेणैव दलिकं समाकृष्योदये प्रक्षिपति सा उदीरणापि पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्यु-च्यते । (शतक. वे. स्त्रो. बृ. ६८, पृ. १२८) । ६. द्वितीयस्थितिद्वयस्यापकर्षणवशात् प्रथमस्थिता-वागमनमागालः । (ल. सा. टी. ८८) ।

२ द्वितीय स्थिति का द्वय को उचयस्थिति में आता है, इसका नाम प्रागाल है । ६ द्वितीय स्थिति के द्वय का अपकर्षण करने उसके प्रथम स्थिति में निक्षेपण करने को प्रागाल कहते हैं ।

प्राचारण—१. भाषा प्रणिधिः उपधिः निष्कृतिः प्राचरणं वञ्चना दम्भः कूटम् प्रतिस्नानम् अनार्ज-मित्यनर्थान्तरम् । (त. भा. ८-१०) । २. प्राचर्य-ते भ्रमिगम्यते अक्यते वा परस्तपोपायभूतयेत्याचर-णम् । तथा च वृक-मार्जार-गृहकोलिकादयः प्रसिद्धाः ।

(त. भा. सिद्ध. बृ. ८-१०, पृ. १४६) ।

२ जिस उपायभूत भाषा व्यवहार के द्वारा दूसरे जीवों का धात किया जावे उसे प्राचरण कहते हैं । भाषा कथाय के प्रणिधि व उपधि आदि पर्याय शब्दों में से यह भी एक है ।

प्राचरितदोष—तच्च (कुटी-कटकादिकं) दूरदेशा-दानीतप्राचरितम् । (भ. भा. मूला. टी. २३०) । दूर देश से लाई गई कुटी व कटाई आदि के ग्रहण करने को प्राचरित (वसतिका-उद्गम) दोष कहते हैं ।

प्राचार—देखो प्राचारोण । १. ते किं तमायारे ? आयारे णं समणानं णिणंयानं आयार-गोयर-विणय-वेणइय-सिक्खा-मासा-अभासा-चरण-करण-जाया-मा-या विसोमो प्राचविज्जं । × × × से तं आयारे । (जंबी. ४५, पृ. २०६) । २. प्राचरणमाचारः,

प्राचर्यते इति वा प्राचारः, शिष्टाचरितो ज्ञानाद्या-सेवनविधिरिति भावार्थः, तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽप्या-चार एवोच्यते । (मन्वी. हरि. बृ. पृ. ७५) । ३. प्राचारो ज्ञानादिव्यं च कथ्यते स प्राचारः । (त. भा. हरि. व सिद्ध. बृ. १-२०) । ४. प्राचारे चर्यावि-धानं सुदृष्टक-पञ्चसमिति-त्रिगुप्तविकल्पं कथ्यते । (त. भा. १, २०, १२; अल. पु. ६, पृ. १६७) ।

५. नाणमि दंसणमि अ चरणमि तवमि तह य विरियम्मि । आयरणं आयारो इय एसो पंचहा भणियो ॥ (गु. गु. बद्. स्त्रो. बृ. ३, पृ. १४) ।

६. प्राचरणमाचारः प्राचर्यते इति वा प्राचारः, पूर्व-पुरुषाचरितो ज्ञानाद्यासेवनविधिरित्यर्थः । तत्प्रति-पादकग्रन्थोऽप्याचार एवोच्यते । (मन्वी. अलव. बृ. ४५, पृ. २०६) । ७. प्राचरन्ति समन्तोऽनुतिष्ठ-न्ति मोक्षमार्गंनाराधयन्ति अस्मिन्मन्त्रेनेति वा प्रा-चारः । (गो. जी. जी. प्र. ३५६) ।

१ जिस श्रुतस्मृति में निर्गन्ध साधुओं के प्राचार (ज्ञानाचारादि), निष्ठाविधि, विनय, विनयकल, शिक्षा, भाषा, अमावा, चरण (प्रतादि), करण (पिण्डपुद्धि आदि), संवयमात्रा, आहारयात्रा और वृत्ति (नियमविधियों का परिपालन); इनका कथन किया गया है उसका नाम प्राचार है ।

प्राचारवान्—१. प्राचारं पंचविहं चरदि चरा-वेदि जो निरविचारं । उचदिसदि य आयारं एसो आयारवं नाम ॥ (भ. भा. ४१६) । २. आयार-

वमायारं पंचविहं गुणह जो उ आयरह । (गु. गु. वद्. स्त्रो. वृ. ७, पृ. २८) ।

१ जो निरतिपार पांच प्रकार के आचार का स्वयं आचरण करता है, दूसरों को आचरण कराता है, तथा उसका उपदेश भी देता है; वह आचारवाज कहलाता है ।

आचारविनय—तत्राचारविनयः स्वस्य परस्य वा संयमतपोगण[गुण-]प्रतिमादिहारादिसामाचारिसाधनलक्षणः । (गु. गु. वद्. स्त्रो. वृ. ३७, पृ. ८६) । संयत, तपोगुण, प्रतिमा (आचरक के स्वानुवेव) एवं बिहारादिरूप सत्ताचारी के सिद्ध करने का नाम आचारविनय है ।

आचाराङ्ग—वेसो आचार । १. कथं चरे कथं चिट्ठे कथमासे कथ सए । कथं भुंजेज्ज भासेज्ज कथं पावं ण बज्झदि ॥ जवं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये । जवं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झदि ॥ (मूला. १०-१२१, १२२) । २. एत्थायारंगमट्टारहपदसहस्सेहि १८००० “कथं चरे कथं चिट्ठे…………” एवमादियं मुणीणमायार वण्णेदि । (अब. पु. १, पृ. ३६; अयब. १, पृ. १२२) । ३. अष्टादशपदसहस्रपरिमाणं गुणित-समितियत्याचारसूचकमाचाराङ्गम् १८००० । (अत. भू. टी. ७, पृ. १७२) । ४. यत्याचारसूचकं अष्टादशसहस्रपदप्रमाणमाचाराङ्गम् । (त. वृत्ति भूत. १-२०) । ५. आचारं पठमंग तत्पट्टारसहस्रस्यमेतत् । यत्तामरति भव्वा मोक्खपहंतेण स णाम ॥ कहं चरे कह तिट्ठे कहमासे कहं सये । कहं भासे कहं भुजे कह पाव ण बज्झ । जवं चरे जवं तिट्ठे जदमासे जदं सये । जवं भासे जवं भुजे एव पावं ण बंधइ ॥ महज्ज्याणि पंचव समिदीधो-अक्खरोहणं । लोभो आवासयाछक्कमवच्छण्हभूसया ॥ अदंतवणमेगभत्तो ठिदिभोयणमेव हि । यदीणं यं समायारं वित्थरेवं[ण] पक्खए ॥ (अंगपण्णसी १, १५-१६) ।

१ जिसमें कैसे चला जाय, कैसे सड़ा हुआ जाय, और कैसे बँटा जाय, इत्यादि मुनियों के आचार का वर्णन किया जाता है उसे आचारांग कहते हैं ।

आचार्य (आयरिय)—१. सदा आचारविहङ्ग सदा आयरियं चरे । आचारमाचारवंतो आयरिओ तेण उच्चदे ॥ अज्झा पंचविहाचारं आचरंतो पभासदि ।

आयरियाणि देसंतो आयरिओ तेण वुच्चदे ॥ (मूला. ७, ८-६) । २. पंचाचारसम्मगा पंचिदिय-वैति-दप्पणिहलणा । धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति ॥ (नि. सा. ७३) । ३. पंचमहव्ययतुंगा तत्कालिय-स-परसमयसुदधार । णाणागुणगभरिमा आइरिया मम पसीयंतु ॥ (ति. व. १-३) । ४. मंदर-रवि-ससि-उवही वसुह्वाणिलवरणि कमलगयणसमा । णियमं आचारधरा आयरिया × × × ॥ (पञ्चम-चरिय ८६-२०) । ५. आचरन्ति तस्माद् व्रतानी-त्याचार्याः । (स. सि. ६-२४; त. इलो. ६-२४; त. सुल्लो. ६-२४; त. वृत्ति भूत. ६-२४) । ६. पंचविहं आचारं आयरमाणा सहा पगासता । आचारं दंसता आयरिया तेण वुच्चन्ति ॥ (आब. नि. ६६४) । ७. आचरन्ति यस्माद् व्रतानीत्याचार्यः । यस्मात् सम्यग्ज्ञानादिगुणाधारादाहृत्य व्रतानि स्व-गापवर्मसुखामृतबीजानि भव्या हितार्थमाचरन्ति स आचार्यः । (त. वा. ६, २४, ३) । ८. पंचविधमा-चारं चरन्ति चारयतोत्याचार्याः चतुर्दशविद्यास्थान-पारगाः एकादशाङ्गवराः । आचाराङ्गवरो वा तात्कालिकस्वसमय-परसमयपारगो वा मेरुरिव निवचल, क्षितिरेव सहिष्णुः, सागर इव बहिःक्षिप्तमलः, सप्तभयविप्रमुक्त आचार्यः । (अब. पु. १, पृ. ४८); पवयण-जलहि-जलोयर-ग्यायामल-बुद्धि-मुद्ध-छावा-सो । मेरु एव णियकंपो सूर्रो पंचाणगो वज्जो ॥ देस-कुल-जाइसुद्धो सोमंगो संग-भंग-उम्मुक्को । गयण एव गिरुवलेवो आइरियो एरिसो होई ॥ संगह-णिग्गहकुसलो सुतत्त्व-विसारओ पहियक्किं । सारण-वारण-साहण-किरियुज्जत्तो हु आइरिया ॥ (अब. पु. १, पृ. ४६ उद्धृत) । ९. पञ्चस्वचारेषु ये वर्तन्ते परांश्च वर्तयन्ति ते आचार्याः । (अ. आ. विजयो. तथा मूला. टी. ४४४) । १०. [आचारं] पञ्चप्रकारं स्वयमाचरन्ति तेभ्योऽन्ये चागत्याचरन्ति इत्याचार्याः । (प्रामद्विजसि. वृ. २५६) । ११. विचार्य सर्वमैतिह्यमाचार्यं कमुपेयुषा । आचार्यं वयि-नर्चमि संचार्यं हृदयाम्भुजे ॥ (उपासका. ४८७) । १२. यस्मात् सम्यग्ज्ञानादिपञ्चाचाराधारादाहृत्य व्रतानि स्वर्गापवर्गसुखकपुङ्गवबीजानि भव्या आत्म-हितार्थमाचरन्ति स आचार्यः । (आ. सा. वृ. ६६) । १३. पंचाचारसमग्रे पंचिदयणिज्जदे विषयमोहे । पंचमहव्ययणिलवे पंचमगह्णायामरिए ॥ (जं. बी.

य. १-३) । १४. ये चारयन्त्याचरितं विविचं स्वयं
जन्तो जनमर्चनीयाः । आचार्यवर्या विचरन्तु ते ये
प्रमोदमाने हृदयारविन्दे ॥ (अभित. भा. १-३) ।
१५. आचार्यः अनुयोगवरः । (आभा. सी. वृ. २,
१, २७६, पृ. ३२२) । १६. सङ्ग्रहानुग्रहप्रदो रुढः
श्रुत-चरित्रयोः । यः पञ्चविधमाचारमाचारयति
योगिनः ॥ बहिःक्षिप्तमलः सत्त्वगाम्भीर्यातिप्रसाद-
वान् । गुणरत्नाकरः सोऽयमाचार्योऽभार्यैर्वयं ॥
(आभा. सा. २, ३२-३३) । १७. छतीसगुणसमये
पञ्चविहाचारकरणसंदरिते । सिस्साधुमहकुसले
धम्मादिरि एवा बंदे ॥ (लघु भा. अभित. पृ.
३०५) । १८. पञ्चचाचारं स्वयमाचरन्ति शिष्या-
श्चाचारयन्तीत्याचार्याः । (सा. सं.—क्रियाक. टी. पृ.
१४२; कातिके. टी. ४५६) ; पञ्चचा चरन्त्याचारं
शिष्यानाचारयन्ति च । सर्वशास्त्रविदो धीरास्ते
आचार्याः प्रकीर्तिताः ॥ (क्रियाक. टी. पृ. १४३) ।
१९. संसण-णाणपहाणे वीरिय-चारित-वरतवायारे ।
अप्यं परं च जुजइ सो आइरियो मुणी भेयो ॥
(अभ्यसं. ५२) । २०. आचाराधनादि-चरणशास्त्र-
विरतीर्णवहिरङ्गसहकारिकाकरणभूते व्यवहारपञ्चा-
चारे च स्व परं च योजयत्यनुष्ठानेन सम्बन्धं करोति
स आचार्यो भवति । (बृ. अभ्यसं. ५२, पृ. १६२) ।
२१. आहृत्यभिष्याप्या मर्यादया वा स्वं पञ्च-
विधाचारं चरति आचारयति वा परान् आचार्यं वा
मुक्त्यर्थिभिः आतेव्यते इति आचार्यः । (उत्तरा.
नि. भा. वृ. १-५७, पृ. ३७; योगशा. स्वो. विव.
४-६०) । २२. आचार्योऽनुयोगाचार्यादिकः । (अभ्य.
भा. मलय. वृ. २-३४); आचार्यो गच्छाधिपतिः ।
(अभ्य. भा. मलय. वृ. २-६४) । २३. पञ्चाचार-
रतो नित्यं मूलाचारविदप्रणीः । चातुर्वर्ण्यस्य सङ्ख्य
यः स आचार्य इष्यते ॥ (नीतिसार १५) । २४.
आचाराद्या गुणा अष्टौ तपो द्वादशधा दस । स्थिति-
कल्पः षडावश्यमाचार्योऽभीभिरन्वितः । (धर्मसं. भा.
१०-११६) । २५. आचार्योऽनादितो रुढे योगादपि
निरुप्यते । पञ्चाचारं परेभ्यः स आचारयति संय-
मी ॥ (साटीसं. ४-१६७; पञ्चाध्यायी २-६४५) ।
२६. पंडितो तेयस्सी जुगप्पहाणागमो महुरवको ।
गंभीरो धीमंतो उवएसपरो प्र आयरिधो ॥ (भा.
वि. पृ. ११३ उ.) ।
२७. जिनसे अन्य जीव कर्त्तों का आचरण किया करते

हैं वे आचार्य कहलाते हैं ।

आचार्यपवायोग्य—हृत्वे पाए कन्ने नासा उदंते
विवज्जिया चेव । वामण्य-वडम-खुज्जा पमुल-टुंटा य
काणा य ॥ पञ्चावि हुंति विगला आयरियत्तं न
कप्पए तेसि । सीसो ठावेअव्वो काणममहिंसो व
नन्मि ॥ (भा. वि. उच्चुत्त, पृ. ११३); पंचा-
चारविनिर्मुक्तः क्रूरः परुषभाषणः । कुरुपः सण्डि-
ताङ्गश्च दुष्टदेशसमुद्भवः ॥ हीनजाति-कुलो मानी
निविदाश्चाविशेषवित् । विकल्भनश्च सासुयो बाह्य-
दुष्टिदश्चलेनिग्रयः ॥ जनद्वेष्यः कातरश्च निर्गुणो
निष्कलः क्षलः । इत्यादिदोषभान् साधुनाचार्यपदम-
हति ॥ (भा. वि. पृ. ११३) ।

जो बर्तनाचार आदि पाँच प्रकार के आचार से
रहित हो, क्रूर हो, कठोर भाषण करने वाला हो,
क्रूर हो, विकृत अंग हो, दुष्ट देश में उत्पन्न हुआ
हो, क्षति-कुल से हीम हो, अभिमानी हो, विद्यावि-
हीन हो, विक्षोभक न हो, आत्मप्रशंसक हो, ईर्ष्यान्
हो, बाह्य शरीरादि में दुष्टि रखने वाला हो,
इन्द्रियों की बंधनता से युक्त हो, जगों से द्वेष रखने
वाला हो, कातर हो, गुणहीन हो, कलाधों से क्षुब्ध
हो, और दुष्ट हो; ऐसा साधु आचार्य पदके अयोग्य
होता है ।

आचार्यभक्ति—१. ग्रहंदाचार्येषु बहुभूतेषु प्रवचने च
भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः (आचार्येषु भाववि-
शुद्धियुक्तोऽनुराग आचार्यभक्तिः) । (स. सि. ६,
२४; त. भा. ६, २४, १०) । २. आचार्येषु श्रुत-
ज्ञान-दिव्यनयनेषु परहितकरप्रवृत्तिषु स्व-परसमय-
विस्तरनिश्चयज्ञेषु भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्ति-
स्त्रिधा कल्प्यते । (भा. सा. पृ. २६) । ३. आचा-
र्येषु अनुरागो भक्तिः । (भा. प्रा. टी. ७७) ।
४. आचार्याणाम् अपूर्वोपकरणदान सन्मुखमनं सप्र-
भविधानं पादपूजनं दान-सन्मानादिविधानं मनः-
शुद्धियुक्तोऽनुराग आचार्यभक्तिरुच्यते । (त. कृति
श्रुत. ६-२४) ।

१ आचार्यों में भावविशुद्धियुक्त अनुराग रखने को
आचार्यभक्ति कहते हैं ।

आचार्यवर्णजनन—१. मुक्ताहार-पयोधर-निशाकर-
वासराधीश्वर-कल्पमहीरहादय इव त्रयुपकारानपे-
क्षानुग्रहव्यापृताः, निर्वाणपुरप्रापणसमे मार्गे निर्मले
स्थिताः, परानपि विनतान् विनेवान् प्रत्ययन्तः,

प्रायतातिषवलयज्ञानपृथुलदर्शनपद्मलेखाः, कुलीना विनता विभया विमाना विरागा विधत्या विमोहा वचसि तपसि महसि वा उद्वितीया इव भूषणं सूरय इति सूरिवर्णजननम् ॥ (म. प्रा. विजयो. टी. ४७)।

२. पञ्चषाचारं स्वयमाचरन्ति सिध्दानाचारयन्ति इति प्राचार्याः । प्रत्युपकारनिस्तेषपरोपकाराः, सुर-भूषणवद्भीराः सर्वशास्त्रपारदृक्वानः स्वयं श्रेयस्ये स्थिताः, विनीतविनेयास्तत्र स्थापयन्तः शुद्धदेह-कुल-जातयो विनयसिद्धाः मानसार्थाविषो विगतराग-द्वेष-माहाः शाल्यव्यपेतास्तपसि तेजसि यशसि तरसि वचसि च निरोपय्या इति गुणग्रहणं सूरिणां वर्ण-जननम् । (म. प्रा. मूला. टी. ४७) ।

१ प्राचार्यं मुक्ताहार, मेघ, चन्द्रमा, सूर्यं श्रीर कल्प-वृक्षं जैर्लिक के समान प्रत्युपकार से निरपेक्ष होते हैं; स्वयं मोक्षमार्ग पर चलते हुए वे अन्य विनय शिष्यों की भी उन्नति पर चलाते हैं; सर्व शास्त्रों के पारगामी होते हैं; राग, द्वेष, च मोह से रहित होते हैं; तथा निःशाल्य, निर्भय, एवं निरभिमानी होते हैं; इस प्रकार से प्राचार्यों की प्रशंसा करने को प्राचार्यवर्ण-जनन कहते हैं ।

प्राचीर्ण (प्राचिण्ण)—देखो प्रसिद्ध दोष । १. उज्जु तिहिं सत्तिहि वा घरेहिं जदि प्रागदं दु प्राचिण्णं । (मूला. १-२०) । २. ऋजुवृत्त्या पङ्क्तिस्वरूपेण यानि त्रीणि सप्त गृहाणि वा व्यवस्थितानि तेभ्यस्त्रिभ्यः सप्तभ्यो वा गृहेभ्यो यद्यागतमोदनादिकं प्राचिण्णं ग्रहणयोग्यम्, दोषाभावात् । (मूला. वृ. १-२०) ।

सीधी पंक्ति में स्थित तीन या सात घरों से लाये गये आहार को प्राचीर्ण कहते हैं । ऐसा आहार साधु के लिए प्राह्य होता है ।

प्राचेलक्य (प्राचेलक्यक) — १. वत्याजिण-वक्केण य ग्रहवा पत्ताइणा अस्वरणं । णिम्भुसण णिम्भं प्राचेलककं जगदि पूज्जं ॥ (मूला. १-३०) ।

२. सकलपरिग्रहत्याग प्राचेलक्यम् । (म. प्रा. विजयो. टी. ४२१) । ३. प्राचिखमानं चेलं वत्सं यस्या-सावचेलकस्तद्भावः प्राचेलक्यम् । (जीतक. चू. वि. व्या. पृ. ५३) । ४. चेलाणां वस्त्राणां बहुषण-नवी-नावदात-सुप्रमाणानां सर्वेषां वाऽभावः प्राचेलक्यमित्यर्थः । (समवा. अमथ. वृ. २२, पु. ३६) । ५. वल्क-लाजिनवस्त्राद्यैरंगासंवरणं वरम् । प्राचेलक्यम-

संकारानंगसंगविवर्जितम् ॥ (प्राचा. सा. १-४२) ।

६. नमता नाभ्यमाचेलक्यमित्यर्थः, तदपि प्राचेल-क्यमिह श्रुतोपदेशेनाभ्यसाधारणं परिजीर्णतपमूल्य-खण्डितासर्वतनुप्रावरणत्वं च, तथापि लोके नाभ्य-व्यपदेशप्रवृत्तिदर्शनात् । (पञ्चसं. मलय. वृ. ४-२३, पृ. १६०) । ७. प्राचेलक्य वस्त्रादिपरिग्रहाभावो नमत्वमार्गं वा । (म. प्रा. मूला. टी. ४२१) । ८. न विद्यते चेलं वत्सं यस्य सः प्राचेलकस्तस्य भावः प्राचेलक्यम्, विगतवस्त्रमित्यर्थः । (कल्पसूत्र वृ. १) ।

१ वस्त्र, चमड़ा, बकल खचवा पता आदि में किसी से भी शरीर को प्राच्छादित नहीं करना; इस प्रकार समस्त परिग्रह के परित्याग का नाम प्राचेलक्य है । ६ जीर्ण, अल्प मूल्य वाले और क्षणिक वस्त्र के धारण करने पर भी प्राचेलक्य माना गया है ।

प्राच्छेद्य दोष—१. राया-चोरादीहिं य संजदमि-क्कासमं तु दट्ठणं । वीहेहूण णिजुज्जं प्राच्छिज्जं होदि पादब्बं ॥ (मूला. ६-२४) । २. प्राच्छेज्ज चाच्छिदिय जं सामी मिच्चमाईणं ॥ (पंचासक ६०८) । ३. मृत्यादेराच्छिद्य यदीयते तदाच्छेद्यम् । (प्राचाराङ्ग श्रौ. वृ. २, १, सू. २६६, पृ. ३१७) ।

४. राजामात्यादिभिर्भयमुपदर्शय परकीयं यदीयते तदुच्यते प्राच्छेज्जं । (म. प्रा. विजयो. व मूला. २३०; कार्तिके. टी. ४४६) । ५. प्राच्छेज्जं तिविहं—पट्टप्राच्छेज्जं सामिप्राच्छेज्जं तेणप्राच्छेज्ज । (जीतक. चू. पृ. १५, पं. २०) । ६. प्रभुर्गृहादिना-

यकः, अन्येषां दरिद्रकौटुम्बिकानां बलाद् दातुमनी-प्सितामपि यद् देयं ददाति तत् प्रभु-प्राच्छेद्यम् । स्वामी ग्रामादिनायकः स यदा साधून् दृष्ट्वा कल-हेतेतरया वा कौटुम्बिकेभ्योऽसनाद्युदात्य ददाति तदा स्वाम्याच्छेद्यम् । स्तेनावचौराः ते साध्वेभ्यो बलादाच्छेद्यं यत् पायेयादि साधुभ्यो दद्युस्तत् स्तेन-विषयाच्छेद्यम् । (जीतक. चू. वि. व्या. पृ. ४६) ।

७. नृप-तत्करभीत्यादेर्वैतम्याच्छेद्यमुच्यते । (प्राचा. सा. ५-३४) । ८. यदाच्छिद्य परकीयं दद्यात् शुहीत्वा स्वामी प्रभुश्चौरौ वा ददाति तदाच्छेद्यम् । (योगशा. स्मृ. वि. १-३८, पृ. १३४) । ९. × × × प्राच्छेद्यं देयं राजादिभिर्भीषितैः । (अन. च. ५, १७); यदा हि संयतानां भिक्षाभ्यं दृष्ट्वा याजा

सन्तुल्यो वा चौरादिर्वा कुटुम्बिकान् 'यदि संयताना-
मागतानां भिक्षादानं न करिष्येय तदा युष्माकं इव्य-
मपहुरिष्यामो ग्रामाद्वा निर्वासयिष्यामः' इति भीष-
यित्वा क्षापयति तदा दीयमानमाच्छेद्यनामा दोषः
स्यात् । (अम. अ. टी. ५-१७) । १०. आच्छेद्यं
यत् भृतकादिलभ्यमाच्छेद्य दीयते । (अथ. भा. वृ.
३, पृ. ३५) । ११. यद्वलात् कस्मादपि उद्घात्य
गृही दत्ते तदाच्छेद्यम् । (गु. गु. षट्. स्वी. वृ. २०,
पृ. ४६) । १२. राजभयाच्चौरभयाद्यदीयते तदा-
च्छेद्यम् । (भा. प्रा. टी. ६६) ।

१ संयतो के भिक्षाभय को देख कर राजा, अथवा
अथवा और आदि के द्वारा भयभीत करके जो दान
की योजना की जाती है; यह आच्छेद्य नामका
दोष है ।

आजीव—१. जाई कुल गण कर्मे सिप्पे आजीव-
णा उ पचविहा । सुयाए असूया ए व अप्पाण कहेहि
एवकेके ॥ (पिण्ड. ४३७) । २. आजीवे जाइ-
कुलादिभिन्ने ॥ (जीतक. वृ. पृ. १५, पं. २६) । ३. अ-
तीताद्यर्थसूचक निमित्तं जाति-कुल-गण-कर्म-सिल्पाणां
कथनादिना आजीवनम् । (जीतक. वृ. वि. अ. पृ.
४६, १५-२५) ।

१ जाति, कुल, गण, कर्म और सिल्पके भेद से आजीव
पांच प्रकार का है । अपनी उक्त जाति आदि को
सूचा से—अप्रगट रूप में—अथवा असूचा से—
प्रगट रूप में—कह कर भोजन प्राप्त करना, यह
आजीव नामका उत्पादन दोष है ।

आजीवकुशील—आत्मनो जाति कुलं वा प्रकाश्य
यो भिक्षादिकमुत्पादयति स आजीवकुशीलः । केन-
चिदुपद्रुतः परं शरणं प्रविशति, अनाथशालां वा प्रवि-
श्यात्मनश्चिकित्सां करोति स वाऽऽजीवकुश[शी]लः ।
(अ. भा. विजयो. टी. १६५०) ।

अपनी जाति या कुल को प्रकट करके भिक्षादिक के
उत्पन्न करने वाले साधु को आजीवकुशील कहते
हैं । तथा किसी के द्वारा उपद्रव किये जाने पर
दूसरे की शरण में जाने वाले और अनाथशाला में
जाकर अपनी चिकित्सा करने वाले साधु को भी
आजीवकुश[शी]ल कहते हैं ।

आजीव दोष—देखो आजीव । १. बादी कुलं च
सिप्यं त्वकम्मं ईसरत्त आजीव । तेहि पुण उप्पादो
आजीवदोसो ह्वदि एसो ॥ (मूला. ६-३१) ।

२. आत्मनो जाति कुलं च निदिश्य सिल्पकर्म तपः-
कर्मस्वरत्वं च निदिश्याजीवनं करोति यतोऽतः आ-
जीववचनात्थेतानि, तेभ्यो जातिकथनादिभ्यः पुन-
रुत्पाद आहारस्य योऽयं स आजीवदोषो भवत्येषः,
वीर्यगूहन-दीनतत्वादिदोषदर्शनादिति । (मूला. वृ.
६-३१) ।

जाति, कुल, सिल्प, तप और ऐश्वर्यादि को प्रगट
करके भिक्षा एवं वसति आदि को उत्पन्न करना;
यह आजीव दोष है ।

आजीवदोषबुद्धा वसति—१. आत्मनो जाति कुलं
ऐश्वर्यं वाभिधाय स्वमाहात्म्यप्रकटनेनोत्पादिता
वसतिराजीवशब्देनोच्यते । (अ. भा. विजयो. २३०) ।

२. स्वस्य जाति कुलमैश्वर्यमभिधाय माहात्म्यप्रकाश-
नेनोत्पादिता (वसतिः) आजीवदोषबुद्धा । (अ. भा.
मूला. टी. २३०; कात्तिके. टी. ४४६-५०) ।

अपनी जाति, कुल अथवा ऐश्वर्य के कथन द्वारा
अथवा माहात्म्य प्रगट करके वसति को प्राप्त करना;
यह आजीव नामका वसतिदोष है । ऐसी वसति
आजीवदोष से दूषित कही जाती है ।

आजीवन—देखो आजीव । आजीवनं यदाहार-
शय्यादिकं जात्याद्याजीवनेनोत्पादितम् । (अथ. भा.
मलय. वृ. ३-१६५, पृ. ३५) ।

देखो आजीवदोष और आजीवदोषबुद्धा वसति ।
आजीवना दोष—पिण्डार्थं दातुः सत्कजात्यादि
स्वस्य प्रकाशयतः आजीवनादोषः । (गु. गु. व. स्वी.
वृ. २०, पृ. ४६) ।

देखो आजीवदोष और आजीवदोषबुद्धा वसति ।
आजीव (आजीविका) पिण्ड—१. जात्याद्याजी-
वनादवाप्त आजीविकापिण्ड । (आचारा. शी. वृ.
२, १, २७३, वृ. ३२०) । २. जाति-कुल-गण-कर्म-
सिल्पदिप्रधानेभ्य आत्मनस्तद्गुणत्वारोपणं भिक्षार्थ-
माजीवपिण्डः । (योगसार. स्वी. विव. १-३८; धर्मसं.
मान. स्वी. वृ. ३, २२, पृ. ४१) ।

देखो आजीवदोष ।
आजीवभय—आजीवो वर्तनीपायस्तस्मिन् अन्येनो-
पह्यमाने भयमाजीवभयम् । (सत्तित्ति. वृ. पंजि-
का वृ. ३८) ।

देखो आजीविकाभय ।
आजीविकाभय—१. आजीविकाभयं दुर्जीविका-
भयम् । (आथ. भा. हरि. वृ. १८५, पृ. ४७३) ।

२. भ्राजीविका भ्राजीवनम्, तस्या उच्छेदेन भयभाजीविकाभयम् । (आच. भा. मलय. वृ. १८४, पृ. ५७३) । ३. भ्राजीविका जीवनवृत्तिः, तदुपायचिन्ता-जनितभाजीविकाभयम् । (गु. गु. ब. स्वो. वृ. ६, पृ. २५) ।

२ भ्राजीविका के नष्ट होने से जो भय उत्पन्न होता है उसे भ्राजीविकाभय कहते हैं ।

भ्राजा (भ्राणा) — १. भ्राणा नाम भ्रागमो सिद्धं तो जिववयणमिदि एयट्ठो । एत्थ गाहाओ—सुणिउण-मगाइणिहणं भूदहिदं भूदभावणमणायं । अमिद-मजिदं महत्थं महाणुमावं महाविसयं ॥ उम्माएज्जो-गिरवज्जं जिणाणमायं जयप्पईयाणं । अणिउणजण-दुण्णयं णयमंगपमाणमगहणं ॥ एसा भ्राणा । (अच. पु. १३, पृ. ७०-७१) ; भ्राणा सिद्धं तो भ्रागमो इदि एयट्ठो । (अच. पु. १४, पृ. ३२६) । २. भ्राजाप्यते इत्याज्ञा—हिताहितप्राप्ति-परिहाररूपतया सर्वज्ञो-पदेशः । (आचार. शो. वृ. २, २, ७४, पृ. १०२) । ३. भ्राजा स्यादाप्तवचनम् । (सि. श. पु. ब. २, ३, ४४१) । ४. उत्सर्गने क्रोधादिभयजनिकेच्छाऽऽज्ञा । (शास्त्रवा. टी. ३-३) ।

१ भ्राजा से अभिप्राय भ्रागम, सिद्धान्त अथवा जिन-बाणी का है—ये सब शब्द समानार्थक हैं । २ यह महाप्रभावशालिनी जिन-भ्राजा जगत के जीवों को समार्ग दिखलाने के लिए उत्तम दीपक के समान होकर उनके लिये हित की प्राप्ति और ग्रहित के परिहार में समर्थ है ।

भ्राजाकणिष्ठता (भ्राणाकणिट्ठता) — १. भ्राणा सिद्धं तो भ्रागमो इदि एयट्ठो । तिस्से कणिट्ठदा सग-खेत्ते थोवत्तं भ्राणाकणिट्ठदा णाम । (अच. पु. १४, पृ. ३२६) ।

भ्राजा से भ्रागम अभिप्रेत है । उस भ्रागम की कनिष्ठता—हीनता या शून्य की अल्पता—का नाम भ्रागमकनिष्ठता है । यह आहार शरीर की उत्पत्ति में कारण होती है ।

भ्राजापनी (भ्राणवणी) — १. भ्राणवणी णाम जो जस्स भ्राणत्तियं देइ सा भ्राणवणी भवति । जहा गच्छ पच पठ कुरु भुङ्ख एवमादि । (संक्षेप. वृ. ७, पृ. २३६) । २. स्वाध्यायं कुस्त, विरमतासय-माइ इत्यादिकानुशासनवाणी भ्राणवणी । (अ. भा. विजयो. टी. ११६५) । ३. भ्राजाप्यतेऽन्येत्याज्ञापना

[नी], भ्राजां तवाहं वदामीत्येवमादिवचनभाज्ञापनी भाषा । (मूला. वृ. ५-११८) । ४. 'इदं कुरु' इत्यादिका भ्राजापनी । (अ. भा. मूला. टी. ११६५) । ५. भ्राजापनं प्रमुत्वेनाऽऽदेशो यः स्वोक्तकारिणा । तत्किंचिदाशु कर्तव्यं यन्मयादिष्यते तव ॥ (आचा-सा. ५-८६) । ६. भ्राजापनी कार्यनियोजनभाषा । यथा इदं कुर्याः इत्यादिः । (गो. जी. म. प्र. टी. २२५) । ७. इदं कुरु इत्यादिकार्यनियोजनभाषा भ्राजापनी । (गो. जी. जी. प्र. २२५) । ८. भ्राजा-पनी कार्य परस्य यथेवं कुर्वति । (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३-४१, पृ. १२३) । ९. भ्राणावयवेण जुभा भ्राणवणी पुव्वमणिप्र भासाओ । करणाकरणाणियमा दुट्ठविवक्काइ सा मिण्णा ॥ (आचार. ७३) ।

२ स्वाध्याय करो व असंयम से चिरत होवो इत्यादि अनुशासनात्मक भाषा को भ्राजापनी भाषा कहते हैं ।

भ्राजाश्चि (भ्राणाश्चई) — १. रागो दोसो मोहो अन्नाणं जस्स भवगयं होइ । भ्राणाए रोयंतो सो खलु भ्राणाश्चई नाम ॥ (उत्तरा. २८-२०; अच. सारो. ६५३) । २. भगवदहंत्पणीताज्ञामात्रनिमित्त-श्रद्धाना भ्राजाश्चयः । (स. बा. ३, ३६, २) । ३. सर्वज्ञाननिमित्तेन वद्वद्रव्यादिषु या शचि । साऽऽज्ञा × × × ॥ (म. पु. ७४-४४१) । ४. राग-द्वेष-रहितस्य पुंसः भ्राजयैव धर्मानुष्ठानगता चिह्नराज्ञा-श्चिः । (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. २, २२, पृ. ३७) । ५. भ्राजा सर्वज्ञवचनात्मिका, तया शचिर्यस्य सः । (उत्तरा. नि. वृ. २८-१६) । ६. जिणघ्राणं मन्तनो जीवो भ्राणाश्चई मुणेश्वरो । (गु. गु. ब. स्वो. वृ. १४, पृ. ३६) ।

२ भगवत् ग्रहंत्सर्वज्ञप्रणीत भ्रागम मात्र के निमित्त से होने वाले श्रद्धान और श्रद्धान् जीवों को भी भ्राजा-श्चि कहा जाता है ।

भ्राजाविचय — १. पंचत्विक्काय-छज्जीवणिकाये कालदक्खमण्णे य । भ्राणानेज्जे भावे भ्राणाविचयेण विचिणादि ॥ (मूला. ५-२०२; अ. भा. १७११; अच. पु. १३, पृ. ७१ उक्.) । २. उपदेष्टुरभावात्म-न्दबुद्धित्वात् कर्मोदयात् सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतु-वृष्टान्तोपरमे सति सर्वज्ञप्रणीतमागमं प्रमाणीकृत्य 'इत्यमेवेदं नाम्यावावादिनो जिनाः' इति गहनपदार्थ-श्रद्धानादर्थविधारणमाज्ञाविचयः । (स. सि. ६-३६; स. बा. ६, ३६, ४; अ. भा. मूला. टी. १७०८;

त. वृत्ति भुत. ६-३६); अथवा—स्वयं विदित-
पदार्थतत्त्वस्य सतः परं प्रति पिपादयिषो स्वसिद्धान्ता-
विरोधेन तत्त्वसमर्थनार्थं तर्क-नय-प्रमाणप्रयोजन-
परः स्मृतिसमन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादा-
ज्ञाविचयः इत्युच्यते । (स. सि. ६-३६; भ. भा.
बूला. टी. १७०८; त. वृत्ति भुत. ६-३६) ।
३. भ्राज्ञाप्रकाशनार्थं वा । अथवा सम्यग्दर्शनविशुद्ध-
परिणामस्य विदितस्व-परसमयपदार्थनिर्णयस्य सर्वज्ञ-
प्रणीतानाहितसोक्ष्मज्ञानस्तिकायादीनर्थानवधारय 'एव-
मेत' इत्यन्य पिपादयितः कथामार्गे श्रुतज्ञानसाम-
र्थ्यात् स्वसिद्धान्ताविरोधेन हेतु-नय-प्रमाणविमर्द-
कर्मणा ग्रहणसहिष्णुत्वं कृत्वा प्रभाषयतः तत्त्वसम-
र्थनार्थस्तर्क-नय-प्रमाणप्रयोजनपरः स्मृतिसमन्वाहारः
सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यते । (स.
भा. ६, ३६, ५) । ४. भ्राणाविजयं णाम—तत्त्व
भ्राणा णाम भ्राणेनि वा सुतं ति वा वीनरागादेसो
वा एगट्ठा । विजयो णाम मग्गणा । वहु ? जहा जे
सुहुमा भावा भ्राणियगिज्जा भवज्जा चक्खुविसया-
तीया केवलनाणीपच्चकत्ता ते धीयरागवयण ति
काळण सट्ठह । भणित च—पचल्यिकाए भ्राणाए
जीवे भ्राणाए छल्लिहे । सट्ठहे जिणपणत्ते चम्मज्जा-
णं भ्रिययाइ ॥ तहा—तमेव सच्चं नीसकं जं
जिणेहि पवेदित । भणितं च—वीयरागो हि सञ्चण्णु
मिच्छं णेव उ भासइ । जम्हा तम्हा वई तस्स तच्चा
भूतत्वदरसिणी ॥ एवं भ्राणाविजयं । (दशवे. बू.
१, पृ. ३२) । ५. भ्रातवचनं प्रवचनं चाज्ञाविचय-
स्तदर्थनिर्णयनम् । (प्रज्ञमर. २४८) । ६. एदीए
भ्राणाए पच्चकत्ताणुमाणादिपमाणामगोयरत्थाण जं
क्काणं सो भ्राणाविचयो णाम उक्काण । (बब. पु. १३,
पृ. ७१) । ७. तत्त्व य मद्दोव्वलेणं तव्विहाइरिय-
चिरहंमो वा वि । णेयगहणत्तणेण य णाणावरणो-
दणं च ॥ हेज्जाहरणासंभवे य सइ सुट्ठं जं न
बुज्जेज्जा । सञ्चण्णुमयमवितह त्तावि तं चितए
मद्दमं ॥ अणुवकयपराणुगहपरायणा जं जिणा
जणप्पवरा । जियराग-वोस-मोहा य जण्णहावादिषो
तेणं । (ध्याना. ४७-४८ [आव. हरि. बू. पृ.
५६७]; बब. पु. १३, पृ. ७१ पर कुळ पाठमेवो के
साच उव्वुत्त) । ८. जैनीं प्रमाणयन्तासां योगी योग-
विदावरः । ध्यायेव धर्मास्तिकायादीन् भावान्

सुकमान् यथागमम् ॥ भ्राज्ञाविचय एष स्वात् × ×
× ॥ (ब. पु. २१, १४-१५) । ९. भतीन्द्रियेषु भावेषु
बन्ध-मोक्षादिवु स्फुटम् । जिनाज्ञानविचयध्यानमाज्ञा-
विचयमीरितम् ॥ (ह. पु. ५६-५८) । १०. कर्माणि
भूलोत्तरप्रकृतीनि, तेषां चतुर्विधो बन्धपर्यायः, उदय-
फलविह्वलो जीवद्रव्य मुख्यवस्येत्येवमादीनामती-
न्द्रियत्वात् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षाभावाद्
बुद्धघटितस्येति दुरवबोधं यदि नाम वस्तुतत्त्वं
तथापि सर्वज्ञज्ञानप्रामाण्यादागमविषयतत्त्वं तथैव,
नान्यथेति निश्चयः सम्यग्दर्शनस्वभावत्वामोक्षहेतु-
रित्याज्ञाविचारनिश्चयज्ञानमाज्ञाविचयाख्यं धर्मध्या-
नम् । अन्ये तु वदन्ति स्वयमधिगतपदार्थतत्त्वस्य परं
प्रतिपादयितुं सिद्धान्तनिरूपितार्थप्रतिपत्तिहेतुभूतपु-
क्षितगवेषणावहितचित्ता सर्वज्ञज्ञानप्रकाशनपरा भवया
युक्त्या इय सर्वविदामाज्ञाबोधयितुं शक्येति प्रवर्त-
मानत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यत इति । (भ. भा. विष्-
यो टी. १७०८) । ११. तत्राज्ञा सर्वज्ञप्रणीतागमः ।
तामाज्ञामित्थं विचिनुयात् पर्यालोचयेत् । × × ×
तत्र प्रज्ञायाः परिदुर्बलत्वाद्युपयुक्तोऽपि सूक्ष्मया शे-
मुष्या यदि नावैति भूतमर्थं सावरणज्ञानत्वात् ।
× × × तथाऽप्येवं विचिन्वतोऽवितयवादिनः क्षीण-
रागद्वेषमोहाः सर्वज्ञाः नान्यथाव्यवस्थापितमन्यथा-
वयन्ति भाषन्ते वा अनुत्कारणाभावात् । अतः सत्य-
मिदं शासनमित्याज्ञायां स्मृतिसमन्वाहारः । (स. भा.
सिद्ध. बू. ६-३७) । १२. प्रमाणीकृत्य सार्वज्ञीमा-
ज्ञामर्थविधारणम् । गहनानां पदार्थानामाज्ञाविचय
उच्यते ॥ (स. सा. ७-४०) । १३. आ अभिवि-
धिना ज्ञायन्तेऽर्था यथा साज्ञा प्रवचनम्, सा विचीयते
निर्णीयते पर्यालोच्यते वा यस्मिन्तदाज्ञाविचय धर्म-
ध्यानमिति, प्राकृतत्वेन विजयमिति; भ्राज्ञया विजी-
यते अधिगमद्वारेण परिचिता क्रियते यस्मिन्तियाज्ञा-
विजयम् । (स्थाना. अथय. बू. ४, १, २४७) ।
१४. भ्राज्ञाविचयमतीन्द्रियज्ञानविषयं विज्ञातुं चतुर्षु
ज्ञानेषु बुद्धिसत्त्वभावात् परलोक-बन्ध-मोक्ष-लोका-
लोकसवसद्विकुट्टिप्रभाव-धर्माधर्म-कालद्रव्यादिपदा-
र्थेषु सर्वज्ञप्रामाण्यात्सत्प्रणीतागमकथितमविततं नान्य-
थेति सम्यग्दर्शनस्वभावत्वानिश्चयचिन्तनं नवमं
धर्मम् । (आ. सा. पृ. ६०) । १५. वस्तुतत्त्वं स्व-
सिद्धान्तप्रसिद्धं यत्र चिन्तयेत् । सर्वज्ञाभिद्योगेन

तदाज्ञाविचयो मत्तः ॥ (ज्ञानार्थ ३३-६) ।
 १६. स्वयं मन्दबुद्धित्वेऽपि विशिष्टोपाध्याया-
 भावेऽपि शृङ्खलीवादिपदार्थानां सूक्ष्मत्वेऽपि सति
 'सूक्ष्मं जिनोदितं वाक्यं हेतुभिर्यत्नं गम्यते ।'
 प्राज्ञासिद्धं तु तद् द्राष्टुं नान्यथावादिनो जिनाः ॥'
 इति श्लोककथितक्रमेण पदार्थनिश्चयकरणमाज्ञा-
 विचयध्यानं भव्यते । (बु. प्रव्यसं. ४८, पृ. १७७;
 कात्तिके. टी. ४८२, पृ. ३६७) । १७. प्राज्ञा जिन-
 प्रवचनम्, तस्या विचयो निर्णयो यत्र तदाज्ञाविच-
 यम् । प्राकृतत्वादायाविजयं प्राज्ञागुणानुचिन्तनमि-
 त्यर्थः । (शोषपा. अथय. बृ. २०, पृ. ४४) । १८.
 विज्ञातु न तु शक्यमावृत्तियुताऽप्यक्षानुमानादिना-
 त्यक्षानन्तविवर्तवत्सकलं बस्त्यस्तदोपाहृताम् ।
 प्राज्ञावाग्विचयस्तयोक्तमनृतं नैवेति तद्वस्तुनश्चिन्ता-
 ऽऽज्ञाविचयो विदुर्नयचयः सजानपुण्योदयः ॥ (प्राज्ञा.
 सा. १०-२६) । १९. एते पदार्थाः सर्वज्ञनाथेन
 बीतरायेण प्रत्यक्षेण दृष्टा न कदाचिद् व्यभिचरन्ती-
 त्यास्तिक्यबुद्ध्या तेषां पृथक् पृथग्विवेचनेनाऽऽज्ञा-
 विचयः । यद्यप्यात्मनः प्रत्यक्षबलेन हेतुबलेन वा न
 स्पृष्टा तथापि सर्वज्ञज्ञानिर्देशेन गृह्णाति, 'नान्यथा-
 वादिनो जिनाः' यत इति । (मूला बृ. ५-२०२) ।
 २०. प्राज्ञां यत्र पुरस्कृत्य सर्वज्ञानामवाधिताम् ।
 तत्त्वतश्चिन्तयेदर्थान् तदाज्ञाध्यानमुच्यते । (योगज्ञा-
 १०-८; गु. घट. स्तो. बृ. २, पृ. १०; गुण. कभा.
 २८) । २१. इमामाज्ञा समालम्ब्य स्याद्वादव्याय-
 योगतः । द्रव्य-पर्यायरूपेण नित्यानित्येषु वस्तुषु ॥
 स्वरूप-पररूपाभ्यां सदद्भूतशालिषु । यः स्थिरप्रत्ययो
 ध्यानं तदाज्ञाविचयाद्भूयम् ॥ (त्रि. श. पु. च. २,
 २, ४४८-४६) । २२. छद्मं नवपयत्या सत्त वि
 तच्छाहं जिणवराणां । चित्तं विषयविरतो प्राणा-
 विचयं तु त भणिय ॥ (भाषसं. डे. ३६७) । २३.
 सर्वज्ञाज्ञयाऽप्यन्तपरोक्षार्थविधारणार्थमित्येव सर्व-
 ज्ञाज्ञासम्प्रदाय इति विचारणमाज्ञाविचयः । (त.
 सुखको. ६-३६) । २४. प्राज्ञाया निर्धारः सम्यग्-
 खनम्, प्राज्ञाया अनन्त[न्त]त्वपूर्वपरिवारिषो-
 द्वादिवस्वरूपे चमत्कारपूर्वकचित्तविश्रामः प्राज्ञा-
 विचय धर्म्यध्यानम् । (ज्ञा. सा. डे. बृ. ६-४, पृ.
 २३) । २५. सत्तका द्विविधो नयः शिवपदस्त्रेधा
 चतुर्धा गतिः, कायाः पञ्च बहङ्गिनां च निचयाः
 सा सप्तभङ्गीति च । भट्टो सिद्धयुगा पदार्थनवकं

धर्मं दशाङ्गं जिनः, प्राहृकावश देशसंयतदशाः सद्-
 द्वादशाङ्गं तपः ॥ सम्यक्प्रेक्षा चक्षुषा बीजमाणः,
 यद् यादृशं सर्ववेद्याचक्षुः । तत्तादृशं चिन्तयन् वस्तु
 यायादाज्ञाधर्म्यध्यानमुद्रां मुनीन्द्रः ॥ (प्राश्नप्र. ८६,
 ६०) । २६. धर्म्यमपि ज्ञान-दर्शन-वारिश्च-वैराग्य-
 भावनाभिः कृताभ्यासस्य नयादिभिरतिगहनं न बुध्यते
 तुच्छमतिना, परं सर्वज्ञमतं सत्यमेवेति चिन्तनं प्राज्ञा-
 विचयः । (धर्मसं. भाव. स्तो. बृ. ३-२७, पृ. ८०) ।
 २७. स्वसिद्धान्तोक्तमार्गेण तत्त्वानां चिन्तनं यथा ।
 प्राज्ञया जिननाथस्य तदाज्ञाविचयं मत्तम् ॥ (भाषसं.
 काव. ६३७) । २८. प्राज्ञाविचयसंज्ञं स्यात् श्रुतार्थ-
 विचिन्तनात्मकम् । (लोकप्र. ३०-४५७) ।

१ जीवादि पांच अस्तिकाय, बुध्दिकीकायिक आदि
 छह जीविकाय और कालद्रव्य; ये जो जिनाज्ञा के
 अनुसार ग्रहण योग्य पदार्थ हैं उनका उसी प्रकार
 से—जिनागम के अनुसार—विचार करना, यह
 प्राज्ञाविचय धर्मध्यान है ।

प्राज्ञाव्यवहार— १. प्राणावबहारे—गीयावरिया
 आसेवियसत्त्वस्या खीजघाबला दो वि जणा पणिट्ट-
 देसतरनिवासिणो अन्नोन्नसमीबमसमत्या गन्तु जया,
 तथा मद्धारणाकुसलं अग्रीयस्यवीस गृहत्वेहि अद्-
 यारपयासेवणेहि पेसेइ ति । (जीतक. बृ. पृ. २,
 पं. ३२) । २. देसतरदिप्राण गृहपयालोप्राणा प्राणा ।
 (गु. घट. स्तो. बृ. ३, पृ. १३) । ३. तथा प्राज्ञायत
 आदिदमत इत्याज्ञा । तद्गुव्यवहारस्तु केनापि
 शिष्येण निजातिचारालोचकेन प्रालोचनाचायः
 सन्निहितोऽप्याप्तः, दूरे त्वसी तिष्ठति । ततः केन-
 चित्कारणेन स्वयं तावत् तत्र गन्तुं न शक्नोति ।
 अगोतार्थस्तु कश्चित्तत्र गन्ता विद्यते । तस्य हस्ते
 प्रागमभाषया गृहानि अषराधपदानि लिखित्वा यथा
 शिष्यं प्रस्थापयति; गुरुरपि तथैव गृहपदेः प्रायश्चित्तं
 लिखित्वा प्रेषयति तदासी प्राज्ञालक्षणस्तृतीयो व्यव-
 हारः । (जीतक. बृ. वि. व्या. पृ. ३३) ।

३ देशान्तर-स्थित गृह को अपने शोर्वां की प्रालो-
 चना कर लेने के लिए किसी अगोतार्थ के द्वारा
 प्रागमभाषा में पत्र लिखकर भेजने तथा गृह के
 द्वारा जो उसी प्रकार गृह पदों में ही प्रायश्चित्त
 लिखकर भेजने की प्राज्ञाव्यवहार प्रायश्चित्त
 कहते हैं ।

प्राज्ञाव्यापादिकी क्रिया—१. यथोक्तामाज्ञावाक्य-

कादिषु चारित्रमोहोदयात् कर्तुं भगवन्नुक्तोऽप्यथा प्ररूपणादाज्ञाव्यापारिकी क्रिया । (स. सि. ६-५; त. बा. ६, ५, १०) । २. यथोक्ताज्ञान-सक्तस्य कर्तुं भावश्चकादिषु । प्ररूपणाज्यथा मोहा-दाज्ञाव्यापारिकी क्रिया ॥ (ह. पु. ५८-७७) । ३. भावश्चकादिषु स्यातामहंदाज्ञानमुपासितुम् । भगवत्तस्यान्यथास्यानादाज्ञाव्यादिकी क्रिया ॥ (त. श्लो. ६, ५, २०) । ४. जितेन्द्राज्ञां स्वयमनुष्ठातु-भसमर्थस्यान्यथार्थसमर्थनेन तद्व्यापादनमाज्ञाव्या-पादनक्रिया । (त. सुखबो. ६-५) । ५. चारित्र-मोहोदयात् जिनोक्तावश्यकादिविधानासमर्थस्य अन्य-थाकथनमाज्ञाव्यापादनक्रिया । (त. कुलि भुत. ६-५) ।

१ चारित्रमोह के उदय से जिनोक्त भावश्चकादि क्रियाओं के पालन करने में स्वयं असमर्थ होने के कारण जिनाज्ञा से विपरीत कथन करने को आज्ञा-व्यापारिकी क्रिया कहते हैं ।

प्राज्ञासम्यक्त्व — देखो प्राज्ञार्थि । १. प्राज्ञासम्यक्त्वमुक्त यदुत विरचितं वीतरागाज्यैव त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपवं ब्रह्मन्मोहशान्तेः । (आत्मानु. १२) । २. भगवदहंत्वसर्वज्ञप्रणीतागमानु-ज्ञासंज्ञा प्राज्ञा । (उपासका. पु. ११४) । ४. देवो-ऽहंनेव तस्यैव वचस्तथ्यं शिवप्रदः । धर्मस्तदुक्त एवेति निर्बन्धः साधयेद् दृशम् । (अन. व. २-६३) । ५. प्राप्तागम-यतीशानां तत्त्वानामल्पबुद्धितः । जिनाज्ञयैव विश्वासो भवत्याज्ञा हि सा परा ॥ (भावसं. भाग. ३२७) । ६. तत्राज्ञा जिनोक्ता-गमानुज्ञा । (अन. व. श्लो. टी. २-६२) । ७. जिनसर्वज्ञवीतरागवचनमेव प्रमाणं क्रियते तदाज्ञा-सम्यक्त्वं कथ्यते ॥ (व. प्रा. टी. १२) ।

देखो प्राज्ञार्थि ।

आढक—१. चतुःप्रत्यमाढकम् । (त. बा. ३, ३८, ३, पु. २०६) । २. प्रत्येकचतुभिरेकः स्यादाढकः प्रथितो जने । (लोकप्र. २८-२७४) ।

१ बार प्रश्न (एक प्राचीन मापविशेष) प्रमाण माप को आढक कहते हैं ।

आतङ्क—आतङ्कः सद्योधाती रोगः । (पञ्चसू. टी. पु. १५) ।

शीघ्र प्राणघातक रोग को आतङ्क कहते हैं ।

आतङ्कसम्प्रयोगसम्प्रयुक्त — आर्यकसंप्रयोगसंप-

उक्तो तस्स विषययोगाभिकंक्षी सतिसमन्नागते । तस्य आतंको नाम आसुकारी, तं जरो अतिसारो सू(सा) स सज्जहूओ एवमादि । आतंकगहणेण रोमोधि सुइओ चेव । सो य दीहकालिओ भवइ । तं गंढी अदुवा कोढी एवमादि । तस्य वेदणानिमित्तं आर्यकरोगेसु पदोसमावण्णो आरुग्गभिकंक्षी राग-दो-सवसगघो णेहाणुमघो निवसंतो असुभकम्मरयमलं उवचिणोति । अट्टज्झाणस्स तइओ भेदो गघो । (वस-वै. बू. १, पु. ३०) ।

आसुधास्ती रोग का नाम आतंक है । ऐसे स्वर व अतिसार आदि रोग के उपस्थित होने पर उसके विनाश का बार-बार स्मरण करना, यह तृतीय (आतंकसंप्रयोगसंप्रयुक्त) आतंस्थान है ।

आतप—१. आदित्यादिनिमित्त उष्णप्रकाशालक्षणः । त. सि. ५-२४; त. श्लो. ५-२४) । २. आतप उष्णप्रकाशालक्षणः । आतपः आदित्यनिमित्तः उष्ण-प्रकाशालक्षणः पुद्गलपरिणामः । (त. बा. ५, २४, १८) । ३. को आदको नाम ? सोष्णः प्रकाशः आतपः । (वच. पु. ६, पु. ६०) । ४. आतपोऽपि पुद्गलपरिणामः, तापकत्वात् स्वेदहेतुत्वात् उष्ण-त्वात् अभिवत् । (त. बा. सिद्ध. बू. ५-२४, पु. ३६३) । ५. आ समन्तात् तपति सन्तापयति जग-दिति आतपः । (उत्तरा. नि. शा. बू. १-५७, पु. ३८) । ६. उष्णप्रकाशालक्षणः सूर्यबहिःप्रभृतिनिमि-तमातपः । (त. कुलि भुत. ५-२४) ।

१ सूर्य आदि के निमित्त से जो उष्ण प्रकाश होता है उसे आतप कहते हैं ।

आतपनाम—१. यदुदयान्तिवृत्तमातपनं तदा-तपनाम । तदादित्ये वर्तते । (स. सि. ८-११; त. बा. ८, ११, १५) । २. आतपति येन, आतपनम्, आतपतीतं आतपः । तस्य निर्वर्तकं कर्म आतपनाम, तदादित्ये वर्तते । (त. बा. ८, ११, १५; त. श्लो. ८-११) । ३. आतपसामर्थ्यजनकमातपनाम । (स. भा. ८-१२) । ४. आतपनाम यदुदयादातपान् भवति । (आ. प्र. टी. २२; आच. नि. हरि. बू. १२२) । ५. सूर्यविमानरत्नपृथिवीजीवजनितादाहो यस्तादात-पनाम । (पंचसं. श्लो. बू. ३-१२७, पु. ३८) । ६. आतपनामातपः । जस्त कम्मस्स उदएण जीव-सरीरे आदधो होज्ज तस्स कम्मस्स आदधो ति सण्णा । (वच. पु. ६, पु. ६०) । ७. आतपतीत्या-

तपः, आतप्यते वाऽनेनेति आतपः । तस्यातपस्य सामर्थ्यं शक्तिरतिशयो येन कर्मणोदितेन जन्यते तदातपनाम । आहो मयादावचनत्वात् । (त. भा. सिद्ध. बृ. ८-१२) । ८. जस्तुदएण जीवे होइ सरीरं तु साविस् इत्थ । सो आयेवे विवागो जह रविबिबे ठहा जाण ॥ (कर्मचि. वर्य. गा. १२५, पृ. ५१) ।

९. यदुदयाज्जीवस्तापवच्छरीरो भवति तदातपनाम । (समवा. अमय. बृ. ४२, पृ. ६७) । १०. यस्य कर्मण उदयाज्जीवस्य शरीरं तापवदुष्णप्रकाशकारि भवति स आतपस्य विपाकः । (कर्मचि. वर्य. भा. १२५, पृ. ५२) । ११. यदुदयाज्जन्तुशरीराणि स्वरूपेणानुष्णान्यपि उष्णप्रकाशलक्षणमातप कुर्वन्ति तदातपनाम । (कर्मस्त. गो. बृ. ६-१०, पृ. ८८; शाक. मल. हेम. बृ. ३७-३८, पृ. ५१; प्रच. सारो. बृ. १२६४; कर्मचि. वे. स्त्रो. बृ. ४४; कर्मप्र. पयो. टी. १, पृ. ६) । १२. यदुदयवशाज्जन्तुशरीराणि भानुमण्डलगतपृथिवीकायिकरूपाणि स्वरूपेणानुष्णान्यपि उष्णप्रकाशलक्षणमातप कुर्वन्ति तदातपनाम । (षष्ठ कर्म. मलय. बृ. ६, पृ. १२६; प्रज्ञाप. २३-२६३, पृ. ७७३; पंचसं. मलय. बृ. ३-७; कर्मप्र. टी. १, पृ. ६) । १३. आतपनाम यदुदयाज्जन्तुशरीर स्वयमनुष्ण सत् आतपं करोति । (धर्मसं. मलय. बृ. ६१६) । १४. यदुदयादातपनं निष्पद्यते तदातपनाम । (अ. भा. मूला. टी. २०६५) । १५. यदुदयेन आदित्यवदातापो भवति तदातपनाम । (त. भूति धृत. ८-११) ।

२ जिस कर्म के उदय से शरीर में आतप हो अथवा जो आतप का निर्बर्तक हो उसे आतपनामकर्म कहते हैं ।

आताप—देखो आतप । १. मूलोष्णवती प्रभा तेजः, सर्वाङ्गव्याप्युष्णवती प्रभा आतापः, उष्ण-रहिता प्रमोद्योतः इति तिष्ठन्नेदोर्लभादौ । (ध्व. पु. ८, पृ. २००) ।

सर्वाङ्गव्यापिनी उष्णतायुक्त प्रभा को आताप कहा जाता है ।

आतापनाम—देखो आतपनाम । १. जस्तु कम्म-स्तुदएण सरीरे आदावो होदि तं आदावणाम । सोष्णप्रभा आतापः । (ध्व. पु. १३, पृ. ३६५) ।

२. यस्य कर्मस्त्वस्योदयेन जीवशरीर आतपो भवति तदातपनाम । (मूला. बृ. १२-१६२) ।

देखो आतपनाम ।

आत्मकैवल्य—कर्मणोऽपि वैकल्यामात्मकैवल्यम-स्त्येव । (अष्टशती ४) ।

कर्म की जो विकलता को आत्मकैवल्य कहा जाता है ।

आत्मज्ञप्ति—नन्वहमृत्योत्पत्तिरात्मज्ञप्तिरिति गच्छते । (त. वलो. १-२०२, पृ. ४१) ।

‘मैं हूँ’ इस प्रकार की प्रतीति के उत्पन्न होने को आत्मज्ञप्ति कहते हैं ।

आत्मज्ञान—आत्मज्ञान वादादिध्यापारकाले किममु प्रतिवादिन जेतु मम शक्तिरस्ति न वा इत्यालांचनम् । (उत्तरा. नि. भा. बृ. १-५८, पृ. ३६) ।

क्या इस प्रतिवादी को जीतने की मेरी शक्ति है या नहीं, इस प्रकार (शास्त्रार्थ) आदि ध्यापार के समय विचार करना; इसका नाम आत्मज्ञान है ।

यह चार प्रकार की प्रयोगसम्पत्ति का प्रथम भेद है । **आत्मतत्त्व**—१. अविक्षिप्त मनस्तत्त्व विक्षिप्त भ्रान्तिरात्मनः । (समाधि. ३६) । २. अविक्षिप्त रागाद्यपरिणत देहादिनाऽऽत्मनोऽभेदाध्यवसायपरि-

हारेण स्वस्वरूप एव निश्चलतां गतम्, इत्थंभूतं मनस्तत्त्व वास्तवं रूपमात्मनः । (समाधि. टी. ३६) ।

मन की विशेष-रहित अवस्था का नाम ही आत्मतत्त्व—आत्मा का स्वरूप है ।

आत्मदमन—१. आत्मनो दमनम् आहारे मुखे च योऽनुरागस्तस्य प्रशमनात् । (अ. भा. विजयो. टी. २४०) । २. आत्मनो दमनमाहारे मुखे वानुराग-प्रशमनादुपलब्धनम् । (अ. भा. मूला. टी. २४०) ।

आहार और इन्द्रियसुख में अनुराग को शान्त करके जो अभिमान को नष्ट किया जाता है उसे आत्मदमन कहते हैं ।

आत्मभावना—मोहारातिमते. शुद्धः शुद्धाच्छुद्ध-तरस्ततः । जीव. शुद्धतमः कश्चिदस्तीत्यात्मप्रभा-वना ॥ (साटीसं. ४-३१८; पंचाध्यायी २-८१३) । मोहकर्म का उत्तरोत्तर विनाश करते हुए आत्मा को शुद्ध से शुद्धतर और शुद्धतर से शुद्धतम बनाने को आत्मप्रभावना कहते हैं ।

आत्मप्रवाद—१. यथात्मनोऽस्तित्व-नास्तित्व-नित्यत्वानित्यत्व-कर्तृत्व-भोग्यत्वादयो धर्माः पद्-जीवनिकायभेदाश्च युक्तितो निदिष्टाः तदात्मप्रवा-दम् । (त. बा. १, २०, १२, पृ. ७६) । २. आत्म-

प्रवादपूर्व यथात्मनः ससारि-मुक्ताद्यनेकभेदभित्तस्य प्रवदनम् । (ब्रह्मसं. नि. हृदि. बृ. १-१६) । ३. प्राद-पवादं सोलसण्णं वत्पुणं १६ वीसुत्तर-तिसवपाहुकाणं ३२० छब्बीसकोटिपदेहि २६००००००० प्रावं वण्णेदि वेदोत्ति वा विण्णु त्ति वा भोत्ते त्ति वा इच्चा-दिसरूवेण । (बब. पु. १, पु. ११८); यथात्मनो-ऽस्तित्व-नास्तित्वावयो धर्माः षड्जीवनिकायभेदाश्च युक्तितो निदिष्टास्तदात्मप्रवादम् । (बब. पु. ६, पु. २१६) । ४. प्रादपवादो णाणाविहुदुण्णए जीव-विसए णिराकरिय जीवसिद्धि कुणइ । अत्थि जीवो तिलक्खणो सरीरमेत्तो स-परप्पयासभो सुहुमो अमुत्तो भोत्ता कत्ता अणाइवंधणबद्धो णाण-दसणलक्खणो उद्धगमणसहावो एवमाइसरूवेण जीवं साहेदि त्ति वुत्तं होदि । सम्बदव्वाणमावं सरूव वण्णेदि प्रादपवादो त्ति के वि प्रायरिया भणंति । (जय्य. १, पु. १४२) । ५. आत्मप्रवादं सप्पमम्—प्राय त्ति आत्मा, सोऽनेकवा यथ नयदर्शनेवण्यंते तदात्मप्रवा-दम् । (समवा. अमय. बृ. १४७, पु. १२१) ।

६. षड्विंशतिकोटिपदं जीवस्य ज्ञान-सुखादिमयस्व-कर्तृत्वादियमप्रतिपादकमात्मप्रवादम् । (भुत्तभक्ति टी. ११, पु. १७५; त. वृत्ति भुत्त. १-२०) । ७. अणुपवाद भणिय अणुपसरूवप्पकूय पुक्वं । छब्बीसकोटिपयगयमेव जाणंति सुपयत्था ॥ (अण-पण्णत्ती २-८५, पु. २६४) ।

१ आत्मा के अस्तित्व-नास्तित्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, और कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि धर्म एवं ऊह जीवनि-कायोंके प्रतिपादन करने वाले पूर्व को आत्मप्रवाद कहते हैं ।

आत्मप्रशंसा—स्वस्य भूताभूतगुणस्तुतिरात्मप्रशंसा । (नि. सा. बृ. ६२) ।

अपने विद्यमान या अविद्यमान गुणोंकी स्तुति करने को आत्मप्रशंसा कहते हैं ।

आत्मभूत (लक्षण) — १. तत्र आत्मभूतमग्नेरी-ण्यम् । (त. वा. २, ८, ३) । २. यद्वस्तुस्वरूपानु-प्रविष्टं तदात्मभूतम् । यथाग्नेरीण्यम् । (न्या. बी. पु. ६) ।

जो लक्षण अग्नि की उष्णता के समान वस्तु के स्वरूप में प्रविष्ट—तन्मय—हो उसे आत्मभूत लक्षण कहते हैं ।

आत्मभूत (हेतु)—तत्र आत्मना सम्बन्धमापन्न-

विशिष्टनामकर्मोपात्तपरिच्छिन्नस्थान-परिमाणनिर्मा-णश्चक्षुरादिकरणग्राम आत्मभूतः [बाह्यो हेतुः] । × × × तन्निमित्तो (द्रव्योगनिमित्तो) भावयोगो बीरान्तराय-ज्ञान-दर्शनावरणक्षय-क्षयोपशमनिमित्त आत्मनः प्रसादरचात्मभूतः [आभ्यन्तरः] इत्याख्या-मर्हति । (त. वा. २, ८, १) ।

आत्मा से सम्बद्ध विशिष्ट नामकर्म के निमित्त से स्थान व परिमाण निर्माण के अनुसार जो वस्तु आदि इन्द्रियों का समूह उत्पन्न होता है वह चेतन्यानुविधायी उपयोग का बाह्य आत्मभूत हेतु होता है । तथा द्रव्ययोग के निमित्त से जो भावयोग और बीरान्तराय, ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण के क्षय व क्षयोपशम के अनुसार जो आत्मा की प्रसन्नता भी होती है, यह उक्त उपयोग का आभ्यन्तर आत्मभूत हेतु होता है ।

आत्मभ्रान्ति—१. × × × विशिष्टं भ्रान्तिरा-त्मनः । (समाधिर्त्त. ३६) । २. रागादिपरिणतं देहा-दिना आत्मनोऽभेदाव्यवसायेन स्वस्वरूप एव अस्मिन्-रतां गतं मनः आत्मनो भ्रान्तिः आत्मस्वरूपं न भवतीति । (समाधिर्त्त. टी. ३६) ।

शरीर को आत्मा मानकर रागादि से परिणत हुआ मन जो आत्मस्वरूप में अस्मिन्धरता को प्राप्त होता है, इसका नाम आत्मभ्रान्ति है ।

आत्मयोगी—तथाऽऽत्मयोगी — आत्मनो योगः कुशलमनःप्रवृत्तिरूपः आत्मयोगः, स यस्यास्ति स तथा, सदा धर्मेध्यानावस्थित इत्यर्थः । (सूत्रक. बी. बृ. २, २, ४२, पु. ८६) ।

निर्मल मन की प्रवृत्तिरूप आत्मयोग से युक्त आत्म-ज्ञानी को आत्मयोगी कहते हैं ।

आत्मरक्षा—१. आत्मरक्षाः शिरोरक्षोपमाः । (त. सि. ४-४; त. वा. ४-४) । २. आत्मरक्षाः शिरो-रक्षस्थानीयाः । (त. वा. ४-४) । ३. आत्मरक्षाः शिरोरक्षोपमाः । आत्मानं रक्षन्तीति आत्मरक्षाः, ते शिरोरक्षोपमाः । आमुतावरणाः प्रहरणीयता रौद्राः पुष्टतोऽवस्थायिनः । (त. वा. ४, ४, ५) । ४. आ-त्मानं रक्षन्तीत्यात्मरक्षास्ते शिरोरक्षोपमाः । (त. वलौ. ४-४) । ५. आत्मरक्षाः शिरोरक्षसमानाः प्रोद्यताऽजयः । विप्रवादेव पर्यन्तान् पर्यटन्त्यमरेशि-नाम् ॥ (म. पु. २२-२७) । ६. आत्मरक्षास्तु रक्षकाः । (नि. वा. पु. ब. २, ३, ७७३) । ७.

इन्द्राणामात्मानं रक्षन्तीत्यात्मरक्षाः, “कर्मणोऽण्” । ते ह्युपायाभावेऽपि स्थितिपरिपालनाय प्रीत्युत्पत्तये चेन्द्राणां परितो वृद्धनिबद्धसुभटोचितपरिकरा धनु-रादिप्रहरणव्यवसायः स्व-स्वत्वानिव्यस्तनिवृत्त-वृष्टयः परेषां क्षोभमापादयन्तोऽङ्गुरक्षा इव तिष्ठन्ति । (संप्रहृणी दे. बु. १) । ८. आत्मन इन्द्रस्य रक्षा येभ्यस्ते आत्मरक्षा अङ्गुरक्षाः शिरोरक्षसदृशाः । (स. बुति धृत. ४-४) ।

१ शिरोरक्ष—अङ्गुरक्षक के समाव—इन्द्र की रक्षा करने वाले—उसके पास में अवस्थित रहने वाले—हेतों को आत्मरक्ष कहते हैं ।

आत्मरक्षी—विषयाभिलाषविगमनिदानः सन् आत्मानं रक्षत्यपायेभ्यः कुगतिगमनादिभ्यः इत्ये-वंशोल आत्मरक्षी । यद्वाऽऽजीयते स्वीक्रियते आत्म-हितमनेनेत्यादानः संयमः, तद्रक्षी । (उत्तरा. सु. सा. बु. ४-१०, पृ. २२५) ।

जो इन्द्रियविषयों की अभिलाषा के नष्ट हो जाने से निदान से रहित होता हुआ कुगति में ले जाने वाले अपायों से अपने आत्मा की रक्षा करता है उसे आत्मरक्षी कहते हैं ।

आत्मरक्षा—एकको केव महप्पा पुरिसो देवो य सव्ववाधी य । सव्वंगणिगुदो वि य सचेयणो णिगुणो परमो ॥ (गो. क. ८८१) ।

संसार में सर्वत्र व्यापक एक ही महान् आत्मा है, वही पुण्य है, वही देव है, तथा वही सर्वांगों से प्रच्छन्न होकर चेतन, निर्गुण और सर्वोत्कृष्ट है; इस प्रकार के मन्त्र को आत्मवाद कहते हैं ।

आत्मसंकल्प—आत्मसंकल्पः शरीर-कर्म-राग-द्वेष-मोहादिदुःखपरिणामरहितोऽयं ममात्मा वर्तते, शरीरे तिष्ठन्मनुद्विन्दितचयनयेन शरीरं न स्पृशति, कर्म-बन्धनबद्धोऽपि सन् कर्मबन्धनैर्बद्धो न भवति नलि-नीवलस्थितजलवद्वितीयां भेदज्ञानमात्मसंकल्प उच्यते । (मोक्षप्रा. टी. ५) ।

मेरा आत्मा शरीर, कर्म, राग, द्वेष और मोहादि सर्व दुःख परिणामों से रहित है; वह शरीर में रहते हुए भी अशुद्ध निश्चयन से शरीर से अस्पृष्ट है, और कर्म-बन्धनों से बद्ध होने पर भी अशुद्ध है—जैसे कमलपत्र जल में रहते हुए भी जल से अलिप्त रहता है; इस प्रकार के भेदविज्ञान को आत्मसंकल्प (अन्तरात्मता) कहते हैं ।

आत्मसंयोग—१. भोवसमि ए सइए सभोवस-मि ए व पारिणामे अ । एतो चउच्चिहो सल्लु नायव्वो भत्तसंयोगो ॥ जो सनिवाइमो सल्लु भावो उदएण वज्जिभो होइ । इक्कारससंयोगो एको षि व भत्त-संयोगो ॥ (उत्तरा. नि. १, ५०-५१) । २. आत्म-संयोगः प्राग्वदात्मापित (तथापितो नाम आधिकावि-यावः स्वाकारे भाववति जाताऽयमित्यादिरूपेण ज्ञानमस्येत्यादिरूपेण वा वचनव्यापारेण वचना स्थापितः—सा. बु. नि. ४६) सम्बन्धनसंयोगः । (उत्तरा. नि. सा. बु. १, ५० व ५१) ।

औपशमिक, आधिक, कायोपशमिक और पारि-णामिक भावों के साथ आत्मा का जो संयोग है उसे आत्मसंयोग कहते हैं । औपशमिक को छोड़कर इन भावों के परस्पर संयोग से जो व्यापक (वि. सं. ६-प्रि. सं. ४-प्रि. सं. १ = ११) संयोगध्वंज होते हैं इस सबको आत्मसंयोग कहा जाता है ।

आत्मशरीरसंवेजनी—प्रायसरौरसंवेजनी जहा जमेयं अमृहचय शरीरयं एवं सुक-सोणिय-मंस-वसा-मेव-मज्जट्टि-गृहा-चम्म-केस-रोम-गृह-दंत-अता-विसंघायणिष्फणत्तणेण मुत्त-पुरीसभायणत्तणेण य अशुइ ति कहेमाणो सोयारत्त सवेग उप्पाएइ, एसा प्रायसरौरसंवेजनी । (दशमं. नि. हरि. बु. ३, १६६ अ.) ।

यह हमारा शरीर शुक्, सोणित, मांस, वसा, मेदा, मज्जा, अस्थि, स्नायु, चर्म, केश, रोम, नख, दांत और अंतों आदि के समुदाय से बना है; इसलिए तथा सूत्र-पुरीष (मल) आदि से भरा होने के कारण अशुद्धि है । शरीरविषयक यह कथन बूँक झोला के लिए संवेग को उत्पन्न करता है, अत एव उसे आत्मसंवेजनी कहा कहते हैं ।

आत्मा (आदा, अप्पा)—१. एगो मे सासवो अप्पा णाण-दसणलक्खणो । (नि. सा. १०२) । २. स्वसं-वेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः । अनन्तसौख्यवा-नात्मा लोकालोकविलोकनः ॥ (इष्टोप. २१) । ३. सोऽस्त्यात्मा सोपयोगोऽयं कमादेलुक्कलावहः । यो ब्राह्मोऽब्राह्मनाद्यन्तः स्थित्युत्पत्ति-व्यायामकः ॥ प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरधिदात्मा धिदात्मकः ॥ ज्ञान-दर्शन-तत्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः ॥ ज्ञानाद् भिन्नो न चाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन । ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः ॥ (स्वकथनं. २-४) । ४. एवं

वैतन्यवानात्मा सिद्धः सततभावतः । (आष्टम्या. १-७८) । ५. अजातोऽनन्तरं मूर्तः कर्ता मोक्षता मुक्षी बुधः । देहमात्रो मर्त्यमूर्तो गत्वोर्ध्वमचलः प्रभुः । (आत्मानु. २६६) । ६. वंसण-माणपहाणो असंखवेसो ह्मु मुत्तिपरिहणी । स-गहियवेहपमाणो णायव्वो एरिसो अप्पा ॥ (सत्त्वसार १७) । ७. आत्मा हि स्व-परप्रकाशादिरूपः । (म्यावधि. १-४) । ८. आत्मा हि ज्ञान-दुक्खीक्यलक्षणो विमलः परः । सर्वावुचिनिदानेभ्यो देहादिभ्य इतीरितः ॥ (जी. जणु ७-२२) । ९. अतति सन्तत्तं गच्छति बुद्धि-सं-क्लेशात्मकपरिणामान्तराणीत्यात्मा । (उत्तरा. बृ. शा. बृ. १-१५) । १०. अतति सततमेव अपरापर-पर्यायान् गच्छतीति आत्मा जीवः । (म्यावधि. बृ. बृ. १-१, पृ. १) । ११. आत्मा ज्ञान-दर्शनोपयोगगुण-द्रव्यलक्षणः । (भा. सा. बृ. १३-१, पृ. ४६) । १२. 'अत' धातुः सातत्यगमनेऽयं वर्तते । गमनधात्वेनात्र ज्ञानं भव्यते । तेन कारणेन यथासम्भवं ज्ञान-सुखादि-गुणेषु आ समन्तात् अतति वर्तते यः स आत्मा, × × × शुभाशुभमनोवचनकायव्यापारैर्यथासम्भवं तीव्र-मन्दादिरूपेण आ समन्तात् अतति वर्तते यः स आत्मा । × × × उत्पाद व्यवधोव्यैरा समन्ता-वतति वर्तते यः स आत्मा । (बृ. ब्रह्मसं. टी. ५७) । १३. आत्मा तावदुपयोगलक्षणः । (स्या. मं. टी. १७) । १. ज्ञान-वर्णनस्वरूप जीवको आत्मा कहा जाता है । आत्माङ्गुल—१. जस्सि जस्सि काले भरहेणवद-महीसु जे मणुवा । तस्सि तस्सि ताणं अंगुलमाव-गुलं णाम ॥ (ति. प. १-१०६) । २. से कि तं आर्यगुले ? जे णं जया मणुस्सा भवति तेसि णं तया अण्णो अंगुलेणं × × × (अनुयो. बृ. १३३) । ३. जे जन्म जुगे पुत्तिसा अट्टसयंगुलसमूहिया हँति । तेसि सयमंगुलं अं तसं तु आर्यगुलं होइ ॥ (जीवस. १०३) । ४. जम्हि य जम्हि य काले भर-हेरावएसु हँति जे मणुवा । तेसि तु अंगुलाइं आर्य-गुलं णामदो होइ ॥ (बं. बी. प. १३-२७) । ५. यस्मिन् काले पुमांसो ये स्वकीयाङ्गुलमानतः । अष्टोत्तरशतोत्तुङ्गा आत्माङ्गुलं तदङ्गुलम् । (लोक-प्र. १-४०) । ६. तत्र ये यस्मिन् काले भरत-सय-रावयो अनुष्याः प्रमाणमुक्ता भवन्ति तेषां यथास्वीय-मङ्गुलं तदात्माङ्गुलम् । (संहृषी वे. बृ. २४४) ।

१ भरत-हेरावत क्षेत्रों में उत्पन्न विभिन्न कालवर्षों मनुष्यों के अंगुल को उस-उस समय आत्माङ्गुल कहा जाता है । आत्माङ्गुलाभास—एतद्विप्रमाणतो (अष्टोत्तर-शतोत्तुङ्गप्रमाणतो) न्यूनाधिकानां तु यदङ्गुलम् । तत्स्यादात्माङ्गुलाभासं न पुनः पारमाधिकम् ॥ (लोकप्र. १-४१) । एक सौ अष्ट अंगुल प्रमाण ऊँचाई से हीन आ अधिक प्रमाण वाले मनुष्यों का अंगुल आत्माङ्गुल न होकर आत्माङ्गुलाभास है । आत्माधीन क्रियाकर्म (आवाहीरण) — तत्त्व किरियाकर्म कीरमाणे अप्पायत्तत्तं अपरवसत्तं आवाहीणं णाम । (बच. पु. १३, पृ. ८८) । क्रियाकर्म करते समय वरवत्त न होकर स्वाधीन रहना, इसे आत्माधीन क्रियाकर्म कहते हैं । आत्माराम—आत्मारामस्य—आत्मबाराण उच्छानं रतिस्थानं यस्य, अग्न्यत्र गतिप्रतिबन्धकत्वात् । × × × अथवा आत्मनोऽपि सकाशादारामो निवृ-त्तिर्यस्येत्याराम इति ब्राह्मम्, वस्तुतः स्वात्मन्यपि रतेः रागरूपतया मोक्षप्रतिबन्धकत्वेन मुमुक्षुभिरना-वरणीयत्वान् । (अन. ब. स्थो. टी. ८-२४) । जो विवेकी जीव आत्मा को ही आराम—रति का स्थानभूत उच्छान—मान कर विषय-भोगादि से पराङ्मुख होता हुआ उसी में रमण करता है वह आत्माराम कहलाता है । अथवा आत्मा की ओर से भी जो आराम—निवृत्ति—को प्राप्त होकर निर्वि-कल्पक ब्रह्मा को प्राप्त हो जाता है वह आत्माराम कहलाता है । आत्मोत्कर्ष—आत्मन उत्कर्ष आत्मोत्कर्षः—अहमेव जात्यादिभिरुत्कृष्टो न मत्तः परतोऽप्योऽस्तीत्यभ्यव-सायः । (जवच. प. ७७७) । जाति-कुलादि में मेरे से बड़ा और कोई नहीं है, इस प्रकार से अपने उत्कर्ष के प्रगट करने को आत्मोत्कर्ष कहते हैं । आत्यन्तिकमरण—१. आत्यन्तिकं धवधिमरण-विपर्यासादि आदिर्यतियमरणं भवति । तं जहा—यानि ब्रह्मणि साप्रतं मरति, मुचतीत्यर्थः, न ह्यसौ पुनस्तानि मरिष्यति । (उत्तरा. बृ. ५, पृ. १२८) । २. आत्यन्तिकमरणं यानि नारकाद्युत्कृतया कर्म-दलिकाम्यनुसृत्य भ्रियते मृतश्च, न पुनस्तान्यनुसृत्य

परिच्यति; एवं यन्मरणं तद् ब्रह्मापेक्षया अत्यन्त-
भावितत्वात् आत्यन्तिकमिति । (समवा. अथ. बृ. १७) ।

२ जीव नारक आदि ब्राह्मणस्वरूप जिन कर्मप्रवेशों का अनुभव करके मरता है—उन्हें छोड़ता है, अथवा मर चुका है—उन्हें छोड़ चुका है—बह भविष्य में उनका अनुभव करके मरने वाला नहीं है—उन्हें पुनः छोड़ने वाला नहीं है—अतः इस प्रकार के ब्रह्मास्थित मरण को आत्यन्तिकमरण कहा जाता है ।

भ्रादाननिक्षेपणसमिति—१. पोट्यद-कमडलाई ग्रहण-विसर्गेषु पयतपरिणामो । भ्रादावण-णिकक्षेवण-समिदी ह्रीदि ति णिदिट्ठा ॥ (नि. सा. ६४) ।

२. णाणुवहिं सजुमुवहिं सउचुवहिं अणमप्यमुवहिं वा । पयवं गह-णिकक्षेवो समिदी भ्रादाणणिकक्षेवा ॥ (सूत्रा. १-१४) ; आत्माने णिकक्षेवे पङ्क्तिनेहिय

अक्षुणा पमज्जेज्जो । दब्बं च दब्बठाणं संजमलद्धीय सो भिक्खु ॥ (सूत्रा. ५-१२२) ; सहसाणाभोइय-

हुप्पमज्जिद-अप्पञ्चवेकलणा दोसा । परिहरमाणस्स हवे समिदी भ्रादाणणिकक्षेवा ॥ (सूत्रा. ५-१२३ ; अ. भा. ११६८) ।

३. रजोहरण-पात्र-जीवरादीनां पीठफलकादीनां आवश्यककार्य निरीक्ष्य प्रमुख्य भ्रादान-निक्षेपो भ्रादान-निक्षेपणसमितिः । (त. भा. ६-५) ।

४. भ्रादानं ग्रहणम्, निक्षेपण मोक्षणमौघिकोपग्रहिक-भेदस्थोपवेरादान-निक्षेपणयोः समितिरागमानुसा-रेण प्रत्युपेक्षण-प्रमार्जना । (त. भा. हरि. च सिद्ध. बृ. ७-३) ।

५. भ्रादानं ग्रहणम्, निक्षेपो न्यासः स्थापनम्, तयोः समितिः प्रावचनेन विधिना अनुगतता भ्रादान-निक्षेपणा समितिः । × × × भ्रादान-निक्षेपसमितित्स्वरूपविवक्षया प्राह—‘रजोहरणादि’

‘रजोहरणादिपात्र-जीवरादीनामिति चतुर्दशविधोप-वेर्ग्रहणं द्वादशविधोपविग्रहणं च पञ्चविंशतिविधोपवि-ग्रहश्च, पीठफलकादीनामिति चाशेषोपग्राहिकोप-

करणम् आवश्यककार्यमित्यवश्यता वर्पासु पीठफल-कादिग्रहः, कदाचिद्भेदमन्त-ग्रीष्मयोग्यं, क्वचिदनूप-

विषये जलकणिकाकुलायां भूमौ, एवं द्विविधमप्युचि स्थिरतरभसिमौक्ष्य प्रमुख्य च रजोहृत्याऽऽदान-निक्षेपो कर्तव्यावित्यादान-निक्षेपणा समितिः । (त. भा. हरि. च सिद्ध. बृ. ६-५) ।

६. धर्मोपकरणानां ग्रहण-विसर्जनं प्रति यतनमादाननिक्षेपणसमितिः । (त. भा. ६, ५, ७ ; त. बलो. ६-५) । ७. पुंजि

अक्षुपरिचिख्य पमज्जिज्जं जो ठवेइ गिण्हइ वा । भ्रायाणभंडनिकक्षेवणाइसमिप्रो मुणी होइ ॥ (उप-वेकमाला २६६ ; गृ. गृ. बह. स्को. बृ. १, पृ. १४) ।

८. निक्षेपणं यदादानमीक्षित्वा योग्यवस्तुनः । समितिः सा तु विक्षेया निक्षेपादाननामिका ॥ (ह. पु. २, १२५) । ९. सहसा वृष्टः पृष्टप्रत्यवेक्षणपूषणम् ।

त्यजतः समितिर्न्यादान-निक्षेपगोचरा ॥ (त. सा. ६-१०) । १०. शय्यासनोपधानानि शास्त्रोपकर-णानि च । पूर्वं सम्यक् समालोच्य प्रतिनिक्ष्य पुनः पुनः ॥ वृहत्तोऽस्य प्रयत्नेन क्षिपतो वा धरातले ।

भवत्यविकला साधोरादानसमितिः स्फुटम् ॥ (ज्ञान-र्णव १८, १२-१३) । ११. धर्मविरोधिनां परानु-परोधिनां ब्रह्माणां ज्ञानादिसाधनानां ग्रहणे विसर्जने च निरीक्ष्य प्रमुख्य प्रवर्तनमादान-निक्षेपणसमितिः ।

(चा. सा. वृ. १२) । १२. निक्षेपादानयोः समिति-निक्षेपादानसमितिश्चक्षु पिच्छकप्रतिलेखनपूर्वकसयल-

ग्रहण-निक्षेपादिः । (सूत्रा. बृ. १-१०) । १३. ज्ञा-नोपधि-संयमोपधि-शीघ्रोपधीनामन्यस्य चोपधैर्यत्वेन यो ग्रहण-निक्षेपो प्रतिलेखनपूर्वको सा भ्रादाननिक्षे-

पणा समितिर्भवति । (सूत्रा. बृ. १-१४) । १४. ज्ञानोपकरणादीनामादानं स्थापनं च यत् । यत्नेना-दान-निक्षेपसमितिः करुणापरा ॥ (आचा. सा. १-२५) ; विहायादान-निक्षेपो सहसाऽजवलोक्य च ।

दुःप्रमार्जनमप्रत्यवेक्षणं चाद्रं मानसं ॥ विधायोपाधि-तद्दे शवीक्षणं प्रतिलेखनैः । लब्धस्वेदरजःसूक्ष्मलता-

तिमृदुभिः पुनः ॥ तौ प्रमुख्योपधैर्यत्नान्निक्षेपादा-नयोः कृतिः । यतेरादाननिक्षेपसमितिः परिकीर्तिता ॥ (आचा. सा. ५, १३०-३२) । १५. भ्रादानग्रहणेन निक्षेप उपलक्ष्यते । तेन पीठादेर्ग्रहणे स्थापने च या समितिः । (योगशा. स्को. चिन्म. १-२६) । १६.

आसनादीनि संवीक्ष्य प्रतिलिख्य च यतनतः । वृह्णी-यान्निक्षेपेइ यत् सादानसमितिः स्मृता ॥ (योगशा. १-३६) । १७. सुदृष्टमृष्टं स्थिरमाददीतं स्थाने स्थजेतादृष्टिं पुस्तकादि । कालेन भूयः किमतापि

पश्येदादाननिक्षेपसमित्यपेक्षः ॥ (अन. ब. ४-१६८) । १८. पुस्तकाद्युपधि वीक्ष्य प्रतिलेख्य च वृहत्तः । मुख्यतो दान-निक्षेपसमितिः स्वाच्छतेरियम् ॥ (धर्मसं-ज्ञा. ६-७) । १९. यत्पुस्तक-कमण्डलुप्रभृतिकं ग्राह्यते तत्पूर्वं निरीक्ष्यते, पश्चात्पुनः ग्राह्यते, चतुर्थी समितिर्भवति ।

पश्चाद् ग्राह्यते, चतुर्थी समितिर्भवति ।

(भा. प्रा. टी. ३६) । २०. धर्मोपकरणग्रहण-विसर्जने सम्यगालोचय मयूरबहुणं प्रतिनिश्चय तदभावे वस्त्रादिना प्रतिनिश्चय स्वीकरणं विसर्जने च सम्यगादान-निक्षेपणसमितिर्भवति । (त. वृत्ति भुत. ६-५) । २१. ग्राह्यं मोक्षं च धर्मोपकरणं प्रत्युपेक्ष्य यत् । प्रमाण्यं येयमादान-निक्षेपणसमितिः स्मृता ॥ (लोकप्र. ३०-७५७) । २२. आसन-संस्तारक-पीठफलक-वस्त्र-पात्र-दण्डादिकं चक्षुषा निरीक्ष्य प्रतिनिश्चय च सम्यगुपयोगपूर्वं रजोहरणादिना यद् गृह्णीयाच्च निरीक्षित-प्रतिलेखितभूमौ निक्षेपेत् सा प्रादान-निक्षेपणसमितिः । (धर्मसं. भा. स्वो. वृ. ३-५७, वृ. १११) । २३. धर्माविरोधिनां परानुपरोधिनां ब्रह्मणां ज्ञानादिसाधनानां पुस्तकादीनां ग्रहणे विसर्जने च निरीक्ष्य मयूरपिच्छेन प्रमुख्य प्रवर्तनमादान-निक्षेपणसमितिः । (कार्तिके. टी. ३६६, पृ. ३००) । २४. अस्ति प्रादान-निक्षेपस्वरूपा समितिः स्फुटम् । वस्त्रभक्षण-पात्रादिनिखिलोपधिगोचरा ॥ यावन्त्युपकरणानि गृहकर्मोचितानि च । तेषामादान-निक्षेपो कर्तव्यो प्रतिनिश्चय च ॥ (साटीसं. ५, २५३-५४) । २. ज्ञान, संयम और शौच के साधनभूत पुस्तक, पिच्छी व कनकद्वल तथा अन्य उपधि को भी साधनानीपूर्वक देख-शोध करके उठाने और रखने को प्रादान-निक्षेपणसमिति कहते हैं ।

प्रादानपद—१. प्रावती चाउरंगिज्जं असंख्यं ग्रहा-तत्पिज्जं ग्रहइज्जं जणइज्जं पुरिसइज्जं (उसुकारि-ज्जं) एलइज्जं वीरीयं धम्मो मग्गो समोसरणं जं-महं से सं प्रायाणपएण । (धनुयो. १३०, पृ. १४१) । २. प्रादानपद नाम प्रातःप्रवृत्तिनिबन्धनम् । × × × वधूत्सवत्सीरयादीनि प्रातःमर्तृ-वृतापत्य-निबन्धनत्वात् । (अथ. पु. १, पृ. ७५६-७५६) । छत्ती भउली गमिणी ग्रहहवा इच्चाईणि प्रादा-णपदाणि, इदमेदस्स अत्थि ति विवक्खाए उप्पण-सादो । (अथ. पु. ६, पृ. १३५-३६) । ३. दंडी छत्ती मोली गमिणी ग्रहहवा इच्चाईणि प्रादा-णपदाणि, इदमेदस्स अत्थि ति संबंधणिबंध-णसादो । (अथ. १, पृ. ३१-३२) । ४. दब्ब-खेत-काल-भावसंजोयपदाणि रायासि-बगुहर-सुर-लोयणयर-भारहय-अदरावय-सारय-वासंतय-कोहि-माणिइच्चाईणि नामाणि वि प्रादाणपदे वेव निव-

दंति । (अथ. १, पृ. ३४) ।

१. प्रादान का विचक्षित अध्ययन व उद्देश्य प्रादि सर्वप्रथम जिस पद के उच्चारण से प्रारम्भ होता है उसे प्रादानपद कहते हैं । जैसे—प्रावती (प्राचा-रांग का पांचवां अध्ययन), चाउरंगिज्जं (उत्तरा-ध्ययनों में तीसरा) और असंख्यं (उत्तराध्ययनों में चौथा अध्ययन) इत्यादि पद । २. 'ग्रह इसके हैं' इस विचक्षा में जो पद निष्पन्न होते हैं उन्हें प्रादानपद सबचना चाहिए । जैसे—छत्ती, मोली, गमिणी और अविचक्षा प्रादि ।

प्रादानभय—१. किञ्चन ब्रह्मजातमादानम् तस्य नाश हरणादिभ्यो भयमादानभयम् । (प्रा. भा. हरि. व अस्य. वृ. १८५, पृ. ४७३ व ५७३) । २. वनादि-ग्रहणाद् भयमादानभयम् । (कल्पसूत्र वि. वृ. १-१५, पृ. ३०) । ३. प्रादीयत इत्यादानम्, तदर्थं वीरादिभ्यो यद्भयं तदादानभयम् । (ललितवि. नृ. पंथि. पृ. ३८) । ३ जो 'प्रादीयते' अर्थात् ग्रहण किया जाता है, इस निश्चित के अनुसार ग्रहण की जाने वाली वस्तु प्रादान कहलाती है । उसके लिए जो और प्रादि से भय होता है उसे प्रादानभय कहते हैं ।

प्रादित्य—१. प्रादी भव प्रादित्यो बहुलवचनात् त्य-प्रत्ययः इति व्युत्पत्तेः । (सूर्यप्र. वृ. २०-१०५, १०६) । २. अदितेर्देवमातुरूपस्यानि प्रादित्याः । (त. वृत्ति भुत. ४-२५) ।

१. प्रादि में होने वाले का नाम प्रादित्य है । २. अदिति—देवमाता—की सन्तानों को प्रादित्य (लोकान्तिक देवविशेष) कहा जाता है ।

प्रादित्यमास—१. प्राइज्जो जजु मासो तीसं अठं च होइ दिवसाणं । (उद्योत्तिष्क. ३७) । २. स र्चकस्य दक्षिणावनस्योत्तरायणस्य वा भ्यशीत्यधिक-दिनसातप्रमाणस्य षष्ठमागमानः । यदि वा प्रादित्य-चारनिष्पन्त्यादुपचारतो मासोऽप्यादित्यः । (अथ. भा. अथ. वृ. २-१५, पृ. ७) । ३. प्रादित्यमास-स्त्रिंशदहोरात्राणि रात्रिन्दिवस्य चार्द्धम्, दक्षिणा-वनस्योत्तरायणस्य वा षष्ठमागमानः इत्यर्थः । (बृहत्क. वृ. ११३०) ।

१. साढ़े तीस (३० $\frac{1}{2}$) दिन-रात प्रमाण काल को प्रादित्यमास कहते हैं । २. वह प्रादित्यमास उत्तरा-यण अथवा दक्षिणावन के छठे भाग प्रमाण होता

है (१८३-६=३०३)। अथवा सूर्य के संचार से उत्पन्न होने के कारण इस बात को भी प्रादित्य कहा जाता है।

प्रादित्यसंवत्सर—१. छप्पि उऊपरियट्ठा एसो संवच्छरी उ आइच्छो। (ज्योतिष्क. ३४)। २. तथा यावता कालेन वडपि प्रावुडादयः ऋतव. परिपूर्णाः प्रावुत्ता भवन्ति तावान् कालविशेष प्रादित्यसंवत्सरः। (सूर्यप्र. मलय. बृ. १०, २०, ५)।

१ जितने काल में परिपूर्ण छह ऋतुओं का परिवर्तन होता है उतने काल का नाम प्रादित्यसंवत्सर है (एक ऋतु ६१ दिन, $६१ \times ६ = ३६६$ दिन)।

प्रादिमान् ब्रह्मसिक बन्ध—तथादिमान् स्निग्ध-रुक्षगुणनिमित्तः विबुदुत्ताजलभाराम्भोन्मथनुरादि-विषयः। (त. भा. ५, २४, ७)।

स्निग्ध और रुक्ष गुण के निमित्त से बिजली उत्का, जलचारा, अग्नि और इन्द्रजनुष प्रादिरूप जो पुद्गलों का बन्ध होता है वह प्रादिमान् ब्रह्मसिक बन्ध कहलाता है।

प्रादिमोक्ष—१. इत्थिप्रो जे जे सेवति आइमोक्खा हि ते जणा इति। (सूत्रक. १-५)। २. प्रादिः ससारस्तस्मान् मोक्ष प्रादिमोक्षः (त) संसारविमुक्ति यावदिति। धर्मकारणाना वा ऽऽविभूत शरीरम्, तद्विमुक्ति यावत्, यावज्जीवमित्यर्थः। (सूत्रक. शी. बृ. १, ७, २२)।

१ जो स्त्रियों का सेवन नहीं करते हैं, ऐसे पुरुषों को प्रादिमोक्ष कहते हैं।

प्रादेयनाम—१. प्रभोपेतशरीरकारणमादेयनाम। (त. सि. ८-११; अ. भा. मूला. टी. २१२१)।

२. प्रादेयभावनिर्वर्तक प्रादेयनाम। (त. भा. ८, १२)। ३. प्रभोपेतशरीरताकरणमादेयनाम। यस्त्यो-

दयात् प्रभोपेतशरीर दृष्टेष्टमुपजायते तदादेयनाम। (त. भा. ८, ११, ३६; त. श्लो. ८-११)।

४. प्रादेयनाम यदुदयादादेयो भवति, यच्चेष्टत भाषते वा तत्सर्व लोकः प्रमाणीकरोति। (भा. प्र. टी. २४; धर्मसं. मलय. बृ. ६२१, पृ. २३३)। ५. गृही-

तवाक्यत्वादादरोपजननहेतुता प्रतिपद्यते उदयावधिकं प्रविष्ट सत्। एतदुक्त भवति—यस्यादेयनामकर्मोदयस्तेनोक्तं प्रमाणं किमते यत् किञ्चिदपि, दर्शन-

समनन्तरमेव चास्पृश्यानादि लोकः समाचरतीत्येवविषयिष्यकामादेयनामेति $\times \times \times$ प्रथमा प्रादेयता

अदेयता दर्शनादेव यस्य भवति, स च शरीरगुणो यस्य विपाकाद् भवति तदादेयनाम। (त. भा. हरि. व सिद्ध. बृ. ८-१२)। ६. प्रादेयता बहुमीयता बहुमान्यता इत्यर्थः। जस्त कम्मस्स उदएण जीवस्स प्रादेयत्तमुपज्जदि तं कम्ममादेय णाम। (अव. पु. ६, पृ. ६५)।

जस्त कम्मस्सुदएण जीवो प्रादेज्जो होदि तमादेज्जणामं। (अव. पु. १३, पृ. ३६६)। ७. यस्य कर्मण उदयेनादेयत्व प्रभोपेतशरीरं भवति तदादेयनाम। अथवा यदुदयादादेयवाच्यं (वय) तदादे-

यम्। (मूला. बृ. १२-१६५)। ८. यदुदयाज्जीवः सर्वस्यादेयो भवति ग्राह्यावाक्यो भवति तदादेयनाम। (कर्मवि. धर्म. प्र. ध्या. ७५, पृ. ३३)। ९. यदुदयेन यत्किञ्चिदपि ब्रुवाणः सर्वस्योपादेयवचनो भवति तदादेयनाम। (कर्मस्त. गो. ६-१०, पृ. ८७; प्रब.

सारो. बृ. १२६६; शातक. मल. हेम. बृ. ३७-३८, पृ. ५१; धर्मसं. मलय. बृ. ६२१)। १०. तथा यदुदयवशात् यच्चेष्टते भाषते वा तत्सर्व लोकः प्रमाणीकरोति, दर्शनसमनन्तरमेव जनोऽस्पृश्यानादि समाचरति तदादेयनाम। (प्रज्ञाप. मलय. बृ. २३, २६३; पद्मसं. मलय. बृ. ३-८; पृ. ११७; कर्मप्र.

यशो. टी. १, पृ. ६)। ११. प्रादेयनामकर्मोदयात् ग्राह्यावाक्यो भवति। (पद्मसं. स्वी. बृ. ३-६, पृ. ११६)। १२. प्रभापुक्तसरीरकारकमादेयनाम। (त. वृत्ति ध्रुव. ८-११)।

१ जिस कर्म के उदय से प्रभा (कान्ति) युक्त शरीर हो उसे प्रादेयनामकर्म कहते हैं। ४ जिसके उदय से प्राणी प्रादेय—ग्राह्य या बहुमान्य—होता है, वह जो भी व्यवहार करता है या बोलता है उसे लोग प्रमाण मानते हैं, उसे प्रादेय नामकर्म कहा जाता है।

प्रादेयवचनता—प्रादेयवचनता सकलजनग्राह्याव-च्यता। (उत्तरा. नि. शा. बृ. १-५८, पृ. ३६)।

सर्व लोगों के द्वारा वचनों की ग्राह्यता या उपादेयता को प्रादेयवचनता कहते हैं। यह आचार्य के ३६ गुणों के अन्तर्गत चार प्रकार की वचनसम्पत् में प्रथम है।

प्रादेश—अपरः (निर्वेशः) प्रादेशेन भेदेन विशेषेण प्ररूपणमिति। (अव. पु. १, पृ. १६०)।

प्रादेश से अभिप्राय भेद या विशेष का है। अर्थात् बौद्ध मार्गशास्त्र भेदों के आशय से जो विचक्षित वस्तुका कथन किया जाता है वह प्रादेश कहलाता है।

अपराः (निर्वेशः) प्रादेशेन भेदेन विशेषेण प्ररूपणमिति। (अव. पु. १, पृ. १६०)।

अपरा से अभिप्राय भेद या विशेष का है। अर्थात् बौद्ध मार्गशास्त्र भेदों के आशय से जो विचक्षित वस्तुका कथन किया जाता है वह प्रादेश कहलाता है।

अपराः (निर्वेशः) प्रादेशेन भेदेन विशेषेण प्ररूपणमिति। (अव. पु. १, पृ. १६०)।

अपरा से अभिप्राय भेद या विशेष का है। अर्थात् बौद्ध मार्गशास्त्र भेदों के आशय से जो विचक्षित वस्तुका कथन किया जाता है वह प्रादेश कहलाता है।

आदेशकषाय—१. आदेशकसाएण जहा चित्तकम्मे लिहिदो कोहो रुत्तिदो तिबलिदणिडालो भिउडि काऊण । (कसावपा. सू. पु. २४) । २. आदेश-कषायः कंतवकृतभूकुटिभङ्गुराकारः, तस्य हि कषा-यमन्तराणापि तथादेशदर्शनात् । (आध. नि. हरि. पु. ६१८, पु. ३६०) । ३. भिउडि काऊण भूकुटि कृत्वा, तिबलिदनिडालो तिबलितनिटलः, भूकुटिहेतोः तिबलितनिटलः इत्यर्थः । एव चित्रकर्मणि लिखितः कोषः आदेशकषायः । × × × सम्भावद्वयणा कसायपरुवणा कसायबुद्धी च आदेशकसाधो । (जय-व. १, पु. ३०१) ।

१ जिसको भीहें कड़ी हुई हैं तथा बस्तक पर त्रिलो—जर्मगत तीन रेखायें—पड़ी हुई हैं, इस प्रकार से चित्र में अंकित कोष कषाय को आदेश-कषाय कहा जाता है ।

आदेशभय—आदेशभवो नाम चत्तारि गइणामणि, तेहि जणिदजीवपरिणामो वा । (अव. पु. १६, पु. ५१२) ।

चार गतिनामकर्मों को अथवा उनसे जनित जीव-परिणाम को आदेशभय कहते हैं ।

आदोलकरा—देखो अथकणकरण । १. सपहि आदोलनकरणसण्णाए अत्थो वूक्खवे—आदोल नाम हिदोलम्, आदोलमिव करणमादोलकरणम् । यथा हिदोलस्थभस्स वरत्ताए च अतराले तिकोणं होऊण कण्णायारेण दीसइ एवमेत्थ वि कोहादिसंजलणाण-मणुभागसंणिवेशो कमेण हीयमाणो दीसइ त्ति एदेण कारणेण अस्सकण्णकरणस्स आदोलकरणसण्णा जादा । एवमोवट्टणमुक्खट्टणकरणे त्ति एसो वि पज्जायसद्दो अणुपयट्ठो दट्ठव्वो, कोहादिसंजलणाण-मणुभागविण्णासस्स हाणि-वड्ढिसकूवेणावट्ठाणं वे-क्खियूण तत्थ भोवट्टणमुक्खट्टणसण्णाए पुब्बाइरिहि पयट्ठाविदत्तादो । (अव. पु. ६, पु. ३६४, टि. ५) । २. से काले भोवट्टणि-उक्खट्टण अस्सकण्ण आदोलं । करणं तियसण्णगयं संजलणरसेसु वट्ठि-हिदि ॥ (लखि. ४५६) ।

१ आदोल नाम हिदोले (मूले) का है । हिदोले के समान जो करण—परिणाम—क्रम से उत्तरोत्तर हीयमान होते हुए चले जाते हैं, इसे आदोलकरण कहते हैं । अपवर्तन-उद्वर्तन और अथकर्म करण इसी के नामान्तर हैं ।

आद्यन्तमरण—१. साम्प्रतेन मरणं नासादृश्यभावि यदि मरणमाद्यन्तमरणमुच्यते, आदिशब्देन साम्प्रतिक प्राथमिकं मरणमुच्यते, तस्य अन्तो विनाशभावो यस्मिन्नुत्तरमरणे तदेतदाद्यन्तमरणमभिधीयते । प्रकृति-स्थित्यनुभव-प्रदेशेयथाभूतैः साम्प्रतमूर्तिं मूर्तिं तथाभूतौ यदि सर्वतो देशतो वा नोपैति तदाद्यन्त-मरणम् । (अ. धा. विजयो. २५) । २. प्रकृति-स्थित्यनुभव-प्रदेशे देशतः सर्वतो वान्यादृशं मरणमाद्य-न्तमरणम्, आदे. प्रथममरणस्यान्तो विनाशो यस्मि-न्नुत्तरमरण इति व्युत्पत्तेः । (अ. धा. मूला. टी. २५) ।

वर्तमान मरण से आगामी मरण के मिलजुल होने को आद्यन्तमरण कहते हैं । अर्थात् प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों की अपेक्षा कर्मों की शब्द-उपमावि अवस्था जैसी वर्तमान मरण के समय है वैसी वह अगले मरण के समय देशतः या सर्वतो-भावेन न हो, इसका नाम आद्यन्तमरण है ।

आधाकर्म—१. अं तमाधाकम्मं णाम । तं प्रोद्दा-यण विद्दावण-परिद्दावण-आरंभकदणियपण्णं तं सर्व्वं आधाकम्मं णाम । (वट्ठं. ५, ४, २१-२२—पु. १३, ४६) । २. सज्जीवणिकायाण विराहणोद्दावणादि-णियपण्णे । आधाकम्म णेय सय-परकदमादसंपण्णं ॥ (मूला. ६-५) । ३. आधा अहे य कम्मे आयाहम्मे य अत्तकम्मे य । पड्डिसेवण पड्डिसुण्णा संवासण्णुमोयणा चेव ॥ प्रोरालसरीराण उडवण-ति-वायणं च जस्सट्ठा । मणमाहिता कीरइ आहाकम्मं तम वेति । (पिण्डनि. ६५ व ६७) । ४. जीवस्य उपद्रवणं प्रोद्दावणं णाम । अङ्गच्छेदनाविद्यावारः विद्दावणं णाम । सतापजननं परिदावणं णाम । प्राणिप्राणवियोजनं आरम्भो णाम । प्रोद्दावण-विद्दा-वण-परिद्दावण-आरंभकज्जभावेण णियपण्णमोरालसि-शरीरं तं सर्व्वं आधाकम्मं णाम । जम्हि सरीरे द्विदाणं जीवाणं प्रोद्दावण-विद्दावण-परिद्दावण-आरम्भा अण्णेहिती होति तं शरीरमाधाकम्मं ति अण्णिदं होदि । (अव. पु. १३, पु. ४६) । ५. प्रोरालस-हणेणं तिरिक्ख-मणुयाऽहवा सुहमवज्जा । उड्वणं पुण जाणसु अइवायविज्जिज्ज पोइ ॥ काय-वड्ढ-मणो तिन्नि उ अहवा देहाउ-इदियप्पाणा । सामित्तावा-याणे होइ तिवाधो य कारणेसु ॥ हियममि समाहउं एयमणे च माहणं जो उ । वण्ण करेइ दाया कायेण

तमाह कम्मं ति ॥ (पिण्डनि. भा. २५-२७, पृ. ३८)।
६. आहूकम्म-आणकप्याइयं वा बहु अद्यारं करेज्जा । दीहगिलाणकप्पस्स वा अन्नसाणे आहूकम्मसन्नि-
हिसेवणं वा कयं होज्जा । (जीतक. सू. पृ. २०,
पं ५-६) । ७. वृक्षच्छेदस्तदानयनं इष्टकापाकः
भूमिजननं पाषाणसिक्तादिभिः पूरणं वरायाः कुट्टनं
कर्मकरणं कीलानां करणं अग्निनायस्तापनं (काति.
—अग्निना सोहतापन) कृत्वा प्रताडय ककचैः
काष्ठपाटनं वासीभिस्तक्षणं, (काति.—‘वासीभिस्त-
क्षणं’ नास्ति) परशुभिश्छेदनं इत्येवमादिव्यापारेण
धर्णां जीविकायाणां बाधां कृत्वा स्वेन वा उत्सा-
दिता अग्नेन वा कारिता वसतिराधाकर्म-शब्देनो-
च्यते । (अ. भा. विजयो. टी. २३०; कातिके. टी.
४४६) । ८. साध्वर्चं यस्सचित्तमचित्ती कयते अचित्तं
वा पण्यते तदाधाकर्म । (आचाराण सी. वृ. २, १,
२६६, पृ. ३१६) । ९. आधाय विकल्पं यति मनसि
कृत्वा सचित्तस्याचित्तीकरणमचित्तस्य वा पाको
निरुक्ताधाकाकर्म । (योगशा. स्वो. विव. १-३८) ।
१०. आधाकर्मं अश्वानकल्पादिकं वा शुष्ककदली-
फलादिधरणतः । दीर्घमलानेन वा सता यदाधाकर्म-
रसाधिराणतः । सन्निधिसेवनं वा चरितम् । (जीतक.
सू. वि. व्या. पृ. ५१, २०-४) । ११. वृक्षच्छेदेष्ट-
कापाक-कर्मकरणादिव्यापारेण धर्णां जीविका-
याणां बाधां कृत्वा स्वेनोत्पादिता अग्नेन वा कारिता
क्रियमाणा वानुमोदिता वसतिराधाकर्म-शब्देनोच्यते ।
(अ. भा. मूला. टी. २३०) । १२. आधानम् आधा
× × × साधुनिमित्तं चेतसः प्रणिधानम्, यथा अनु-
कस्य साधोः कारणेन मया भक्तादि पचनीयमिति,
आधया कर्म पाकादिक्रिया आधाकर्म, तद्योगाद्
भक्ताद्यपि आधाकर्म । × × × यद्वा आधाय—साधुं
चेतसि प्रणिधाय—यत् क्रियते भक्तादि तदाधा-
कर्म । (पिण्डनि. मलय. वृ. ६२); अयःकर्मति
अयोग्यतिनिबन्धनं कर्म अयःकर्म । × × × आत्मान
दुर्मतिप्रपातकारणतया हन्ति विनाशयतीत्यात्मजम् ।
तथा यत् पाषाणविसम्बन्धि कर्म पाकादितक्षणं
ज्ञानावरणीयादितक्षणं वा तदात्मनः सम्बन्धि क्रियते
अनेनेति आत्मकर्म । एतानि (आधाकर्म, अयःकर्म,
आत्मजकर्म, आत्मकर्म) च नामाध्याकाकर्मणो
मुच्यन्ति । (पिण्डनि. मलय. वृ. ६५) । १३. यत्
वृत्त्याविराधनया यतिन आधाय संकल्पेनासावि-

करणं तदाधाकर्म । (गृ. सु. बट. स्वो. वृ. २०, पृ.
४८) । १४. साधुं चेतसि आधाय प्रणिधाय, साधु-
निमित्तमित्यर्थः, कर्म—सचित्ताचित्तीकरणमचित्तस्य
वा पाको निरुक्ताधाकाकर्म । (धर्मसं. माल. स्वो. वृ.
३, २२, पृ. ३८) ।
३. जिस एक या अनेक साधुओं के निमित्त मन को
आहित—प्रवर्तित—करके अध्यात्मिकशरीरधारी शिष्य
व अनुष्यों का उपद्रावण—अतिपात (वरण) रहित
पीडन—और विपात—मन-बचन-काय—अथवा
देह, आधु और इन्द्रिय प्राण इन तीनों का विनाश
किया जाता है उसे आधाकर्म या अयःकर्म कहते
हैं । इसके आधाकर्म, अयःकर्म, आत्मजकर्म और
आत्मकर्म ये नामांतर हैं । ४ उपद्रावण, विद्रावण,
परिद्रावण और आरम्भकर्म के द्वारा निष्पन्न
आध्यात्मिक शरीर को आधाकर्म कहते हैं । अभिप्राय
यह कि जिस शरीर में स्थित प्राणियों के अन्य प्राणियों
के निमित्त से उपद्रावण आदि होते हैं उस शरीर
को आधाकर्म कहते हैं । ७ वृक्षों के छेदने, ईंटों के
पकाने एवं भूमि के खोदने आदि कृय व्यापार से
छह काय के प्राणियों को बाधा पहुँचा कर स्वयं या
अन्य के द्वारा वसतिष्ठा के उत्पादन को भी आधा-
कर्म कहा जाता है ।
आधाकर्मिक—देखो आधाकर्म । आधाकर्मिक
यन्मूलत एव साधुना कृते कृतम् । (व्यच. भा. मलय.
वृ. ३-१६४, पृ. ३५) ।
साधुओं के लिए बनाये गये आहार को आधाकर्मिक
कहते हैं ।
आधाकर्मिका—देखो आधाकर्म । आधाकर्मिका
साधुनायेवाययि कारिता । (वृहत्क. वृ. १७५३) ।
साधुओं के लिए बनाई गई वसतिष्ठा को आधा-
कर्मिका कहते हैं ।
आधिकारिणी क्रिया—देखो अधिकारणक्रिया ।
हिसोपकरणावानाधिकारिणी क्रिया । (सं. सि.
६-५; स. भा. ६, ५, ८) ।
हिंसा के उपकरण—खड्ग व भाला आदि—के
ग्रहण करने को आधिकारिणी की क्रिया कहते हैं ।
आध्यात्मिक धर्मध्यान — स्वसंवेदनाध्यात्मि-
कम् । (भा. सा. पृ. ७६) ।
स्वसंवेद—स्वसंवेदनानुसार—धर्मध्यान को आ-
ध्यात्मिक धर्मध्यान कहते हैं ।

ग्राध्यान—ग्राध्यानं स्यादनुध्यानमनित्यत्वादिति-
न्तर्नैः । (म. पु. २१-२८) ।

संसार, वेह व भोगादि की अनित्यतादि के बार-बार
चिन्तन को ग्राध्यान कहते हैं ।

ग्रान—सहस्येया धावलीका धानः, एक उच्छ्वास
इत्यर्थः । (ब्रह्मसिंहि वे. स्वो. बु. ६६, पु. १६५) ।
सहस्यता धावली प्रमाण काल को ग्रान (उच्छ्वास)
कहते हैं ।

ग्रानति—तथा पूजितसंयतस्य पञ्चाङ्गप्रणामकर-
णम् ग्रानतिः । (सा. च. ५-४५) ।

दो हाथ, दो जानु और मस्तक इन पांच अंगों से
प्रणाम करने को ग्रानति कहते हैं ।

ग्रान-पानपर्याप्ति—देखो उच्छ्वास-निःश्वासपर्या-
प्ति । उच्छ्वास-निःसरणशक्तेरनित्यस्तिरानपानपर्या-
प्तिः । (मूला. बु. १२-१६५) ।

उच्छ्वास के निकलने की शक्ति की उत्पत्ति का
नाम ग्रान-पानपर्याप्ति है ।

ग्रान-पानप्राण—१. उच्छ्वासपरावर्तोल्लसखेद-
रहितविशुद्धचित्प्राणाद्विपरितसदृश ग्रान-पानप्राणः ।
(बृ. ब्रह्मसं. टी. ३) । २. उच्छ्वास-निःश्वासनाम-
कर्मादियसहितदेहोदये सत्युच्छ्वास-निःश्वासप्रवृत्ति-
कारणशक्तिरूप ग्रान-पानप्राणः । (गो. जी. अ. प्र.
ब जी. प्र. टी. १३१) ।

२ उच्छ्वास-निःश्वास नामकर्म के साथ शरीर नाम
कर्म का उदय होने पर उच्छ्वास-निःश्वास प्रवृत्ति
की कारणभूत शक्ति को ग्रानपानप्राण कहते हैं ।

ग्रानप्राण—१. असंख्येया धावलीका एक ग्रान-
प्राणः, द्विपञ्चाशदधिकत्रिंशच्छतसंख्यावलि-
काप्रमाण एक ग्रानप्राण इति बृद्धसम्प्रदायः । तथा
चोक्तम्—एगो ग्राणापाणु तेयालीस सया उ बाव-
न्ना । धावलिपपमाणेणं अणंतनाणीहि णिहिट्ठो ॥
(सूर्यप्र. मलय. बु. २०, १०५-१०६) । २. ग्रान-
प्राणी उच्छ्वास-निःश्वासकालः । (कल्पसूत्र जिनभ.
बु. ६-११८, पु. १७३) ।

असंख्यता धावलियों का एक ग्रान-प्राण होता है ।
बृद्धसम्प्रदाय के अनुसार तेतालीस सौ बावन
धावली प्रमाण ग्रानप्राण होता है ।

ग्रानप्राणकाल—हृष्टस्य नीरोगस्य धम-बुभुक्षा-
दिना निरपकृष्टस्य धावता कालेनैतावुच्छ्वास-निः-

श्वासो भवतः तावान् कालः ग्रानप्राणः । (जीवाजी.
मलय. बु. ३, २, १७८, पु. ३४४) ।

देखो ग्रानप्राण ।

ग्रानप्राणब्रह्मवर्गस्या—ग्रानपाणुदवगणा नाम
ग्रानपाणुदव्याणि चैतूण ग्रानपाणुताए परिणामेति
जीवा । (कर्मप्र. चू. बं. क. गा. १६, पु. ४१) ।

जिन पुद्गलवर्गणाओं को ग्रहण कर जीव उन्हें
श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणमित करता है उन्हें
ग्रानप्राणब्रह्मवर्गना कहते हैं ।

ग्रानप्राणपर्याप्ति—देखो ग्रानपानपर्याप्ति व
उच्छ्वासपर्याप्ति । ग्रानप्राणपर्याप्तिः उच्छ्वास-
निःश्वासयोर्म्यान् पुद्गलान् ग्रहीत्वा तथा परिणम्या-
ऽऽनप्राणतया विसर्जनशक्तिः । (स्थाना. अभय. बु.
२, १७, ३, पु. ५०) ।

उच्छ्वास-निःश्वास के योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर
और उनको उच्छ्वास-निःश्वास रूप से परिणमा-
कर ग्रानप्राणरूप से विसर्जन की शक्ति का नाम
ग्रानप्राणपर्याप्ति है ।

ग्रानयन—१. आत्मना संकल्पिते देशे स्थितस्य
प्रयोजनवशादतिक्रिच्छदानयेत्याज्ञापनमानयनम् । (स.
सि. ७-३१; त. बा. ७, ३१, १; बा. सा. पु. ६) ।

२. ग्रह्यमानयेत्याज्ञापनमानयनम् । (त. श्लो. ७,
३१) । ३. ग्रानयनं विवक्षितक्षेत्राद् बहिः स्थितस्य
सचेतनादिब्रह्मस्य विवक्षितक्षेत्रे प्रापणम्, सामर्थ्यात्
प्रेष्येण, स्वयं गमने हि व्रतभङ्गः स्यात्, परेण तु
ग्रानयने न व्रतभङ्गः स्यादिति बृद्धया प्रेष्येण यदा
ऽऽनाययति सचेतनादिब्रह्मं तदाऽतिचारः । (योगसा.
स्वो. विच. ३-११७) । ४. तद्देशाद् बहिः प्रयोजन-

वशादिदमानयेत्याज्ञापनमानयनम् । (रत्नक. टी.
४-६) । ५. ग्रानयनं सीमबहिर्देशादिष्टवस्तुनः
प्रेष्येण विवक्षितक्षेत्रे प्रापणम् । अ-शब्देन सीमबहि-

र्देशे स्थितं प्रेष्यं प्रति इदं कुर्वित्याज्ञापनं वा । (सा.
ब. स्वो. टी. ५-२७) । ६. ग्रानयनं विवक्षितक्षेत्राद्
बहिः स्थितस्य सचेतनादिब्रह्मस्य विवक्षितक्षेत्रे
प्रापणम् । (वर्मसं. ग्रान. स्वो. बु. २-५६, पु.
११५) । ७. आत्मसंकल्पितदेशस्थितेऽपि प्रतिषिद्ध-

देशस्थितानि वस्तूनि कार्यवशात्तद्वस्तुस्वामिन कथ-
यित्वा निजदेशमध्ये आनाय्य कथ-विक्रमादिकं यत्क-
रोति तदाग्रयनम् । (त. वृत्ति धृत. ७-३१) ।

८. आत्मसंकल्पिताद्देशाद् बहिः स्थितस्य वस्तुनः ।

भानयेत्तीकृतैः किञ्चिद् ज्ञापनानयनं मतम् ॥
(सादीस. ६-१२६) ।

१ प्रतिज्ञात क्षेत्र में स्थित रहते हुए प्रयोजन के लक्ष्य पर्याप्त क्षेत्र के बाहर से जित किसी वस्तु के संग्रह को भानयन कहते हैं ।

भानयनप्रयोग—देखो भानयन । १. विशिष्टावधिके भूप्रदेशाभिग्रहे परतो गमनासंभवात् सतो यदन्वो-
ज्यधिकृतदेशाद् बहिर्वर्तितः सञ्चितादिद्रव्यस्थानयनाय प्रयुज्यते 'त्वयेदमानेयम्' सन्देशकप्रदानादिना भानयन-
प्रयोगः । भानायनप्रयोग इत्यपरे पठन्ति । (त. भा. हरि. ४ सिद्ध. बु. ७-२६; प्राब. हरि. बु. ६, पु. ८३५; भा. प्र. टी. ३२०) । २. भानयने विवक्षित-
क्षेत्राद् बहिर्वर्तमानस्थ सञ्चेतनादिद्रव्यस्य विवक्षितक्षेत्र-
प्रापणे प्रयोगः, स्वयं गमने कृतभङ्गभयादन्यस्य स्वयमेव वा गच्छतः सन्देशादिना व्यापारगमनयन-
प्रयोगः । (धर्मवि. बु. ३-३२) ।

देखो भानयन ।

भानायनपर्याप्ति — देखो भानयनपर्याप्ति ।
उच्छ्वासनिस्सरणशक्तेरिष्यतिनिमित्तपुद्गलप्रचया-
वाप्तिरानायनपर्याप्तिः । (अब. पु. १, पु. २५५) ।
देखो भानयनपर्याप्ति ।

भानुगामिक अवधि—देखो भानुगामी । १. भानु-
गामिक यन्त्रवधिदुत्पन्नं क्षेत्रान्तरगतस्यापि न प्रति-
पतति भास्करवत् घटरक्तभाववच्च । (त. भा. १-२३) । २. भानुगमनशीलम् भानुगामिकम्, अव-
धिशान्तिं लोचनवत् गच्छन्तमनुगच्छतीति भावार्थः ।
(अब. हरि. बु. १५, पु. २३) । ३. भानुगमनशील
भानुगामिकः लोचनवत् । (प्राब. नि. हरि. बु. ५६, पु. ४२) । ४. तथा गच्छन्तं पुरुषमा समन्तादनु-
गच्छतीत्येवंशीलमानुगामि भानुगाम्येव वाऽनुगामि-
कः । स्वार्थे कः प्रत्ययः । अथवा भानुगमः प्रयोजन-
यस्य स भानुगामिकः लोचनवत् गच्छन्तमनु-
गच्छति सोऽवधिरानुगामिक इति भावः । (प्रज्ञाप. मलय. बु. ३३-३१७, पु. ५३६) । ५. उत्पत्तिकेना-
द्व्यभ्यास्यनुवर्तमानमानुगामिकम् । (जैनत. ११, पु. ७) ।

देखो भानुगामी अवधि ।

भानुपूर्वी—१. यत्पुद्गलकामस्यान्तर्गतो वर्तमान-
स्थ तदभिमुखमानुपूर्वी तत्प्रापणसमर्थमानुपूर्वी ना-
मेति । निर्माणनिमित्तानां शरीराङ्गोपाङ्गानां विनि-

वेशकमनियामकमानुपूर्वी नामेत्यपरे । (त. भा. ८, १२) । २. भानुपूर्वी नाम यदुदयादपान्तरालगतो
नियतदेशमनुश्रेणिगमनम् । (भा. प्र. टी. २१) ।
३. भानुपूर्वी—वृषभनासिकायन्त्ररज्जुसंस्थानीया,
यया कर्मपुद्गलसहत्या विशिष्टं स्थानं प्राप्यतेऽतो,
यया बोधोत्तमाङ्गायस्वरणादिरूपो नियमतः शरीर-
विशेषो भवति साऽनुपूर्वीति । (प्राब. नि. हरि. बु. १२२, पु. ८४) । ४. भवाद् भवं नयत्यानुपूर्व्यां यया
साऽनुपूर्वी वृषभकर्षणरज्जुकत्या । (पञ्चसं. अ. स्थो. बु. ३-१२७, पु. ३८) । ५. पुद्गलसंस्तरागमन्तरे-
एव-दो तिण्णिसमए वट्टमाणजीवस्स जस्स कम्मस्स
उदएण जीवपदेसाण विविट्ठो संठाणविसेतो होदि
तस्य आणुपुवि सि सण्णा । (अब. पु. ६, पु. ५६);
मुक्कपुब्बसरीरस्स अग्रहिदुत्तरसरीरस्स जीवस्स अद्दु-
कम्मक्खेहेहि एयसमुक्कयस्स हंसक्खलविसत्तासोवच-
एहि उवचियपंचवण्णकम्मक्खंभंतस्स विसिट्ठुमाहा-
रेण जीवपदेसाणं अणु परिव्वाहीए परिणामी आणु-
पुब्बी णाम । (अब. पु. १३, पु. ३७१) । ६. भानु-
पूर्वी च क्षेत्रसन्निवेशकम्, यत्कर्मोदयादतिशयेन
तद्गमनानुगुणं स्यात् तदप्यानुपूर्वीशब्दवाच्यम् ।
(त. भा. सिद्ध. बु. ८-२१) । ७. यदुदयादन्तराल-
गतो जीवो याति तद्वानुपूर्वी नाम । (समथ. अमथ. बु. ४२, पु. ६७) । ८. द्विसमयादिना विग्रहेण
भवान्तरपत्तिस्थान गच्छतो जीवस्यानुश्रेणिनियता
गमनपरिपाटीहानुपूर्वीत्युच्यते, तद्विपाकवेष्टा कर्म-
प्रकृतिरपि भानुपूर्वी । (कर्मस्स. गो. बु. ६-१०, पु. ८६) । ९. नारय-तिरिय-नरामरभवेसु जंतस्स
अतरगईए । अणुपुब्बीए उदधो सा अउहा सुणसु
जह होइ ॥ (कर्मवि. गर्ग. १२१, पु. ५०) । १०.
भानुपूर्वी नरकादिका, यदुदये जीवो नरकादो गच्छति,
नरकादिनयने कारण रज्जुवद् वृषभस्य । (कर्मवि. पू. व्या. ७५, पु. ३३) । ११. तथा कूर्पर-लांगल-
गोमूत्रिकाकाररूपेण यथाकर्म द्वि-त्रि-चतुःसमय-
प्रमाणेन विग्रहेण भवान्तररोत्पत्तिस्थानं गच्छतो
जीवस्यानुश्रेणिगमनं भानुपूर्वी, तन्निबन्धनं नाम
भानुपूर्वीनाम । (सप्ततिका मलय. बु. ५, पु. १५२) । १२. भानुपूर्वी नाम यदुदयादन्तरालगतो
नियतदेशमनुसृत्य अनुश्रेणिगमनं भवति । नियत
एवाङ्गविन्यास इत्यन्ये । (अमं. मलय. बु. ६१८) ।
१३. कूर्पर-लाङ्गल-गोमूत्रिकाकाररूपेण यथाकर्म द्वि

त्रि-चतुःसमयप्रमाणेन विग्रहेण भवान्तरोत्पत्तिस्थानं गच्छतो जीवस्यानुश्रेणिनियता गमनपरिपाटी ग्रानुपूर्वी । तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि कारणे कार्योपचारात् ग्रानुपूर्वी । (पञ्चसं. मलय. बृ. ३-६, पृ. ११५; प्रभाष. मलय. बृ. २३-२६०, पृ. ६६०; प्रब. सारो. बृ. १२६३) । १४. गत्यभिधानव्यपदेश्यमानुपूर्वीनाम । (कर्मवि. वे. स्त्रो. बृ. ४२) । १५. विग्रहेण भवान्तरोत्पत्तिस्थानं गच्छतो जीवस्यानुश्रेणिनियता गमनपरिपाटीग्रानुपूर्वी । तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरप्यानुपूर्वी । (कर्मप्र. घणो. टी. १, पृ. ५) ।

१ जो जीव विचक्षित गति में उत्पन्न होने का इच्छुक होकर अन्तर्गति—विग्रहगति—में वर्तमान है वह जिस कर्म के उदय से श्रेणिके—आकाशप्रवेश-पक्षित के—ग्रानुसार जाकर अभीष्ट स्थान को प्राप्त करता है उसका नाम ग्रानुपूर्वी है । अन्य कितने ही आचार्य यह भी कहते हैं कि जो कर्म निर्माण नाम-कर्म के द्वारा निर्मित शरीर के शृंग और उपांगों की रचनाविशेष के कम का नियामक होता है वह ग्रानुपूर्वी नामकर्म कहलाता है ।

ग्रानुपूर्वीसंक्रम — कोह माण-माया-भोभा एसा परिबाही ग्रानुपुञ्जीसकमो गाम । (कसायपा. बृ. पृ. ७६४) ।

कोष, मान, माया और लोभ का कम से एक का दूसरे में संक्रमण होने को प्रयात् कोषसंञ्चलन का मानसंञ्चलन में, मानसंञ्चलन का मायासंञ्चलन में और मायासंञ्चलन का लोभसंञ्चलन में संक्रमण होने को ग्रानुपूर्वीसंक्रम कहते हैं ।

ग्रानुपूर्व्यनाम—देखो ग्रानुपूर्वी । १. पूर्वशरीराकाराविनाशो यस्त्योदयाद् भवति तदनुपूर्व्यं नाम । (स. सि. ८-११) । २. यदुदयात् पूर्वशरीराकाराविनाशस्तदनुपूर्व्यं नाम । यत्पूर्वशरीराकाराविनाशः यस्त्योदयात् भवति तदनुपूर्व्यं नाम ॥ (स. भा. ८, ११, ११) । ३. यदुदयात् पूर्वशरीराकाराविनाशस्तदनुपूर्व्यं नाम । (स. स्त्रो. ८-११) । ४. पूर्वोत्तरशरीरयोस्तस्मै एव-द्वि-त्रिसमयेषु वर्तमानस्य यस्य कर्मस्कन्धस्त्योदयेन जीवप्रवेशान् विनिष्ठसंस्थानविशेषो भवति तदनुपूर्व्यं नाम । (भूला. बृ. १२, १६८) । ५. यदुदयेन पूर्वशरीराकार[रा]नाशो भवति तदनुपूर्व्यम् । (स. वृत्ति भूत. ८-११) ।

१ जिस नामकर्म के उदय से विग्रहगति में जीव के पूर्वशरीर के आकार का विनाश नहीं होता है उसे ग्रानुपूर्व्य नामकर्म कहते हैं ।

ग्रान्तर तप—देखो आभ्यन्तर तप । अन्तरव्यापार-भूयस्त्वादव्यतीर्थविशेषतः । बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वाद्यान्तरं तप उच्यते ॥ (स. भा. सिद्ध. बृ. ६-२० उद्.) । प्रायश्चित्ताविरूप छह प्रकार के तप को भूमि लौकिक जन देख नहीं सकते हैं, बिधर्मी जन भाव से उसका आराधन नहीं कर सकते, तथा भुक्ति-प्राप्ति का अन्तरङ्ग कारण भी वह है; अतएव उसे आन्तर या आभ्यन्तर तप कहते हैं ।

आपुच्छा—१. आदावणादिगहणे सण्णाउब्भामयादिगमणे वा । विणयेणायरियादिसु आपुच्छा होरि कायव्वा ॥ (भूला. ४-१४) । २. आप्रच्छन्नमापुच्छा, स च कर्तुमभीष्टे कार्ये प्रवर्तमानेन गुरोः कार्यं 'अर्हमिद करोमीति' । (आच. नि. हरि. बृ. ६६७) । ३. आपुच्छा प्रतिप्रधन किमयमस्माभिरनुगृहीतव्यो न वेति संश्रयः । (भ. भा. विजयो. टी. ६६) ; आपुच्छा किमयमस्माभिरनुगृहीतव्यो न वेति सधं प्रति प्रधनः । (भ. भा. भूला. टी. ६६) ।

४. आपुच्छन्नमापुच्छा, विहार-भूमिगमनादिषु प्रयोजनेषु गुरोः कार्यं । च-शब्दः पूर्ववत् । इहोक्तम्—आपुच्छणा उ कज्जे गुरुणो तस्संयमस्स वा नियमा । एव स तप सेय जायइ मह निज्जराहेऊ ॥ इति । (स्वाना. अमय. बृ. १०, १, ७५०, पृ. ४७५) । ५. आपुच्छा—आपुच्छा स्वकार्यं प्रति गुर्वाद्यभिप्रायग्रहणम् । (भूला. बृ. ४-४) ।

१ बुद्ध के मूल में अथवा छुले आकाश में कायोत्सर्ग आदि के ग्रहणरूप आतापनयोगादि के विषय में तथा आहार या अन्य किसी निमित्त से दूसरे प्राण के लिए जाने आदि कार्य के विषय में विनयपूर्वक आचार्य आदि से पूछना, इसका नाम आपुच्छा है । आप्रच्छन्न—अन्यारम्भ-कचोत्तनोच-कायशुद्धिक्रियादिषु । प्रधनः सूर्यादिपूज्यानां भवत्याप्रच्छन्न मुनी ॥ (आचा. सा. २-१३) ।

पञ्च के आरम्भ में, केशलुंघ करने के समय और कायशुद्धि आदि क्रियाओं को करते हुए आचार्य आदि मुख्य पुरुषों से पूछने को आप्रच्छन्न कहते हैं । आप्रच्छन्ना—देखो आपुच्छा । १. आपुच्छणा उ कज्जे × × × । (आच. नि. ६६७) । २. आउ-

च्छणा उ कञ्जे गुरुणो गुरुसम्मयस्स वा गियया ।
एवं खु तयं सेयं जायति सति णिज्जराहेक ॥ (वृणा-
सक १२-५७०) । ३. इवं करोमीति प्रच्छन्नं आ-
प्रच्छना । (अनुयो. हरि. बु. पु. ५८) ।

देसो आपृच्छ ।

आपृच्छनावच, आप्रच्छनी भाषा—१. कप्पतां
यन्मया घुष्टं तदित्याप्रच्छनावचः ॥ (आषा. सा. ५,
८७) । २. किमेतदित्यादिप्रश्नभाषा आप्रच्छनी ।
(यो. जी. जी. प्र. टी. २२५) ।

१ जो मैने पूछा है उसे कहिए—मेरे प्रश्न का उत्तर
कहें, इत्यादि प्रकार के प्रश्नों को आप्रच्छनावचन
या आप्रच्छनी भाषा कहते हैं ।

आपेक्षिक सौम्य—आपेक्षिक (सौम्यं) बिल्वा-
मलक-बदरादीनाम् । (स. सि. ५-२४; त. बा. ५,
२४, १०; त. सुखबो. ५-२४) ।

दो या दो से अधिक वस्तुओं में जो अपेक्षाकृत
सुखमत्ता (छोटापन) बिलती है उसे आपेक्षिक
सौम्य कहते हैं । जैसे—बेल की अपेक्षा आंवला
छोटा है ।

आपेक्षिक स्थौल्य—आपेक्षिक (स्थौल्य) बवरा-
मलक-बिल्व-तालादिषु । (स. सि. ५-२४; त. बा.
५, २४, ११; त. सुखबो. ५-२४) ।

दो या दो से अधिक वस्तुओं में जो एक-दूसरे की
अपेक्षा स्थूलता (बड़ापन) बिलती है उसे आपे-
क्षिक स्थौल्य कहते हैं । जैसे—आंवले की अपेक्षा
बेल बड़ा है ।

आप्त (भक्त)—१. ववगयप्रसेसदोसो सयलगुणप्या
हवे भक्तो । (नि. सा. १-५) । २. जाणमादीणि
भक्ताणि जेण भक्तो उ सो भवे । रागद्वोसपहीणो वा
वे व इट्ठा विसोवीए ॥ (अथ. भा. १०-२३५, पु.
३५) । ३. आप्तोनेत्सन्नदोवेण सर्वज्जेनाऽऽप्राभेसिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् । (रत्न-
क. ५) । ४. ये दर्शन-ज्ञान-विशुद्धलेखया जितेन्द्रियाः
शान्तमदा दमेणाः । तपोभिरुद्भासितचाकदेहा आप्ता
गुणैराप्ततमा भवन्ति ॥ निद्रा-श्रम क्लेश-विषाद-
चिन्ता-क्षुत्सू-जरा-व्याधि-भयैर्विहीनाः । अविस्मयाः
स्वेदमलरूपिता आप्ता भवन्त्यप्रतिमस्वभावाः ॥
द्वेषश्च रागश्च विमूढता च दोषाश्चास्ते जगति
प्रकृताः । न सन्ति तेषां यतकल्पभाषां तानर्हंतस्त्वा-
प्ततमान् वदन्ति ॥ (वराह. २५, ८६-८८) ।

५. यो यन्नाऽविसंवादकः स तन्नाऽऽप्तः । (अथशरी
७८) । ६. आप्तो रागादिरहितः । (वसवै. भा.
हरि. बु. ४-३५, पु. १२८; सुख. जी. बु. सु.
१, ६, ३३, पु. १८५) । ७. आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं
दोषक्षयाद् विदुः । वीतरागोऽमृतं वाक्यं न ब्रूयादे-
त्वसम्भवात् ॥ (ललितवि. पु. ६६; अथ. पु. १, पु.
१२ उ.) । ८. आप्तागमः प्रमाणं स्याद्यथावद्वस्तुसू-
चकः । यस्तु दोषैर्विनिमुक्तः सोऽप्यमाप्तो निरञ्जनः ॥
(आप्तस्वक्य १) । ९. सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोष-
विवर्जितम् । सर्वसत्त्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतीचिताः ॥
(उपासका. ४६) । १०. यथानुभूताऽनुमितश्रुतार्था-
विसंवादिवचनः पुमानाप्तः । (नीतिका. १५-१५) ।
११. भक्तो दोसविमुक्तो × × × । छुह तण्हा भय
दोसो रागो मोहो जरा रुजा चिन्ता । मज्जू सेमो
सेमो भरद्द ममो विममो जम्मं ॥ णिहा तहा
विसाभो दोसा एदेहि वज्जियो भक्तो । (बबु. भा.
७-६) । १२. अभिधेयं यस्तु यथावदित्यतं यो
जानीते यथाज्ञातं चाभिधत्ते स आप्तः । (प्र. न. त.
४-४; बबु. स. टी. पु. २११) । १३. आप्तास्त
एव ये दोषैरप्यदाशमिरुज्जिताः । (वर्णश. २१,
१२८) । १४. व्यपेक्षाऽप्येवोपो यः शरीरी तत्त्व-
देशकः । समस्तवस्तुतत्त्वज्ञः स स्यादाप्तः सतां पतिः ॥
(आषा. सा. ३-४) । १५. यथावदर्शनः निर्मूल-
क्रोधापगमादिगुणयुक्तश्च पुरुष इहाऽऽप्तः । (वर्णसं.
मलय. बु. ३२) । १६. आप्तः शंकराहितः । (नि.
सा. बु. १-५) । १७. मुक्तोऽप्यदाशमिर्वैयुक्तः
सर्वज्ञश्च-सम्पदा । शास्ति मुक्तिपथ भव्यान् योऽसा-
वाप्तो जगत्पतिः ॥ (अन. अ. २-१४) । १८.
आप्यते प्रोक्तोऽर्थो यस्मादित्याप्तः; यद्वा आप्ती
रागादिदोषक्षयः, सा विद्यते यत्स्वेत्यर्थं आप्तित्वादिति
आप्तः । × × × अक्षरविलेखनद्वारेण अक्षुप्तदर्शन-
मुखेन करपल्लव्यादिषेष्टाविशेषवशेन वा शब्दस्मर-
णाद् यः परोक्षार्थविषयं विज्ञानं परमोत्पादयति
सोऽप्यप्त इत्युक्तं भवति । (रत्नाकर. ४-४, पु.
३७) । १९. धातुकार्ष्वसोद्भूतकैवल्यज्ञानरश्मिभिः ।
प्रकाशकः पदार्थानां जैलोक्योदरवर्तिनाम् ॥ सर्वज्ञः
सर्वतो व्यापी त्यक्तदोषो ह्यवंचकः । देवदेवेन्द्रवन्द्या-
धिराप्तोऽसौ परिकीर्तितः ॥ (आषसं. भाष. ३२८,
३२९) । २०. आप्तः प्रत्यक्षप्रमितसकलपदार्थत्वे
सति परमहितोपदेशकः । (म्या. बी. पु. ११३) ।

२१. आतोऽष्टादशभिर्दोर्वनिर्मुक्तः शान्तरूपवान् ।
(पु. उपासकाचार ३) । २२. कृत्विपासे भय-द्वेषी
मोह-रागी स्मृतिजैरा । रुमृती स्वेद-खेदी च मदः
स्वापो रतितर्जनिः ॥ विषादविस्मयावेतो दोषा अष्टा-
दशेरिताः । एभिर्मुक्तो भवेदाप्तो निरञ्जनपदा-
भितः ॥ (धर्मसं. भा. ४, ७-८) । २३. यथास्थिता-
यंपरिज्ञानपूर्वकहितोपदेशप्रवण प्राप्तः । (जैन तर्क.
पृ. १६) ।

३ धीतराय, सर्वज्ञ और आगम के ईश (हितोपदेशी)
पुरुष को प्राप्त कहते हैं ।

आवाधा—देखो भवाधा । १. न बाधा भवाधा,
भवाधा चेव भवाधा । (बच. पु. ६, पृ. १४८) ।

२. कम्मतरूपेणागयदब्बं ण य एदि उदयरूपेण ।
रूपेणुदीरणस्स व भवाहा जाव ताव हवे ॥ (पो.
क. १५५) ।

२ कर्मरूप से बन्ध को प्राप्त हुआ इष्ट जितने समय
तक उदय या उद्वीरणा को प्राप्त नहीं होता, उतने
काल का नाम भवाधा या आवाधाकाल है ।

आवाधाकाण्डक—उत्कत्सावाधं विरलिय उत्क-
त्सट्ठिदि समखंडं करिय दिण्णे क्वं पडि आवाधा-
कण्डयपमाणं पावेदि । (बच. पु. ६, पृ. १४६) ।

विवक्षित कर्म की उत्कृष्ट स्थिति में उसी के उत्कृष्ट
आवाधाकाल का भाग देने पर जो लब्ध हो उतना
आवाधाकाण्डक का प्रमाण होता है, अर्थात् उतने
स्थितिविकल्पों का आवाधाकाण्डक होता है ।

आभिग्रहिक—१. आभिग्रहिकं येन गोटिकावि-
कुदर्शनानामन्यतमदभिग्रह्णाति । (कर्मस्त. गो. वृ.
६-१०, पृ. ८३) । २. तत्राभिग्रहिकं पाखण्डिनां
स्व-स्वशास्त्रनियमितविकेकालोकानां परपक्षप्रति-
क्षेपदक्षिणां भवति । (योगशा. स्को. विव. २-३) ।
३. तत्राभिग्रहेण इदमेव दर्शनं शोभनं नान्यद् इत्येवं
रूपेण कुदर्शनविषयेण निर्वृत्तमाभिग्रहिकम्, यद्वशात्
गोटिकादिकुदर्शनानामन्यतमं दर्शनं शुक्लाति । (बह-
शीति मलय. वृ. ७५-७६; बहशीति वे. स्को. वृ.
५१; सम्बोधन. वृ. ४७, पृ. ३२; पंचसं. मलय. वृ.
४-२) । ४. आभिग्रहेण निर्वृत्त तत्राभिग्रहिकं स्मृ-
तम् । (लोकप्र. ३-६६०) ।

३ यही दर्शन (सम्प्रदाय) ठीक है, अन्य कोई भी
दर्शन ठीक नहीं है; इस प्रकार के कथाग्रह से निर्मित
ल. २६

विश्यात्वा का नाम आभिग्रहिक है ।

आभिनबोधिक—१. ईहा अपोह मीमंसा मग्गणा
य गवेसणा । सण्णा सई मई पण्णा सव्वं आभिणि-
बोहियं ॥ (नन्दी. भा. ७७; विशेष. ३६६) ।

२. अत्याभिमुहो नियतो बोधो अभिनबोधः । स
एव स्वाधिकप्रत्ययोपादानादाभिनबोधिकम् । अहवा
अभिनबोधे भवं, तेण निव्वत्त, तम्मत्तं तत्पयोयणं वा
ऽऽभिणिबोधिकम् । अहवा आता तदभिनबुज्झए,
तेण बाऽभिणिबुज्झते, तम्हा वा[ऽभिणि]बुज्झते,
तम्हि वाभिनबुज्झए इत्ततो आभिनबोधिकः । स
एवाऽभिणिबोधिकोपयोगतो अनन्यत्वादाभिनबोधि-
कम् । (नन्दीसुत्त बृ. सू. ७, पृ. १३) । ३. पञ्चमस
परोवसं वा जं अत्थं ऊहिल्लण णिदिसइ । तं होइ
अभिणिबोह अभिमुहमत्थं न विवरीय । (बृहत्क. १,
३६) । ४. होइ अपोहोऽवाधो सई विई सव्वमेव
मइपण्णा । ईसा सेसा सव्वं इदमाभिणिबोहियं
जाण ॥ (विशेष. ३६७) । ५. आ अर्याभिमुखो
नियतो बोधः अभिनबोधः । अभिनबोध एव आभि-
निबोधिकम् × × × । अभिनबोधे वा भवम्, तेन
वा निर्वृत्तम्, तन्मयं तत्प्रयोजनं वा, अथवा अभि-
निबुध्यते तद् इत्याभिनबोधिकम्, अवग्रहादिक
मतिज्ञानमेव, तस्य स्वसंविदितरूपत्वात् भेदोपचारात्
इत्यर्थः । अभिनबुध्यते बाऽनेनेत्याभिनबोधिकः,
तदावरणकर्मसंयोजकः इति भावार्थः । अभिनबुध्य-
तेऽस्मादिति वाभिनबोधिकम्, तदावरणक्षयोपशम
एव । अभिनबुध्यतेऽस्मिन्निति वा क्षयोपशमे सत्या-
भिनबोधिकम् । आत्मेव वा अभिनबोधोपयोग-
परिणामानन्यत्वात् अभिनबुध्यते इति आभिनबो-
धिकम् । (नन्दी. हरि. वृ. पृ. २४-२५; आच.
नि. हरि. वृ. १, पृ. ७) । ६. जमवमहादिकं
पञ्चुप्पन्नत्वाहागं तोए । इंदिय-मणोणिमितं तं
आभिणिबोहियं वेति ॥ (धर्मसं. हरि. ८२३) ।

७. अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिदिईदि-
यजं । बहुउग्गहाइणा खलु कयच्छत्तीसा तिसयमेयं ।
(प्रा. पंचसं. १-१२१; बच. पु. १, पृ. ३५६ उद्.;
गो. जी. ३०६) । ८. तस्य आभिणिबोहियणाणं
णाम पंविदिय-णोइदिएहिं मदिणाणावरणसञ्चोवस-
मेण य जणिदोऽजग्गहेहावायचारणाओ सह-परिस-
रुव-रस-मंव-दिट्ठ-मुदाणुसुद्विसयाओ । बहु-बहुविह-

सिप्पाअणस्सिदाणुत्त-धुवेदरभेदेण तिसयल्लतीसाओ ।
(अथ. पु. १, पृ. ६३); अहिमुह-णियमियप्रत्यावबो-
हो आभिनवोहो, धून-वट्टमाण-अयंततरिदप्रत्या अहि-
मुहा । चक्खिदि ए रूवं णियमिदं, सोदिदि ए सही,
आणिदि ए गंभो, जिम्मिदि ए रसो, फासिदि ए फासो,
ओइदि ए दिट्ठ-सुदानुभूदअया णियमिदा । अहिमुह-
णियमिदअट्टेसु जो बोहो सो अहिणवोहो । अहि-
णवोह एव आहिणवोहिय णाणं । (अथ. पु. १, पृ.
१५-१६); तस्य अहिमुहणियमिदत्थस्स बोहणं
आभिनवोहियं णाम णाणं । को अहिमुहत्थो ?
इदि-ओइदियाणं गहणपाओगो । कुदो तस्स
णियो ? अणत्थ अप्पवृत्तीदो । अत्थिदियालो-
गुवजोनेहिती चेव माणुसेसु रूवणाणुप्पती । अत्थि-
दिय-उवजोनेहिती चेव रस-गंभ-सह-कासणाणुप्पती ।
दिट्ठ-सुदानुभूदअ-मणेहिती ओइदियाणाणुप्पती ।
एसो एत्थ णियो । एदेण णियमेण अभिमुहत्थेसु
अणुप्पज्जदि णाणं तमाभिनवोहियणाण णाम ।
(अथ. पु. १३, पृ. २०६-१०) । ६. अभिमुखो
निश्चितो यो विषयपरिच्छेदः सर्वैरेव एभिः प्रकारैः
सदाभिनवोधिकम् । (त. मा. सिद्ध. वृ. १-१३) ।
१०. अभिमुख योग्यदेशावस्थितं नियतमर्थमिन्द्रिय-
मनोद्वारेणात्मा येन परिणामविशेषेणावबुध्यते स
परिणामविशेषो ज्ञानापरपर्यायः आभिनवोधिकम् ।
(आव. नि. मलय. वृ. १, पृ. २०) । ११. अर्थाभि-
मुखो नियतः प्रतिस्वरूपको बोधो बोधविशेषोऽभि-
नवोऽभिनिबोध एव आभिनवोधिकम् × × × ।
अथवा अभिनवबुध्यते अस्मादस्मिन् वेति अभिनि-
बोधस्तदावरणजयोपशमस्तेन निर्वृत्तमाभिनवोधि-
कम् । तच्च तत् ज्ञान चाभिनवोधिकज्ञानम् ।
इन्द्रिय-मनोनिमित्तो योग्यप्रदेशावस्थितवस्तुविषयः
रूपटः प्रतिलाभो बोधविशेष इत्यर्थः । (प्रज्ञाप.
मलय. वृ. २६-३१२, पृ. ५२६) । १२. स्थूल-वर्त-
मानयोग्यदेशावस्थितोऽर्थः अभिमुखः, अस्तेन्द्रियस्या-
यमर्थ इत्यवधारितो नियमितः । अभिमुखत्वात्सो
नियमितत्वात्सो अभिमुखनियमितः, तस्यायंश्च बोधन
ज्ञानम्, आभिनवोधिकं मतिज्ञानम् । (यो. जी. व.
प्र. व जी. प्र. टी. ३०६) ।
७ अभिमुख और निश्चित पदार्थ के इन्द्रिय और
मन के द्वारा जानने को आभिनवोधिक ज्ञान कहते
हैं । यह मतिज्ञान का नामान्तर है ।

आभिनवोधिक—१. अभिनवोहो भवं आभिनवे-
धिकम् । अहर्हप्रकृतप्रोद्गलनं गोष्ठामाहिलस्येव ।
(पंचसं. व. स्वो. वृ. ४-२, पृ. १५६) । २. आभि-
नवोधिकं जानतोऽपि यथास्थितं वस्तु दुरभिनवेश-
लेचविप्लावितविधौ जमालेरिव भवति । (योगशा.
स्वो. विच. २-३) । ३. आभिनवोधिक यदभिनवे-
शेन निर्वृत्तम्, यथा गोष्ठामाहिलादीनाम् । (सम्बो-
धत. वृ. ४७, पृ. ३२; पंचसं. मलय. वृ. ४-२,
पृ. १५६) । ४. यतो गोष्ठामाहिलादिवात्मीय-
कुदशने । भवत्यभिनवेशस्तत्प्रोक्तमाभिनवोधिकम् ॥
(सांक्र. ३-६६३) ।

२ वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानते हुए भी दुराग्रह
के वश से जमानि के समान जिनप्रकृत तत्त्व
के अन्वया प्रतिपादन करने को आभिनवोधिक
मिथ्यात्व कहते हैं ।

आभियोगिक—देशो आभियोग्यः । अभियोगः पार-
वश्यम्, स प्रयोजन येषां ते आभियोगिकाः । (वि-
पाकसूत्र अभय. वृ. २-१४, पृ. २६) ।

अभियोग का अर्थ पराधीनता है वह, पराधीनता
ही जिनका प्रयोजन है, अर्थात् जो दूसरों के आधीन
रहकर उनको आत्मानुसार सेवाकार्य किया करते हैं
उन्हें आभियोगिक वेव कहते हैं ।

आभियोगिकभावना—१. कोउअ भूई पसिणे
पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी । इद्धिद-रस-सायगुहो
अभिधोग भावणं कुणइ ॥ (बृहत्क. भा. १३०८) ।

२. कोऊय-भूइकम्मे पसिणापसिणे निमित्तमाएसी ।
इद्धिद-रस-सायगुहो अभिधोग भावणं कुणइ ॥
(गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ४, पृ. १८ उ.) ।

१ कोतुक दिलाकर, भूतिकर्म बताकर, प्रश्नों के
उत्तर देकर और शरीरगत जिज्ञासियों के शुभाशुभ
फल बताकर आत्मीयिका करने को तथा ऋद्धि, रस
और सात गोरक्षय प्रवृत्तियों के रक्षने को आभियो-
गिकभावना कहते हैं ।

आभियोगिकी, आभियोगी—१. आ समन्ताद्
आभिमुख्येन [वा] गुज्यन्ते प्रेय्यकर्मणि व्यापार्यन्त
इत्याभियोग्याः किकरस्थानीया देवविशेषास्तेषामिय-
माभियोगी । (बृहत्क. वृ. १२६१) । २. आभियोगाः
किकरस्थानीया देवविशेषास्तेषामिदं आभियोगिकी ।
(चर्मसं. माग. स्वो. वृ. ३-८१, पृ. १७८) ।

१ जो वेव इन्द्रादि के सेवाकार्य में नियुक्त रहते हैं वे

आभियोग्य कहलाते हैं। उनसे सम्बन्धित भावना का नाम आभियोगिकी या आभियोगी है।

आभियोग्य—१. आभियोग्या दाससमाना बाहनादिकर्मणि प्रवृत्ताः । (त. सि. ४-४) । २. आभियोग्या दासस्थानीयाः । (त. भा. ४-४) । ३. आभियोग्या दाससमानाः । यथेह दासा बाहनादिव्यापारं कुर्वन्ति तथा तत्राभियोग्या बाहनादिभावेनोपकुर्वन्ति । आभियुज्येन योगोऽभियोगः, अभियोगे भवा आभियोग्याः । × × × अथवा अभियोगे साधवः आभियोग्याः, अभियोगमहन्तीति वा । (त. बा. ४, ४, ६) । ४. बाहनादिभावेनाभियुज्येन योगोऽभियोगस्तत्र भवा अभियोग्यास्त एव आभियोग्याः इति । × × × अथवा अभियोगे साधवः आभियोग्याः, अभियोगमहन्तीति वा आभियोग्यास्ते च दाससमानाः । (त. ह्यो. ४-४) । ५. अभियुज्यन्त इत्याभियोग्याः बाहनादौ कुत्सिते कर्मणि नियुज्यमानाः, बाहनादेवा इत्यर्थः । (अथ. पत्र ७६४) । ६. भवेनुराभियोग्यास्या दासकर्मकरोपमाः ॥ (म. पु. २२, २६) । ७. दासप्राया आभियोग्याः । (त्रि. वा. पु. च. २, ३, ७७४) । ८. आ समन्तादभियुज्यन्ते प्रेष्यकर्मणि व्यापार्यन्त इत्याभियोग्या दासप्रायाः । (संग्रहणी वे. बु. १; बृहत्सं. नलव. बु. २) । ९. अभियोगे कर्मणि भवा आभियोग्या दासकर्मकरकल्पाः । (त. वृत्ति क्षुत्. ४-४) ।

१ सवारी आदि में काम आने वाले दास समान वेचों को आभियोग्य कहते हैं।

आभियोग्यभावना—देखो आभियोगिकी । १. मंताभियोग-कोटुग-भूदीयम् पञ्जदे जो हू । इडि-रस-सावहेतुं अभियोगं भावणं कृणु ॥ (म. भा. ३, २८२) । २. जे भूदिकम्म-मंताभियोग-कोडूह्लाइ-संजुत्ता । जणवण्णे य पट्टा बाहणदेवेषु ते होति ॥ (ति. प. ३-२०३) ।

१ ब्रह्मि, रस और सात गारव के हेतुभूत मंत्राभियोग (भूतवेशकरण), कुतूहलोपवर्शन (अकालवृद्धि आदि वर्शन) और भूतिकर्म का करने वाला आभियोग्य-भावना को करता है।

आभोग—१. आभोगो उवभोगो । (प्रथा. स्व. गा. १५) । २. आभोगनमाभोगः, 'भुज-पालनाभ्यवहारयोः' मर्यादाभिविभिना वा भोगनं पालनमाभोगः । (प्रोचन. बु. ४, पृ. २६) । ३. आत्वाप्य-

कायसिवनमाभोगः । (आच. ह. बु. मल. हे. दि. पृ. ६०) ।

३ जान करके भी अकार्य के सेवन करने को आभोग कहते हैं।

आभोगनिर्वर्तित कोप—यदा परत्यापाराधं सम्यगवबुध्य कोपकारण च व्यवहारतः पुष्टमवलम्ब्य नाम्यथास्त्य शिक्षोपजामते इत्याभोग्य कोपं विधत्ते तदा स कोप आभोगनिर्वर्तितः । (प्रज्ञाप. मलय. बु. १४-१६०, पृ. २६१) ।

दूसरे के अपराध को भलीभाँति जान करके तथा व्यवहार से पुष्ट कोप के कारण का आशय लेकर 'अभ्य प्रकार से इसे क्षमा नहीं मिल सकती है' यह देखकर जब क्रोध करता है तब उसके इस क्रोध को आभोगनिर्वर्तित कोप कहते हैं।

आभोगनिर्वर्तितताहार—आभोगनमाभोगः आलोचनम्, अभिसन्धिरित्यर्थः । आभोगेन निर्वर्तितः उत्पादित आभोगनिर्वर्तितः, आहारयामीतीच्छापूर्वं निर्मापितः इति यावत् । (प्रज्ञाप. मलय. बु. २८, ३०४, पृ. ५००) ।

अभिप्रायपूर्वक बनवाया गया आहार आभोगनिर्वर्तितताहार है। यह नारकियों का आहार है।

आभोगबकुश—१. संचित्यकारी आभोगबकुशः । (त. भा. सिद्ध. बु. ६-४६) । २. द्विविध-(शरीरोपकरण-) भूषणमकृत्यमित्येवंभूतं ज्ञानम्, तत्प्रधानो बकुश आभोगबकुशः । (धर्मसं. मान. स्वी. बु. ३-५६, पृ. १५२) । ३. आभोग. साधुनामकृत्य-मेतच्छरीरोपकरणविभूषणमित्येवंभूतं ज्ञानम् । तत्प्रधानो बकुश आभोगबकुशः । (प्रच. सारो. बु. ७२४) ।

१ जो साधु विचारपूर्वक करता है—शरीर व उपकरणों को विभूषित रखता है—उसे आभोगबकुश कहते हैं।

आभ्यन्तर आत्मभूतहेतु—तन्निमित्तो (द्रव्ययोगनिमित्तो) भावयोगो वीर्यान्तराय-ज्ञान-दर्शनावरण-अय-अयोपशमनिमित्त आत्मनः प्रसादश्चात्मभूत इत्यास्यामहंति । (त. भा. २, ८, १) ।

द्रव्ययोगनिमित्तक भावयोग और वीर्यान्तराय तथा ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्म के अय-अयोपशमनिमित्तक आत्मा के प्रसाद को आभ्यन्तर आत्मभूत हेतु कहते हैं।

आभ्यन्तर तप—१. कथमस्याभ्यन्तरत्वम् ? मनो-
नियमनार्थत्वात् । (स. सि. ६-२०) । २. अन्तः-
करणव्यापारात् । प्रायश्चित्तादितपः अन्तःकरण-
व्यापारालम्बनम्, ततोऽस्याभ्यन्तरत्वम् । बाह्यद्रव्या-
नपेक्षत्वाच्च । न हि बाह्यद्रव्यमपेक्ष्य वर्तते प्रायश्चि-
त्तादि तत्तद्वास्याभ्यन्तरत्वमवश्यम् । (त. बा. ६,
२०, २-३; आ. सा. पृ. ६०) । ३. इदं प्रायश्चि-
त्तादिश्रुत्यन्तमनुष्ठानं लौकिकैरनभिलष्यत्वात्
संश्रान्तीयेष्वभावतोऽनासेव्यत्वात्सोक्षप्राप्त्यन्तरङ्ग-
त्वाच्चाभ्यन्तरं तपो भवति । (वसवर्ष. नि. हरि. वृ.
१-४८, पृ. ३२) । ४. इदं चाभ्यन्तरस्य कर्मण-
स्त्रापकत्वात्, अभ्यन्तरैरेवात्मसुखैर्मग्नवद्भिर्मात्रमान-
त्वाच्चाभ्यन्तरत्वम् । (योगशा. स्वो. विष. ४-६०) ।
५. इच्छानिरोधनं यत्र तदाभ्यन्तरमीरितम् । (धर्मसं.
आ. ६-१६६) ।

२ जो प्रायश्चित्तादि तप बाह्य द्रव्य की अपेक्षा न
कर अन्तःकरण के व्यापार के आश्रित होते हैं वे
आभ्यन्तर तप कहलाते हैं ।

आभ्यन्तर द्रव्यमल—१. पुणु दिङ्जीवपदेसे गि-
बद्धत्वाद् पयङ्गि-टिदिद्वाहं ॥ अणुभागपदेसाहं चउहिं
पत्तेस्केभेजमाण तु । गाणावरणप्यद्बुदी अट्टविहं
कम्ममल्लिणपावण्य ॥ अन्तरदृष्टमलं जीवपदेसे
निबद्धमिदि हेतो । (सि. प. १, ११-१३) । २. धन-
कठिनजीवप्रदेशनिबद्धप्रकृति-स्थित्यनुभागः प्रदेशविभ-
क्तज्ञानावरणाष्टविधकर्मभ्यन्तरद्रव्यमलम् । (ध्व.
पु. १, पृ. ३२) ।

२ सवन व कठिन जीवप्रदेशों से जो प्रकृति, स्थिति,
अनुभाग और प्रदेश बन्ध रूप से ज्ञानावरणादि आठ
प्रकार के कर्ममुद्गल सम्बद्ध रहते हैं उन्हें आभ्यन्तर
द्रव्यमल कहते हैं ।

आभ्यन्तरनिर्वृत्ति—१. उत्सेधाङ्गुलासंख्येयभाग-
प्रमितानां शुद्धात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रिय-
संस्थानेनावस्थितानां वृत्तिराभ्यन्तरा निर्वृत्तिः । (स.
सि. २-१७) । २. विशुद्धात्मप्रदेशवृत्तिराभ्यन्तरा ।
उत्सेधाङ्गुलासंख्येयभागप्रमितानां विशुद्धानात्मात्म-
प्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानमानावमा-
नावस्थितानां वृत्तिराभ्यन्तरा निर्वृत्तिः । (स. बा.
२, १७, ३) । ३. लोकप्रमितानां विशुद्धानात्मात्मप्र-
देशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थिताना-
मुत्सेधाङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमितानां वा वृत्तिराभ्य-

न्तरा निर्वृत्तिः । (ध्व. पु. १, पृ. २३२) ।

१ प्रतिनियत चक्षु आदि इन्द्रियों के आकार से अव-
स्थित उत्सेधाङ्गुल के अंशस्थातर्षे भाग प्रमाण विशुद्ध
आत्मप्रदेशों के अवस्थान को आभ्यन्तर निर्वृत्ति
(द्रव्येन्द्रिय) कहते हैं ।

आभ्यन्तर प्रत्यय—तत्त्व अर्थान्तरो कोषादिव्य-
कम्मन्वेषा अर्थान्तपरमाणुसमुद्भयसमागमसमुप-
पन्ना जीवपदेसेहि एयत्तमुवगया पयङ्गि-टिदि-अणुभाग-
भेयभिण्णा । (जयध. १, पृ. २८४) ।

अनन्तान्त परमाणुओं के समुदाय के आगमन से
उत्पन्न जो कोषादि कषायरूप द्रव्य कर्मस्वरूप प्रकृति,
स्थिति और अनुभाग में विभक्त होकर जीवप्रदेशों
के साथ एकता को प्राप्त होते हैं उन्हें आभ्यन्तर
प्रत्यय कहते हैं ।

आमन्त्रण—आमच्चर्णं कामचारानुज्ञा । (अष्टस.
पयो. वृ. ३, पृ. ५८) ।

इच्छानुसार काम करने की अनुज्ञा देने को आमन्त्रण
कहते हैं ।

आमन्त्रणी भाषा—१. यया वाचा परोऽभिमुखी-
क्रिये सा आमन्त्रणी । (भ. आ. विजयो. ११६५) ।

२. गृहीतवाच्य-वाचकसम्बन्धो व्यापारान्तर प्रत्यभि-
मुखीक्रिये यया सामन्त्रणी भाषा । (मूला. वृ. ५,
११८) । ३. तन्नामन्त्रणमन्यस्य परत्रासक्तचेतसः ।
आभिमुख्यकरो हही नरेन्द्रेत्यादिक वचः ॥ (आचा.
सा. ५-८५) । ४. 'आगच्छ भो देवदत्त' इत्याद्या-

ज्ञानभाषा आमन्त्रणी । (गो. जी. जी. प्र. २२५) ।
५. संबोधनजुता जा अवहाण होइ जं च सोऊण ।
आमन्तणी य एसा पण्णत्ता तत्तवंसीहि ॥ (भाषार.
७२) । ६. या सम्बोधनः हे-अये-भोप्रभृतिपदैर्व्युक्ता
सम्बद्धा, यां च धृत्वा अवधानं धोतुणां श्रवणाभि-

मुख्यम्, सम्बोधनमात्रेणोपरमे किमात्मन्यसीति प्रथम-
हेतुजिज्ञासाफलकं भवति । एषा तत्त्वदर्शाभिरामन्त्रणी
प्रज्ञप्ता । (भाषार. टी. ७२) ।

१ जिस भाषा के द्वारा दूसरे को अभिमुख किया
जावे उसे आमन्त्रणी भाषा कहते हैं ।

आमरणान्त दोष—मरणमेवान्तो मरणान्तः, आ
मरणान्तात् आमरणान्तम्, असम्भ्रज्जानुतापस्य काल-

सीकरिकादेरिव या हिसादिषु प्रवृत्तिः सैव दोषः
आमरणान्तदोषः । (श्रीपरा. वृ. २०, पृ. ४४) ।

मरणमेवान्तो मरणान्तः, आ
मरणान्तात् आमरणान्तम्, असम्भ्रज्जानुतापस्य काल-

सीकरिकादेरिव या हिसादिषु प्रवृत्तिः सैव दोषः
आमरणान्तदोषः । (श्रीपरा. वृ. २०, पृ. ४४) ।

मरण होने तक बिना किसी प्रकार के पश्चात्ताप के कालसौकरिक (एक कथायी) आदि के समान जो हिसाबि पापों में प्रवृत्ति होती है उसे आचरणान्त बोध कहते हैं।

ग्रामर्जन—ग्रामर्जनं मृदुगोमयादिना लिम्पनम् । (व्यव. भा. मलय. वृ. ४-२७, पृ. ६) ।

मुदु गोबर आदि से लोपने को ग्रामर्जन कहते हैं।

ग्रामर्शन—१. क्षपकस्य शरीरैकदेशस्य स्पर्शनम् ग्रामर्शनम् । (भ. आ. विजयो. ६४६) । २. शरीरैकदेशस्पर्शनम् । (भ. आ. मूला. टी. ६४६) ।

समाधिमरण करने वाले साधु के शरीर के एकदेश का स्पर्श करने को ग्रामर्शन कहते हैं।

ग्रामर्शलम्बि—देखो ग्रामशौषधि ऋद्धि । तत्र ग्रामर्शनमामर्शः, संस्पर्शनमित्यर्थः । स एव शौषधिर्यस्यासाधामशौषधिः साधुरेव, संस्पर्शनमात्रादेव व्याध्ययनयनसमर्थ इत्यर्थः, लम्बि-लम्बिमतोरभेदान् । स एवामर्शलम्बिरिति । (आच. नि हरि. व मलय. वृ. ६६; प्रब. सारो. वृ. १४६६) ।

जो साधु स्पर्श मात्र से ही रोग के दूर करने में समर्थ होता है उसे अभेद विवक्षा से ग्रामर्शलम्बि—ग्रामर्श ऋद्धि का धारक—कहा जाता है।

ग्रामशौषधि ऋद्धि—देखो ग्रामर्शलम्बि । रिसिकर-चरणादीन भल्लियमेतत्तमि जीए पासम्मि । जीवा होति गिरोगा सा अम्मरिसोसही रिद्धी ॥ (ति. प. १०६८) ।

जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के स्पर्श मात्र से रोगियों के रोग दूर हो जाते हैं उसे ग्रामशौषधि ऋद्धि कहते हैं।

ग्रामशौषधिप्राप्त—१. ग्रामर्शः मस्पर्शः, यदीय-हस्त-पादाद्यामर्श शौषधिप्राप्तो यैस्ते ग्रामशौषधिप्राप्ता । (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०३) । २. ग्रामर्ष-शौषधत्व प्राप्तो येषां ते ग्रामशौषधिप्राप्ताः ।

× × × तवोमाहृष्येण जेसि फावो सयलोसहस्ररुवत् पतो तेसिमाभोसहिपता त्ति सण्णा । (वच. पु. ६, पृ. ६५-६६) । ३. ग्रामर्शः संस्पर्शो हस्त-पादाद्यामर्शः सकलौषधि प्राप्तो येषां ते ग्रामशौषधिप्राप्ताः । (आ. सा. पृ. ६६) ।

ग्रामर्श का अर्थ स्पर्श होता है, जिन बहुषधियों के हाथ-पांव आदि का स्पर्श शौषधि को प्राप्त हो गया है—रोगियों के दुःसाध्य रोगों के दूर करने में

शौषधि का काम करता है—वे महर्षि ग्रामशौषधि-प्राप्त—ग्रामशौषधिऋद्धि के धारक—कहे जाते हैं।

ग्रामुण्डा—ग्रामुण्डयते संकोचयते वित्तिकीर्णं धनया इति ग्रामुण्डा । (वच. पु. १३, पृ. २४३) । जिसके द्वारा विमर्शित पदार्थ का संकोच किया जाय उसे ग्रामुण्डा वृद्धि (अवयध) कहते हैं।

ग्रामशौषधिप्राप्त—देखो ग्रामशौषधिप्राप्त ।

ग्राम्नाय—१. शौषण्ड परिवर्तनमाग्नायः । (स. सि. ६-२५; त. डलो. ६-२५) । २. ग्राम्नायो शौषण्ड परिवर्तन गुणनम्, रूपादानमित्यर्थ । (त. भा. ६-२५; योगशा. स्वो. वि. ४-६०) ।

३. शौषण्डपरिवर्तनमाग्नायः । त्रितिनो वेदित-समाचारस्यैहलौकिकफलनिरपेक्षस्य द्रुत-विलम्बित-दिशौषण्ड परिवर्तनमाग्नाय इत्युपदिश्यते । (त. वा. ६, २५, ४) । ४. ग्राम्नायोऽपि परिवर्तनम्, उदात्तादिपरिशुद्धमनुभावणीयमग्रासविशेषः । गुणन सन्धान पदाक्षरद्वारेण, रूपादानमेकरूपम् एका परिपाटी द्वे रूपे त्रीणि रूपाणीत्यादि । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ६-२५) ।

५. ग्राम्नायो गुणना । (भ. आ. विजयो. १०४) ; शौषण्ड-श्रुतपरावर्त्यमानमाग्नायः स्वाध्यायो भवत्येव । (भ. आ. विजयो. १३६) । ६. ग्राम्नायः कथ्यते चोषो विण्ड परिवर्तनम् । (त. सा. ७-१६) । ७. त्रितिनो विदित-समाचारस्यैहलौकिकफलनिरपेक्षस्य द्रुत विलम्बित-पदाक्षरश्रुतादिशौषण्डपरिवर्तनमाग्नायः । (आ. सा. पृ. ६७) । ८. परिवर्तनमाग्नायो शौषण्ड-विवर्जितम् । (आ. सा. ४-६१) । ९. ग्राम्नायो शौषण्डं यद् वृत्तस्य परिवर्तनम् । (अन. व. ७, ८७) । १०. अष्टस्वानोच्चारविशेषेण यत् शुद्धं शौषण पुनः पुनः परिवर्तनं स ग्राम्नायः । (त. वृत्ति श्रुत. ६-२५) ; कार्तिके. टी. ४६६) ।

३ आचारशास्त्र का ज्ञाता व्रती जो ऐहिक फल की अपेक्षा न कर द्रुत-विलम्बित आदि शौष से शिष्ट—इन दोनों से रहित—पाठ का परिशीलन करता है, यह ग्राम्नाय स्वाध्याय कहलाता है।

ग्राम्नायार्थवाचक—१. ग्राम्नायः प्राग्वः, यस्थो-त्सर्गापिवावलक्षणोऽर्थः, त वक्तव्यग्राम्नायार्थवाचकः पारमर्थप्रवचनार्थकथनेनानुप्राहकोऽनियच्छानुग्राही पञ्चम आचार्यः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६, पृ. २०८) । २. ग्राम्नायमुत्सर्गापिवावलक्षणमर्थं वक्ति

३ आचारशास्त्र का ज्ञाता व्रती जो ऐहिक फल की अपेक्षा न कर द्रुत-विलम्बित आदि शौष से शिष्ट—इन दोनों से रहित—पाठ का परिशीलन करता है, यह ग्राम्नाय स्वाध्याय कहलाता है।

ग्राम्नायार्थवाचक—१. ग्राम्नायः प्राग्वः, यस्थो-त्सर्गापिवावलक्षणोऽर्थः, त वक्तव्यग्राम्नायार्थवाचकः पारमर्थप्रवचनार्थकथनेनानुप्राहकोऽनियच्छानुग्राही पञ्चम आचार्यः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६, पृ. २०८) । २. ग्राम्नायमुत्सर्गापिवावलक्षणमर्थं वक्ति

३ आचारशास्त्र का ज्ञाता व्रती जो ऐहिक फल की अपेक्षा न कर द्रुत-विलम्बित आदि शौष से शिष्ट—इन दोनों से रहित—पाठ का परिशीलन करता है, यह ग्राम्नाय स्वाध्याय कहलाता है।

३ आचारशास्त्र का ज्ञाता व्रती जो ऐहिक फल की अपेक्षा न कर द्रुत-विलम्बित आदि शौष से शिष्ट—इन दोनों से रहित—पाठ का परिशीलन करता है, यह ग्राम्नाय स्वाध्याय कहलाता है।

यः स प्रवचनार्थं कथनेनानुवाहकोऽस्मिन्निष्ठाद्यनुज्ञायी
धाम्नायार्थवाचकः, धाधारगोचरविषयं स्वाध्यायं
वा । (योगसा. स्वो. विष. ४-६०) ।

१ धाम्नाय के अनुसार आध्याय के उत्तमं और अप-
राधक्य अर्थ के प्रतिपादन करने वाले धाचार्य को
धाम्नायार्थवाचक कहते हैं । यह परमविश्रुत
परमात्म के अर्थ का व्याख्यान करके शिष्यों का
अनुग्रह किया करता है । यह प्रजापति धादि पाँच
धाचार्यभेदों में अन्तिम है ।

धाय—धायः सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिलक्षणः × × × ।
(समवा. अथ. वृ. १३) ।

सम्यग्दर्शनादि गुणों को प्राप्ति को धाय कहते हैं ।

धायतन—सम्यक्त्वादिगुणानामायतनं गृहमावास
धाभ्य धाधारकरणं निमित्तमायतनं भण्यते । (वृ.
प्रवृत्त. टी. ४१, पृ. १४८) ।

सम्यग्दर्शनादि गुणों के धाधार, धाभ्य या निमित्त
को धायतन कहते हैं ।

धायस—धायसो दुःखहेतुष्वेष्टाविशेषः, प्रहरण-
सहायान्वेषणं संरम्भावेशारणविलोचन-स्वेदद्रवप्रवाह-
प्रहारवेदनादिकः । (त. भा. सि. वृ. ६-६, पृ. १६२) ।

दुःख के कारणभूत ऐष्टाविशेष को धायस कहते हैं ।

धायु कर्म—१. एति अनेन नारकादिभवमिति
धायुः । (त. सि. ८-४; त. वृत्ति भूत. ८-४; त.
सुखबो. ८-४) । २. चतुष्प्रकारमायुष्कं × × ×
स्थितिसंस्कारणं स्मृतम् ॥ (वरग. ४-३३) । ३.
अध्मावाभावयोर्जीवित-मरणं तद्वयम् । यस्य भावात्
धारमनः जीवितं भवति, यस्य चाभावात् मृत इत्यु-
च्यते तद् भवधारणमायुरित्युच्यते । (त. वा. ८, १०,
२) । ४. नारक-तिर्यग्योनी-सुर-मनुष्य-योनि-
मनुष्य- देवानां भवनशरीरस्थितिकारणमायुष्कम् ।
(अनुबो. हरि. वृ. पृ. ६३) । ५. एति याति चेत्यायुः,
अनुभूतमेति अनुभूतं च याति । (आ. प्र. टी. ११;
अमरसं. मलय. ६०८) । ६. धायुरिति प्रवस्थिति-
हेतवः कर्मयुद्गलाः । (आचारा. शी. वृ. २, १, पृ.
६२) । ७. यद्भावाभावयोर्जीवित-मरणं तदायुः । (त.
हलो. ८-१०) । ८. एति भववारणं प्रति इत्यायुः ।
जे योग्यता मिच्छतादिकारणैर्हि शिरयादिभवधारण-
सत्तिपरिणदा जीवणिषिद्धा ते धाउभसण्णदा
हन्ति । (अथ. पु. ६, पृ. १२); भवधारणमेदि
कुणति ति धाउभं । (अथ. पु. १३, पृ. २०६);

एति भवधारणं प्रतीति धायुः । (अथ. पु. १३, पृ.
३६२) । ८. भवधारणसहायं धाउभं । (अथ. २,
पृ. २१) । १०. चतुर्गतिसमापन्नः प्राणी स्थानात्
स्थानान्तरमेति यद्भावात् तदायुः । (पंचसं. स्वो. वृ.
३-१, पृ. १०७) । ११. नृ-तिर्यङ्-नारकात्म्यभेदा-
दायुषचतुर्विधम् । स्व-स्वजन्मनि जन्तूनां धारकं
गुप्तिसन्निभम् ॥ (त्रि. श. पु. अ. २, ३, ४७२) ।

१२. धायुर्नरकादिगतस्थितिकारणयुद्गलप्रचयः ।
(मूला. वृ. १२-२); नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवभव-
धारणहेतुः कर्मयुद्गलपिण्ड धायुः, औदारिक-तन्मिश्र-
वैकिक-तन्मिश्रशरीरधारणलक्षणं वा धायुः ।
(मूला. वृ. १२-६४) । १३. धायुःकर्म पञ्चमं,
जीवस्य चतुर्गतिष्ववस्थितिकारणम् । (कर्मवि. पू.
ध्या. ६, पृ. ५) । १४. एति गच्छति प्रतिबन्धकतां
नारकादिकुण्ठनेतिष्कामितुमनसो जन्तोरित्यायुः ।
(कर्मवि. पर. ध्या. ६, पृ. ६) । १५. एति धा-
गच्छति प्रतिबन्धकतां स्वकृतकर्मबद्धनरकादिगते-
निष्कामितुमनसो जन्तोः इत्यायुः । (प्रज्ञा. मलय.
वृ. २३-२८८, पृ. ४५४; पंचसं. मलय. वृ. ३-१,
पृ. १०७; प्रच. सारो. वृ. १२५०; कर्मप्र. यशो.
वृ. १, १, पृ. २) । १६. एति गच्छति अनेन गत्य-
न्तरमित्यायुः, यद्वा एति धागच्छति प्रतिबन्धकतां
स्वकृतकर्मावाप्तनरकादिगुणैर्निर्गन्तुमनसोऽपि जन्तो-
रित्यायुः, × × × यद्वा धायति भवाद् भवान्तरं
संक्रामतां जन्तूनां निश्चयेनोदयमागच्छति × × ×
इत्यायुः, सन्देहिः । × × × अथवा धायाम्नुप-
भोगाय तस्मिन्नुदिते सति तद्भवप्रायोम्याणि सर्वा-
ण्यपि शेषकर्मणीत्यायुः । (कर्मवि. वे. स्वो. वृ. ३,
पृ. ५) ।

१ नारक धादि भव को प्राप्त कराने वाले कर्म को
धायु कहते हैं ।

धायुर्बन्धप्रायोम्य काल—सगजीवदतिभागस्त पद-
भसमयपट्टदि जाव विस्समणकालधनतरहेट्टिमसमधो
ति धाउभप्रचयधोगकालो । (अथ. पु. १०, पृ.
४२२) ।

अपने जीवित—सूक्ष्ममान धायु—के विभाग के
प्रथम समय से लेकर विभ्रानकाल के अन्तर
(अव्यवहित) अवस्तन समय तक का काल नवीन
धायु के बन्ध के योग्य होता है ।

धायोजिकाकरण—१. अथरे 'धाउजियाकरण'

पठति । तत्रैवं शब्दसंस्कारमाचक्षते—आयोजिका-
करणमिति । अयं चान्त्रान्वयार्थः—आह्म मर्यादायाम्,
आ मर्यादाया केवलितदृष्ट्या क्षुभानां योगानां व्यापा-
रणमायोजिका, भावे बुद्धि, तस्याः करणमायोजिका-
करणम् । (प्रज्ञाप. मलय. बृ. ३६, पृ. ६०४; पंचसं.
मलय. बृ. १-१५, पृ. २८) । २. आयोजिकाकरण
नाम केवलिसमुद्घातादवर्गभवति, तत्राह्म मर्यादा-
याम्, आ मर्यादाया केवलितदृष्ट्या योजन व्यापारणमा-
योजनम्, तच्चातिशुभयोगानामवसेयम्, आयोजन-
मायोजिका, तस्याः करणमायोजिकाकरणम् । (पंचसं.
उद्यो. क. मलय. बृ. ७६, पृ. १४७) ।

केवलिसमुद्घात के पूर्व जो अतिशय शुभ योगों का
आयोजन (व्यापार) किया जाता है उसे आयोजिका-
करण कहते हैं । इसे दूसरे नामों से आर्चजित-
करण और आर्चर्षीकरण भी कहा जाता है ।

भारभटा—१. वितहकरणम् तुरिष अण्ण अण्णं
व गिण्ह भारभटा । (पंचव. २४६); भारभटा
प्रत्युपेक्षेति अविधिक्रिया । (पंचव. हरि. बृ. २४५);
वितथकरणे वा प्रस्फोटनाख्ययासेवने वा
भारभटा, त्वरितं वा द्रुतं वा सर्वभारभमाणस्य,
अन्यदण्डप्रत्युपेक्षितमेव मुक्त्वा कल्पमन्यडा गृह्यतः
भारभटेति । (पञ्चव. हरि. बृ. २४६) । २ वितह-
करणेण तुरिय, अण्णन्नागिण्हणे व भारभटा । (मु.
मु. घट. १बो. बृ. २८, पृ. ६१) ।

१ आहुते आदि के अन्वया सेवन में, अथवा शीघ्रता से
भारम्भ करते हुए, अथवा अर्घ्य प्रत्युपेक्षित को छोड़
कर अर्घ्य कल्प को ग्रहण करते हुए भारभटा नामक
शोध (प्रतिलेखनावोध) होता है ।

भारम्भ—१. प्रक्रम भारम्भः । (स. सि. ६-८;
भारम्भः प्राणिपीडाहेतुव्यापारः । (स. सि. ६-१५) ।
२. प्राणिवधस्त्वारम्भः । (स. भा. ६-६) । ३.
भारम्भो ह्येवं कर्म । हिसनशीला हिंसाः, तेषां कर्म
हैसमारम्भ इत्युच्यते । (स. भा. ६, १५, २) ।
४. भारंभा उद्वच $\times \times \times$ । (अथ. सु. भा. १,
४६, पृ. १८; प्रव. सारो. १०६०) । ५. प्राणाति-
पातादिक्रियान्वितारम्भः । (स. भा. हरि. बृ. ६-६) । ६. कृष्यादिकस्त्वारम्भः । (भा. प्र. टी.
१०७) । ७. प्राणातिपातादिक्रियान्वितारम्भः ।
(स. भा. सिद्ध. बृ. ६-६) । ८. प्राणि-प्राणवियोज-
नमारम्भो धाम । (अथ. सु. १३, पृ. ४६) । ९.

सचित्तहिंसाद्युपकरणस्याधः प्रक्रम. भारम्भः । (भ.
आ. विजयो. ८११; अथ. व. स्वो. टी. ४-२७);
पृथिव्यादिविषयो व्यापार भारम्भः । (भ. आ.
विजयो. ८२०) । १०. आदी क्रमः प्रक्रम भारम्भः ।
(आ. सा. पु. ३६) । ११. भारम्भ्यस्ते विनाशयन्त
इति भारम्भाः जीवाः, अथवा भारम्भः कृष्यादि-
व्यापारः, अथवा भारम्भो जीवानामुपद्रवणम् ।
(अथ. अथ. बृ. ११) । १२. $\times \times \times$ अगि [अग्नि-]
वातादिः स्यादारम्भो दयोर्जिभतः ॥ (आषा. सा.
५-१३) । १३. अपद्रावयतो जीवितात्परं व्यपरो-
पयतो व्यापार भारम्भः । (अथ. भा. मलय. बृ.
१-४६; प्रव. सारो. बृ. १०६०) । १४. प्राणिनः
प्राणव्यपरोप भारम्भः । (भा. प्रा. टी. ६६) ।
१५. प्राणव्यपरोपणादीनां प्रथमारम्भ एव भारम्भः ।
(स. वृत्ति भूत. ६-८); भारम्भ्य इत्यारम्भः
प्राणिपीडाहेतुव्यापारः । (स. वृत्ति भूत. ६-१५) ।
१ कार्य के प्रारम्भ कर देने को भारम्भ कहा जाता
है । जीवों को पीड़ा पहुँचाने वाला जो व्यापार
(प्रवृत्ति) होता है वह भी भारम्भ कहलाता है ।
भारम्भकथा — तित्तिरादीनामियता तत्रोपयोग
इत्यारम्भकथा । (स्थाना. अथ. बृ. ४, २, ४८२,
पृ. १६६) ।

वहाँ इतने तीतर आदि का उपयोग होना चाहिये,
इत्यादि प्रकार की प्राणिबिधात से सम्बद्ध कथा
का नाम भारम्भकथा है ।

भारम्भकोपदेश—१. भारम्भकेभ्यः कृषीबलादि-
भ्यः क्षित्युदक-ज्वलन-पवन-वनस्पत्यारम्भोऽनेनोपा-
येन कर्तव्य इत्याख्यानमारम्भकोपदेशः । (स. भा.
७, २१, २१; भा. सा. पु. ६) । २. पामरादीना-
मग्रे एवं कथयति—भूरेवं कथ्यते, उदकमेव निष्का-
प्यते, वनदाह एवं क्रियते, सुपादय एवं चिकित्सयन्ते,
इत्याद्यारम्भ अनेनोपायेन क्रियते इत्यादिकथनं
भारम्भोपदेशनामा चतुर्थः पापोपदेशो भवति । (स.
वृत्ति भूत. ७-२१) ।

१ कृषि आदि भारम्भके करने वाले मनुष्यों को भूमि
खोदने, जल लींचने और वनस्पति काटने आदिकल्प
हिंसात्मक भारम्भ का उपदेश देने को भारम्भकोप-
देश (अनर्थवच) कहते हैं ।

भारम्भक्रिया—१. जेवन-मेवन-विशस-(विशंस—
त. वा.) नादिक्रियापरत्वमन्येन वा भारम्भे क्रिय-

माणे प्रहर्षः प्रारम्भक्रिया । (त. सि. ६-५; त. वा. ६, ५, ११; त. क्षति भूत. ६-५) । २. आरम्भे क्रियमाणेऽयं स्वयं हर्ष-प्रमादितः । सा प्रारम्भ-क्रियात्यन्तं तात्पर्यं वाञ्छितादिषु ॥ (ह. पु. ५८, ७६) । ३. छेदनादिक्रियासक्तचित्तत्वं स्वस्य यद् भवेत् । परेण तत्कृतौ हर्षः सेहारम्भक्रिया मता ॥ (त. श्लो. ६, ५, २३) । ४. भूमादिकायोपघात-लक्षणा शुष्कतृणादिछेदलेखनादिका वाऽप्यारम्भ-क्रिया । (त. भा. सिद्ध. बृ. ६-६) ।

१ प्राणिनो के छेदन-भेदन आदि क्रियाओं में स्वयं प्रवृत्त होने को, तथा अन्य को प्रवृत्त बेलकर हर्षित होने को आरम्भक्रिया कहते हैं ।

आरम्भभक्तकथा—ग्राम-नगराद्याध्यापछाग-महि-व्यादयः, आरम्भका आटविकास्तित्तिर-कुरङ्ग-साव-कादयः एतावन्तोऽमुकस्य रसवत्यां हत्वा संस्क्रियन्त इत्येवंकथा । (आच. ह. बृ. मल. हे. टि. पृ. ६२) । अमुक के यहाँ भोज में ग्राम-नगरादि के आश्रित रहने वाले बकरे वा भंसा आदि इतनी संख्यामें तथा जंगल में रहने वाले सीतर व हिरण आदि इतनी संख्या में मार कर पकाए जाने वाले हैं, इत्यादि प्रकार की कथावार्ता को आरम्भभक्तकथा कहते हैं ।

आरम्भिकी क्रिया—वैशो आरम्भक्रिया । आरम्भः पृथिव्याद्युपमर्दः, उक्तं च—आरंभो उद्भवतो सुद-नवाणं तु सव्येति ॥ आरम्भः प्रयोजनं कारणं यस्याः सा आरम्भिकी । (प्रज्ञाप. मलव. बृ. २२-२८४, पृ. ४४७) ।

पृथिवीकायादि जीवों के संहाररूप आरम्भ ही जिस क्रिया का प्रयोजन हो उसे आरम्भिकी क्रिया कहते हैं ।

आरम्भ-प्रेषोद्दिष्टवर्जक—१. वज्जे सावज्जमारंभं अट्टमि पडिवन्नघो ॥६॥ अवरेणावि आरंभं णवमी नो करावए । दसमी पुण उद्दिट्ठं फासुयं पि ण मुंजए ॥७॥ (सु. सु. षट्. स्को. बृ. १५) । २. आरम्भश्च स्वयं कृष्यादिकरणम् प्रेषश्च प्रेषण परेषां पापकर्मसु व्यापारणम्, उद्दिष्टं च तमेव आवकमुद्दिश्य सचेतनमचेतनीकृतं पक्वं वा यो वर्जयति परिहरति स आरम्भ-प्रेषोद्दिष्टवर्जकः । (सम्भोच. स. बृ. ६१, पृ. ४५) ।

२ जो आवक कृषि आदि करने रूप आरम्भ को, दूसरों को पापकार्यों में प्रवृत्त कराने रूप प्रेषण को,

तथा अपने उद्देश्य से अक्षित किये गये अवका पकाए गए सचेतन उद्दिष्ट (भोज्य पदार्थ) को छोड़ देता है उसे आरम्भ-प्रेष-उद्दिष्टवर्जक (घाठवीं, नौवीं और दसवीं इन तीन प्रतिमाओं का परिपालक) कहा जाता है ।

आरम्भविरत—१. सेवा-कृषि-वाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति । प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भ-विनिवृत्तः ॥ (रत्नक. १४५) । २. जो आरंभ ण कुणदि अण्ण ण कारयदि णेव अणुमण्णे । हिंसा संतट्टमणो चत्तारंभो हवे सो हु ॥ (कातिके. ३८५) ।

३. एवं चिय आरंभं वज्जेइ सावज्जमट्टमास व । तप्पडिमा × × × ॥ (आ. प्र. वि. १०-१४) ।

४. आरम्भविनिवृत्तो ऽसि-मसि-कृषि-वाणिज्यप्रमुखादारम्भान् प्राणातिपातहेतोर्विरतो भवति । (आ. सा. पृ. १६) । ५. सर्वप्राणिष्वंसहेतुं विदित्वा यो नाऽऽरम्भं वर्मवित् तत्करोति । मग्गीभूतद्वैवरागादिवृत्तिः सोऽनारम्भः कथ्यते तत्त्वबोधि ॥ (वर्मप. २०-६०) ।

६. निरारम्भः स विज्जेयो मुनीन्द्रैर्हंतकल्पयैः । कृपासुः सर्वजीवानां नारम्भं विदधाति यः ॥ (सुभा. सं. ८४०) । ७. विलोक्य पट्टजीववि च तमुच्चैरारम्भ-मत्यस्यति यो विवेकी । आरम्भमुव्रतः स मतो मुनीन्द्रैर्विरागिकः संयम-वृक्षसेकी ॥ (अमि. आ. ७, ७४) । ८. न किंचिं गिहारं बहु भोगं वा सया विवज्जेइ । आरंभणियत्तमई सो अट्टमु सावघो भणिघो ॥ (बसु. आ. २६८) । ९. घट्टो मासान् (पूर्वप्रतिमानुष्ठानसहितः) स्वयमारम्भं न करोतीत्यष्टमी । × × × वज्जे सावज्जमारंभं अट्टमि पडिवन्नघो ॥५॥ (योगशा. स्को. विव. ३-१८४, पृ. २७२) । १०. निरुद्धसप्तनिष्ठोऽग्निघाताङ्गत्वात्करोति न । न कारयति कृष्यादीनारम्भविरत-स्त्रिधा ॥ (सा. म. ७-२१) । ११. यः सेवा-कृषि-वाणिज्यव्यापारव्यजनं भजेत् । प्राप्यभिघातसंत्यागादारम्भविरतो भवेत् ॥ (आच. वाम. ५४०) ।

१२. निर्व्यूढसप्तधर्मोऽङ्गवधहेतुं करोति न । न कारयति कृष्यादीनारम्भरहितस्त्रिधा ॥ (वर्मसं. आ. ८-३६) । १३. सर्वतो देशतश्चापि यन्नारम्भस्य वर्जनम् । अष्टमी प्रतिमा सा × × × ॥ (साटीस. ७-३१) ।

१ हिंसा के कारणभूत सेवा, कृषि व वाणिज्य आदि आरम्भों का परित्याग करने वाले आवक को

१ हिंसा के कारणभूत सेवा, कृषि व वाणिज्य आदि आरम्भों का परित्याग करने वाले आवक को

भारम्भभिरत (अण्डन प्रतिमा बारक) कहते हैं ।
६ पूर्व प्रतिमाओं के साथ आठ मास तक स्वयं
भारम्भ न करने वाले आचक को भारम्भभिरत कहा
जाता है ।

भारम्भ-समारम्भ—भारम्भसमारम्भो ति भारम्भ-
न्ते विनाशयन्त इति भारम्भा जीवास्तेषां समारम्भ
उपमर्दः । अथवा भारम्भः कृष्यादिव्यापारस्तेन समा-
रम्भो जीवोपमर्दः । अथवा भारम्भो जीवानामुपद्रव-
णम्, तेन सह समारम्भः परितापनमित्यारम्भ-समा-
रम्भः, प्राणवधस्य पर्याय इति । अथवेहारम्भ-समा-
रम्भशब्दयोरेकतर एव गणनीयो बहुसमरूपत्वादिति ।
(प्रथमव्या. बृ. ११) ।

‘भारम्भन्ते विनाशयन्ते इति भारम्भाः जीवाः’ इस
निशचित के अनुसार भारम्भ शब्द का अर्थ जीव
होता है, उनके समारम्भ—पीडन—का नाम
भारम्भ-समारम्भ है । अथवा कृषि आदि व्यापार से
जो प्राणिघात होता है वह भारम्भसमारम्भ कह-
लाता है । अथवा जीवों को उपद्रव के द्वारा जो
संतप्त किया जाता है उसे भारम्भसमारम्भ जानना
चाहिए । अथवा भारम्भ और समारम्भ इन दो
शब्दों में से किसी एक ही की गणना करना चाहिए ।
भार्राचक—१. पंचिदिगृहि गुप्तो मणमाईतिविह-
कणमाउत्तो । तव-नियम-संजर्ममि अ जुतो भार्राचको
होइ ॥ (प्रोषनि. २८१, घृ. २५०) । २. निहयकलामो
भक्तो संतणवंतो हु णाणसंपणो । दुविहपरिगह-
चत्तो मरणे भार्राह्मो हवइ ॥ संसारसुहविरत्तो
वेरम्पं परमउवसमं पत्तो । विविहतवतवियदेहो मरणे
भार्राह्मो एसो ॥ अण्यसहावे गिरमो वज्जियपरदव-
संसुक्करोसो । णिम्महिगयराय-दोसो हवेइ भार्राह्मो
मरणे ॥ (भार्रा. ता. १७-१६) । ३. × × ×
भण्यस्त्वार्राचको विधुद्धात्मा । (भ. भा. मूला. १
ज्वृत्त) ।

१ जो पांचों दिग्विषयों से गुप्त है अर्थात् उन्हें अपने
अपीन रखता है, मन आदि (बचन व काय) तीन
करणों की प्रवृत्ति में सावधान है; तथा तप, नियम
व संयम में संलग्न है; वह भार्राचक कहा जाता है ।

भार्राचनो—१. उज्ज्वलगुणज्वलणं शिब्यहृणं साहणं
च शिच्छ (त्य)रणं । संसण-भाण-चरित्तं तवाणमार्रा-
हणा भण्णिदा ॥ (भ. भा. २) । २. भार्राच्यन्ते

ल. १७

सेव्यन्ते स्वार्थप्रसाचकानि क्रियन्ते सम्यग्दर्शनादीनि
भोक्तृमुखापिभिरनयेत्याराधना भार्राच्यनिष्ठ भार्रा-
चकव्यापारः उपजातसम्यग्दर्शनादिपरिणामस्यात्म-
नस्तद्गतातिशयवृत्तिः । (भ. भा. मूला. टी. १) ।

३. भार्राचनो परिशुद्धप्रज्ञयासामलक्षणा । (उप. प.
बृ. ४६६) ।

१ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के उद्योग, न,
उत्पापन, निर्बन्धन, साधन एवं निस्तरण—भाषान्तर-
प्रापक—को भार्राचनो कहते हैं ।

भार्राचनो भाषा—१. भार्राह्णी उ ब्वे सच्चा
× × × । (वसवै. नि. २७२) । २. भार्राच्यते
परलोकापीडया यथावदभिधीयते वस्त्वनयेत्यारा-
चनी । (वसवै. नि. हरि. बृ. २७२) ।

२ जिस भाषा के द्वारा दूसरे प्राणियों को पीड़ा न
पहुँचा कर वस्तु का यथार्थ कथन किया जाता है उसे
भार्राचनी भाषा कहते हैं ।

भार्राचम—१. विविधपुण्यजात्युपशोभित भार्राचमः ।
(अनुवो. हरि. बृ. घृ. १७) । २. प्रागत्य रमन्तेऽज
माववीलतायुहादिषु रम्यस्य इति स भार्राचमः ।
(जीवाजी. मलय. बृ. ३, २, १४२, पृ. २५६) ।

१ नाना जाति के पुण्यों से शोभित उपवन को
भार्राचम कहते हैं ।

भार्राहो—भार्राहो नाम शरीरेण नातिदेव्यं नाति-
ह्रस्वता, × × × अथवा भार्राहोः शरीरोच्छ्रायः ।
(बृहत्क. बृ. २०५१) ।

शरीर से न तो अति लम्बा होना और न अति
छोटा भी होना, इसका धाम भार्राहो है । अथवा
शरीर की ऊँचाई को भार्राहो कहते हैं ।

भार्जव धर्म—१. भोतूण कुण्डिलभावं णिम्मलहिद-
येण चरदि जो समयो । अणजवधम्मं तद्वो तस्स
हु संभवदि णियमेण । (हावसान्. ७३) । २. योग-
स्यावक्ता भार्जवम् । (स. सि. ६-६; त. प्लो. ६,
६; त. पुक्कवो. ६-६; त. वृत्ति भूत. ६-६) । ३.

भावविशुद्धिबिसंवादन चार्जवलक्षणम् । ऋजुभावः
ऋजुकर्म चार्जवम्, भावदोषवर्जनमित्यर्थः । (स. भा.
६-६) । ४. योगस्यावक्ता भार्जवम् । योगस्य
काय-वाङ्मनोलक्षणस्यावक्ता भार्जवमित्युच्यते ।
(स. भा. ६, ६, ४) । ५. अणजवं नाम उज्जुगलसं-
ति वा अकुण्डिलसत्तं ति वा । एवं च कुण्डमाणसस

कम्मणिज्जरा भवइ, धकुब्बमाणस्स य कम्मो-
वचयो भवइ । (वसवै. बृ. पु. १८; उक्खुता-
भासो अज्जवर्च । (वसवै. बृ. पु. २३३) । ६. परस्मि-
निकृतिपरैऽपि मायापरित्यागः आर्जवम् । (वसवै.
मि. हरि. बृ. १०-३५६) । ७. जो चित्तेण वंक्कं
कुणदिण वंक्कं ण जंपए वंक्कं । ण य गोवदि णिय-
दोसं अज्जवचम्मो हवे तस्स ॥ (कार्तिके. ३६६) ।
८. धाकुप्पान्तद्वयसूत्रवद्वक्ताऽभाव आर्जवम् । (भ.
आ. विजयो. टी. ४६) । ९. बाहुमनःकाययोगा-
नामवक्त्वं तदाज्वम् । (त. सा. ६-१६) । १०.
आर्जवं मायोदयनिग्रहः । (श्रीपरा. अथव. बृ. १६,
३३) । ११. योगस्य कायबाहुमनोलक्षणस्यावकृता-
ऽऽर्जवमित्युच्यते । (भा. सा. पु. २८) । १२. ऋजो-
र्भाव आर्जवं मनोवाक्कायानामवकृता । (भूता. बृ.
११-५) । १३. चित्तमन्वेति वाग् येषां वाचमन्वेति
च क्रिया । स्वपरानुग्रहपराः सन्तस्ते विरलाः कलौ ॥
(अन. च. ६-२०) । १४. अज्जवो य भमाइत्त ×
× × । (गु. गु. वद. स्वी. बृ. १३, पु. ३८) ।
१५. मनोवचन-कायकर्मणामकोटित्वमाज्वम् । (त.
वृत्ति भूत. ६-६) । १६. ऋजुरवकर्मनोवाक्काय-
कर्मा, तस्य भावः कर्म वा आर्जवम्, मनोवाक्काय-
विक्रियाविरहो मायारहितत्वम् । (सम्बोधस. बृ.
१६०, पु. १७; चर्मसं. धान. स्वी. बृ. ३-४३, पु.
१२८) ।
१ कुटिलता को छोड़कर निर्मल अन्तःकरण से
प्रवृत्ति करना आर्जव बर्ण कहलाता है, जो भूमि के
सम्भव है ।
भारतध्यान—१. भ्रमगुणसंप्रयोगे इदुविभोए परि-
स्सह्णिदाणे । अट्टं कसायसहियं भाणं भणियं समा-
सेण ॥ (भ. आ. १७०२) । २. भ्रमगुणजोग-इदु-
विभोम-परीसह-णिदाणकरणेसु । अट्टं कसायसहियं
भाणं भणियं समासेण ॥ (भूता. ५-१६८) । ३.
भारतमनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वा-
हारः ॥ विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ वेदनायावच्च ॥ निदानं
च ॥ (त. सू. ६, ३०-३३) । ४. अट्टं दुःखम्, अर्द-
ममतिर्वा, तत्र भवमार्तम् । (त. सि. ६-२८, त.
सुखबो. ६-२८; त. वृत्ति भूत. ६-२८) । ५. तस्य
संकलिदुःखवशाभो अट्टं । (वसवै. बृ. पु. २६) ।
६. राज्योपभोगसयनासमवाहनेषु स्वीगन्धवात्य-
मभिरलविभूषणेषु । इच्छाभिलाषमतिमात्रमुपैति

मोहाद् ध्यानं तदार्तमिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥
(वसवै. मि. हरि. बृ. १-४८) । ७. अट्टं दुःखं
तन्निमित्तो वृद्धाध्यवसायः, अट्टे भवमार्तम्, निस्पृ-
मित्यर्थः । (ध्यानस. ५-आव. हरि. पु. पु. ५८४) ।
८. इष्टेतरवियोगादिनिमित्तं प्रायशो हि तत् । यथा-
शक्त्यपि हेयादावप्रवृत्त्यादिवर्जितम् ॥ उद्वेगद्वि-
धादाढ्यमात्मघातादिकारणम् । भारतध्यानं × ×
× ॥ (हरि. अष्टक. १०, २-३) । ९. अट्टमर्दव-
भातिर्वा, तत्र भवमार्तम् । अट्टं दुःखम्, प्रथवा अर्द-
नमार्तिर्वा, तत्र भवमार्तम् ॥ (त. भा. ६, २८, १) ।
१०. तन्नातिरर्दनं बाधा ह्यार्तं तत्र भवं पुनः । सुकुण्ण-
नील-कापोतलेस्याबलसमुद्भवम् ॥ (ह. पु. ५६-४) ।
११. भारतं दुःखमर्दं दुःखानुबन्धि चेति । (त. भा.
सिद्ध. बृ. ६-२६); आतिश्च दुःखं शरीरं मानसं
चानेकप्रकारम्, तस्यां भवमार्तं ध्यानम् । (त. भा.
सिद्ध. बृ. ६-३१) । १२. अट्टमर्दमार्तर्वा, अट्टे
भवमार्तमर्तो भवमार्तमिति वा दुःखभावं प्रार्थना-
भावं वेत्यर्थः । (त. श्लो. ६-२८) । १३. अट्टं
तित्त्वकसाय × × × ॥ दुःखपरविसयजोए केम
इमं चयदि इदि विचिततो । वेदुदि जो विक्खितो
अट्टञ्छाण हवे तस्स ॥ मणहरविसयविभोगे कहं तं
पावेमि इदि वियप्पो जो । संतावेण पयट्ठो सो चिय
अट्टं हवे ञ्छाणं ॥ (कार्तिके. ४७१, ४७३-४७४) ।
१४. तंबोल-कुसुम-लेवण-भूषण-पिययुत्तचित्तं अट्टं ।
(भा. सा. पथ. ११) । १५. राग-द्वेषोदयप्रकर्षादि-
न्द्रियाधीनत्वराग-द्वेषोद्रेकात् प्रियसंयोगाऽप्रियवियोग-
वेदना-मोक्षण-निदानाकांक्षणरूपमार्तम् ॥ (पंचा. का.
अमृत, बृ. १४०) । १६. प्रियञ्जशेऽप्रियप्राप्ती निदाने
वेदनोदये । भारतं कायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः ॥
(त. सा. ७-३६) । १७. अट्टे भवमार्तं स्यादस-
ध्यानं शरीरिणाम् । दिग्भोहान्ततातुल्यमविद्या-
वासनावशात् ॥ (ज्ञानार्णव २५-२३) । १८. अट्टं
दुःखम्, तस्य निमित्तं तत्र वा भवम्, अट्टे वा
पीडिते भवमार्तं ध्यानम् । (स्वाभा. अथव. बृ. ४,
१, २४७) । १९. तन्नातं मनोक्षामनोक्षेपु वस्तुषु
वियोग-संयोगादिनिबन्धनचित्तविक्षलवलाक्षणम् । (स-
मवा. अथव. बृ. ४) । २०. तत्र अट्टं दुःखं तत्र
भवमार्तम्, यथा अतिः पीडा यातव्यं च, तत्र भवमा-
र्तम् । (श्रीपरा. स्वी. विष. ३-७३) । २१. स्वदेह-
त्यागात् द्रव्यनाशात् मिश्रजनविदेशणमनात् कर्मनीय-

कामिनीवियोगादनिष्टसंयोगाद्वा समुपजातमार्तध्या-
नम् ॥ (सि. सा. ब. ६६) । २२. अनिष्टयोग-त्रिय-
विप्रयोगप्रभृत्येकांतिसमुद्भवत्वात् । अयोधुनवार्त-
रय हेतुभावाद्यथायेवार्तमिति प्रसिद्धम् । (आत्मप्र.
६१) । २३. भार्तं विषयानुरञ्जितम् । (वर्मसं.
माल. स्तो. बृ. ३-२७, पृ. ८०) । २४. भार्तंभावं
गत भार्तः, भार्तस्य वा ध्यानमार्तध्यानम् । (आ.
बृ. ४ अ.—अभिधा. १, पृ. २३५) । २५. धतिः
शारीर-मानसी पीडा, तत्र भव भार्तः, मोहोदयाद-
गणितकार्यकार्यविवेकः । (अभिधा. १, पृ. २३५) ।
२६. निवह निमयकयाई पर्वतई विन्दिभो विन्दिभो ।
पर्येह तासु रज्ज्वह तयज्जवनपरायणो होई ॥ सहा-
हविसरगिद्धो सद्धम्मपरम्मुहो पमायपरो । जिनमय-
मणविवसंतो बट्टह भट्टमि भाणम्मि ॥ (आव. ४
अ. १६-१७—अभिधा. १, पृ. २३७) । २७. गन्दा-
दीनामनिष्टानां वियोगासंप्रयोगयोः । चिन्तनं वेद-
नायाएव व्याकुलत्वमुपेयुषः ॥ इष्टानां प्रणिधानं च
संप्रयोगावियोगयोः । निदानचिन्तनं पापमार्तमित्यं
चतुर्विधम् ॥ (अध्यात्मसार १६, ४-५) ।

१ अनिष्ट का संयोग होने पर उसे दूर करने के लिए,
इष्ट का वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिए, पीडा
के होने पर उसके परिहार के लिए, तथा निदान—
आगामी काल में मुक्त की प्राप्ति की इच्छा—के लिए
बार-बार चिन्तन करना; इसे भार्तध्यान कहते हैं ।
आर्य—१. गुणैर्गुणवद्भिर्वा धर्मैर्धर्म इत्याद्याः । (स.
सि. ३-३६; त. वा. ३, ३६, २; रत्नक. टी. ३,
२१; त. वृत्ति वृत्त. ३-३६) । २. इच्छाकु-हर्षयु-
क्तप्रधानाः सेनापतिश्चेति पुरोहिताद्याः । धर्मप्रिया-
स्ते नृपते त एव आर्यस्त्विनायां विपरीतवृत्ताः ॥
(बराह. ८-४) । ३. सद्गुणैर्यमाणात्वात् गुणवद्-
भिर्धर्म मानवैः । (त. वृत्ति. ३, ३७, २) । ४. धर्म-
वद्भिर्धर्मिजनपदजाताः भूयसा आर्याः । अन्यत्र जाता
म्लेच्छाः । तत्र क्षेत्र-जाति-कुल-कर्म-शिल्प-माधा-
अन्न-दर्शन-चारित्र्येषु शिष्टलोकन्यायधर्मानपेतावरण-
शीला आर्याः । (त. सिद्ध. बृ. ३-१५) । ५. आराद्
हेयधर्मैर्मो याताः प्राप्ता उपायेधर्मैरित्याद्याः ।
(प्रज्ञाप. मलय. बृ. १-१७, पृ. ५५) ।

१ जो गुणों से युक्त हों, अथवा गुणों जिन जिनकी
सेवा-सुखी करते हैं उन्हें आर्य कहते हैं । ५ जो हेय
धर्म वालों में से उपायेय धर्म वालों के द्वारा प्राप्त

किये जाते हैं वे आर्य कहलाते हैं ।

आर्यिका—आर्यिका उपचरितमहाव्रतधराः स्त्रियः ।
(सा. ब. २-७३) ।

उपचरित महाव्रतों की धारक महिलाओं को
आर्यिका कहा जाता है ।

आर्यं विधाह—१. गोमिथुनपुरःसरं कन्याप्रदाना-
दार्थः । (वर्मवि. बृ. १-१२) । २. गोमिथुनदान-
पूर्वकमार्थः । (आढगु. पृ. १; योगसा. स्तो. विच.
१-४७; वर्मसं. भाव. स्तो. बृ. १-५, पृ. ५) ।
गोमिथुन के दानपूर्वक कन्या प्रदान करने को आर्य
विधाह कहते हैं ।

आर्हन्त्य क्रिया—आर्हन्त्यमर्हंतो भावो कर्म वेति
परा क्रिया । यत्र स्वर्गावतारादिमहाकल्याणसम्पदः ॥
यासी दिवोऽवतीर्णस्य प्राप्तिः कल्याणसम्पदात् ।
तदाहर्हन्त्यमिति ज्ञेयं नैलोक्यलोभकारणम् ॥ (म. पु-
३६, २०३-४) ।

अर्हंत के भाव अथवा कर्मरूप क्रिया को आर्हन्त्य
क्रिया कहते हैं, जिसमें स्वर्गावतरणादि ऊप-
कल्याण-सम्पदावै प्राप्त होती हैं । स्वर्ग से अवतीर्ण
हुये भगवान् अर्हंत को जो कल्याण-सम्पदाओं की
प्राप्ति होती है वह आर्हन्त्य क्रिया कहलाती है, जो
तीनों लोकों को लोभ उत्पन्न करने वाली है ।

आलपनबन्ध—देखो आलपनबन्ध । रव-शकटा-
दीनां लोहरज्जु-वरनादिभिरालपनादाकर्षणात् बन्धः
आलपनबन्धः । अनेकार्थत्वात् भावूनां लपिः आक-
र्षणक्रियो ज्ञेयः । (त. वा. ५, २४, ६) ।

रव व शकट आदि के अंग-उपायकूप काष्ठ आदि
को लोहमय लोचल व रस्सी आदि के द्वारा लोच
कर बांधना, वह आलपनबन्ध कहलाता है ।

आलम्ब्य होष—१. उपकरणादिकं लब्ध्वा यो
बन्धनां करोति तस्यालम्ब्यहोषः । (मुत्ता. बृ. ७,
१०६) । २. उपध्याप्यता क्रिया लब्धम् । (अन. ब.
स्तो. टी. ८-१०६) ।

१ उपकरण आदि पाकर गुद की बन्धना करने को
आलम्ब्य होष कहते हैं ।

आलम्बन—१. आलम्बणेहि भरियो लोगो काहु-
मणस सबगस । जं जं मणसा पेच्छइ तं तं आल-
बनं होई । (बच. पु. १३, पृ. ७०) । २. आलम्बनं
वाक्ये पदार्थं ग्रहणत्वरूपे उपयोगस्वीकृतम् । (आन-

सार वे. पु. २७-५)। ३. भालम्बन बाह्यो विषयः। (बौद्धिक पु. १३-४)।

१ सारा लोक ध्यान के भालम्बनों से भरा हुआ है। ध्याता साधु जिस किसी भी वस्तु को आचार बना कर मन से चिन्तन करता है वही उसके लिए ध्यान का भालम्बन बन जाती है। ३ ध्यान के आचार-भूत बाह्य पदार्थ को उसका भालम्बन कहा जाता है।

भालम्बन-ग्रहणसाधन—१. जेण कीरियेण घाण-पाण-भास-मणार्ण पाउजयोगेण कायजोगेण चेतुण भाणपाण-भास-मणत्ताए भालंकिता णिसिरति तं कीरियं भालंबणग्रहणसाहणं ति वुच्चति। (कर्मप्र. चू. बं. क. ४, पु. २१)।

जिस क्षणविशेष के द्वारा स्वासोच्छ्वास, भाषा और मन के बीच युद्धों को काययोग से ग्रहण कर स्वासोच्छ्वास, भाषा और मनकप से अवलम्बित कर निकालता है उसे भालम्बन-ग्रहण-साधन कहते हैं।

भालम्बनशुद्धि—भालम्बनशुद्धिर्गुरु-तीर्थ-वैत्य-यति-बन्धनादिकमपूर्वशास्त्रार्थग्रहणम्, संयतप्रायोग्यक्षेत्रमा-गम्यम्, वैद्यावृत्त्यकरणम्, अनियतावासास्थसम्पा-दने अमपराजयम् (मूला.—संपादनं अमजयो), नानादेशभाषाशिक्षणम्, विनयेजनप्रतिबोधनं चेति प्रयोजनापेक्षया भालम्बनशुद्धिः। (भ. भा. विजयो. च मूला. टी. ११६१)।

गुरु, तीर्थ, वैत्य एवं यति आदि की बन्धनापूर्वक-अपूर्व शास्त्र के अर्थ को ग्रहण करना; संयत के योग्य स्थान का अवलोकन करना; साधुओं की वैया-कृत्य करना, अनियत आवासों में रहकर स्वास्थ्य-लाभ करना, परिचयजन्य होना, नाना देशों की भाषाओं का सीखना, तथा विनये (शिष्य) जनों को प्रतिबोध देना; यह सब प्रयोजन की अपेक्षा भालम्बनशुद्धि है।

भालापनबन्ध—देखो भालपनबन्ध। १. जो सो भालावणबंधो नाम तस्स इमो गिहंसी—सगढाणं वा जाणाणं वा जुयाणं वा गज्जीणं वा गित्तीणं वा रहणं वा संवणाणं वा सिधियाणं वा गिहाणं वा पासावाणं वा गोबुराणं वा तीरणाणं वा से कट्ठेण वा सोहेण वा रज्जुणा वा बन्धेण वा दन्धेण वा जे वामाण्णे एवमाधिया अण्णदब्बाणमण्णदब्धेहि

भालावियाणं बंधो होदि सो सब्बो भालावणबंधो नाम। (वट्ठ. ५, ६, ४१—पु. १४, पु. ३८)।

२. से कि तं भालावणबन्धे? भालावणबंधे जं नं तणभाराण वा, कट्ठभाराण वा, पत्तभाराण वा, पला-लभाराण वा, वेत्तलभाराण वा, वेत्तलता-वाण-वरत्त-रज्जु-बल्लि-कुस-दम्भमादीएहि भालावणबंधे मनु-प्यज्जइ, जहन्नेणं अतोमुहुत्तं, उक्कोसेण संलेज्ज कालं, सेत्त भालावणबंधे। (भगवती ८, ६, ११—खण्ड ३, पु. १०३)। ३. रज्जु-वरत्त-कट्ठदब्बादीहि जं पुषुभूदान[दब्बाण]बंधणं सो भालावणबंधो नाम। (वव. पु. १४, पु. ३४); कट्ठादीहि अण्णदब्धेहि अण्णदब्बाण भालावियाणं ओइदाणं जो बंधो होदि सो सब्बो भालावणबंधो नाम। (वव. पु. १४, पु. ३६)। ३. तृण-काष्ठादिभाराणां रज्जु-वेत्तलतादिभिः। सत्कथकालान्तमुहुत्तौ बन्ध भाला-पनाभिः॥ (लोकप्र. ११-३२)।

१ शकट (बड़े पहियों वाली गाड़ी), धान (समूह में गमन करने वाली नौकाविशेष), दुग्ध (घोड़ा व खच्चर से बाँधा जाने वाला ताँगा जैसा), छोटे पहियों वाली छोटी गाड़ी, गिल्ली (पालकी), रथ (बुद्ध में काम आने वाला), श्यङ्गल (बकल्लों आदि महापुरुषों की सवारी), सिधिका (पालकी), गृह, प्रासाद, गोपुर और तोरण; इन सबका जो लकड़ी, लोहा, रस्ती, चर्मज रस्ती और दर्भ (काष्ठ) आदि से बन्धन होता है उसे भालापनबन्ध कहते हैं। अभिप्राय यह कि लकड़ी आदि अन्य द्रव्यों से जो पुष्पभूत दूसरे द्रव्यों का सम्बन्ध होता है उसे भालापनबन्ध कहते हैं।

भालीढ स्थान—१. तस्य भालीढं नाम दाहिणं पायं अगतीहुत्त काळणं वामपायं पच्छतीहुत्तं उसा-रेत्त अंतरा दोह्वि पादानं पच पाए। (आव. नि. मलय. वृ. १०३६, पु. ५६७)। २. तज दक्षिणमूढ-मग्रतो मुखं कृत्वा वाममूढं पश्चान्मुखमपसारयति, अन्तरा च द्वयोरपि पादयोः पञ्च पादाः, ततो वाम-हस्तेन वनुर्युहीत्वा दक्षिणहस्तेन प्रत्यङ्गामाकर्षति, तत् भालीढस्थानम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. २-३५, पु. १३)।

२ दाहिने पैर को आगे करके और बायें पैर को पाँच पादों के अन्तर से पीछे पसार कर बायें हाथ में अनुब लेकर दाहिने हाथ से उसकी प्रत्यङ्गा की

कीचते हुए कड़े होने को भालीवस्थान कहते हैं ।
भालुछन—कम्म-महीरुहमूलच्छेदसमस्थो सकीय-
परिणामो । साहेणो समभावो भालुछणमिदि समु-
द्दिट्ठं ॥ (नि. सा. ११०) ।

कर्मरूप वृक्ष के मूलोच्छेद करने में समर्थ ऐसे स्व-
कीय स्वाधीन समभावरूप परिणाम को भालुछन
कहते हैं ।

भालोपनबन्ध—देखो भ्रस्तीवणबन्ध । कुडपप्रासा-
दादीनां मृत्पिण्डेष्टकादिभिः प्रलेपदानान्योन्यालेप-
नादर्पणादालेपनबन्धः । (त. भा. ५, २४, ६) ।

भित्ति व भवन आदि के मिट्टी व ईंट आदि से लेप
बने से जो परस्परमें एकरूपता होती है उसे भालोपन-
बन्ध कहते हैं ।

भालोकितापान-भोजन—१. भालोकितापानभोजन-
मिति प्रतिगृह पात्रमव्यपतितपिण्डवक्षुराणुपयुक्तेन
अत्यवेक्षणायस्तत्समुत्थायानुक्तसत्त्वसरक्षणार्थमागस्य च
प्रतिश्रयं भूयः प्रकाशवति प्रवेशे स्थित्वा सुप्र [त्य]
वेक्षित पानभोजनं विधाय प्रकाशप्रवेशवस्थितेन
बल्लनीयम् । (त. भा. सिद्ध. बृ. ७-३) । २. भालो-
क्यते स्मालोकिम् । पानं च भोजनं च पानभो-
जनम् । भालोकिं च तत्पानभोजनं भालोकिता-
पानभोजनम् ॥ (त. सुखबो. ७-४) । ३. पानं च
भोजनं च पान-भोजने, भालोकिते सूर्यप्रत्यक्षेण पुनः
पुनः निरीक्षिते ये पान-भोजने ते भालोकितापान-
भोजने । अथवा पानं च भोजनं च पानभोजनं समा-
हारो द्रव्यः । भालोकिं च तत् पानभोजनं च भालो-
कितापानभोजनम् । (त. वृत्ति भूत. ७-४) ।

२ प्रकाश में देखा कर भोजन-पान करने को भालोकिता-
पान-भोजन कहते हैं ।

भालोचन—देखो भालोचना । १. अं सुहमसुहपु-
दिण्यं संपडिय अण्णेयवित्परिवेसेसं । तं दोसं जी
वेदिय स खलु भालोयणं वेदा ॥ (समयप्रा. ४०५) ।

२. जो पस्सवि अण्णायं समभावे संठवित्त् परिणामं ।
भालोयणमिदि जाणह परमजिणं वस्स उवएसं ॥ (नि.
सा. १०६) । ३. तत्र गुरवे प्रमादनिवेदनं दशदोष-
विवर्जितमालोचनम् । (त. सि. ६-२२; त. झलो.
६-२२) । ४. भालोचनं विवरणं प्रकाशनमाख्यानं
प्रादुर्करणमित्यनर्थान्तरम् । (त. भा. ६-२२) ।

५. तत्र गुरवे प्रमादनिवेदनं दशदोषवर्जितमालोच-
नम् । तेषु नवसु प्रायश्चित्तविकल्पेषु गुरवे एकान्ते

निवण्णाय प्रसन्नमनसे विदितदेश-कालस्य शिष्यस्य
सविनयेनात्मप्रमादनिवेदनं दशभिर्दोषैर्विवर्जितमालो-
चनमित्याख्यायते । (त. भा. ६, २२, २) । ६. भालो-
चनं मर्यादया गुरोर्निवेदनं पिण्डिताख्यानस्य । (त.
भा. हरि. बृ. ६-२२) । ७. भालोचनं मर्यादेन मर्या-
दया गुरोर्निवेदनम् । (त. भा. सिद्ध. बृ. ६-२२) ।
८. भालोचनं प्रमादस्य गुरवे विनिवेदनम् । (त. सा.
७-२२) । ९. एकान्तनिवण्णयायापरिश्रावणे सुत-
रहस्याय गुरवे प्रसन्नमनसे विद्यायोग्योपकरणग्रहणा-
दिषु प्रश्नविनयमन्तरेण प्रवृत्तस्य विदितदेश-कालस्य
शिष्यस्य सविनयमात्मप्रमादनिवेदनमालोचनमित्यु-
च्यते । (भा. सा. पृ. ६१) । १०. भालोचनं गुरु-
निवेदनम् । (स्थाना. अथम. बृ. ३, ३, १६८) ।
११. भालोचनं दशदोषविवर्जितं गुरवे प्रमादनिवे-
दनमालोचनम् । (भूला. बृ. ११-१६) । १२. तत्रा-
लोचनं गुरोः पुरतः स्वापराधस्य प्रकटनम् । तच्छा-
सेवनानुलोम्येन प्रायश्चित्तानुलोम्येन च । आसेवना-
नुलोम्यं येन क्रमेणातिचार आसेवितस्तेनैव क्रमेण
गुरोः पुरतः प्रकटनम् । प्रायश्चित्तानुलोम्यं च गीता-
र्थस्य शिष्यस्य भवति । (योगशा. स्कौ. विष. ४-६०,
पृ. ३१२) । १३. तत्र गुरवे स्वयंकृतवर्तमानप्रमाद-
निवेदनं निदोषमालोचनम् । (त. सुखबो. बृ. ६-२२,
पृ. २१६) । १४. भालोचनं सत्कर्मणां वर्तमानसु-
भाणुमकर्मविपाकानामात्मनोऽत्यन्तभेदेनोपलम्भनम् ।
अन. व. स्कौ. टी. ८-६४) । १५. ग्राह्य मर्यादा-
याम् । सा च मर्यादा इयम्—जह्म बालो जंपतो
कज्जमकज्जं उज्जुए भणइ । तं तह्म बालोएज्जा
माया-मयविष्णुमुक्को य । अनया मर्यादया × × ×
लोकनं लोचना प्रकटीकरणम् भालोचनम्, गुरोः
पुरतो वचसा प्रकटीकरणमिति भावः । यत् प्राय-
श्चित्तमालोचनामात्रेण शुद्धयति तदालोचनाहृतया
कारणे कार्योपचारादालोचनम् । (अथ. भा. अथ. बृ.
१-५३, पृ. २०) । १६. एकान्तनिवण्णाय
प्रसन्नचेतसे विज्ञातदोष-देश-कालाय गुरवे तादृशेन
शिष्येण विनयसहितं यथाभवत्येवमवच्छिनसीलेन
शिष्यवत्सरलबुद्धिना आत्मप्रमादप्रकाशनं निवेदन-
माराधनामगवतीकथितदशदोषरहितमालोचनम् ।
(त. वृत्ति भूत. ६-२२; कालिके. टी. ४४६) ।
१७. गुरोरेषु स्वप्रमादनिवेदनं दशदोषरहितमालोच-
नम् । (भाषा. टी. ७८) ।

१ अनेक भेषक्य को शुभाशुभ कर्म उदय को प्राप्त होते हैं उनको आत्मस्वक्य से पुण्य समझ कर भेषक्य मानना, इसका नाम भालोचन है। २ गुरु के सम्मुख इस शीर्ष से रहित अपने प्रभावजलित शीर्षों के निवेदन करने को भालोचन कहते हैं।

भालोचना—देखो भालोचन। १. करमिज्जा जे जोगा तेसुवउत्तस्स निरइयारस्स । छउमत्थस्स विसोही जइणो भालोयणा भणिया । (जीतक. सू. ५)। २. उग्गहसमयाणंतंरं सम्भूयविसत्ताभिमुहमालोयणं भालोयणा भण्णति । (नन्दी. बू. वू. २६)। ३. तत्थ भालोयणा नाम भवस्स करमिज्जेसु भिक्षापरिचर्यासु जइवि भवराहो नत्थि-तहावि भणालोइए भणियमो भवइ ति काऊण भवस्सं भालोएयण्वं । सो जइ किंवि भणेतसाइ भवराहं सरेज्जा, सो वा प्रायरितो किंवि सारेज्जा तम्हा भालोएयण्वं । भालोयणं ति वा पगासकरणं ति वा भक्कणं विसोही ति वा । (वसाल. बू. १, पृ. २५)। ४. भालोयणा पयवणा भवस्स सदोसकहणमिह गज्जो । गुणो एसा य तहा सुविज्जराएण विन्ने-धा ॥ (भालो. वि. हरि. १५-३)। ५. भालोचना प्रयोजनवतो हस्तसत्ताद् बहिर्गमनागमनादौ गुरोर्विकटना । (आच. नि. हरि. बू. १४१ए, पृ. ७६४)। ६. आइ मर्यादामां, भालोचनं दर्शनं परिच्छेदो मर्यादया यः स भालोचनं यथोक्तं पुरस्ताद् वस्तु-सामान्यस्यानिर्देश्यस्य स्वरूप-नाम-आद्यादिकल्पना-विमुक्तस्य यः परिच्छेदः सा भालोना मर्यादया भवति । (स. भा. सिद्ध. बू. १-१५)। ७. गुरुण-मर्परिस्सवाणं सुवरहस्साणं वीयरयाणं तिरयणे मेव भव भिराणं सगदोसणिवियणमालोयणा नाम पाम-ज्जितं । (वच. पु. ११, पृ. ६०)। ८. स्वकृताप-राधमूहन्त्यजनमालोचना । (अ. भा. विजयो. टी. ६); स्वापराधनिवेदनं गुरुणामालोचना । (अ. भा. विजयो. टी. ६९)। ९. स एव वर्तमानकर्मविपा-कमात्मनोऽप्यन्तर्मेवेनोपलभ्यमानः भालोचना भवति । (सचचप्रा. अमृत. बू. ४०४)।

३ अक्षयकरणीय भिक्षावर्ग (भिक्षार्थ गमन) आदि में अक्षय अपराध नहीं है, फिर भी भालोचना करना चाहिए; क्योंकि भालोचना न करने पर अविनय होता है। भालोचना, प्रकाशकरण, और अस्वच्छ (?) विसृष्टि; ये सब समानार्थक हैं। ६ अपने कथ, नाम

और जाति आदि की कल्पना से रहित वस्तुसामान्य का जो मर्यादापूर्वक बोध होता है उसे भालोचना कहा जाता है।

भालोचनानय—(नयतो नयप्रपञ्चतः इत्यर्थः)। अथवा कदा कारक इत्येतावद् द्वार गतम्, नयत इत्येतत् द्वारान्तरमेव) इहामिमुष्येन गुरोरात्मदोष-प्रकाशनम् भालोचनानयः । (आच. भा. हरि. बू. १७८, पृ. ४६९)।

प्रमुखता से गुरु के समक्ष अपने दोषों के प्रगट करने का नाम भालोचनानय है।

भालोचनानुलोम्य — भालोचनानुलोम्यं तु पूर्वं लघवः भालोच्यन्ते पश्चाद् गुरुवः । (आच. नि. हरि. बू. १५०१)।

गुरु के सामने पहले लघु अपराधों की और पीछे गुरु अपराधों की भालोचना करने को भालोचनानु-लोम्य कहते हैं।

भालोचनार्ह — भालोयणार्हिहं—भा मज्जायाए वट्ठइ । का सा मज्जाया ? जह् बालो जंपतो कज्ज-मकज्जं च जज्जुमो भणइ । तं तह् भालोएज्जा माया-मयविप्पमुक्को उ ॥ एसा मज्जाया । भालो-यणं पगासीकरणं समुदायसो । गुणपञ्चकलीकरण मज्जायाए । ज पावं भालोइयमेलेणं वेव सुणकइ एयं भालोयणार्हिहं । (जीतक. बू. पृ. ६)।

जिन अपराधों की शुद्धि केवल भालोचना से ही हो जाती है उन्हें भालोचनाहं कहते हैं। वह भालो-चना मर्यादापूर्वक—बालक के समान माया और नव से रहित होकर—सरलतापूर्वक की जानी चाहिए।

भालोचनाशुद्धि—१. हंतूण कसाए इंदियाणि सव्वं च गारवं हंता । तो मलिविराग-दोसो करेहि भालोयणाशुद्धि ॥ (अ. भा. ५२४)। २. माया-युषारहितता भालोचनाशुद्धिः । (अ. भा. मूला. टी. १६६)।

१ जोबाधि कबाय, इन्द्रियविषय, सब (तीनों प्रकार का) गारव और राग-द्वेष को दूर कर भालोचना करने को भालोचनाशुद्धि कहते हैं।

भावरण—१. भावरणं कारणभूतं (प्रज्ञानाविदो-पजनकं) कर्म । अथवा × × × ज्ञान-दर्शनावरणे भावरणम् । (भा. मी. बू. ४)। २. आश्रित्ये आच्छा-दतेऽनेनेत्यावरणम् । यथा आश्रितोति आच्छादयति

× × × भावरणं मिथ्यात्वाविसिधिवर्जीवव्यापाराद्भुतकर्मवर्गान्तःपाती विशिष्टपुद्गलसमूहः । (कर्म-वि. वे. स्तो. टी. ३, पृ. ४) ।

१ भ्रान्तानां वि. शोचो के कारणभूत कर्म को भावरण कहते हैं । अथवा भ्रान्तारण और वर्तनारण ये दो कर्म भावरण कहाते हैं ।

भावर्जन—उत्तं च—भावउज्जणमुवमो गो भावारी वा इति । (प्रज्ञाप. मल्ल. बृ. ३६, पृ. ६०४) ।

भावर्जन का अर्थ उपयोग या व्यापार होता है । केवलिसमुद्घात के समय वेदनीय, नाम और गौत्र कर्मों की स्थिति को ध्याय के समान करने के लिये जो व्यापार होता है वह भावर्जनकरण कहालाता है ।

भावर्जितकरण—देखी धातुकरण—१. केवलिसमुद्घातस्य अहिमुद्गीभावो भावर्जितकरणमिदि । (अथ. प्र. प. १२३७—अथ. पु. १०, पृ. ३२५ का वि. ७) । २. अग्रे भावर्जितकरणमित्याहुः । तन्नायं शब्दार्थः—भावर्जितो नाम अभिमुलीकृतः । तथा च लोके वक्तारः भावर्जितोऽयं मया, सम्मुखीकृत इत्यर्थः । ततश्च तथा अभ्यस्तेनार्वाजितस्य मोक्ष-गमनं प्रत्यभिमुलीकृतस्य करणं क्रिया शुभयोगव्यापारं भावर्जितकरणम् । (प्रज्ञाप. मल्ल. बृ. ३६, पृ. ६०४; पंचसं. मल्ल. बृ. १-१५, पृ. २८) ।

२ मोक्ष गमन के प्रति अभिमुख हुए जीव (केवली) के द्वारा की जानेवाली क्रिया—शुभ योगों के व्यापार—को भावर्जितकरण कहते हैं । इसे ध्याय-जिककरण भी कहते हैं ।

भावर्तनता—१. वर्त्यतेऽनेनेति वर्तनं अयोपशम-करणमेव, ईहाभावनिवृत्त्यभिमुखस्वापायभावप्रतिप-त्यभिमुखस्य चार्थविशेषावबोधविशेषस्य वा अर्था-दया वर्तनभाववर्तनम्, तद्भाव भावर्तनता; (नन्वी. हरि. बृ. पृ. ६६) । २. ईहातो निवृत्त्यापायभावं प्रत्यभिमुखो वर्तते येन बोधपरिणामेन स भावर्तन-स्तद्भाव भावर्तनता । (नन्वी. मल्ल. बृ. पु. ३२) ।

२ जिस बोध परिणाम के द्वारा ईहासे निवृत्त होकर अपायभाव के प्रति अभिमुख होता है उसका नाम भावर्तन और उसके भाव का नाम भावर्तनता है ।

भावर्षण—भाववर्णनम् उदकेन छटकप्रधानम् । (बृहत्क. बृ. १६८१) ।

जल से छँटे देने का नाम भावर्षण है ।

भावलि—१. भ्रसंलज्जायं समयायं समुदयसमिति-समागमेयं सा एषा भावलिप्र ति वृज्जइ । (अनुयो. सु. १३७; जम्बूद्वी. सु. १८; अग. सु. ६-७) । २. ते (समयाः) अंला भावलिया । (शौचस. १०६) । ३. ते त्वसङ्ख्येया भावलिका । (त. भा. ४-१५) । ४. होंति ह्य भ्रसंलसमया भावलियामो × × × ।

(ति. प. ४-२८७) । ५. भ्रसंख्येयाः समया भावलिका । (त. भा. ३, ३८, ७) । ६. भावलिका भ्रसंख्येयस-

मयसंघातोपलक्षितः कालः । (नन्वी. हरि. बृ. पृ. ३६; आथ. नि. हरि. बृ. ३२ एवं ६६३) । ७. तसि (समयायं) भ्रसंलज्जायं समुदयसमिती भाव-

लिया । (अनुयो. हरि. बृ. पृ. ५४) । ८. भ्रसंख्येय-समयसमुदायः भावलिका । (पंचसं. स्तो. बृ. २, ४२, पृ. ७६) । ९. ते चासंख्येयाः समया भावलिका

मध्यते । सा च जघन्यपुक्तासंख्येयसमयप्रमाणा भवति । (त. भा. सिद्ध. बृ. ४-१५; आथ. नि. जलघ. बृ. ६६३; जीवाजी. बृ. ३, २, १७८) । १०. भ्रसं-

लज्जे समए वेत्तूण एषा भावलिया हवति × × × भावलि भ्रसंलसमया । (अथ. पु. ३, पृ. ६५; पु. ४, पृ. ३१८) । ११. तसि पि य समयायं संला-

रहिया भावली होई । (भाचसं. वे. ३१२) । १२. भावलि भ्रसंलसमया × × × । (अं. बी. प. १३-५; गो. जी. ५७४) । १३. जघन्यपुक्ता-

सस्यातसमयराशिः भावलिः । (गो. जी. जी. प्र. ५७४) । १४. भावलि तेहि समएहि भ्रसंलहि किज्जइ । (अ. पु. पुण्य. २, सं. २२) । १५. भ्रसं-

ख्येयसमयसमुदायात्मिका भावलिका । (सुर्यप्र. मल्ल. बृ. ३०, १०५-६) । १६. भावलिका भ्रसंख्यात-

समयरूपा । (कप्पसु. वि. बृ. ६-११८) । १७. भ्रसं-

ख्येयैः समयैरेकावलिका । (प्रज्ञाप. मल्ल. बृ. ५-१०४) ।

१ भ्रसंख्यात समयसमूह की एक भावलि होती है ।

भावदयक (भावसत्य)—१. ण वतो भवतो भव-

सस्त कम्ममावासरं ति बोद्धव्वा । (भूला. ७-१४) ।

२. समयेण सावएण य भवसत्तायज्जयं हवइ जम्हा ।

अंतो भहोमिस्स य तम्हा भावस्सयं नाम ॥ (अनु-

यो. सु. २८, वा. २, पृ. ३१; विमो. ८७६) ।

३. भावस्सयं भवसत्तरणिण्णं अं तमावसं, अहवा गुणाभावावसत्ततो, अहवा या मज्जायाए वासं करेइ ति भावासं, अहवा जम्हा सं भावासयं जीवं

प्रावासं करोति संसण-भाण-वरणगुणाण तग्हा तं प्रावासं, ग्रहवा तत्करणातो भाणादिया गुणा प्राव-
सिति ति प्रावासं, ग्रहवा भा वज्जायाते पसत्त्वभा-
णातो प्रावासं, ग्रहवा भा मज्जाए वस प्राच्छादने
पसत्त्वगुणेहिं अप्पाणं छावेतीति प्रावासं । (अनुबो.
बु. पु. १४) । ४. अमणादिना अहोरात्रस्य मध्ये
यस्मादवश्य क्रियते तस्मादावश्यकम् । (अनुबो.
मल. हेम. बु. २८, पु. ३१) । ५. अवश्यं कर्तव्य-
मावश्यकम्, अववा गुणानामावश्यमात्मानं करोती-
स्यावश्यकम्, यथा अन्तं करोतीत्यन्तकः । अववा
'वस निवासे' इति गुणशून्यमात्मानमावासयति गुणै-
रित्यावासकम्, गुणसामिध्वमात्मानं करोतीति
आमायः । (आव. हरि. बु. पु. २१; अनुबो. हरि.
बु. पु. ३; अनुबो. मल. हेम. बु. ८, पु. १०-११) ।
२ अमण (भूमि) और आवक चिन-रात के भीतर
जिस बिधि को आवश्यकणीय समझ कर किया
करते हैं उसका नाम आवश्यक है ।

भावश्यककरण—अन्ये 'आउत्सियकरणं' इति
बुधते । तत्राप्ययमन्वयः—आवश्यकं अवश्यभावेन
करणमावश्यककरणम् । तथाहि—समुद्घातं केचिन्
कुर्वन्ति, केचिच्च न कुर्वन्ति । इदं स्वावश्यकं
सर्वेऽपि केवलिनः कुर्वन्तीति । (प्रज्ञाप. मलय. बु.
३६-३४५, पु. ६०४-५; पंचसं. मलय. बु. १५,
पु. २८) ।

जिस क्रिया को अवश्य—अनिवार्यरूप से—किया
जाता है उसे आवश्यककरण कहते हैं । जैसे—
केवलिसमुद्घात को कितने ही केवली किया करते
हैं और कुछ नहीं भी किया करते हैं, पर इस आव-
श्यककरण को तो सभी केवली किया करते हैं ।

भावश्यकनिर्युक्ति—१. वृत्ति ति त्वया ति य
थिरवयवा होदि णिज्जुत्ति ॥ (मूला. ७-१४) ।
२. णिज्जुत्ता से अत्था जं बद्धा तेण होइ णिज्जुत्ति ।
(आव. नि. ८८) । ३. निश्चयेन सर्वाधिक्येन प्रादो
वा युक्ता निर्युक्ताः, अयन्त इत्यर्थाः जीवादयः श्रुत-
विषयाः, ते ह्यर्था निर्युक्ता एव सूत्रे, यत् यस्मात्
बद्धा सम्यग् अवस्थापिताः योजिता इति यावत्, तेनेयं
निर्युक्तिः । निर्युक्तानां युक्तिनिर्युक्तिरिति प्राप्ते
युक्तशब्दस्य लोपः क्रियते—उष्ट्रमुखी कन्येति यथा,
निर्युक्तार्थव्याख्या निर्युक्तिरिति हृदयम् । (आव.
नि. हरि. बु. ८८) । ४. युक्तिरिति उपाय इति

वैकार्यः, निरवयवा सम्पूर्णोऽसिद्धिता भवति निर्यु-
क्तिः । आवश्यकानां निर्युक्तिः आवश्यकनिर्युक्ति-
रावश्यकसम्पूर्णोपायः । अहोरात्रमध्ये साधूनां यदा-
वरणं तस्यावबोधकं पृथक् पृथक् स्तुतिरूपेण "अयति
अगवानित्यादि" प्रतिपादक यत्पूर्वापरारविन्दं शास्त्रं
न्याय आवश्यकनिर्युक्तिरित्युच्यते । (मूला. बु. ७,
१४) । ५. यस्मात् सूत्रे निश्चयेनाधिक्येन साधु वा
प्रादो वा युक्ताः सम्बद्धा निर्युक्ताः, निर्युक्ता एव
सन्तस्ते श्रुताभिधेया जीवाजीवादयोऽर्था अनया
प्रस्तुतनिर्युक्त्या बद्धा व्यवस्थापिताः, व्याख्याता
इति यावत्, तेनेयं भवति निर्युक्तिः । निर्युक्तानां
सूत्रे प्रथमेव सम्बद्धानां सतमवर्णनां व्याख्यात्वा
युक्तियोजनम् । निर्युक्तियुक्तिरिति प्राप्ते शाकपायि-
वादिवर्णनात् युक्तलक्षणस्य पदस्य लोपात् निर्यु-
क्तिरिति भवति । (आव. नि. मलय. बु. ८८) ।

१ 'निर्' का अर्थ निरवयव वा सम्पूर्ण और युक्ति
का अर्थ उपाय है; तदनुसार सम्पूर्ण वा असिद्धित
उपाय को निर्युक्ति जानना चाहिए । ४ साधु-
साध्वियों के वैयक्तिक और रात्रिक आवश्यक कर्तव्यों
के प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को आवश्यक-
निर्युक्ति कहते हैं ।

भावश्यकपरिहाणि—१. वण्णामावश्यकक्रियाणा
यथाकाल प्रवर्तनमावश्यकपरिहाणिः । (स. सि. ६,
२४) । २. वण्णमावश्यकक्रियाणां यथाकालप्रवर्तन-
मावश्यकपरिहाणिः । यथावश्यकक्रियाः—सामा-
यिकं चतुर्विंशतिस्तवः वन्दना प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं
कायोत्सर्गश्चेति । तत्र सामायिकं सर्वसावद्योगनि-
वृत्तिलक्षणं चित्तस्यैकत्वेन ज्ञाने प्रणिधानम् । चतु-
र्विंशतिस्तवः तीर्थंकरगुणानुकीर्तनम् । वन्दना त्रि-
विधः इष्टासना चतुःशिरोऽञ्जनतः द्वादशावर्तना ।
अतीतदोषनिवर्तनं प्रतिक्रमणम्, अनागतदोषापोहनं
प्रत्याख्यानम्, परिमितकालविषया शरीरे भगवन्नि-
वृत्तिः कायोत्सर्गः । इत्येतासां वण्णामावश्यकक्रिया-
णां यथाकालप्रवर्तनम् अनीत्युक्तं भावश्यकपरि-
हाणिरिति परिभाष्यते । (स. भा. ६, २४, ११;
त. सुखबो. बु. ६-२४) । ३. एदेसि (समदा-यव-
वदण-पडिक्कमण-पच्चक्खण-विश्रोसमाणं) छण्ण
आवासयाणं अपरिहीणवा अशब्बदा आवासयापरिही-
यदा । (अव. पु. ८, पु. ८५) । ४. आवश्यकक्रिया-
णां वण्णां काले प्रवर्तनं नियते । तासां साऽपरि-

हृणिशैया सामायिकादीनाम् ॥ (ह. पु. ३४-१४२)।

५. प्रावश्यकक्रियाणां तु यथाकालं प्रवर्तना । प्राव-

श्यकापरिहाणः षण्णामपि यथागमम् ॥ (त. श्लो.

६, २४, १४) । ६. एतेषां (सामायिकादीनां)

षण्णामावश्यकानामपरिहाणरेका चतुर्दशी भावना ।

(भा. प्रा. टी. ७७) । ७. समुहृतचिन्तयेत् प्रावश्यं

निश्चयेन कर्तव्यानि प्रावश्यकानि, तेषामपरिहाणः

प्रावश्यकोपरिहाणः । (त. वृत्ति श्रुत. ६-२४) ।

१ समता-बन्धनादि छह प्रावश्यक क्रियाओं का

यथासमय परिपालन करने को प्रावश्यकोपरिहाण

कहते हैं ।

प्रावश्यकी क्रिया—१. अवश्यं गन्तव्यकारणमि-

त्यतो गच्छामीति अस्पर्शस्य संयुचिका प्रावश्यकी,

अन्यापि कारणपेक्षा या या क्रिया सा क्रिया अव-

श्य क्रियेति सूचितम् । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ५८) ।

२. अवश्यकर्तव्यमावश्यकम्, तत्र भवा प्रावश्यकी,

ज्ञानाद्यालम्बनेनोपाध्यात् बहिरवश्यं गमने समुप-

स्थिते अवश्य कर्तव्यमिदमतो गच्छाम्यहमित्येवं गुरुं

प्रति निवेदना प्रावश्यकीति हृदयम् । (अनुयो. मल.

हेम. वृ. सू. ११८, पृ. १०३) ।

१ जाने का कारण अवश्य है, अतः जाता हूँ; इस

अर्थ को सूचक क्रिया तथा कारणसापेक्ष अन्यान्य

क्रिया भी प्रावश्यकी क्रिया कही जाती है ।

प्रावाप (अक्त) कथा—१. शाक-वृतादीन्येता-

वन्ति तस्यां रसवत्यामुपयुज्यन्त इत्येवंरूपा कथा

प्रावापकथा । (स्थाना. अभय. वृ. ४, २, २८२, पृ.

१६६) । २. अमुकस्य राज्ञः सार्ववाहादेवां रसवत्यां

दश शाकविशेषाः, पञ्च पलानि सपिस्तथाऽऽकस्त-

न्मुलानामुपयुज्यन्त इत्यादि यदा सामान्येन विवक्षित-

रसवतीद्रव्यसंख्याकां करोति सा प्रावापमक्तकथा ।

(प्राव. हरि. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ६२) ।

१ अमुक रसोई में इतने शाक व धी प्रादि का उप-

योग होगा, इस प्रकार की चर्चा करने को प्रावाप-

(अक्त)कथा कहते हैं ।

प्रावासा—१. दह-सेल-दुमादीणं रम्माणं उवरि

होति प्रावासा । (सि. प. ३-२३); × × × दह-

गिरिपट्टदीणं उवरि प्रावासा ॥ (सि. प. ६-७) ।

२. भंडरस्स भंतो द्वियो कच्छउडंडरंतोद्वियवक्खार-

समाणो प्रावासो णाम । (अव. पु. १४, पृ. ८६) ।

स. २८

३. उड्डगया प्रावासा × × × (सि. सा. २६५) ।

४. एकस्मिन्मण्डरे असंख्यातलोकमात्राः प्रावासाः,

तेऽपि प्रत्येकजीवशरीरभेदाः सन्ति । (मो. जी. म.

प्र. व जी. प्र. टी. १६४) ।

१ भवनबासी और व्यस्त रहेणों के जो निवासस्थान

ब्रह्म, पर्वत और वृक्ष प्रादि के ऊपर अवस्थित होते हैं

वे प्रावास कहलाते हैं । ४ निगोद जीवों के प्राभय-

भूत मण्डलों में से प्रत्येक में जो असंख्यात लोक प्रमाण

स्कन्धविशेष होते हैं उनका नाम प्रावास है । वे

प्रावास प्रतिष्ठित प्रत्येक जीवों के शरीरभेदरूप हैं ।

प्रावासक—देखो प्रावश्यक ।

प्रावाहनी मुद्रा—हस्ताभ्यामञ्जलि कृत्वा प्रकाम-

मूलपर्वाङ्गुष्ठसंयोजनेनावाहनी मुद्रा । (निर्वाणक. पृ.

३२) ।

शेनों हाथों से अञ्जलि को बाँधकर प्रकाममूल

(पट्टे), एवं और अङ्गुष्ठ के परस्पर मिलाने को

प्रावाहनीमुद्रा कहते हैं ।

प्राचीचमरण—१. प्राचीवी नाम निरन्तरमित्यर्थः,

उववन्नमत् एव जीवो अणुमावपरिसमाप्तेः निरन्तरं

समये समये मरति । (उत्तरा. वृ. पृ. १२७) ।

२. वीचि-शब्दस्तरङ्गाभिधायी, इह तु वीचिरिव

वीचिरिति प्रायुष उदये वर्तते—यथा समुद्रादी

वीचयो नैरन्तरर्येणोद्गच्छन्ति एवं क्रमेण प्रायुष्का-

स्य कर्म अनुसमयमुदेति इति तदुदय प्राचीचशब्देन

अण्यते । प्रायुषः अनुभवन् जीवितम्, तच्च प्रतिसमयं

जीवितमङ्गस्य मरणम् । अतो मरणमपि अत्र

प्राचीच, उदयानन्तरसमये मरणमपि वर्तते इति ।

(अ. प्रा. विजयो. २५) । ३. आ समन्ताद्भीचय इव

वीचयः—प्रायुर्दलिकविष्णुतिलक्षणावस्था यस्मिन्

प्राचीच । अथवा वीचिः—विच्छेदस्तदभावादवीचि,

दीर्घत्वं तु प्राकृतत्वात्तदेवंभूतं मरणमावीचिमरणं—

प्रतिक्षणमायुर्द्रव्यविचटनलक्षणम् । (समवा. अभय.

वृ. १७, पृ. ३४) । ४. प्रतिसमयमनुसूयमानापुष्पो-

ऽपरापरायुर्दलिकविष्णुतिलक्षणा अवस्था यस्मिन्

मरणे तदावीचिमरणम् । (प्रव. सारो. वृ.

१००६, पृ. २६६) । ५. तत्र प्राचीचमरणम्—

वीचिः विच्छेदः, तदभावाद् प्राचीचः—नारक-

तियंहराणामुत्पत्तिसमयात् प्रभृतिनिज-निजायुष्क-

कर्मदलिकानामनुसमयमनुभवनात् विचटनम् । (उत्तरा.

ने. बु. ५, पृ. २६) । ६. तत्र प्रतिक्षणमायुःक्षयः आवीचिमरणम्, समुद्राम्बुषु बीचीनामिव मायुःपूत-
गताण्यु रसानां प्रतिसमयमुद्भूयोद्भूय विलयनात् । (भ. प्रा. मूला. २५) । ७. यत्प्रतिसमयमायुषः
कर्मणो निषेकस्योदयपूर्विका निर्जरा भवति तदावीचि-
मरणम् । (सा. घ. खो. टी. १-१२) । ८. समु-
द्रादिकलोलवत् प्रतिसमयमायुःस्त्रुट्यति तदावीचि-
कामरणम् । (भा. प्रा. टी. ३२) ।

२ बीचि नाम तरंग का है । तरंग के समान जो
निरन्तरता से आयुर्कर्म के निषेकों का प्रतिक्षण कम
से उबल होता है उसके अनुमनन को आवीचिमरण
कहा जाता है ।

आवीतलिङ्ग — साध्यधर्मप्रतिपत्तिरावीतमुच्यते ।
(प्रमाणप. पृ. ७५) ।

साध्यधर्म का ज्ञान कराने वाले हेतु को आवीतलिङ्ग
कहते हैं ।

आशंसा—१. आशंसनमाशंसा, आकाङ्क्षणमित्य-
र्थः । (स. ति. ७-३७) । २. पञ्चब्रह्माणं सेयं
अपरिमाणं होइ कायव्यं । जेसि तु परीमाणं तं
तुट्ठं होइ आशंसा । (उत्तरा. नि. ३-१७७, पृ.
१७६) । ३. आकाङ्क्षन्माशंसा । आकाङ्क्षणमभि-
सावः आशंसेत्युच्यते । (त. वा. ७, ३७, १) ।
४. धृमेच्छाऽऽशंसा, निषेधानुपपत्तेर्येषष्टसाधनत्वनि-
शेधस्य बाधात् । (शास्त्रभा. टी. ३-३) ।

१ आकांक्षा या इच्छा करने को आशंसा कहा
जाता है ।

आशा—अविद्यमानस्यार्थस्याशासनमाशेत्यपरलोभ-
पर्यायः । अथवा—प्रापयति तनुकरोत्यात्मानमित्या-
द्या लोभ इति । (जयभ. प. ७७७) ।

अविद्यमान वस्तु की इच्छा करने को आशा कहते
हैं । अथवा जो आत्मा को कृश करे उसे आशा कहते
कहते हैं । यह लोभ का पर्यायनाम है ।

आशाम्बर—१. यो हताशः प्रशान्ताशस्तमाशा-
म्बरमूचिरे । (उपासका. ८६०) । २. आशाम्बरः
दिगम्बरः परिधानादिवस्त्रवजितो लोकप्रसिद्धो जने-
कदेशीयो दर्शनविशेषः । (सम्बोधस. पृ. २, पृ. २) ।
१ जिसकी समस्त आशायें—इच्छायें—नष्ट हो चुकी
हैं ऐसे वस्त्र आदि समस्त परिग्रह से रहित साधु को
आशाम्बर (दिगम्बर) कहा जाता है ।

आशालक—आशालकस्तु अवष्टम्भसमन्वित आस-

नविशेषः । (ब्रह्मवै. सू. हरि. पृ. ६-५५, पृ. २०४) ।
अवष्टम्भ समन्वित (आश्रय सहित) आसनविशेष
को आशालक कहते हैं । ऐसे आसन का आचरण
साधु के लिए निषिद्ध है ।

आशी—स्थिता वयमित्येकानं यामः क्षेमादयोऽस्तु
ते । इतीष्टांसन व्यन्तरादेराशीनिरुच्यते ॥ (आद्या.
सा. २-१०) ।

निवासस्थान को छोड़ते समय उस जग के स्थानी
व्यन्तरादि को 'गुम्हारा कल्याण हो' ऐसा आशीर्वाद
देना, यह आशी नामक सामाचार है ।

आ(अ)शीतिका — प्रायश्चित्तनिरूपिका आशी-
तिका । (त. वृत्ति वृत्त. १-२०, पृ. ६७, पं.
२०-२१) ।

प्रायश्चित्त का निरूपण करने वाले एक धर्मबाह्यवृत्त
को आशीतिका या अशीतिका कहा जाता है ।

आशीर्विष—१. मर इदि भगिदे जीमो मरेइ
सहस्र ति जोए सत्तीए । दुक्खरतवजुदमुणिणा आ-
सीविसणाम रिद्धि सा ॥ (सि. प. ४-१०७८) ।

२. अविद्यमानस्यार्थस्य आशंसनमाशीः, आशीर्विष
येणं ते आशीविषाः । जेसि ज पडि मरिहि ति वयणं
णिप्पडिदं तं मारेदि, मियसं भमेति वयण मियसं
ममावेदि, सीसं छिज्जउ ति वयणं सीसं छिददि; ते
आसीविषा नाम समणा । × × × आसी अविस्म-
मियं जेसि ते आसीविषा—जेसि वयणं बावर-जंयम-
विसमूरिदजीवे पडुच्च 'णिब्बिसा हांतु' ति णिस्सरिदं
ते जीवावेदि, बाहिबेयण-दासिहादिविसयं पडुच्च
णिप्पडिदं संतं तं तं कज्जं करेदि ते वि आसीविषा
ति उत्तं होदि । तवोबलेण एवंविहसतिसंजुल-
वयणा होदूण जे जीवानं जिग्महापुग्गह ण कुणंति
ते आसीविषा ति वेत्तव्वा । (बय. पु. ६, पृ. ८५) ।
१ दुस्वर तपश्चरण करने वाले भूमि के जिस ऋद्धि
के प्रभाव से 'मर जा' ऐसा कहने पर प्राणी सहसा
मरण को प्राप्त होता है उसे आशीर्विष ऋद्धि
कहते हैं ।

आशीर्विष—देखो आशीर्विष । १. प्रायवो इष्टा-
स्ताधु विषं गेणं ते आशीर्विषाः । ते च कर्मतो
जातितरच । तत्र कर्मतस्तिरयंइ-अनुष्णाः कुतोऽपि
गुणादाशीविषाः स्युः । देवाश्चासहसाराच्छायादिना
परव्यापादनादिति । × × × जातितः आशीर्विषा
जात्याशीविषाः वृषिकारयः । (स्थाना. अथय. ५

४, ३, ३४१, पृ. २५१) । २. आशीविषलम्बिनि-ग्रहानुग्रहसामर्थ्यम् । (योगशा. स्तो. विष. १-६) ।

३. आसी दाढा, तम्रगमहाविषाऽसीविषा । (प्रथ. सारो. वृ. १५०१) ।

१ आशी का अर्थ बाढ़ होता है, जिनकी बाढ़ों में विष होता है वे आशीविष कहलाते हैं ।

आश्रम—१. आश्रमः तापसाद्यावासः । (श्रीवपा. अथय. वृ. ३२, पृ. ७४) । २. आश्रमस्तापसविनिवासः । (प्रथमव्या. अथय. वृ. पृ. १७५) । ३. आश्रमास्तीर्थस्थानानि तापसस्थानानि वा । (कल्पसू. वि. वृ. ४-८८) ।

३ तीर्थस्थानों को या तपस्थियों के निवासस्थानों को आश्रम कहते हैं ।

आषाढमास—मिथुनराशि यदा तिष्ठत्यादित्यः स काल आषाढमास इत्युच्यते । (भूला. वृ. ५-७५) । जिस काल में सूर्य मिथुन राशि पर रहता है उसे आषाढमास कहते हैं ।

आसक्त—आसक्तः पतितेऽपि वीर्ये नारीशरीरमालिङ्ग्य तिष्ठति । (भा. वि. १६, पृ. ७५) । वीर्यपात हो जाने पर भी जो स्त्री के शरीर का आसक्तिग्न करके स्थित रहता है उसे आसक्त कहा जाता है । इस प्रकार के नपुंसकों में यह अन्तिम भेद है । ये सब ही वीर्या के अयोग्य होते हैं ।

आसन—निश्चयेनात्मनोऽन्येऽवस्थानं यत्तदासनम् । लोकव्यवहारेण तदवस्थानसाधनाङ्गत्वेन यम-नियमाद्यष्टाङ्गेषु मध्ये शरीरालस्य-न्नानिहानाय नाना-विधतपश्चरणभारनिवृत्तिर्भक्तं भवितुं तत्पाटवोत्पादनाय यन्निर्दिष्टं पर्यकार्षपर्यक-वीर-वज्र-स्वस्तिक-पद्मकादिलक्षणमासनम् । (आरा. सा. टी. २६) ।

निश्चयतः आत्मा से अनन्य में—आत्मा में ही—जो अवस्थान है, इसका नाम आसन है । इस अवस्थान के साधनमूल यम-नियमादि आठ अंगों में निर्दिष्ट जो पर्यक, अर्धपर्यक, बीरासन, वज्रासन, स्वस्तिक और पद्मासन आदि लोकप्रसिद्ध आसन-विशेष हैं उन्हें भी व्यवहार से आसन कहा जाता है ।
आसनक्रिया — उत्कटाऽऽसनादिकाऽऽसनक्रिया । (अ. भा. विजयो. टी. ८६) ।

उत्कट आसन आदि के उपयोग का नाम आसन-क्रिया है ।

आसनप्रदान—आसणपदार्णं णाम ठाणमो ठाणं संभरंतस्स आसणं वेण्हिळ्ळण इच्छिण् ठाणे ठवेइ । (वसव. वृ. पृ. २७) ।

एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने वाले के आसन को लेकर आशीष्ठ स्थान में स्थापित करना, इसका नाम आसनप्रदान है ।

आसनशुद्धि—पर्यङ्काद्यासनस्यायी बद्ध्या केशादि यो मनाक् । कुर्वन्तां न चलत्यस्याऽऽसनशुद्धिर्भवेदियम् ॥ (बर्गसं. आ. ७-४७) ।

पर्यक आदि (कायोत्तमं) आसन से स्थित होकर ब बालों आदि को बांध कर जो उस बन्धना को करता हुआ किंचित् भी विचलित नहीं होता है, उसके आसनशुद्धि होती है ।

आसनानुप्रदान—आसनानुप्रदानम् आसनस्य स्थानात् स्थानान्तरसञ्चारणम् । (समवा. अथय. वृ. ६१, पृ. ८६) ।

आसन का एक स्थान से दूसरे स्थान में स्थानान्तरित करना, इसका नाम आसनानुप्रदान है ।

आसनाभिग्रह—आसनाभिग्रहः तिष्ठत एवासनानयनपूर्वकमुपविशतात्रेति भगनम् । (समवा. अथय. वृ. ६१, पृ. ८६) ।

ठहरते हुए साधु को आसन लाते हुए 'यहाँ बैठिये' ऐसा कहना, इसका नाम आसनाभिग्रह है ।

आसन (श्रोसण)—१. श्रोसणमरणमुच्यते—निर्वाणमार्गप्रस्थितात् संयतसार्थात् यो हीनः प्रच्युतः सोऽभिधीयते श्रोसण इति । तस्य मरणं श्रोसणमरणमिति । श्रोसणग्रहणेन पार्श्वस्थाः स्वच्छन्दाः कुशीलाः संसक्ताश्च गृह्णन्ते । तथा चोत्तम—पासत्पो सच्छंदो कुशील संसक्त होंति श्रोसणा । जं सिद्धिपच्छिदादो भोहीणा साधुसत्थादो ॥ के पुनस्ते ? ऋद्धिप्रिया रसेष्वासक्ताः दुःखभीरवः सदा दुःखकातराः कषायेपु परिणताः संज्ञावशगाः पापश्रुताभ्यासकारिणः अयोदशविधासु क्रियास्वल्पाः सदा संवलिष्टचेतसः भक्ते उपकरणे च प्रतिबद्धाः निमित्तमंत्रौषधयोगोपजीविनः गृहस्थवैद्यावुत्पकराः गुणहीना मुक्तिषु समितिषु चागुद्यताः मन्दसंवेगा दश-प्रकारे बन्धेऽकृतबुद्धयः शबलचारिणा आसन्ना इत्युच्यन्ते । (अ. भा. विजयो. टी. २५, पृ. ८८) ।
२. निर्वाणमार्गप्रस्थितसंयतसार्थात् प्रच्युत आसन्न उच्यते । तदुपलक्षणं पार्श्वस्थ-स्वच्छन्द-कुशील-संस-

स्तानाम् । × × × ते यक्षन्ते आत्मशुद्धिं कृत्वा त्रियन्ते तदा प्रशस्तमेव मरणम् । (भा. प्रा. टी. ३२) ।

१ श्चन्द्रप्रिय, रत्नों में आसन्न, दुःखभीरु, कषायपरि-
णत, आहारादि संज्ञाओं के बशीभूत, कुशुताभ्यासी,
तेरह प्रकार के चारित्र के पालन में आससी, सदा
संश्लिष्टचित्त, भोजन व उपकरण में संश्लिष्ट;
निमित्त, मंत्र व धीयधि से जीविका करने वाले;
गृहस्थों की धैर्यावृत्त्य (सेवा-सुधैर्या) करने वाले,
गुणों से रहित, गुप्ति व समितियों में अनुद्यत,
मन्त्र संवेग से सहित, धर्म से विमूल तथा दूषित
चारित्र वाले साधुओं को आसन्न कहते हैं । (देखिये
'अवसन्न')

आसन्नभयता — भयों रत्नत्रयाविर्भावयोग्यो
जीवः, आसन्नः कतिपयभवप्राप्तनिर्वाणपदः, आसन्न-
इचासी भयवशासन्नभयस्तस्य भाव आसन्नभयता ।
सा. च. स्वो. टी. १-६) ।

कुछ ही भयों को धारण करके मुक्ति प्राप्त करने
वाले जीव की रत्नत्रय के आधिर्भावविषयक योग्यता
को आसन्नभयता कहते हैं ।

आसन्नमरश—देखो आसन्न ।

आसादन—१. कायेन वाचा च परप्रकाश्यज्ञानस्य
वर्जनमासादनम् । (स. सि. ६-१०) । २. वाक्का-
यान्या ज्ञानवर्जनमासादनम् । कायेन वाचा च
परप्रकाश्यज्ञानस्य वर्जनमासादन वेदितव्यम् । (त.
वा. ६, १०, ५) । ३. वाक्कायान्यामनावर्तनमासा-
दनम् । (त. वलो. ६-१०) । ४. ध्यायं सादयतीति
आसादनम् अनन्तानुबन्धिकषायवेदनम् । नैरुक्तो य-
क्षस्वलोपः । (कर्मस्त. गो. २, २, पृ. ७०) । ५.
कायेन वचनेन च सतो ज्ञानस्य विनयप्रकाशन-गुण-
कीर्तनादेरकरणमासादनम् । (त. वृत्ति श्रुत. ६-१०) ।
६. काय-वागम्यामननुमनं कायेन वाचा वा पर-
प्रकाश्यज्ञानस्य वर्जनं वेत्यासादना । (गो. क. जी.
प्र. ८००) ।

१ शरीर से व वचन से प्रकाशित करने योग्य दूसरेके
ज्ञान को रोक देना, इसका नाम आसादन है । यह
ज्ञानावरण व दर्शनावरण के बन्ध का कारण है ।
४ अतन्तानुबन्धी कषाय के वेदन धर्मात् द्वितीय
गुणस्थान को आसादन कहा जाता है ।

आसादना—देखो अत्यासादना ।

आसीविष—देखो आसीविष और आशीविष ।

१. आस्यो दण्डाः, तासु विषमेषामस्तीति आसी-
विषाः । ते द्विप्रकारा भवन्ति—जातितः कर्मतश्च ।
तत्र जातितो वृद्धिक-मण्डूकोरग-मनुष्यजातयः, कर्म-
तस्तु तिर्यग्योनयः मनुष्या देवाश्चासहस्रारादिति ।
एते हि तपश्चरणानुष्ठानतो ज्यतो वा गुणतः
सत्त्वासीविषा भवन्ति । देवा अपि तच्छक्तियुक्ता
भवन्ति, शापप्रदानेनैव व्यापादयन्तीत्यर्थः । (आश.
नि. हरि. ५. ७०. पृ. ५८) । २. आस्यो दण्डाः,
तासु विषमेषामस्तीति आसीविषाः । ते द्विविधा
जातितः कर्मतश्च । तत्र जातितो वृद्धिक-मण्डूको-
रग-मनुष्यजातयः क्रमेण बहु-बहुतर-बहुतमविषाः ।
वृद्धिकविष हि उत्कृष्टतोर्यं भरतलोत्रप्रमाणं शरीरं
व्याप्नोति, मण्डूकविषं भरतलोत्रप्रमाणम्, भुजंगमविषं
जम्बूद्वीपप्रमाणम्, मनुष्यविषं समग्र [ग्र]लोत्रप्रमाणम् ।
कर्मतश्च पञ्चैन्द्रियतिर्यग्योनयो मनुष्याः देवाश्चा-
सहस्रारात्, एते हि तपश्चरणानुष्ठानतो ज्यतो वा
गुणतः आसीविष-वृद्धिक-भुजंगादिशाप्या क्रियां
कुर्वन्ति, शापप्रदानादिना पर व्यापादयन्तीति भावः ।
(आश. नि. मलय. ५. ७०, पृ. ७६) । ३. आस्यो
दण्डास्तासु विषं देवा ते आसीविषाः । उक्तं च—
आसी दाडा तन्मयविज्ञाऽऽसीविज्ञा मुण्येव्वा इति ।
(जीवाजी, अलप. ५. १-३६) ।

देखो—आसीविष ।

आसुरविबाह—पणबन्धेन कन्याप्रदानमासुरः ।
(योगशा. स्वो. विष. १-५७; धर्मवि. ५. ५. १-१२;
आहृ. पु. १५, वर्मसं. वा. स्वो. ५. १-५, पृ. ५) ।
वर से ब्रह्म लेकर कन्या के देने को आसुरविबाह
कहते हैं ।

आसुरिकी भावना—१. धनुबद्धरोस-विग्राहसंस्त-
तवो निमित्तपडिसेवी । निक्किव-गिराणुतावी आसु-
रिअं भावणं कुणइ । (अ. आ. १८३) । २. धनु-
बद्धविग्राहो चिय ससत्तवो निमित्तमाएसी ।
निक्किव-गिराणुकपो आसुरियं भावणं कुणइ ।
(बृहत्क. १३१५; ५. गु. वट. स्वो. ५. ४, पृ. १८) ।
१ भवान्तरनामी कोच को रक्षना, कलहयुक्त तप
करना, अयोस्तिव आदि निमित्तज्ञान के द्वारा जीविका
करना, दयारहित होकर क्रियाओं की करना तथा
प्राणिपीडन करके भी पशुघाताप व करना; ये सब
आसुरिकी भावना के लक्षण हैं ।

आसेवनाकुशील—आसेवना संयमस्य विपरीता-
ऽऽराधना, तया कुशील आसेवनाकुशीलः । (प्रब.
सारो. बृ. ७२५; धर्मसं. मान. स्वी. बृ. ३-५६,
पृ. १५३) ।

संयम की विपरीत आराधना या असंयम का सेवन
करने वाले साधु को आसेवनाकुशील कहते हैं ।

आसेवनानुलोम्य—आसेवनानुलोम्यं येन क्रमेणा-
तिचार आसेवितस्तेनैव क्रमेण गुरोः पुरतः प्रकटनम् ।
(योगशा. स्वी. विव. ४-६०) ।

जिस क्रम से अतिचार का सेवन किया है उसी
क्रम से उसके गुद के सामने प्रगट करने को आसेव-
नानुलोम्य कहते हैं ।

आस्तरण—(अवेक्षा-प्रमाज्जनानपेक्षम्) आस्तरण
संस्तरोपक्रमणम् । (सा. ध. ५-४०) ।

‘जीव-जन्तु हैं या नहीं’ इस प्रकार बिना देखे और
बिना शोधे बिछीना के बिछाने को आस्तरण
कहते हैं ।

आस्तिक्य—१. जीवादयोऽर्था यथास्वं भावंः सन्ती-
ति मतिरास्तिक्यम् । (त. भा. १, २, ३०) ।

२. आस्तिक्यमिति—अस्त्यात्मादिपदार्थकदम्बकमि-
त्येषा मतिर्यस्य स आस्तिकः, तस्य भावः तथापरि-
णामवृत्तिता आस्तिक्यम् । (त. भा. सिद्ध. बृ. १-२) ।

जीवादि पदार्थ यथायोग्य अपने स्वभाव से संयुक्त
हैं, इस प्रकार की बुद्धि को आस्तिक्य कहते हैं ।

आस्यविष—देखो आशीविष व आशीविष । प्रकृ-
ष्टतपोबला यतयो यं ब्रुवते त्रियस्वेति स तत्क्षण
एव महाविषपरीतो त्रियते ते आस्यविषाः । (त.
भा. ३, ३६, ३ पृ. २०३-४) ।

प्रकृष्ट तप के सामर्थ्य से संयुक्त जिन मनुष्यों के
‘भर जा’ ऐसा कहने पर प्राणी उसी समय मयानक
विष से व्याप्त होकर भर जाता है वे आस्यविष
कहाते हैं ।

आस्याविष—उग्रविषसंपृक्तोऽप्याहारो येषामास्य-
गतो निविधीभवति, यदीयास्यनिर्गतवच.श्रवणाद्वा
महाविषपरीता अपि निविधीभवन्ति, ते आस्याविषाः ।
(त. भा. ३, ३६, ३ पृ. २०३) ।

जिनके मुख में गया हुआ तीव्र विष से निमित्त भी
भोजन निविध हो जाता है, अथवा जिनके मुख से
निकले हुए वचन की सुनकर भयानक विष से

पीड़ित भी प्राणी उस विष की वेदना से मुक्त हो
जाते हैं, वे आस्याविष कहाते हैं ।

आस्र(श्र)व—१. कायावाङ्मनःकर्म योगः ॥ स
आस्रवः ॥ (त. सु. ६, १-२) । २. शुभाशुभकर्मा-
गमद्वाररूपः आस्रवः । (स. सि. १-४; त. वृत्ति
श्रुत. १-४); योगप्रणालिकयात्मनः कर्म आस्रवती-
ति योग आस्रवः । (स. सि. ६-२) । ३. स एष
त्रिविधोऽपि योग आस्रवसन्नो भवति । शुभाशुभयोः
कर्मणोरास्रवणादास्रवः, सरसः सलिलावाहि-निर्वाहि-
स्रोतोवत् । (त. भा. ६-२) । ४. आस्रवन्ति अनेन,
आस्रवणमात्रं वा आस्रवः । (त. भा. १, ४, ६);
तत्प्रणालिकया कर्मलक्षणवादास्रवाभिधानं सलिलवा-
हिद्वारवत् । यथा सरःसलिलवाहिद्वार तदास्रवण-
कारणत्वात् आस्रव इत्याख्यायते तथा योगप्रणालि-
कया आत्मनः कर्म आस्रवतीति योग आस्रव इति
व्यपदेशमर्हति । (त. भा. ६, २, ४) । ५. आस्रूयते
गृह्यते कर्म अनेन इत्यास्रवः शुभाशुभकर्मादानहेतुः ।
(त. भा. हरि. बृ. १-४) । ६. काय-वच-मणोकि-
रिया जोगो सो आस्रवो । (भा. प्र. ७६); काय-
वाङ्मनःक्रिया योगः $\times \times \times$ स आस्रवः । $\times \times \times$
आत्मनि कर्मानुप्रवेशमात्रहेतुरास्रव इति । (भा. प्र.
टी. ७६) । ७. $\times \times \times$ मिध्यात्वाद्यास्तु हेतवः । ये
बन्धस्य स विज्ञेयः आस्रवो जिनवासने ॥ (बृह.
स. ४-५०, पृ. १७५) । ८. आस्रवन्ति समा-
गच्छन्ति संसारिणा जीवानां कर्माणि यैः श्रेष्ठ्यो वा
ते आस्रवा रागादयः । (सिद्धि. टी. ४-६, पृ.
२५६) । ९. स आस्रव इह प्रोक्तः कर्मागमनकार-
णम् । (त. श्लो. ६, २, १) । १०. आस्रूयते वैर्गु-
ह्यते कर्म त आस्रवाः, शुभाशुभकर्मादानहेतवः इत्यर्थः ।
 $\times \times \times$ आस्रवो हि मिध्यावचानादिरूपः परि-
णामो जीवस्य । (त. भा. सिद्ध. बृ. १-४) । ११.

आस्रवति प्रागच्छति जायते कर्मत्वपर्यायः पुद्गला-
नां येन कारणभूतेन आत्मपरिणामेन स परिणामः
आस्रवः, अथवा आस्रवणं कर्मतापरिणतिः पुद्गला-
नामास्रवः । (भ. भा. विजयो. टी. १-३८) ।
१२. आश्रवति प्रविशति कर्म येन स प्राणतिपाता-
दिरूपः आश्रवः कर्मोपादानकारणम् । (भृङ्ग. शी.
बृ. २, ५, १७ पृ. १२८) । १३. कर्मबन्धहेतुरास्र-
वः । (श्रीपरा. अमर. बृ. ३४, पृ. ७६) । १४.
निरास्रवस्त्वसंवित्तिविलक्षणशुभाशुभपरिणामेन शुभा-

शुभकर्मणिगमनालवः । (बु. ब्रह्मसं. टी. २८) ।
 १५. कायवाङ्मनसां कर्म स्मृतो योगः स भास्वः ।
 (त. सा. ४-२) । १६. कर्मणामागमद्वारभास्वं
 संप्रचक्षते । स कायवाङ्मनःकर्म योगत्वेन व्यवस्थि-
 तः ॥ (च. च. १८-८२) । १७. यद्वाक्कायमनः-
 कर्म योगोऽज्ञाभास्वः स्मृतः । कर्मास्वत्त्वेनेति ×
 × × ॥ (अमित. भा. ३-३८) । १८. मनस्तनु-
 वचःकर्म योग इत्यभिधीयते । स एवास्व इत्युक्त-
 स्तत्त्वज्ञानविशारदः ॥ (ज्ञानार्णव १, पृ. ४२) ।
 १९. मनोवचन-कायानां यस्यात् कर्म स भास्वः ।
 (योगशा. स्वो. विव. १-१६, पु. ११४); मनोवाक्काय-
 कर्मणि योगाः कर्म शुभाशुभम् । यदाश्रयन्ति जन्तू-
 नामाश्रयस्तेन कीर्तिताः ॥ (योगशा. ४-७४);
 एते योगाः, यस्मात् शर्भं सद्देहादि अशुभमसद्देहादि
 कर्म भास्ववन्ति प्रकृते तेन कारणेन भास्ववा इति
 कीर्तिताः । भास्वयुते कर्मभिरित्यालवः । (योगशा.
 स्वो. विव. ४-७४) । २०. शरीरवाङ्मनःकर्म योग
 एवास्वो मतः । (चर्मस. २१-८४) । २१. भास्व-
 वति कर्म यतः स भास्वः कायवाङ्मनोव्यापारः ।
 (बह्व. स. टी. ४७, पु. १३७) । २२. आ समस्तात्
 जवति उपढोक्ते कर्मणिनालवः । (भूला. वृ. ५-६) ।
 २३. मिच्छताञ्जिरइ-कसाय-जोअ-हेऊहि भासवइ
 कम्मं । जीवमि उवहिमण्णे जह सलिलं छिद्दणा-
 वाए ॥ (बलु. भा. ३६) । २४. आत्मनः कर्मल-
 वत्त्वेनेत्यालवः । स एव त्रिविधवर्गणालम्बन एव
 योगः कर्मणिगमनकारणत्वात् भास्वव्यपदेशमर्हति ।
 (त. सुखबो. ६-२) । २५. ज्ञानावृत्त्याऽऽदियोग्याः
 सदुपधिकरणा येन भावेन पुंसः शस्ताशस्तेन कर्म-
 प्रकृतिपरिणति पुद्गला ह्याश्रयन्ति । आगच्छन्त्या-
 लोऽज्ञावकणि पृथगसद्दृग्भुक्तस्तत्त्वप्रपञ्चो वा
 विस्तरणालवणमुक्त मतः कर्मतापितः स तेषाम् ॥
 (अन. व. २-३६) । २६. भास्ववन्ति आगच्छन्ति
 ज्ञानावरणादिकर्मभावं तद्योग्या अनन्तप्रदेशिनः समा-
 नदेशस्थाः पुद्गला येन मिथ्यादर्शनादिना तत्प्रदोष-
 निह्णवादिना वा विघ्नकरणं तेन जीवपरिणामेन स
 भास्वः । अथवा भास्वर्णं भास्वः पुद्गलानां कर्म-
 त्वपरिणतिः । (अ. भा. भूला. टी. ३८) । २७.
 आश्रयति भास्वते जीवः कर्म यैस्ते भास्ववाः हिसा-
 नूतस्तैर्यावन्तपरिहलक्षणाः पञ्च । (आच. ह. वृ.
 भल. हेम. टि. पु. ८४) । २८. भास्वः कर्मसम्बन्धः

× × × । (विवेकवि. ८-२५२) । २९. योग-
 द्वारेण कर्मणिगमनालवः । (आरा. सा. टी. ४) ।
 ३०. आत्मप्रदेशेषु कर्मपरमाणव आगच्छन्ति स
 भास्वो मिथ्यात्वाविरति-प्रमाद कषाय-योगरूपः ।
 (भा. प्रा. टी. ६५) । ३१. शुभाशुभकर्मणिगमनद्वार-
 लक्षण भास्व उच्यते । (त. वृत्ति भूत. १-४);
 भास्ववति आगच्छति आत्मप्रदेशसमीपस्थोऽपि
 पुद्गलपरमाणुसमूहः कर्मत्वेन परिणमतीत्यालवः ।
 (त. वृत्ति भूत. ६-२); तूतनकर्मग्रहणकारणम् भास्व
 उच्यते । (त. वृत्ति भूत. ६-१) । ३२. कर्मपुद्-
 गलादानभास्वः । (अध्यात्मसार १८-१३१) ।
 १ काय, वचन और मन की क्रियारूप योग को
 भास्व कहते हैं ।
 भास्ववनिरोध— कर्मणिगमनित्वाऽप्रादुर्भूतिराश्रय-
 निरोधः । तस्य × × × कायवाङ्मनःप्रयोगस्य स्वा-
 त्मलामहेत्वसन्निधानात् अप्रादुर्भूतिः भास्ववनिरोधः
 इत्युच्यते । (त. वा. ६, १, १) ।
 कर्मणिग के निमित्तभूत काय, वचन व मन के
 प्रयोग का अप्रादुर्भाव होना, इसे भास्ववनिरोध
 कहते हैं ।
 भास्वभावना— देखो भास्ववानुप्रेक्षा । संसार-
 मध्यस्थितसमस्तजीवानां मिथ्यात्व-कषायाविरति-
 प्रमादात्-रोद्रध्यानादिहेतुभिर्निरस्तं कर्मणि बध्य-
 मानानि सन्ति, इत्यादिचित्तनभास्वभावना ।
 (सम्बोधस. वृ. १६, पु. १८) ।
 समस्त संसारी जीवों के मिथ्यात्व, कषाय, अविरति,
 प्रमाद एवं आर्त-रोद्र ध्यान आदि कारणों से निरन्तर
 कर्म बंधा करते हैं; इत्यादि विचार करना, यह
 भास्वभावना है ।
 भास्ववानुप्रेक्षा—देखो भास्वभावना । १. भास्ववा
 इहामुत्रापाययुक्ता महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णा इन्द्रिय-
 कषायाव्रतादयः । तत्रेन्द्रियाणि तावत् स्पृशेनादीनि
 वनगज-वायस-ज्जनग-पतङ्ग-हरिणादीन् व्यसनार्णव
 भवगाहयन्ति तथा कषायादयोऽपीह वध-बन्धापयशः-
 परिक्षेपादीन् जनयन्ति, अमुत्र च नागादिपि
 बहुविधदुःखप्रचालितासु परिभ्रमयन्तीत्येवास्व-
 दोषानुचित्तनभास्ववानुप्रेक्षा । (त. सि. ६-७) ।
 २. भास्ववा हि इहामुत्र चापायप्रसक्ता महानदीस्रो-
 तोवेगतीक्ष्णा इन्द्रियादयः । तद्यथा—प्रभूतयवसोदक-
 प्रमाधानगाहनादिगुणसम्पन्नवनविचारिणः मदान्धा

बलवन्तोऽपि वारणाः $\times \times \times$ । (त. बा. ६, ७, ७) । ३. आलवानुप्रेक्षास्वभावप्रकाशनायाह—आलवान् इहामुत्रापाययुक्तान् महानदीजोतोवेगतीक्ष्णान् अकुशलागम-कुशलनिर्गमद्वारभूतान् इन्द्रियादीन् अवस्यतश्चिन्तयेत् । (त. भा. सिद्ध. बृ. ६-७) । ४. मणवयणकायजोया जीवपसाण फरणविशेषा । मोहोवण जुता विजुदा वि य आसवा होति ॥ मोहविवागवसादो ये परिणामा हवन्ति जीवस्स । ते आसवा मुणिज्जमु मिच्छन्ताई धण्येविहा ॥ (काति-के. ८८-८९) ।

१ महानदी के प्रबल प्रवाह के समान इन्द्रिय, कषाय और अविरति प्रादि आलव हैं जो इस लोक व परलोक दोनों ही लोकों में दुःखदायक हैं; इस प्रकार आलवजन्म दोनों के चिन्तन को आलवानुप्रेक्षा कहते हैं ।

आहारण—साध्य-साधनान्वय-व्यतिरेकप्रदर्शनमाहरणम्, वृष्टान्त इति भावः । (आच. नि. मलय. बृ. ८६, पृ. १०१) ।

साध्य और साधन के अन्वय-व्यतिरेक के विज्ञान के को आहारण (वृष्टान्त) कहते हैं ।

आहार—१. त्रयाणां शरीराणां वर्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणम् आहारः । (त. सि. २-३०; श्लो. बा. २-३०; त. बुत्ति भुत. २-३०) । २. त्रयाणां शरीराणां वर्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गल-ग्रहणमाहारः । तैजस-कामंशरीरे हि आसंसारान्ता-न्तित्यमुपचीयमानस्वयोग्यपुद्गले, अतः शेषाणां त्रयाणां शरीराणामीदारिक-वैक्रियिकाहारकानामाहाराद्यभिलाषकारणानां वर्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहार इत्युच्यते । (त. बा. २, ३०, ४) । ३. आहारति आत्मसात् करोति सूक्ष्मार्थानिनेति आहारः । (अच. पु. १, पृ. २६२); शरीरप्रायोग्यपुद्गलपिण्ड-ग्रहणमाहारः । (अच. पु. ७, पृ. ७; मूला. बृ. १२-१५६); शरीरप्रायोग्यपुद्गलवस्त्रग्रहणमाहारः । (अच. पु. १४, पृ. २२६) । ४. औदारिक-वैक्रियिकाहारकशरीरपरिपोषकः पुद्गलोपादानमाहार इति । (वत्सी. मलय. बृ. ३३, पृ. १६३) । ५. णोकम्म-कम्महारो कवलाहारो य लेप्प आहारो । उज्ज मणो वि य कमसो आहारो छविहो नेयो ॥ (आचसं. के. ११०; प्र. क. मा. २-१२; पृ. ३००-३०१) । ६. निविकारपरमाह्लादकारिस्सहजस्वभाव-

समुद्भवसर्वकालसन्तर्पणहेतुभूतस्त्वसंबंदनज्ञानानन्दा-मृतरसप्राग्भारनिर्भरपरमाहारविलक्षणो निजोपाजितासद्वेदनीयकर्मोदयेन तीव्रबुभुक्षावशाद् व्यवहारनयाघीनेनात्मना यदशन-पानादिकमाद्रियते तदाहारः । (आरा. सा. टी. २६) ।

१ औदारिकादि तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण करने को आहार कहते हैं । ३ जिसके आशयसे साधु सूक्ष्म तत्त्वों का आहारण या उन्हें आत्मसात् करता है—तद्विषयक शंका से रहित होता है—उसे आहार (शरीर) कहा जाता है ।

आहारक (शरीर)—१. शुभ विशुद्धमव्याघाति वाहारक प्रमत्तसंयतस्यैव [शुभ विशुद्धमव्याघाति वाहारकं वतुर्दशपूर्वधर एव—आध्यस्मत्तपाठ] । (त. सू. २-४६) । २. सूक्ष्मपदार्थनिर्ज्ञानार्थमसंयम-परिजिहीर्षया वा प्रमत्तसंयतेनाह्लियते निर्वर्त्यते तदित्याहारकम् । (त. सि. २-३६) । ३. आह्लियते तदित्याहारकम् । सूक्ष्मपदार्थनिर्ज्ञानार्थमसंयम-परिजिहीर्षया वा प्रमत्तसंयतेनाह्लियते निर्वर्त्यते तदित्याहारकम् । (त. बा. २, ३६, ७); तद्यथा—कदाचित्सत्त्वविशेषसद्भावज्ञापनार्थम्, कदाचित्सूक्ष्मपदार्थनिर्धारणार्थम्, संयमपरिपालनार्थं च अतर्तं रावतेषु केवलसिद्धिहे जातसंशयस्तन्निर्णयार्थं महाविदेहेषु केवलसिकाशं जिगमिषुरीदारिकेण ये महानसंयमो अवतीति विद्वानाहाराकं निर्वर्त्यति । (त. बा. २, ४६, ४); दुरधिगमसूक्ष्मपदार्थतत्त्व-निर्णयलक्षणमाहारकम् । (त. बा. २, ४६, ८) ।

४. प्रयोजनायिना आह्लियते इत्याहारकम् । (आच. नि. हरि. पु. १४३४, पृ. ७६७) । ५. आह्लियत इत्याहारकम्, वृष्टत इत्यर्थः, कार्यमात्मेव पुनर्मुच्यते याचितोपकरणवत् । (अनुयो. हरि. बृ. पृ. ८७) । ६. शुभं मनःप्रीतिकरं विशुद्धं संनैवारहितम् अव्याघाति सर्वतो व्याघातरहितं $\times \times \times$ आहारकं शरीरम् $\times \times \times$ । (त. श्लो. २-४६) । ७. कार्य-विभिन्नचतुर्दशपूर्वधराराहित्ये इत्याहारकम् । (पंच-सं. श्लो. बृ. १-४) । ८. शुभतरशुक्लविशुद्धव्य-वर्णनाप्रारब्धं प्रतिविशिष्टप्रयोजनाय आह्लियतेऽस्त-भूतैस्त्विति आहारकम् । (त. बा. सिद्ध. बृ. २, ३७) । ९. आहारस्सुदण य पमत्तविरदस्स होदि आहारं । अस्सजमपरिहरणद्धं संदेहिपासणद्धं च ॥ नियजेत्ते केवलियुगविरहे णिकमणपहुदिकस्साम्णे ।

परस्ते सविते जिण-जिणवरवन्दणं ॥ १॥ उत्तम-
भंगहि हवे धादुविहीणं सुहं असंयुगं । सुहंसंठाणं
धवलं हृत्पमणं पसत्तुदयं ॥ अन्वाधादी अंतोमुह-
त्तकालहिदी जहणिदरे । पज्जत्तीसंपुणे मरणं पि
कदाचि संभवइ ॥ (गो. जी. २३४-३७) । १०. आ-
हारकाः—विशिष्टतरपुद्गलाः, तन्निष्पन्नमाहारकम्,
अयं (आहारककाययोगः) च चतुर्दशपूर्वचरस्य समु-
त्पन्नविशिष्टप्रयोजनस्य कृताहारकशरीरस्य भव-
तीति । (श्रीपपा. अभय. बृ. ४२, पृ. १११) ।
११. अर्थानाहरते सूक्ष्मान् गत्वा केवलिनोऽन्तिकम् ।
संशये सति लब्धद्वारसंयमजिहासया ॥ यः प्रमत्तस्य
सूक्ष्मो धवलो धातुवजितः । अन्तर्मुहूर्तस्थितिकः
सर्वव्याधातविच्युतः ॥ पवित्रोत्तमसंस्थानो हस्त-
मात्रोऽजमद्युतिः । आहारकः स बोद्धव्यो $\times \times \times$ ॥
(पंचसं. अमि. १, १७५-७७, पृ. २४) । १२. चतु-
र्दशपूर्वविदा तीर्थंकरस्फातिवर्षाणादिकतथाविधप्रयो-
जनोत्पत्तौ सत्यां विशिष्टलब्धिवशादाह्रियते निर्वर्त्यते
इत्याहारकम् । $\times \times \times$ उक्तं च—कज्जमि समु-
त्पण्णे सुयकेवलिणा विंसिटुलडोए । ज एत्थ आहरि-
ज्जइ भणियं आहारयं तं तु ॥ कार्यं वेदम्—पाणि-
दय-रिद्धिबंधनं सुदुमपरथावगहनहेउ वा । संसय-
बोच्छेयत्वं गमणं जिणपायमूलमि ॥ (प्रज्ञाप. मलय.
बृ. २१-२६७, पृ. ४०६) । १३. चतुर्दशपूर्वविदा
तीर्थंकरस्फातिवर्षाणादिकतथाविधप्रयोजनोत्पत्तौ सत्यां
विशिष्टलब्धिवशादाह्रियते निर्वर्त्यते इत्याहारकम् ।
(सप्ततिका अ. मलय. बृ. ५, पृ. १५०; वच्छ कर्म-
वे. स्तो. बृ. ६, पृ. १२३) । १४. चतुर्दशपूर्वविदा
तथाविधकार्योत्पत्तौ विशिष्टलब्धिवशादाह्रियते निर्व-
र्त्यते इत्याहारकम् । अथवा आह्रियते गृह्णन्ते तीर्थं-
करादिसमीपे सूक्ष्मा जीवावयः पदार्था अनेन इत्या-
हारकम् । (शतक मल. हेय. बृ. २-३, पृ. ५;
वचशीति हरि. व्या. ३४) । १५. आकाशस्फटिक-
स्वच्छं श्रुतकेवलिना कृतम् । अनुत्तरामरेभ्योऽपि
कान्तमाहारकं भवेत् ॥ (लोकप्र. ३-६६) ।
२ सूक्ष्म पदार्थो के निर्धारण के लिए अथवा असंयम
के परिहार की इच्छा से प्रसक्तसंयत के द्वारा जो
शरीर रचा जाता है वह आहारक कहलाता है ।
आहारक (जीव)—१. आहरदि शरीराणं तिण्हं
एयदरवगणाभो य । भासा-मणस्त णियवं तम्हा
आहारभो भणियो । (प्रा. पंचसं. १-१७६; अच.

पु. १, पृ. १५२ अ. गो. जी. ६६५) । २. सेवा
उक्तविलसणा आहारका जीवाः भोज-लोम-प्रक्षेपा-
हाराणां यथासम्भव येन केनचिदाहारेण । (आ. प्र.
टी. ६८) । ३. उदयावणशरीरोदएण तद्देह-वयण-
चित्तानं । शोकम्मवगणानं गहणं आहारयं णाम ॥
(गो. जी. ६६३) । ४. शुद्धाति देहपर्याप्तियोग्यान्
यः लघु पुद्गलान् । आहारकः स विज्ञेयः $\times \times \times$ ॥
(त. सा. २-६४) । ५. वट् चाहार शरीरेन्द्रियान-
प्राण-भाषा मनःसंज्ञिकाः पर्याप्तीः यथासम्भवमाह-
रतीत्याहारकः । (त. सुखबो. २-३०) । ६. आहार-
यति भोज-लोम-प्रक्षेपाहाराणामन्यतमाहारमित्या-
हारकः । (वचशीति मलय. बृ. १२, पृ. १३४;
पंचसं. मलय. बृ. ८, पृ. १४; वचशीति वे. स्तो. बृ.
१-१४) । ७. आहारकः आहारकशरीरलब्धिमन् ॥
(व्यव. भा. मलय. बृ. १०-६६६, पृ. ६१) ।
१ जो औद्यारिकादि तीन शरीरवर्णनाभ्रों में से किसी
एक वर्णना को तथा आवाचगणा और मनोवर्णनाको
नियमसे ग्रहण करता है वह आहारक कहलाता है ।
२ भोज, लोम और प्रक्षेप आहार में से किसी एक
प्रकार के आहार के ग्रहण करने वाले जीव को
आहारक कहते हैं । ३. आहारक शरीरलब्ध से
संयुक्त जीव को आहारक कहते हैं ।
आहारक-आहारकबन्धन—देखो आहारकाहारक-
बन्धन । यथाऽऽहारकपुद्गलानामाहारकपुद्गलेवा-
हारकाहारकबन्धनम् $\times \times \times$ (कर्मवि. ग. पु. व्या.
१०४) ।
आहारकशरीरपुद्गलों का अन्य आहारकशरीर-
पुद्गलों के साथ बन्धन कराने वाले कर्म को आहा-
रक-आहारक बन्धन नामकर्म कहा जाता है ।
आहारक-कामंजबन्धन—१. आहारक-कामंजबन्धनं
तद् य । (कर्मवि. ग. १०४, पृ. ४३) । २. $\times \times \times$
तथाऽऽहारक-कामंजबन्धन च तृतीयम् । (कर्मवि. ग.
पु. व्या. १०४, पृ. ४३) । ३. तेषामेवाहारकपुद्-
गलानां पूर्वगृहीतानां शुद्धामाणानां च कामंजपुद्गले-
शुद्धामार्णः पूर्वगृहीतैश्च सह सम्बन्ध आहारक-
कामंजबन्धनम् । (पंचसं. मलय. बृ. ३-११, पृ.
१२१; कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. ७) ।
जो नामकर्म आहारक और कामंज पुद्गलों को लाल
के सवाल परस्पर में सम्बन्ध के योग्य करता है उसे
आहारक-कामंजबन्धन नामकर्म कहते हैं ।

आहारक-तैजस-कर्मणवबन्धन—आहारक-तैजस-कर्मणवबन्धननामाप्येवमेव (आहारकपुद्गलानामाहारक-तैजस-कर्मणपुद्गलैरेव बन्धनम् आहारक-तैजस-कर्मणवबन्धनम्) । (कर्मवि. सू. व्या. १०४, पृ. ४३) ।

जो कर्म आहारक, तैजस और कर्मण पुद्गलों को परस्पर सम्बन्ध के योग्य करता है उसे आहारक-तैजस-कर्मणवबन्धन नामकर्म कहते हैं ।

आहारक-तैजसबन्धन—१. यथाऽऽहारकपुद्गलानामाहारकपुद्गलैरेवाहारक-तैजसबन्धनं तथाऽऽहारक-तैजसपुद्गलैरेवाहारक-तैजसबन्धनं द्रष्टव्यं द्वितीयम् । (कर्मवि. सू. व्या. १०४) । २. तेषामेवाहारकपुद्गलानां पूर्वग्रहीतानां गृह्यमाणानां च तैजस-पुद्गलैर्ग्रह्यमाणैः पूर्वग्रहीतैश्च सह सम्बन्धः आहारक-तैजसबन्धनम् । (पंचसं. मलय. बृ. ३-११, पृ. १२१; कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. ७) ।

जो कर्म आहारक और तैजस पुद्गलों को परस्पर में साक्ष के समान सम्बन्ध के योग्य करता है उसे आहारक-तैजसबन्धन नामकर्म कहते हैं ।

आहारकद्रव्यवर्गणा—देखो आहारद्रव्यवर्गणा । आहारद्रव्यवर्गणा नाम भोरासिय-वेउब्बिय-आहारगणं तिण्ह सरीराणं गहणं पवसति । (कर्मप्र. बू. १-१८, पृ. ४०) ।

जिस वर्गणा के पुद्गलस्कन्धों को ग्रहण कर शरीर-कारिकादि तीन शरीरों की उत्पत्ति प्रवर्तित होती है उसे आहारकद्रव्यवर्गणा कहते हैं ।

आहारकबन्धन—१. तैसि जं संबंघं भवरोप्पर पुग्गलाणमिह कुण्ह । तं जउसरिअं जाणसु आहारग-बघणं पढमं ॥ (कर्मवि. न. १०३, पृ. ४३) । २. यदुदयादाहारकशरीरपुद्गलानां ग्रहीतानां गृह्यमाणानां च परस्पर तैजस-कर्मणपुद्गलैश्च सह सम्बन्धस्तदाहारकबन्धनम् । (प्रज्ञाप. मलय. बृ. २२, २१३, पृ. ४७०) ।

१ जो कर्म बद्ध और बन्धमान आहारक शरीर के योग्य पुद्गलों को साक्ष के समान परस्पर में सम्बन्ध के योग्य करता है उसे आहारकबन्धन नामकर्म कहते हैं । २ जिस कर्म के उदय से गृहीत और गृह्यमाण आहारक शरीर के पुद्गलोंका परस्पर में तथा तैजस और कर्मण शरीर के पुद्गलों के साथ भी

स. २६

सम्बन्ध हो उसे आहारकबन्धन कहते हैं ।

आहारक योग—आहारदि-भजेण मुणी सुद्धे अत्थे सयस्स संदेहे । गत्ता केवलपासं तम्हा आहारगो जोगो । (बघ. पु. १, पृ. २६४ उ.; गो. जी. २३८) । जिसके द्वारा मुनि सुद्ध सत्य के विषय में सन्देह होने पर केवली के पास जाकर उसका निर्णय करते हैं उसे आहारक योग कहते हैं ।

आहारकवर्गणा—तदनन्तरं (वैक्रियवर्गणानन्तरं) द्रव्यतां वृद्धानां परिणामं त्वाभित्य सूक्ष्मतराणामेकोत्तरवृद्धिमतामेव स्कन्धानां समुदायरूपा आहारकशरीरनिष्पत्तिहेतुमृता अनन्ता आहारकवर्गणाः । (शतक. मस. हेम. बृ. ८७-८८, पृ. १०४) ।

वैक्रियकवर्गणा के अनन्तर द्रव्य की अपेक्षा वृद्धि को प्राप्त, परन्तु परिणाम के आशय से अत्यन्त सूक्ष्म, एकोत्तर वृद्धिसूचक स्कन्धों के समुदाय रूप होकर आहारकशरीर की निष्पत्ति की कारणभूत अनन्त वर्गणायें आहारकवर्गणा कहलाती हैं ।

आहारकशरीरनाम—यदुदयादाहारवर्गणापुद्गल-स्कन्धाः सर्वशुभावयवाहारशरीरस्वरूपेण परिणमन्ति तदाहारकशरीरं नामकर्म । (भूला. बृ. १२-१६३) । जिस कर्म के उदय से आहारकवर्गणा के पुद्गल स्कन्ध समस्त शुभ अवयवों वाले आहारकशरीररूप से परिणत होते हैं उसे आहारकशरीर नामकर्म कहते हैं ।

आहारकशरीरबन्धननाम—देखो आहारक-आहारकबन्धन और आहारकबन्धन । पूर्वग्रहीतैराहारकशरीरपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाणान् आहारकपुद्गलान् उदितेन येन कर्मणा बध्नाति आत्माऽप्योऽन्यसंयुक्तान् करोति तद् जलुमसमाहारकशरीरबन्धननाम । (कर्मवि. ३. स्वो. बृ. ३४, पृ. ४६) ।

जिस कर्म के उदय से पूर्वग्रहीत आहारकशरीर के पुद्गलों के साथ वर्तमान में गृह्यमाण आहारकशरीर के पुद्गल परस्पर में मिलकर एकरूपता को प्राप्त हैं उसे आहारकशरीरबन्धन नामकर्म कहते हैं ।

आहारकशरीराङ्गोपाङ्ग—देखो आहारकाङ्गोपाङ्ग । जस कम्मस्स उदएण आहारसरीरस्स अङ्गोवङ्क-पच्चंगाणि उपपज्जति तं आहारससरीर-गोचरं नाम । (बघ. पु. ६, पृ. ७३) ।

जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर के अंग, उपांग

और प्रत्यंग उत्पन्न होते हैं उसे आहारकशरीरांगो-
पांग नामकर्म कहते हैं ।

आहारकसमुद्घात—१. अथोक्तविधिना अल्पसा-
वध-सूक्ष्मायग्रहणप्रयोजनाहारकशरीरनिर्वृत्यर्थं आ-
हारकसमुद्घातः । (त. बा. १, २०, १२, पृ. ७७) ।

२. आहारके प्रारम्भमाणे समुद्घात आहारकसमुद्-
घातः । स च आहारकशरीरनामकर्मव्ययः । (जीवा-
जी. मलय. पृ. १-१३, पृ. १७; पंचसं. मलय. पृ.
२-१७, पृ. ६४) ।

१ अल्प पाप और सूक्ष्म तत्त्वों के अवधारण रूप
प्रयोजन को सिद्ध करने वाले आहारक शरीर की
रचना के लिए जो समुद्घात (आत्मप्रवेशबहिर्गमन)
होता है उसे आहारकसमुद्घात कहते हैं ।

आहारकसंघातनानाम्—यदुदयात् आहारकशरीर-
स्वपरिणतान् पुद्गलानां सङ्घातयति अयोऽन्य-
सन्निधानेन व्यवस्थापयति तद् आहारकसंघातन-
नाम । (कर्मवि. वे. स्वो. पृ. ३५, पृ. ४७) ।

जिस कर्म के उदय से आहारक शरीररूप से परिणत
हुए पुद्गल परमाणुओं को आत्मा संघातित करता है
—परस्पर के संनिधान (समीपता) से व्यवस्थापित
करता है—उसे आहारकसंघातन नामकर्म कहते हैं ।

आहारकाङ्गोपाङ्गनाम—देखो आहारशरीरांगो-
पांग । यदुदयात् आहारकशरीरत्वेन परिणतानां
पुद्गलानांमाङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपायते तद्
आहारकाङ्गोपाङ्गनाम । (कर्मवि. वे. स्वो. पृ. ३३,
पृ. ४६) ।

जिस कर्म के उदय से आहारकशरीररूप से परिणत
हुए पुद्गल परमाणुओं का अंग-उपपंग के विभाग
से परिणमन होता है उसे आहारकाङ्गोपाङ्ग नाम-
कर्म कहते हैं ।

आहारकाययोग—आहरति आत्मसात् करोति
सूक्ष्ममर्थाननेनेति आहारः । तेन आहारकायेन योगः
आहारकाययोगः । (बच. पु. १, पृ. २६२) ।

सूक्ष्म पदार्थोंको आत्मसात् करने वाले आहारकाय से
जो योग होता है उसे आहारकाययोग कहते हैं ।

**आहारकर्मणशरीरबन्ध—आहार-कम्मइयशरी-
रबंधो** (आहार-कम्मइयसरीरबंधपां एकमिह जीवे
जिनिट्ठाणं जो अण्णोण्णे बंधो सो आहार-कम्मइय-
सरीरबंधो णाम—देखो सू. ४८ की खला) । (वट्-
खं. ५, ६, ५५—पृ. १४, पृ. ४३) ।

आहारक और कर्मण शरीर सम्बन्धी पुद्गलस्कन्धों
का जो एक जीवमें परस्पर बन्ध होता है उसे आहार-
कर्मणशरीरबन्ध कहते हैं ।

आहारकाहारकबन्धन—देखो आहारक-आहारक-
बन्धन । पूर्वग्रहीतानामाहारकपुद्गलानां स्वैरेवाहार-
कपुद्गलेशु ग्रहमाणैः सह यः सम्बन्धः स आहारका-
हारकबन्धनम् । (पंचसं. मलय. पृ. ३-११, पृ.
१२१; कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. ७) ।

पूर्वग्रहीत आहारकपुद्गलों का गृह्यमाण आहारक-
पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होने को आहारकाहारक-
बन्धन कहते हैं ।

**आहार-तैजस-कर्मणशरीरबन्ध—आहार-तेया-
कम्मइयसरीरबंधो** (आहार-तेया-कम्मइयसरीर-
बंधपां एकमिह जीवे जिनिट्ठाणं जो अण्णोण्णे
बंधो सो आहार-तेया-कम्मइयसरीरबंधो णाम) ।

(वट्खं. ५, ६, ५६—पृ. १४, पृ. ४४) ।

आहारक, तैजस और कर्मण शरीरों सम्बन्धी पुद्-
गलस्कन्धों का जो एक जीव में परस्पर बन्ध होता
है उसे आहार-तैजस-कर्मणशरीरबन्ध कहते हैं ।

आहार-तैजसशरीरबन्ध—आहारतेयासरीरबंधो
(आहार-तेयासरीरबंधपां एकमिह जीवे जिनिट्ठाणं
जो अण्णोण्णे बंधो सो आहार-तेयासरीरबंधो
णाम) । (वट्खं. ५, ६, ५४—पृ. १४, पृ. ४३) ।

आहारक और तैजस शरीरों के पुद्गलस्कन्धों का
एक जीव में जो परस्पर बन्ध होता है उसे आहार-
तैजस-शरीरबन्ध कहते हैं ।

आहारद्वयवर्गणा—१. आहारद्वयवर्गणा णाम
का ॥ आहारद्वयवर्गणं तिण्णं सरीराणां गृहणं
पवसदि ॥ भोराणिय-वेउज्विय- आहारसरीराणं
जाणि दव्वाणि चेतूण भोराणिय-वेउज्विय-आहार-

सरीरत्ताए परिणामेदूण परिणमंति जीवा ताणि
दव्वाणि आहारद्वयवर्गणा णाम । (वट्खं. ५, ६,
७२८-३०—पृ. १४, पृ. ५४६) । २. जिस्से पर-
माणुपोगलवक्षंसे चेतूण तिण्णं सरीराणं गृहण णिप्प-
त्ती पवसदि होदि सा आहारद्वयवर्गणा णाम ।

(बच. पु. १४, पृ. ५४६); जाणि भोराणिय-वेउ-
ज्विय-आहारसरीराणं पाओमाणि दव्वाणि ताणि
चेतूण पाविऊण भोराणिय-वेउज्विय आहारसरीरत्ताए
भोराणिय-वेउज्विय-आहारसरीराणं सक्खेण ताणि
परिणामेदूण परिणमाविय जेहि सह परिणमंति बंधं

गच्छन्ति जीवा ताणि दब्बाणि आहारदब्बवग्गणा
णाम् । (अब. पु. १४, प. ४४७) ।

बिस्से आभय से औदारिक, वैकिकि और आहारक
इन तीनों शरीरों की निष्पत्ति होती है उसे आहार-
द्रव्यवर्गणा कहते हैं ।

आहारपर्याप्ति—१. आहारपज्जत्ती णाम खल-
रसपरिणामसत्ती । (नन्दी. बृ. पु. १५) । २. शरी-
रेन्द्रिय-बाहु-मनःप्राणाऽपानयोग्यदलिकद्रव्याऽऽहरण-
क्रियापरिसमाप्तिः आहारपर्याप्तिः । (त. भा. ८,
१२; नन्दी. हरि. बृ. पु. ४३-४४) । ३. आहारग्रहण-
समर्थकरणनिष्पत्तिराहारपर्याप्तिः । $\times \times \times$ शरी-
रस्थेन्द्रियाणां बाधो मनसः प्राणापानयोश्चागमप्र-
सिद्धवर्गणाक्रमेण यानि योग्यानि दलिकद्रव्याणि
तेषाम् आहरणक्रिया ग्रहणम्—आदानम्, तस्याः
परिसमाप्तिराहारपर्याप्तिः करणविशेषः । (त. भा.
हरि. ब. सिद्ध. बृ. ८-१२) । ४. तत्राहारपर्याप्तिरेवं
उच्यते—शरीरनामकर्मोद्यात् पुद्गलविपाकिनः
आहारवर्गणागतपुद्गलस्कन्धाः समवेतानन्तपरमाणु-
निष्पादिता आत्मावष्टब्धक्षेत्रस्थाः कर्मस्कन्धसम्बन्ध-
तो मूर्तिभूतमात्मानं समवेतरत्वेन समाश्रयन्ति; तेषा-
मुपगतानां पुद्गलस्कन्धानां खल-रसपर्यायः परि-
णमनशक्तेर्निमित्तानामाप्तिराहारपर्याप्तिः (खल-
रसपर्यायः परिणमनशक्तिराहारपर्याप्तिः—मूला.
बृ.) । (अब. पु. १, पृ. २५४; मूला. बृ. १२,
१६५) । ५. आहारपर्याप्तिर्नाम खल-रसपरिणमन-
शक्तिः । (स्थाना. अभय. बृ. २, १, ७३, पृ. ५०) ।

६. आहारग्रहणसमर्थकरणपरिनिष्पत्तिः आहारपर्या-
प्तिः । (त. भा. सिद्ध. बृ. ८-१२) । ७. यया
शक्त्या करणभूतया जन्तुराहारमादाय खल-रसरूप-
तया परिणमयति सा आहारपर्याप्तिः । (अब. सारो.
बृ. १३१७; विचारस. वि. ध्या. ४२, पृ. ६; बृहत्क.
बृ. १११२; संग्रहणी वे. बृ. २६८) । ८. यया बाह्य-
माहारमादाय खल-रसरूपतया परिणमयति सा आहा-
रपर्याप्तिः । (प्रज्ञा. मलय. बृ. १-१२, पृ. २५;
नन्दी. मलय. बृ. १३, पृ. १०५; बड्ढीति मलय.
बृ. १, पृ. १२४; पंचस. मलय. बृ. १-५, पृ. ८;
जीवाणी. मलय. बृ. १-१२, पृ. १०; बण्ड कर्म.
मलय. बृ. ५, पृ. १५३; शतक. मल. हेम. बृ. ३७,
३८, पृ. ५०; कर्मस्तव गो. बृ. ६-१०, पृ. १६;
कर्मवि. हे. स्तो. बृ. ६; बड्ढीति वे. स्तो. बृ. २,

पृ. ११७; बण्ड कर्म. वे. स्तो. बृ. ६, पृ. १२६) ।

९. आहारवर्गणाम्य आगतसमयप्रबुद्धपुद्गलस्कन्धान्
खल-रसमागेन परिणमयितुं पर्याप्तनामकर्मोदयसहि-
ताहारवर्गणावष्टम्भजनिता आत्मनः शक्तिनिष्पत्तिः
आहारपर्याप्तिः । (गो. जी. म. प्र. टी. ११६) ।

१०. औदारिक-वैकिकिकाहारक-शरीरनामकर्मोदय-
प्रथमसमयमादि कृत्वा तच्छरीरत्रय-वट्पर्याप्तिपर्याय-
परिणमनयोग्यपुद्गलस्कन्धान् खल-रसमागेन परिणम-
यितुं पर्याप्तिनामकर्मोद्यावष्टम्भसम्भूतात्मनः शक्ति-
निष्पत्तिः आहारपर्याप्तिः । (गो. जी. जी. प्र. टी.
११६; कातिके. टी. १३४) । ११. तत्रैवाऽऽहार-
पर्याप्तिर्ययाऽऽदाय निजोजितम् । पृथक् खल-रसत्वे-
नाऽऽहार परिणति नयेत् ॥ (लोकप्र. ३-१७) ।

१ आहारवर्गणा के परमाणुओं को खल और रस
आगरूप से परिणमन कराने की शक्ति को आहार-
पर्याप्ति कहते हैं ।

आहारपोषध—तत्राहारपोषधो देशतो विवक्षित-
विकृतेरविकृतेराचान्तस्य वा सङ्गदेव द्विरेव वा भोज-
नम् । (योगशा. स्तो. विव. ३-८५, पृ. ५११) ।

विवक्षित विकृति—विकारजनक धी-भूष आदि,
अविकृति—कामादि विकार को न उत्पन्न करने
वाला सादा भोजन—अथवा आचान्त (संस्कार-
रहित कांजी व भात आदि) का एक-दो बार भोजन
करना; यह देशतः आहारपोषधतः कहलाता है ।

आहारमिथकाययोग—आहार-काम्यस्कन्धतः
समुत्पन्नवीर्येण योगः आहारमिथकाययोगः । (अब.
पृ. १, पृ. २६३) ।

आहारकशरीर और कामंजशरीर के स्कन्धों से
उत्पन्न हुए वीर्य के द्वारा जो योग होता है उसे
आहारमिथकाययोग कहते हैं ।

आहारशरीर—अंतोमृद्गतसंविदपदेसकलाधो आ-
हारशरीरं णाम । (अब. पु. १४, पृ. ७८) ।

अन्तर्मृद्गत काल में संचित नोकर्मप्रवेशों के समूह
का नाम आहारशरीर है ।

आहारशरीरनाम—जस्त कम्मस उदएण आहार-
वग्गणाए खंधा आहारशरीररूपेण परिणमंति तस्स
आहारशरीरमिदि सण्णा । (अब. पु. ६, पृ. ६६) ।
जिस कर्म के उदय से आहारवर्गणा के स्कन्ध
आहारशरीर के रूप में परिणत होते हैं उसे आहार-
शरीरनामकर्म कहते हैं ।

आहारशरीरबन्धननाम—देखो आहारकशरीरबन्धन नामकर्म । जस्त कम्मस्स उदएण आहारशरीरपरमाणु अण्णोण्णेण बंधमागच्छंति तमाहारशरीरबंधणनाम । (अब. पु. ६, पृ. ७०) ।

जिस्त कर्म के उदय से आहारशरीर के परमाणु परस्पर में बन्ध को प्राप्त होते हैं उसे आहारशरीर-बन्धन नामकर्म कहते हैं ।

आहारशरीरसंघातनाम—देखो आहारकशरीर-संघातनाम । जस्त कम्मस्स उदएण आहारशरीर-बंधणं सरीरभावमुवगदणं बंधणनामकम्मोदएण एगबंधणवडाण मट्ठत्तं होदि तमाहारशरीरबंधण-नाम । (अब. पु. ६, पृ. ७०) ।

जिस्त कर्म के उदय से शरीर अवस्था को प्राप्त आहारशरीर के स्वरूप बन्धन नामकर्म के उदय से एक बन्धनबद्ध होकर छिन्नरहित अवस्था को प्राप्त होते हैं उसे आहारशरीरसंघात नामकर्म कहते हैं ।

आहारसमुद्घात — देखो आहारकसमुद्घात ।

१. आहारसमुद्घातो णाम पत्तिव्ढीणं महात्तिसीणं होदि । तं च हत्थस्सेधं हंसवत्तं सव्वगसुदरं लणमे-त्तेण अण्णेयजोयणलक्खगमणक्खम अण्णडिहियगमणं उत्तमंगसंभव आणाकणिट्ठदाए असंजमबहुलदाए च लद्धप्पसकं । (अब. पु. ४, पृ. २८) ; आहारसमु-द्घातो णाम हत्थपमाणेण सव्वगसुदरेण समचउरस्स-सठाणेण हसववलेण रस-वधिर-मम-मेदट्ठि-मज्ज-मुक्कसत्ताउअवज्जिएण विसग्गि-सत्थादिसयल-बाहामुक्केण वज्जसिलार्थंम-जल-पव्वयगमणदच्छेण सीसादो उगएण देहेण तित्थयरपादमूलगमण । (अब. पु. ७, पृ. ३००) । २. समुत्पन्नपद-गदार्थ-प्रान्तेः परमद्विसम्पन्नस्य महत्समूलशरीरमत्यज्य शुद्धस्फटिकाकृतिकेकहस्तप्रमाणः पुरुषो मस्तकमध्या-न्निर्गत्य यत्र-कुत्रचिदन्तर्मुहूर्तमध्ये केवलज्ञानिन पश्य-ति तदर्थंताञ्च स्वाव्ययस्य भुनेः पद-पदार्थनिश्चयं समुत्पन्न पुनः स्वस्थाने प्रविशति असौ आहारसमु-द्घातः ॥ (बु. ब्रह्मसं. टी. ११; कात्तिके. टी. १७६) ।

१ प्रमाण में एक हाथका, सर्वांगसुन्दर, समस्तपुरुष-संस्थान से सहित, हंसके समान बबल, रस-वधिरादि सप्त बाहुओं से रहित, समस्त बाबाओंसे विभिर्मुक्त, पर्वत एवं जल आदि के भीतर गमन में सर्वत्र और मस्तक से उत्पन्न हुए ऐसे शुभ शरीर के द्वारा

तीर्थंकर के पादमूल में जाना; इसे आहारसमुद्घात कहते हैं ।

आहारसंज्ञा—१. आहारदसणेण य तत्सुवजोणेण ऊणकुट्टाए । सादिदंशरीणाए हवंदि ह आहार-संज्ञा तु ॥ (आ. पंचसं. १-५२; गो. जी. १३४) ।

२. आहारसंज्ञा आहाराभिलाषः क्षुदेवेदनीयोदय-प्रभवः सत्त्वात्मपरिणाम इत्यर्थः । (आब. हरि. बु. पु. ५८०; जीवाजी. बु. १-१३, पु. १५) । ३. अस-द्वेदनीयोदयादोज-लोम - प्रलेपमेवेनाहाराभिलाषपूर्वकं विशिष्टपुद्गलग्रहणमाहारसंज्ञा, संज्ञा नाम विज्ञानं तद्विषयमाहारमस्यहरामीति । (त. भा. हरि. व सिद्ध. बु. २-२५) । ४. आहारे या तृष्णा काङ्क्षा सा आहारसंज्ञा । (अब. पु. २, पृ. ४१४) । ५. आ-हाराभिलाष आहारसंज्ञा, सा च तैजसशरीरनामकर्मो-दयादसातोदयाच्च भवति । (आचार. नि. जी. बु. १, १, ३६, पु. ११) । ६. तत्राहारसंज्ञा आहारा-भिलाषः । (स्वाना. अभय. बु. ४-४, ३५५, पृ. २६३) । ७. तत्राहारसंज्ञा क्षुदेवेदनीयोदयादाहाराभि-लाषः । (धम्मं. मान. स्वी. बु. ३-२७, पृ. ८०) । ८. आहारे विशिष्टान्तादौ संज्ञा वाञ्छा आहारसंज्ञा । (गो. जी. जी. प्र. टी. १३५) । ९. आहारे योऽभिलाषः स्याज्जन्तोः क्षुदेवेदनीयतः । आहारसंज्ञा सा भेदा × × × । (लोकप्रकाश ३-४४४) ।

१ आहार के देखने से, उसकी ओर उपयोग जाने से तथा वेद के लाली होने से असातावेदनीय की उदरीणा होने पर जो आहार की अभिलाषा होती है उसका नाम आहारसंज्ञा है ।

आहितविशेषत्व—१. आहितविशेषत्वं वचनान्तरा-पेक्षया दौक्तिकविशेषता । (समवा. अभय. बु. १५, पृ. ६०) । २. आहितविशेषत्वं शेषपुरुषवचना-पेक्षया शिष्येष्टूपादितमतिविशेषता । (राघव. मलय. बु. पु. ४, पृ. २८) ।

१ दूसरों के वचनोंकी अपेक्षा विशेषता की उपस्थिति को आहितविशेषत्व कहते हैं । यह ३५ सत्यवचना-तिशयो में ३१वां है ।

आहृतकर्म—१. यद् ग्रहादेः साधुवसतिमानीय वदाति तदाहृतम् । (आचार. जी. बु. २, १, २६६, पृ. ३१७) । २. आहृतं स्वग्रामाद्याहृतादि । (अब. भा. मलय. बु. ३-१६४, पृ. ३५) । ३. यद् ग्रामा-

मतराद् गृहाद् वा यतिनिमित्तमानीतं तदाहृतम् ।
(गु. पु. बट्. स्वी. बृ. २०, पृ. ४६) ।

१ गृहादि से साधु की वसति में साकर को बिया जाता है वह आहृत नामक उद्गम शेष से वृक्षित होता है ।

इक्ष्वाकु—१. धाकन्तीश्वरसं प्रीत्या बाहुल्येन त्वयि प्रभो । प्रजाः प्रभो यतस्तस्मादिक्ष्वाकुरिति कीर्त्यते ॥ (ह. पु. ८-२१०) । २. धाकानाच्च तदेक्षूणां रस-सग्रहणे नृणाम् । इक्ष्वाकुरित्यभूद् देवो जगतामभि-समतः ॥ (म. पु. १६-२६४) ।

कर्मभूमि के प्रारम्भ में भगवान् आदिनाथ ने प्रजा के लिए चूँकि इक्षुरस के संग्रह का उपदेश दिया था, अतएव उन्हें इक्ष्वाकु कहा जाता है ।

इक्ष्वाल—देशो घञ्जार दोष । १. जे णं णिम्ये वा णिम्यं वा फासु-एसणज्ज असण-पाण-साइम-साइमं पडिमाहेत्ता समुच्छिण्ण गिद्धे गडिण्ण अज्जोव-न्ते आहारं आहारित एस णं गोयमा स इगाले पाण-भोयणे । (भगवती ७, १, १६—सप्त ३, पृ. ५) । २. निर्वाता विशाला नालुण्णा घोभनेयमिति तत्रा-नुराग इक्ष्वालः । (अ. भा. विजयो. ३-२३०; कार्तिके. टी. ४४६) । ३. इक्ष्वालं सरागप्रशंसनम् । (गु. पु. बट्. स्वी. बृ. २५, पृ. ५८) ।

१ साधु और साध्वी प्रासुक व एषणीय असन, पाण, खादिम एवं स्वादिम आहार को ग्रहण करके मोह को प्राप्त होता हुआ यदि सोलुपता व आसक्ति से उस आहार को खाता है तो यह इक्ष्वाल (धमार) नाम का एषणा दोष होता है । २ यह वसतिका हवा और अधिक गर्मी-सर्दी से रहित विशाल और सुन्दर है; ऐसा समझ कर उसमें अनुराग करने से इगालदोष होता है ।

इक्षित—इक्षितं निपुणमतिगम्यं प्रवृत्ति-निवृत्ति-सूचकमीषद्ध-शिरःकम्पादि । (भौतिक. बृ. वि. व्या. ४-२५, पृ. ३८) ।

निपुणबुद्धियों के द्वारा ज्ञान सकने के योग्य ऐसे प्रवृत्ति या निवृत्ति के सूचक कुछ श्रुति व शिर के कम्पन आदि शारीरिक संकेतों को इक्षित कहा जाता है ।

इक्षिनी—१. इंगिणीशब्देन इक्षितमात्मनो भण्यते । (अ. भा. विजयो. २६) । २. इंगिणीशब्देन इंगित-मात्मनोऽभिप्रायो भण्यते । (अ. भा. मूला. २६) ।

२ अपने अभिप्राय को इंगित या इंगिनी कहा जाता है ।

इक्षिनी-अनशन—इक्षिनी श्रुतिवहितः क्रियावि-शेषस्तद्विशिष्टमनशनमिक्षिनी । अस्य प्रतिपत्ता तेनैव क्रमेणायुषः परिहाणिमवबुध्य तत्ताविष एव स्थण्डिले एकाकी कृतचतुर्विधाहारप्रत्याख्यानख्यात उप-गुण्णाच्छायां सकामन् सचेष्टः सम्यग्ध्यानपरायणः प्राणान् जहाति इत्येतद्विज्ञिनीरूपमनशनम् । (योग-शा. स्वी. विष. ४-८६) ।

आगमवहित एक क्रियाविशेष का नाम इक्षिनी है । उसको स्वीकार करने वाला क्रमसे होने वाली आयु की हानि को जानकर जीव-जन्तु रहित एकान्त स्थान में रहता हुआ चारों प्रकार के आहार का परित्याग करता है । वह छाया से उष्ण प्रदेश में और उष्ण प्रदेश से छाया में संक्रमण करता हुआ सावधान रहकर ध्यान में तत्पर रहता है व प्राणों को छोड़ता है—मृत्यु को स्वीकार करता है । इसे इक्षिनीरूप अनशन कहा जाता है ।

इक्षिनीमरण—देशो इक्षिनी व इक्षिनी-अनशन । १. आत्मोपकारसम्यपेक्षं परोपकारनिरपेक्षम् इक्षि-नीमरणम् । (बच. पु. १, पृ. २३-२४) । २. इक्षिनी श्रुतिवहितक्रियाविशेषः तद्विशिष्टं मरणमिक्षिनीमर-णम् । अयमपि हि प्रवृज्यादिप्रतिपत्तिक्रमेणैवायुषः परिहाणिमवबुध्य आत्मनिजोपकरणः स्वावर-जन्म-प्राणिविवर्जितस्थण्डिलस्थायी एकाकी कृतचतुर्विधा-हारप्रत्याख्यानः छायात उष्णं उष्णाच्छायां सहकामन् सचेष्टः सम्यग्ध्यानपरायणः प्राणान् जहाति एतद्विज्ञि-नीमरणमपरिकल्पपूर्वकं चेति । (त. भा. सिद्ध. बृ. ६, १६) । ३. स्वाभिप्रायानुसारेण स्थित्वा प्रवर्त्यमानं मरणं इक्षिनीमरणम् । (अ. भा. विजयो. व मूला. टी. २६) । ४. अप्योपकारवेक्षं परोपकारणमिगिनीमर-णं । (गो. क. ६१) । ५. परप्रतीकारनिरपेक्षमा-त्मोपकारसापेक्षमिक्षिनीमरणम् । (आ. सा. पु. ६८; कार्तिके. टी. ४६६) ।

१ दूसरे के द्वारा की जाने वाली सेवा-सुख्खा को स्वी-कार न करके स्वयं ही शरीर की सेवा-सुख्खा करते हुए जो मरण होता है उसे इक्षिनीमरण कहते हैं ।

इच्छा—१. एषणं इच्छा बाह्याऽभ्यन्तरपरिग्रहाभि-सायः । (बच. व. ७७७) । २. इच्छाऽभिसायस्त्वै-सोक्यविषयः । (त. भा. सिद्ध. बृ. ८-२०, पृ. १४६) ।

३. इच्छा घनःकरणप्रवृत्तिः । (सूत्रक. शी. बृ. २, २, ३५, घृ. ७१) । ४. इच्छा तद्वत्कयाप्रीतिः $\times \times \times$ । (ज्ञानसार २७-४) । ५. इच्छा साधकभावभिलाषः, तद् योगपञ्चकं येषु विद्यते ते तद्वन्तः श्रमणाः, तेषां कथाम् गुणकथनादिव प्रीतिः इष्टता । उक्तं च हरिभद्रपूज्यैः—तज्जुतकहापीई संगया विपरिणामणी इच्छा इति । (ज्ञानसार देव-चन्द्र बृ. २७-४) ।

१ बाह्य और आन्तरिक परिग्रह की अभिलाषा को इच्छा कहते हैं । २ तीनों लोक सम्बन्धी अभिलाषा का नाम इच्छा है । यह लोभ कषाय का नामान्तर है ।

इच्छाकार—१. इष्टे इच्छाकारो $\times \times \times$ । (मूला. ४-५) । २. तत्रैवणमिच्छा क्रियाप्रवृत्त्यभ्युपगमः, करणं कारः, इच्छया करणं इच्छाकारः, आज्ञा-बलाभियोगव्यापारप्रतिपक्षो व्यापारण चेत्यर्थः । (अनुवो. हरि. बृ. घृ. ५८) । ३. एषणमिच्छा, करणं कारः, $\times \times \times$ इच्छया बलाभियोगमन्तरेण करणम् इच्छाकारः, इच्छाक्रियेत्यर्थः । तथा च ममेदं कुरु इच्छाक्रियया, न च बलाभियोगपूर्विकयेति भावार्थः । (आष. नि. हरि. बृ. ६६६, घृ. २५८; जीतक. बृ. चि. व्या. वृ. ४१, ६-४) । ४. इच्छा-मभ्युपगमं करोतीति इच्छाकारः भावरः । (मूला. बृ. ४-४); इष्टे इष्टे सम्यग्दर्शनादिके शुभपरिणामे वा, इच्छाकारो—इच्छाकारोऽभ्युपगमो हर्षः स्वेच्छया प्रवर्तनम् । (मूला. बृ. ४-५) । ५. पुस्त-कातापयोगादेर्या याञ्चा विनयान्विता । स्व-गराद्यै यतीश्वर्यां सेच्छाकारः प्ररूपितः ॥ (आषा. सा. २-६) ।

१ अभीष्ट सम्यग्दर्शनावि अथवा शुभ परिणाम को स्वीकार करना, उसमें हर्ष प्रगट करना और इच्छा-नुसार उसमें प्रवर्तना; इसका नाम इच्छाकार है । ३ अल्पप्रयोग के बिना इच्छा से भेरा यह कार्य कर दो' इस प्रकार प्रेरणा करना; यह इच्छाकार कहलाता है ।

इच्छानुलोमवचनी—देखो इच्छानुलोमवाक् । १. इच्छानुलोमवचनी इच्छानुवृत्तिभाषा यथा तथा भवतीत्यादिः । (गी. बी. म. प्र. टी. २२५) । २. तथैव मयाऽपि भवितव्यमित्यादि इच्छानुवृत्तिभाषा इच्छा-नुलोमवचनी । (गी. बी. बी. म. प्र. टी. २२५) ।

इच्छानुलूप वचनप्रयोग का नाम इच्छानुलोमवचनी है । जैसे—उसी प्रकार मैं भी होना चाहता हूँ, इत्यादि वचनप्रयोग ।

इच्छानुलोमवाक्—तदेष्टं पुष्टं कुर्वेहमित्याद्येच्छा-नुलोमवाक् ॥ (आषा. सा. ५-८६) ।

गुहारे अभीष्ट को मैं पुष्ट करता हूँ, इत्यादि प्रकार के वचन को इच्छानुलोमवाक् कहते हैं ।

इच्छानुलोमा—देखो इच्छानुलोमवचनी । १. इच्छा-नुलोमा नाम कार्यं कर्तुमिच्छता केनचित् पृष्टे कश्चि-दाह करोति (तु) भवान् ममाप्येतदभिप्रेतमिति । (वर्मसं. मान. स्वो. बृ. ३-४१, घृ. १२३) ।

२. गियइच्छियत्तकहणं गेया इच्छानुलोमा य ॥ (आषा. ७६) । ३. निजैस्सितत्वं स्वेच्छाविषयत्वं, तत्कथनं स्वेच्छानुलोमा गेया । यथा कश्चित् किञ्चित्कर्मभारममाणः कञ्चन पृच्छति करोम्येतदिति । स प्राह—करोतु भवान्, ममाप्येतदभिप्रेतमिति । (आषा. बृ. ७६) ।

१ कार्य करने के इच्छुक किसी के द्वारा पूछने पर जो कोई यह कहता है कि 'करो, मुझे भी यह अभीष्ट है', इस प्रकार की भाषा को इच्छानुलोमा कहा जाता है ।

इच्छाप्रवृत्तदर्शनबालमरण—तयोः (इच्छा-निच्छाप्रवृत्तमरणयोः) आद्यमग्निना धूमेन शस्त्रेण विषेण उदकेन मरुत्प्रपातेन उच्छ्वासनिरोधेन अति-शीतोष्णपातेन रज्ज्वा धूषा तृषा जिह्वोत्पाटेन विरुद्धाहारसेवनया बाला मृति औकान्ते कुतश्चिन्मि-मित्ताज्जीवितपरित्यागैर्षिणः । (भग. भा. विजयो. टी. २५; भा. प्रा. टी. ३२) ।

कारणवश प्राणघात की इच्छा करने वाले अज्ञानी जन अग्नि, धूम, शस्त्र, विष, पानी, धाँची, स्वास-निरोध, अतिशय शैत्य या उष्णता, रस्सी (फाँसी), भूक, व्यास, जोष का उखाड़ना और विपरीत आहार का सेवन; इत्यादि कारणों में किसी भी कारण के द्वारा जो मृत्यु का आशय लेते हैं, यह इच्छाप्रवृत्तदर्शनबालमरण कहलाता है ।

इच्छायोग—१. कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादतः । विकलो धर्मयोगो यः स इच्छायोग उच्यते ॥ (योगवृष्टि. ३) । २. तज्जुतकहापीई संगया विपरिणामिणी इच्छा । (योगवि. ५) ।

३. ज्ञातागमस्यापि प्रमादिनः कासादिवैकल्येन चैत्य-

चन्दनाद्यनुष्ठानमिच्छाप्राधान्यादिच्छायोगः । (शा-
स्त्रभा. टी. ६-२७) ।

१ आगम का ज्ञाता होकर भी प्रमादवश कालावि
की विकलता से स्वेच्छापूर्वक चेत्यवस्थना आदि
क्रियाओं के करने को इच्छामोग कहते हैं ।

इच्छाविभाषण—१. दीनाद्यन्नाद्यदानेन पुण्यं ननु
भवेदिति । पृष्टेऽभ्युपगमाल्लार्थं भवेदिच्छाविभाष-
णम् ॥ (आचा. सा. ८-४०) । २. कश्चित् पृच्छति
हे मुने, दीन-हीनादीनामन्नादिदानेन पुण्यं भवेन्न वा
भवेत् ? मुनिरन्नाथं वदति पुण्यं भवेदेवेत्यभ्युपगम
इच्छाविभाषणम् । (आ. प्रा. टी. ६६) ।

१ दीन-हीन जनों को अन्नादि के देने से क्या पुण्य
होता है, इस प्रकार किसी के पूछने पर अन्न के
लिये 'होता है' ऐसा स्वीकारात्मक बचन कहना, यह
एक इच्छाविभाषण नाम का उत्पादन बोध माना
जाता है ।

इच्छावृत्ति—पूर्वात्तानशनातापयोगोपकरणादिषु ।
सेच्छावृत्तिगंभीरानुवृत्तिर्या विनयास्पदा ॥ (आचा.
सा. २-६) ।

पूर्व में गृहीत अन्नशन वा अतापनयोग आदि करने के
समय आचार्य की इच्छा के अनुसार सन्निय आच-
रण करने को इच्छावृत्ति कहते हैं ।

इतर मैत्री—इतरः प्रतिपन्नः पूर्वपुरुषप्रतिपन्नेषु
वा स्वजनसम्बन्धनिरपेक्षा या मैत्री सा तृतीया ।
षोडशक वृ. १३-६) ।

कुटुम्बी जन से भिन्न इतर जनों में—जिन्हें स्वयं
स्वीकार किया गया है या जो पूर्व पुरुषों द्वारा स्वी-
कृत हैं—स्वजन सम्बन्ध की अपेक्षा न कर मैत्रीभाव
के रखने को इतर मैत्री कहते हैं । यह मैत्रीभावना
के चार भेदों में तीसरा है ।

इतरेतराभाव—स्वरूपान्तरात् स्वरूपव्यावृत्तिरित-
रेतराभावः । (प्र. न. त. ३-६३) ।

स्वरूपान्तर से स्वरूप की व्यावृत्ति को इतरेतरा-
भाव कहते हैं ।

इत्थंभूत (एवम्भूत नय)—१. ××× इत्थं-
भूतः क्रियाश्रयः । (समीप. ५-४४; प्रमाणसं.
८३) । २. इत्थंभूतनयः क्रियार्थवचनः स्यात्कार-
मुद्राङ्कितः । (सिद्धि. ११-३१, वृ. ७३६ पं. ६) ।

३. इत्थंभूतः क्रियाशब्दभेदात् अर्थभेदकृत इति ।
××× ननु च इत्थंभूतस्वरूपप्रकरणे प्रस्तुते

एवम्भूताभिधाने किं केन संगतम् ? इत्यसत्, यस्मात्
इत्थंभूतस्यैव इदम् 'एवम्भूतः' इति नामान्तरम् ।
(न्यायकृ. ५-४४, वृ. ६३६) ।

१ क्रिया के आश्रयसे वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन करने
वाले नय को इत्थंभूत (एवम्भूत) नय कहते हैं ।
जैसे—गमनक्रियापरिणत गाय को ही गौ कहना ।

इत्थंलक्षणसंस्थान—१. वृत्त-अप्यक्ष-चतुरस्रायत-
परिमण्डलादीनामित्थंलक्षणम् । (स. सि. ५-२४; स.
सुखबो. वृ. ५-२४) । २. वृत्तं अप्यक्षं चतुरस्रमायतं
परिमण्डलमित्येवमादि संस्थानमित्थंलक्षणम् । (स.
सा. ५, २४, ११) । ३. संस्थानमित्थंलक्षणं चतुर-
सादिकम् । (स. इत्थो. ५-२४) । ४. संस्थानं
कलशादीनामित्थंलक्षणमित्येते । (स. सा. ६-६३) ।

५. इत्थंलक्षणं संस्थानं त्रिकोण-चतुर्कोण-दीर्घ-परि-
मण्डलादि । (स. वृत्ति श्रुत. ५-२४) ।

१ योज, त्रिकोण एवं चतुर्कोण आदि विविध
आकारों को इत्थंलक्षणसंस्थान कहते हैं ।

इत्वर अन्नशन—१. न अन्नशनमन्नानम्, आहार-
त्याग इत्यर्थः । तत्पुनरिदं इत्वरं यावत्कथिकं च ।
तत्रेत्वरं परमितकालम्, तत्पुनश्चरमतीर्थकृतीषं चतु-
र्थादिष्वप्यासान्तम् । (बसवै. नि. हरि. वृ. १, १,
४७, वृ. २६) । २. तत्रेत्वरं नमस्कारसहितादि ।

××× चतुर्थमन्तादिष्वप्यासपर्यवसानमित्वरमन-
शनं भगवतः महाधीरस्य तीर्थं । (स. भा. सिद्ध. वृ.
६-१६) ।

१ परमित काल तक जो आहार का त्याग किया
जाता है उसे इत्वर अन्नशन कहते हैं । वह महा-
धीर के तीर्थ में एक से लेकर छह मास तक
अभीष्ट है ।

इत्वर-परिगृहीतागमन — १. इत्वरपरिगृहीता-
गमनं स्तोत्रकालपरिगृहीतागमनम्, भाटीप्रदानेन
कियन्तमपि कालं स्ववशीकृतवैश्यामैयुनासेवनामि-
त्यर्थः । (भा. प्र. टी. २७३) । २. तत्रेत्वर-
कालपरिगृहीता काल-शब्दलोपादित्वरपरिगृहीता,
भाटिप्रदानेन कियन्तमपि कालं दिवस-मासादिकं
स्ववशीकृतैत्यर्थः, तस्या गमनम् अभिगमो मैयु-
नासेवना इत्वरपरिगृहीतागमनम् । (आच. वृ. ६,
वृ. ८२५) ।

१ इच्छा के कारण कुछ काल के लिए अपने अधीन करने
के व्यवहारिणी (वैश्या) स्त्री के साथ विषय सेवन

करने को इत्वरपरिगृहीतागमन कहते हैं । यह बहु-
वर्णानुगत का एक अतीचार है ।

इत्वर-परिगृहीतापरिगृहीतागमन—इत्वरि ध्व-
वशीला, भाटीप्रदानेन स्तोकाकालं परिगृहीता इत्वर-
परिगृहीता वेद्या, तथा अपरिगृहीता वेद्यैव अगृही-
तान्यस्तकभाटिः, कुलाङ्गना वा ज्ञापेति, तयोर्मम-
नम् आसेवनम् इत्वरपरिगृहीतापरिगृहीतागमनम् ।
(धर्मवि. मृ. पु. ३-२६) ।

अभिचारिणी वेद्या अथवा अनाथ कुलीन स्त्री को
इत्वरि बेकर और कुछ काल के लिए अपनी मानकर
उनके साथ विषय-सेवन करने को इत्वरपरिगृहीता-
परिगृहीतागमन कहते हैं । यह बहुवर्णानुगत का
एक अतीचार है ।

इत्वर-परिहारविशुद्धिक—१. इत्तरिध्व बेरकप्ये
जिषकप्ये धावकहिम्ना उ ॥ (धर्मवि. १३२४) ।

२. एते च परिहारविशुद्धिका द्विविधाः । तद्यथा—
इत्तरा यावत्कथिकाश्च । तत्र ये कल्पसमाप्यनन्तरं
तमेव कल्पं गच्छं समुपयास्यन्ति ते इत्तराः । (आव.
उपो. नि. मलय. मृ. ११४, पु. १२२) । ३. ये कल्प-
समाप्यनन्तरमेव कल्पं गच्छं वा समुपास्यन्ति त
इत्तराः । (वहनी. वे. स्त्रो. मृ. १२, पु. १३७) ।

जो कल्पसमाप्ति के अनन्तर अर्थात् परिहारविशुद्धि-
संयम की साधना के पश्चात् अपने पूर्व गच्छ (स्व-
विर कल्प) को चले जाते हैं उनको इत्वर-परिहार-
विशुद्धिक कहते हैं ।

इत्वर-सामायिक—१. सावज्जजोगविरहं सितं तत्प
सामाद्यं दुहा तं च । इत्तरमावकहं चिय पढमं पढ-
मंतिमजिणाणं ॥ तित्येमु अणारोवियवयस्स सेहस्स
ओवकालीयं । (विशेषा. १२६८-६९); तत्र स्वल्प-
कालमित्तरम्, तदाद्य-वरमाहंतीर्थयोरेवाज्ञारोपित-
व्रतस्य शैकस्य । (विशेषा. स्त्रो. मृ. १२६१) ।
२. तत्रेत्वरं भरतं रावतेषु प्रथम-परिचमतीर्थकर्तार्येषु
अज्ञारोपितमहाव्रतस्य शैकस्य विज्ञेयम् × × × ।
(आव. उपो. नि. मलय. मृ. ११४) ।

१ भरत और ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी प्रथम और
अन्तिम तीर्थकर्तों के तीर्थ में महाव्रतों के आरोपण
(स्थापन) से रहित शैक (शिष्यमूल) ताम्र के
जो इत्वर—कुछ काल की अवधि मुक्त—सामायिक
चारित्र्य द्वारा करता है उसे इत्वर सामायिक कहते हैं ।

इत्तरास्तागम—इत्वरि प्रतिपुरुषमयनशीला, वेद्या
इत्यर्थः, सा चासावाता च कञ्चित्कालं भाटीप्रदा-
नादिना संगृहीता, पुंस्वभावे इत्तरास्ता । अथवा
इत्वरं स्तोकाकालं पश्यते, इत्वरं स्तोकाकालमात्रा इत्तरा-
स्ता, विस्मष्टपटुवत् समासः । अथवा इत्वरकालमात्रा
इत्तरास्ता, मयूरभ्यसकादित्वात् समासः, काल-शब्दलो-
पश्च । तस्यां गम आसेवनम् । इयं चात्र भावना—
भाटीप्रदानादित्तरकालस्वीकारेण स्वकलश्रीकृत्य
वेद्यां सेवमानस्य स्वबुद्धिकल्पनया स्वदारत्वेन व्रत-
सापेक्षचित्तत्वान्न भङ्गः, अल्पकालपरिग्रहाच्च;
वस्तुतोऽन्यकालवत्त्वाद् भङ्गः, इति भङ्गाभङ्गरूप-
त्वादित्तरास्तागमोऽभिचारः । (योगशा. स्त्रो. विव.
३-६४) ।

इत्वरिका अर्थं परपुरुष से सम्बन्ध रखने वाली
वेद्या है और प्राप्त शब्द का अर्थ है गृहीत । अभि-
प्राय यह है कि भाड़ा बेकर कुछ काल के लिए
अपनी स्त्री समझते हुए वेद्या से समागम करना,
इसका नाम इत्तरास्तागम है । अथवा इत्वर का
अर्थ स्तोक भी होता है, तबन्सार ऐसी स्त्री को
कुछ काल के लिए ग्रहण करना, इसे इत्तरास्तागम
समझना चाहिए । यह बहुवर्णानुगत का प्रथम
अतीचार है ।

इत्वरिकागमन—१. तत्रेत्वरिकागमनम् अस्वा-
मिका असती गणिकात्वेन पुंस्वचित्त्वेन वा पुरुषा-
नेति गच्छतीत्येवशीला इत्वरिका । तथा प्रतिपुरुष-
मेतीत्येवशीलेति व्युत्पत्त्या वेद्यापीत्वरिका । ततः
श्रुत्वायां के इत्वरिका, तस्यां गमनासेवनम् । इय
चात्र भावना—भाटीप्रदानान्नियतकालस्वीकारेण
स्वकलश्रीकृत्य वेद्यां वेत्वरिका सेवमानस्य स्वबुद्धि-
कल्पनया स्वदारत्वेन व्रतसापेक्षचित्तत्वादल्पकाल-
परिग्रहाच्च न भङ्गो, वस्तुतोऽस्वदारत्वाच्च भङ्ग
इति भङ्गाभङ्गरूपत्वादित्तरिकाया वेद्यात्वेनान्य-
स्यास्त्वनाथतयैव परदारत्वात् । (सा. क. स्त्रो. टी.
४-५८) । २. इत्वरिकागमनं पुंस्वली-वेद्या-दासी-
नां गमनं जघन-स्तन-वदनादिनिरीक्षण-संभाषण-
हस्त-भ्रुकटासादिसंज्ञाविधानम् इत्येवमादिकं निखिल
रागित्वेन दुष्येष्टितं गमनमिदमुच्यते । (कार्तिके.
टी. ३३८) । ३. इत्वरिका स्यात्पुंस्वली सा द्विधा
प्राग्योदिता । काचित् परिगृहीता स्यादपरिगृहीता
परा ॥ ताम्यां सरागवागादि बहुस्पर्शादिष्वपि रतम् ।

योषोऽतिचारसंशोऽपि ब्रह्मचर्यस्य हानये ॥ (साटी-सं. ७५-७६) ।

१ भाड़ा देकर कुछ काल के लिए अपनी मान बेचवा या अन्य दुराचारिणी स्त्री का सेवन करना, यह ब्रह्मचर्यानुष्ठान को दूषित करने वाला उसका एक इत्वरिकापमन नामका अतीचार है ।

इत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीतागमन—१. पर-पुरुषानेति गच्छतीत्येवंशीला इत्वरी, कुत्सिता इत्वरी, कुत्सितायां कः, इत्वरिका । या एकपुरुषभर्तृ का सा परिगृहीता, या गणिकात्वेन पुंसचलीत्वेन वा पर-पुरुषगमनशीला अस्वामिका सा अपरिगृहीता । परिगृहीता चापरिगृहीता च परिगृहीतापरिगृहीते, इत्वरिके च ते परिगृहीतापरिगृहीते च इत्वरिकापरि-गृहीताऽपरिगृहीते, तयोर्गमनम् इत्वरिकापरिगृहीता-ऽपरिगृहीतागमनम् । (सं. सि. ७-२८) । २. अयन-शीलेत्त्वरी । ज्ञानावरणलक्ष्योपशमापदितकलागुणज्ञ-तया चारित्रमोह-स्त्रीबेदोदयप्रकर्षविशेषोपांगनामो-दयावष्टम्भाच्च परपुरुषानेति (अथे सं. सि. वत्) । (सं. भा. ७, २८, २; भा. सा. पु. ६) । ३. एति गच्छति परपुरुषानित्येवंशीला इत्वरी, कुत्सिता इत्वरी इत्वरिका । एकपुरुषभर्तृ का या स्त्री भवति सधवा विधवा वा सा परिगृहीता सम्बद्धा कथ्यते । या बाराङ्गनात्वेन पुंसचलीभावेन वा परपुरुषानुभवन-शीला निःस्वामिका सा अपरिगृहीता असम्बद्धा कथ्यते । परिगृहीता च अपरिगृहीता च परिगृहीता-ऽपरिगृहीते, इत्वरिके च ते परिगृहीताऽपरिगृहीते इत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीते, इत्वरिकापरिगृहीता-ऽपरिगृहीतयोर्गमने प्रवृत्ती द्वे इत्वरिकापरिगृहीता-ऽपरिगृहीतागमने । गमने इति कोऽर्थः ? जघन स्तन-वदनादिनिरीक्षणं सम्भाषणं पाणि-भ्रू-चक्षुरन्तादि-संज्ञाविधानमित्येवमादिकं नितिवर्णं रागित्वेन दुरुच-ष्टितं गमनमित्युच्यते । (सं. वृत्ति भूत. ७-२८) । १ एक पुरुष (स्वामी) से सम्बद्ध दुराचारिणी स्त्री के साथ समागम करकेका नाम इत्वरिकापरिगृहीता-गमन है । तथा स्वामी से बिहीन बेचवा या अन्य दुराचारिणी स्त्री के साथ समागम करना, यह इत्वरिका-अपरिगृहीतागमन है । ये दो ब्रह्मचर्यानुष्ठान के पृथक् पृथक् अतिचार हैं ।

इन्द्र—१. अन्यदेवासाधारणमादियोगादिवन्तीति सं. ३०

इन्द्राः । (सं. सि. ४-४; सं. श्लो. ४-४) । २. पर-मैश्वर्यादिन्द्राभ्यपदेशः । अन्यदेवासाधारणमादि-योगादिवन्तीति इन्द्राः । (सं. भा. ४, ४, १) । ३. इन्द्रो जीवः सर्वद्रव्यैश्वर्ययोगाद्विषयेषु वा परमै-श्वर्ययोगात् । (सं. भा. २-१५); तन्मेन्द्रा भव-नवासि-अन्तर-ज्योतिष्क-विमानाधिपतयः । (सं. भा. ४-४) । ४. इन्द्रः स्वरूपतो ज्ञानार्जैश्वर्ययुक्त-त्वादात्या । (मन्वी. हरि. वृ. पृ. २८) । ५. इन्द्र-नाष्टणिमाहंशेष गुणैरिन्द्रो ह्यनन्यजैः । (अ. पु. २२-२२) । ६. इन्द्रादिन्द्रः सर्वभोगोपभोगाधि-ष्ठानः सर्वद्रव्यविषयैश्वर्योपभोगाज्जीवः । (सं. भा. सिद्ध. वृ. २-१५) । ७. तत्र 'इंद्र परमैश्वर्य' इन्द्रति परमार्जैश्वर्यमनुभवन्तीति इन्द्रा अधिपतयः । (बृहार्श. मलय. वृ. २) । ८. इन्द्राः परमैश्वर्यतः सर्वाधिपत-यः । (सप्तहृषी वे. वृ. १) । ९. इन्द्रति परमैश्वर्यं प्राप्नुवन्ति अपरामरासमानाः अणिमादिगुणयोगा-दिति इन्द्राः । (सं. वृत्ति भूत. ४-४) ।

१ अन्य देवों में नहीं पाई जाने वाली असाधारण अणिम-महिमादि ऋद्धियों के धारक ऐसे देवाधि-पति को इन्द्र कहते हैं ।

इन्द्रधनुष—इन्द्रधनुः धनुषाकारेण पञ्चवर्णपुद्गल-निचयः । (मूला. वृ. ५-७७) ।

वर्षाकाल में आकाश में जो धनुषाकार पाँच वर्ण वाली पुद्गलसमूह दिखता है वह इन्द्रधनुष कह-लाता है ।

इन्द्रिय—१. इन्द्रतीति इन्द्र आत्मा, तस्य ज्ञस्व-भावस्य तदावरणलक्ष्योपशमे सति स्वयमर्थान् गृहीतु-मसमर्थस्य यदर्थोपलब्धिनिमित्तं लिङ्गं तदिन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियमित्युच्यते । अथवा लीनमर्थं गमयती-ति लिङ्गम् । आत्मनः सूक्ष्मस्यास्तित्वाधिगमे लिङ्ग-मिन्द्रियम् । × × × अथवा इन्द्र इति नामकर्मो-च्यते, तेन सृष्टिमिन्द्रियमिति । (सं. सि. १-१४) । २. इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमि-न्द्रदत्तमिति वा [पा. अष्टा. ५।२।६३] । इन्द्रो जीवः सर्वद्रव्यैश्वर्ययोगाद् विषयेषु वा परमैश्वर्य-योगात्, तस्य लिङ्गमिन्द्रियम् । लिङ्गनात्सूचनात्प्र-दर्शनादुपपन्ननाद् व्यञ्जनाच्च जीवस्य लिङ्गमि-न्द्रियम् । (सं. भा. २-१५) । ३. इन्द्रस्यात्मनोऽर्थो-पलब्धिलिङ्गमिन्द्रियम् । इन्द्र आत्मा, तस्य कर्म-

मरीमसस्य स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्याऽर्धोपलम्भने यत्लिङ्गं तदिन्द्रियमुच्यते । (त. बा. १, १४, १); इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गमिन्द्रियम् । उपभोक्तुरात्मनोऽनिवृत्तकर्मबन्धस्यापि परमेश्वरत्वशक्तियोगात् इन्द्रव्यपदेशमर्हतः स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्योपयोगोपकरणं लिङ्गमिन्द्रियमित्युच्यते । (त. बा. २, १५, १); इन्द्रेण कर्मणा सृष्टमिति वा । अथवा स्वकृतकर्मवशादात्मा देवेन्द्रादिषु तिर्यगादिषु चेष्टानिष्ठमनुभवतीति कर्मैव तत्रेन्द्रः, तेन सृष्टमिन्द्रियमित्याख्यायते । (त. बा. २, १५, २) । ४. तत्रेन्द्रियमिति कः शब्दार्थः ? इदि परमेश्वर्ये' इन्द्रनादिन्द्रः— सर्वोत्पत्तिभोगपरमेश्वर्यसम्बन्धाज्जीवः, तस्य लिङ्गं तेन वृष्टं सृष्टं चेत्यादि । (आब. नि. हरि. बृ. ६१८, पृ. ३६८) । ५. इन्द्रेण कर्मणा सृष्टमिन्द्रियं स्पर्शनादीन्द्रियन।मकर्मोदयनिमित्तत्वात् । इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गमिन्द्रियमिति वा कर्ममलीमसस्यात्मनः स्वयमर्थानुपलब्ध्य [बुधुम] समर्थस्य हि यदर्थोपलब्धौ लिङ्गमिति तमिन्द्रियमिति भाष्यते । (त. इलो. २-१५) । ६. प्रत्यक्षनिरतानीन्द्रियाणि । अक्षाणीन्द्रियाणि । अक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षं विषयोऽक्षजो बोधो वा तत्र निरतानि व्यापृतानि इन्द्रियाणि । शब्दस्पर्शरस-रूप-गन्धज्ञानावरणकर्मणां क्षयोपशमाद् द्रव्येन्द्रियनिबन्धनादिन्द्रियाणीति यावत् । × × × सङ्कर-व्यतिकराभ्यां व्यापृतिनिराकरणाय स्वविषयनिरतानीन्द्रियाणीति वा वक्तव्यम् । × × × अथवा स्ववृत्तिरतानीन्द्रियाणि । संशय-विपर्यय-निर्णयादौ वर्तनं वृत्तिः, तस्यां स्ववृत्तौ रतानीन्द्रियाणि । × × × अथवा स्वार्थनिरतानीन्द्रियाणि । × × × अथवा इन्द्रनादाविपत्यादिन्द्रियाणि । (अब. पु. १, पु. १३५ आदि); इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रेण सृष्टमिति वा इन्द्रियशब्दार्थः × × × । (अब. पु. १, पु. २३७); इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम् । उपभोक्तुरात्मनोऽनिवृत्तकर्मसम्बन्धस्य परमेश्वरशक्तियोगादिन्द्रव्यपदेशमर्हतः स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्योपयोगोपकरणं लिङ्गमिति कथ्यते । (अब. पु. १, पु. २६०); स्वविषयनिरतानीन्द्रियाणि, स्वार्थनिरतानीन्द्रियाणीत्यर्थः । अथवा इन्द्र आत्मा, इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम् । (अब. पु. ७, पु. ६); इदंस्स लिखमिदियं । इदो जीवो, तस्स लिग जाणावणं सुचयं जं तमिदियमिदि वुत्तं होदि । (अब. पु. ७, पु. ६१) ।

७. तस्यैवंप्रकारस्यात्मन इन्द्रस्य लिङ्गं चित्तमविना-भाष्यत्यन्तलीनपदार्थावगमकारीन्द्रियमुच्यते । (त. बा. सिद्ध. बृ. २-१५) । ८. इन्द्रियाणि मतिज्ञानावरणक्षयोपशमशक्तयः । (भूला. बृ. १-१६); स्वार्थनिरतानीन्द्रियाणि, अथवा इन्द्र आत्मा तस्य लिङ्गमिन्द्रियम्, इन्द्रेण सृष्टमिति चेन्द्रियम् । (भूला. बृ. १२-१५६) । ९. इन्द्रनादिन्द्रो जीवः सर्वविषयोपलब्धिभोगलक्षणपरमेश्वर्ययोगात्, तस्य लिङ्गमिन्द्रियम् । (ललितवि. बृ. बं. पु. ३६) । १०. स्पर्शादिप्रहणं लक्षणं येषां तानि यथासंख्यं स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि × × × तत्रेन्द्रेण कर्मणा सृष्टानीन्द्रियाणि, नामकर्मोदयनिमित्तत्वात् । इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गानि वा, कर्ममलीमसस्य हि स्वयमर्थानुपलब्धुमसमर्थस्यात्मनोऽर्धोपलब्धौ निमित्तानि इन्द्रियाणि । × × × यद्वा, इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गान्यात्मगमकानि इन्द्रियाणि । (प्रमाणमी. १, १, २१, पृ. १६) । ११. इन्द्रस्यात्मनः कर्ममलीमसस्य मूकमस्य च लिङ्गमर्थोपलब्धे सहकारिकारण जाय[प]कं वा यत्तदिन्द्रियम् । इन्द्रेण नामकर्मणा वा जन्यमिन्द्रियम् । (त. सुल्लो. बृ. १-१४) । १२. 'इदु परमेश्वर्यं', 'उदितो नम्' इति नम्, इन्द्रनात् इन्द्रः आत्मा सर्वद्रव्योत्पत्तिरूपपरमेश्वर्ययोगात्, तस्य लिङ्गं चित्तमविनाभावि इन्द्रियम् । (मन्वी. मलब. बृ. ३, पु. ७५; जीवाजी. मलब. बृ. १-१३, पु. १६; प्रब. सारो. बृ. ११०५) । १३. इन्द्रनादिन्द्रः आत्मा ज्ञानलक्षणपरमेश्वर्ययोगात्, तस्यैव इन्द्रियम् इति निपातनादिन्द्रशब्दादियप्रत्ययः । (प्रमाण. मलब. बृ. १३-१८२, पु. २८५) । १४. इन्द्रो जीवः सर्वपरमेश्वर्ययोगात्, तस्य लिङ्गमिन्द्रियम् । लिङ्गनात् सूचनात् प्रदर्शनादुपलम्भाद् व्यञ्जनाच्च जीवस्य लिङ्गमिन्द्रियम् । (जा. सा. वे. बृ. ७, पु. २५) । १५. इन्दति परमेश्वर्यं प्राप्नोतीति इन्द्रः, आत्मतत्त्वस्य आत्मनः ज्ञायकैकस्वभावस्य मतिज्ञानावरणक्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्य यदर्थोपलब्धिलिङ्गं तत् इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियमुच्यते । अथवा लीनमर्थं गमयति ज्ञापयतीति लिङ्गमिन्द्रियमुच्यते । आत्मनः मूकमस्य अस्तित्वाधिगमकारकं लिङ्गमिन्द्रियमित्यर्थः । × × × अथवा नामकर्मणः इन्द्र इति संज्ञा, इन्द्रेण नामकर्मणा सृष्टं [सृष्टं] इन्द्रियमित्युच्यते । (त. वृत्ति अत. २-१८); इन्द्रशब्देन आत्मा उच्यते, तस्य लिङ्गं इन्द्रियमुच्यते ।

(त. वृत्ति वृत्त. २-१८) । १६. इडुः स्वात् पर-
मैश्वर्यं धातोरेवम्य प्रयोगतः । इन्दनात् परमैश्वर्य-
विन्द आत्माभिधीयते ॥ तस्य लिङ्गं तेन सृष्टिमिती-
न्द्रियमुदीर्यते ॥ (लोकप्र. ३-४६४-६५) ।

१ परम ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले आत्मा को इन्द्र
और उस इन्द्र के लिङ्ग या चिह्न को इन्द्रिय कहते
हैं । अथवा जो जीव को अर्थ की उपलब्धि में
निमित्त होता है उसे इन्द्रिय कहते हैं । अथवा जो
सूक्ष्म आत्मा के सद्भाव की सिद्धि का हेतु है उसे
इन्द्रिय कहते हैं । अथवा इन्द्र नाम नामकर्म का है,
उसके द्वारा निमित्त स्वर्शनादि को इन्द्रिय कहा
जाता है ।

इन्द्रियजय—१. अरिषड्वर्गत्यागेनाविरुद्धार्थप्रति-
पत्येन्द्रियजयः । (धर्मसि. १-१५) । २. विषया-
टवीषु स्वच्छन्दप्रधावमानेन्द्रियगजानां ज्ञान-वैराग्यो-
पवासासंक्रुशाकर्षणेन वशीकरणमिन्द्रियजयः । (आ.
सा. पृ. ४४) । ३. इन्द्रियाणां श्रोत्रादीन्द्रियाणां
जयः श्रत्यन्तासक्तिपरिहारेण स्व-स्वविकारनिरोधः ।
(धर्मसं. मान. स्वो. बृ. १-६, पृ. ६) ।

२ विषयरूप वन में स्वच्छन्द बौद्धने वाले इन्द्रियरूप
यद्योमत्त गजों के ज्ञान, वैराग्य एवं उपवासादिक
संक्रुश के प्रहारों द्वारा वश में करने को इन्द्रियजय
कहते हैं ।

इन्द्रियपर्याप्ति—१. पंचगृहमिदियाणं जोग्गा पो-
गला विचिंणिसु अणामोगणिज्जित्तवीरियकरणेण
तन्मभावापायणसत्तो हदियपज्जत्ती । (मन्वी. बृ. पृ.
१५) । २. त्वगादीन्द्रियनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्ति-
रिन्द्रियपर्याप्तिः । (त. भा. ८-१२; मन्वी. हरि.
बृ. पृ. ४४) । ३. योग्यदेशस्थितरूपादिविशिष्टार्थ-
ग्रहणशक्त्युत्पत्तिनिमित्तपुद्गलप्रचयावाप्तिरिन्द्रियपर्या-
प्तिः । (अव. पु. १, पृ. २५५) ; सच्छेसु पोग्गलेसु
मिलिदेसु तन्मलेण बज्जत्थग्रहणसत्तोए समुत्पत्ती
हदियपज्जत्ती नाम । (अव. पु. १४, पृ. ५२७) ।
४. इन्द्रियकरणनिष्पत्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः । (त. भा.
सिद्ध. बृ. ८-१२, पृ. १६०) ; तत्र च स्वरूपनिर्व-
र्तनक्रियापरिसमाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः । (त. भा.
सिद्ध. बृ. ८-१२, पृ. १६१) । ५. योग्यदेशस्थित-
रूपादिविशिष्टार्थग्रहणशक्तेरिन्द्रियपर्याप्तिः ।
(भूला. बृ. १२-१६६) । ६. इन्द्रियपर्याप्तिः पञ्चा-
नामिन्द्रियाणां योग्यान् पुद्गलान् ग्रहीत्वाज्ञाभोग-

निर्वर्तितेन वीर्येण तद्भावनयनाशक्तिः । (स्थाना.
अमय. बृ. २, १, ७३, पृ. ५०) । ७. यया धातु-
रूपतया परिणमितमाहारमिन्द्रियरूपतया परिणम-
यति सा इन्द्रियपर्याप्तिः । (पंचसं. मलय. बृ. १-५;
मन्वी. मलय. बृ. १३, पृ. १०५; अष्ट कर्म. मलय.
बृ. ६, पृ. १२६; कर्मवि. वे. स्वो. बृ. ४८, पृ. ५५,
५६; जीवाजी. मलय. बृ. १-१२; प्रज्ञाप. मलय.
बृ. १-१२, पृ. २५; सत्पत्तिका मलय. बृ. ५, पृ.
१५३; अष्टाजी. मलय. बृ. ३, पृ. १२४; अष्टाजी.
वे. स्वो. बृ. २, पृ. ११७) । ८. यया तु धातुभूत-
माहारमिन्द्रियतया परिणमयति सेन्द्रियपर्याप्तिः ।
(कर्मस्त. गो. बृ. १०, पृ. ८७; शतक. मल. हेन.
बृ. ३७-३८, पृ. ५०) । ९. यया धातुरूपतया
परिणमितादाहारादिन्द्रियप्रायोग्यद्रव्याण्युपादायैक-
द्रव्यादीन्द्रियरूपतया परिणमय्य स्पर्शादिविषय-
परिज्ञानसमर्थो भवति सा इन्द्रियपर्याप्तिः । (बृहत्क.
श्लोम. बृ. १११२) । १०. योग्यदेशस्थितस्पर्शा-
दिविषयग्रहणव्यापारविशिष्टस्यात्मनः पर्याप्तनाम-
कर्मोदयवशान् स्पर्शनादिद्रव्येन्द्रियरूपेण विवक्षित-
पुद्गलस्कन्धान् परिणमयितुं शक्तिरिन्द्रिय-
पर्याप्तिः । (गो. जी. अ. प्र. टी. ११६) । ११. इन्द्रि-
यपर्याप्तिः—यया धातुरूपतया परिणमितादाहारा-
देकस्य द्वयोस्त्वयाणा चतुर्णां पञ्चाना वा इन्द्रियाणां
योग्यान् पुद्गलानादाय स्व-स्वेन्द्रियरूपतया परि-
णमय्य च स्व स्वं विषय परिज्ञातुं प्रभुर्भवति ।
(संघहणी वे. बृ. २६८) । १२. आवरण-वीर्यान्त-
रायक्षयोपशमविजृम्भितात्मनो योग्यदेशावस्थितरूपा-
दिविषयग्रहणव्यापारे शक्तिरिन्द्रियपर्याप्तिनामकर्मो-
दयजनितेन्द्रियपर्याप्तिः । (गो. जी. जी. प्र. टी.
११६; कार्तिके. टी. १३४) ।

३ योग्य देश में स्थित रूपादि से युक्त पदार्थों के
ग्रहण करनेरूप शक्ति को उत्पत्ति के निमित्त-
भूत पुद्गलप्रचय को प्राप्ति को इन्द्रियपर्याप्ति कहते
हैं । ७ जिस शक्ति के द्वारा धातुरूप से परि-
णत आहार इन्द्रियों के आकार रूप से परिणत हो,
उसे इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं ।

इन्द्रियप्रणिधि—सद्देशु घ रुचेसु घ गंधेसु रसेसु
तह य फासेसु । न वि रज्जइ न वि कुस्सइ एसा खलु
इंदियपणिही ॥ (वसवै. नि. २६५) ।

पार्थों इन्द्रियों के सम्बन्धिरूप मनोस और अमनोस

विषयों में राग और द्वेष के नहीं करने की इन्द्रिय-प्रतिषेध कहते हैं ।

इन्द्रियप्रत्यक्ष—१. तन्नेन्द्रियं श्रोत्रादि, तन्निमित्तं यव-संज्ञकं शब्दादिज्ञानं तदिन्द्रियप्रत्यक्षं व्यावहारिकम् । (अनुयो. बृ. पु. ७४; अनुयो. हरि. बृ. पु. १००) ।

२. इन्द्रियाणां प्रत्यक्षमिन्द्रियप्रत्यक्षम् । (गन्धी. हरि. बृ. १०, पु. २०) । ३. इन्द्रियप्रत्यक्षं देसतो विशद-मविसंवादकं प्रतिपत्तव्यम् । (प्रमाणप. बृ. ६८) ।

४. हिताहितातिनिर्मुक्तिसममिन्द्रियनिमित्तम् । यद्दे-शतोऽर्थज्ञानं तदिन्द्रियाध्यक्षमुच्यते ॥ (व्याचि. चि. १, ३, ३०८, पु. १०५) । ५. तन्नेन्द्रियस्य चक्षुरादेः कार्यं यद्बहिर्लोकादिसंवेदनं तदिन्द्रियप्रत्यक्षम् । (प्रमाणपि. २, पु. ३३) । ६. स्पृशंतीन्द्रियव्यापारप्रभवमिन्द्रि-यप्रत्यक्षम् । (लघोय. अथय. बृ. ६१, पु. ८२) ।

७. अनेन्द्रिय श्रोत्रादि, तन्निमित्तं सहकारिकारणं यस्योत्पत्तितोस्तदसंज्ञकं शब्दरूपरसगन्धस्पर्शविषय-ज्ञानमिन्द्रियप्रत्यक्षम् । (अनुयो. मल. हेच. बृ. पु. २११) । ८. इन्द्रियप्राधान्यादनिन्द्रियबलाधानादुप-जातमिन्द्रियप्रत्यक्षम् । (प्र. र. भा. २-५) ।

४. श्रोत्रादि इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला जो अर्थ-ज्ञान हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में समर्थ होता हुआ ज्ञातः विशद (स्पष्ट) होता है उसे इन्द्रियप्रत्यक्ष कहते हैं ।

इन्द्रियवशात्संमरण—१. इन्द्रियवशात्संमरणं यत् तत्संश्लेषमिन्द्रियविषयापेक्षया । सुरेन्द्रैस्तिर्यग्भिर-जीवैश्च कृतेषु तत-वितत-धन-सुधिरेषु मनोक्तेषु रक्तो-ऽमनोक्तेषु द्विष्टो मृतिमेति । तथा चतुःप्रकारे प्राहारे रक्तस्य द्विष्टस्य वा मरणम्, पूर्वोक्तानां सुर-नरा-दीनां गन्धे द्विष्टस्य रक्तस्य वा मरणम्, तेषामेव रूपे सत्याने वा रक्तस्य द्विष्टस्य वा मरणम्, तेषामेव स्पर्शे रागवतो द्वेषवतो वा मरणम् । (भ. भा. विजयो. टी. २५) । २. इन्द्रियविसयवसगया मरंति जे तं वसट्ठं तु । (प्रब. सारो. १०१०) ।

१ पाँच इन्द्रियों के इष्ट विषयों में अनुरक्त और अनिष्ट विषयों में द्वेष को प्राप्त हुए प्राणी के मरण को इन्द्रियवशात्संमरण कहा जाता है ।

इन्द्रियसंयम—१. शब्दादिष्वन्दिवायेषु रागानभि-ध्वंगः । (स. भा. ६, ६, १४) । २. इन्द्रियविषय-राग-द्वेषाभ्यां निवृत्तिरिन्द्रियसंयमः । (भ. भा. विज-यो. टी. ४६) । ३. इन्द्रियादिवु धर्मेषु [इन्द्रिया-

येषु] रागानभिध्वंग इन्द्रियसंयमः । (भा. सा. पु. ३२) । ४. यच्चानामिन्द्रियाणां च मनसश्च निरो-धनात् । स्वादिन्द्रियनिरोधाच्चः संयमः प्रथमो मतः ॥ (पञ्चाध्यायी २-१११५) ।

१ पाँचों इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष के अभाव को इन्द्रियसंयम कहते हैं ।

इन्द्रियसुख—जं शोकसाय-विग्नचलकान् बलेन सावपहृदीनं । सुहृदपदीगुदयमव इन्द्रियतोस्तं हवे लोकं ॥ (स. सा. ६११) ।

शोकसाय और अन्तराश की लानादि चार प्रकृतियों के बल से च लानावेवनीय प्राप्ति पुण्य प्रकृतियों के उदय से जो इन्द्रियजनित सन्तोष उत्पन्न होता है उसे इन्द्रियसुख कहते हैं ।

इन्द्रियासंयम—१. तस्य इन्द्रियासंयमो छ्विहो परिस-रस रूप-गंध-सह-शोड्विद्यासंयममेव । (बभ. पु. ८, पु. २१) । २. रसविषयानुरागारमकः इन्द्रि-यासंयमः । (भ. भा. विजयो. टी. २१३) । ३. यः स्पर्शन-रसन-प्राण-चक्षुः-श्रोत्रलक्षणानां मनश्च स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दलक्षणेषु स्वेच्छाप्रचारः स इन्द्रिया-संयमः । (आरा. सा. टी. ६) ।

३ पाँचों इन्द्रियों के विषयों में स्वेच्छा प्रकृति करने को इन्द्रियासंयम कहते हैं । इन्द्रियमेव से उस अस्-यम के भी छह भेद हो जाते हैं ।

इन्द्र्य—१. इन्द्र्यः धर्मवान्, स च किल मय्य पुञ्जी-कृतस्त्वरत्नाद्यन्तरितो हस्त्यपि नीपलभ्यत इत्येत्या-वताऽवेमेति । (अनुयो. हरि. बृ. पु. १६, पु. १६) । २. इन्द्रमर्हतीतीम्यो धनवान् । (प्रमाण. मल. बृ. १६-२०५, पु. ३२०) । ३. इन्द्रो हस्ती, तत्प्रमाणं द्रव्यमर्हतीतीम्यः, यस्तत्कपुञ्जीकृतहिरण्य-रत्नादि-द्रव्येणान्तरितो हस्त्यपि न दृश्यते सोऽधिकतरद्रव्यो वा इन्द्र्य इत्यर्थः । (जीवाजी. मल. बृ. ३, २, १४७) । ४. इन्द्रमर्हतीति इन्द्र्यः, यस्य सत्कसुवर्णादि-द्रव्यपुञ्जेनान्तरितो हस्त्यपि न दृश्यते सः अत्यधिक-द्रव्यो वेत्यर्थः । (बृहत्क. सं. पु. १२०६) ।

१ जिसके पास संयुक्त सुवर्ण-रत्नादि की राशि से अन्तरित हाथी भी दिखाई न दे उस अति धनवान् पुण्य को इन्द्र्य कहते हैं ।

इन्द्रगति—अन्धजी गतिरिन्द्रगतिरेकमयिकी । (बभ. पु. १, पु. २६६) ।

धूर्व शरीर को छोड़कर उत्तर शरीर को प्राप्त करने

के लिए जो जीव की एक सख्य वाली सीधी—
नोड़ा से रहित—वर्तित होती है वह द्रव्यवृत्ति कष्ट-
साली है ।

इष्ट—१. तेन साधनविषयत्वेनेप्सितमित्युच्यते ।
(प्र. र. भा. ३-२०) । २. इष्टम् आगमेन स्ववच-
नैरेवाभ्युपगतम् । (बोद्धस. बु. १-१०) ।

१ साधन का विषय होकर जो वस्तुको अभीष्ट
है उसे इष्ट कहते हैं ।

इष्टविधियोगज आर्तध्यान—१. विपरीतं मनोज्ञस्य
(मनोज्ञस्य विप्रयोगे तत्संप्रयोगाय स्मृतिसमन्वा-
हारः) । (त. सू. ६-३१) । २. मनोज्ञस्येष्टस्य स्व-
पुनःपरा-वनादेविप्रयोगे तत्संप्रयोगाय सकृत्पवि-
श्याप्रबन्धो द्वितीयमार्तम् । (त. सि. ६-३१) ।

३. मनोज्ञानां विषयाणां मनोज्ञायाश्च वेदनाया
विप्रयोगे तत्संप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहार आर्तम् ।
(त. भा. ६-३३) । ४. मनोज्ञस्य विषयस्य विप्रयोगे

सम्प्रयुक्तानां प्रति या परिध्यातिः स्मृतिसमन्वाहार-
शब्दोचिता प्रसावपि आर्तध्यानमिति निश्चीयते ।
(त. भा. ६, ३१, १) । ५. मनोज्ञस्य विप्रयोगे

तत्संप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारो द्वितीयमार्तम् ।
(त. स्तो. ६-३१) । ६. मणहरविषयविधौ कष्ट-
सं पावेमि इति विषयो जो । सतावेण पयट्टो सो

चिच्य षट्त्वं हवे भाण ॥ (कार्तिके. ५७४) । ७. कथं
नु नाम भूयोऽपि तैः सह मनोज्ञविषयैः संप्रयोगः

स्यान्ममेति एवं प्रणिघते दृढं मनस्तदप्यार्तम् । (त.
भा. सिद्ध. बु. ६-३३) । ८. राज्यस्वयं-कलत्र-शान्धव-

मुहृत्सौभाग्य-भोगादयै, चित्तप्रीतिकरप्रसन्नविषय-
प्रध्वंसभावेऽथवा । संत्रास-भ्रम-शोक-मोहविवर्षणं च

विघतेऽह्निशम्, तत्स्यादिष्टविधियोगजं तनुमतां
ध्यानं कलकृत्स्नम् ॥ (ज्ञानार्थ २५-२६, पृ.

२५६) । ९. इष्टः सह सर्वदा यदि ज्ञम संयोगो
भवति, विधौ न कदाचिदपि स्याद्यत्वेन चिन्तन-

मार्तध्यानं द्वितीयम् । (ब्रूता. बु. ५-१६८) ।

१०. जीवाजीव-कलत्र-पुत्र-कनकाज्यारादिकादात्मनः,
प्रेमप्रीतिवशात्सत्ताकृतबहिःसंगाद्विधौगोदृग्मे । क्ले-

शेनेष्टविधियोगजार्तमचलं तच्चिन्तनं मे कथम्,
न स्यादिष्टविधियोग इत्यपि सदा मन्दस्य दुःकर्मणः ॥

(आभा. सा. १०-१५) । ११. इष्टानां च शब्दा-
दीनां विषयाणां सातवेदनायाश्चाविधौगाध्यवसानं

सम्प्रयोगाभिलाषश्च तृतीयम् । (धोषशा. स्तो. विच.

३-७३; चर्चसं. भा. स्तो. बु. ३-२७, पृ. ८०) ।

१२. मनोहरविषयविधौ सति मनोहराः विषयाः
इष्टपुत्र-मित्र-कलत्र-प्राप्त-वर्ण-धान्य-मुक्ता-रत्न-मज-
तुरंग-मस्त्रादयः, तेषां विधौ विप्रयोगे तं विमुक्तं
पदार्थं कथं प्रापयामि तमे, तत्संयोगाय बारंवारं
स्मरणं विकल्पविचिन्ताप्रबन्ध इष्टविधौगाध्यं द्वितीय-
मार्तम् । (कार्तिके. टी. ३७४) ।

२ पुत्र, पत्नी एवं जन आदि इष्ट पदार्थों का विधौ
होने पर उनके संयोग के लिये जो बार-बार चिन्ता
होती है; वह इष्टविधौगाध्य आर्तध्यान कहलाता है ।

इहलोकभय—१. इहलोकभयं हि क्षुत्पिपासापी-
डादिविषयम् । (रत्नक. टी. ५-८) । २. मनुष्यादि-

कस्य सजातीयादेरेवस्यान्मनुष्यादेरेव सकाशाद्
भयम् तदिहलोकभयम् । (सत्सति. बु. वं. पृ. ३८) ।

३. तत्र यत्स्वभावात्प्राप्यते यथा मनुष्यस्य मनुष्यात्,
तिरपचः तिर्यग्यः इत्यादि तदिहलोकभयम् । (आश्व.

भा. मलय. बु. १८५, पृ. ५७३) । ४. तथेहलोकतो
भीतिः क्रन्तितं बाध जन्मनि । इष्टार्थस्य व्ययो मा

भूमाभूमेऽनिष्टसंगमः ॥ (पंचाध्यायी २-५०६) ।

५. मनुष्यस्य मनुष्याद् भयं इहलोकभयम् । (कण्वसू.
वि. बु. १-१५, पृ. ३०) ।

१ इस लोक सम्बन्धी भूख-प्यास आदि की पीड़ा के
भय को इहलोकभय कहते हैं । २ सजातीय मनुष्य

आदि को जो भय मनुष्य आदि से भय होता
है उसे इहलोकभय कहते हैं ।

इहलोकसंवेजनी—जहा सम्बन्धे माणुसत्तणं प्रसा-
रमधुवं कदलीचंभसमाणं, एरितं कंहं कहेमाणो धम्म-

कही सोयारस्त संवेगमुप्पाएइ, एसा इहलोकसंवे-
यणी । (बुध्द. नि. हरि. बु. ३-१६६) ।

यह मनुष्य पक्षी कदली-स्तम्भ के समान क्षतार व
अस्थिर है, इस प्रकार की कथा को कहने वाला

उपवेशक बुद्धि भीताओं के हृदय में इस लोक से
वैराग्य को उत्पन्न करता है, अतः उसे इहलोक-

संवेजनी कथा कहते हैं ।

इहलोकार्थासंप्रयोग — इहलोको मनुष्यलोकः,
तस्मिन्नार्थासामिलापः, तस्याः प्रयोगः । (आ. प्र. टी.

३८५) ।

इस लोक (मनुष्यलोक) के विषय में अभिलाषा के
प्रयोग को इहलोकार्थासंप्रयोग कहते हैं । यह एक

संज्ञाना का अतिशार है ।

ईर्यापथकर्म—१. जं तमीरियावहकम्म णाम । तं छुदुमत्ववीयरायाणं सजोगिकेवसीणं वा तं सव्वमीरियावहकम्मं णाम ॥ (बट्ठ. ५, ४, २३-२४, पु. ११, पृ. ४७) । २. ईरणमीर्या योगो गतिरित्यर्थः, तद्धारकं कर्म ईर्यापथम् । (स. सि. ६-४) । ३. ईरणमीर्या योगगतिः । × × × ईरणमीर्या योगगतिरिति यावत् । तद्धारकमीर्यापथम् । सा ईर्या द्वारं पन्था यस्य तदीर्यापथं कर्म । × × × उपशान्त-जीनकषाययोः योगिनश्च योगिवशादुपात्तं कर्म कषायाभावाद् बन्धाभावे शुष्ककुड्ढपतितलोष्ठवद् धनन्तरसमये निवर्तमानमीर्यापथमित्युच्यते । (स. बा. ६, ४, ६-७) । ४. धकषायस्येयोर्यापथस्यैवेकसमयस्त्वितेः । (स. भा. ६-५) । ५. ईर्या योगः, स पन्था मार्गः हेतुः यस्य कर्मणः तदीर्यापथकर्म । जोगणिमित्तेणेव ज बज्जहं तमीरियावहकम्म ति भणिदं होदि । × × × एत्थ ईरियावहकम्मस्स लक्खणमाहाहि लच्चदे । तं जहा—अप्यं बादर मवुधं बहुधं लुक्खं च सुक्किल चेव । मंदं महव्वयं पि य साद-वमहिंयं च तं कम्मं ॥ गहिदमगहिदं च तहा बद्धम-बद्धं च पुट्टपुट्टं च । उदिवाणुहिदं वेदिदमवेदिदं चेव तं जाणे ॥ णिज्जरिदाणिज्जरिदं उदीरिदं चेव होदि णावब्बं । अणुदीरिदं ति य पुणो इरियावहलक्खण एदं ॥ (बट्ठ. पु. १३, पृ. ४७-४८) । ६. ईर्या योगगतिः, सैव यथा [पन्था] यस्य तदुच्यते । कर्म-र्यापथमस्यास्तु शुष्ककुड्ढपेअमवचिचरं ॥ × × × कषायपरतंत्रस्यात्मनः साम्परायिकासवस्तदपरतंत्र-स्येयोर्यापथस्य इति सूक्तम् । (स. व्लो. बा. ६, ४, ६) । ७. ईरणमीर्या गतिरागमानुसारिणी । विहित-प्रयोजने सति पुरस्ताद् युगमावदुष्टिः स्थावर-जगमा-भिभूतानि परिवर्ज्यन्तप्रसक्तः शनैर्यात् तपस्वीति सर्वविधा गतिः पन्थाः मार्गः प्रवेशो यस्य कर्मणस्तदीर्यापथम् । (स. भा. सिद्ध. बु. ६-५) । ८. ईरण-मीर्या गतिरिति यावत्, सा ईर्या द्वारं पन्था यस्य तदीर्यापथं कर्म । (स. सुल्लो. बु. ६-४) । ९. ईर्येति कोऽर्थः ? योगो गतिः योगप्रवृत्तिः काय-वाङ्-मनोव्यापारः कायवाङ्मनोवर्णावलम्बी च आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो जीवप्रदेशचलनम् ईर्येति भण्यते, तद्धारकं कर्म ईर्यापथम् । (स. वृत्ति भूत. ६-४) ।

२ ईर्या का धर्मं योग है, एक भाग उस योग के

द्वारा जो कर्म जाता है उसे ईर्यापथकर्म कहते हैं ।

ईर्यापथक्रिया—१. ईर्यापथनिमित्तेर्यापथक्रिया । (स. सि. ६-५; स. भा. ६, ५, ७) । २. ईर्यापथ-निमित्ता या सा प्रोक्तेर्यापथक्रिया । (ह. पु. ५८, ६५) । ३. ईर्यापथक्रिया तत्र प्रोक्ता तत्कर्महेतुका । (स. व्लो. ६, ५, ७) । ४. ईर्यापथकर्मणो याजति (हि ?) निमित्तभूता वध्यमान-वेद्यमानस्य सेर्यापथ-क्रिया । (स. भा. सिद्ध. बु. ६-६) । ५. अर्जयन्तु-पशान्ताद्या ईर्यापथमवापरे । (स. सा. ४-५) । २ ईर्यापथ कर्म की कारणभूत क्रिया को ईर्यापथ-क्रिया कहते हैं ।

ईर्यापथशुद्धि—१. ईर्यापथशुद्धिर्नानाविधजीवस्थान-योन्माश्रयावबोधवन्तप्रयत्नपरिहृतजन्तुपीडा ज्ञाना-दित्य-स्वेन्द्रियप्रकाशनिरीक्षितदेशगामिनी द्रुत-विल-म्बित-सम्भ्रान्त-विस्मित-लीलाविकार-दिगन्तरावलोक-ननादिदोषरहितगमना । तस्या सत्या संयमः प्रतिष्ठितो भवति विभव इव मुनीती । (स. बा. ६, ६, १५; सा. सा. पु. ३५; कातिके. टी. ३६६) । २. भय-विस्मय विभ्रान्ति-लीलाविकृतिलङ्घन- । प्रधावनाद्यपे-तेर्यापथशुद्धिर्द्वयात्त्वता ॥ (आवा. सा. ८-१२) । १ जीवस्थान व योनि आदि के परिज्ञानपूर्वक प्राणि-पीडाके परिहारका प्रयत्न करते हुए ज्ञान व सूर्यप्रकाश से आलोकित मार्ग पर द्रुत-विलम्बित, सम्भ्रान्त, विस्मय और विगन्तरावलोकन आदि दोषों से रहित होकर चलने को ईर्यापथशुद्धि कहते हैं ।

ईर्यापथिकी क्रिया—वेद्यो ईर्यापथक्रिया । ईर्या-पथिकी क्रिया केवलनामेकसामयिकरूपा । (ग. पु. बट्ठ. व्लो. वृ. १५, पृ. ४१) ।

ईर्यापथ कर्म की कारणभूत जो केवलियों के एक समय रूप क्रिया हुआ करती है वह ईर्यापथिकी-क्रिया कहलाती है ।

ईर्यासमिति—१. फासुयमयेण दिवा जुगतरेप्ये-हिणा सकज्जेण । जतूण परिहंरतेणिरियासमिदी हवे गमणं ॥ (सूला. १-११); मग्गुज्जोवुपधोगाल-बणसुद्धीहि इरियदो मुणिणो । सुताणुवीणि मणिया इरियासमिदी पवयणम्मि ॥ (सूला. ५-१०५; अ. भा. ११६१) । २. फासुयमयेण दिवा अवलोगतो जुगप्पमाणं हि । गच्छद् पुरदो समणो इरिया-समिदी हवे तस्स ॥ (नि. सा. ६१) । ३. आवाहय-कायैव संयमार्थं सर्वतो युगमात्रनिरीक्षणायुक्तस्य

शानैर्यस्तपदा गतिरीयांसिमितिः । (त. भा. ६-५) ।
 ४. तत्र ब्रह्मयायां जीवव्यवहारः ईयांसिमितिः । विदित-
 जीवस्थानादिविषयेर्मुनेर्धर्मार्थं प्रयतमानस्य सवितर्युदिते
 चक्षुषो विषयग्रहणसामर्थ्यं उपजाते मनुष्यादिचरण-
 पातोपहृतावस्थाप्राप्यमार्गं जन्यमनसः शानैर्यस्त-
 पादस्य सकृच्चितावयवस्य युगमात्रपूर्वनिरीक्षा-
 नावहितदृष्टेः पृथिव्याद्यारम्भाभावात् ईयां-
 समितिरित्याख्यायते । (त. भा. ६, ५, ३) ।
 ५. ईयांसमितिनार्थं रथ-शकट-यान-वाहनाक्लान्तेषु
 मार्गेषु सूर्यरश्मिप्रतापितेषु प्रासुकविविधतेषु पथिषु
 युगमात्रदृष्टिना भूत्वा गमनागमनमिति । (आच. ॥
 हरि. बृ. पृ. ६१५) । ६. ईरणम् ईयां गमनम्, तत्र
 समितिः सङ्गतिः श्रुतरूपेणात्मनः परिणामः, तदु-
 पयोगिता पुरस्ताद् युगमात्रया दृष्ट्या स्यावर-
 जगमानि भूतानि परिवर्ज्यन्मनप्रसक्त इत्यादिको
 विधिरीयांसिमितिः । (त. भा. हरि. बृ. सिद्ध. बृ. ७-३); ईरणमीयां गतिः परिणतिः सम्यग् आग-
 मानुसारिणी गतिरीयांसिमितिः । (त. भा. हरि. बृ. ७-५); सम्यग् आगमपुत्रिका ईयां
 गमनम् आत्म-परबाधापरिहारेण । (त. भा. हरि. बृ. ७-५) । ७. चक्षुर्गोचरजीवोयान् परि-
 हृत्य यतेयतः । ईयांसमितिराद्या सा व्रतशुद्धिकरी
 मता ॥ (ह. पु. २-१२२) । ८. चर्यायां जीवबाधा-
 परिहारः ईयांसिमितिः । (त. श्लो. ६-५) । ९.
 मार्गोच्छोतोपयोगानामालम्ब्यस्य च शुद्धिभिः ।
 गच्छतः सूत्रमार्गेण स्मृत्येयांसमितिर्यते ॥ (त. सा. ६-७) । १०. सिद्धलेशाणि सिद्धानि जिनविम्बानि
 बन्दिभुम् । गुर्वाचार्यन्तपोबुद्धान् सेवितुं व्रजतोऽथवा ॥
 दिवा सूर्यकरैः स्पृष्टं मार्गं लोकातिवाहितम् । दया-
 ईस्यांगिरसाथं शानैः संश्रयतो मुनेः ॥ प्रागेवालोक्य
 यत्नेन युगमात्राहितेऽक्षिणः । प्रमादरहितस्यास्य
 समितीयां प्रकीर्तिता ॥ (ज्ञानार्थ. १८, ५-७, पृ. १८६) । ११. ईयायाः समितिः ईयांसिमितिः सम्यग-
 वलोकनं समाहितचित्तस्य प्रयत्नेन गमनागमनादि-
 कम् । (मुसा. बृ. १-११०) । १२. पुरो युगान्ते-
 ऽक्षस्य दिने प्रासुकवर्त्तनि । सद्यस्य सकार्यस्य
 स्यादीयांसिमितिर्यते ॥ (आच. सा. १-२२);
 अन्वं न्यस्तपदापास्तद्रुतातीवबिलम्बनः । विषेज-
 मन्वयानस्य स्यादीयांसिमितिर्यते ॥ (आच. सा. ५-७८) । १३. लोकातिवाहिते मार्गे चुम्बिते भास्व-

दंशुभिः । जन्तुरक्षार्थमालोक्य गतिरीयां मता-
 सताम् ॥ (योगसा. १-३६) । १४. स्यादीयांसिमितिः
 श्रुतार्थविदुषो देशान्तरं प्रेम्नतः, श्रेयःसाधनसिद्धये
 नियमिनः कामं जनैर्वाहिते । मार्गे कौक्कुटिकस्य
 भास्करकरस्पृष्टे दिवा गच्छतः, कारुष्येन शानैः पदानि
 ददतः पातुं प्रयत्याङ्गिनः ॥ (अन. ब. ४-१६४) ।
 १५. जुगमिर्तन्तरदिद्वी पथ पथं चक्षुणा विसोहितो ।
 अव्यक्लिप्ताउत्तो हरियासमिधो मुणी होह ॥ (गु.
 गु. षट्. ३, पृ. १४; उप. मा. २६६) । १६.
 ईयांसमितिनमि कमोदयाऽऽपादित-विशेषक-दि-त्रि-
 चतु-पञ्चेन्द्रियभेदेन चतुर्दिदिदिचंतुर्विषयचतुर्दश-
 जीवस्थानादिविधानवेदिनो मुनेर्धर्मार्थं प्रयतमानस्य
 सवितर्युदिते चक्षुर्गोचरविषयग्रहणसामर्थ्यमुपजनयतः
 (काति.—धर्माथं पर्यटतः गच्छतः सूर्यादये चक्षुषो
 विषयग्रहणसामर्थ्यम् उपजायते ।) मनुष्य-हृत्स्थव-
 शकट-गोकुलादिचरणपातोपहृतावस्थाप्रापे (आ.—
 प्रालेय) मार्गं जन्यमनसः शानैर्यस्तपादस्य सङ्कु-
 चितावयवस्य उत्स्पृष्टपादबंददृष्टेर्गुगमात्रपूर्वनिरीक्षा-
 नावहितलोचनस्य स्थित्वा दिक्षो विलोकयतः पृथि-
 व्याद्यारम्भाभावादीयांसमितिरित्याख्यायते । (आ.
 सा. पृ. ३३; कातिके. टी. ३६६) । १७. मार्तण्ड-
 किरणस्पृष्टे गच्छतो लोकवाहिते । मार्गे दृष्ट्वा
 ऽङ्गसङ्घातमीयांसिमितिर्मता ॥ (धर्म. भा.
 ६-४) १८. तीर्थयात्रा-धर्मकार्याद्यर्थं गच्छतो मुने-
 श्चतुःकरमात्रमार्गनिरीक्षणपूर्वकं सावधानदृष्टेरव्य-
 प्रचेतसः सम्यग्बिज्ञातजीवस्थानस्वरूपस्य सम्यगीयां-
 समितिर्भवति । (त. वृत्ति. अत. ६-५) । १९.
 ईयांसिमितिश्चतुर्हस्तवीक्षितमार्गगमनम् । (आ. प्रा.
 टी. ३६) । २०. दृष्ट्वा दृष्ट्वा शानैः सम्यग्युगदन्तां
 धरां पुरः । निष्प्रमादो ग्रही गच्छेदीयांसिमिति-
 रुच्यते ॥ (साटोस. ५-२१५) । २१. युगमात्रा-
 वलोकित्या दृष्ट्या सूर्याशुभासितम् । विलोक्य मार्गं
 गन्तव्यमितीयांसिमितिर्भवेत् ॥ (लोकप्र. ३०-७४४) ।
 २२. त्रस-स्यावरजन्तुजानाभयदानदीक्षितस्य मुने-
 रावयके प्रयोजने गच्छतो जन्तुरसानिमित्तं च
 पादाप्रादारम्य युगमात्रलेज यावन्निराक्ष्य ईरणम्
 ईयां गतिस्तस्याः समितिरीयांसिमितिः । (धर्मसं.
 मान. स्वो. बृ. ३-४७ पृ. ३३०) ।

१ शास्त्रध्वज च तीर्थयात्रादिरूपं कार्यं के वशं दिन
 मे प्राप्नुक—जीव-जन्तुरहित—मार्गं से चार हाव

भूमिको देखते हुए जन्मियों को भीड़ा न पहुँचा कर बचन करना, इसका नाम ईर्ष्यातमिति है ।

ईर्ष्या—१. परसम्पदामसहजनीर्ष्या । (जीवक. बृ. वि. व्या. पृ. ३८, ५-१६) । २. ईर्ष्या परगुण-विनाशकामा । (त. भा. हरि व सिद्ध. बृ. ६-१) । ३. ईर्ष्या प्रतिपक्षाभ्युदयजनितो मत्सरविशेषः । (सात्त्विका. टी. १-२) ।

१ दूसरों के उत्कर्ष को न सह सकना, इसका नाम ईर्ष्या है ।

ईशित्व—१. निस्तेसाण पदुत्तं जगण ईसत्तणाम रिद्धी सा । (ति. प. ४-१०३०) । २. जैनोक्तस्य प्रभुत्वेशित्वम् । (त. भा. ३-३६; भा. सा. पृ. ६८; भा. योगम. टी. ६) । ३. सत्वेसि जीवाणं गाम-णयर-जेडादीणं च भुंजणसती समुप्पण्णा ईसित्तं णाम । (अब. पु. ६, पृ. ७६) । ४. ईशित्वं जैनो-क्तस्य प्रभुता तीर्थंकर-विशेषेश्वर-श्रद्धाविकरणम् । (योगशा. स्तो. विव. १-८; प्रब. सारो. बृ. १४६५) ।

१-समस्त जगत् के ऊपर प्रभुत्व डालनेवाली शक्ति को ईशित्व श्रद्धा कहते हैं ।

ईश्वर—१. ईश्वरो युवराजा माण्डलिकोऽमा-त्यश्च । ग्रन्थे तु व्याचक्षते—अग्निमाद्यष्टविधैश्वर्ययुक्त ईश्वरः । (अनुयो. हरि. बृ. पृ. १६) । २. वेनाप्तं परमैश्वर्यं परानन्दमुत्साह्यम् । बोधरूपं कृतायोऽसावीश्वरः पटुभिः स्मृतः ॥ (आप्तस्व. २३) । ३. केवलज्ञानादिगुणैश्वर्ययुक्तस्य सतो देवेन्द्रा-द्योऽपि तत्पदाभिलाषिणः यस्यान्तां कुर्वन्ति स ईश्वराभिधानो भवति । (वृ. ब्रह्मसं. बृ. १४) । ४. ईश्वरः अग्निमाद्यैश्वर्ययुक्तः । (प्रज्ञाप. मलघ. बृ. १६-२०४, पृ. ३३०) । ५. ईश्वरो भोगिकादि, अग्निमाद्यष्टविधैश्वर्ययुक्त ईश्वर इत्येके । (जीवाजी. मलघ. बृ. ३, २, १४७, पृ. २८०) ।

१ युवराज, माण्डलिक और अमात्य को ईश्वर कहा जाता है । मत्स्यर से जो अग्निमादिकुप घाट प्रकार के ऐश्वर्य से सम्पन्न है उसे ईश्वर कहते हैं । २ जिसने कृतकृत्य होकर विराजुल सुख के कारण-भूत केवलज्ञान रूप उत्कृष्ट विभूति को प्राप्त कर लिया है, उस परमात्मा को ईश्वर कहते हैं ।

ईश्वरवाद—१. मण्णाणी हु मणीसो अण्णा तस्स य सुहं च दुक्खं च । समं णिरयं गमणं सव्वं

ईसरकयं होदि ॥ (गी. क. ८८०) । २. जीवो अण्णाणी सल्लु असमत्थो तस्स जं सुहं दुक्खं । समं णिरयं गमणं सव्वं ईसरकयं होदि ॥ (अंगप. २, २०) ।

यह सब प्राणी अपने सुख और दुख को भोगने के लिए स्वयं असमर्थ होकर ईश्वर के आधीन है, उसकी प्रेरणा से ही वह स्वयं को या नरक को जाता है । इस प्रकार की मान्यता को ईश्वरवाद कहते हैं ।

ईश्वरप्राग्भार—देखो अष्टम पृथ्वी । १. सव्वट्ठ-सिद्धिइदयकेदणदंढादु उवरि गंतुणं । बारसजोयण-मेत्तं भट्टमिया चिट्ठे पुडवी ॥ पुष्पावरेण तीए उवरिम-हेट्ठिम-तत्तेसु पत्तेक्कं । बासो हवेदि एकका रज्जू क्वेण परिहीणा ॥ उत्तर-दक्षिणमाए वीहा किचूणसत्तरज्जुमो । वेत्तासणसंठाणा सा पुडवी भट्टजोयणा बहुला ॥ जुता घणोवहि-घणाणिल-तणुवादेहि तिहि समीरेहि । जोयणवीसहस्सं पमाणबहलेहि पत्तेक्क ॥ एदाए बहुमज्जे सेत्तं णामेण ईसिपम्भार । अज्जुणसुवणसरिस्सं णाणारय-णेहि परिपुण्णं ॥ (ति. प. ८, ६५२-६५६) । २. अत्थीसिप्पम्भारोवल्लिखयं मण्युलोमपरिमाणं । लोगगनभोभागो सिद्धिक्खेत्तं जिणक्खादं । (विशेषा. ३८२०) । ३. भट्टमपुडवी सत्तरज्जुमायवा एगरज्जु-रंदा भट्टजोयणाबाहुल्ला सत्तमभागाहियएयजोयण-बाहुल्लं जगपदर होदि । (अब. पु. ४, पृ. ६१) । ४. उपरिष्ठात्पुनः सर्वकल्पविमानान्यतीत्याद्यं पृथ्वी-द्वीपविष्कम्भायामोत्तानकच्छाकृतिरीयत्प्राग्भारा । (त. भा. सिद्ध. बृ. ३-१) । ५. ईश्वर—अप्यो योजनाष्टकबाहृत्य - पञ्चचत्वारिंशल्लक्षविष्कम्भात् प्राग्भारः पुद्गलनिचयो यस्याः सेप्तप्राग्भाराऽष्टम-पृथिवी । (स्थाना. अमघ. बृ. ३, १, १४८, पृ. ११६) । ६. तिहुवणसिहरेण मही वित्तारे भट्टजोयणु-दयधिये । धवलच्छत्तायारे मणीहरे ईसिपम्भारे ॥ (अ. सा. ६४५) ।

१ सर्वाधिसिद्धि इन्द्रक के ध्वजदण्ड से ऊपर बारह योजन जाकर आठवीं पृथिवी अवस्थित है । वह पूर्व-पश्चिम में रूप से कम एक राजा चौड़ी, उत्तर-दक्षिण में कुछ कम सात राजा लम्बी और आठ योजन मोटी है । आकार उसका बेल के आसन जैसा है । तीन बातवत्तयों से युक्त उस पृथिवी के

मध्य में जो सिद्धोत्तर अवस्थित है उसे नाम से ईषत्-आभार कहा जाता है। ४ समस्त कल्प-विमानों के ऊपर आकर ईषत्-आभार वृषिबी अवस्थित है। उसका विस्तार व आश्रय अर्द्धाई द्वीप प्रमाण—वैतालीस लाख योजन—तथा आकार कुले हुए छत्र के समान है।

ईहा (मतिज्ञानभेद)—१. ईहा ऊहा अपोहा मग्गणा गवेसणा मीमांसा । (बद्ध. ५, ५, ३८—पु. १३, पु. २४२) । २. ईहा अपोह बीमंसा मग्गणा य गवेसणा । सन्ना सई मई पन्ना सब्बं घाभिणिबोहियं ॥ (नन्दी. गा. ८३) । ३. अवग्रहगृहीतेऽयं तद्विशेषा-काङ्क्षणमीहा । (स. सि. १-१५) । ४. अवग्रही-तम् । विषयार्थकदेशाच्छेदानुगमनम् । निश्चय-विशेषजिज्ञासा चेष्टा ईहा । ईहा ऊहा तर्कः परीक्षा विचारणा जिज्ञासेत्यनर्थान्तरम् । (स. भा. १-१५) । ५. ईहा तदर्थविशेषालोचनम् । (विशेषा. को. बृ. १७८) । ६. $\times \times \times$ विशेषकांसेहा $\times \times \times$ । (लघीय. १-५) ; पुनः अवग्रहीकृतविशेषाकांक्ष-मीहा । (लघीय. स्तो. बृ. १-५) । ७. तदर्थ- (अव-ग्रहगृहीतार्थ-) विशेषालोचनम् ईहा । (आच. नि. हरि. बृ. २, पु. ६) ; ईहनमीहा $\times \times \times$ एतदुक्तं भवति—अवग्रहादुत्तीर्णः अवायापूर्वं सद्भूतार्थविशेषोपादा-नाभिमुखोऽसद्भूतार्थविशेषत्यागामिमुखश्च प्रायो मधुरत्वाद्यः शांसाब्धयर्मा भ्रम घटन्ते, न क्षर-कर्कश-निष्ठुरतादयः शाङ्गशाब्धयर्मा इति मतिविशेष इति । (आच. नि. हरि. बृ. ३, पु. १० ; नन्दी. हरि. बृ. २७, पु. ६३) ; ईहनमीहा सतामर्थानाम् प्रत्ययिनां व्यतिरेकिणां च पर्यालोचना इति यावत् । (आच. नि. हरि. व. मलय. बृ. १२) । ८. अव-ग्रहीतविषयार्थकदेशात् शेषानुगमनेन निश्चयविशेष-जिज्ञासा चेष्टा ईहा । (अने. अ. प. पु. १८) । ९. ईहा शब्दाद्यवग्रहणोत्तरकालमन्वय-व्यतिरेकधर्मालो-चनचेष्टेत्यर्थः । (नन्दी. हरि. बृ. पु. ७८) । १०. अवग्रहीतस्यार्थस्य विशेषाकांक्षणमीहा । (अच. पु. १, पु. १५४) ; जो अवग्रहेण गृहीतो धृतो तस्य विसेसाकांक्षणमीहा । जघा च पि दट्ठण किमसो मब्बो भ्रमब्बो त्ति विसेसपरिकत्ता सा ईहा । (अच. पु. ६, पु. १७) ; पुरुष इत्यवग्रहीते भाषा-वयो-रूपादिविशेषैराकांक्षणमीहा । (अच. पु. ६, पु.

१४४) ; पुरुषमवग्रह्य किमयं दाक्षिणात्य उत उदीच्य इत्येवमादिविशेषाप्रतिपत्तौ संशयानस्योत्तर-कांक्षं विशेषोपलिक्षां प्रति यतनमीहा । (अच. पु. ६, पु. १४६) ; अवग्रहीते तद्विशेषाकांक्षणमीहा । $\times \times \times$ का ईहा नाम ? संशयादूर्ध्वमवायादध-स्तान् मध्यावस्थायां वर्तमानः विमर्शात्मकः प्रत्ययः हेत्ववष्टम्भबलेन समुत्पद्यमानः ईहेति भ्रम्यते । (अच. पु. १३, पु. २१७) ; उत्पन्नसंशयविनाशाय ईहेते चेष्टते अग्नया बुद्ध्या इति ईहा । (अच. पु. १३, पु. २४२) । ११. का ईहा ? भोगगृहणाग्राहिण्यु-क्त्ये विष्णवाणा उपमाण-देश-भासादिविसेसाकांक्षण-मीहा । भोगगृहादो उर्वरि अवायादो हेतुा जं णाणं विचारप्ययं समुत्पन्नसंदेहछिदणसहावमीहा त्ति मणियं होदि । (अच. पु. १, पु. ३३६) । १२. यदा हि सामान्येन स्पर्शानेन्द्रियेण स्पर्शसामान्यमा-गृहीतमनिर्देश्यविरूपं तत उत्तरं स्पर्शभेदविचारणा ईहाभिधीयते इति । (स. भा. सिद्ध. बृ. १-१५) ; तस्यैव (सामान्यानिर्देश्यस्वरूपस्य नामादिकल्पना-रहितस्य) स्वभावेः किमयं स्पर्शं उतास्पर्शं इत्येवं परिच्छेदिका ईहा । (स. भा. सिद्ध. बृ. १-१७) ; ईहा तत्त्वान्वेषिणी जिज्ञासा । (स. भा. सिद्ध. बृ. ७-६, पु. ५६) । १३. अवग्रहगृहीतस्य वस्तुनो भेदमीहेते । व्यक्तमीहा $\times \times \times$ ॥ (स. श्लो. १, ६, ३२) ; तद्गृहीतार्थसामान्ये यद्विशेषस्य कांक्ष-णम् । निश्चयामिमुखं सेहा संशोतिभ्रमलक्षणा । (स. श्लो. १, १५, ३) । १४. तद्गृहीतवस्तुविशेषा-कांक्षणमीहा । (प्रमाणप. पु. ६८) । १५. अव-ग्रहाद् विशेषाकाङ्क्षा विशेषेहा । (सिद्धिचि. टी. २-६, पु. १३७) । १६. तदवग्रहीतविशेषस्य 'देव-दत्तेन भवितव्यम्' इति भवितव्यतामुल्लिखन्ती प्रतीतिरीहा । (प्रमाणपि. २-२८) । १७. विसयार्थं विसर्जनं संजोगार्थतरं हवे गियमा । अवग्रहणार्थं गृहिदे विसर्कसा हवे ईहा ॥ (गो. जी. ३०७) । १८. तदुत्तर- (अवग्रहोत्तर-) कालभाविनी ईहा, ईहनमीहा चेष्टा कायबाहुमनोलक्षणा । (कर्मवि. पु. व्या. १३, पु. ८) । १९. अवग्रहीतार्थविशेषा-कांक्षणमीहा । (अ. व. त. २-८) । २०. अवग्रहीत-स्यैव वस्तुनोऽपि किमयं भवेत् स्याणुः पुरुषो वा, इत्यादि वस्तुधर्मान्वेषणात्मको वितर्क ईहा । (कर्मवि.

पर. व्या. पु. ६)। २१. अवि किमयं भवेत् पुरुष एव उक्त स्याणुः इत्यादिवस्तुधर्मान्वेषणात्मकं ज्ञानचेष्टनमीहा । (कर्मस्त. गो. वृ. ६, पु. ८०)। २२. पुनः अवग्रहीतत्तरकालम्, अवग्रहेण विषयीकृतः अवग्रहीकृतः, अवग्रहान्तरमनुष्यावादिजातिविशेषः, तस्य विशेषः कण्ठा-लाटादिभेदः, तस्य आकाशण भवितव्यताप्रत्ययरूपतया ग्रहणाभिमुख्यम्, ईहा भवति । (न्यायकु. १, पु. १७२)। २३. अवग्रहि-दत्तस्य पुणो सग-सगविसर्गिहा जादसरस्स । जं व विसेसगहणं ईहाणां हवे त तु ॥ (जं बी. प. १३५८)। २४. ईहा वितर्को मतिः । (समवा. अवय. वृ. १४०)। २५. ग्रहीतस्यार्थस्य विशेषाकां-क्षणमीहा, योऽवग्रहेण ग्रहीतोऽर्थस्तस्य विशेषाकांक्ष-णं भवितव्यताप्रत्ययम् । (मूला. वृ. १२-१८७)। २६. अवग्रहीतविशेषाकांक्षणमीहा । (प्रमाणमी. १, १, २७) ; अवग्रहीतस्य शब्दादेरर्थस्य 'किमयं शब्दः शाब्दः शाङ्गो वा इति संशये सति माधुर्य-दयः शाङ्गधर्मा एवोपलभ्यन्ते, न कार्कश्यादयः शाङ्गधर्माः इत्यन्वय-व्यतिरेकरूपविशेषपर्यालोचन-रूपा मनेश्चेष्टेहा । (प्रमाणमी. स्वी. वृ. १, १, २७)। २७. ईहनमीहा—सद्भूतार्थपर्यालोचनरूपा चेष्टा इत्यर्थः । किमुक्तं भवति ? अवग्रहादुत्तरकालम-पायात् पूर्वं सद्भूतार्थविशेषोपादानाभिमुखोऽसद्-भूतार्थविशेषपरित्यागाभिमुखः प्रायोऽत्र मधुरत्वादयः शाङ्गादिधर्मा दृश्यन्ते, न कर्कश-निष्ठुरतादयः शाङ्गा-दिधर्मा इत्येव रूपो मतिविशेष ईहा । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १५-२००, पु. ३१०; भाव. नि. मलय. वृ. २, पु. २२; मन्दी. मलय. वृ. सु. २६, पु. १६८)। २८. ईहनमीहा अवग्रहीतस्यार्थस्यासद्भूत-विशेषपरित्यागेन सद्भूतविशेषोपादानाभिमुखो बोध-विशेषः । (व्यव. भा. मलय. वृ. १०-२७६, पु. ४०)। २९. अवग्रहीतशब्दाद्यर्थगत (तासद्भूत-) सद्भूत-परित्यागा-(दाना-)भिमुखं प्रायो मधुरत्वादयः शाङ्ग-शब्दधर्मा भव्य घटन्ते, न खर-कर्कश-निष्ठुरतादयः शाङ्गशब्दधर्माः इति ज्ञानमीहा । (धर्मसं. मलय. वृ. ८२३, पु. २६४)। ३०. अवग्रहीतस्यैव वस्तुतो-ऽपि किमयं भवेत् स्याणुरेव, न तु पुरुष इत्यादि वस्तु-धर्मान्वेषणात्मकं ज्ञानचेष्टनमीहा । 'धरम्यमेतत् सवितास्तभागतो न चाधुना सम्भवतीह मानवः । प्रायस्तदेतन् खगादिभाजा भाव्यं स्मरारातिसमान-

नाम्ना ॥' इत्याद्यन्वयधर्मघटन-व्यतिरेकधर्मनिरा-करणाभिमुखताऽऽभिज्ञतो ज्ञानविशेष ईहा । (प्रथ. सारो. वृ. १२५३, पु. ३६०; कर्मवि. वे. स्वी. वृ. ५)। ३१. अवग्रहगृहीतार्थसमुद्भूतसंशयनिरासाय यत्न-मीहा । (न्या. बी. २, पु. ३२)। ३२. $\times \times \times$ ततो विशेषकंसा हवे ईहा । (अवय. ३-६१, पु. २८८)। ३३. पुनरवग्रहीतविषयसंशयानन्तरं तद्वि-शेषाकाङ्क्षणमीहा । (व्यव. स. टी. ४-५५, पु. २०८)। ३४. इन्द्रियान्तरविषयेषु मनोविषये वाव-ग्रहगृहीते यथावस्थितस्य विशेषस्याकांक्षारूपेहा । (गो. जी. न. प्र. टी. ३०८)। ३५. इन्द्रियान्तरविष-येषु मनोविषये वावग्रहगृहीते यथावस्थितस्य विशेष-स्याकांक्षारूपेहा । (गो. जी. जी. प्र. टी. ३०८)। ३६. अवग्रहीतार्थाभिमुखा मतिचेष्टा पर्यालोचनरूपा ईहा । (जम्बूद्वी. वृ. ३-७०)। ३७. अवग्रहीतविशेषा-कांक्षणमीहा, व्यतिरेकधर्मनिराकरणरोऽन्वयधर्मघट-नप्रवृत्तो बोध इति यावत् । (जैनत. पु. ११६)। १ ऊहा, ग्रहोहा, जाणंणा, गवेयणा क्षीर लीमांता ये ईहा के नामान्तर हैं । ३ अवग्रह से जाने गये पदार्थ के विशेष जानने की इच्छा को ईहा कहते हैं । ईहावरणीय कर्म—एतस्या (ईहायाः) आकारकं कर्म ईहावरणीयं । (अव. पु. १३, पु. २१८)। इस (ईहामतिज्ञान) को शाच्छादित करने वाले कर्म को ईहावरणीय कहते हैं ।

उक्त—१. उक्तं प्रतीतम् (शब्दे उच्चारिते सति यदवग्रहादिज्ञानं जायते तदुक्तम्) । (त. वा. १, १६, १६)। २. एतत्प्रतिपक्ष (इन्द्रियप्रतिनियत-गुणविशिष्टवस्तूपलम्भकाले एव तदिन्द्रियानियतगुण-विशिष्टस्यार्थस्योपलम्भकादनुक्तप्रत्ययाद् विपरीतः) उक्तप्रत्ययः । (अव. पु. ६, पु. १५४; पु. १३, पु. २३६)। ३. $\times \times \times$ उक्तार्थः प्रकल्प्यते । स्पर्शानं रसनं घ्राणं वक्षुः श्रोत्र मनश्च स्मृ । धर्मः स्पर्शो रसो गन्धो रूपं शब्दः श्रुतादयः ॥ (प्राचा. सा. ४, २४-२५)।

२ विवक्षित इन्द्रिय के प्रतिनियत गुण से युक्त वस्तु का ग्रहण होने पर उसके प्रतिनियत गुण का ही ज्ञान होना, इतर गुण का ज्ञान न होना; इसका नाम उक्त प्रत्यय है ।

उक्ततावग्रह—१. नियमितगुणविशिष्टप्रत्ययगृहणं उक्ता-वग्रहो । जहा बन्धिसिद्धिण अवलम्बगृहणं, धानिदि-

एण सुप्रबद्धगहणमिच्छादि । (षष्. पु. ६, पृ. २०) । २. उक्तमवगृह्णतीत्यर्थं तु विकल्पः श्रोत्रादिविषय एव, न सर्वव्यापीति । यत उक्तमुच्यते शब्दः, स चाप्यक्षरात्मकः, तमवगृह्णतीति । (त. भा. सिद्ध. वृ. १-१६) । ३. इतरस्य (उक्तस्य) सर्वात्मनो प्रकाशितस्य $\times \times \times$ अवग्रहः । (त. श्लो. १, १६, ४) । ४. नियमितगुणविशिष्टार्थ-ग्रहणमुक्तावग्रहः, यथा चक्षुरिन्द्रियेण धवलग्रहणम् । (मूला. वृ. १२-१८७) । ५. तस्यैव परणोक्तस्य कर्परादेश्चिद्विग्रहणम् उक्तावग्रहः । (त. सुख-बो. वृ. १-१६) । ६. अनुक्तं च अग्निप्रागे स्थितम् । $\times \times \times$ अनुक्तस्य अवग्रहः, तदितरस्योक्तस्यावग्रहः । (त. वृत्ति श्रुत. १-१६) ।

१ नियमित गुणविशिष्ट इत्येकं अथवा उसके एक देश के ग्रहण करने को उक्तावग्रह कहते हैं । जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा धवल अर्थ का ग्रहण अथवा आग इन्द्रिय के द्वारा सुलग्न इत्येक का ग्रहण ।

उग्रतप — १. चतुर्थ-षष्ठाष्टम-दशम-द्वादश-पञ्चमासाद्यनशनयोगेऽन्वयतमयोगमारम्य आमरणान्ताद-निवर्तका उग्रतपसः । (त. भा. ३-३६, पृ. २०३) । २. पञ्चम्यां षष्ठ्या चतुर्थ्या च प्रतिज्ञातोवासा भलाभद्वये त्रये वा तथैव निर्वाहयन्ति, एवंप्रकारा उग्रतपसः । (आ. योगिभक्ति टी. १५, पृ. २०३) । ३. पञ्चम्यां षष्ठ्या चतुर्थ्या च गृहीतोपवास-व्रता भलाभद्वये भलाभत्रये वा त्रिभिरुपासैश्चतुभि-रुपासैः पञ्चभिरुपासैः कालं निर्गमयन्ति इत्येवं-प्रकाराः उग्रतपसः । (त. वृत्ति श्रुत. ३-३६) ।

१ एक, दो, तीन, चार, पांच व पन्द्रह दिन तथा एक मास आदि का; इस प्रकार इन उपवासयोगों में से किसी भी एक उपवास योग को आरम्भ कर मरण पर्यन्त उससे श्रुत न होना, उसका बराबर निर्वाह करना; इसका नाम उग्रतप ऋद्धि है । इस ऋद्धि के बारक सामु भी उग्रतप—उग्रतपस्वी—कहे जाते हैं ।

उग्रोग्रतप—१. उग्रतवा दोषेदा उग्रोग्ग-अवद्वि-दुग्गतवणामा ॥ दिक्लोववासमादि काङ्गण एककाहि-एकपचएण । आमरणंतं जवणं होदि उग्रोग्गतव-रिद्धी ॥ (ति. प. १०५०-५१) । २. उग्रतवा दुविहा उग्रुगतवा अवद्विदुग्गतवा वेदि । तरय जो एक्कोववासं काङ्गण पारिय दो उववासे करेदि, पुण-

रवि पारिय तिण्णि उववासे करेदि । एवमेगुत्तर-वड्ढीए जाव जीविदंतं तिगुत्तीगुत्तो होहुण उववासे करेत्तो उग्रुग्गतवो नाम । (षष्. पु. ६, पृ. ८७) । ३. तत्रोग्रतपसा द्विविधा उग्रोग्रतपसः भवस्थितो-ग्र-तपसश्चेति । तत्रैकमुपवासं कृत्वा पारणं विषय द्विदिनमुपोष्य तत्पारणानन्तरं पुनरप्युपवासत्रयं कुर्वन्ति । एवमेकोत्तरवृद्धया यावज्जीवं त्रिगुप्तिगुप्ताः सन्तो ये केचिदुपवसन्ति ते उग्रोग्रतपसः । (आ. सा. पृ. ६८) ।

१ बीजा के उपवास को आदि करके बीच में पारणा करते हुए एक-एक अधिक उपवास को मरण-पर्यन्त बढ़ाते हुए जीवन यापन करने को उग्रोग्रतप ऋद्धि कहते हैं ।

उच्छगोत्र—१. यस्मोदयात् लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम् । (त. सि. ८-१२; त. भा. ८, १२, २; मूला. १२-१६७; त. सुखबो. ८-१२; त. वृत्ति श्रुत. ८-१२; न. आ. मूला. टी. २१२१) ।

२. उच्चैर्गोत्रं देश-जाति-कुल-स्थान-मान-सत्कारैश्च-यद्युत्कर्षनिर्वर्तकम् । (त. भा. ८-१२) । ३. जस्त कम्मस्स उदएण उच्चागोवं होदि तं उच्चागोवं । गोत्रं कुलं वंशः सन्तानमित्येकोऽर्थः । (षष्. पु. ६, पृ. ७७); दीक्षायोगसाध्याचाराणां साध्याचारैः कृतसम्बन्धानाम् आर्यप्रत्ययाभिधान-व्यवहारनिबन्ध-नानां पुरुषाणां सन्तान उच्चैर्गोत्रम्, तत्रोत्पत्तिहेतु-कर्मपुण्यैर्गोत्रम् । (षष्. पु. १३, पृ. ३८६) । ४. उत्तमजातित्वम्, प्रशस्यता, पूज्यत्वं चोच्चैर्गो-त्रम् । (पंचसं. स्वो. वृ. ३-५, पृ. ११२) । ५. भवणी बुद्धिविज्जो रुक्विहीणो वि जस्त उदएणं । लोयम्मि सहइ पूवं उच्चागोयं तयं होइ ॥ (कर्मवि. ग. १५४) । ६. उच्चैर्गोत्रं पूज्यत्वनिबन्धनम् । (स्थाना. अभय. वृ. २, ४, १०५, पृ. ६२) । ७. उच्च-गोत्रं यदुदयादज्ञानी विरूपोऽपि सत्कुलमात्रादेव पूज्यते । (आ. प्र. टी. २५; धर्मसं. मलय. वृ. ६३२) । ८. उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोवं । (शो. क. १३) । ९. उत्तमजाति-कुल-बल-रूप-तपऐश्वर्य-श्रुतलाभास्परिदष्टभिः प्रकारैर्वंधते इत्युच्चैर्गोत्रम् । (सतक. मल. हेम. वृ. ३७-३८, पृ. ५१) । १०. उच्चैर्निर्वर्तकं गोत्रं कर्मोच्चैर्नीच-गोत्रकृत् । (वि. सा. पु. अ. २, ३, ४७४) । ११. यदुदयवधात् उत्तम जाति-कुल-बल-तपोरूपैश्वर्य-

भूतसत्काराभ्युत्थानासनप्रदानाञ्जलिप्रग्रहादिसम्भव-
स्तदुच्चैर्गोत्रम् । (पंचसं. मलय. वृ. ३-५, पृ. ११३; प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३, २, २६३, पृ. ४७५; कर्मप्र. यशो. वृ. १, पृ. ७) । १२. यदुदयादुत्तमकुल-
जातिप्राप्तिः सत्काराभ्युत्थानाञ्जलिप्रग्रहादिरूप-
पूजालाभसम्भवश्च तदुच्चैर्गोत्रम् । (षष्ठ क. मलय. वृ. ६, पृ. १२७) । १३. धननी धनहीनः, बुद्धि-
युक्तः मतिनिर्मक्तः, रूपविहीनः रूपरहितोऽपि ।
यस्य कर्मण उदयेन लोके जातिमात्रादेव पूजां लभते
तदुच्चैर्गोत्रं पूर्णकलशकारिकुम्भकारितुल्यम् । (कर्म-
वि. पा. व्या. १५४, पृ. ६३) । १४. यथा हि
कुलालः पृथिव्यास्तादृशं पूर्णकलशादिरूपं करोति,
यादृशं लोकात् कुम्भ-चन्दनादिभिः पूजां लभते ×
× तथा यदुदयाद् निर्वनः कुरूपो बुद्ध्यादिपरि-
हीनोऽपि पुरुषः सुकुलजन्ममात्रादेव लोकात् पूजां
लभते तत् उच्चैर्गोत्रम् । (कर्मवि. वे. स्तो. वृ. ५१) ।

१ जिसके उदय से लोकपूजित कुल में जन्म हो उसे
उच्चगोत्र कहते हैं । ११ जिसके उदय से जीव उत्तम
जाति, कुल, बल, रूप, तप, ऐश्वर्य और भूत आदि
द्वारा जगत् में पूजा व आदर-सत्कारादि को प्राप्त
हो उसे उच्चगोत्र जानना चाहिये ।

उच्चताभूतक—अन्यते पोष्यते स्मेति भूतः, स एवा-
नुकम्पितो भूतकः—कर्मकरः इत्यर्थः । × × ×
मूल्यकालनियमं कृत्वा यो नियतं यथावसरं कर्म
कार्यते स उच्चताभूतकः । (स्थाना. अथय. वृ. ४,
१, २७१, पृ. १६१-६२) ।

काल के अनुसार किसी कार्य का मूल्य निश्चित
करके यथावसर कार्य जिससे कराया जाता है उसे
उच्चताभूतक कहते हैं ।

उच्चयबन्ध—ते किं तं उच्चयबन्धे ? उच्चयबन्धे
जं ण तणरासीण वा कट्टरासीण वा पत्तरासीण वा
तुसरासीण वा भुसरसीण वा गोमयरासीण वा अव-
गररासीण वा उच्चत्तणं बंधे समुप्यज्जइ, जहन्नेणं
अंतोभूतं उक्कोस्सेण संखेज्जं कायं से तं उच्चयबन्धे ।
(भगवती ८, ६, १४—अण ३, पृ. १०३) ।

तुनराशि, काष्ठराशि, पत्तराशि, तुवराशि, भुसराशि,
गोबरराशि और अवकर (कचड़ा) राशि, इनका
ऊँचा ढेर करने को उच्चयबन्ध कहा जाता है ।

उच्चस्थान—उच्चस्थान स्वगृहान्तः स्वीकृतयति

नीत्वा निरवधानुपहतस्थाने उच्चस्थाने निवेशनम् ।
(सा. व. स्तो. टी. ५-४५) ।

परिगाहे गये साधु को घर के भीतर ले जाकर
निर्बोध व निर्बाध स्थान में उच्च आसन पर बैठा
को उच्चस्थान भक्ति कहते हैं ।

उच्चारप्रलवणसमिति—वणदाह-किति-मसिकदे
बंङिल्लेणुप्परोध वित्थिण्णे । अवगदजंतुवित्तिसे
उच्चारदी विसज्जेज्जो ॥ (मूला. ५-१२४) ।

जो स्थान बाधानि से जल गया है, जहाँ जंतों की
गई है, जहाँ शवबाह आदि दूषा है, जो ऊपर—धंङु-
रोत्पादन से रहित है, तथा द्वीग्न्यादि जीवों से भी
रहित है, ऐसे विस्तीर्ण निर्वन स्थान में मल-मूत्रादि
के विसर्जन को उच्चारप्रलवणसमिति कहते हैं ।

उच्छादन—प्रतिबन्धकहेतुसन्निधाने सति अमुद्-
भूतवृत्तिता अनाविभवि उच्छादनम् । (स. सि. ६,
२५) ।

विरोधी कारणों के मिलने पर गुणों के नहीं प्रगट
करने को उच्छादन कहते हैं ।

उच्छेद—देखो अन्तर । अनंरमुच्छेदो विरहो परि-
णामन्तरगमनं गत्थित्यगमनं अणभावव्यवहाणमिदि
एयट्ठो । (ध्व. पु. ५, पृ. ३) ।

अन्तर, उच्छेद, विरह, अन्य परिणाम की प्राप्ति,
नास्तित्व की प्राप्ति और अन्य भाव का व्यवधान;
इन सबका एक ही अर्थ है । तात्पर्य यह कि एक
अवस्था को छोड़कर अन्य अवस्था को प्राप्त होते
हुए पुनः उक्त (पूर्व) अवस्था के प्राप्त होने में जो
काल लगता है उसका नाम उच्छेद (अन्तर) है ।

उच्छलक्षणदलक्षिका (उत्संहसंहिया) —
देखो उत्संज्ञासंज्ञा । १. परमाणु य अणता सहिया
उत्संहसंहिया एवका । (बीवस. ६६) । २. अण-
ताणं परमाणुपोग्गलाणं समुदयसमितिसमागमेणं
सा एया उत्संहसंहिया । (अवधत्तो स. ६, ७,
पृ. ८२७) । ३. एते चानन्ताः परमाणवः एका
अतिसयेन दलक्षणा दलक्षणदलक्षणा, सैव दलक्षणदल-
क्षिका, उत्तरप्रमाणापेक्षया उत् प्राबल्येन दलक्षण-
दलक्षिका उच्छलक्षणदलक्षिका । (संग्रहणी वे. वृ. २४५) । ४. अणताणंति—अनन्तानां व्यावहारिक-
परमाणूनाम्, समुदायाः दूषादिरूपास्तेषां समितयो
भीलनानि, तासां समागमः परिणामवशादेकीभव-
नम्, ते येन समुदयसमितिसमागमेनेका उत् प्राबल्येन

इलक्षिका उच्छ्वासलक्षणा । (भगवती बान. पु. ६, ७, २४७, पृ. ६५-६६) ।

१ धनस्तान्त व्यावहारिक परमाणुओं के समूहों के मिलने से जो एकरूपता होती है उसका नाम एक उच्छ्वासलक्षणा-इलक्षिका (एक माप-विशेष) है ।

उच्छ्वास—१. $\times \times \times$ तदेव उस्सासो । संखे-ज्जावलिणिवहो सो चिय पाणो ति विक्खादो ॥ (सि. प. ४-२८६) । २. $\times \times \times$ ता (आवलिआ) संखेज्जा य ऊसासो । (जीवस. १-८) । ३. संखे-ज्जाओ आवलिआओ ऊसासो । (अनुयी. सु. १३७, पृ. १७८; भगवती ६, ७, २४६—सुतागमे पु. ५०३; जम्बूद्वी. शा. बृ. १८, पृ. ८६) । ४. समया य धसंखेज्जा हवइ ह्नु उस्सास-णिस्सासो । (अयोतिष्क. १-८) । ५. ताः (आवलिआः) सख्येया उच्छ्वासः । (स. भा. ४-१५) । ६. सखेयावलिआ एक उच्छ्वासः । (त. बा. ३, ३८, ७) । ७. तप्पाओगासंखे-ज्जावलिआओ वेत्तूण एगो उस्सासो हवदि । (धव. पु. ३, पृ. ६५); तप्पाओगासंखेज्जावलिआहि एगो उस्सास-णिस्सासो होदि । (धव. पु. ४, पृ. ३१८) । ८. $\times \times \times$ संखेज्जावलिसमूहमुस्सासो । (अं. बी. प. १३-१३२; गो. जी. ५७३) । ९. ताः संख्येयाः $\times \times \times$ सत्यः आवलिआः एक उच्छ्वासो निःश्वासो वा ऊर्ध्वधोगमनभेदात् । (स. भा. सिद्ध. बृ. ४-१५) । १०. सख्याताभिरावलिआ-भिरक उच्छ्वासनिश्वासकालः । (प्रज्ञाप. मलय. बृ. ५-१०४) । ११. संख्येया आवलिआ एक उच्छ्वासः । (जीवाजी. मलय. बृ. ३, २, १७८; अयोतिष्क. मलय. बृ. १-८) । १२. ऊर्ध्व वातोद्-गमो यः स उच्छ्वासः । (पंचसं. बृ. ३-६, गा. १२७) । १३. संखेज्जावलिगुणिओ उस्सासो होइ जिणदिट्ठो । (भावसं. वे. ३१२) । १४. उच्छ्वास ऊर्ध्वगमनस्वभावः परिकीर्तितः । (लोकप्र. २८, २१५) ।

१ संख्यात आवली प्रमाण काल को उच्छ्वास कहते हैं ।

उच्छ्वास नामकर्म—१ यदेतुच्छ्वासस्तदुच्छ्वासनाम । (स. सि. ८-११; त. बा. ८, ११, १७; त. स्तो. ८-११; त. वृत्ति भूत. ८-११) । २. प्राणापानपुद्गलग्रहणसामर्थ्यजनक उच्छ्वासनाम । (स. भा. ८-१२) । ३. वस्योदयादुच्छ्वास-

निःश्वासी भवतः तदुच्छ्वासनाम । (आ. प्र. टी. २१; त. भा. हरि. व. सिद्ध. बृ. ८-१२; धर्म्मसं. मलय. बृ. ६१८; कर्मवि. पु. व्या. ७५) । ४. जस्स कम्मस्स उदएण उस्सासणिस्सासाणं णिप्फत्ती होदि त उस्सासणाम । (धव. पु. १३, पृ. ३६४) । ५. जस्सुदएण जीवे णिप्फत्ती होइ प्राणपाणूणं । तं ऊसासं नामं तस्स विवागी सरीरम्मि ॥ (कर्मवि. ग. १२४) । ६. यस्य कर्मण उदयेन जीव उच्छ्वास-निःश्वासकार्योत्पादनसमर्थः स्यात् तदुच्छ्वास-निःश्वासनाम । (भूला. बृ. १२-१६४) । ७. उच्छ्वास-समुच्छ्वासः प्राणापानकर्म । तद्यदेतुक् भवति तदुच्छ्वासनाम । ... शीतोष्णसम्बन्धजनितदुःस्रस्य पंचेन्द्रियस्य यावदुच्छ्वास-निःश्वासी दीर्घनादी श्रोत्र-स्पर्शनेन्द्रियप्रत्यक्षौ तावदुच्छ्वासनामोदयजौ बोद्धव्यौ । (त. सुल्लवो. बृ. ८-११, पृ. १६८ व १६९) । ८. उच्छ्वाससमुच्छ्वासस्तस्य नाम उच्छ्वासनाम, यदुदयाज्जीवस्योच्छ्वास-निःश्वासी भवतस्तच्च ज्ञातव्यम् । (कर्मवि. पु. व्या. ७२, पृ. ३३) । ९. यदुदया-दुच्छ्वास-निःश्वासनिष्पत्तिर्भवति तदुच्छ्वासनाम । (समवा. अमय. बृ. ४२, पृ. ६४) । १०. यदुदय-वशादात्मन उच्छ्वासनिःश्वासलब्धिरपजायते तदुच्छ्वासनाम । (पंचसं. मलय. बृ. ३-७, पृ. ११६; षष्ठ कर्म. मलय. बृ. ६; प्रज्ञाप. मलय. बृ. २३, २६३, पृ. ४७; कर्मवि. वे. स्तो. बृ. ४३; कर्मप्र. यज्ञो. टी. १, पृ. ६) ।

१ जिस कर्म के उदय से जीव उच्छ्वास लेने में समर्थ हो उसे उच्छ्वास नामकर्म कहते हैं ।

उच्छ्वासपर्याप्ति—देखो आलप्राणपर्याप्ति । १. यया तूच्छ्वासप्राप्तायै वर्गणाद्व्यमादायोच्छ्वास-तयाऽऽलम्ब्य मुञ्चति सोच्छ्वासपर्याप्तिः । (कर्मस्त. गो. बृ. ६-१०, पृ. ८७) । २. यया पुनरुच्छ्वास-प्रायोग्यवर्गणादलिकमादायोच्छ्वासरूपतया परिण-मस्य आलम्ब्य च मुञ्चति सा उच्छ्वासपर्याप्तिः । (नन्वी. मलय. बृ. सु. १३, पृ. १०५; प्रज्ञाप. मलय. बृ. १-१२, पृ. २५; पंचसं. मलय. बृ. १-५, पृ. ८, षष्ठ क. मलय. बृ. ६; षष्ठशीति मलय. बृ. ३; शतक. मल. हेम. बृ. ३७-३८, पृ. ५०; जीवाजी. बृ. १-१२; षष्ठशीति वे. स्तो. बृ. २, पृ. ११७; कर्मवि. वे. स्तो. बृ. ४८, पृ. ५६) । ३. यमोच्छ्वासा-हंमादाय दत्तं परिणमस्य च । तत्तयाऽऽलम्ब्य मुञ्चे-

स्तोच्छ्वासपर्याप्तिरुच्यते ॥ (बोक्प्र. ३-२२) ।

१ जिस क्षणित से उच्छ्वास के योग्य वर्गणाश्रय को ग्रहण कर और उसे उच्छ्वास रूप से परिणमाकर छोड़ता है उसे उच्छ्वासपर्याप्ति कहते हैं ।

उच्छ्वास-निःश्वासपर्याप्ति — विवक्षितपुद्गल-स्कन्धान् उच्छ्वास-निःश्वासरूपेण परिणमयितुं पर्याप्तनामकमौदयजनितात्मनः क्षणितनिष्पत्तिरुच्छ्वास-निःश्वासपर्याप्तिः । (गो. जी. भा. प्र. टी. ११६; कार्तिके. टी. १३४) ।

पर्याप्त नामकर्म के उदय से विवक्षित पुद्गलस्कन्धों को उच्छ्वास-निःश्वासरूप से परिणमाने के लिए जो जीव के क्षणित उत्पन्न होती है उसका नाम उच्छ्वास-निःश्वासपर्याप्ति है ।

उज्जिह्वत दोष—१. स्यादुज्जिह्वतं बहु त्यक्त्वा यच्चू-
ताद्यल्पसेवनम् । पानादि दीयमानं वा जलपेन गल-
नेन तत् ॥ (आश्व. सा. ८-४८) । २. यच्चूत-
फलादिकं बहु त्यक्त्वाल्पसेवनं तदुज्जिह्वतम्, अथवा
यत्पानादिकं दीयमानं बहुतरेण गलनेनाल्पसेवनं तदु-
ज्जिह्वतम् । (भा. प्रा. टी. ६६, पृ. २५१) ।

१ विषे गये बहुत आश्वफलादिक को छोड़कर थोड़े
का सेवन करना, अथवा पीने योग्य द्रव्य में से बहुत
अधिक गलने से थोड़े का सेवन करना, यह उज्जिह्वत
नाम का एषणादोष है ।

उत्कञ्चन—उत्कञ्चनम् उपरि कम्बिकानां बन्ध-
नम् । (बृहत्स. मलय. वृ. ५८३) ।

अपर कम्बिकाश्रय—काष्ठविशेषों—का बांधना,
यह उत्कञ्चन नाम का वसति-उत्तरकरण है ।

उत्कटिकासन—वेत्तो उत्कटिकासन और उत्कुटु-
कासनिक । १. पुत-पार्णिणसमायोगे प्राहुत्कटिकास-
नम् । (योगशा. ४-१३२) । २. उक्कटिया यु-[पु-]
ताम्यां भूमिस्पृशतः समपादाभ्यामासनम् । (भ.
भा. बृल. टी. २२४) ।

२ बृहत् और पार्णिण्यों (एडियों) के मिलने पर
उत्कटिकासन होता है ।

उत्कर—१. तत्रोत्करः काष्ठादीनां करपत्रादि-
निरुत्करणम् । (स. सि. ५-२४; त. वा. ५, २४,
१४; कार्तिके. टी. २०६) । २. दावादीनां ककच-
कुठारादिभिः उत्करणं भेदनमुत्करः । (स. वृत्ति
भुल. ५-२४) ।

१ करोंत आदि से काष्ठ आदि के चीरने को उत्कर
कहते हैं ।

उत्कर्षण—१. कम्मपदेसद्विदिवद्वावणमुक्कट्टणा ।
(अव. पु. १०, पृ. २२) । २. उक्कट्टणं हवे वद्धी ।
(गो. क. ४३८) । ३. स्थित्यनुभागयोर्वृद्धिरुत्कर्ष-
णम् । (गो. क. जी. प्र. टी. ४३८) ।

१ कर्मप्रवेशों की स्थिति के बढ़ाने को उत्कर्षण
कहते हैं ।

उत्कालिक—स्वाध्यायकाले धनियतकालमुत्कालि-
कम् । (त. वा. १, २०, १४) ।

जिस अंगवाह्य भुत के स्वाध्याय का काल नियत
नहीं है वह उत्कालिक कहलाता है ।

उत्कीर्तना—उत्कीर्तना नाम संशब्दना, यथा कल्पा-
ध्ययनं व्यवहाराध्ययनमिति । (अव्य. भा. मलय.
वृ. १, पृ. २) ।

किसी ग्रन्थ आदि के स्पष्ट उच्चारण का नाम
उत्कीर्तना है । जैसे कल्पाध्ययन व व्यवहाराध्ययन ।

उत्कुटिकासन—वेत्तो उत्कटिकासन । उक्कुटिया
ऊर्ध्वं संकुचितासनम् । (भ. भा. भिजयो. टी. २२४) ।
वेत्तो उत्कटिकासन ।

उत्कुटुकासनिक—उत्कुटुकासनं पीठादौ पुतालगने-
नोपवेशनरूपमभिग्रहतो यस्यास्ति स उत्कुटुकासनि-
कः । (स्थाना. अथव. वृ. ५, १, ३६६, पृ. २८४) ।
बृहत्तों का स्पर्श न कराकर पाठे आदि पर बैठना,
यह उत्कुटुकासन कहलाता है, इस आसनविशेष
को जिसने नियमपूर्वक ग्रहण किया है उसे उत्कुटु-
कासनिक कहा जाता है ।

उत्कृष्ट अन्तरात्मा—पंचमहव्ययजुता बन्धे
शुक्के वि सठिया णिच्चं । णिज्जियसयलपमया
उक्किट्ठा अतरा होति ॥ (कार्तिके. १६५) ।

पञ्च महावृत्तों के धारक, सकल अमावों के बिजेता
और वमं अथवा शुक्ल ध्यान में स्थित साधुओं को
उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहते हैं ।

उत्कृष्ट ज्ञान—निर्वाणपदमेत्येकं भाव्यते यन्मुहु-
र्मुहुः । तदेव ज्ञानमुत्कृष्टं निर्बन्धो नास्ति भूयसा ॥
(ज्ञानसू. ५-२) ।

जिस ज्ञान के द्वारा एक मात्र निर्वाण पद की
निरन्तर भावना की जाती है वही उत्कृष्ट ज्ञान
कहलाता है ।

उत्कृष्ट दाह—उक्कसदाहो णाम उक्कससिद्धिबन्ध-
कारणउक्कससकिलेसो । (धव. पु. ११, पृ. ३३६) ।
उत्कृष्ट कर्मस्थिति के बन्ध के कारणभूत उत्कृष्ट
संस्लेष का नाम उत्कृष्ट दाह है ।

उत्कृष्ट निक्षेप—१. उक्कससो पुण णिवसेवो
केतियो ? जत्तिया उक्कससिया कम्मटिदी उक्क-
ससियाए आवाहाए समउत्तरावलियाए च ऊणा
तत्तिमो उक्कससो निक्षेवो । (धव. पु. ६,
पृ. २२६ का टि. १) । २. उक्कससिद्धिबन्धो समय-
पुवावलिदुयेण परिहीणो । उक्कसिद्धिमि चरिमे-
ट्ठिमि उक्कससणिवसेवो । (लघि. ५८) ।

उत्कृष्ट आवाधा धौर एक समय अधिक आवालि से
हीन जितनी उत्कृष्ट कर्मस्थिति हो, उतना उत्कृष्ट
निक्षेप होता है ।

उत्कृष्ट पद—उक्कस्मदव्वमस्सिदूण जो गुणगारों
तमुक्कस्सपदं णाम । (धव. पु. १४, पृ. ३६२) ।
उत्कृष्ट द्रव्य का आश्रय लेकर जो गुणकार होता
है उसे उत्कृष्ट पद कहा जाता है ।

उत्कृष्ट पदमीमांसा—जय पचण्ह सरीराण उक्क-
स्सदव्वपरिक्खा कीरदि सा उक्कस्मपदमीमांसा ।
(धव. पु. १४, पृ. ३६७) ।

जिस अधिकार में पाँचों शरीरों के उत्कृष्ट द्रव्य की
परीक्षा की जाती है उसे उत्कृष्ट पदमीमांसा कहते हैं ।
उत्कृष्टपदाल्पबहुत्व—उक्कस्सदव्वविसयमुक्कस्स-
पदप्पावहुणं णाम । (धव. पु. १४, पृ. ३८४) ।

उत्कृष्ट द्रव्य सम्बन्धी अल्पबहुत्व को उत्कृष्टपदाल्प-
बहुत्व कहते हैं ।

उत्कृष्ट परीतानन्त—१. जं तं जहणपरितानंतय
तं विरलेदूण एक्केक्कस्स रुवस्स जहणपरितानं-
तयं दाहूण ग्रणोण्णवमत्थे कदे उक्कस्सपरिताननयं
अदिच्छिदूण जहणजुत्तानंतयं गंतूण पडिदं । एव-
दिमो अमवसिद्धियरासी । तदो एगुरुवे अवणीदे
जादं उक्कस्सपरिताननयं । (ति. प. ४, पृ. १८३) ।
२. यज्जअण्यपरीतानान्तं तत्पूर्ववद् वगित-संवगित-
मुत्कृष्टपरीतानन्तमतीत्य जअण्यमुक्तानन्तं गत्वा
पतितम् । तत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टं परीतानन्तं
तद् भवति । (स. बा. ३, ३८, ४, पृ. २०७) ।

२ अजण्य परीतानन्त को पूर्व के समान—उत्कृष्ट
परीतासंख्यात के समान—वगित-संवगित करने पर
उत्कृष्ट परीतानन्त को लांच कर अजण्य युक्तानन्त

जाकर प्राप्त होता है । उसमें से एक अंक के कम
करने पर उत्कृष्ट परीतानन्त होता है ।

उत्कृष्ट मंगल—धम्मो मंगलमुक्किदुं अहिंसा
सजमो तवो । (वसथे. सू. १-१) ।

अहिंसा, संयम धौर तप रूप धर्म को उत्कृष्ट मंगल
कहते हैं ।

उत्कृष्ट आवाक—१. दृहतो मुनिवनमिता गुरुप-
कण्ठे व्रतानि परिग्रह्य । भैक्ष्याशनस्तपस्यन्तुत्कृष्टद्वे-
लखणधरः ॥ (रत्नक. १४७) । २. एयारसम्मि ठाणे
उक्किदुो णवमो हवे दुविहो । वत्थेवकधरो पडमो
कोवीणपरिग्गहो विदिमो ॥ धम्मिस्सलानं चयणं करेइ
कत्तरि छुरेण वा पडमो । ठाणाइसु पडिलेहइ उवय-
रणेण पयडप्पा । भूजेइ पाणि-पत्तम्मि भायणे वा सहं
समुवविहो । उपवास पुण णियमा चउव्विहं कुणइ
पव्वेसु ॥ पक्खालिऊण पत्तं पविसइ चरियाय पगणे
ठिच्चा । भणिऊण धम्मलाहं जायइ भिक्खं सयं
वेव ॥ सिग्ग लाहालाहे अदीणवयणो णियत्तिऊण
तमो । अणम्मि गिहे वच्चइ दरिसइ मोगेण कायं
वा ॥ जइ अडवहे कोइ वि भणइ पत्थेइ भोयण
कुणइ । भोत्तूण णिययभिकख तस्सणं भुंजए
सेस ॥ अह ण भणइ तो भमेज्ज णियपोट्ठपूरण-
पमाणं । पच्छा एयम्मि गिहे जाएज्ज पासुण
सलिलं ॥ जं कि पि पडियभिकख भुजिज्जो सोहिऊण
जत्तेण । पक्खालिऊण पत्त गच्छिज्जो गुरुत्थ्या-
सम्मि ॥ जइ एयं ण रएज्जो काउरिसिगिहम्मि
चरियाए । पविसत्ति एयभिकख पविसिणियमण ता
कुञ्जा ॥ गंतूण गुरुसमीवं पच्चक्खानं चउव्विहं
विहिणा । गहिऊण तमो सव्व आलोचेज्जा पय-
त्तेण ॥ एमेव होइ विडमो णवरि विसेसो कुणिज्ज
णियमेण । लोवं धरिज्ज पिच्छं भुजिज्जो पाणि-
पत्तम्मि ॥ उड्ढिपडिक्खिरो दुविपपो सावमो समा-
सेण । एयारसम्मि ठाणे भणिदो मुत्ताणुसारेण ॥
(बसु. आ. ३०१-११ ब ३१३) । ३. तत्तद्व्रता-
स्वनिभिन्नस्वसन् मोहमहाभटः । उड्ढिं पिण्डम-
प्युक्तेदुत्कृष्टः आवाकोऽन्तिमः ॥ स द्वेषा प्रथमः
श्मश्रुमुद्धंजानपनाथयेत् । सितकौपीनसंभ्यानः कर्त्तर्या
वा क्षुरेण वा ॥ स्थानादिषु प्रतिलिखेत् शृद्रूपकरणेन
सः । क्रुमदिव चतुष्वप्यमुपवासं चतुर्विधम् ॥ स्वयं
समुपविष्टोऽप्यात् पाणिपात्रेऽथ भाजने । स आवाक-
द्वहं गत्वा पात्रपाणिस्तदङ्गणे ॥ स्थित्या भिक्षां धर्म-

लार्भं भित्त्वा प्रार्थयेत् वा । भोजनं दर्शयित्वाङ्गं
लाभालाभे समोऽचिरात् ॥ निर्गत्यान्वद् गृहं गच्छेद्
मिक्षोद्युक्तस्तु केनचित् ॥ भोजनायाधितोऽद्यात् तद्
भुक्त्वा यद् भिक्षितं मनाक् ॥ प्रार्थयेताम्यथा भिक्षां
यावत् स्वीदरपूरणीम् । लभेत प्राप्नु यन्नाम्यस्तत्र
संशोध्य तां चरेत् ॥ भ्राक्षाक्षन् सयमं भिक्षापात्र-
प्रक्षालनादियु । स्वयं यतैत चादपः परयाऽसंयमो
महान् ॥ ततो गत्वा गुरुपात्रं प्रत्याख्यानं चतुर्विधं ।
गृह्णीयाद् विधिवत् सर्वं गुरोस्वालोकयेत् पुर ॥
यस्त्वेकभिक्षानियमो गत्वाऽद्यादनुमुन्यते । भूक्त्य-
भावे पुनः कुर्यादुपासमवश्यकम् ॥ वसेन्मुनिवने
नित्यं क्षुधयेत् गुरुचरेत् । तपो द्विधापि दशधा
वैयावृत्यं विशेषतः ॥ तद्वद् द्वितीयः किन्त्वायंसंज्ञो
बुद्धचर्यसौ कचान् । कौपीनमात्रयुग् धत्ते यतिवत्
प्रतिलेखनम् ॥ स्वपाणिपात्र एवास्ति संशोध्यायेन
योजितम् । इच्छाकारं समाचार मिथः सर्वे तु कुर्वते ॥
(सा. ध. ७, ३७-४६) ।

१ उत्कृष्ट—ग्यारहवीं प्रलिमाका चारक—आचक
वह कहलाला है जो घर से मुनियों के आश्रम में
जाकर वर के समीप में व्रत को ग्रहण करता हुआ
भिक्षाभोजन को करता है और वस्त्रखण्ड—लंगोटी
मात्र—को चारण करता है । २ उत्कृष्ट आचक दो
प्रकार के होते हैं । उनमें प्रथम उत्कृष्ट आचक
(शूलक) एक वस्त्र को चारण करता है, पर दूसरा
लंगोटी मात्र का चारक होता है । प्रथम उत्कृष्ट
आचक बालों का परित्याग कंबी या उस्तरे से
करता है—उन्हें निकलवाता है—तथा बैठने-उठने
आदि क्रियाओं में प्रयत्नपूर्वक प्रतिलेखन करता
है—प्राभिरला के लिए कोमल वस्त्र आदि से भूमि
आदि को झाड़ता है । भोजन वह बैठकर हाथरूप
पात्र में करता है अथवा पाली प्रावि में भी करता
है । परन्तु पर्वदिनों में—अष्टमी-चतुर्विंशी आदि को
—उपवास नियम से करता है । पात्र को धोकर व
भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर पर जाकर आंगन में
स्थित होता हुआ 'वर्मलाभ' कहकर भिक्षा की
स्वयं वाचना करता है, तत्पश्चात् भोजन चाहे
प्राप्त हो अथवा न भी प्राप्त हो, वह वैश्य भाव से
रहित होता हुआ वहाँ से शीघ्र ही वापिस लौटकर
दूसरे घर पर जाता है और मीन के साथ शरीर को
बिजालाता है । बीच में यदि कोई आचक वचन

द्वारा भोजन करने के लिए प्रार्थना करता है तो
जो कुछ भिक्षा प्राप्त कर लेता है, पहिले उसे साकर
तत्पश्चात् उसके अन्न को खाता है । परन्तु यदि
भाग्य में कोई नहीं बुलाता है तो अपने उदर
की पूर्ति के योग्य भिक्षा प्राप्त होने तक अन्याम्य
ग्रहों में जाता है । तत्पश्चात् एक कितो गृह पर
प्राप्तु पानी को मांगकर व याचित भोजन को प्रयत्न-
पूर्वक शोधकर खाता है । फिर पात्र धोकर गृह
के पास में जाता है । यह भोजनविधि यदि किसी को
नहीं प्यती है तो वह मुनि के आहार के पश्चात्
किसी घर में चर्या के लिए प्रविष्ट होता है और एक
भिक्षा के नियमपूर्वक भोजन करता है—यदि विधि-
पूर्वक वहाँ भोजन नहीं प्राप्त होता है तो फिर उपवास
ही करता है । गृह के पास विधिपूर्वक चार प्रकार
के प्रत्याख्यान को—उपवास को—ग्रहण करता है
व आलोचना करता है । दूसरे उत्कृष्ट आचक की
भी यही विधि है । विशेषता इतनी है कि वह भागों
का नियम से लोच ही करता है, पिच्छी को चारण
करता है और हाथरूप पात्र में ही भोजन करता है ।
उत्कृष्ट सान्तरप्रवक्त्रमणकाल—विद्याविवक्क-
मणकंदयागमावलिपाद् असलेजदिभागमेतार्ण उक्क-
स्सकालकलाओ उक्कस्सगो सांत्तवक्कमणकालो
णाम । (ध. पु. १४, पृ. ४७६) ।
आचल के प्रसंख्यातर्भे भाग मात्र द्वितीय आदि
प्रवक्त्रमणकाण्डकों के उत्कृष्ट कालसमूह का नाम
उत्कृष्ट सान्तरप्रवक्त्रमणकाल है ।
उत्कृष्ट स्थितिप्राप्तक—ज कम्म बंधसमयादो
कम्मद्विदीए उदए दीसदि तम्मुक्कस्सद्विदिपत्तयं ।
(कसायपा. वृ. पृ. २३४) ।
जो कर्म बन्धसमय से कर्मस्थिति के अनुसार उदय
में बिहता है उसका नाम उत्कृष्ट स्थितिप्राप्तक है ।
उत्कृष्ट स्थितिसंक्षेप—अथवा उक्कस्सद्विदिबंध-
पाओग्गअसलेजजलोगमेत्तस्सकिलेसट्ठाणाणि पल्लिदोव-
मस्स असलेजजदिभागमेत्तस्सड्ठाणि कापूण तत्त चरि-
मल्लंडस्स उक्कस्सद्विदिसकिलेसो णाम । (ध. पु.
११, पृ. ६१) ।
अथवा उत्कृष्ट स्थितिवन्ध के योग्य प्रसंख्यात लोक
मात्र संक्षेपशब्दों के पक्षोपम के प्रसंख्यातर्भे
भाग मात्र खण्ड करने पर उनमें अग्नि खण्ड का
नाम उत्कृष्ट स्थितिसंक्षेप है ।

उत्कृष्टासंख्येयासंख्येय— १. बहुष्णमसंखेज्जासंखेज्जयं दोप्पडिरासियं कादूण एगरासि सलायपमाणं ठविय एगरासि विरलेदूण एक्केकस्स क्वस्स एगपुंजपमाणं दादूण अण्णोण्णभत्तं करिय सलायरासिदो एगरूबं अवणोदब्बं । पुणो वि उप्पण्णरासि विरलेदूण एक्केकस्स क्वस्सुप्पण्णरासिपमाणं दादूण अण्णोण्णभत्तं कादूण सलायरासिदो एगरूबं अवणोदब्बं । एदेण कमेण सलायरासी णिट्ठिदा । णिट्ठियसदणंतररासि दुप्पडिरासि कादूण एयपुंजं सलायं ठविय एयपुंजं विरसिदूण एक्केकस्स क्वस्स उप्पण्णरासि दादूण अण्णोण्णभत्तं कादूण सलायरासिदो एयं क्वं अवणोदब्बं । एदेण सरूएण विदियसलायपुंजं समत्तं । सम्मतकाले उप्पण्णरासि दुप्पडिरासि कादूण एयपुंजं सलायं ठविय एयपुंजं विरसिदूण एक्केकस्स क्वस्स उप्पण्णरासिपमाणं दादूण अण्णोण्णभत्तं कादूण सलायरासीदो एयरूबं अवणोदब्बं । एदेण कमेण तदियपुंजं णिट्ठिदं । एवं कदे उक्कस्स-असंखेज्जासंखेज्जयं ण पावदि । धम्माधम्म-लोगागास-एगजीवपदेसा चत्तारि वि लोगागासमेत्ता, पत्तेगसरीर-बादरपदिट्ठिया एदे दो वि (कमसो असंखेज्जलोगमेत्ता), छप्पि एदे असंखेज्जरासीधो पुब्बिस्सरासिस्स उवरि पक्खिविदूण पुब्बं व तिण्णिवारवगिदे कदे उक्कस्सअसंखेज्जासंखेज्जयं व उप्पज्जदि । तदा ठिदिबंजज्जसया-ठाणाणि अणुभागबंजज्जसयाठाणाणि योगपसिच्छेदाणि उत्सप्पिणी-ओसप्पिणीसमयाणि च एधाणि पक्खिविदूण पुब्बं व वगिद-संबगितं कदे (उक्कस्स-असंखेज्जासंखेज्जयं अदिच्छिदूण जहण्णपरिस्ताण-तयं गतूण पडिदं ।) तदो (एगरूबं अवणीदे जावं) उक्कस्सअसंखेज्जासंखेज्जयं । (सि. व. १, पृ. १८१, १८२) । २. यज्जअस्यासंख्येयासंख्येयं तद्धिरलीकृत्य पूर्वविधिना भीन् वारान् वगित-संबगितं उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयं [न] प्राप्नोति । ततो धर्माधर्मकजीव-लोकाकाश-प्रत्येकशरीरजीव - बादरनिगतशरीराणि षट्पेत्याप्त्यसंख्येयाणि स्थितिवन्नाध्यवसायस्थानान्य-अणुभागबन्नाध्यवसायस्थानानि योगाविभागप्रतिच्छेद-रूपाणि आसंख्येयलोकप्रदेशपरिमाणान्मुत्सप्पिण्यव-सप्पिणीसमयाश्च प्रसिष्य पूर्वोक्तराशौ भीन् वारान् वगित-संबगितं कृत्वा उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयमतीत्य

अबन्धपरीतानन्तं गत्वा पतितम् । तत एकस्तेऽप-
नीते उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयं भवति । (सि. वा. १,
३८, ५, पृ. २३८, पं. ७-१२) ।

२ जबन्ध असंख्येयासंख्येय का बिरसन करके पूर्वोक्त विधि से—उत्कृष्ट मुक्तासंख्येय के समान—तीन बार वगित-संबगित करने पर उत्कृष्ट असंख्येयासंख्येय प्राप्त नहीं होता । तब धर्म, अधर्म, एक जीव, लोकाकाश, प्रत्येकशरीर जीव और बाहर निगोद जीवशरीर; इन छह असंख्यात राशियों तथा असंख्यात लोकप्रदेश प्रमाण स्थितिवन्नाध्यवसायस्थान, अणुभागबन्नाध्यवसायस्थान, योगाविभागप्रतिच्छेद और उत्सप्पिणी-अवसप्पिणी के समर्थों को मिलाकर पूर्वोक्त राशि के तीन बार वगित-संबगित करने पर उत्कृष्ट असंख्येयासंख्येय का प्रतिफलन करने के जघन्य-परीतानन्त जाकर प्राप्त होता है । उसमें से एक अंक के कम कर देने पर उत्कृष्ट असंख्येयासंख्येय का प्रमाण होता है ।

उत्कृष्टि—उत्कृष्टिः हर्षविशेषप्रेरितो ध्वनिविशेषः । (आश्र. नि. हरि. वृ. ५५२, पृ. २३१) ।

हर्ष-विशेष से प्रेरित होकर की गई ध्वनिविशेष को उत्कृष्टि कहते हैं ।

उत्क्रम व्यबच्छिद्यमान-बन्धोदय—उत्क्रमेण, पूर्व-
मुदयः पश्चात् बन्ध इत्येवंलक्षणेन, व्यबच्छिद्यमानो
बन्धोदयो यासां ता उत्क्रमव्यबच्छिद्यमानबन्धोदयाः ।
(पंचसं. मलय. वृ. ३-५५, पृ. १४८) ।

जिन कर्मप्रकृतियों को उत्क्रम से बन्धोदय-व्यच्छि-
त्ति होती है, अर्थात् पहले उदयव्युत्पत्ति और
पीछे बन्धव्युत्पत्ति होती है, वे उत्क्रमव्यबच्छिद्यमान
बन्धोदयप्रकृतियाँ कहलाती हैं ।

उत्तिष्ठत्तचरक—उत्तिष्ठत्तं पाकपिठरात् पूर्वमेव
दायकेनोद्घृतम्, तद् ये चरन्ति गवेयमन्ति ते
उत्तिष्ठत्तचरकाः । (बृहत्सं. वृ. १६५२) ।

वातार गृहस्थ के द्वारा साधु के जाने के पूर्व ही
पात्र में से निकाले गये आहार को छोड़ने वाले—
उसे गोचरी में ग्रहण करने वाले—साधुओं को
उत्तिष्ठत्तचरक कहते हैं । अभिग्रह और अभिग्रह
वान् में कर्वांन्त अनेक होने से उसे भाषाभिग्रह का
लक्षण समझना चाहिये ।

उत्तिष्ठत्तचर्या—१. उत्तिष्ठत्तं पटलोदंका-कहच्छ-

कादिनीपकरणेन दानयोग्यतया दायकेनोद्यतं तादृशं यदि लप्स्येत ततो गृहीष्यामि, नावशिष्टमित्युत्तिष्ठन्त-
चर्या उत्तिष्ठन्ताम्बवहरणमिति । (त. भा. हरि. बृ. ६-१६) । २. उत्तिष्ठन्तं पटलकादिर्न कुट्टुङ्कुकादि-
नीपकरणेन दानयोग्यतया दायकेनोद्यतं तादृशं यदि लप्स्येत ततो गृहीष्यामि, नावशिष्टमित्युत्तिष्ठन्तचर्या उत्तिष्ठन्ताम्बवहरणमिति । (त. भा. सिद्ध. बृ. ६-१६) ।

दाता कलछी आदि से दान के योग्य जिस भोग्य वस्तु को प्राप्त में से निकाल लेता है, ऐसा यदि प्राप्त होगा तो उसे ही ग्रहण करूँगा, शून्य को नहीं; इस प्रकार से अभिग्रहणपूर्वक की जाने वाली चर्या को उत्तिष्ठन्तचर्या कहते हैं ।

उत्तरकरण—१. लङ्घि-विराहिघातं मूलगुणार्ण-
स-उत्तरगुणार्ण । उत्तरकरण कीरइ अह सगड-रहंग-
गोहाण ॥६६॥ (आच. ५ अ.—अभिषा. २, पृ. ७५७) । २. मूलतः स्वहेतुभ्य उत्पन्नस्य पुनरुत्तर-
कालं विशेषायानामकं करणमुत्तरकरणम् । (उत्तरा.
नि. भा. बृ. ४-१२२, पृ. १६४) ।

१ मूलगुण और उत्तरगुणों के संबंध। लङ्घित होने पर अथवा वेशतः लङ्घित होने पर पुनः उनका जो उत्तरकरण किया जाता है—आलोचना आदि के द्वारा उन्हें शुद्ध किया जाता है, इसका नाम उत्तर-
करण है । जैसे लोक में गाड़ी आदि के विकृत हो जाने पर उनका सुधार करके फिर से उन्हें व्यवहार के योग्य बनाया जाता है । २ अपने कारणों से उत्पन्न घटादि को जो पश्चात् विशेषाधान रूप किया जाता है उसे उत्तरकरण कहते हैं ।

उत्तरकरणकृति—जा सा उत्तरकरणकदी नाम सा धनेयविहा । तं जहा—असि-वासि-परसु-कुडारि-
चक्र-बंध-वेम-गालिया-सलागमट्टियसुत्तोदयादीणसुव-
संपदसण्णिजे । (वट्ठं. ४, १, ७२—पु. ६, पृ. ४५०) ।

तलवार, बल्लू, फरसा और कुबारी आदि उप-
करणों का कार्योत्पत्ति में लाजिम्ब रहने से उन सबको उत्तरकरणकृति कहा जाता है । जीव से अनुग्रहभूत होकर समस्त कारणों के कारण होने से औदारिकादि पाँच शरीरों को मूलकरण कहा जाता है । इन मूलकरणों के कारण होने के कारण उक्त तलवार आदि को उत्तरकरण माना गया है ।

उत्तरगुण—शेषाः पिण्डविशुद्धाद्याः स्युत्तरगुणाः स्फुटम् । एषां चानतिचाराणां पालनं ते स्वमी मताः ॥५७॥ (अभिषा. २, पृ. ७६३) ।

मूलगुणों से भिन्न पिण्डशुद्धि आदि उत्तरगुण माने जाते हैं ।

उत्तरगुणकल्पिक—आहार-उवहि-सेज्जा उम्मम-
उप्पादणेसणासुद्धा । जो परिणिण्णति निययं उत्तर-
गुणकप्पिओ स खलु ॥ (बुहक. ६४४४); यः आहा-
रोपधि-शय्या उद्गमोत्पादनवणासुद्धा नियतं निश्चितं परिगृह्णाति स खलु उत्तरगुणकल्पिको मन्तव्यः । (बुहक. बृ. ६४४४) ।

जो साधु नियम से उद्गम, उत्पादन और एषणा शेषों से रहित आहार, उपधि और शय्या को ग्रहण किया करता है उसे उत्तरगुणकल्पिक कहा जाता है ।

उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरण—१. उत्तरगुणनिर्व-
र्तना काष्ठ-पुस्त-चित्र-कर्मदीनि । (त. भा. ६-१०) ।

२. उत्तरं काष्ठ-पुस्त-चित्रकर्मणि । (त. भा. ६, ६, १२) । ३. तथाङ्गापाङ्ग-सस्यान-मुद्रादि-तक्षण्यादि-
रुत्तरगुणः, सोऽपि निर्वृत्तः सन्निधिकरणीभवति कर्मबन्धस्योत्तरगुण एव निर्वर्तनाधिकरणम् । (त. भा. सिद्ध. बृ. ६-१०) । ४. उत्तरगुणनिर्वर्तना काष्ठ-पुस्त-चित्रकर्मभेदा । (त. सुखबो. बृ. ६-६) ।

५. उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणं काष्ठ-पाषाण-पुस्तक-
चित्र-कर्मदिनिष्पादन जीवरूपादिनिष्पादनं लेखनं चेत्यनेकविधम् । (त. वृत्ति भूत. ६-६) ।

१ काष्ठ, पुस्तक व चित्रकर्म आदि को उत्तरगुण-
निर्वर्तना कहा जाता है ।

उत्तरबुलिका दोष—१. वन्दनां स्तोकेन कालेन निर्वर्त्य वन्दनायाश्चलिकाभूतस्यालोचनादिकस्य महता कालेन निर्वर्तकं [न] कृत्वा यो वन्दनां विष-
धाति तस्योत्तरबुलिकादोषः । (मूला. बृ. ७-१८६) ।

२. उत्तरबुलं वन्दनं दत्त्वा महता शब्देन 'मस्तकेन वन्दे' इत्याभिधानम् । (योगशा. स्वो. बिच. १३०, पु. २३७) । ३. × × × बुला धिरेणोत्तरबुलिका ॥ (अम. ब. ८-१०६); उत्तरबुलिका नाम दोषः स्यात् । या किम् ? या बूला । केन ? चिरेण । वन्दनां स्तोककालेन कृत्वा तच्चलिकाभूतस्यालोचना-
वेमं हता कालेन करणमित्यर्थः । (अम. ब. स्वो. टी. ८-१०६) ।

१ वन्दना को शीघ्रता से करके उसकी बुलिका

स्वप्न बालोचना आदि को दीर्घ काल तक करने के पश्चात् जो बन्धना करता है उसके उत्तरप्रकृतिका नामक बन्धनादोष होता है । २ बन्धना देकर 'वस्तक से मैं बन्धना करता हूँ, इस प्रकार उच्च स्वर से कहना, यह बन्धनाविषयक उत्तरप्रकृत नाम का शेष है ।

उत्तरप्रकृति—पुष्प-पुष्पावयवा पञ्चवह्नियणयनिबंध-णा उत्तरपयडी नाम । (धव. पु. ६, पृ. ५-६) । पर्यायार्थिक मय के आशय से किये जाने वाले पुष्प-पुष्प कर्मप्रकृतिशेषों का नाम उत्तरप्रकृति है ।

उत्तरप्रकृति-अनुभागसंक्रम—उत्तरपयडीणं च मिच्छतादीणमणुभागस्त धोकदृढकटुण-परपयडि-कमेहि जो सतिविपरिणामो सो उत्तरपयडि-अणु-भागसको ति । (जयध. ६, पु. २) ।

भिष्यात्वं आदि उत्तर प्रकृतियों के अनुभाग की शक्ति का जो अपकर्षण, उत्कर्षण और परप्रकृति-संक्रमण के द्वारा विषय परिणमन होता है उसे उत्तरप्रकृति-अनुभागसंक्रम कहते हैं ।

उत्तरप्रकृति-विपरिणामना—निज्जिण्णा पयडी देसेण सव्वणिज्जराए वा, अणपयडीए देससंक्रमेण वा सव्वसंक्रमेण वा जा संकामिज्जदि, एसा उत्तर-पयडिविपरिणामणा नाम । (धव. पु. १५, पृ. २६३) ।

देशानिर्जरा अथवा सर्वनिर्जरा से निर्जोष प्रकृति का तथा देशसंक्रमण अथवा सर्वसंक्रमण के द्वारा अन्य प्रकृति में संक्रान्त की जाने वाली प्रकृति का नाम उत्तरप्रकृति-विपरिणामना है ।

उत्तरप्रयोगकरण—१. $\times \times \times$ इधरं पधोगधो जमिह । निष्फल्ला निष्फज्जइ भाइत्तलानं च तं तिण्ह ॥ (आव. भा. १५६, पृ. ५५६) । २. प्रयोगेण यदिह लोके मूलप्रयोगेण, निष्पन्नात् तन्निष्पन्नात् निष्पद्यते तदुत्तरप्रयोगकरणम्, तच्च त्रयाणामाद्यानां शरीराणाम् । इयमत्र भावना $\times \times \times$ अङ्गोपाङ्गादि-करणं तूत्तरप्रयोगकरणं, तच्चौदारिक-वैकियिकाहा-रकरूपाणां त्रयाणां शरीराणाम्, न तु तैजस-कर्म-णयोः, तयोराङ्गोपाङ्गाद्यसम्भवात् । (आव. भा. मलय. वृ. १५६, पृ. ५५६) ।

औदारिक, वैकियिक और आहारक इन तीन शरीरों के अङ्गोपाङ्ग आदि करण को उत्तरप्रयोगकरण कहते हैं ।

उत्तराध्ययन—१. कमउत्तरेण पगयं आयास्तेव उवरिमाइ तु । तम्हा उ उत्तरा सलु अज्झयणा होति गामय्वा ॥ (उत्तरा. नि. १, पृ. ५) । २. उत्तरज्झयणाणि आयास्स उवरि आसित्ति तम्हा उत्तराणि भवन्ति । (उत्तरा. वृ. पृ. ६) । ३. उत्तर-ज्झयण उत्तरपदाणि वण्णेइ । (धव. पु. १, पृ. ७७) ; उत्तरज्झयणं उगमुप्यायेणसणदोसगुपायच्छित्तवि-हाणं कालादिविसेसिदं पक्खेदि । (धव. पु. ६, पृ. १६०) । ४. चरब्बिहोवसग्गाणं बाबीसपरिस्सहाणं च सहणविहाणं सहणफलमेदम्हादो एदमुत्तरमिदि च उत्तरज्झेमं वण्णेदि । (जयध. १, पृ. १२०) । ५. आचारात् परतः पूर्वकाले यस्मादेतानि पठित-वन्तो यतयस्तेनोत्तराध्ययनानि । (त. भा. सिद्ध. वृ. १-२०) । ६. उत्तराध्यधीयन्ते पठयन्तेऽस्मिन्नि-राध्ययनम्, तच्च चतुर्विधोपसर्गाणां द्वाविंशतिपरीष-हाणां च सहनविधानं तत्फलम्, एवं प्रत्ये एवमित्यु-त्तरविधानं च वर्णयति । (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३६७) । ७. भिक्षूणामुपसर्गसहनफलनिरु-पकमुत्तराध्ययनम् । (त. वृत्ति सुत. १-२०) । ८. उत्तराणि अहिज्जति उत्तरज्झयणं मवं जिणि-वेहि । बाबीसपरीसहाणं उवसग्गाणं च सहणविहि ॥ वण्णेदि तत्फलमदि एवं पण्हे च उत्तरं एव । कहवि गुरुसीसयाणं पडिणायं अट्ठमं तं लु ॥ (अंगप. २५, २६, पृ. १०६) ।

१ कम की अपेक्षा जो आचारार्ण के उत्तर—पश्चात्—मुनियों के द्वारा पढ़े जाते थे वे विनय व परीषद् आदि ३६ उत्तराध्ययन कहे जाते हैं । ३ जिसमें उद्गम, उत्पादन और एषण दोषों सम्बन्धी प्राय-विश्रुत का विधान कालादि की विशेषतापूर्वक किया गया हो वह उत्तराध्ययन कहलाता है । ६ जिस शास्त्र में देव, मनुष्य, तिर्यच और अश्वेतन कृत चतुर्विध उपसर्ग व बाईस परीषद्ओं के सहन करने की विधि का एवं उनके फल का विधान किया गया हो तथा प्रश्नों के उत्तर का विधान किया गया हो उसे उत्तराध्ययन कहते हैं ।

उत्तराध्यायानुयोग—अनुयोजनमनुयोगः, अर्थव्या-ख्यानमित्यर्थः, उत्तराध्यायानामनुयोगः उत्तराध्या-यानुयोगः $\times \times \times$ । (उत्तरा. वृ. पृ. १) ।

उत्तराध्ययन के अध्ययनों के अर्थ के व्याख्यान को उत्तराध्यायानुयोग कहते हैं ।

उत्तरितदोष— $\times \times \times$ तस्योत्तरितमुल्लभः । (अन. ब. ८-११५); उत्तरितं नाम दोषोऽस्ति । कोऽसौ ? उल्लभः । कस्य ? तस्य मूर्ध्निः । (अन. ब. स्तो. टी. ८-११५) ।

शिर को ऊपर उठाकर कायोत्सर्ग करना, यह उस कायोत्सर्ग के ३२ दोषों में से एक (१०वाँ) उत्तरित नाम का दोष है ।

उत्थितोत्थितकायोत्सर्ग—देखो उत्सृतोत्सृतकायोत्सर्ग । धर्मं शुभं वा परिणतो यस्तिष्ठति तस्य कायोत्सर्ग उत्थितोत्थितो नाम । द्रव्य-भावोत्थान-समन्वितत्वादुत्थानप्रकर्षः उत्थितोत्थितशब्देनोच्यते । (अ. सा. चिन्मयो. टी. ११६) ।

धर्ममयान और शुभसमयान में परिणत जीव के कायोत्सर्ग को उत्थितोत्थित या उत्सृतोत्सृत कायोत्सर्ग कहते हैं । उत्थितोत्थित शब्द से यहां द्रव्य व भावरूप उत्थान से युक्त उत्थान का प्रकर्ष ग्रहण किया गया है ।

उत्पत्ति—१. पूर्वावधिपरिच्छिन्नवस्तुसत्तासम्बन्ध-लक्षणादुत्पत्तेः । (सिद्धिचि. वृ. ४-६, पृ. २४६); आत्मलक्षणलक्षणा उत्पत्तिः । (सिद्धिचि. टी. ४-६, पृ. २४०) । २. अपूर्वाकाररंशगतिरूपतिरिति कीर्त्यते । (भाषांत. भाष. ३८०) ।

१ पूर्व अवधि से निश्चित वस्तु की सत्ता के सम्बन्ध का नाम उत्पत्ति है । अभिप्राय यह कि वस्तु के स्वरूप का जो लान है यही उसकी उत्पत्ति कही जाती है ।

उत्पत्तिकषाय—उत्पत्तिकषायो यस्माद् द्रव्यादेर्वा-ह्यात् कषायप्रभवस्तदेव कषायनिमित्तत्वाद् उत्पत्ति-कषायः इति । उक्तं च—कि एत्तो कटुवरं जं मूढो लाणुगमि प्रपिच्छिभो । लाणुस्त तस्स क्खइ ण अप्पणो दुप्पयोगस्स ॥ (थाव. नि. हरि. वृ. ६१८, पृ. ३६०) ।

जिस बाहु द्रव्य के निमित्त से कषाय की उत्पत्ति हो उसे कषायोत्पत्ति का निमित्त होने से उत्पत्ति-कषाय कहा जाता है । उदाहरणार्थ यदि कोई मूर्ख व्यक्तित्व स्वाम् (मूढ) से आहत होता है तो वह उस स्वाम्पर तो कोषित होता है, किन्तु अपनी हृषित प्रवृत्ति पर कोषित नहीं होता ।

उत्पन्नज्ञानदर्शी—उत्पन्नज्ञानेन वृष्टं धीसमस्त्ये-त्युत्पन्नज्ञानदर्शी, स्वयमुत्पन्नज्ञानदर्शी भगवान् सर्व-

लोकं जानाति । (अन. पु. १३, पृ. ३४६) ।

उत्पन्न हुए ज्ञान के द्वारा देखना जिसका स्वभाव है उसे उत्पन्नज्ञानदर्शी कहते हैं । स्वयं उत्पन्न हुए ज्ञान से देखने वाले भगवान् सब लोक को जानते हैं ।

उत्पन्नमिश्रिता—उत्पन्नमीक्षिता सा उत्पन्ना जल्प मीक्षिता हति । संसाइ पूरणत्वं सद्धिमणुत्पन्न-भावेहि ॥ (भाषार. ५८); सा उत्पन्नमिश्रिता इति विधेयनिर्देशः, यत्रानुत्पन्नभावेः साद्धं संख्यायाः पूरणार्थं उत्पन्ना मिश्रिता भवन्ति । (भाषार. टी. ५८) ।

जिस भाषा में अनुत्पन्न भावों के साथ संख्या की पूर्ति के लिए उत्पन्न भी पदार्थों को सम्मिलित करके कहा जाये उसे उत्पन्नमिश्रिता भाषा कहते हैं । जैसे किसी ग्राम में पाँच घरवा वसते हैं अधिक घरवाँ के उत्पन्न होने पर 'ग्राम वस वच्चे उत्पन्न हुए हैं' ऐसा कहना ।

उत्पन्नविगतमिश्रिता—उत्पन्नविगतमीक्षियेयं प्रमणति जल्प सत्तु जुगषं । उत्पन्ना विगमा वि य ऊण-म्महिंया मणिज्जति ॥ (भाषार. ६०); एतां भाषा-मुत्पन्नविगतमिश्रिता प्रमणन्ति श्रुतधराः, यत्र यस्यां भाषायां सत्तु निवचयेन उत्पन्ना विगता अपि च भावा ऊना प्रधिका युगपद् गच्छन्ते । (भाषार. टी. ६०) । जिस भाषा में उत्पन्न और विगत दोनों ही भाव हीनता या अधिका के साथ युगपद् कहे जावें उसे उत्पन्नविगतमिश्रिता भाषा कहते हैं । जैसे—'इत ग्राम में वस उत्पन्न हुए हैं और वस ही मरे हैं' ऐसा कहना ।

उत्पात—उत्पातं सहजवद्विरवृष्टपादिलक्षणोत्पात-फलनिरूपकं निमित्तकारात्मम् । (समवा. अभय. वृ. २६, पृ. ४७) ।

जिस शास्त्र में स्वभाव से होने वाली वद्विर की वर्या आदिक उपद्रवों के फल का वर्णन किया गया हो उसे उत्पात निमित्त कहते हैं ।

उत्पाद—१. चेतनस्याचेतनस्य वा द्रव्यस्य स्वां जातिमजहत उभयनिमित्तवशाद् भावान्तरावाप्ति-रूपादनमुत्पादः । (स. सि. ३-३०; स. वृत्ति भूत. ५-३०) । २. स्वभावात्परित्यागेन भावान्तरावाप्ति-रूपादः । चेतनस्य प्रचेतनस्य वा द्रव्यस्य स्वजातिम-जहतः भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पाद इत्युच्यते मृत्पिण्डस्य वटपर्व्यावधत् । (स. वा. ५, ३६, १) ।

३. धाविष्मावो उत्पादो । (धव. पु. १५, पृ. १६) ।
 ४. भ्रमुत्वा भाव उत्पादः । (म. पु. २४-११०) ।
 ५. स्वज्ञात्यपरित्यागेन भावान्तरावाप्तिरुत्पादः ।
 (त. श्लो. ५-३०) । ६. प्रागसत आत्मनाम
 उत्पादः । (सिद्धिचि. टी. ३-१५, पृ. २०२) ।
 ७. द्रव्यनयामिप्रायेणाकारान्तराविभविमानमुत्पाद
 धीपचारिकः, परमार्थतो न किञ्चिदुत्पद्यते सतत-
 मवस्थितद्रव्यांशमात्रत्वात् । (त. भा. सिद्ध. पृ. ५,
 २६) । ८. द्रव्यस्य स्यात्समुत्पादत्वेतनस्येतरस्य
 च । भावान्तरपरिप्राप्तिर्निजां जातिमनुष्कतः ॥ (त.
 सा. ३-६) । ९. तत्रोत्पादोऽवस्थाप्रत्ययं परिणतस्य
 तस्य सत । सदसद्भावनिबद्धं तदतद्भावत्ववन्नया-
 देशात् ॥ (पंचाध्यायी १-२०१) ।

१ बाह्य और अन्त्यन्तर निमित्त के वश जो चेतन
 व अचेतन द्रव्य अपनी जाति को न छोड़ता हुआ
 अवस्थाान्तर को—पूर्व अवस्था को छोड़कर नवीन
 अवस्था को—प्राप्त होता है, इसका नाम उत्पाद है ।
 उत्पादपूर्व—१. काल-पुद्गल-जीवादीनां यदा यत्र
 यथा च पयसिणोत्पादो वर्ज्यते तदुत्पादपूर्वम् । (त.
 बा. १, २०, १२; धव. पु. ६, पृ. ११२) । २.
 उत्पादपुर्वं दसहं वत्पुण १० वे-सदपानुद्गणं २००
 कोटिपदेहि १००००००० जीव-काल-योगलक्षण-
 मुत्पाद-वय-धुवत्वं वर्ण्येह । (धव. पु. १, पृ. ११४) ।
 ३. जमुप्यायपुर्वं तमुत्पाय-वय-धुवभावानं कमाकम-
 सरूपाणं णाणाणयविसयाणं वर्णणं कुणह । (अवध.
 १, पृ. १३६-४०) । ४. उत्पादपूर्वं प्रथमम्, तत्र च
 सर्वद्रव्याणां पर्यवाणां चोत्पादभावमङ्गीकृत्य प्रज्ञापना
 कृता । तस्य च पदपरिमाणमेका कोटी । (संख्या-
 अमर. सू. १४७, पृ. १२१) । ५. जीवादेरुत्पाद-
 ध्यय-ध्रौव्यप्रतिपादकं कोटिपदमुत्पादपूर्वम् । (भुलज.
 टी. १०, पृ. १७५) । ६. एतेषु पूर्वोक्तवस्तुभूतज्ञा-
 नत्योपरि अग्रे प्रत्येकमेकैकवर्णवृद्धिसहचरितपदादि-
 नृद्धया दशवस्तुप्रमितवस्तुसमासमानविकल्पेषु गतेषु
 रूपोर्नतावन्मात्रवस्तुभूतसमासज्ञानविकल्पेषु चरमवस्तु-
 समासोत्कृष्टविकल्पस्योपपत्त्येकासांशवृद्धौ सत्यामुत्पाद-
 पूर्वभूतज्ञानं भवति । (गो. जी. जी. प्र. टी. ३४५) ।
 ७. तत्र वस्तुतामुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यादिकथकं कोटि-
 पदप्रमाणमुत्पादपूर्वम् । (त. वृत्ति भूत. १-२०) । ८.
 कोटिपदं उत्पादं पुर्वं जीवादिद्वयभिरयस्स । उत्पाद-
 ध्यय-ध्रौव्यादयेवमन्मात्र पूरणयं । १००००००० ।

तं जहा—द्व्याणं णाणाणयुवण्यगोयरकमजोग-
 वज्जसंभाषिदुत्पाद-वय-ध्रौव्याणि तियालगोयरा जव
 धम्मा ह्वंति । तत्परिणदं दब्बमवि जवहा । उप्पज्ज-
 मुप्पज्जमाणमुप्पस्समाणं जट्ठं गस्समाणं गल्लमाणं
 ठिवं तिट्ठमाणं विस्संतमिदि गवाणं त धम्माणमुब्ब-
 ण्णादीण पत्तेयं जवविहत्तणसंभवादो एयासोदिविय-
 प्पधम्मपरिणददब्बवण्णणं यं करेदि तमुत्पादपुर्वं ।
 (अंगव. पृ. २८३-८४) ।

१ जिस पूर्वभूत में काल, पुद्गल और जीव धावि
 की पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा होने वाली उत्पत्ति
 का वर्णन किया जाता है वह उत्पादपूर्व कहलाता है ।

उत्पाद-व्ययसापेक्ष भ्रमुद्भद्रव्याधिक—१. उत्पाद-
 वयविमिस्सा सत्ता गहिऊण भणइ तियदत्तं । दब्ब-
 स्स एयसमये को हू भ्रमुदो हवे विदिधो ॥ (त. न.
 च. २२; म. न. च. १६५) । २. उत्पाद-व्यय-
 सापेक्षोऽनुद्भद्रव्याधिको यथा एकस्मिन् समये द्रव्य-
 मुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकम् । (आलाप. पृ. १३७) ।
 जो नय उत्पाद और व्यय से निमित्त सत्ता (द्रौव्य)
 को लेकर द्रव्य को एक ही समय में उत्पाद, व्यय
 और द्रौव्य स्वक्य बतलाता है वह उत्पाद-व्ययसापेक्ष
 भ्रमुद्भद्रव्याधिक नय कहलाता है ।

उत्पादानुच्छेद — उत्पादः सत्त्वम्, भ्रनुच्छेदो
 विनाशः अभावः नीरूपिता इति यावत् । उत्पाद
 एव भ्रनुच्छेदः उत्पादानुच्छेदः, भाव एव अभाव
 इति यावत् । एसो दब्बद्विययववहारो । (धव. पु.
 ८, पृ. ५) ; उत्पादानुच्छेदो नाम दब्बद्वियो । तेण
 संतावत्त्वाए चेव विणासमिच्छदि, असंते बुद्धिविसयं
 चाइमकंतावेण वयणगोयराइमकंते अभावववहारा-
 नुववसीदो । (धव. पु. १२, पृ. ४५७) ।

उत्पाद का अर्थ सत्ता और अनुच्छेद का अर्थ है
 विनाश या अभाव । अतः उत्पादानुच्छेद से अग्निप्राय
 द्रव्याधिकनय की अपेक्षा आभात्मक अभाव से है,
 क्योंकि तुच्छ अभाव वस्तुभूत नहीं है । यह द्रव्य-
 थिक नय का विषय है ।

उत्त्वच्छकणामिष्वच्छकण—१. टोसव्व उप्पिडंतो
 ओसककहिइवकणे कुणह ॥१५॥ (आच. ह. पु.
 जल. हे. डि. पृ. ८६ उप्प.) । २. उत्त्वच्छकणं अतः
 सरणम्, अग्निवच्छकणं परचावपरणम् ते उत्त्वच्छक-
 णामिष्वच्छकणे, टोसवत्—तिद्दुवत्, उपप्लुत्त उप-

प्लुत्य करोति यत्र तट्टोलयतिबन्धनकमिति गाथायः ।
(आच. वृ. दि. मल. हेम. पृ. ८७) ।

पतंगा अथवा टिट्टी के समान आगे-पीछे उछलकर
झुलना करना, यह उल्लङ्घन-अभिव्यञ्जन नामक
झुलना का बोध है । इसका दूसरा नाम डोलगति
भी है । (मूलाचार ७-१०६ और अनगारवमिश्रित
८-६६ में सम्भवतः ऐसे ही बोध को बोलायित
नाम से कहा गया है) ।

उत्सन्नक्रिय-अप्रतिपाति—देखो व्युपगतक्रियानि-
वर्ति शुक्लध्यान । केवलिनः शैलेशोगतस्य शैलवद-
कम्पनीयस्य । उत्सन्नक्रियप्रतिपाति तुरीयं परम-
शुक्लम् ॥ (योगशा. ११-६) ।

मेष के समान स्थिरताकृप शैलेशी अवस्था को
प्राप्त अवोगिकेशी के ध्यान को उत्सन्नक्रिय-
अप्रतिपाति शुक्ल ध्यान कहते हैं । यह शुक्ल ध्यान
का अन्तिम (चतुर्थ) अवस्था है ।

उत्सर्ग—देखो अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितोत्सर्ग । १.
उत्सर्गः त्यागो निष्ठापूत-स्वेद-मल-मूत्र-पुरीषादीनाम् ।
× × × अथवा अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजित उत्सर्ग
करोति, ततः पीषबोपवासव्रतमतिचरति । (त. भा.
सिद्ध. वृ. ७-२६) । २. बाल-बुद्ध-आन्त-ग्लानेनापि
संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न
यथा स्वात्तया संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमेवाच-
रणमाचरणीयमित्युत्सर्गः । (प्रव. सा. अमृत. वृ.
३-३०) । ३. यदुचितं परिपूर्णद्वय्यादि योग्यमनुष्ठान
शुद्धान्त-पानगवेषणारूपं परिपूर्णमेव यतदौचित्येना-
नुष्ठानं स उत्सर्गः । (उच. वृ. वृ. ७-८४) ।

१ भूमि के बिना देखे सोखे बूक, पसीमा, मल,
मूत्र और बिष्ठा आदि के त्याग करने का नाम
उत्सर्ग है । यह पीषबोपवास का एक अतिचार है ।
२ बाल, बुद्ध, आन्त और राग साधु भी मूलभूत
संयम का बिनाश न हो, इस दृष्टि से जो शुद्ध
आत्मतत्त्व के साधनभूत अपने योग्य अति कठोर
संयम का आचरण करता है; यह संयम परिपासन
का उत्सर्गनाम—सामाग्य विधान है ।

उत्सर्गसंमिति — देखो उच्चारप्रज्ञवणसमिति ।
१. स्वच्छिन्ने स्वावर-जङ्गममनुवर्जिते निरीक्ष्य
प्रभृज्य च मूत्र-पुरीषादीनामुत्सर्गं उत्सर्गसंमितिः ।
(त. भा. ६-५) । २. जीवाविरोधेनाङ्गमलनिर्हरण-
मुत्सर्गसंमितिः । स्वावराणां जङ्गमानां च जीवा-

दीनाम् अविरोधेन अङ्गमलनिर्हरणं शरीरस्य च
स्थापनम् उत्सर्गसंमितिर्ब्रह्मन्त्या । (त. भा. ६, ५,
८) । ३. जीवाविरोधेनाङ्गमलनिर्हरणं समुत्सर्गसं-
मितिः । (त. इलो. ६-५) । ४. तद्वर्जितं
(स्वावर-जङ्गमजीववर्जितं) निरीक्ष्य चक्षुषा
प्रभृज्य च रजोहृत्या वस्त्र-पात्र-खेल-मल-भक्तपान-
मूत्र-पुरीषादीनामुत्सर्गः उज्ज्वलं उत्सर्गसंमितिः ।
(त. भा. हरि. वृ. ६-५) । ५. स्वावराणां जङ्ग-
मानां च जीवानामविरोधेनाङ्गमलनिर्हरणं शरीरस्य
च स्थापनमुत्सर्गसंमितिः । (आ. सा. वृ. ३२) ।
६. कफ-मूत्र-मलप्रायं निर्जन्तु जगतीतले । यत्नाद्य-
दुत्प्लुजेत् साधुः सोत्सर्गसंमितिर्भवेत् ॥ (योगशा.
१-४०) । ७. दूरपूढविशालामिरुद्धशुद्धमहीतले ।
उत्सर्गसंमितिर्विष्णुभादीनां स्याद्विसर्जनम् ॥ (आवा.
सा. १-३६) । ८. निर्जन्तो कुचले विविक्तविपुले
लोकोपरोधोचिक्ते प्लुष्टे कृष्ट उनोपरे क्षितितले
विष्ठादिकानुत्प्लुत्तम् । द्युः प्रज्ञाश्रमणेन नक्तमभितो
दृष्टेः विभज्य त्रिधा । सुस्पृष्टेऽप्यपहस्तकेन समिता-
वुत्सर्गं उत्तिष्ठते ॥ (अन. व. ४-१६६) ।
९. निर्ज्वले क्षुपिरे देशे प्रतुपेक्ष्य प्रमाज्यं च । यत्या-
गो मल-मूत्रादेः सोत्सर्गसंमितिः स्मृता ॥ (लोकप्र.
३०-७४८) । १०. विष्णु-श्लेष-सिन्धु-दिग्मल-
मुच्यते यः शुचो । दृष्ट्वा विबोध्य तस्य स्यादु-
त्सर्गसंमितिर्हिता ॥ (धर्मसं. भा. ६-८) । ११.
प्राणिनामविरोधेन अङ्गमलत्यजन शरीरस्य च स्था-
पनं दिग्मन्वरस्य उत्सर्गसंमितिः भवति । (त. वृत्ति
भूत ६-५) ।

१ स्वावर और जङ्गम जीवों से रहित शुद्ध भूमि
में देखकर एवं रजोहरण से आङ्कुर मल-मूत्र आदि
का त्याग करना, इसका नाम उत्सर्गसंमिति है ।
२ अस-स्वावर जीवों के विरोध (विराजना) से
रहित शुद्ध भूमि में शरीरगत मल के छोड़ने और
शरीर के स्थापित करने को उत्सर्गसंमिति कहते हैं ।
उत्सर्पिणी— १. शर-तिरियाण धाऊ-उच्छेद-विभू-
दिपहृदिय सर्वं । × × × उत्सर्पिण्यासु वद-
डेदि । (सि. प. ४-३१४) । २. यनुमवादिभिरु-
त्सर्पणशीला उत्सर्पिणी । (सि. सि. ३-२७) ।
३. तद्विपरीतोत्सर्पिणी । तद्विपरीतैरेवोत्सर्पणशीला
वृद्धिस्त्राभाविकोत्सर्पिणीत्युच्यते । (त. भा. ३, २७,
५) । ४. दससागरोवमणं पुष्पाद्यो ह्येति कोटिको-

डीधो । ओसपिणीयमाणं तं वेवसपिणीए वि ॥ (ज्योतिष्क. २-८३) । ५. जत्थं बलाउ-उत्सेहाणं उत्सप्यणं उट्ठी होवि सो कालो उत्सपिणी । (बब. पु. ६, पृ. ११६) । ६. उत्सप्यति बद्धंतेऽरकापेक्षया उत्सप्ययति वा भावानामुष्कादीन् बद्धंयतीति उत्सपिणी । (स्थाना. अमय. वृ. १-५०, पृ. २५) । ७. उत्सप्यति प्रथमसमयादारभ्य निरन्तरवृद्धिं नयति तैस्तैः पर्यायिभवानित्युत्सपिणी । (उप. प. वृ. वृ. १-१७) । ८. ताभ्यां वट्समयाभ्यामुपभोगादिभिरुत्सप्यशीला उत्सपिणी । (त. सुखो. वृ. ३, २७) । ९. उत्सप्यन्ति क्रमेण परिवर्द्धन्ते क्षुभा भावा अस्मापित्युत्सपिणी । (ज्योतिष्क. मलय. वृ. २-८३) । १०. सागरोपमार्णां दश कोटीकोटय एव दुष्यमदुष्यमाद्यरक्रमेणोत्सपिणी । (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १७६, पृ. ३४५) । ११. क्षुभा भावा विवर्द्धन्ते क्रमादस्मा प्रातःक्षणम् । हीयन्ते चाक्षुभा भावा भवद्व्युत्सपिणीति सा ॥ (लोकप्र. २६-४५) । १२. उत्सप्ययति वृद्धिं नयति भोगादीन् इत्येवशीला उत्सपिणी । (त. वृत्ति भूत. ३-२७) । १ जिस काल में जीवों की आयु, शरीर की ऊंचाई और बिभूति आदि की उत्तरोत्तर वृद्धि हो उसे उत्सपिणी कहते हैं । उत्संज्ञासंज्ञा—देखो उवसन्नासन्न । अनन्तानन्त-परमाणुसंघातपरिमाणुआविर्भूता उत्संज्ञासंज्ञकः । (त. वा. ३, ३८, ६, पृ. २०७, पं. २६-२७) । अनन्तानन्त परमाणुओं के समुदाय से एक उत्संज्ञासंज्ञा नामक माप होता है । उत्सूत्र—उत्सूत्रं किमस्याह—यदनुपदिष्टं तीर्थकरणघटैः, स्वच्छन्देन स्वाभिप्रायेण विकल्पितम् उत्प्रेक्षितम्, अतएव सिद्धान्तानुपाति, सिद्धान्तबहिर्भूतम् इत्यर्थः । (आच. ह. वृ. मल. हे. टि. पृ. ८४) । तीर्थक्षुर वा गणघटों से जिसका उपदेश नहीं दिया है ऐसे तत्त्व का अपने अभिप्राय से कल्पना करके कथन करने को उत्सूत्र कहते हैं, क्योंकि, इस प्रकार का व्याख्यान सिद्धान्त के बहिर्भूत है । उत्सृतोत्सृत कायोत्सर्ग—१. धर्मं शुक्लं च कुवेः कायह भागाहं ओ ठिधो संतो । एसो काउत्सगो उत्सिउत्सिधो होइ नायज्जो ॥ (आच. नि. १४७६) । २. धर्मं च शुक्लं च प्राक् प्रतिपादितस्वरूपे, ते एव द्विध्यायति ध्यायेत यः कश्चित् स्थितः सन् एष कायो-

त्सर्ग उत्सृतोत्सृतो भवति ज्ञातव्यः, यस्मादिह शरीर-मृत्युत्वं भावोऽपि धर्म-शुक्लध्यायिरवाहुत एव । (आच. नि. हरि. वृ. १४७६, पृ. ७७६) । देखो उत्पत्तीस्थित कायोत्सर्ग । उत्सर्ग—देखो अनुत्सर्ग । १. विज्ञानादिभिरनुत्सर्ग-स्यापि सतस्तत्कृतमदोऽहंकारतोत्सर्गः । (स. ति. ६-२६; त. वा. ६, २६, ५) । २. उत्सर्गो ज्ञानादिभिराश्रित्येऽभिमान आत्मनः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१०, पृ. १४५) । ज्ञानादिकी अधिकता के होने पर तद्विषयक अभिमान करने को उत्सर्ग कहते हैं । यह मान कथय का नामान्तर है । उत्संघाद्गुण—१. परिभाषाणिप्यण (१, १०२-६) होवि हु उद्विहेसुचिचंगुलयं ॥ (ति. प. १-१०७) । २. अट्ठेव य जबमज्झाणि अगुलं $\times \times \times$ । (जीवस. ६६) । ३. अष्टौ यवमज्झाणि एकमंगुलमुत्सेधाक्यम् । (त. वा. ३, ३८, ५) । ४. $\times \times$ यवैरट्ठमिरङ्गुलम् ॥ उत्सेधाद्गुलेमेतत् स्यादुत्सेधोऽनेन वेदिनाम् । अल्पावस्थितवस्तुनां प्रमाणं च प्रवृत्ते ॥ (ह. पु. ७, ४०-४१) । ५. परमाणु तसरेण रहरेण बालभाग-लिकका य । जप्प जवो मट्ठगुणो कमेण उत्सेहमंगुलयं । (संप्रहणी २४४) । ६. उत्सेधो देवादिशरीराणामुच्चत्वम्, तन्निर्णयार्थमङ्गुलमुत्सेधाद्गुलम् । उत्सेधः 'अर्णनाणं मुहम-परमाणुपुगलाण समुदयसमिहसमागमेणं एगे ववहार-परमाणु' इत्यादिक्रमेणोच्छ्रयो वृद्धिस्तस्माज्जात-मङ्गुलमुत्सेधाद्गुलम् । (संप्रहणी वे. वृ. २४४) । यवमज्झान्यप्यष्टावेकमुत्सेधाद्गुलम् । (संप्रहणी वे. वृ. २४५) । ७. सिंहाष्टकमिता यूका भवेयूकाभिरष्टभिः । यवमज्झं ततोऽष्टाभिस्तैः स्यादोत्सेधमङ्गुलम् । (लोकप्र. १-३३) । २ आठ यवमज्झों का एक उत्सेधाद्गुल होता है । उत्स्वेदिम—१. उत्स्वेदिम पिट्ठाह $\times \times \times$ ॥ (बृहत्क. ८४०) । २. उत् ऊर्ध्वं निर्गच्छता वाष्पेण यः स्वेदः स उत्स्वेदः, उत्स्वेदेन निवृत्तमुत्स्वेदिमम् । (बृहत्क. ओ. वृ. ८३६) ; उत्स्वेदिमं पिट्ठादि—पिष्टं सूक्ष्मतन्मुसादिबुर्णनिष्पन्नम्, तद्वि वसन्तान्तरित-मवःस्थितस्योष्णोदकस्य वाष्पेणोत्स्विद्यमानं पच्यते । तत्र यवार्धं तत् उत्स्वेदिमामम् । (बृहत्क. ओ. वृ. ८४०) ।

सुख बाबल आदि के वर्ण से उत्पन्न विष्ट आदि को उत्प्रेषित कहते हैं। कारण कि वह वस्त्र से आच्छादित होकर नीचे स्थित उज्ज्वल जल के भाग से पकता है।

उदकराजिसदृश श्लोच—उदकराजिसदृशो नाम—यथोदके दण्डशलाकादमुत्थादीनामन्यतमेन हेतुना राजिरूपत्वात् प्रवत्सादपामुत्पत्त्यनन्तरमेव संरोहति, एवं यथोक्तनिमित्तोत्पन्नो मय्य श्लोचो विदुबोऽग्रमस्तस्य प्रत्यवमशानोत्पत्त्यनन्तरमेव व्यपगच्छति स उदकराजिसदृशः। (त. भा. ८-१०)।

जिस प्रकार जल में लकड़ी या अंगुली आदि किसी भी निमित्त से उत्पन्न हुई देखा उत्पन्न होने के अनन्तर ही विलीन हो जाती है, उसी प्रकार किसी भी निमित्त से उत्पन्न हुआ प्रमादहीन विद्वान् का श्लोच भी अंगु उत्पन्न होने के अनन्तर ही शान्त हो जाता है, अत एव उसे उदकराजि सदृश (संज्वलन) श्लोच कहा जाता है।

उदधिकुमार—१. ऊर्ध्वकटिष्वधिकप्रतिरूपा कृष्णव्याममकरचिह्नाः उदधिकुमाराः। (त. भा. सिद्ध. बृ. ४-११)। २. उदधिकुमारा भूषणनिमुक्त-हृयवर-रूपचिह्नधारिणः। (जीवाजी. मलय. बृ. ३, १, ११७)। ३. उदधिकुमारा ऊर्ध्वकटिष्वधिकरूपा अवदातस्वेतवर्णाः। (संप्रहृणी. बृ. १७, पृ. १३)। ४. उदनि उदकानि धीयन्ते येषु ते उदधयः, उदधि-श्रीढायोगात् त्रिदशा अपि उदधयः, उदधयश्च ते कुमारश्च उदधिकुमाराः। (त. भूति भूत. ४-११)। १ ऊर्ध्व और कटिभाग में अतिशय रूपवान्, वर्ण से श्याम और मकर के चिह्न युक्त देव उदधिकुमार कहे जाते हैं।

उदय—१. द्रव्यादिनिमित्तवशात्कर्मणां फलप्राप्तिरुदयः। (स. सि. २-१; त. वा. २, १, ४)। २. द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मणः फलप्राप्तिसमयः। द्रव्यादिनिमित्तं प्रतीत्य कर्मणो विपक्ष्यमानस्य फलोपनिपात उदय इतीमाभास्यां लभते। (त. वा. २, १, ४)। ३. द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मपरिपाक उदयः। प्रागुपास्तस्य कर्मणः द्रव्यादिनिमित्तवशात् फलप्राप्तिः परिपाक उदय इति निर्वचीयते। (त. वा. ६, १४, १)। ३. उदयः उदीरणावलिगाततत्पुद्गलोद्भूत-सामर्थ्यता। (आब. नि. हरि. बृ. १०८, पृ. ७७)। ४. कर्मविपाकादिर्भाव उदयः। (त. भा. हरि. व

सिद्ध. बृ. २-१)। ५. जे कम्मस्संघा भोक्कदुक्कदु-णाविपभोगेण विणा द्विदिक्खयं पाविदुण भण्यप्पणो फलं देति, तेसि कम्मस्संघाणमुदयो ति सण्णा। (अब. पु. ६, पृ. २१३)। ६. उदयः फलकारित्वं द्रव्यादिप्रत्ययद्वयात्। (त. ह्यो. २, १, ४)। ७. द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मपरिपाक उदयः। (त. ह्यो. ६, १४)। ७. भोक्कदुणाए विणा पत्तोदयकम्मस्संघो कम्मोदयो णाम। × × × एत्थ कम्मोदयो उदयो ति गहिदो। (अब. १, पृ. १८८)। ८. कर्मणो यथाकासं फलोपजननसामर्थ्यपरिपाक उदयः। (सिद्धिनि. टो. ४-१०, पृ. २६८)। ९. तेषां च यथास्वस्थितिवद्धानां कर्मपुद्गलानां करणविशेषकृते स्वभावाविके वा स्थित्यपचये सत्पुद्गलसमयप्राप्तानां विपाकवेदनमुदयः। (चडशीति हरि. बृ. ११, पृ. १३१; कर्मस्त. गो. बृ. १, पृ. ६६)। १०. कर्मणां फलदातृत्वं द्रव्य-श्रेयादियोगतः। उदयः पाकज श्रेय × × × ॥ (पंचसं. अमिल. ३-४)। ११. तेषा-मेव यथास्वस्थितिवद्धानां कर्मपुद्गलानामपवर्तना-करणविशेषतः स्वभावतो बोधयसमयप्राप्तानां विपाकवेदनमुदयः। (शतक. मल. हेम. ३, पृ. ६)। १२. अष्टानां कर्मणां यथास्वमुदयप्राप्तानामात्मी-यात्मीयस्वरूपेणानुभवनमुदयः। (पंचसं. मलय. बृ. २-३, पृ. ४४)। १३. उदयः उदयावलिगाप्रवि-ष्टानां तत्पुद्गलानामुद्भूतसामर्थ्यता। (आब. नि. मलय. बृ. १०८, पृ. ११६)। १४. कर्मपुद्गला-नां यथास्थितिवद्धानामवाधाकालक्षयेणापवर्तनादि-करणविशेषतो वा उदयसमयप्राप्तानामनुभवनमुदयः। (कर्मप्र. मलय. बृ. १, पृ. २)। १५. इह कर्मपुद्ग-लानां यथास्वस्थितिवद्धानामुदयप्राप्तानां यद् विपा-केन अनुभवनेन वेदन स उदयः। (कर्मस्त. डे. ह्यो. बृ. १३, पृ. ८४)।

१ द्रव्यादि का निमित्त वाकर जो कर्म का फल प्राप्त होता है उसे उदय कहा जाता है।

उदयनिष्पन्न—उदयनिष्पन्नो णाम उदिणेण जेण भण्णो पिप्फादितो सो उदयनिष्पण्णो। (अनुयो. बृ. पु. ४२)।

कर्मके उदयसे जीव व अजीव में जो अवस्था प्राकृत होती है वह उदयनिष्पन्न कही जाती है। जैसे—नरकमति नामकर्म के उदय से होने वाली जीव की नारक अवस्था और श्रीदारिकशरीर नामकर्म के

उदय से उत्पन्न होने वाली औदारिक वर्णनाओं की औदारिकशरीररूप अवस्था ।

उदयबन्धोत्कृष्ट—१. उदयकालेऽनुभूयमानानां स्व-बन्धादुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म यासां ता उदयबन्धोत्कृष्टा-भिधानाः । (पंचसं. स्वो. बृ. ३-६२, पृ. १५१) । २. यासां प्रकृतीनां विपाकोदये सति बन्धादुत्कृष्टं स्थि-तिसत्कर्मवाप्यते ता उदयबन्धोत्कृष्टसंज्ञाः । (पंचसं. मलय. बृ. ३-६२, पृ. १५२; कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. १५) ।

१ उदयकाल में अनुभूयमान जिन कर्मप्रकृतियों का स्थितिसत्त्व बन्ध से उत्कृष्ट पाया जाता है उन्हें उदयबन्धोत्कृष्ट कहते हैं ।

उदयभाव—अट्टविहकम्मपोगला संतावत्तातो उदीरणावलियमतिक्रान्ता अपणो विपागेण उदया-वलियाए वट्टमाणा उदिन्नाधो त्ति उदयभावो भवन्ति । (अमुयो. बृ. पृ. ४२) ।

आठ प्रकार के कर्मपुद्गलों का सत्त्व अवस्था से उदीरणावली का अतिक्रमण कर अपने परिपाक से उदयावली में वर्तमान होते हुए उदय को प्राप्त होना, इसका नाम उदयभाव है ।

उदयवती—१. चरिमसमयंमि दलियं जासि अण्ण-त्थ संकमे ताभो । अणुदयवद्द इयराभो उदयवद्दं होति पण्णंभो ॥ (पंचसं. ३-६६) । २. इतराः या स्वोदयेन चरमसमये जीवोऽनुभवति ता उदय-वत्यः । (पंचसं. स्वो. बृ. ३-६६, पृ. १५३) ।

३. इतरास्तु प्रकृतय उदयवत्यो भवन्ति, यासां दलिकं चरमसमये स्वविपाकेन वेदयते । (पंचसं. मलय. बृ. ३-६६, पृ. १५३) । ४. यासां च दलिकं चरमसमये स्वविपाकेन वेदयते ता उदयवत्यः । (कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. १५) ।

२ जिन कर्म-प्रकृतियों के दलिक का स्थिति के अन्तिम समय में अपना कल देते हुए वेदन किया जाता है उन कर्मप्रकृतियों को उदयवती कहते हैं ।

उदयसंक्रमोत्कृष्ट—१. उदयेज्याभ्यः संक्रमेण उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म यासां ता उदयसंक्रमोत्कृष्टाः । (पंचसं. स्वो. बृ. ३-६२, पृ. १५१) । २. यासां पुन-विपाकोदये प्रवर्तमाने सति संक्रम उत्कृष्टं स्थिति-सत्कर्म लभ्यते, न बन्धवत्ता उदयसंक्रमोत्कृष्टाभि-धानाः । (पंचसं. मलय. बृ. ३-६२, पृ. १५२;

कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. १५) । ३. उदये सति संक्रमत उत्कृष्टा स्थितिर्यासां ता उदयसंक्रमोत्कृष्टाः । (पंचसं. मलय. बृ. ५-१४५, पृ. २८४) ।

२ विपाकोदय के होने पर जिन कर्मप्रकृतियों का संक्रम की अपेक्षा उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्म प्राप्त होता है, बन्ध की अपेक्षा नहीं; उन्हें उदयसंक्रमोत्कृष्ट कहते हैं ।

उदयस्थितिप्राप्तक—जं कम्मं उदए जत्थ वा तत्थ वा विस्सइ तमुदयद्विदिपत्तयं णाम । (कसायपा. बृ. पृ. २३६; अथ. पु. १०, पृ. ११४) ।

जो कर्मप्रवेशार्थ बंधन के अनन्तर जहाँ कहीं भी—जिस किसी भी स्थिति में होकर—उदय को प्राप्त होता है, उसे उदयस्थितिप्राप्तक कहते हैं ।

उदरक्किमिनिर्गम अन्तराय—× × × स्यादुदर-क्किमिनिर्गमः ॥ उभयद्वारतः कुक्षिकिमिनिर्गमने सति । (अन. व. ५, ५५-५६) ।

भोजन के समय ऊर्ध्व या अधोद्वार से पेट में से कुमि के निकलने पर उदरक्किमिनिर्गम नाम का अन्तराय होता है ।

उदराग्निप्रशमन—१. यथा भाण्डागारे समुत्थित-मनलमशुचिना शुचिना वा वारिणा शमयति गृही, तथा यतिरपि उदराग्निं प्रशमयतीति उदराग्नि-शमनमिति च निरूप्यते । (त. वा. ६, ६, १६, पृ. ५६७; त. श्वो. ६-६) । २. यथा भाण्डागारे समुत्थितमनलं शुचिनाऽशुचिना वा वारिणा प्रशम-यति गृही तथा यथासन्धेन यतिरप्युदराग्निं सरसेन विरसेन वाऽऽहारेण प्रशमयतीत्युदराग्निप्रशमनमिति च निरूप्यते । (वा. सा. पृ. ३६) । ३. भाण्डागार-वदुदरे प्रज्वलितोऽग्निः प्रश[धा]म्यते येन शुचिना अशुचिना वा जलेन सरसेन विरसेन वाशनेन तदु-दराग्निप्रशमनमिति प्रसिद्धम् । (अन. व. स्वो. टी. ६-४६) ।

१ जैसे भण्डार में लगी हुई अग्नि को गृहस्वामी पवित्र या अपवित्र किसी भी जल से बुझाने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार अज्ञातावेदनीय कर्म की उदीरणा से उठी हुई उदराग्नि को साधु भी सरस-नोरस आदि किसी भी प्रकार के आहार से शांत करता है, इसलिए उदराग्निप्रशमन यह उसका सार्थक नाम जानना चाहिये ।

उदात्तत्व—उदात्तत्वं उच्चैर्वृत्तिता । (सम्बन्ध. अमय. बृ. ३५, पृ. ६०; रास्य. बृ. पृ. २७) । उन्नत व्यवहार के साथ जो यथार्थ बचन का प्रयोग किया जाता है उसे उदात्तत्व कहा जाता है । यह सत्य बचन के ३५ अतिशायों में दूसरा है ।

उदान्ना वायु—रक्तो हृत्कण्ठतालु-भ्रूमध्य-मूर्ध्नि च संस्थितः । उदानो वस्यतां नेयो गत्यागतिनियोगतः ॥ (योगशा. ५-१८); रसादीनूर्ध्वं नयतीत्युदानः । योगशा. स्तो. विच. ५-१३) ।

रस आदि को ऊपर ले जाने वाली वायु को उदान वायु कहते हैं । यह वर्ष से साल होती हुई हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्यस्थ और शिर में स्थित रहती है ।

उदारत्व—१. अभिवेयार्थस्यानुच्छत्वं गुम्फगुण-विशेषो वा । (सम्बन्ध. अमय. बृ. ३५, पृ. ६०) । २. उदारत्वमतिशिष्टगुम्फगुणयुक्तता धनुष्छार्थप्रति-पादकता वा । (रास्य. बृ. पृ. २८) ।

शब्द के वाच्यभूत अर्थ की महानता अथवा शब्दसंघ-टनाकूप विशिष्ट गुण युक्तता का नाम उदारत्व है । यह ३५ सत्यबचनानिधियों में २२वां है ।

उदाहरण—१. उदाह्रियते प्राबल्येन गृह्यतेऽनेन-दाष्टान्तिकोऽर्थ इति उदाहरणम् । (ब्रह्मसं. वि. हरि. बृ. १-५२) । २. दृष्टान्तबचनमुदाहरणम् । (अभाषणी. २, १, १३) । ३. व्याप्तिपूर्वकदृष्टान्तबचनमुदाहरणम् । (न्या. बी. ३, पृ. ७८) । ३ व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्त के कहने को उदाहरण कहते हैं ।

उदीचीन—एवमुदीचीनां दिव्येतावन्मयाद्य पञ्चयो-जनमार्थं तदधिकमूनतरं वा गन्तव्यमित्येवममृतम् । (सूत्रक. सी. बृ. २, ७, ७६, पृ. १८२) । आका में उत्तर दिशा में पाँच योजन अथवा उससे अधिक या कम इतनी दूर जाऊँगा, इस प्रकार उत्तर दिशा में गमन का निपण करने को उदीचीन देशा-चकासिकत कहते हैं ।

उदीरणा—१. जे कम्मवसंधा महत्तेषु द्विदि-अणु-भागेषु अवद्विधा भोकद्विगुण फलदाइणो कीरति तेसि-मुदीरणा ति सण्णा, अपक्वपाचनस्य उदीरणाव्यपदे-शात् । (बच. पु. ६, पृ. २१५); अपक्वपाचनमुदी-रणा । आबलियाए बाहिरद्विदिमादि काबून् उवरि-माणं ठिदीणं बंधाबलियमदिकंतपवेसगामसंवेज्जलो-

गपडिमाणेण पलिवोवमस्स असंवेज्जदिभागपडि-भागेण वा भोकद्विगुण उदयाबलियाए देदि सा उदीरणा । (बच. पु. १५, पृ. ४३) । २. भोकद्विगु-वसेण पत्तोदयकम्मवसंधो अकम्मोदमो गाम । × × अकम्मोदमो उदीरणा गाम । (जमय. १, पृ. १८८) । ३. जं करणेणोक्कद्विगु उदए दिज्जइ उदीरणा एसा । (कर्मप्र. उदी. क. १; पंचसं. उदी. क. १, पृ. १०६) । ४. अनुभूयमाने कर्मणि प्रक्षिप्या-ऽनुदयप्राप्त प्रयोगेणानुभूयते यत्सा उदीरणा । (पंच-सं. स्तो. बृ. ५-१, पृ. १६१); यत्करणेनापकृष्य दीयते उदये उदीरणा । × × × यत्त्वं परमाप्त्वा-त्मकं करणेन स्ववीर्यात्मकेनापकृष्य, अनुदितस्थिति-भ्यः इत्यवगम्यते, दीयते प्रक्षिप्यते उदये उदयप्राप्त-स्थितौ एषा उदीरणोच्यते । (पंचसं. स्तो. बृ. उदी. १, पृ. १७५); उदयस्थितौ यत्प्रथमस्थितेः सका-शात् पतति सोदीरणा । (पंचसं. स्तो. बृ. उपजा. २०, पृ. १६२) । ५. अण्णत्थ ठियस्सुदये संपु[सु]-हणमुदीरणा हु अतिथत्तं । (गो. क. ४३६) । ६. समुदीर्यानुदीर्णानां स्वस्वीकृत्य स्थितिं बलात् । कर्मणामुदयाबल्यां प्रक्षेपणमुदीरणा । (पंचसं. अमि. ३-३) । ७. सा (उदीरणा) पुनः कर्मपुद्गलानां करणविशेषजनिते स्थित्यवस्थे सत्युदयाबलिकायां प्रवेशनमुदीरणा । (कर्मस्त. गो. बृ. १, पृ. ६६) । ८. उदीरणम् अनुपयप्राप्तस्य करणेनाकृत्योदये प्रक्षे-पणमिति । (स्वाभा. अमय. बृ. ४, १, २५१, पृ. १८४); अप्राप्तकालफलानां कर्मणामुदए प्रवेशन-मुदीरणा । (स्वाभा. अमय. बृ. ४, २, २६६, पृ. २१०) । ९. तेषामेव च कर्मपुद्गलानामाकालप्राप्ता-नां जीवसामर्थ्यविशेषादुदयाबलिकायां प्रवेशनमुदी-रणा । (अतक. जल. हेम. ३, पृ. ९; बडशीति मलय. बृ. १-२, पृ. १२२; कर्मस्त. डे. स्तो. बृ. १, पृ. ६७; बडशीति डे. स्तो. बृ. ११५) । १०. उदीरणाऽप्राप्त-कालस्य कर्मदलिकस्योदये प्रवेशनम् । (बडशीति हरि. बृ. ११, पृ. १३१) । ११. उदयाबलिकातो बहिर्वर्तिनीनां स्थितिनां दलिकं कषायिः सहितेना-सहितेन वा योगसंज्ञिकेन वीर्यविशेषेण समाकृत्योद-याबलिकायां प्रवेशनमुदीरणा । तथा चोक्तम्— उदयाबलियाबाहिरत्नविहीनो कसामसहियासहि-एणं जोगसन्नेणं दलियमोक्कद्विगु उदयाबलीयाए पवेसणमुदीरणा इति । (पंचसं. अमय. बृ. ५-९,

पृ. १६४); यत्परमात्म्यात्मकं दलिकं करणेन योग-
संज्ञिकेन वीर्यविशेषेण कषायसहितेन अशहितेन वा
उदयावलिकावर्धितनीम्यः स्थितिभ्योऽप्युक्त्य उच्ये
वीर्यते उदयावलिकायां प्रक्षिप्यते एषा उदीरणा ।
(पंचसं. मलय. बृ. उदी. क. १, पृ. १०६); इह
प्रथमस्थितौ वर्तमान उदीरणाप्रयोगेण यत्प्रथम-
स्थितेरेव दलिकं समाकृष्योदयसमये प्रक्षिपति सा
उदीरणा । (पंचसं. मलय. बृ. उपश. २०, पृ. १६३) । १२. कर्मपुद्गलानामकालप्राप्तानामुदया-
वलिकायां प्रवेशनमुदीरणा । × × × अनुदयप्राप्तं
सत्कर्मदलिकमुदीर्यत उदयावलिकायां प्रवेश्यते यया
सोदीरणा । (कर्मप्र. मलय. बृ. १-२, पृ. १७, १८) । १३. अन्तरकरणसत्कं च दलिकमुत्कीर्य
प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति । प्रथम-
स्थितौ च वर्तमान उदीरणाप्रयोगेण यत्प्रथमस्थिति-
गतं दलिकं समाकृष्योदये प्रक्षिपति सा उदी-
रणा । (शतक. वै. स्वो. बृ. ६८, पृ. १२८) । १४. उदयावलिकायां स्थितिस्थितद्रव्यस्यापकर्षणवशा-
दुदयावल्यां निक्षेपणमुदीरणा । (गो. क. जी. प्र. ४३६) ।

१ अधिक स्थिति च अनुभाग को लिये हुए जो कर्म
स्थित हैं उनको उस स्थिति च अनुभाग को हीन
करके कल देने के उन्मुख करना, इसका नाम उदी-
रणा है ।

उदीरणाकरण—देखो उदीरणा । अप्राप्तकाल-
कर्मपुद्गलानामुदयव्यवस्थापनमुदीरणाकरणम्, सा
चोदयविशेष एव । (पंचसं. स्वो. बृ. बं. क. १, पृ. १०६) ।

जिन कर्म पुद्गलों का उदयकाल प्राप्त नहीं हुआ है
उनको उदय में स्थापित करना, इसका नाम उदी-
रणाकरण है । यह एक उदय की ही विशेष
अवस्था है ।

उदीरणोदय—१. अयथाकालविपाक उदीरणोद-
यः । (त. वा. ६, ३६, ६) । २. जेसि कम्मसाण-
मुदयावलियम्मंतरे अंतरकरणेण अण्णंतमसंताणं
कम्मपरयाणूणं परिणामविशेषेणासंजेज्जलोगपडिमा-
णेणोदीरिदाणमणुद्वो तेसिमुदीरणोदयो ति एसो
एत्थ भावस्यो । (अवध. ७, पृ. ३५६) । ३. अय-
वसायप्रयोगेणोदयावलिकारहितानां स्थितानां बह-
सकृद्यस्थितौ प्रक्षिप्यानुभवति स उदीरणोदयो

भव्यते । (पंचसं. स्वो. बृ. ५-१०२, पृ. २६३) ।
४. यः पुनस्तस्मिन्नुदये प्रवर्तमाने सति प्रयोगतः
उदीरणाकरणरूपेण प्रयोगेण दलिकमाकृष्यानुभवति
स द्वितीय उदीरणोदयमिषाण उच्यते । (पंचसं.
मलय बृ. ५-१०२, पृ. २६३) ।

२ जिन कर्मपरमाणुओं का उदयावली के भीतर
सर्वथा अस्तित्व है उनकी अन्तरकरणरूप परिणाम-
विशेष के द्वारा अस्तित्वगत लोकप्रतिभाग से उदीरणा
को प्राप्त कराकर वेदन करना, यह उनका उदी-
रणोदय है ।

उदीर्ण—१. फलदातृत्वेन परिणतः कर्मपुद्गलसक-
न्धः उदीर्णः । (अव. पु. १२, पृ. ३०३) । २. उदी-
र्णम् उद्भूतशक्तिकमुदयावलिकाप्रविष्टमिति यावत् ।
(अमलं. मलय. बृ. ७६७) ।

१ फल देने रूप अवस्था में परिणत कर्म-पुद्गल-
स्कन्ध को उदीर्ण कहते हैं ।

उद्गमशुद्ध उपधिसंभोग—तत्र यत्साम्भोगिकस्ता-
[सां]म्भोगिकेण सममाधाकम्मदिभिः षोडशभि-
रुद्गमदोषैः शुद्धमुपधिसुत्पादयति एष उद्गमशुद्ध-
उपधिसंभोगः । (अव. भा. मलय. बृ. ५-५१, पृ. १२) ।

साम्भोगिकता—समान सामाचारी होने के कारण
सहभोजन-नामादि व्यवहार के योग्य साधु का—अता-
म्भोगिक के साथ आचार्यकं आदि सोलह दोषों से
रहित उपधि को जो उत्पन्न करना है, यह उद्गम-
शुद्ध-उपधिसंभोग कहलाता है ।

उद्दिष्टत्यागप्रतिमा—उद्दिष्टाहाराईण वज्जण इत्थ
होइ तप्पडिता । दसमासावहिसज्झाय-आणजोग-
प्पहाणत्स ॥ (आ. प्र. वि. १०-१६) ।

अनुकृता से स्वाध्याय च ध्यान में उद्यत आश्रम जो
उद्दिष्ट आहार आदि का परित्याग करता है, इसका
नाम उद्दिष्टत्यागप्रतिमा है । इसकी कालमर्यादा
इस भास है ।

उद्दिष्टाहारविरत—देखो उत्कृष्ट आश्रम । १. जो
श्रवकोडिविशुद्धं शिष्यावरणेण भुंजते भोज्यं ।
जायणरहिणं भोज्यं उद्दिष्टाहारविरतो सो ॥ (कालि-
के. ३६०) । २. उद्दिष्टविनिवृत्तः स्वोद्दिष्टपिण्डो-
पधि-आयन-असनादेविरतः सन्नेकसाटकधरो भिक्षा-
शनः पाणि-पात्रपुटेनोपविश्यभोजी रात्रिप्रतिमादितपः-
समुद्यत आतापनादिविरोधरहितो भवति । (आ. सा.

पु. १६) । ३. स्वनिमित्तं त्रिषा देव कारितोऽनुमतः कृतः । नाहारो ब्रह्मते पुंसां त्यक्तोऽहिष्टः स भव्यते । (ब्रुभा. सं. ८४३) । ४. न वक्ष्यते यो विजितेन्द्रियोऽशनं मनोवचःकायनियोगकल्पितम् । महान्तमुद्दिष्टनिवृत्तचेतसं वदन्ति तं प्रायुक्तभोजनोद्यतम् ॥ (धर्मप. अमृत. २०-६३) । ५. यो बन्धुराबन्धुर-सुखचित्तो गुह्यति भोज्यं नवकोटिशुद्धम् । उद्दिष्ट-वर्जो गुणिभिः स गीतो विभीशुकः संयुति-यातुचा-म्याः ॥ (अमृत. भा. ७-७७) ।

१ को आचक भिक्षाचरण से—भिक्षा के लिए आचक के घर जाता हुआ—नवकोटिशुद्ध अर्थात् मन, वचन व काय की शुद्धिपूर्वक कृत, कारित एवं अनुमोदना से रहित आहार को याचना के बिना ग्रहण करता है वह उद्दिष्टाहारविरत कहलाता है । उद्देशकाचार्य—प्रथमतः एव श्रुतमुद्दिष्टति यः स उद्देशकाचार्यः । (योगशा. स्वो. विव. ४-६०, पु. ३१४) ।

जो शास्त्रव्याख्यानादि के समय सर्वप्रथम श्रुत का निर्देश करे—भूमिका कथ में श्रुत का उद्देश प्रकट करे—उसे उद्देशकाचार्य कहते हैं ।

उद्धारपत्थ—१. तैरेव रोमच्छेदैः प्रत्येकमसंख्येय-वर्षकोटीसमयमात्रच्छिन्नस्तत्पूर्वमुद्धारपत्थम् । (स. सि. ३-३८; त. बा. ३, ३८, ७) । २. असंख्येयान्व-कोटीनां समयं रोमच्छिन्नम् । प्रत्येकं पूर्वं तत्स्या-पत्थमुद्धारसंज्ञकम् ॥ (ह. पु. ७-५०) । ३. तान्येव रोमच्छिन्नानि प्रत्येकं असंख्येयकोटिवर्षसमयमात्रगुणि-तानि शुद्धित्वा द्वितीया महासन्निर्स्तः पूर्यते । सा खनिः उद्धारपत्थम् । (त. बुति श्रुत. ३-३८) ।

व्यवहारपत्थ के जितने रोमच्छेद हैं उनमें से प्रत्येक रोमच्छेद को असंख्यात कोटि वर्षों के समयों से छिन्न करके उनसे भरे गये गड्ढे को उद्धारपत्थ कहते हैं ।

उद्धारपत्थकाल—१. बवहारोमराशि पत्तनकम-संखकोटिवत्साणं । समयसमं चेतुर्णं विदिए पत्तनम्भिरिदम्भि ॥ समयं पठि एकैकं बालम पेत्तिवम्भि सो पत्तो । रित्तो होदि स कानो उद्धार णाम पत्तं तु ॥ (ति. प. १, १२६-२७) । २. ततश्च तस्माद् व्यवहारपत्थाद् बालाग्रमेकं परिशुद्धं सूक्ष्मम् । अनेककोटपन्धविश्लिषितं तत्तस्यातिपूर्वं निचितं समन्तात् ॥ पूर्णं समाप्तान्धशते ततस्तु एकैको रोम

समुद्धरेष्व । अयं व जाते सन्तु रोमपुञ्ज उद्धार-पत्थस्य हि कालमाहुः ॥ (बराण. २७, २०-२१) । १. व्यवहारपत्थ की रोमराशि में से प्रत्येक को असंख्यात करोड़ वर्षों की समयसंख्या से लक्षित करके व उनसे बूझे गड्ढे को भरकर उसमें से एक एक समय में एक एक रोमच्छेद के निकालने पर जितने समय में वह गड्ढा खाली होता है उतने काल को उद्धारपत्थकाल कहते हैं ।

उद्धारपत्थोपम—१. तत्पथं जे से बवहारिए ते जहानामए पत्ते सिमा जोगणं धामामविश्लेभेणं, जोषणं तं तिरुणं सविसेसं परिक्षेवेण, ते णं पत्ते एगाहिम-नेभाहिम-नेभाहिम-जाव उक्कांसेणं सत्तरत्त-कडाणं संसट्ठे सनिचिते भरिए बालग्याकोडीणं ते णं बालग्या नो भग्गी बहेज्जा नो बाऊ हरेज्जा नो कुहेज्जा नोपविबिडांसिज्जा णो पुहत्ताए हव्वमाग-च्छेज्जा, तथो णं समए समए एगमेणं बालग्यं अव-हाय जावइएणं कालेण से पत्ते खीणे नीरए निल्लेवे णिट्टिए अवइ, से तं बवहारिए उद्धारपत्थोपमे । (अनुयो. १३८, पु. १८०) । २. ततः समये समये एकैकस्मिन् रोमच्छेदेष्वप्युपमाने यावता कालेन तद्विक्तं भवति तावान् काल उद्धारपत्थोप-माख्यः । (स. सि. ३-३८; त. बा. ३, ३८, ७) । ३. व्यवहारपत्थोपमे चैकैकं रोम असंख्यातवर्ष-कोटीसमयमात्रान् भागान् कृत्वा वर्षसतसमयैश्चैकैकं खण्डं प्रगुण्य तत्र बावन्मात्राः समयाः तावन्मात्रमुद्धार-पत्थोपमं भवति । (भूला. बु. १२-३६) । ४. तद-नन्तरं समये समये एकैकरोमखण्डं उद्धारपत्थगतं निष्काप्यते, यावत्कालेन सा महाखनिः रिक्ता जायते तावत्काल उद्धारपत्थोपमाह्वयः संसूच्यते । (त. बुति श्रुत. ३-३८) । ५. तत्र उद्धारो बाला-ग्राणां तत्तज्जानां वा अपोद्धरणमुच्यते, तद्विषयं तत्प्रधानं वा पत्थोपमम् उद्धारपत्थोपमम् । (अनुयो. हरि. वृ. पु. ८४; शतक. रे. स्वो. वृ. ८५; संग्रहणी रे. बु. ४) ।

१ पत्थ नाम कुण्डल (धाम्य रखने के लिए मिट्टी से निर्मित वात्र) का है । एक उत्सेव योजन प्रमाण बिस्तृत व ढाँचे गोले गड्ढे में मुष्णित क्षिर पर एक दिन, दो दिन, तीन दिन अथवा अधिक से अधिक सात दिन में उपने वाले बालाग्रों को इस प्रकार से उखाड़त भरे कि जिन्हें व अधिक खजा सके, न बाल

विचलित कर सके तथा बायु का प्रवेश न होने से जो न लड़-नाल सको, न विनष्ट हो सके और न दुर्गन्धित हो सके; इस प्रकार भरे गये उन बालाघों में से एक-एक समय में एक-एक बालाघ के निकालने पर जितने काल में उक्त गड्ढा उनसे रिक्त हो जाता है उतने काल को व्यावहारिक (उद्धारपत्य का दूसरा भेद) उद्धारपत्योपम कहा जाता है।

उद्धारसागरोपम—१. एसि पल्सान् कोडाकोटी हवेज्ज दसगुणिया । तं ववहारियस्स उद्धारसागरोव-मस्स एगस्स भवे परिमाण ॥ (अनुयो. गा. १०७, पृ. १८०) । २. तेषामुद्धारपत्थानां दशकोटीकोटय एकमुद्धारसागरोपमम् । (स. सि. ३-३८; स. बा. ३, ३८, ७) । ३. उद्धारपत्योपमानि च दशकोटी-कोटीमात्राणि गृहीत्वैकं उद्धारसागरोपमम् भवति । (मूला. वृ. १२-३६) । ४. उद्धारपत्थानां दशकोटी-कोटयः एकमुद्धारसागरोपमम् । (स. वृत्ति भूत. ३-३८) ।

२ वश कोड़ाकोड़ी उद्धारपत्थों का एक उद्धारसाव-रोपम होता है।

उद्भावन—१. प्रतिबन्धकाभावे प्रकाशवृत्तिता उद्भावनम् । (स. सि. ६-२५; स. श्लो. ६-२५) । २. प्रतिबन्धकाभावे प्रकाशितवृत्तितोद्भावनम् । प्रतिबन्धकस्य हेतोरभावे प्रकाशितवृत्तिता उद्भावन-मिति व्यपदेशमर्हति । (स. बा. ६, २५, ४) । प्रतिबन्धक कारण का अभाव होने पर प्रकाश में आना, इसका नाम उद्भावन है।

उद्भिन्न—१. पिहितं लंछित्य वा घोसह-विद-सक्करादि जं दब्धं । उन्मिण्णिऊण देयं उन्मिण्णं होवि शादब्धं । (मूला. ६-२२) २. इष्टकादिभिः मृत्पिण्डेन वृत्त्या कपाटेनोपलेन वा स्थगितमपनीय दीयते यत्तदुद्भिन्नम् । (भा. भा. विजयो. ब मूला. वृ. २३) । ३. गोमयाद्युपलितं भाजनमुद्भिन्नं ददाति तदुद्भिन्नम् । (भाषा. शी. वृ. २, १, २६६, पृ. ३१७) । ४. विमुद्रादिकमुद्भिन्नम् $\times \times \times$ । (भाषा. सा. ८-३३) । ५. कुतुपादित्यस्य घृतादेदि-नार्थं यत् मृत्तिकाद्यपनयनं तदुद्भिन्नम् । (योगशा. स्तो. विव. १-३८; धर्मसं. नाम. स्तो. वृ. ३-२२, पृ. ४०) । ६. पिहितं लाञ्छितं वाज्य-गुडाद्युद्घाटय दीयते । यत्तदुद्भिन्नम् $\times \times \times$ । (अन. ब. ५, १७) । ७. उद्भिन्नं यत्कुतुपादिमुखं स्थगितमप्यु-

द्भिन्नं ददाति । (अथ. भा. मलय. वृ. ३, पृ. ३५) । ८. यन्मुद्रितकुतुपादिमुखं यतिहेतोस्समुद्रय घृतादि दत्ते तदुद्भिन्नम् । (सु. सु. वद. स्तो. वृ. २०, पृ. ४६) । ९. विमुद्रादिकं यदन्नादिकं भवति तदुद्भि-न्नम्, उद्घाटितं न भुज्यत इत्यर्थः । (भा. प्रा. टी. ६६) ।

१ डकी हुई अथवा चिह्नित (नाम-विन्वावित्ते मुद्रित) घोषध, धी और शक्कर आदि को उधाड़ कर देना, यह उद्भिन्न नाम का उद्गम बोध है। ५ कुतुप (अथवा का पात्रविशेष) में स्थित धी आदि को देने के लिए मिट्टी आदि को जो ढूर किया जाता है, इसे उद्भिन्न बोध कहा जाता है।

उद्भवेदिसं—मूमि-काष्ठ-पाषाणादिकं भित्वा ऊर्ध्व-निःसरणम् उद्भेदः, उद्भेदो विद्यते येषां ते उद्भेदिमाः । (स. वृत्ति भूत. २-१४) ।

पृथिवी, काष्ठ और पत्थर आदि को भेदकर उत्पन्न होने वाले जीवों को उद्भेदिस कहते हैं।

उद्यवन—१. उत्कृष्टं यवनमुद्यवनम् । अस्तकृद-दर्शनादिपरिणतिरुद्यवनम् । अ. भा. विजयो. टी. २) । २. उज्जवनं उत्कृष्टं यवनं मिश्रणमस्तकृत्परि-णतिः । (अ. भा. मूला. टी. २) ।

निरन्तर दर्शन, ज्ञान व चारित्र्यादि रूप परिणति करने को उद्यवन या उद्यमन कहते हैं।

उद्यान—१. चम्पकवनाद्युपशोभितमुद्यानम् । (अनु-यो. हरि. वृ. पृ. १७) । २. पुष्पादिसद्वृक्षसंकुल-मुत्सवादी बहुजनोपभोग्यमुद्यानम् । (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १४२, पृ. २५८) ।

२ पुष्प वाले कुलों से व्याप्त एवं उत्सवादि के समय सर्वसाधारण जनों के द्वारा उपभोग्य उपवन को उद्यान कहते हैं।

उद्योत—१. उद्योतश्चन्द्र-मणि-खद्योतादिप्रभवः प्रकाशः । (स. सि. ५-२४; स. सुखबो. वृ. ५, २४) । २. उद्योतश्चन्द्र-मणि-खद्योतादिविषयः । चन्द्र-मणि-खद्योतादीनां प्रकाशः उद्योत उद्यते । (स. बा. ५, २४, १६) । ३. उद्योतोऽपि आह्लापादिहेतुत्वात् वृष्टिवत्, च-शब्दात् वृष्टिदोषोद्योताविरोधादिपरि-णामपरिग्रहः । (स. भा. हरि. वृ. ५-२४) । ४. उद्योतश्च पुद्गलात्मकः चन्द्रिकादिराह्लादकत्वाज्ज-लवत्, प्रकाशकत्वादग्निवत्, तथाऽनुष्णाद्योतत्वात् उद्योतः पथरागोपलादीनाम् । (स. भा. सिद्ध. वृ.

५-२४) । ५. ज्योतिरिङ्गण-रत्न-विजुज्जातः प्रकाशः उद्योत उच्यते । (त. बृत्ति भूत. ५-२४) ।

१ चन्द्र, मणि व लद्योत (जुगनु) आदि से होने वाले प्रकाश को उद्योत कहते हैं ।

उद्योतनाम—१. यन्निमित्तमुद्योतन तदुद्योतनाम ।

(स. सि. ८-११; त. भा. ८, ११, १६; त. श्लो. ८-११) । २. प्रकाशसामर्थ्यजनकमुद्योतनाम । (त. भा. ८-१२) । ३. उद्योतनाम यदुदयादुद्योतवान् भवति । (भा. प्र. टी. २२; भाव. नि. हरि. बृ. १२२, पृ. ८४) । ४. उद्योतनसुद्योतः । जस्स कम्म-स्स उदएण जीवसरीरे उज्जोधो उपपज्जति तं कम्मं उज्जोवणाम । (अ. च. पु. ६, पु. ६०; पु. १३, पु. ३६५) । ५. शशि-तारक-मणि-जल-काष्ठादिविमल-त्वप्रकर्षं यस्तदुद्योतनाम । (पंचसं. स्वो. बृ. ३-६, पृ. ११८) । ६. उद्योतननिमित्तमुद्योतनाम, तच्चन्द्र-लद्योतादिव स्वफलाभिव्यक्तं वर्तते । (अ. भा. विजयो. टी. २०६५) । ७. जस्तुदएण जीवो अणु-सिणदेहेण कुण्ड उज्जोयं । तं उज्जोयं नामं जाणसु लज्जोयमार्हं ॥ (कर्मचि. ग. १२७, पृ. ५२) । ८. यदुदयाज्जन्तुशरीरमनुष्णप्रकाशात्मकमुद्योत प्रकरोति । यथा—यति-देवोत्तरवैक्रिय-चन्द्र-ग्रह-तारारलीषधि-मणि-प्रभृतयस्तदुद्योतनाम । (कर्मस्त. गो. बृ. १०, पृ. ८८) । ९. यतोऽणुज्जोद्योतवच्छरीरो भवति तदुद्योतनाम । (समवा. अमय. बृ. ४२, पृ. ६४) । १०. उद्योतनमुद्योतः, यस्य कर्मस्कन्धस्यो-दयाज्जीवशरीर उद्योत उत्पद्यते तदुद्योतनाम । (मूला. बृ. १२-१६६) । ११. यदुदयाज्जन्तुशरी-राप्यनुष्णप्रकाशरूपमुद्योतं कुर्वन्ति । यथा—यति-देवोत्तरवैक्रिय-चन्द्र-नक्षत्र-ताराविमान-रलीषधयस्त-दुद्योतनाम । (शतक. मल. हेम. बृ. ३७-३८, पृ. ५१; प्रज्ञाप. मलय. बृ. २३-२६३, पृ. ४७४; पंचसं. मलय. बृ. ३-७, पृ. ११५; षष्ठ कर्म. मलय. बृ. ६, पृ. १३६; प्रव. सारो. बृ. १२६४) । १२. उद्योतनाम यदुदये जन्तुशरीरमनुष्णप्रकाशा-त्मकमुद्योतं करोति । यथा—यति-देवोत्तर-वैक्रिय-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र-ताराविमान-मणि-रलीषधिप्रभृतयः । (चर्मसं. मलय. बृ. ६१६) । १३. अणुसिणपयासरू-वं विषयमुज्जोय ए इहुज्जोया । इह-देवोत्तरविक्रिय-जोइस-लज्जोवमाइव ॥ (कर्मचि. वे. ४५); × × अयमर्थः—यथा यति-देवोत्तरवैक्रिय-चन्द्र-

ग्रहादिज्योतिष्काः लद्योता रलीषधिप्रभृतयश्चानुष्ण-प्रकाशात्मकमुद्योतमातन्वन्ति तत् उद्योतनामेत्यर्थः ।

(कर्मचि. वे. स्वो. बृ. ४५) । १४. उद्योतकर्मादया-ज्जन्ममण्डलानाम् अनुष्णप्रकाशो हि जने उद्योत इति व्यवह्रियते । (जम्बूद्वी. शा. बृ. ७-१२६) । १५. यदुदयेन चन्द्र-ज्योतिरिङ्गणादिवत् उद्योतो भवति तदुद्योतनाम । (त. बृत्ति भूत. ८-११) ।

१ जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर से उद्योत (प्रकाश) होता है उसे उद्योतनामकर्म कहते हैं । उद्भूतनं—१. उद्भूतनं वा स्वप्रकृतावेव स्थितेः दीर्घो-करणम् । (पंचसं. स्वो. बृ. संकम. ३५, पृ. १५४) । २. उद्भूतनं स्थिति-रत्न-वृद्धधापादनम् । (विशेषा. को. बृ. ३०१५, पृ. ७२५) । ३. उद्भूतनं अस्मा-दन्यत्रोत्पत्तिः । (मूला. बृ. १२-३) । ४. उद्भूतं जलादिप्लुतमसूरादिपिष्ठादिना देहस्येतस्ततो मर्द-नम् । (अ. भा. मूला. टी. ६३) ।

१ स्थिति व अनुभाग को बृद्धि करने को उद्भूतनं वा उद्भूतना कहते हैं । ३ एक गति से निकल कर दूसरी गति में जीव के जाने को उद्भूतनं कहा जाता है । ४ तेल घोर जलादि से मिश्रित मसूर आदि के चूर्ण से शरीर के मर्दन करने को उद्भूतनं कहते हैं ।

उद्भूतनाकरण—देखो उद्भूतनं । १. उद्भूतना ठीक उदयावसियाइवाहिरिईण । (कर्मप्र. उद्भ. १, पृ. १४०) । २. तस्मिन्नेवा एव उद्भूतनीवृत्तातो ठिति-अणुभागार्णं वृद्धावर्णं उद्भूतना, हस्तीकरणमोवृत्ता-करणं । (कर्मप्र. बृ. १-२) । ३. स्थित्यनुभागयो-र्वृहत्करणमुद्भूतना × × × उद्भूतये प्राक्स्थेन प्रभूतीक्षिप्ये स्थित्यादि यया जीववीर्यविलेखपरिणत्या सोद्भूतना । (कर्मप्र. मलय. बृ. १-२, पृ. १६) । ४. उदयावलिबज्रभाणं ठिईण उद्भूतना उ ठितिधि-सया । (पंचसं. उद्भ. १, पृ. १७१) ।

१ उदयावलि से बाह्य स्थिति घोर अणुभाग के वृद्धिगत करने को उद्भूतनाकरण कहते हैं । उद्भूतनासंक्षम—स्तोकस्य रसस्य प्रभूतीकरणमुद्भू-तनासंक्षमः । (पंचसं. बृ. संकम. ५२, पृ. ५७) ।

कर्म के बोधे अनुभाग के अधिक करने को उद्भूतना-संक्षम कहते हैं ।

द्वेष—१. इष्टवियोगेषु विफलभाव एवोद्वेगः । (नि. सा. बृ. १-६) । २. उद्देशः स्थानस्थित्यैव उद्दिशता । (चोदशक बृ. १४-३) ।

१ उद्भूतनासंक्षम—स्तोकस्य रसस्य प्रभूतीकरणमुद्भू-तनासंक्षमः । (पंचसं. बृ. संकम. ५२, पृ. ५७) ।

कर्म के बोधे अनुभाग के अधिक करने को उद्भूतना-संक्षम कहते हैं ।

द्वेष—१. इष्टवियोगेषु विफलभाव एवोद्वेगः । (नि. सा. बृ. १-६) । २. उद्देशः स्थानस्थित्यैव उद्दिशता । (चोदशक बृ. १४-३) ।

१ उदयावलिबज्रभाणं ठिईण उद्भूतना उ ठितिधि-सया । (पंचसं. उद्भ. १, पृ. १७१) ।

१ उदयावलि से बाह्य स्थिति घोर अणुभाग के वृद्धिगत करने को उद्भूतनाकरण कहते हैं ।

उद्भूतनासंक्षम—स्तोकस्य रसस्य प्रभूतीकरणमुद्भू-तनासंक्षमः । (पंचसं. बृ. संकम. ५२, पृ. ५७) ।

कर्म के बोधे अनुभाग के अधिक करने को उद्भूतना-संक्षम कहते हैं ।

द्वेष—१. इष्टवियोगेषु विफलभाव एवोद्वेगः । (नि. सा. बृ. १-६) । २. उद्देशः स्थानस्थित्यैव उद्दिशता । (चोदशक बृ. १४-३) ।

१ उदयावलिबज्रभाणं ठिईण उद्भूतना उ ठितिधि-सया । (पंचसं. उद्भ. १, पृ. १७१) ।

१ उदयावलि से बाह्य स्थिति घोर अणुभाग के वृद्धिगत करने को उद्भूतनाकरण कहते हैं ।

उद्भूतनासंक्षम—स्तोकस्य रसस्य प्रभूतीकरणमुद्भू-तनासंक्षमः । (पंचसं. बृ. संकम. ५२, पृ. ५७) ।

कर्म के बोधे अनुभाग के अधिक करने को उद्भूतना-संक्षम कहते हैं ।

द्वेष—१. इष्टवियोगेषु विफलभाव एवोद्वेगः । (नि. सा. बृ. १-६) । २. उद्देशः स्थानस्थित्यैव उद्दिशता । (चोदशक बृ. १४-३) ।

१ इष्टविधो होने पर विकलता के होने को उडेलन कहते हैं ।

उडेलनसंक्रम—१. उडेलनसंक्रमो नाम करण-परिणामेहि विना रज्जुडेलनकमेण कम्मपदेसाणं परपयडिसरूपेण संछोहणा । (अवध. — कसावपा. पृ. ३६७, टि. ६) । २. करणपरिणामेन विना कर्मपर-माणूनां परप्रकृतिरूपेण निक्षेपणमुडेलनसंक्रमणम् । (गो. क. जी. प्र. टी. ४१३) ।

अथःकरणवि परिणामों के बिना रस्ती के उकेलने के समान कर्मपरमाणुओं के परप्रकृतिरूप से निक्षेपण को उडेलनसंक्रम कहते हैं ।

उडेलिलम — गधिम-वाइमादिद्वान्णमुडेल्लणेण जावदव्वमुडेल्लिमं णाम । (अव. पु. ६, पृ. २७३) । गुंधी गई (जैसे नाला धारा) और बुनी गई वस्तुओं के धलन करने (उकेलने) से जो उनकी अथवा प्राकृत होती है उसका नाम उडेलिलम है ।

उम्मग्गा नदी—णियजलपवाहपडिदं दव्वं गरुवं पि णेदि उवरिम्मि । अम्हा तम्हा भण्णइ उम्मग्गा वाहिणी एसा ॥ (सि. प. ४-२३८; वि. सा. ५६४) ।

जो नदी अपने जलप्रवाह में गिरे हुए भारी से भारी द्रव्य को भी ऊपर से धाती है उसका नाम उम्मग्गा है ।

उम्मत्त—१. उम्मत्तो भूतादिपृहीतः । (बु. गु. वद. स्को. बु. २२, पृ. ५२) । २. उम्मत्तो भूत-वातादि-दोषेण वैकल्पमाप्तः । (आ. वि. १६, पृ. ७४) । भूत-भेतादि से पृहीत (पीड़ित) पुण्य को उम्मत्त कहते हैं । वह दोषा के योग्य नहीं होता ।

उम्मत्त दोष—× × × पूर्णनं मदिरातवत् । (अन. व. ८-११६) ।

अथ पीकर आन्तर्बिस हुए मनुष्य के समान आन्ति को प्राप्त होना, यह कायोत्सर्ग सम्बन्धी उम्मत्त नाम का दोष है ।

उम्मान—१. से किं तं उम्माने ? जं जं उम्मिणि-ज्जइ । तं जहा—अद्वकस्सो करिस्सो पलं अद्वपलं अद्वतुला तुला अद्वभारो भारो । दो अद्वकस्सो करिस्सो, दो करिस्सा अद्वपलं, दो अद्वपलाइं पलं, पंचपलसइया तुला, दस तुलाओ अद्वभारो, बीस तुलाओ भारो । (अनुयो. सु. १३२, पृ. १५३) ।

२. कुष्ठ-तगरादिभाण्डं येनोत्तिष्ठप्य भीयते तदुम्मा-

नम् । (त. बा. ३, ३८, ३) । ३. उम्मीयतेऽनेनो-न्मीयत इति बोम्मानं तुला-कर्षादिसूत्रसिद्धम् । (अनु-यो. हरि. बु. पु. ७६) । ४. उम्मीयते तदित्युम्मा-नम्, उम्मीयतेऽनेनेति वा उम्मानमित्यादि । (अनुयो. मत. हेम. बु. १३२, पृ. १५४) ।

२ जिसके द्वारा ऊपर उठाकर कुछ (धोषविशेष) ब तगर धादि लीते जाते हैं, ऐसी तराजू धादि को उम्मान कहा जाता है ।

उम्माग्वेशक (उम्मग्गवेसक)—णाणाइ प्रहसितो तविवरीयं तु उवदिसइ मग्गं । उम्मग्गवेसको एस मायघाहिओ परेसि व ॥ (बृहत्. १३२२) ।

जो परमार्थभूत ज्ञानादि को हसित न करता हुआ उन (ज्ञानादि) से बिपरीत मार्ग का उपदेश करता है उसे उम्माग्वेशक कहते हैं ।

उन्मिष्वोष—१. पुठवी भाऊ य तथा हरिवा बीया तसा य सज्जीवा । पंचेहि तेहि मिसं आहारं होदि उन्मिस्सं ॥ (मूला. ६-५३) । २. स्वादरः पृथिव्यादिभिः, तसिः पिपीलिका-मत्स्युणादिभिः सहितोन्मिष्वः । (अ. प्रा. विजयो. टी. २३०, पृ. ४४४) ।

३. उन्मिष्वोऽप्रासुकेन द्रव्येण पृथिव्यादिसंक्षिप्तं मिश्र उन्मिष्व इत्युच्यते, तं यथादत्ते उन्मिष्वनामा-शनदोषः । (मूला. बु. ६-४३) । ४. देयद्रव्यं लण्डादि संक्षिप्तं धान्यकणादिना मिश्रं दत्त उन्मिष्वम् । (योगशा. स्को. विव. १-३८; वमंस. मान. स्को. बु. ३-२२, पृ. ४२) ।

१ सजीव पुष्पिणी, जल, हरितकाम, जीव और जल इन पांच से मिले हुए आहार को उन्मिष्व दोष (असनदोष) से दूषित कहा जाता है ।

उपकरण—१. येन निवृत्तेरुपकारः क्रियते तदुप-करणम् । (स. सि. २-१७; स. स्को. २-१७) ।

२. विषयग्रहणसमर्थं उपकरणं द्विदयंतरं तं पि । जं नेह तदुपचाए गिण्हइ निव्वित्तिभावे वि ॥ (विशेषा. ३५६३) । ३. उपकरणं बाह्यमन्यतरं च निर्वर्तितस्यानुपघातानुग्रहाम्यामुपकारीति । (स. भा. २-१७) । ४. उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम् । येन निवृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणम् । (त. बा. २, १७, ५; अव. पु. १, पृ. २३६; मूला. बु. १२, १५६) । ५. निर्वर्तितस्य निष्पादितस्य स्वावयववि-

भागेन, निवृत्तीन्द्रियस्येति गम्यते, अनुपघातानुग्रहा-भ्यामुपकारीति यदनुपहृत्या उपग्रहेण चोपकरोति

तदुपकरणेन्द्रियमिति । (त. भा. हरि. बृ. २-१७) ।
 ६. निर्वृत्तौ सत्यां कृपाणस्यानीयायामुपकरणेन्द्रिय-
 मवश्यमपेक्षितम्यम् । तच्च स्वविषयग्रहणशक्तियुक्तं
 सङ्गस्येव धारा छेदनसमर्था तच्छक्तिरूपमिन्द्रिया-
 न्तरं निर्वृत्तौ सत्यपि शक्त्युपघातविषयं न गृह्णाति
 तस्मान्निर्वृत्तेः श्रवणादिसंज्ञिके इन्द्रिये तद्भावा-
 द्वात्मनोऽनुपघातानुग्रहाम्यां यदुपकारि तदुपकरणे-
 न्द्रिय भवति । $\times \times \times$ एतदेव स्फुटमिति—निर्वृत्ति-
 तस्य निष्पादितस्य स्वावयवविभागेन यदनुग्रहत्वा
 अनुग्रहेण शोपकरोति ग्रहणमात्मनः स्वच्छतरपुद्गल-
 जालनिर्मापितं तदुपकरणेन्द्रियमध्यवस्यन्ति विद्वांसः ।
 (त. भा. सिद्ध. बृ. २-१७) । ७. उपक्रियतेऽनु-
 गृह्यते ज्ञानसाधनमिन्द्रियमनेत्युपकरणमक्षिप-
 शुक्त-कृष्णतारकादिकम् । (भ. भा. विजयो. टी. ११५) । ८. तस्या एव निर्वृत्तेर्द्विरूपायाः येनोप-
 कारः क्रियते तदुपकरणम् । (आचार. शी. बृ. १, १, ६४, पृ. ६४) । ९. उपकरणं नाम सङ्ग-
 स्थानीयाया बाह्यनिर्वृत्तौ सङ्गधारास्थानीया
 स्वच्छतरपुद्गलसमूहात्मिकाऽभ्यन्तरा निर्वृत्ति-
 स्तस्याः शक्तिविशेषः । (जीवाजी. मलय. बृ. १, १३, पृ. १६) । १०. उपकरणं बाह्यमाभ्यन्तरं च
 निर्वृत्तिः, तस्यानुपघातानुग्रहान्यामुपकरोति । (ज्ञान-
 सार बशी. बृ. ७, पृ. २५) ।
 १ जिसके द्वारा निर्वृत्ति इन्द्रिय का उपकार किया
 जाता है उसे उपकरण इन्द्रिय कहते हैं ।
 उपकरणबकुश—१. उपकरणबकुशो बहुविशेष-
 युक्तोपकरणाकांक्षी । (त. सि. ६-४७; त. सुलबी.
 बृ. ६-४७) । २. उपकरणाभिष्वक्तचित्तो विविध-
 विचित्रमहाधनोपकरणपरिग्रहयुक्तो बहुविशेषोपकर-
 णाकांक्षायुक्तो नित्यं तत्प्रतिसंस्कारसेवी भिक्षुव-
 करणबकुशो भवति । (त. भा. ६-४६) । ३. उप-
 करणाभिष्वक्तचित्तो विविधविचित्रपरिग्रहयुक्तः बहु-
 विशेषयुक्तोपकरणाकांक्षी तत्संस्कार-प्रतीकारसेवी
 भिक्षुवकरणबकुशो भवति । (त. भा. ६, ४७, ४;
 भा. सा. पृ. ४६) । ४. उपकरणबकुशस्तु भ्रूकाल एव
 प्रक्षालितचोलपटुकान्तरकल्पादिशोकावासःप्रियः पा-
 न्द-वण्डकाद्यपि तैलपातया(त्र्या) उज्ज्वलीकृत्य
 विभूषार्थमनुवर्तमानो विभति ऋद्धीः प्रभूतवस्त्र-
 पात्रादिकास्ताः इच्छन्ति कामयन्ते तत्कामाः, यशः
 क्षातिगुणवन्तो विशिष्टाः साधवः इत्येवविधः प्रवादः,

तच्च यशः कामयन्त इति ऋद्धि-यशस्वकामाः । (त.
 भा. सिद्ध. बृ. ६-४८) । ५. भ्रूकाल एव प्रक्षालित-
 चोलपटुकान्तरकल्पादिशोकावासःप्रियः पान्द-वण्ड-
 काद्यपि विभूषार्थं तैलपातयोज्ज्वलीकृत्य धारयन्तु-
 पकरणबकुशः । (प्रब. सारो. बृ. ७२४; धर्मसं.
 मान. स्तो. बृ. ३-५६, पृ. १५२) । ६. नानावि-
 शोपकरणसंस्कार-प्रतीकाराकांक्षी उपकरणबकुश
 उच्यते । (त. वृत्ति स्तु. ६-४७) ।

३ जो भिक्षु उपकरणों में मग्न होता हुआ अनेक
 प्रकार के विचित्र परिग्रह से युक्त होता है तथा बहुत
 विशेष योग्य उपकरणों का अभिलाषी होकर उनके
 संस्कार की अपेक्षा करता है उसे उपकरणबकुश
 कहते हैं । ४ उपकरण बकुश वे साधु कहे जाते हैं
 जो असमय में चोलपटु (कटिवस्त्र) धारि को धोते
 हैं, उक्तवस्त्र (साध्वी का वस्त्रविशेष) में अनुराग
 रखते हैं । वण्ड व पात्र धारि स्वच्छ रख कर सजा-
 वट की अपेक्षा करते हैं, तथा प्रचुर वस्त्र-पात्रादि
 की इच्छा करते हुए कीर्ति व प्रसिद्धि को चाहते हैं ।
 उपकरणसंयम — उपकरणसंयम इत्यजीवकाय-
 संयमः । अजीवकायश्च पुस्तकादिः, तत्र यदा ग्रहण-
 धारणशक्तिसम्पन्नाः शोभन् पुरुषाः दीर्घायुषश्च
 तदा नासीत् प्रयोजनं पुस्तकैः, दुःखमानुषावात् तु
 परिहीनैर्ग्रहण-धारणादिभिरस्ति निर्मुक्त्यादिपुस्तक-
 ग्रहणानुज्ञेत्येवं यथाकालमपेक्षयासंयमः संयमो वा
 भवति । (त. भा. सिद्ध. बृ. ६-६) ।

उपकरणसंयमं से अभिप्राय अजीवकाय पुस्तक धारि-
 विषयक संयम का है । जब संयत पुरुष दीर्घायु
 होकर ग्रहण-धारण शक्ति से सम्पन्न होते थे तब
 पुस्तक धारि से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं रहता था ।
 किन्तु दुःखका काल के प्रभाव से यदि वे ग्रहण-
 धारण शक्ति से हीन होते हैं तो ऐसे संयतों को
 पुस्तक धारि के ग्रहण की अनुमति है । इस प्रकार
 समयानुसार अपेक्षाकृत संयम-असंयम होता है ।
 उपकरणसंयोजन(ना)—१. उपकरणानां पिच्छा-
 दीनां अन्योऽन्येन संयोजना क्षीतस्पर्शस्य पुस्तकस्य
 कमण्डलादेर्वा धातवादितत्तेन पिच्छेन प्रमाजंनम्
 इत्यादिकम् । (भ. भा. विजयो. टी. ८१५) ।
 २. क्षीतस्य पुस्तकादेरातपातितत्तेन पिच्छादिना
 प्रमाजंनं प्रच्छादनादिकरणमुपकरणसंयोजनम् । (अन-
 व. स्तो. टी. ४-२८) ।

१ शीतल पुस्तकादि का सूर्य-सन्तप्त पिच्छी भावि से प्रमार्जन करने को उपकरणसंयोजन कहते हैं। उपकरणेन्द्रिय—देशो उपकरण। १. उपकरणेन्द्रियं विषयग्रहणे समर्थम्, छेद्यच्छेदेन सद्गत्येव धारा, यस्मिन्नुपहृते निर्वृत्तिसद्भावेऽपि विषयं न दृष्ट्वातीति। (ललितवि. पं. पृ. ३६)। २. तच्छोषणकरणेन्द्रियं कवचमुपपातिमुक्तकपुष्पक्षुरप्रनानाकृतिसंस्थितं श्रोत्र-घ्राण-रसन-स्पर्शनलक्षणं शब्द-गन्ध-रस-स्पर्शपरिणतद्रव्यसंघातो वा। (कर्मवि. वे. स्तो. वृ. पा. ४, पृ. ११)।

१ निवृत्ति का लक्ष्य होने पर भी जिसके कुण्ठित या दूषित होने पर इन्द्रिय ग्रहण विषय को ग्रहण न कर सके उसे उपकरणेन्द्रिय कहते हैं। जिस प्रकार तलवार या फरसा भादि की चार यदि मोथरी नहीं है, तो वह काठडादि के बिदारण में समर्थ रहती है, इसी प्रकार यदि उपकरण इन्द्रिय कुण्ठित नहीं है तो वह नियत विषय के ग्रहण में समर्थ रहती है।

उपकारी (मंत्री)—उपकर्तुं शीलमस्येत्युपकारी, उपकारं विवक्षितपुण्यसम्बन्धितमाश्रित्य या मंत्री लोके प्रसिद्धा सा प्रयमा। (बोद्धशक वृ. १३-६, पृ. ८८)।

किसी पुरुषविशेष से सम्बद्ध उपकारविशेष की अपेक्षा जो मित्रता का सम्बन्ध स्थापित होता है उसे उपकारी मंत्री कहते हैं।

उपक्रम—१. उपक्रमोऽपवर्तनमित्युक्तम्। (त. भा. २, ५२)। २. मत्थम्सोवक्कमण उवक्कमो नेण तम्मि व तन्नो वा। सत्यसमीचीकरणं ध्यानयण नासवेसम्मि ॥ (विशेषा. ६१४)। ३. तत्र शास्त्रस्य उपकरणम्, उपक्रम्यतेऽनेनास्मादस्मिन्निति वा उपक्रमः, शास्त्रस्य न्यासः, देशानयनमित्यर्थः। (भाष. नि. हरि. वृ. ७६, पृ. ५४)। उपक्रमः प्रायः शास्त्र-समुत्थानार्थः उक्तः; $\times \times \times$ उपक्रमो ह्यदृश-मात्रनियतः। (भाष. नि. हरि. वृ. १४१, पृ. १०४)। उपक्रमश्रुताविहानयनमुपक्रमः। (भाष. नि. हरि. व. मलय. वृ. ६६५)। ४. तत्रोप-क्रमणमुपक्रम इति भावसाधनः शास्त्रस्य न्यासदेशं समीचीकरणलक्षणं, उपक्रम्यते वाऽनेन गृह्यमाणयोगेनेत्युपक्रमः करणसाधनः, उपक्रम्यतेऽस्मा-

दिति वा विनीतविनयविनयादित्युपक्रमः इत्युपादानसाधनः। (अनुवो. हरि. वृ. पृ. २७)। ५. $\times \times \times$ सोपक्रमा निरुपक्रमाश्च—बाहुल्येन ग्रह-वर्त्यायुषः शनपवर्त्यायुषश्च भवन्ति। (त. भा. हरि. वृ. २-५२)। ६. अर्थमात्मन उप समीपं क्राम्यति करोतीत्युपक्रमः। (बब. पु. १, पृ. ७२)। उप-क्रम्यतेऽनेन इत्युपक्रमः जेण करणभूदेण णाम-यमाणा-दीहि मंथो धवगम्यते सो उवक्कमो णाम। (बब. पु. २, पृ. १३४)। ७. उपक्रम्यते समीचीनकर्मते श्रोत्रा धनेन प्राप्तमित्युपक्रमः। (जयव. १, पृ. १३)। ८. प्रकृतस्यार्थतत्त्वस्य श्रोतृबुद्धौ समर्पणम्। उपक्रमोऽसौ विज्ञेयस्तथोपघात इत्यपि ॥ (न. पु. २-१०३)। ९. उपक्रमणमुपक्रमः प्रत्यासत्मीकरण-कारणमुपक्रमकशब्दाभिधेयम्। अतिदीर्घकालस्थित्यप्यायुर्येन कारणविशेषेणाध्यवसानादिनाऽप्यकाल-स्थितिकमापद्यते स कारणकलाप उपक्रमः। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-५१, पृ. २२०)। उपक्रमो विधा-ग्नि-शस्त्रादिः। $\times \times \times$ न ह्येवो प्राणापाना-हारनिरोधाध्यवसाननिमित्तवेदनापराधातस्पर्शाभ्याः सप्त वेदनाविशेषाः सन्त्यायुषो भेदकाः उपक्रमा इति, अतो निरुपक्रमा एव। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-५२, पृ. २२३)। १०. उपक्रम्यते क्रियतेऽनेनेत्युपक्रमः कामंणो बद्धत्वादीरितत्वादिना परिणमनहेतुर्जीवस्य शक्तिविशेषो योज्यत्र करणमिति रुद्धः, उपक्रमणं बोपक्रमो बन्धनादीनामारम्भः। प्रकृत्यादिबन्धना-रम्भा वा उपक्रमा इति। उपक्रमस्तु प्रकृत्या-दित्वेन पुद्गलानां परिणमनसमर्थ जीववीर्यम्। (स्वाना. अमव. वृ. ४, २, २६६, पृ. २१०)। ११. जेणाउमुवकमिज्जइ अण्णसमुत्थेण इमरोगोवावि। सो अण्णवसाणाइ उवक्कमो $\times \times \times$ ॥ (संहरणी २६६)। १२. शास्त्रमुपक्रम्यते समीपमानीयते निक्षेपस्थानेनेति उपक्रमः, निक्षेपयोग्यतापादनमिति भावः, उपक्रमान्तर्गतभेदेहि विचारितं निसिध्यते, नान्यथा। (भाष. मलय. वृ. ७६, पृ. ६०)। १३. उपक्रमणमुपक्रमः, उपशब्दः सामीप्ये, 'क्रमु पादविक्षेपे', उपैति सामीप्येन क्रमणमुपक्रमः, दूर-स्थस्य समीपापादनमित्यर्थः। (श्रीधरि. वृ. पृ. १)। १४. उपक्रमणमुपक्रम इति भावसाधनः आचिख्यासितशास्त्रस्य समीपानयनेन निक्षेपावसर-

प्रापणम्, उपक्रम्यते वाऽनेन गुरुवाग्योगेनेत्युपक्रम इति करणसाधनः । उपक्रम्यतेऽस्मिन्निति वा शिष्य-धमणभावे सतीत्युपक्रम इत्यधिकरणसाधनः, उपक्रम्यतेऽस्मादिति वा विनयेविनयादित्युपक्रमः इत्युपादानसाधन इति । (जम्बूट्टी. बृ. ५) ।

१ धाम् के अपवर्तन (विघात) का जो कारण है उसे उपक्रम कहते हैं । ६ जिसके द्वारा नाम व प्रमाणादि से घन्व का बोध होता है उसे उपक्रम कहा जाता है । १० जीव की जो विशिष्ट सवित कर्म की बढ़ता और उदीरता आदि रूप से परिणमन में कारण होती है उसे उपक्रम कहते हैं । अन्यत्र इसे करव भी कहा गया है ।

उपक्रमकाल—१. उपक्रमणमुपक्रमः अभिप्रेतस्यार्थस्य सामीप्यापादनम्, उपक्रमस्य कालः भूयिष्ठ-क्रियापरिणामः, प्रसूनकालप्राप्य स्वरूपकालप्राप्य भवति स उपक्रमकालः । (विशेषा. को. बृ. २५४०, बृ. ६०८) । २. उपक्रमकालः अभिप्रेतार्थसामीप्यानयनलक्षणः सामाचारियायुक्तभेदभिन्नो वाच्यः । (आच. नि. मलय. बृ. ६६०) ।

१ अनीष्ट धर्म को समीप में लाने रूप उपक्रम का जो काल है उसे उपक्रम काल कहते हैं ।

उपगतदलाघतव—उपगतदलाघतव उक्तगुणयोगात् प्राप्यदलाघता । (समवा. अभय. बृ. ३५; रायव. बृ. पृ. १७) ।

परिनिवा व आत्मोत्कर्ष से रहित होने के कारण जो बचन को दलाघता—प्रज्ञासता—प्राप्त होती है उसका नाम उपगतदलाघतव है । यह सत्य बचन के ३५ अतिशयो में से २४वां है ।

उपगृह्ण—वेलेो उपगृह्ण । १. वंश-चरणवि-षण्णे जीवे दट्ठूण धम्मभत्तीए । उपगृह्णं करितो दसणमुद्धो हवदि एसो ॥ (सूला. ५-६४) । २. जो सिद्धभत्तिजुत्तो उपगृह्णगो दु सव्ववम्मणं । सो उपगृह्णगारी सम्मादिट्ठी मुण्देव्वो ॥ (समयप्रा. २५१) । ३. स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजना-श्रयाम् । वाच्यतां यत्प्रमार्जितं तद्वदन्त्युपगृह्णन् ॥ (रत्नक. १५) । ४. हिताहितविवेकविकलं व्रताद्य-मुच्छान्तेऽसमर्थजनमाश्रित्य रत्नत्रये तद्वति वा दोषस्य यत्प्रच्छादनं तदुपगृह्णन् ॥ (रत्नक. टी. १-१५) । ५. उपगृह्णं चातुर्वर्ग्यगमनमवधोवापहरणं प्रमादा-चरितस्य च संवरणम् । (सूला. बृ. ४-४) । ६.

जो परदोसं गोवदि श्रियमुक्यं जोण पयइदे सोए । भवियव्वभावणरमो उवगृह्णकारमो सो हु ॥ (कालिके. ४१६) । ७. यद्वस्तुप्रकृतं दोषं यत्नान्मता निगृहति । तद्वत्सद्वर्गदोषोपगृहः स्यादुपगृहणम् ॥ (आचा. सा. ३-६१) । ८. यो निरीदय यत्तिलोक-दूषणं कर्मपाकजनितं विशुद्धधीः । सर्वथाऽप्यनति धर्मवृद्धितः कोविदास्तमुपगृहकं विदुः ॥ (अभित. आ. ३-३७) । ९. भेदाभेदरत्नत्रयभावनारूपो मोक्षमार्गः स्वभावेन शुद्ध एव साधव । तत्प्राज्ञानि-जननिमित्तेन तथैवाशक्तजननिमित्तेन च धर्मस्य पैश्वर्य दूषणमपवादो दुष्प्रभावना यदा भवति तदा-गमाविरोधेन यथाशक्त्यर्थेन धर्मोपदेशेन वा यद्वर्ग्यं दोषस्य ऋम्पनं निवारणं क्रियते तद् व्यवहारनयेनो-पगृहणं भण्यते । तथैव निवचयेन पुनस्तस्मैव व्यव-हारोपगृहणगुणस्य सहकारित्वेन निजनिरञ्जननि-र्दोषपरमात्मनः प्रच्छादका ये मिथ्यात्व-रामादिदोषा-स्तेषां तस्मिन्नेव परमात्मनि सम्यक्प्रज्ञान-ज्ञाना-मुच्छानरूपं यद् ध्यानं तेन प्रच्छादनं विनाशनं गोपनं ऋम्पनं तदेषोपगृहणम् । (बृ. ब्रह्मस. बृ. ४१) । १०. स्वयमकलंकस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयवाच्य-तानिरास उपगृहणम् । (अ. आ. सूला. टी. ४५) । ११. रत्नत्रयोपगुणस्य जनस्य कस्यचित् भवति । गोपनं प्राप्तादोषस्य तद् भवत्युपगृहणम् ॥ (आचस. बाल. ४१४) । १२. उत्तमक्षमादिरात्मनो धर्मवृद्धि-करणं संघदोषाच्छादनं चोपगृह्णमुपगृहणम् । (भा. प्रा. टी. ७७; त. वृत्ति भूत. ६-२४) । १३. उत्तमक्षमादिभावनाया आत्मनः चतुर्विधसंघस्य दोष-ऋम्पनं सम्यक्त्वस्य उपगृह्णम् उपगृह्णनामा गुणः । (कालिके. टी. ३२६) ।

३ बाल (प्रज्ञानी) एवं अशक्त जनों के द्वारा विशुद्ध मोक्षमार्ग की होनेवाली निन्दा के दूर करने को उपगृह्ण अथ कहते हैं ।

उपग्रह—१. उपग्रहो निमित्तमपेक्षा कारण हेतु-रित्यनर्थान्तरम् । (त. आ. ५-१७) । २. उपग्रहो-ऽनुग्रहः । इव्याणं शक्त्यन्तराविभवे कारणभावो-ऽनुग्रह उपग्रह इत्याख्यायते । (त. वा. ५, १७, ३) । २. इव्यो की अव्य शक्ति के आविर्भाव में निमित्तता रूप अनुग्रह का नाम उपग्रह है ।

उपघात—१. प्रसस्तज्ञानदूषणमुपघातः । (स. सि. ६-१०) । २. प्रसस्तज्ञानदूषणमुपघातः । स्वयतेः

कलुषभावात् युक्तस्याप्ययुक्तवत्प्रतीतेः दोषोद्भावनं दूषणमुपघात इति विज्ञायते । (स. बा. ६, १०, ६) । ३. प्रशस्तस्यापि ज्ञानस्य दर्शनस्य वा दूषणमुपघातः । (स. श्लो. ६-१०) । ४. युक्तमपि ज्ञानं वर्तते, तस्य युक्तस्य ज्ञानस्य अयुक्तमिदं ज्ञानमिति दूषणप्रदानम् उपघात उच्यते, सम्यग्ज्ञानविनाशमिप्राय इत्यर्थः । (स. वृत्ति श्रुत. ६-१०) । ५. मनसा वाचा वा प्रशस्तज्ञानदूषणमध्येतृषु शत्रु-बाधाकारणं वा उपघातः । (गो. क. जी. प्र. टी. ८००) ।

१ किसी व्याख्याता के प्रशस्त ज्ञान में दूषण लगाने को उपघात कहते हैं ।

उपघातजनक -- उपघातजनकं सत्त्वोपघातजनकम् । यथा वेदविहिता हिंसा धर्माय इत्यादि । (आच. नि. हरि. व. मलय. वृ. ८८१) ।

प्राणियों का घात करते वाले जघनों को उपघात-जनक जघन कहते हैं । जैसे—वेदविहित हिंसा धर्म का कारण होती है ।

उपघातनाम—१. यस्योदयात्स्वयंकृतोद्बन्धन-मरु-प्रपन्नादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातनाम । (स. सि. ८-११) । २. शरीराङ्गोपाङ्गोपघातकमुप-घातनाम, स्वपराक्रमविजयाद्युपघातजनक वा । (स. भा. ८-१२, पृ. १५७) । ३. यदुदयात् स्वयंकृतो-द्बन्धनाद्युपघातस्तदुपघातनाम । यस्योदयात् स्वयं-कृतोद्बन्धन-मरुप्रपन्नादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातनाम । (स. बा. ८, ११, १३) । ४. उप-घातनाम यदुदयात् उपहन्यते । (आ. प्र. टी. २१) । ५. उपेत्य घातः उपघात आत्मघात इत्यर्थः । ज कम्म जीवपीडाहेदुप्रवयवे कुण्णि जीवपीडाहेदुदब्बा-णि वा विसासि-पासादीणि जीवस्स ढोएदि तं उव-घादणाम् । (अब. पु. ६, पृ. ५६); जस्स कम्मस्स उवणं सरीरमप्यणो वेव पीड करेदि तं कम्ममुव-घावं णाम् । (अब. पु. १३, पृ. ३६४) । ६. यदु-दयात् स्वयंकृतो बन्धनाद्युपघातस्तदुपघात नाम । (स. श्लो. ८-११) । ७. स्वशरीरोपहननमित्युप-घातः । (पंचसं. स्वो. वृ. ३-६) । ८. अगावयवो पडिज्जिभयाइ अप्पणो उवणाय । कुण्णइ ह्व देहम्मि टिप्पो सो उवणायस्स उ विवागो । (कर्मचि. ग. ११६) । ९. स्वशरीरावयवैरेव नखादिभिः शरीरा-न्तःवर्द्धमानैर्यदुदयाद्युपहन्यते पीडयते तदुपघातनाम ।

(कर्मस्त. गो. वृ. ६-१०, पृ. ८८) । १०. उपेत्य घात उपघातः यस्योदयात् स्वयंकृतोद्बन्धनमरु-त्पन्नादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातनाम । अथवा यत्कर्म जीवस्य स्वपीडाहेतून्वययान् महाभू-गलाध्वस्तानुदरादीन् करोति तदुपघातनाम । (भूला. वृ. १२-१६४) । ११. यतोऽङ्गावयवः प्रतिजिह्वा-कादिरात्मोपघातको जायते तदुपघातनाम । (समवा. अभय. वृ. ४२, पृ. ६४) । १२. यस्योदयात् स्वयं-कृतोद्बन्धन-आवापाननिरोधादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातनाम । (अ. बा. भूला. टी. २१२४) । १३. यदुदयवशात् स्वशरीरावयवैरेव शरीरान्तः-परिवर्द्धमानैः प्रतिजिह्वा-गलवृन्दक (प्रज्ञा.—गल-वृन्दलम्बक, वण्ट क.—गलवृन्दलम्बक) चोरदन्तादि-भिरुपहन्यते, यदा स्वयंकृतोद्बन्धन-भैरवप्रपातादि-भिस्तदुपघातनाम । (पंचसं. मलय. वृ. ३-७; पृ. ११५; प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३-२६१, पृ. ७७३; वण्ट कर्म. मलय. वृ. ६, पृ. १२६) । १४. उप-घातनाम यदुदयात् स्वशरीरावयवैरेव प्रतिजिह्वा-लम्बक-गलवृन्द-चोरदन्ताभिः प्रवर्तमानैर्बन्धु-ह्रन्यते । (चर्मसं. मलय. वृ. ६१८) । १५. स्वशरी-रावयवैरेव प्रतिजिह्वा-वृन्दलम्बक-चोरदन्तादिभिः शरीरान्तर्वर्द्धमानैः यदुदयाद्युपहन्यते पीडयते तदुप-घातनाम । (शतक. मत. हेम. वृ. १७-१८, पृ. ५१; अथ. सारो. वृ. १२६३) । १६. उपेत्य घात उपघात आत्मघात इत्यर्थः, यस्योदयादात्मघातावयवाः महा-भूगलम्बस्तनुदोदरादयो भवन्ति तदुपघातनाम । (गो. क. जी. प्र. टी. ३२) । १७. उवघाया उवहम्मइ सतणुवयसंविपाईहि । (कर्मचि. वे. ४७); यदुदयव-शात् स्वशरीरान्तःप्रवर्द्धमानैर्लम्बिकाप्रतिजिह्वा-चोरदन्तादिभिर्बन्धुह्रन्यते तदुपघातनाम । (कर्म-चि. वे. स्वो. वृ. ७४, पृ. ५५) । १८. यदुदयेन स्व-यमेव गले पाशं बद्ध्वा वृलादो अलम्ब्य उह्वेगाम्म-रणं करोति तदुपघातनाम् । (स. वृत्ति श्रुत. ८-११) ।

१ जिस कर्म के उदय से स्वयंकृत बन्धन शरीर पर्वत-पात आदि के द्वारा अपना ही उपघात (घरण) हो उसे उपघात नामकर्म कहते हैं । ६ जिसके उदय से शरीर के भीतर बढ़ने वाले प्रतिजिह्वा आदि अव-यवों के द्वारा जीव का अपना ही घात होता है वह उपघात नामकर्म कहलाता है ।

उपघातनिःसृता—१. अं उवघायपरिणयो आसद् वयणं धलीप्रमिह जीवो । उवघायपरिणसिमा सा $\times \times \times$ ॥ (भाषार. ५१) ; उपघातपरिणतः परा-शुमचिन्तनपरिणत इह जयति जीवो यदलीकं वचनं भाषते सा उपघातनिःसृता । (भाषार. टी. ५१) । मनुष्य जो दूसरे के अशुभचिन्तन में रत होकर अस्तव्य वचन बोलता है उसे उपघातनिःसृता भाषा कहते हैं ।

उपचय—१. उपचयनं चित्तस्याबाधाकाल मुक्त्वा ज्ञानावरणीयादित्वा निषेकः । स च एवम्—प्रथम-स्थितो बहुतरं कर्मदलिकं निषिञ्चति, ततो द्वितीया-यां विशेषहीनम्, एवं यावदुक्तुष्टायां विशेषहीनं निषिञ्चति । (स्थाना. अथ. बृ. ४, १, २५०, पृ. १६३) । २. उपचयो नाम स्वस्याबाधाकालस्यो-परि ज्ञानावरणीयादिकर्मपुद्गलानां वेदनार्थं निषेकः । (प्रज्ञाप. मलय. बृ. १४-१६०) ।

गृहीत कर्मपुद्गलों के अबाधाकाल को छोड़कर अपने ज्ञानावरणादि स्वरूप से निषिञ्चन करना— शेषण करना, इसका नाम उपचय है ।
उपचयद्वयमन्त्र—उपचयद्वयमन्त्रो नाम यः परि-स्फुरतरशरीरतया गमनादिव्यापारं कर्तुं न शक्नोति । (बृहत्क. बृ. ६६७) ।

जो शरीर के अधिक स्थूल होने से गमनागमन आदि कार्यों के करने में असमर्थ हो उसे उपचयद्वयमन्त्र कहते हैं ।

उपचयपद—१. तत्रोपचितावयवनिबन्धनानि (अव-यवपदानि) । यथा—गलगण्डः, शिलीपदः, लम्ब-कर्ण इत्यदीनि नामानि । (अथ. पु. १, पृ. ७७) । २. शिलीपदी गलगण्डो दीहनासो लंबकण्ठो हृन्नेव-मादीणि नामानि उपचयपदानि, शरीरे उपचिद-मवयवमवेक्षित्य एवेति नामाणि पठित्वंसंज्ञादो । (अथ. पु. १, पृ. १२-३३) ।

३ शरीर के अवयवों में बुद्धि होने से जो बिशिष्ट अवयव होते हैं उन्हें उपचयपद कहते हैं । जैसे— शिलीपदी, गलगण्ड, शीर्षनास और लम्बे काव जाला आदि ।

उपचयभावमन्त्र—उपचयभावमन्त्रः पुनर्यो बुद्धेर-पचयेन यतस्ततः कार्यं कर्तुं नोत्सहते । $\times \times \times$ अथवा तस्मिन् सूक्ष्मा कुशाघीया बुद्धिः श्रेष्ठः, ततः सा सूक्ष्मतन्तुभूतपटीवद् भन्तःसारवत्त्वेन

उपचितेति कृत्वा यः कुशाघीयमतिः स उपचयभाव-मन्त्रः । (बृहत्क. बृ. ६६७) ।

जो बुद्धि के उपचय से इधर-उधर के कार्य करने में उत्साहित नहीं होता उसे उपचयभावमन्त्र कहते हैं । अथवा सारयुक्त होने से सूक्ष्म कुशाग्रबुद्धि उपचित कही जाती है, उस कुशाग्रबुद्धि से जो समुक्त हो उसे उपचयभावमन्त्र कहते हैं ।

उपचरित भाव—एकत्र निश्चितो भावः परत्र चोपचर्यते । उपचरितभावः सः $\times \times \times$ ॥ (द्रव्यानु. त. १२-१०) ।

एकत्र निश्चित भाव का अन्यत्र जो उपचार किया जाता है उसे उपचरितभाव कहते हैं ।

उपचरितसद्भूतव्यवहारनय—१. उपचरितः सद्भूतो व्यवहारः स्यान्नयो यथानाम । प्रविरुद्धे हेतुवशाद् परतोऽप्युपचर्यते यथा स्वगुणः ॥ अर्थ-विकल्पो ज्ञानं प्रमाणमिति लक्ष्यतेऽधुनापि यथा । अर्थः स्व-परनिकायो भवति विकल्पस्तु चित्तदाका-रम् ॥ (पंचाध्यायी १, ४४०-४४१) । २. मोपाधि-गुण-गुणिनोर्भेदविषय उपचरितसद्भूतव्यवहारः । यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः । (नयप्र. पृ. १०२) ।

२ उपाधिसहित गुण और गुणी में भेद को जो विषय करता है उसे उपचरित-सद्भूत-व्यवहारनय कहते हैं । जैसे—जीव के मतिज्ञान आदि गुण ।

उपचरितासद्भूतव्यवहारनय—१. उपचरितो ऽसद्भूतोव्यवहाराख्यो नयः स भवति यथा । भो-वाद्या भोवदिकाश्चित्तवृत्तेर् बुद्धिजा विवक्षयाः स्युः ॥ (पञ्चाध्यायी १-४४६) । २. यत्त्वेनोपचारेणोप-चारो हि विधीयते । स स्यादुपचरितः। असद्भूतव्यव-हारकः ॥ (द्रव्यानु. त. ७-१३) । ३. अन्वय प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यव-हारः ॥ १२॥ असद्भूतव्यवहार एवोपचारः, यः उप-चारादप्युपचारं करोति स उपचरितासद्भूतव्यव-हारः । यथा देववत्तस्य वनमिति, अत्र संश्लेषरहितं वस्तु सम्बन्धमहितवस्तुसम्बन्धविषयः ॥ १३॥ (नयप्र. पृ. १०३) ।

१ जीव के ओपाधि भाव यदि बुद्धिपूर्वक संज्ञात विवक्षित हैं तो उन्हें जीव के औदयिक भाव मानना यह उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है । ३ अन्वय वस्तु के प्रसिद्ध धर्म का अन्व में आरोप करना,

इसका नाम असद्वृत्तसम्बन्धहारणम् है। जैसे—देवदत्त का घन। सम्बन्ध रहित वनस्पत वस्तु यहाँ सम्बन्ध-सहित देवदत्त के सम्बन्ध का विषय बन गई है।

उपचारछल—१. धर्माध्यारोपनिर्देशे सत्त्वार्थप्रतिषेधम् । उपचारछलं मंवाः क्रोशन्तीत्यादिगोचरम् ॥ भ्रान्नाभिधानस्य धर्मो यथार्थं प्रयोगस्तस्याध्यारोप्यो विकल्पः अन्यत्र दृष्टस्य अन्यत्र प्रयोगः, मंवाः क्रोशन्ति गायन्तीत्यादी शब्दप्रयोगवत् । स्थानेषु हि मंवेषु स्थानिनां पुरुषाणां धर्ममाक्रोष्टित्वादिक समा-रोप्य जर्नस्तथा प्रयोगः क्रियते गौणशब्दार्थं श्रयणात् सामान्यादिष्वस्तीति शब्दप्रयोगवत् । तस्य धर्माध्या-रोपनिर्देशे सत्यस्य प्रतिषेधम्, न मंवाः क्रोशन्ति, मन्वस्याः पुरुषाः क्रोशन्तीति । तदिदमुपचारछलं प्रत्येयम् । (त. श्लो. १-२६६, पु. २६६; सिद्धिचि. टी. ५-२, पु. ३१७) । २. धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्ज-सद्भावप्रतिषेधे उपचारछलम् । (प्र. क. भा. ६, ७३, पु. ६५१) ।

१ धर्म के अध्यारोप का (उपचार का) निर्देश करने पर सत्य प्रर्थ के सद्भाव का निषेध करने को उप-चार छल कहते हैं । जैसे—‘मंवाः क्रोशन्ति’ (मंवा बिल्वाते हैं) ऐसा कहते पर उसका निषेध करते हुए कहना कि ‘न मवाः क्रोशन्ति, किन्तु मन्वस्याः पुरुषाः क्रोशन्ति’ (मन्व नहीं बिल्वाते हैं, किन्तु मन्व पर जैसे पुरुष बिल्वाते रहे हैं) । यह उपचारछल है।

उपचारविनय—१. प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिषु अमृत्या-नाभिगममाञ्जलिकरणादिव्यपचारविनयः । (त. लि. ६-२३; त. भा. ६, २३, ५; त. श्लो. ६-२३) ।

२. उपचारविनयोऽमृत्यानासनप्रदानाञ्जलिप्रगृहादि-भेदः । (त. भा. हरि. व सिद्ध. बु. ६-२३) । ३. अमृत्यानानुगमनं वन्दनादीनि कुर्वन्तः । आचार्या-दिषु पूज्येषु विनयो ह्यौपचारिकः ॥ (त. सा. ७-३४) । ४. प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिष्वमृत्यानाभि-गमनाञ्जलिकरणादिः उपचारविनयः, परोक्षेष्वापि काय-बाह्य-मनोभिरञ्जलिक्रियागुणसंकीर्तनानुस्मर-णादिव्यपचारविनयः । (योगशा. शब्दो. विच. ४-६०) ।

५. उपोत्सृज्यवर्चः [चरः] उपचारो यथोचितः । स प्रत्यक्ष परोक्षत्वात् नवाद्यः प्रतिपाद्यते ॥ अमृ-त्यानं नतिः सूत्राद्यमञ्जलि सति स्थिते । स्थानं नीचै-निविष्टेऽपि शयनोच्चासनोऽम्नम् ॥ गच्छत्यनुगमो वस्तव्यनुकूले वयो मनः । प्रमोदीत्यादिकं चैवं पाठ-

कादिचतुष्टये ॥ आचार्यादिष्वस्तत्वेन स्वविरस्य मुनेर्गणे । प्रतिरूपकालोभ्या क्रिया चाप्येव साधुषु ॥ आर्या-देशयमाऽस्यमतादिषुचितसत्क्रिया । कृतव्या वेत्यदः प्रत्यक्षोपचारोपलक्षणम् ॥ ज्ञान-विज्ञान-सत्कीर्तिर्नतिराज्ञाऽनुवर्तनम् । परोक्षे गणनाधानां परोक्षप्रत्ययः परः ॥ (आचा. सा. ६, ७७-८२) ।

६. अमृत्यानांचितवितरणोच्चासनाद्युत्तमानुब्रज्या-पीठाद्युपनयविधिः कासभावाङ्गभोग्यः । कृत्वाचारः प्रशतिरिति चाङ्गन सप्तप्रकारः कार्यः साक्षाद् गुरुषु विनयः सिद्धिकार्यस्तुरीयः ॥ हिनं मितं परिमितं वचः सूत्रानुवीचि च । सूत्रं पूज्यापचतुर्धं वाचिकं विनयं वजेत् ॥ निरुचनशुभं भावं कुर्वन् श्रियहिते सतिम् । आचार्यादिरवाप्नोति मानसं विनयं द्विधा ॥ बाह्यमनस्तनुभिः स्तोत्रस्तुत्यञ्जलिपुटादिकम् । परो-क्षेष्वापि पूज्येषु विदव्याद्विनयं त्रिधा ॥ (अन. च. ७, ७१-७४) । ७. प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिष्वमृत्याना-वन्दनानुगमनादिरात्मानुक्तः, परोक्षेष्वापि तेष्वाञ्ज-लिक्रिया - गुणकीर्तनं - स्मरणानुज्ञानुष्ठापित्वादिष्व-काय-बाह्य-मनोभिरुपचारविनयः । (भा. प्रा. टी. ७८; त. वृत्ति भूत. ६-२३) ।

१ आचार्यं आदि के सम्मुख आने पर उठ कर खड़ा होना, सम्मुख जाना और हाथ जोड़कर प्रणाम करना; इत्यादि सब उपचार विनय कहलाता है। उपचारोपेतत्वं—उपचारोपेतत्वम् अश्राम्यता । (समवा. धर्मध. बु. ३५; रामय. टी. पु. १६) । वचनप्रयोग में प्रामीणता का न होना, इसका नाम उपचारोपेतत्व है। यह ३५ सत्यवचनविनयों में तीसरा है।

उपदेश—उपदेशो मौनीन्द्र प्रवचनप्रतिपादनरूपः । भव-जलविशानपात्रप्रयायः सत्यवयम्, अस्य श्रवणमा-नादेव समीहितसिद्धेः, सुतरां च तदर्थंज्ञानात् । (सांख्यशा. टी. १-७) ।

जिनेन्द्रवच के वचनों के प्रतिपादन करने को उपदेश कहते हैं ।

उपदेशसंक्षि—१. तीर्थंकर-रत्नदेवादिशुभचरितोप-देशहेतुकथ्यद्वाना उपदेशरुचयः । (त. भा. ३-३६) ।

२. एए वेव उ भावे उवहृद् जो परेण सहृद् । छद-मत्येण जिणेण व उवहृद् इति नायम्भे ॥ (उत्तरा. २८-१६; अच. सारो. ६५२) । ३. भावान् उपदि-ष्टान् यः परेण ब्रह्माति छद्मस्येन जिनेन वा छ

उपवेशश्चिरिति ज्ञातव्यः । (उत्तरा. बृ. २८, १६) । ४. उपवेशो भुवर्वादिभिर्बस्तुतत्त्वकथनम्, तेन चरिः उत्तररूपा यस्य स उपवेशश्चरिः । (प्रब. सारो. बृ. ६५४) । ५. परोपवेशप्रयुक्तं जीवाजीवादिपदार्थ-विषयि श्रद्धानम् उपदेशश्चरिः । (धर्मसं. भा. स्वो. बृ. २-२२, पृ. ३७) । ६. $\times \times \times$ तन्निवरीप्रो-
यएसर्ह ॥ (पु. गु. वद. स्वो. बृ. पृ. ३६) ।

१ तीर्थंकर एवं बलवैद्य आदि के उत्तम चरित्र के सुनने से जिसे तत्त्व-श्रद्धा उत्पन्न हुई हो उसे उपवेश-
श्चरि—उपवेशसम्बन्धत्व से सम्पन्न—कहा जाता है ।
उपवेशसम्बन्धत्व—देखो उपदेशश्चरि । १. त्रि-
ष्टिपुरुषादीनां या पुराणप्ररूपणात् । श्रद्धा सद्यः
समुत्पन्ना सोपवेशसमुद्भवया ॥ (म. पु. ७४-४४२,
४४३) । २. $\times \times \times$ पुरुषवरपुराणोपवेशोपजाता
या संज्ञागममाश्विप्रसूतिभिरुपवेशादिरादेशि दृष्टिः ।
(आस्तत्त्व. १२) । ३. पुराणपुरुषचरितश्रवणाभि-
निवेश उपदेशः । (उपासका. पु. ११४; अम. च.
स्वो. टी. २-६२) । ४. त्रिष्टिलसंज्ञमहापुराण-
सम्पन्नकर्त्तृत्वेन बोधि-समाधिप्रदानकारणेन मनुत्पन्नं
श्रद्धानं तदुपदेशनामकं सम्प्रदर्शनम् । (ब. प्रा. टी.
१२) ।

तिरेसठ शलाका पुष्पों आदि के पुराण के सुनने से
जो तत्त्वश्रद्धा उत्पन्न होती है उसे उपवेशसमुद्भव-
श्रद्धा—उपवेशसम्बन्धत्व कहते हैं ।

उपद्रावस्य (भोद्वावस्य)—जीवस्य उपद्रवणं भोद्वा-
नं नाम । (च. पु. १३, पृ. ४६) ।

प्राणी को कष्ट पहुँचाना, इसे उपद्रावण नामक
प्राधाकर्म कहा गया है ।

उपधा—परवर्धनच्छा उपधा । (स्या. र. ५-८) ।

डुबरे की धोखा देने की इच्छा का नाम उपधा है ।

उपधान—उपद्रवातीत्युपधानं तपः, सति यच्चत्राध्य-
यने प्रागाढादिवियोगतक्षणमुक्तं तत्तत्र कार्यम्, तत्पू-
रकम्मुद्राग्रहणस्यैव सफलत्वात् । (दशाब्. नि. हरि.
बृ. ३-१८४, पृ. १०४) ।

प्रागाढादिरूप योगविशेष का नाम उपधान (तप)
है । जिसके अध्ययन में जो भी उपधान तप कहा
गया है उसे वहाँ श्रुतग्रहण की सफलता के लिए
करना ही चाहिए ।

उपधान ज्ञानाधार—१. यावद्विषयानुयोगद्वारं
विष्ठासुपैति तावदिदं मया न भोक्तव्यम्, इदम् अन-

स्यं वतुर्धन-वष्ठादिकं करिष्यामीति संकल्पः । (भ.
आ. विजयो. टी. ११३; भूला. ११३) । २. उप-
धानमवग्रहविशेषेण पठनादिकं साहचर्यादुपधाना-
धारः । (भूला. बृ. ५-७२) ।

१ जब तक अमृत अनुयोगद्वार समाप्त नहीं होता
है तब तक मैं अमृत वस्तु का उपभोग नहीं करूँगा
तथा एक या दो आदि उपवासों को करूँगा, इस
प्रकार के संकल्प का नाम उपधान ज्ञानाधार है ।

उपधि—१. उपद्रवाति तीर्थम् उपधिः (उत्तरा.
बृ. पृ. २०४) । २. उपधीयते बलाधानार्थमित्यु-
चिः । योऽप्योज्यस्य बलाधानार्थं उपधीयते स उप-

धिः । (त. बा. ६, २६, २) । ३. तत्रोपकरणं

बाह्यं रजोहरण-पात्रादि स्वविर-जिनकल्पयोग्यो-

पधिः, दुष्टवाह्य मनसोऽभ्यन्तर क्रोधादिश्चातिदुस्त्यज

उपधिः, शरीरं वा ऽभ्यन्तरोपधिरन्न-पान च

बाह्यम् । (त. भा. हरि. बृ. ६-६) । ४. उपेत्य

क्रोधादयो धीयन्तेऽस्मिन्तिदुपधिः, क्रोधाद्युत्पत्ति-

निबन्धनो बाह्यार्थ उपधिः । (च. पु. १२, पृ.

२८५) । ५. सद्भाव प्रच्छाद्य धर्मव्याजेन स्तैन्या-

दिदोषे प्रवृत्तिरुपधिसंज्ञिता माया । (भ. आ. विजयो.

टी. २५) । ६. बाह्यचेष्टयोपधीयते बाह्यत इत्युप-

धिरन्यथापरिणामाद्विचलितस्य । (त. भा. सिद्ध. बृ.

८-१०) । ७. उपधीयते पोष्यते जीवोऽनेनेत्युपधिः ।

(स्थाना. अमय. बृ. ३, १, १३८, पृ. ११४) ।

८. धीधिकौपग्रहिकभेदादुपधिद्विविधः । $\times \times \times$

तत्रोपधौपधिरन्यमेव यो वृक्षते, भुज्यते पुनः कारणे

न सः । धीपग्रहिक स्तु स यस्य [कारणे न] ग्रहण

भोगश्चेत्युभयमपि कारणे न भवति । तदुक्त पञ्च-

वस्तुके—ग्रोहेण जस्त गहणं भोगो पुन कारणामधो

होही । जस्त उभय पि नियमा कारणमो सो उव-

गहिमी ॥ (धर्मसंग्रह. भा. स्वो. टी. २ पृ. ६२) ।

९. उप सामीप्येन सयमं दद्याति पोषयति चेत्युपधिः ।

(च. ३ म.—प्रथिवा. २, पृ. १०५६) ।

४ क्रोधादि की उपति के कारणभूत बाह्य पदार्थ को

उपधि कहते हैं । ६ चित का जो अध्यथा—कपट-

रूप—परिणाम है, उसे उपधिरूप परिणाम कहा

जाता है । यह माया कषाय का नामान्तर है ।

६ जिसकी सधीयता से संयम का धारण एवं पोषण

हो, ऐसे ज्ञान-संयम के उपकरणों को भी उपधि

कहते हैं ।

उपधिवाक्—यां वाचं भूत्वा परिग्रहार्जन-रक्षण-
दिष्वासज्यते तोपधिवाक् । (त. बा. १, २०, १२,
पृ. ७५; ध्व. पु. १, पृ. ११७) ।

परिग्रह के धर्जन एवं रक्षण आदि में प्राप्त
उत्पन्न करने वाले वचनों को उपधिवाक् कहते हैं ।

उपधिविवेक—कायेनोपकरणानामनादानम्, अस्था-
पनं क्वचिदरक्षा चोपधिविवेकः । परित्यक्तानीमानि
ज्ञानोपकरणादीनीति वचन वाचा उपधिविवेकः ।

(अ. धा. विजयो. टी. १६८; मूला. बु. ३-१६८—
अथ 'ज्ञानोपकरणादीनी' पदं नास्ति ।)

ज्ञान-संयमादि के परित्यक्त उपकरणों के काय से
नहीं ग्रहण करने को उपधिविवेक कहते हैं । 'इन
उपकरणों को मैंने छोड़ दिया है' इस प्रकार का
जो वचन है वह वचन से उपधिविवेक है ।

उपनय—१. तत्-(नय-) शाला-प्रशास्त्रात्मोपनयः ।
(अष्टादश. १०७) । २. एतेषा नयानां विषय उपनयः ।

(ध्व. पु. ६, पृ. १८२) । ३. हेतोरुपसंहार उपनयः ।
(परीक्षा. ३-४५) । ४. हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहरण-

मुपनयः । (प्र. न. त. ३-४६) । ५. हेतोः पक्षधर्म-

तमोपसंहार उपनयः । (प्र. र. मा. ३-४५) । ६. उप-

नीयते साध्याविनाभावित्वेन विशिष्टो हेतुः साध्य-

धर्मिण्युपवृत्तयेन स उपनयः । (स्या. र. ३-४७) ।

७. धर्मिणि साधनस्योपसंहार उपनयः । (प्रमाणमी.

२, १, १४) । ८. दृष्टान्तधर्मिणि विद्युन्मय साधन-

धर्मस्य साध्यधर्मिणि य उपसंहारः स उपनयः, उप-

सङ्गियतेऽनेनोपनीयतेऽनेनेति वचनरूपः । यथा धूम-

वांश्चायमिति । (प्रमाणमी. स्वी. बु. २, १, १४) ।

९. कृतोपनयः कृतो यथाविध्युपकल्पित उपनयो

मौञ्जीबन्धादिलक्षणोपनीतिक्रिया यस्य स तथोक्तः ।

(सा. व. स्वी. टी. २-१६) । १०. हेतोरुपसंहार-

मुपनयः । (व. व. स. टी. पु. २१०) । ११. दृष्टा-

न्तमोपनयः सप्तम्यस्तागमा गृहिधर्मनिष्ठानि
भवन्ति । (आ. सा. पृ. २०; सा. व. स्वी. टी.
७-१६) । २. सप्तम्यस्तागमा नित्यं पणभूत्सुत्र-

धारिणः । गृहधर्मरतास्ते चोपनयब्रह्मचारिणः ।

(धर्मसं. भा. ६-१८) ।

१ जो गणधरसुत्र—यस्योपनीत—के बारक होकर

आगमों का अध्ययन करते हैं और तत्पश्चात् गृहि-

धर्म का अनुष्ठान करने वाले होते हैं उन्हें उपनय-

ब्रह्मचारी कहते हैं ।

उपनयाभास—इह साध्यधर्म साध्यधर्मिणि साधन-

धर्म वा दृष्टान्तधर्मिणि उपसंहृत उपनयाभासः ।

(रत्नाकराव. ६-८१) ।

साध्यधर्म का साध्यधर्मों में अथवा साधनधर्म का

दृष्टान्तधर्मों में उपसंहार करने को उपनयाभास

कहते हैं ।

उपनीत—उपनीतमुपनयोपसंहृतम् । (अथ. भा.

मलय. बु. ७-१६०) ।

उपनय (धनुमानावयव) के उपसंहार से युक्त भाग

को उपनीत वचन कहा जाता है ।

उपनीतरागत्व—१. उपनीतरागतत्वं भासकोशादि-

घातरागयुक्तता । (सम्भा. अथ. बु. ३५, पृ. ६०) ।

२. उपनीतरागत्व उत्पादितश्रोतृजनस्त्वविषयबहु-

मानता । (राय. बु. पु. १६) ।

जिस सम्भाषण को सुनकर श्रोता जनों में अपने प्रति

बहुत आदरभाव उत्पन्न हो उसका नाम उपनीत-

रागत्व है । यह ३५ सत्यवचनातिशयो में सातवां है ।

उपपात—१. उपपातस्तूपपातशेनमात्रनिमित्तः

प्रच्छदपटादेरपरि देवदूध्याद्यो वैकिकिकशरीर-

प्रायोग्यद्रव्यादानादिति । (त. भा. हरि. बु. २-३२) ।

२. उपपातशेषप्राप्तिमात्रनिमित्तं यज्जन्म तदुपपात-

जन्म । (त. भा. सिद्ध. बु. २-३२) । ३. उपपातः

प्रादुर्भावो जन्मान्तरसंक्रान्तिः । (आचार्य. शी. बु.

१, १, १३) । ४. उपपत्तनमुपपातो देव-नारकाणां

जन्म । (स्याना. अथ. बु. १-२८, पृ. १६) ।

५. उपपत्तनमुपपातः, उत्पत्तिर्जन्मेति यावत् । (सं-

हृषी. दे. बु. १, पृ. ३) ।

१ जिस जन्म का कारण उपपाद क्षेत्र मात्र होता है उसे उपपाद जन्म कहते हैं। यह जन्म प्रच्छन्न पट (वस्त्रविशेष) के ऊपर और देवदूष्य के नीचे वैकल्पिक शरीर के बोध्य द्रव्य के ग्रहण से होता है।

उपपाद—१. उपेत्य पद्यतेऽस्मिन्निति उपपादः। (स. सि. २-३१; त. श्लो. २-३१)। २. उपेत्य पद्यतेऽस्मिन्नित्युपपादः ॥ देव-नारकोत्पत्तिस्थान-विशेषसंज्ञा। (त. बा. २, ३१, ४)। ३. अपिद-गदीदो ग्रणगदीदु समुपत्ती उववादो णाम। × × × पोमलेषु ग्रणपज्जाएण परिणामो उववादो णाम। (अब. पु. १३, पृ. ३४७)। ४. उपपादः ग्रन्थस्मादागत्योत्पत्तिः। (भूला. बु. १२-१)। ५. उपेत्य संपुटसाम्याम् उच्छादिकं वा प्राप्तिर्य पदनं शरीरपरिणामयोग्यपुद्गलस्कन्धस्य गमनं प्राप्तिः उपपादः। रुद्धिशब्दोऽयं देव-नारकाणामेव जन्मवाची (गो. जी. मं. प्र. टी. ८३)। ६. उपपदनं संपुट-साम्योद्भूतलुलाकारादिव लघुनाम्तर्मुहूर्तेनैव जीवस्य जननमुपपादः। (गो. जी. जी. प्र. टी. ८३); परिवृत्तपूर्वमवस्य उत्तरभवप्रथमसमये प्रवर्तनमुपपादः। (गो. जी. जी. प्र. ५४३)। ७. उपेत्य गत्वा पद्यते यस्मिन्निति उपपादः, देव-नारकाणां जन्मस्थानम्। (त. वृत्ति श्रुत. २-१४); उपेत्य पद्यते सम्पूर्णगः उत्पद्यते यस्मिन् स उपपादः देवनारकोत्पत्तिस्थान-विशेष इत्यर्थः। (त. वृत्ति श्रुत. २-३१)। ८. बिभक्षित गति से निकल कर अन्य गति में जन्म लेने को उपपाद कहा जाता है। ९. सम्पुटसाम्या व उच्छ्रमुक्ष आदि के आकारवाली नारक जन्मभूमियों में जीव के उत्पन्न होने का नाम उपपाद है।

उपपादयोगस्थान—उववादजोगठाणा अवादि-समयद्विगस्त भवर-वरा। विगह-इज्जगइगमणे जीव-समासे मुण्येव्वा ॥ (गो. क. २१६)।

जो योगस्थान जीव के नवीन भव प्राप्त करने के प्रथम समय में होते हैं उन्हें उपपादयोगस्थान कहते हैं।

उपग्रहान—उपग्रदानं धम्मिसतार्थदानम्। (विषाक. अथव. बु. ४-४२, पृ. ४२)।

अबीष्ट अर्घ के दान को उपग्रहान कहा जाता है।

उपप्लुत स्थान—उपप्लुतं स्वचक्र-परचक्रविशो-भात् बुधिसमारीति-जनविरोधादेस्वाहवस्थीभूतं

यस्स्थानं निवासभूमिलक्षणं धामनगरादि। (धर्मवि. नृ. वृ. १-१६)।

स्वचक्र या परचक्र के आक्रमण से या बुधिस, मारी, ईति और जनविरोध आदि से अक्षान्त स्थान को उपप्लुत स्थान कहते हैं।

उपवृंहण—देखो उपग्रहण। १. उत्तमक्षमादिभाव-नयाऽत्मनो धर्मपरिवृद्धिकरणमुपवृंहणम्। (स. बा. ६, २४, १)। २. उपवृंहणं नाम समानधार्मिकाणां सद्गुणप्रशंसनेन तद्वृद्धिकारणम्। (वशावै. हरि. बु. ३-१८२)। ३. उपवृंहणं नाम वर्धनम्। × × × स्पष्टेनाऽग्राम्येण श्रोत्र-मनःप्रीतिदायिना वस्तुयाथा-स्यप्रकाशनप्रवणेन धर्मोपदेशेन परस्य तत्त्वश्रद्धान-वर्द्धनमुपवृंहणम्। सर्वजनविरमयकारणी शतमख-प्रमुखजीवणसमिति विरचितोपचितिसदृशी पूजां सपाक्ष दुर्धरतपोयोगानुष्ठाननेन वा आत्मनि श्रद्धा-स्थिरीकरणम्। (भ. आ. विजयो. टी. ४५)। ४. उत्तमक्षमादिभावनायात्मनः आत्मोपस्य च धर्म-परिवृद्धिकरणमुपवृंहणम्। (आ. सा. पृ. ३)। ५. धर्मोऽभिर्वर्धनीयः सदात्मनो मादवादिभावनाया। परदोषनिग्रहणमपि विधेयमु-वृंहणगुणार्थम्। (श्रु. सि. २७)। ६. टकोत्कीर्णभावमयत्वेन समस्तात्म-शक्तीनामुपवृंहणादुपवृंहणम्। (समयप्रा. ज. बु. २५१)। ७. तच्च (उपवृंहणं च) परस्य स्पष्टा-ग्राम्यश्रवण-मनःप्रीतिकरतत्त्वप्रकाशन-परधर्मोपदेशेन तत्त्वश्रद्धानस्फारीकरणम्, स्वस्य च शक्तिनिमित्तसपर्यासोदयपूजाविशेषेण दुर्धरतपोयोगानुष्ठानेन जिनेन्द्रोपश्रुतज्ञानातिशयभावनाया वा श्रद्धानवर्द्धनम्। (भ. आ. भूला. ४५)। ८. धर्म स्वबन्धुमभि-भूष्णुकायरसः, क्षेप्तु क्षमादिपरमास्त्रपरः सदा स्यात्। धर्मोपवृंहणधियाऽनल-बालिशारस मूढायायं स्वगमितुं च जिनेन्द्रभक्तः ॥ (अन. ध. २-१०५)। ९. उपवृंहणं नाम समानधार्मिकाणां क्षण-वैया-वृत्त्यादिसद्गुणप्रशंसनेन तद्वृत्तिः। (अब. भा. जलध. बु. १-६४)। १०. उपवृंहणं दर्शनगुणवतां प्रशंसया तत्सद्गुणपरिवर्द्धनम्। (उत्तरा. वे. बु. २८, ३१)। ११. उपवृंहणं नाम समानधार्मिकाणां सद्गुणप्रशंसनेन तद्वृद्धिकरणम्। (ध. वि. मु. बु. २-११; धर्मसं. मान. स्तो. बु. १-२०)। १२. उपवृंहणमस्ति गुणः सम्य-ग्दयात्मनः। लक्षणादात्मशक्तीनामवर्धनं वृंहणादिह ॥ आत्मशुद्धेर्दार्ढ्यकरणं चोपवृंहणं। धर्माद्वृत्ति-

पारिवर्तनादिस्थानं हि तत् ॥ (साटीसं. ४, २७६-८०; पञ्चाध्यायी २, २७५-७६) ।

१ उत्तम क्षमा प्रादि की भावना से अपने धर्म के बढ़ाने को उपबृंहण (उपगृहण) कहते हैं । २ साधर्म्य बन्धुधर्म के समीचीन गुणों की प्रशंसा के द्वारा उनके बढ़ाने को उपबृंहण कहते हैं ।

उपभोग—१. $\times \times \times$ भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः ।

उपभोगः $\times \times \times$ ॥ (रत्नक. ८३) । २. इन्द्रिय-प्रणालिकया शब्दादीनामुपलब्धिरुपभोगः । (सं. सि. २-४४) ; उपभोगोऽशन-पान-गन्ध-मास्यादिः । (सं. सि. ७-२१) । ३. इन्द्रियनिमित्तशब्दाद्युपलब्धिरुपभोगः । इन्द्रियप्रणालिकया शब्दादीनामुपलब्धिरुपभोग इत्युच्यते । (सं. भा. २, ४४, २) ; उपेत्य भुज्यते इत्युपभोगः । उपेत्यात्मसात्कृत्य भुज्यते

अनुभूयत इत्युपभोगः, अशन-पान-गन्ध-मास्यादिः । (सं. भा. ७, २१, ६) । ४. उपेत्य भुज्यत इत्युपभोगः अशनादिः । (सं. श्लो. ७-२१) । ५. उचित-भोगसाधनाव्याप्त्यवस्थेऽनुः उपभोगः आधिकः । $\times \times \times$ पुनः पुनरुपभुज्यत इत्युपभोगः । (सं. भा. हरि. बृ. २-४) । ६. उपभुज्यत इत्युपभोगः अशनादिः, उपशब्दस्य सकृदर्थत्वात्, सकृद् भुज्यत इत्यर्थः । (भा. प्र. टी. २६) । ७. उपभोगोऽन्न-पान-वसनाद्यासेवनम् । (सं. भा. हरि. ब. सिद्ध. बृ. ६-२६) । ८. विषयसम्पदि सत्यां तथोक्तगुणप्रकर्षात् तदनुभव उपभोगः, पुनः पुनरुपभोगाद् वा वस्त्र-पानादिरुपभोगः । (सं. भा. सिद्ध. बृ. २-४) ।

९. उपेत्यात्मसात्कृत्य भुज्यत इत्युपभोगः । (भा. सा. पृ. १२) । १०. बाह्याशन-पत्यङ्ग-स्त्री-वस्त्राभरणादयः । भुज्यन्तेऽनेकधा यस्मादुपभोगाय ते मताः ॥ (सुभा. सं. ८१४) । ११. उपभोगो यः पुनो पुनः उपभुज्जइ भक्षण-विलयाई । (कर्मवि. ग. १६५, बृ. ६७) । १२. स उपभोगो ज्यते $\times \times \times$ यः पुनः पुनः सेव्यो भूयोभूयः सेव्यते, सेवित्यापि पुनः सेव्यते इत्यर्थः । (सा. ब. श्लो. टी. ५-१४) ।

१३. उपभोगो उ पुनो पुनः उपभुज्जइ वक्ष-निलया इति । (प्रश्नव्या. बृ. पृ. २२०) । १४. पुनः पुनर्भुज्यते इत्युपभोगः । (बंधनं. मलय. बृ. ३-३, बृ. १०६; वल्ल. क. मलय. बृ. ६, बृ. १२७; कर्मसं. मलय. बृ. ६२३, शातक. मल. हेम. बृ. ३७-३८, ल. ३५

बृ. ५१) । १५. उपेति पुनः पुनर्भुज्यते इति उपभोगो भवनाऽऽसनाङ्गनादि । उक्तं च— $\times \times \times$

उपभोगो उ पुनो पुनः उपभुज्जइ भक्षण-विलयाई ॥ (कर्मवि. वे. श्लो. बृ. ५१, बृ. ५८) । १६. भुज्यते-ऽसकृदेवात्र स्यादुपभोगसंज्ञकः । (साटीसं. ६, १४६) । १७. इन्द्रियद्वारेण शब्दादिविषयाणामुपलब्धिः उपभोगः । (सं. बृति. भूत. २-४४) ।

१ जो वस्तु बार-बार भोगी जा सके उसे उपभोग कहते हैं । २. भोग प्रादि इन्द्रियों के द्वारा शब्दादि विषयों की प्राप्ति को उपभोग कहा जाता है ।

३ जो अशन-पान प्रादि एक ही बार भोगे जा सकते हैं उन्हें उपभोग कहा जाता है ।

उपभोग-परिभोगपरिमाणस्त—१. उपभोगोऽशन-पान-गन्ध-मास्यादिः, परिभोगः प्राच्छादन-प्रावरणालङ्कार-शयनासन-गृह-बाह्यादिः, तयोः परिमाणमुपभोग-परिभोगपरिमाणम् । (सं. सि. ७, २१) । २. उपेत्य भुज्यते इत्युपभोगः । उपेत्यात्मसात्कृत्य भुज्यते अनुभूयत इत्युपभोगः अशन-पान-गन्ध-मास्यादिः । परित्यज्य भुज्यत इति परिभोगः । सकृद् भुक्त्वा परित्यज्य पुनरपि भुज्यते इति परिभोग इत्युच्यते, प्राच्छादन-प्रावरणालङ्कार-शयनासन-गृह-यान-बाह्यादिः । उपभोगश्च परिभोगश्च उपभोग-परिभोगी, उपभोग-परिभोगयोः परिमाणम् उपभोग-परिभोगपरिमाणम् । (सं. भा. ७, २१, ६-१०) ।

३. गन्ध-मास्यान्न-पानादिरुपभोग उपेत्य यः । भोगोऽयः परिभोगो यः परित्यज्यासनादिकः ॥ परिमाणं तयोर्मेव यथाशक्ति यथायथम् । उपभोग-परीभोग-परिमाणव्रतं हि तत् ॥ (हं. पु. ५८, १५५-५६) । ४. उपेत्य भुज्यत इत्युपभोगः अशनादिः । परित्यज्य भुज्यत इति परिभोगः, पुनः पुनर्भुज्यते इत्यर्थः, स वस्त्रादिः । परिमाणशब्दः प्रत्येकमुभयोर्यां सम्बन्धनीयः । (सं. श्लो. ७-२१) । ५. उपेत्यात्मसात्कृत्य भुज्यत इत्युपभोगः, अशन-पान-गन्ध-मास्यादिः । सकृद् भुक्त्वा पुनरपि भुज्यत इति परिभोगः, प्राच्छादन-प्रावरणालङ्कार-शयनासन-गृह-यान-बाह्यादिः । तयोः परिमाणमुपभोग-परिभोगपरिमाणम् । (भा. सा. पृ. १२) । ६. अशन-पान - गन्धमास्य - ताम्बूलादिकमुपभोगः कथ्यते । प्राच्छादन-प्रावरण-सूचन-शय्यासन-गृह-यान-बाह्य-

अतितादिकः परिभोग उच्यते । उपभोगश्च परिभोगश्च उपभोग-परिभोगी, तयोः परिमाणम् उपभोगपरिभोगपरिमाणम् । भोगोपभोग-परिमाणमिति च स्वचित् पाठो वर्तते । तत्र अनादिकं यत्सकृद् भुज्यते स भोगः, वस्त्र-वनितादिकं यत्पुनः पुनर्भुज्यते स उपभोगः तयोः परिमाण भोगोपभोगपरिमाणम् । (त. वृत्ति भूत. ७-२१) ।

१ अन्न-पानादि उपभोग और वस्त्र-अलंकारादि परिभोग, इन दोनों का परिमाण करने को उपभोग-परिभोगपरिमाण कहते हैं ।

उपभोग-परिभोगव्रत—उपभोग-परिभोगव्रत नाम अन्न-पान-खाद्य-स्वाद्य-गन्ध-मात्स्यादीनां प्रावरणालंकार-शयनाशन-गृह-यान-वाहनादीनां बहुसावधानां च वर्जनम्, अल्पसावधानामपि परिमाणकरणमिति । (त. भा. ७-१६) ।

अन्न, पान, खाद्य, स्वाद्य च गन्ध-मात्स्या आदि (उपभोग) तथा वस्त्र, अलङ्कार, शयन, आसन, गृह, यान और वाहन आदि (परिभोग); इनमें बहुत पापजनक वस्तुओं का सर्वथा परित्याग करना तथा अल्प सावध बाली वस्तुओं का प्रमाण करना, इसका नाम उपभोग-परिभोगव्रत है ।

उपभोग-परिभोगानर्थक्य—१. यावताऽर्थेनोपभोग-परिभोगी सोऽव्यस्ततोऽप्यस्याधिक्यमानर्थक्यम् । (त. सि. ७-३२; त. भा. ७, ३२, ६) । २. यावताऽर्थेनोपभोग-परिभोगस्याव्यस्ततोऽप्यस्याधिक्यमानर्थक्यम् । (त. इत्थो. ७-३२) । ३. न विद्यतेऽर्थः प्रयोजनं ययोस्ती अनर्थको, अनर्थकोर्भावः कर्म वा आनर्थक्यम्, उपभोग-परिभोगयोरानर्थक्यम् उपभोग-परिभोगानर्थक्यम्, अधिकमन्य दत्त्वा उपभोग-परिभोगग्रहणमित्यर्थः । (त. वृत्ति भूत. ७-३२) । ४. आनर्थक्यं तयोरेव (उपभोग-परिभोगयोः) स्यादसंभिनोर्द्वयोः । अनात्मोचितसंख्यायाः करणादपि द्वयम् ॥ (लाटीसं. ६-१४८) ।

१ जिसने उपभोग-परिभोग वस्तुओं से प्रयोजन की सिद्धि होती है उसने का नाम अर्थ है, उससे अधिक उपभोग-परिभोग के संग्रह को उपभोग-परिभोगानर्थक्य कहा जाता है । यह अनर्थक्यव्रत का एक अतिचार है ।

उपभोगाधिक्य—देखो उपभोग-परिभोगानर्थक्य । उपभोगस्य, उपलक्षणत्वाद् भोगस्य च उक्तनिर्वच

नस्याधिकत्वम् अतिरिक्तता उपभोगाधिकत्वम् । (ब. वि. मू. वृ. ३-३०) ।

भोग और उपभोग सामग्री का आवश्यकता से अधिक रखना, इसका नाम उपभोगाधिक्य है । यही उपभोग शाब्द भोग का उपलक्षण रहा है ।

उपभोगान्तराय—१. स्त्री-वस्त्र-शयनासन-भाजनादिक उपभोगः, पुनः पुनरुपभुज्यते हि सः, पीनः पुन्य चोगशब्दार्थः । स सम्भवन्नपि यस्य कर्मण उदयान्तरा परिभुज्यते तत्कर्मोपभोगान्तरायात्त्वम् । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८-१४) । २. उपभोग-

विषय उपभोगान्तराय । (बव पु. १५, पृ. १४) ।

३. मनुज्यते वि ह्र पते लङ्गे वि ह्र भांगसाहणे विभवे । भृत् नवरि न सक्क विरहविह्वलो वि अस्तुदये । (कर्मवि. ग. १६३, पृ. ६६) । ४. पुनः पुनर्भुज्यत इत्युपभोगः, शयन-वसन-वनिता-भूषणा-

दिस्तमुपभोग विद्यमानमनुपहनं ज्ञेऽपि यदुदयादुपभोक्तुं न शक्नोति तदुपभोगान्तरायम् । (शक्त. मत्त. हेम. वृ. ३७-३८, पृ. ५१) । ५. यदुदयाद् विद्यमानमपि वस्त्रालङ्कारादि नोपभुज्यते तत् उपभोगान्तरायम् । (कर्मवि. वे. स्त्रो. वृ. ५१) ।

१ जिस कर्म के उदय से जीव विद्यमान भी उपभोगसामग्री—स्त्री, वस्त्र व शय्या आदि—का उपभोग न कर सके उसे उपभोगान्तराय कर्म कहते हैं ।

उपमान—१. उपमान प्रसिद्धार्थसाधर्म्यसाध्यसाधनम् । (सद्यो. ३-१६, पृ. ४८८; न्यायवि. ३-८५) । २. यथा गौतथा गवयः केवलं सास्त्रारहितः इत्युपमानम् $\times \times \times$ । (त. भा. १, २०, १५) । ३. उपभोग्यतेऽनेन बाष्पान्तिकोऽर्थ इत्युपमानम् । (बशर्ष. हरि. वृ. १-५२) । ४. प्रसिद्धसाधर्म्यसाध्यसाधनमुपमानम् । (सिद्धि. वृ. ३, ७, पृ. १८४, पं. २०) । ५. प्रसिद्धेन गवादिना, प्रसिद्धं वा यत्साधर्म्यं तस्मात्, साध्यस्य संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानस्य, साधनं प्रमातृ-प्रमेयाभ्यामन्यः कारणकलापः उपमान प्रमाणम् । (सिद्धि. टी. ३-७ पृ. १८५, पं. २१-२३) ।

१ उपमान प्रसिद्धार्थसाधर्म्यसाध्यसाधनम् । (सद्यो. ३-१६, पृ. ४८८; न्यायवि. ३-८५) । २. यथा गौतथा गवयः केवलं सास्त्रारहितः इत्युपमानम् $\times \times \times$ । (त. भा. १, २०, १५) । ३. उपभोग्यतेऽनेन बाष्पान्तिकोऽर्थ इत्युपमानम् । (बशर्ष. हरि. वृ. १-५२) । ४. प्रसिद्धसाधर्म्यसाध्यसाधनमुपमानम् । (सिद्धि. वृ. ३, ७, पृ. १८४, पं. २०) । ५. प्रसिद्धेन गवादिना, प्रसिद्धं वा यत्साधर्म्यं तस्मात्, साध्यस्य संज्ञा-

संज्ञिसम्बन्धज्ञानस्य, साधनं प्रमातृ-प्रमेयाभ्यामन्यः कारणकलापः उपमान प्रमाणम् । (सिद्धि. टी. ३-७ पृ. १८५, पं. २१-२३) ।

१ प्रसिद्ध अर्थ की समानता से साध्य के सिद्ध करने को उपमान कहते हैं । ३ जिसके द्वारा बाष्पान्तरूप बदार्थ से समानता जानी जाती है उसे उपमान कहते हैं ।

३ जिसके द्वारा बाष्पान्तरूप बदार्थ से समानता जानी जाती है उसे उपमान कहते हैं ।

३ जिसके द्वारा बाष्पान्तरूप बदार्थ से समानता जानी जाती है उसे उपमान कहते हैं ।

उपमाश्लोक—तिष्ठितसद्वेयासवणरज्जुपमागो उव-
माश्लोभो नाम । (बच. पु. ५, पृ. १८५) ।
तीन सौ तैलाश्लो (३५३) धनराजु प्रमाण उपमा-
श्लोक माना जाता है ।

उपमास्त्य—१. भोवम्मेण दु सच्चं जाणसु पलियो-
वमादीया ॥ (भूला. ५-११६) । २. पत्थोपम-
सागरोपमादिकमुपमास्त्यम् । (अ. भा. विज्जयो. टी.
११६३) । ३. प्रमिद्धार्थसावृष्यमुपमा, तदाधितं
वचः उपमास्त्यम् । (गो. जी. जी. प्र. टी. २२४) ।
३ प्रसिद्ध अर्थ की समानता के आशय से जो वचन
कहा जाता है, उसे उपमास्त्य कहते हैं । जैसे—
पत्थोपम-सागरोपम इत्यादि ।

उपमास्त्या भाषा—उपमास्त्या सा जलु, एएसु
सदुवमाणधडिया जा । नासमविषम्ममहहुट्टा देसाइ-
गहणाग्रो ॥ (भाषार. ३५) ।

जो भाषा समीचीन उपमा से घटित होकर असम्भव
वर्णों के ग्रहण से—जैसे खट्टमुखो कहने पर मुख
में असम्भव कलंकितत्व आदि—इहित न हो, वह
उपमास्त्या भाषा कही जाती है ।

उपमित—उपमाण[विना]ज कालप्यमाण न
सकई चेत्तु त उवमियं भवति । (अनुयो. बू.
पृ. ५७) ।

जिस कालप्रमाण को उपमा के बिना ग्रहण न कर
सकें उसे उपमित कहते हैं ।

उपयुक्त नोप्रागमभावमंगल—प्रागममन्तरेणाधो-
पयुक्त उपयुक्तः । (बच. पु. १, पृ. २६) ।

प्रागम के बिना जो मंगलविषयक उपयोग से सहित
हो, उसे उपयुक्त नोप्रागमभावमंगल कहते हैं ।

उपयोग—१. $\times \times \times$ उपयोगो जाण-दसणं
मणिदो । (प्रव. सा. २-६२) । २. $\times \times \times$ उप-
योगो जाण-दसणं होई । (नि. सा. १०) । ३. उभय-
निमित्तवशादुत्पन्नमानवर्चस्तन्यानुविधावी परिणाम
उपयोगः । (स. सि. २-८) ; यत्सल्लिधानादात्मा
द्रव्येन्द्रियनिवृत्ति प्रति व्याप्रियते तन्निमित्त आत्मनः
परिणामः (प्र. मी.—परिणामविक्षेपः) उपयोगः ।
(स. सि. २-१८; प्रमाणमी. १, १, २३) । ४.
उपयोगः प्रणिधानमायोगस्तद्भावः परिणाम इत्यर्थः ।
(स. भा. २-१६) । ५. जो सविसयबाबारी सो
उवजोगो स वेगकालम्भि । एणेण वेव सग्गहा उव-
स्येगेयिदिमो सब्बो । (विज्जो. ३५६५) । ६. ब्रा-

ह्मात्मन्तर्हेतुद्वयसन्निधाते यथासम्भवमुपलब्धुर्चैव-
न्यानुविधावी परिणाम उपयोगः । (स. भा. २, ८,
२१) ; तन्निमित्तः (लम्बिनिमित्तः) परिणामविशेष
उपयोगः । तदुक्तं निमित्त प्रतीत्य उत्पन्नभावः
आत्मनः परिणाम उपयोग इत्युपदिश्यते । (स. भा.
२, १८, २) । ७. उपयोगो ज्ञानादिध्यापारः स्पर्शा-
दिविषयः । (स. भा. हरि. बू. २-१०) । ८. उप-
योजनयुपयोगो विवक्षिते कर्मणि मनसोऽभिनिवेशः ।
(नन्वी. हरि. बू. ६२) । ९. श्रेय-कृत्यस्वभावेव
परिणामः स्ववक्षिततः । उपयोगश्च तद्वृत्तं $\times \times \times$ ।
(पञ्चक. १०५-१५६) । १०. तदुक्तनिमित्तं (मान-
वरणक्षयोपशमविशेषरूपा लम्बि) प्रतीत्योत्पन्नमानः
आत्मनः परिणाम उपयोगः । (बच. पु. १, पृ.
२३६) ; स्व-परब्रह्मणपरिणामः उपयोगः । (बच. पु.
२, पृ. ४१३) । ११. तत्र क्षयोद्भवो भावः क्षयोप-
शमकश्च यः । तद्व्यवहितव्यापिसामान्यमुपयोगस्व
लक्षणम् । (स. हलो. २-८) । १२. अर्थग्रहणव्या-
पार उपयोगः । (प्रमाणप. पु. ६१; लघोप. अमय.
बू. १-५, पृ. १५) । १३. युज्यन्त इति योगाः, योज-
नानि वा जीवव्यापाररूपाणि योगा अभिधीयन्ते ।
उपयुज्यन्त इति उपयोगाः जीवविज्ञानरूपाः । (बच-
सं. स्वी. बू. १-३) । १४. उपयोगः उपलम्भः ज्ञान-
दर्शनसमाधि ज्ञान-दर्शनयोः सम्यक् स्वविषयसीमा-
नुत्सर्धनेन धारणं समाधिचक्ष्यते, अथवा युज्यन्
योगः ज्ञान-दर्शनयोः प्रवर्तनं विषयावधानाभिमुखता,
सामीप्यवर्ती योगः उपयोगो नित्यसम्बन्ध इत्यर्थः ।
(स. भा. सिद्ध. बू. २-८) । १५. उपयोगो हि ता-
वदात्मनः स्वभाववर्चस्तन्यानुविधायिपरिणामत्वात् ।
(प्रव. सा. अमुत्. बू. २-६३) । १६. आत्मनः परि-
णामो यः उपयोगः स कथ्यते । (स. भा. २-४६) ।
१७. आत्मनश्चैतन्यानुविधायिपरिणाम उपयोगः ।
(पञ्चा. का. अमुत्. व अय. बू. ४०) । १८.
तन्निमित्तः आत्मनः परिणाम उपयोगः, कारणधर्मस्व
कार्यं दर्शनात् । (भूला. बू. १-१६) । १९. उप-
योगस्तु रूपादिविषयग्रहणव्यापारः । (प्र. क. भा.
२-५, पृ. २३१) । २०. वस्तुनिमित्तं भावो जावो
जीवस्व को दु उवजोगो । (गो. जी. ६७२) । २१.
आत्मनश्चैतन्यानुवर्ती परिणामः स उपयोगः । (नि.
सा. बू. १-१०) । २२. उपयोजनं उपयुज्यते वस्तु-
परिच्छेदं प्रति व्यापार्यतेऽभाविति धनेनेति वा उप-

जीवो जीवस्त्वत्स्वभूतो बोधः । (संघहृषी वे. बु. २७३) । २३. अन्तोर्भावो हि वस्त्वर्थं उपयोगः $\times \times \times$ । (आचल. भाष. ४०) । २४. उपयोगः विवक्षितकर्मणि मनसोऽभिनिवेशः । (आच. नि. मल्ल. बु. ६४६, पु. ५२६) । २५. उपयोगजनमुपयोगः, यथा उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेत्युपयोगः $\times \times \times$ बोधरूपो जीवस्य तत्त्वभूतो व्यापारः प्रकृतः । (प्रज्ञाप. मल्ल. बु. २६-३१२, पु. ५२६; पंचसं. मल्ल. बु. १-३; सत्तक. मल. हेम. बु. २, पु. ३) । २६. उपयोगः स्व-स्वविषये सध्य-मुसादेनात्मनः परिच्छेदव्यापारः । (जीवाजी. मल्ल. बु. १-१३, पु. १६) । २७. उपयोगजनमुपयोगः बोधरूपो जीवव्यापारः । $\times \times \times$ उपयुज्यते वस्तु-परिच्छेदं प्रति व्यापार्यते इत्युपयोगः, $\times \times \times$ उप-युज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति जीवोऽनेनेत्युपयोगः, $\times \times \times$ सर्वत्र जीवस्त्वत्स्वभूतोऽन्वयबोध एवोपयोगो मनस्यः । (वहसोति मल्ल. बु. १-२, पु. १२२) । २८. उपयुज्यते वस्तु प्रति प्रेर्यते यः वस्तुस्वरूपपरि-ज्ञानार्थमित्युपयोगः $\times \times \times$, अथवा आत्मनः उप-समीपे योजनमुपयोग $\times \times \times$ कर्मसाधनमित्तवशादु-त्पद्यमानवर्तमानानुविधायी परिणाम इत्यर्थः । (त. मुनि श्रुत. २-८) ।

३ बाह्य और अन्तरकारण के वश जो चेतनता का अनुसरण करने वाला परिणाम (ज्ञान-वर्धन) उत्पन्न होता है उसे उपयोग कहा जाता है । $\times \times \times$ जिसकी समीपता में आत्मा इन्द्रियेन्द्रिय निवृत्ति के प्रति व्याप्त होता है उसके निमित्त से होने वाले आत्मा के परिणाम को उपयोग (भावेन्द्रिय) कहते हैं ।

उपयोगवर्णना—उपयोगो नाम कोहादिकसाएहि बहु जीवस्स संपजोगो, तस्स वग्गणाधो विवप्या जेवा ति एयद्दो । जहण्णोवजोगट्ठाणप्यद्दुद्धि जाव उक्कस्सोवजोगट्ठाणे ति शिरंतरमवट्ठिदाणं तम्बिय-प्याणमुवजोगवग्गणावएसो ति वुत्त होइ । (अवच. —कसा. पा. पु. ५७६, टि. १) ।

कोबादि क्रियाओं के साथ जीव का सम्प्रयोग होने को उपयोग कहते हैं । इस उपयोग के अन्तर्गत स्वान से लेकर उत्कृष्ट स्वान तक निरन्तर जितने भी विकल्प या भेद हैं उन्हें उपयोगवर्णना कहते हैं ।

उपयोगशुद्धि—१. पादोद्धार-निक्षेपदेशजीवपरिह-रणावहितचेतस्ता उपयोगशुद्धिः । (भ. भा. विषयो. टी. ११६१) । २. उपयोगशुद्धिः पादोद्धारनिक्षेप-देशवर्तिप्राणिपरिहरणप्रणिधानपरायणत्वम् । (भ. भा. मूला. टी. ११६१) ।

अतः सत्य वरों को उठाते और रखते हुए तद्देश-वर्ती जीवों की रक्षा में जिस की साधनानता को उपयोगशुद्धि कहते हैं ।

उपयोगेन्द्रिय—देखो उपयोग । उपयोगेन्द्रियं यः स्वविषये ज्ञानव्यापारः । (सलितवि. मु. पं. पु. ३६) ।

अपने विषयभूत वस्तुओं को जानने के लिए जो ज्ञान का व्यापार होता है उसे उपयोगेन्द्रिय कहते हैं । उपवास— $\times \times \times$ उपवासः उपवसनम् $\times \times \times$ किं तत् ? चतुर्भुक्पुरुषभक्तं वतसुणां भुक्तीनां भोज्या-नामशन-स्वाद्य साद्य पेयद्रव्याणां भुक्तिक्रियाणां च त्यागः । (सा. च. स्वो. टी. ५-३४) ।

अशनः स्वाद्य, साद्य और पेय रूप चार प्रकार के आहार के साथ भोजन क्रिया का भी परित्याग करना, इसका नाम उपवास है ।

उपशम—१. आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशा-दनुद्भूतिरुपशमः । (त. सि. २-१; आरा. सा. टी. ४, पु. १२) । २. कर्मणोऽनुद्भूतस्वकीयवृत्ति-तोषणमोक्ष-प्राप्तितपक्कवत् । यथा सकलुषस्याभ्रसः कतकादिद्रव्यसम्पर्कात् अघःप्रापितमलद्रव्यस्य तत्कृ-तकालुष्याभावात् प्रसाद उपलभ्यते तथा कर्मणः कारणवशादनुद्भूतस्वकीयवृत्तिता आत्मनो विशुद्धि-रुपशमः । (त. बा. २, १, १) । ३. उदय अभावां उपसमो । (अनुयो. बु. पु. ४३) । ४. उपशान्ति-रुपशमः । (आ. अ. टी. ५९) । ५. उपशमनमुप-शमः । कर्मणोऽनुदयलक्षणवस्था भ्रमपटलावच्छ-न्नाग्निवत् । (त. आ. हरि. व सिद्ध. बु. २-१) ।

६. अनुद्भूतस्वसामर्थ्यं वृत्तितोषणमो मतः । कर्मणां पुंसि तोषादावघःप्राप्तितपक्कवत् ॥ (त. स्वो. २, १, २) । ७. (कर्मणां फलदानसमर्थतया) अनुद्भू-तिरुपशमः । (पंचा. का. अनुत्त. बु. ५६) । ८. उप-शमः स्वफलदानसामर्थ्यानुद्भवः । (अन. घ. स्वो. टी. २-४७) । ९. तत्रोपशमो भ्रमपटलान्तेरिवा-नुद्रेकावस्था, प्रवेशतोऽपि उदयाभाव इति यावत् । स चेत्यनुत्त उपशमः सर्वोपशमः उच्यते । स च

मोहनीयस्त्वैव कर्मणो न शेषस्य, 'सम्बुधसमना मोह-
स्त्वैव उ' इति वचनप्रामाण्यात् । (पंचसं. मल्ल. वृ. २-३, पृ. ४५) । १०. यद्यपि गुणवत्पुरुषप्रज्ञापनाहं-
त्वेन जिज्ञासादिगुणयोगान् मोहापकर्षप्रयुक्तरागद्वेष-
शक्तिप्रतिपातलक्षण उपशमः । (धर्मसं. मान. स्को. वृ. १, १८, १५) । ११. उपशमस्य अनुदीर्घस्य
विष्कम्भितोदयत्वम् । (वदन्ती. वे. स्को. वृ. ६४) ।

१२. कर्मणोऽनुदयस्वरूपः उपशमः कथ्यते । (त.
वृत्ति. श्रुत. २-१) ।

१ आत्मा में कारणवशा कर्म के फल देने की शक्ति
के प्रगट न होने को उपशम कहते हैं ।

उपशमक—१. अपूर्वकरणपविट्टमुद्विंसंजयेषु उप-
समा खवा । अणियट्टिबादरसांपराइयपविट्टमुद्विंसंज-
येषु अस्थि उवसमा खवा । सुहुमसांपराइयपविट्ट-
मुद्विंसंजयेषु अस्थि उवसमा खवा । (वदन्. १, १,
१६-१८) । २. अपूर्वकरणपरिणाम उपशमकः अप-
कश्चोपचारात् ॥ × × × तत्र कर्मप्रकृतीनां नोप-
शमो नापि क्षयः, किन्तु पूर्वभोतरत्र च उपशमं क्षयं
वाप्येव उपशमकः अपक इति च वृत्तवद्वदुपपद्यते ।
अनिवृत्तिपरिणामवशात् स्थूलभावेनोपशमकः अप-
कश्चानिवृत्तिबादरसाम्परायाविति भाष्यते ।
सूक्ष्मभावेनोपशमात् अपणाञ्च सूक्ष्मसाम्पराया ॥
साम्परायः कषायः, स यत्र सूक्ष्मभावेनोपशान्तिं क्षय
च प्रापयते तौ सूक्ष्मसाम्पराया वेदितव्यौ ॥ (त.
वा. ६, १, १६-२१) । ३. अपूर्वकरणानामन्तः-
प्रविष्टशुद्धयः अपकोपशमसंयताः, सर्वे सभूय एको
गुणः । (वच. पु. १, पु. १८१); साम्परायाः
कषायाः बादराः स्थूलाः, बादराश्च ते साम्परायाश्च
बादरसाम्परायाः, अनिवृत्तयश्च ते बादरसाम्परा-
याश्च अनिवृत्तिबादरसाम्परायाः, तेषु प्रविष्टाः शुद्धि-
र्येषां संयतानां तेऽनिवृत्तिबादरसाम्परायप्रविष्टशुद्धि-
संयताः, तेषु सन्ति उपशमकाः अपकाश्च । सर्वे ते
एको गुणः अनिवृत्तिरिति । (वच. पु. १, पु.
१८४); सूक्ष्मश्चासौ साम्परायश्च सूक्ष्मसाम्परायः ।
तं प्रविष्टा शुद्धिर्येषां संयतानां ते सूक्ष्मसाम्पराय-
प्रविष्टशुद्धिसंयताः । तेषु सन्ति उपशमकाः अप-
काश्च । सर्वे ते एको गुणः, सूक्ष्मसाम्परायत्वं प्रत्य-
भवात् । (वच. पु. १, पु. १८७) । ४. अनिवृत्ति-

बादर-सूक्ष्मसाम्परायलक्षणगुणस्थानकद्वयवर्ती अन्तु-
रुपशमक उच्यते । (वदन्तीति वे. स्को. वृ. ७०, पृ.
१६६-६७) ।

१ अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसाम्पराय
ये तीन गुणस्थानवर्ती जीव उपशमक कहाते हैं ।

२ अनिवृत्तिबादरसाम्पराय और सूक्ष्मसाम्पराय—
जीव व इसमें गुणस्थानवर्ती जीव—उपशमक कहे
जाते हैं । अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती उपचार से
उपशमक हैं ।

उपशमकक्षेत्री—यत्र मोहनीयं कर्मोपशमयन्मा-
त्साऽऽरोहति सोपशमकक्षेत्री । (त. वा. ६, १,
१८) ।

जहाँ (अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय
और उपशान्तमोह गुणस्थान) जीव मोहनीय—
चारित्र्यमोहनीय—को उपशान्त करता हुआ आरो-
हण करता है उसे उपशमकक्षेत्री कहते हैं ।

उपशमचरण—चारित्र्यमोहनीय उवसमदो होदि
उवसमं चरणं । (भावप्र. १०) ।

चारित्र्यमोहनीय के उपशम से जो चारित्र्य उत्पन्न
होता है, उसे उपशमचरण कहते हैं ।

उपशमनाकरण—१. उदयोदीरण-निवृत्ति-निका-
चनाकरणानां यदयोग्यत्वे व्यवस्थान तदुपशम-
नाकरणम् । (पंचसं. स्को. वृ. १, पृ. १०६) ।

२. उपशमना सर्वकरणायोग्यत्वसम्पादनम् । (वद-
न्तीति हरि. वृ. ११, पृ. १३१) । ३. कर्मपुद्गला-
नामुदयोदीरणा- निवृत्ति - निकाचनाकरणायोग्यत्वेन
व्यवस्थापनमुपशमना । × × × उपशम्यते उदयो-
दीरणा-निवृत्ति-निकाचनाकरणायोग्यत्वेन व्यवस्था-
प्यते कर्म यथा सोपशमना । (कर्मप्र. मल्ल वृ. २,
पृ. १७-१८) ।

१ कर्मों के उद्घ, उदीरणा, निवृत्ति और निकाचित
करण के योग्य करने को उपशमनाकरण कहते हैं ।

उपशमनिष्पन्नभाव—उपशमनिष्पन्नस्तु कोषा-
नुदयाभावफलरूपो जीवस्य परमशान्तावस्थालक्षणः
परिणामविशेषः । (पंचसं. मल्ल. वृ. २-३, पृ.
४५) ।

कोषादि कषायों के उद्घ का अभाव होने से जीव
के जो परम शान्त अवस्था रूप परिणामविशेष होता
है, उसे उपशमनिष्पन्नभाव कहते हैं ।

उपशमसम्यक्त्व—१. संसर्गमोहणीयस्य उव-
समेण उवसमसम्मतं होदि । (अब. पु. ७, पृ.
१०७) । २. सत्तण्हं पयडीणं उवसमदो होदि उव-
समं सम्मं । (कार्तिके. ३०८) । ३. सत्तण्हं उवसमदो
उवसमसम्मो × × × । (गो. जी. २६) ; संसर्गमोह-
वसमदो उप्पज्जइ जं पयत्थसह्हणं । उवसमसम्मत्त-
मिणं पसणमलपंकतोयसमं । (गो. जी. ६५० ;
आबधि. ६) । ४. कोह्वउक्कं पडयं धणंतवंचीणि
आमयं भणियं । सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तयं
तिणिणं ॥ एएंसि सत्तण्ह उवसमकरणेण उवसमं
भणियं । (आबध. वे. २६६-६७) । ५. प्रसमस्य
ततो भव्यः कर्मप्रकृतिसत्तकम् । शान्तमुहूर्तकं पूर्वं
सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ॥ (अमि. आ. २-५१) ।
६. भनन्ताणुवग्निचतुष्कस्य वसंतमोहनीयस्य चोद-
याभावलक्षणप्रशस्तोपशमेन प्रसन्नमलपंकतोयसमानं
यत्पदार्थश्रद्धानुत्पद्यते तदिदमुपशमसम्यक्त्वम् ।
(गो. जी. जी. प्र. टी. ६५०) । ७. मिथ्यात्वमिश्र-
सम्यक्त्वानन्तानुबन्धिकोष-मान-माया-लोभानां सप्ता-
नां प्रकृतीनामुपशमात् कतकफलयोगात् जलकर्ममो-
पशमवत् उपशमसम्यक्त्वम् । (कार्तिके. टी. ३०८) ।
८. अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दुःखमोहोपशमाद्यथा । पुंतो-
ऽवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पके ॥ (पञ्चाध्यायी
२-३८०) ।
१ बर्त्तनमोहनीय के उपशम से उत्पन्न होने वाले
सम्यक्त्व को—सत्पदार्थश्रद्धान को—उपशमसम्यक्त्व
कहते हैं ।

उपशमसम्यग्दृष्टि—१. उवसमसम्मोहद्वी नाम
कर्म भवदि ॥ उवसमियाए लद्धीए ॥ (अद्व. २, १,
७४-७५) । २. समीची दृष्टिः श्रद्धा यस्यासी सम्य-
ग्दृष्टः । × × × एवासि (अनन्ताणुबन्धिकउक्कस
संसर्गमोहनीयस्य च) सत्तण्हं पयडीणमुवसमेण उव-
समसम्मोहद्वी हीइ । (अब. पु. १, पृ. १७१) ; संस-
र्गमोहणीयस्य उवसमेणेदसस (उवसमसम्मोहद्विस्स)
उप्पसिदंसणायो । (अब. पु. ७, पृ. १०६) ।

२ श्रमशमिक लब्धि से—अनन्तानुबन्धी चार और
बर्त्तनमोहनीय तीन, इन सात प्रकृतियों के उपशम
से—जीव उपशमसम्यग्दृष्टी होता है ।

उपशान्त—१. ह्यास्यामास्या (उदीर्ण-बध्यमाना-
स्यां) व्यतिरिक्तः कर्मपुद्गलस्करः उपशान्तः ।
(अब. पु. १२, पृ. १०३) ; उवए संकम उवए चहुसु

वि दावुं कमेण णो सक्कं । उवसंतं च णिवसंतं त्रि-
काचिदं चावि जं कम्मं ॥ (जं कम्मं उवए दावुं णो
सक्कं तमुवसंतं) । (अब. पु. १५, पृ. २७६ उ.;
गो. क. ४४०) । २. यत्कर्मोदयावत्यां निक्षेपुमवा-
क्यं तदुपशान्तम् । (गो. क. जी. प्र. टी. ४४०) ।
२ जो कर्म उदयावली में न दिया जा सके उसे उप-
शान्त कहते हैं ।

उपशान्त कषाय—१. सर्वस्य (मोहस्य) उपश-
मात् क्षणपञ्च उपशान्तकषायः क्षीणकषायश्च ।
(त. भा. ६, १, २२) । २. उपशान्तः कषायो येषां
ते उपशान्तकषायाः । × × × उक्तं च—सकषा-
ह्वं जल वा सरए सरवाणिजं च णिमल्यं । सय-
लोवसंतमोहो उवसंतकषायमो होदि ॥ (प्रा. बंधसं.
१-२४; अब. पु. १, पृ. १८६ उ.; गो. जी. ६१) ।
३. अथो मले यथा नीते कलकैनाम्भोऽस्तं निर्मलम् ।
उपरिष्ठात्तथा शान्तमोहो ध्यानेन मोहने ॥ (बंधसं.
अमि. १-४७) । ४. उपशान्ता उपशमिता विद्य-
माना एव सन्तः संक्रमणोद्भूतं नादिकरणविपाकप्रवेशो-
दयायोग्यत्वेन व्यवस्थापिताः कषायाः प्राग्विकृत-
शब्दार्था येन स उपशान्तकषायाः । (बंधसं. अलव.
बु. भा. १-१५; कर्मस्त. गो. बु. २, पृ. ७३) ।
५. परमोपशममूर्तिनिजात्मस्वभावसंविबलेनोप-
शान्तमोहा एकादशगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति । (बु.
ब्रह्मसं. टी. १३) । ६. जो उवसमइ कसाए मोहस्सं-
वधिपयडिबूहं च । उवसामधो ति भणिमो लवबो
णामं ण सो लहइ ॥ (आबध. वे. ६५५) । ७.
× × × सुखमसम्परायचरमसमयानन्तरोत्तरसमये
वीतरागचिनुद्विपरिणामविजुं भित्तयथाक्याताचारिभो-
पयुक्तो यो जीवः स सकलोपशान्तमोहः सम्पुपशान्त-
कषायनामा भवति । सकलः—प्रकृतिस्थित्यनुभावा-
प्रवेशक्रमणोदीरणादिसमस्तकरणगोचरः, उपशान्तः
—उदयायोग्यो मोहो यस्य स उपशान्तमोहः । (गो.
जी. अ. प्र. टी. ६१) । ८. साकल्येनोदयायोग्याः
कृताः कषाय-मोकाषाया येनासावुपशान्तकषायः । (गो.
जी. जी. प्र. टी. ६१) ।

१ सम्पूर्ण मोह कर्म का उपशम करने वाले प्यारद्वय
गुणस्थानवर्ती जीव को उपशान्तकषाय कहते हैं ।
उपशान्तकषायप्रतिपात—सो च उवसंतकषाय-
स्स पडिबादो दुविहो भवक्खवणिजं वणो उवसामव-
दाक्खवणिजं वणो वेदि । × × × उवसंतदाए खाए

पश्चिदधनं बलदस्सामो । तं जहा—उवसंतमद्वाह-
एण पदंते सोमे वेव पडिबददि, सुधुमसांपराइय-
मुणमनंनूण मुणंतरगमणाभावा । (अथ. पु. ६, पृ.
३१७-१८) ।

अधुना कर्म के शेष रहने पर भी उपशान्तकाल के
अन्त्य होने से जो उपशान्तकथाय मुणस्थान से नीचे
सकवाय मुणस्थानों में गिरता है, उसके इस अन्त्य-
पात को उपशान्तकथायप्रतिपात कहते हैं । यह उप-
शान्तकथाय का प्रतिपात उपशान्तनाडाकथनविश्वम्भ
है ।

उपशान्तमोह— $\times \times \times$ उवसंतो हि तु उवसंतो ।
(अतक. भा. ६०, पृ. २१) । $\times \times \times$ उव-
सतेषं तु उवसंतो ॥१०॥ (गु. गु. बद्ध. स्तो. वृ.
१७, पृ. ४५) । ३. अथोपशान्तमोहः स्यामोहस्वो-
पशमे सति । (योगशा. स्तो. विष. १-१६) ।

देखो उपशान्तकथाय ।

उपशान्ताडा—जम्हि काले मिच्छतमुवसतभावे-
णच्छदि सो उवसमसम्मसकालो उवसंतडा त्ति
भण्णदे । (अथ. —क. पा. पृ. ६३०, टि. १) ।
जिस काल में मिच्छात्त्व उपशान्त रूप में रहता है
उस काल को उपशान्ताडा कहते हैं ।

उपशामना—ताधो वेव सत्रमासजमलदीधो पडि-
वज्जमाणस्स पुक्खवद्धान कम्माणं चारितपडिबंभी-
णमणुदयनवसणा उवसामणा । (अथ. पत्र ८१५);
उवसामणा णाम कम्माणमुदयादिपरिणामेहि विणा
उवसतभावेणावट्ठणं । (अथ. पत्र ८५६) ।

उपशान्त अवस्थाओं के बिना कर्मों का उपशान्त
स्वरूप से अवस्थित रहना, इसका नाम उपशामना है ।
उपसम्पदा—१. उपसंपया आचार्यस्य ठीकनम् ।
(अ. भा. विजयो. टी. २-६८) । २. उपसंपया
आचार्यस्यात्मसमर्पणम् । (अ. भा. मूला. टी.
२-६८) ।

२ आचार्य के पास जाकर उन्हें आत्मसमर्पण करने
को उपसम्पदा कहते हैं ।

उपस्थापना—देखो अनुपस्थान । १. पुनर्दीक्षाप्रा-
पणमुपस्थापना । (स. सि. ६-२२; स. श्लो. ६,
२२; स. सुखशो. वृ. ६-२२) । २. पुनर्दीक्षाप्रापण-
मुपस्थापना । महावतानां मूलोच्छेदं कृत्वा पुनर्दी-
क्षाप्रापणमुपस्थापनेत्याख्यायते । (स. भा. ६, २२,
१०) । ३. उपस्थापनं पुनर्दीक्षणं पुनस्वरणं पुनर्ब्रता-

रोपणमित्यनर्थान्तरम् । (स. भा. ६-२२) । ४. अन्-
वस्थाप्य-पारञ्चिकप्रायश्चित्ते लिङ्ग-अन्त-काल-
तपःसाधम्यदिकस्योक्त्योक्ते, तत्र यथोक्तं तपो
यावन्न कृतं तावन्न ब्रतेषु लिङ्गे वा स्थाप्यते
इत्यनवस्थाप्य तैर्नैव तपसातिचारपारमञ्चति
गच्छतीति पारञ्चिकः (सि. वृ. अतिचारपारम-
ञ्चतीति पारञ्चिकः) । पृषोदरादिपाठाच्च संस्का-
रः । तयोः पर्यन्ते ब्रतेषूपस्थापनम्, पुनर्दीक्षणं पुनः
प्रव्रज्याप्रतिपत्तिः, पुनस्वरणं चारित्र्यम्, पुनर्ब्रतारो-
पणमित्यनर्थान्तरम् । तत्रानवस्थाप्यस्य विषयः साध-
मिकान्यधार्मिकास्तेयहस्तताडनादिः, दुष्टदृढान्योन्य-
करणादिः पारञ्चिकमिति । (स. भा. हरि. व सिद्ध.
वृ. ६-२२) ।

महान् अपराध के होने पर ब्रतों का मूलोच्छेद करके
पुनः शीक्षा देने को उपस्थापना कहते हैं ।

उपादानकारणत्व—१. उपादानम् उत्तरस्य कार्य-
स्य सजातीयं कारणम् । (न्यायवि. वि. १-११२) ।
२. तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतामिरूपितस्वप्नस-
त्वसम्बन्धावच्छिन्नकारणनाशासित्वं तदिति उपा-
दानकारणत्वम् । (अष्टस. वृ. १५, पृ. १६५) ।

२ जिसके विनष्ट होने पर विवक्षित कार्य उत्पन्न
होता है तथा जो उस कार्य के साथ तादात्म्य
सम्बन्ध रहता है वह उपादान कारण कहा जाता है ।
उपादानत्व—कार्यं सकलस्वगतविशेषाध्यायकत्वं
दृष्टुपादानत्वम् । (सांख्यभा. टी. ४-८०) ।

कार्य में अपनी समस्त विशेषता को समर्पित कर
देना, यही उपादान कारण की उपादानता है ।

उपाधिवचन—परिमहाज्जण-संरक्खणाइधासत्ति-
हेदुवयणमुवाहिवयणं । (अंग. पृ. २६२) ।
परिग्रह के अर्जन और संरक्षण आदि में प्राप्त
के कारणभूत वचन का नाम उपाधिवचन है ।

उपाध्याय (उवउध्याय)—१. रयणतयसंजुता
जिणकहियपयत्थवेसया सूर । णिक्कंलभावसहिया
उवउध्याया एरिसा होंति ॥ (नि. सा. ७४) ।
२. बारसंघे [गं] जिणक्कादं सज्जायं कथितं बुधे ।
उववेसइ सज्जाय तेणुवउध्याउ उच्चवि । (मूला.
७-१०) । ३. बोरससार-भीमाडवीकाणणे तिवक्ख-
वियराल-गह-पाव-पञ्चाणणे । गट्टमणाण जीवाण
पहवेसया वदिओ ते उवउध्याय अगहे सया ॥ (प्र.
अं. वृ. अ. ४, पृ. २६५) । ४. अण्णाणचोरति-

मिरे दुरंततीरम्हि हिबमाणां । भवियाणुज्जोयरा
उवज्झया वरमदिं वेति । (ति. व. १-४) । ५.
मोक्षार्थं शास्त्रमुपेत्य तस्मादधीयत इत्युपाध्यायः ।
(त. सि. ६-२४) । ६. वारसंगो जिणक्खाओ
सज्झाओ कहिओ जुहेहि । तं उवइसंति जम्हा उव-
क्काया तेण वृच्चंति । (आच. नि. ६६७, पृ. ४४६) ।
७. आचारगोचरविनयं स्वाध्यायं वा आचार्यादनु
तस्मादुपाधीयत इत्युपाध्यायः । संग्रहोपग्रहानुग्रहा-
र्थं उपोपाधीयते । संग्रहादीन् वास्त्योपाध्येतीत्युपाध्यायः ।
(त. भा. ६-२४) । ८. उपेत्याधीयतेऽस्मात् साधवः
सुप्रमित्युपाध्यायः । (आच. नि. हरि. बु. ६६५, पृ.
४४६); तं (ग्रहंत्यणीतं द्वादशागुरुं) स्वाध्याय-
मुपदिशन्ति वाचनारूपेण यस्मात् कारणादुपाध्याया-
स्तेनोध्यन्ते, उपेत्याधीयतेऽस्मादित्यन्वयार्थोपपत्तेः ।
(आच. नि. हरि. बु. ६६७, पृ. ४४६) । ९. उपेत्य
यस्मादधीयते इत्युपाध्यायः । विनयेनोपेत्य यस्मात्
व्रत-शील-भावनाधिष्ठानादागमं श्रुताख्यमधीयते स
उपाध्यायः । (त. भा. ६-२४, ४) । १०. ससमय-
परसमयविक्रमं भ्रणेत्यसत्त्वधारणसमस्या । ते तुज्ज
उवज्झया पुत्त सया मंगलं वेत्तु । (पञ्चम. ८६,
२१) । ११. चतुर्दशविधास्थानव्याख्यातारो उपाध्या-
यास्तात्कालिकप्रवचनव्याख्यातारो वा आचार्यस्त्यो-
क्ताशेषलक्षणसमन्विताः । संग्रहानुग्रहादिगुणहीनाः ।
“बोइसपुज्जमहोयहिमहिग्गम सिवसिधयो सिवत्थी-
णं । सीलंवरण वत्ता होइ मुणीसो उवज्झाओ ॥”
(अब. पु. १, पृ. ५०) । १२. उपेत्य तस्मादधीयते
इत्युपाध्यायः । (त. श्लो. ६-२४) । १३. उपाध्या-
यः ग्रन्थायकः । (आचारा. शी. बु. २७६, पृ.
३२२) । १४. रत्नत्रयेष्वृता जिनागमार्थं सम्यगुप-
दिशन्ति ये ते उपाध्यायाः उपेत्य विनयेन लोकित्वा-
धीयते श्रुतमस्मादित्युपाध्यायः । (अ. भा. विजयो.
टी. ४६) । १५. विनयेनोपेत्य यस्मात् व्रत-शील-
भावनाधिष्ठानादागमं श्रुताभिधानमधीयते स उपा-
ध्यायः । (आ. सा. पृ. ६६) । १६. येषां उपःशी-
रनवा शरीरे विवेचका वेतसि तत्त्वबुद्धिः । सरस्वती
तिष्ठति वक्त्रपद्मे पुनन्तु तेऽध्यापकपुङ्गवा वः ॥
(अभिमत. भा. १-४) । १७. जो रयणसमवृत्तो
णिच्चं धम्मोवदेसणे गिरदो । सो उवज्झाओ धप्पा
वडिबरवडहो यमो तस्स ॥ (अब. ५३) । १८.
योऽस्ती बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानेन युक्तः ब-
-

ध्य-पञ्चास्तिकाय-सप्ततत्त्व-नवपदार्थेषु मध्ये स्व-
शुद्धात्मद्वयं स्वशुद्धजीवास्तिकायं स्वशुद्धात्मतत्त्वं
स्वशुद्धात्मपदार्थमेवोपादेयं शेषं हेयम्, तथैवोक्तम-
स्माद्विधमं च नित्यमुपदिशति योऽस्ती × × × स
चेत्वंभूतो (?) आत्मा उपाध्यायः । (बु. अज्जसं. टी.
५३) । १९. परसमय-तिमिरदलणे परमागमदेसए
उवज्झाए । परमगुणरयणविहे परमागमभाविदे
वीरे ॥ (अ. बी. प. १-४) । २०. आचार्यलब्धानु-
ज्ञाः साधवः उप समीपेऽधीयतेऽस्मादित्युपाध्यायः ।
(योगज्ञा. स्वो. विच. ४-६०) । २१. धनेकनयसं-
कीर्णशास्त्रार्थव्याकृतिसमः । पंचाचाररतो ज्ञेय
उपाध्यायः समाहितः ॥ (मी. सा. १६) । २२. उप-
देष्टार उत्कृष्टा उदात्ता उन्नतिप्रदाः । उपाधि-
रहिता ध्येया उपाध्याया उकारतः ॥ (आत्मप्र.
१११) । २३. आचारगोचरविषयं स्वाध्यायमाचार्य-
लब्धानुज्ञाः साधव उप समीपेऽधीयन्तेऽस्मात्स उपा-
ध्यायः । (धर्मसं. मान. स्वो. बु. ३-४६, पृ. १२६) ।
२४. एकादशाङ्गसत्पूर्वचतुर्दशभुत पठन् । व्याकुर्वन्
पाठयन्नन्यानुपाध्यायो गुणाग्रणीः । (धर्मसं. भा.
१०-११७) । २५. मोक्षार्थम् उपेत्याधीयते शास्त्र
तस्मादित्युपाध्यायः । (त. बु. श्रुत. ६-२४; कालि-
के. टी. ४५७) । २६. उपाध्यायः समाधीयान् वादी
स्याद्वादकोविदः । वागमी वाक्कसर्वज्ञः सिद्धान्ता-
गमपारागः ॥ कविः प्रत्यप्रसूत्राणां शब्दार्थैः सिद्ध-
साधनात् । गमकोऽर्थस्य भाष्यं धुर्यो वक्तृत्ववत्स-
नाम् ॥ उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासोऽस्ति कार-
णम् । यदध्येति स्वयं चापि सिद्धान्तध्यापयेद् गुरुः ॥
(पंचाभ्यायी २, ६५६-६१; लाटीटी. ४, १८८-३) ।
१ जो महहि रत्नत्रय से सम्पन्न होकर जिनप्रकृति
पदार्थों का निरीहभूति से उपवेश किया करते हैं
उन्हें उपाध्याय कहते हैं ।
उपायविचय—देखो उपायविचय । १. उपाय-
विचयं तासां पुण्यानामात्मसात्क्रिया । उपायः स
कथं मे स्यादिति संकल्पसन्ततिः ॥ (ह. पु. ५६,
४१) । २. उपायविचयं प्रशस्तमनोवाक्याप्रवृत्ति-
विशेषोऽवश्यः कथं मे स्यादिति संकल्पो द्वितीयं
धर्मम् । (आ. सा. पृ. ७७) । ३. उपायविचयं
प्रशस्तमनोवाक्याप्रवृत्तिविशेषोऽवश्यः कथं मे स्या-
दिति संकल्पोऽध्यवसानं वा, दर्शनमोहोदयाज्जन्ता-
विकारणवशाज्जीवाः सम्मन्वेषोनादिव्यः पराङ्मुखाः

इति चिन्तनमुपायविषयं द्वितीयं धर्मम् । (कार्तिके. टी. ४८२) ।

१ पुण्यक्रियाओं का—मग, वचन व काय की शुभ प्रवृत्तियों का—आत्मसात् करना, इसका नाम उपाय है । यह उपाय कबसे किस प्रकार से प्राप्त हो, इस प्रकार के चिन्तन को उपायविषय (धर्मव्याप्त का एक भेद) कहते हैं । १ को लोप वर्धनमोह के उदय से सम्बन्ध से पराङ्मुख हो रहे हैं उन्हें सम्मार्ग की प्राप्ति कैसे हो, इस प्रकार के चिन्तन को उपाय-विषय कहा जाता है ।

उपासकदशा—१. उपासकदशापरिवर्तस्तु किञ्चिन्मनोऽर्ज्युद्वलपरिवर्त इति । (आ. प्र. टी. ७२) । २. ऊगस्त भद्रयोगलपरिवर्तस्त उवद्व-
योगलमिदि सण्णा । उपजन्दस्य हीनार्थवाचिनो
ग्रहणात् । (अथ. २, ३६१) ।

१ कुछ कम धर्म पुद्गलपरिवर्तनकाल को उपास-
कदशापरिवर्त कहते हैं ।

उपासकदशा—उपासकदशा द्वादश कवलाः, धर्मसमीपमुपास, द्वादश कवलाः, यतः कवलचतुष्टय-
प्रक्षेपात् संपूर्णमर्थं भवति । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८-१६) ।

आरत प्राप्त प्रमाण आहार के लेने को उपासकदशा-
कहते हैं । कारण कि वह आरत के समीप है—
(३-४-१२) ।

उपासकदशा—देखो उपासकदशा । धर्मस्य
समीपमुपास द्वादशकवलाः, यतः कवलचतुष्टयप्रक्षे-
पात् संपूर्णमर्थं भवति, ततो द्वादशकवला उपास-
कदशम् । (योगशा. स्वो. विव. ४-८६) ।

देखो उपासकदशा ।

उपासकदशा—१. धामफलानि न कर्षति तुम्ह मा
सेसए वि हूसेहि । मा य सकज्जे मुज्झसु एमाई होउ-
वालंभी ॥ (बुहक. ८६६) । २. धामफलानि युष्माकं
गृहीतुं न कल्पन्ते, धतः शोधानपि साधु मा हूय—
निजदुश्चरितेन मा कलङ्कितान् कुह, मा च स्वकार्ये
निरवधप्रवृत्त्यात्मके चारित्रे मुहुः, इत्येवमादिकः स-
पिपाससिद्धाकूपः उपासकदशा भवति । (बुहक. लेख. वृ. ८६६) ; उपासकदशाः सपिपासवचनैः शिवा ।
(बुहक. ले. वृ. ८६६) ।

कच्चे कलों का लेना तुम्हें योग्य नहीं है, इससे पुनः
म. ३५

[सब साधुओं को अपने दुश्चरित्र से कर्लकिते धन
करो तथा अपने निर्मल अनुष्ठान में मोह को प्राप्त
न होओ, इत्यादि प्रकार से शिक्षा देने का नाम
उपासकदशा है ।

उपासकदशा—१. से कि तं उपासकदशाभो ?
उपासकदशासु व समणोवासयानं नगराई उज्जवाणं
वेइयाई वणसंघाई समोसरणाई रायाणी धम्मा-
पियरो धम्मायरिधा धम्मकहाओ इहोइध-पर-
लोइधो इहिविसेसा भोगपरिष्काया पम्पज्जाओ
परिधाया सुमपरिग्गहा तवोवहाणाई सील-
व्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खण-पोसहोवसःसपडिवज्जण-
या पडिमाओ उवसग्गा संलेहणाओ भत्तपच्चक्खा-
णाई पाओवगमणाई देवलोगममणाई सुकुलपच्चा-
याईओ पुणवोहिलाभा भंतकिरिधाओ म आचवि-
ज्जति । उपासकदशासु णं परिता वायणा संलेज्जा
अणुभोगदारा संलेज्जा वेडा संलेज्जा सिलोगा सल्ले-
ज्जाओ निज्जुलीओ संलेज्जाओ संगहणीओ संले-
ज्जाओ पडिवत्तीओ । से णं अंगदुयाए सत्तेम अंगे एगे
सुमसंसे वस अज्जयणा वस उद्वेसणकाला वस समु-
ह्वेसणकाला संलेज्जा पयसहस्ता पयमेणं संलेज्जा
अक्खरा अणता गमा अणता पज्जा परिता तसा
अणता वावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपल्ल-
ता आवा आचविज्जति पल्लविज्जति पक्खिज्जति
दंसिज्जति निवंसिज्जति उवदंसिज्जति । से एवं धाया
एवं नाया एवं विन्नाया एवं चरण-करणपकवणा
आचविज्जह । से तं उपासकदशाभो । (मन्वी. वृ. ५१, पृ. २३२) । २. उपासकाः आचकाः, तद्गत-
क्रियाकलापनिबद्धा दशाः दशाध्ययनोपलभिताः उपा-
सकदशाः । (मन्वी. हरि. वृ. पृ. १०४) । ३. उपा-
सकः आचकीरेवं स्वातन्त्र्यमिति धेव्यव्ययनेषु वससु
वर्ष्यते ता उपासकदशाः । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. १-२०) । ४. उपासकाः आचकाः, तद्गतापुत्रतादि-
क्रियाकलापप्रतिबद्धा दशा अध्ययनानि उपासक-
दशाः । (मन्वी. अथ. वृ. ५१, पृ. २३२) ।

१ जिस अंग में अचनों के उपासक आचकों के नगर
व उज्जान आदि के साथ सीलवत्, पुनवत्, प्रत्या-
व्यान और पीवबोपवात के ग्रहण की विधि का
विशेष हो तथा प्रतिभा, उपसर्ग, संलेशना, अन्त-
प्रत्याव्यान, प्रायोपगमन और वैवलोकगमन आदि की

भी कर्मा की गई हो, उसे उपासकबन्धा कहते हैं ।

उपासकाध्ययनांग—१. उपासकाध्ययने आचक-
धर्मलक्षणम् । (त. बा. १, २०, १२) । २. उपा-
सयश्चमयणं नाम अंगं एकारसलक्षसत्तरिहस्त-
पदेहि ११७०००० संतण-वद-सामाहय-पोसह-
सच्चित्त-राहभस्ते य । बह्मरंभ परिग्रह-अणुमण-
मुहिद्वेसविरदी य ॥ इदि एकारसविह-उवामगणं
लक्ष्णं तेषि चैव वदारोहणविहाणं तेषिमाचरण च
वण्णेदि । (धब. पु. १, पु. १०२) ; उपासकाध्ययने
सैकादशलक्ष-सप्ततिपदसहस्रे ११७०००० एकादश
विषयभावकधर्मो निरूप्यते । (धब. पु. ६, पु. २००) ।
३. उपासयश्चमयणं नाम अंगं संतण-वद-सामाहय-
पोसहोववास-सच्चित्त-रायिभत्त-बंभारभ-परिग्रहाणु-
मणुद्विगुणमागमेकारसलक्षमुवासायण धम्ममेकार-
सविह वण्णेदि । (जयध. १, पु. १२६-३०) । ४. सप्त-
तिसहस्रैकादशलक्षपदसंख्यं आचकानुष्ठानप्ररूपक-
मुपासकाध्ययनम् ११७०००० । (अुत्तभ. टी. ७) ।
५. आचकाचारप्रकाशक सप्ततिसहस्राधिकैकादशल-
क्षपदप्रमाणमुपासकाध्ययनम् । (त. वृत्ति भु. १-२०) ।
६. उपासत आहारादिधानैरित्यमहादिवूजाविधानैश्च
सधमाराधयन्तीत्युपासकास्तेऽधीयन्ते पठन्ते दर्श-
निक-व्रतिक-सामायिक-प्रोषधोपवास-सच्चित्तविरत-रा-
त्रिभक्तव्रत-ब्रह्मचर्यारम्भ-परिग्रहनिवृत्तानुमतोद्दिष्ट-
विरतभेदैकादशलक्षितयसम्बन्धिव्रत-गुण-मीलाचारक्रिया-
मन्त्रादिविस्तरैर्बध्यन्तेऽस्मिन्नित्युपासकाध्ययनं नाम
सप्तमममम् । (यो. जी. जी. प्र. टी. ३५७) ।
७. जिस अंगभूत में दर्शनिक आदि ग्यारह प्रकार के
आचकों के लक्षण, उनके व्रत-ग्रहण की विधि एवं
आचरण का विधान किया गया हो उसे उपासकाध्य-
यन कहते हैं ।

उपांशुजप—उपांशुस्तु परैरभ्युमाणोऽन्तःसंजल्प-
रूपः । (निर्वाणक. पु. ४) ।

जिसकी ध्वनि दूसरे को न सुनाई दे, ऐसे अन्तर्बल्य-
रूप मंत्रोच्चारण करने को उपांशुजप कहते हैं ।

उपेक्षा—१. सुह-दुःखविधासणमुपेक्षा । (म.
आ. १६६६) । २. राग-द्वेषयोरप्रणिधानमुपेक्षा ।
(स. सि. १-१०; त. बा. १, १०, ७; त. वृत्ति
भुत. १-१०) । ३. अरक्त-द्विष्ट उदासीनस्तद्भाव
धीमासीयम्, तत् उपेक्षेति, ईक्षणम् आलो-
चनं सामीप्येन अरक्त-द्विष्टतया अरागवृत्तिना

अद्वेष्टवृत्तिना । (त. भा. हरि. वृ. ७-६) । ४. पर-
दोषोपेक्षणमुपेक्षा । (बोद्धक ४-१५) । ५. मोहा-
भावाद् राग-द्वेषयोरप्रणिधानादुपेक्षा । (अष्टस-
१०२) । ६. द्वेषो हानमुपादानं रागस्तद्द्वयवर्जनम् ।
स्यातोपेक्षेति $\times \times \times$ । (त. श्लो. १, २६, १४) ।
७. सुखेऽरागा दुःखे वा अद्वेषा उपेक्षेत्युच्यते । (म.
आ. विजयो. टी. १६६६) । ८. उपेक्षा राग-मोहा-
भावः । (आ. जी. वृ. १०२) । ९. सुह-दुःखवि-
धासणा—सुख-दुःखयोः साम्येन भावनम् । उक्तं च
 $\times \times \times$ उपेक्षा समचित्ता । (म. आ. भूला.
१६६६) ।

२ द्वष्ट-अनिष्ट में राग-द्वेष न करने का नाम
उपेक्षा है ।

उपेक्षा-असंयम—उपेक्षाऽसंयमोऽसंयमयोगेषु व्या-
पारण संयमयोगेष्वव्यापारणं वा । (समवा. अमथ.
वृ. सू. १७, पु. ३३) ।

असंयमयोग वाले कार्यों में लगने अथवा संयमयोग
वाले कार्यों में प्रवृत्त न होना, इसे उपेक्षा-असंयम
कहते हैं ।

उपेक्षा-संयम—१. देश-कालविधानज्ञस्य परानुपरो-
धेन उत्सृष्टकायस्य (त. श्लो.—परानुपरोधोत्सृष्ट-
कायस्य) त्रिधा गुप्तस्य राग-द्वेषानभिष्वंगलक्षण
उपेक्षासंयमः । (त. बा. ६, ६, १५; त. श्लो. ६,
६) । २. देशकालविधानज्ञस्य परानुपरोधोत्सृष्ट-
कायस्य काय-वाङ्मनःकर्मयोगानां कृतनिग्रहस्य त्रिगु-
प्तिगुप्तस्य राग-द्वेषानभिष्वंगलक्षण उपेक्षासंयमः ।
बा. सा. वृ. ३०) । ३. उपेक्षा उपेक्षणम्, उपकरणा-
दिक व्यवस्थाप्य पुनः कालान्तरेणाप्यवर्जनं जीव-
सम्पूछनादिक दृष्ट्वा उपेक्षणम्, तस्या उपेक्षायाः
संयमनं दिनं प्रति निरीक्षणमुपेक्षासंयमः । (भूला.
वृ. ५-२२०) । ४. सुहस्यान् सावधव्यापारप्रसक्ता-
नव्यापारणेनोपेक्ष्यमाणस्योपेक्षासंयमः । (योगशा.
स्थो. विव. ४-६३) । ५. अथोपेक्षासंयम उच्यते
—देश-कालविधानज्ञस्य परेषामुपरोधेन व्युत्सृष्ट-
कायस्य त्रिगुप्तिगुप्तस्य मुनेः राग-द्वेषयोरनभिष्वंगः ।
(त. वृत्ति भुत. ६-६) ।

१ देश काल के ज्ञाता एवं मन, बचन, काय का निग्रह
करने वाले (त्रिगुप्तिगुप्त) साधु के राग-द्वेष के
अभाव को उपेक्षासंयम कहते हैं ।

उपेक्ष्यसंयम—उपेक्ष्यसंयमः व्यापार्याव्यापार्यं चेत्यर्थः ।

एवं च संयमो भवति, साधून् व्यापारयतः प्रवचनविहितासु क्रियासु संयम इति व्यापारणमेव, धर्मव्यापारम् उपेक्षणम् ब्रह्मणान् स्वक्रियासु धर्मव्यापारयत उपेक्ष्यमाणस्य—धीदासीन्धं भजतः—संयमो भवति । (त. भा. हरि. च सिद्ध. वृ. ६-६) ।

अपनी व्रत-क्रियाओं के पालन करने वाले साधुवर्गों को उनकी शास्त्र-विहित क्रियाओं में लगाने, तथा अपनी व्रत क्रियाओं का न पालन करने वाले आचर्यों में उपेक्षाभाव धारण करते हुए संयम के परिपालन को उपेक्ष्यसंयम कहते हैं ।

उपोद्घात—उपोद्घातस्तु प्रायेण तदुद्दिष्ट (उपक्रमेणोद्दिष्ट) वस्तुप्रबोधनफलः अर्थानुगमत्वात् । (आच. नि. मलय. वृ. १२८, पृ. १४८) ।

जिसका प्रयोजन उपक्रम से उद्दिष्ट वस्तु का प्रबोध कराना होता है उसे उपोद्घात कहा जाता है ।

उभयक्षेत्र—उभयमुभय-(सेतु-केतु-) जलनिष्पाच-सत्यम् । (योगशास्त्र स्त्रो. विष. ३-६५) ।

जिस क्षेत्र—आत्मोत्पत्ति की भूमि—का सिञ्चन उभय से—अरुह्य आदि के तथा बारिश के दोनों ही प्रकार के जल से—हुआ करता है उसे उभय-क्षेत्र कहते हैं ।

उभयपदानुसारिबुद्धि—द्वेक्षो उभयसारी । मध्यम-पदस्यार्थं ग्रन्थं च परकीयोपदेशादधिगम्याद्यन्तावधि-परिच्छिन्नपदसमूहप्रतिनियतार्थग्रन्थोदघिसमुत्तरणस-मर्शसाधारणातिशयपटुविज्ञाननियता उभयपदानु-सारिवुद्धयः । (योगशास्त्र स्त्रो. विष. १-८) ।

मध्यम पद के अर्थ और ग्रन्थ को दूसरे के उपदेश से जानकर आदि और अन्त के सब पद समूह के प्रतिनियत अर्थ एवं ग्रन्थरूप समूह के पार पहुँचने वाली प्रतिशायित बुद्धि के बारक—उक्त बुद्धि के बारक—उभयपदानुसारिबुद्धि कहे जाते हैं ।

उभयप्रायश्चित्त—सगावराहं गुरुणमालोचय गुरु-समिलया श्वराहादौ पडिभियत्ती उभयं णाम पाय-च्छित्तं । (वच. पु. १३, पृ. ६०) ।

अपने अपराध की गुरु के समीप आलोचना करके गुणसाक्षीपूर्वक अपराध से आत्म-निवृत्ति करने को उभय (आतोचन-प्रतिक्रिया) प्रायश्चित्त कहते हैं ।

उभयबन्ध—१. पुनः जीव-कर्मपुद्गलयोः परस्परपरिणामनिमित्तमावृत्तेन विशिष्टतरः परस्पर-मवाहः स तदुभय (जीव-पुद्गलौभय) बन्धः ।

(प्रब. सा. अमृत. वृ. २-८५) । २. इतरतर- (उभय-) बन्धश्च देशानां तद्वयोमिषः । बन्ध्य-बन्ध-कभावः स्याद् भावबन्धनिमित्ततः ॥ (पञ्चाध्यायी २-४८) ।

१ परस्पर के परिणामरूप निमित्त के बन्ध होने वाले जीव और कर्म के परस्पर एकमेकावगाहरूप विशिष्टतर बन्ध को उभयबन्ध कहते हैं ।

उभयबन्धिनी—उभयस्मिन्नुदयेऽनुदये वा बन्धो-ऽस्ति यासां ता उभयबन्धिन्यः । (बंघसं. मलय. वृ. ३-५५, पृ. १४७) ।

जिन प्रकृतियों का बन्ध उनके उदय में भी हो और अनुदय में भी हो उन्हें उभयबन्धिनी कहते हैं ।

उभयमनोयोग—१. × × × जागृभयं सञ्चमोसो ति ॥ (गो. जी. २१८) । २. उभयः—सत्य-मृषार्थज्ञान-जननशक्तिरूपभावमनोजनितप्रयत्नविशेष उभयमनो-योगः । (गो. जी. म. प्र. ब जी. प्र. टी. २१८) ।

सत्य और असत्यरूप पदार्थ-ज्ञान के उत्पन्न करने की शक्तिरूप भावमन से जनित प्रयत्नविशेष को उभय (सत्यासत्य) मनोयोग कहते हैं ।

उभयवचनयोग—१. × × × जागृभयं सञ्चमोसो ति । (वच. पु. १, पृ. २८६ उद्.; गो. जी. २२०) । २. धर्मविवक्षितैः सत्येऽसत्ये पार्थविवक्षितैः । वाक् प्रवृत्तोभयाख्या सा भाषेतीहेध्यते यथा ॥ घटाकृतिस्यपेताया वाराणां भूरिवारिणः । कुण्डिकाया घटाख्यै बहुभेदमिदं वचः ॥ (आचा. सा. ५, ८१-८२) । ३. कमण्डलुनि घटोऽयमित्यादिसत्य-मृषार्थवागव्यापारप्रयत्न उभयवचोयोगः । (गो. जी. प्र. टी. २२०) ।

३ कमण्डलु में 'यह घट है' इस प्रकार सत्य और असत्य अर्थों को विषय करने वाले वचनव्यापार का जो प्रयत्न है, उसे उभयवचनयोग कहते हैं ।

उभयवच—संकल्पितस्य जीवस्य वच उभयवच इति । (बंघसं. स्त्रो. वृ. ४-१६, पृ. ६४) ।

संकल्पित जीव के घात करनेको उभयवच कहते हैं ।

उभयविषय नाममंगल—उभयविषयं यथा वन्दन-मालाया मंगलमिति नाम । (आच. मलय. पृ. ६) ।

जीव और अजीव इन दोनों के आश्रित वन्दनमाला आदि वस्तुओं का 'मंगल' ऐसा नाम रखने को उभयविषय नाममंगल कहते हैं ।

उभयभुत—जे सुयवृद्धिद्वि सुयवृद्धिद्विहो पभा-
सई भावे । तं उभयभुतं भनइ वचनसुं जे धनुव-
उत्तो ॥ (विशेषा. गा. १२६) ।

भुतवृद्धि से वृद्ध—पर्याप्तोचित—परायणों को जो भुत-
वर्धित कहला है वह उभयभुत कहलाता है ।

उभयसारी (पदानुसारी)—वेसो उभयपदानु-
सारी । १. नियमेण ग्रन्थियमेण य जुगवं एगस्स बीज-
सहस्स । उवरिअहेट्ठिमगं जा बुज्झइ उभयसारी
सा ॥ (सि. प. ४-६८३) । २. दोपासट्ठियपदाहं
नियमेण, विधा नियमेण वा ज्ञानंती उभयसारी
नाम । (अव. पु. ६, पु. ६०) ।

२ मध्य में स्थित किसी एक पक्ष को चुन कर दोनों
पक्षों में स्थित पक्षों के नियम वा ग्रन्थिय से
ज्ञानने को उभयसारी वृद्धि कहते हैं ।

उभयस्थित—उभयस्थितं कुन्मी-कोष्ठिकाविस्वं
पाण्यत्पाटनाद् बाहुप्रसारणाच्च । (अनंत. ज्ञान.
स्वो. बु. ३-२२, पु. ४०) ।

कुन्मी (धटिका) अथवा कोष्ठिका (मिट्टी से बना
बड़ा पात्र—कुटिया) में से जोष्य वस्तु को निकाल
कर देना, वह उभयस्थित—ऊर्ध्वाधःस्थित—मात्सा-
पहत मानक उद्गमबोध है ।

उभयाक्षरलम्बि—एगत्थे उल्लङ्घे कम्मि वि उभ-
यस पच्चमो होइ । अस्ततरि खरअसाणं गुल-दहि-
माणं सिंहरीणीए ॥ (बुहल्ल. ३१) ।

उभयगत अर्थ से संयुक्त अथवा उभय के अथय-
युक्त किसी एक पदार्थ के उपलब्ध (प्रत्यक्ष) होने
पर जो परोक्षभूत उभय पदार्थों से सम्बद्ध अक्षरों का
बोध होता है, वह उभयाक्षरलम्बिभुत कहलाता है ।
औसे—अक्षर के देखने पर उभयगत सङ्ग अर्थ के
वक्ष परोक्षभूत गथा और बोद्धा से सम्बद्ध अक्षरों
का बोध, अथवा शिक्षारिणी (श्रीलङ्घ) के उपलब्ध
होने पर उभयगत अथयवों के योग से वही और
बुद्ध का बोध ।

उभयानुगामी—यत्त्वोत्पन्नोन्न-भवान्तरं च न
गच्छति, स्वोत्पन्नोन्न-भवयोरेव विनश्यति तदुभया-
नुगामी । (गो. जी. न. प्र. ब जी. प्र. टी. ३७२) ।
जो अक्षयिज्ञान जिस क्षेत्र और भव में उत्पन्न होता
है उस क्षेत्र से क्षेत्रान्तर को, तथा भव से भवान्तर
को त्याग नहीं जाता है, किन्तु अपने उत्पन्न होने के
क्षेत्र और भव में ही निवृत्त हो जाता है, उसे उभय-

नुगामी अक्षयिज्ञान कहते हैं ।

उभयानन्त—अं तं उभयानंतं तं तथा जेव उभय-
दिखाए पेक्कमाणे धंताभावादो उभयवेसा—
[उभया-]नंतं । (अव. पु. ३, पु. १६) ।

मध्य से दोनों ओर देखने पर आकाशप्रवेशों की
पंक्ति का अन्त चूँकि देखने में नहीं आता है, इसी-
लिए उसे उभयानन्त कहा जाता है ।

उभयानुगामी—यत्त्वोत्पन्नोन्न-भवान्तामन्यस्मिन्
भरतंरावत-विदेहादिक्षेत्रे देव-मनुष्यादिभवे च वर्त-
मानं जीवमनुगच्छति तदुभयानुगामी । (गो. जी.
न. प्र. ब जी. प्र. टी. ३७२) ।

जो अक्षयिज्ञान अपने उत्पन्न होने के क्षेत्र से भद-
तादि क्षेत्रान्तर में, तथा भव से देवादि भवान्तर में
त्याग जाता है, उसे उभयानुगामी अक्षयिज्ञान
कहते हैं ।

उभयासंख्यात—अं तं उभयासंख्येयं तं लोयाया-
सस्त उभयदिशामो, तामो पेक्कमाणे पदेसगणं
पवुच्च सत्ताभावादो । (अव. पु. ३, पु. १२३) ।

लोकाकाश की दोनों दिशाओं की ओर देखने पर
चूँकि आकाशप्रवेशों की गणना करना सम्भव नहीं
है, अतएव इसे संख्या का अभाव होने से उभया-
संख्यात कहा जाता है ।

उत्तका (उत्तका)—जलतन्निपिडो ष्व धनेगसंठाणेहि
आगासादो निवर्तता उत्तका नाम । (अव. पु. १४,
पु. ३५) ।

जलते हुए अग्नि-पिण्ड के समान जो आकाश से
अनेक आकारों वाला पुद्गलपिण्ड भूमि की ओर
गिरता है, उसे उत्तका कहते हैं ।

उत्तसन्नासन्न—तेषो धवसन्नासन्निका, धवसंज्ञा-
संज्ञा धोर उच्छलक्षणसन्निका । परमावृद्धि धनं-
ताणंतेहि बहुविहेहि धन्वेहि । उवसण्णासण्णी ति
य सो खंघो होवि पाणेण ॥ (सि. प. १-१०२) ।
अनन्तान्त बहुत प्रकार के परमावृद्धि के पिण्ड का
नाम उत्तसन्नासन्न है ।

उत्थ—१. मार्दवपाककुटुम्भः । (अनुवो. हरि. बु.
पु. ६०; त. ना. लिङ्ग. बु. ५-२३) । २. आहार-
पाकादिकारणं ज्वलनाद्यनुगत उत्थः । (कर्मवि. के.
स्वो. बु. ४०, पु. ५१) । ३. उपरित वृद्धि वस्तुमिति
उत्थम् । (अनन्त. नि. सा. बु. ४-५७, पु. १८) ।

२ जो अग्नि आदि से अनुपुत रूपों आहार आदि के

परिपाक का कारण होता है, उसे उष्णस्पर्श कहते हैं।

उष्णनाम (उत्पत्त्यात्म)—जस्त कम्मस्स उद-
एष शरीरपोम्यात्तं उणुणभावी होवि तं उणु-
णाम् । (बघ. पु. ६, पृ. ७५) ।

जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गलस्पर्शों में
उष्णता होती है उसे उष्णनामकर्म कहते हैं ।

उष्णपरिग्रहसहज—१. निवर्ति निर्जले प्रीष्मरवि-
किरणपतितपर्णव्यपेतच्छायातरुण्यद्वयान्तरे यदुच्छ-
योपपतितस्थानधानाद्यभ्यन्तर-साधनोत्पादितदाहस्य
बहामिदाहपक्षवातातपजनितगल-तालुशोषस्य तत्प्र-
तीकारहेतून् बहूननुभूतान् चिन्तयतः प्राणिपीडापरि-
हारावहितैतत्परिहाररक्षणमुष्णसहनमित्युपवर्ण्यते ।

(स. सि. ६-६) । २. उक्षिणपरिवायेण परिदाहेण
तज्जिए । धिबु वा परिवायेणं सायं नो परिदेवए ॥
उष्णहिततो मेहावी सिणार्ण नो वि पसए । गायं
नो परिसिचिज्जा व वीएज्जा व आपयं ॥ (उत्तरा.
२, ८-६) ।

३. दाहप्रतीकारकाहृशाभावाच्चारित्र-
रक्षणमुष्णसहनम् । प्रेम्णेण पटीयसा भास्करकिरण-
समुद्भूत सन्तापितशरीरस्य लृणानशमपित्तरोगघर्न-
शमप्रादुर्भूतोष्णस्य स्वेदशोषदाहाम्यदितस्य जल-
भवन-जलावगाहानुलेपन-परिरेकाद्राविनीतल-नीलो-
त्पल-कदलीपत्रोल्लेप-माक्षतजलतुलिकाचन्दन-चन्द्रपा-
द-कमल-कल्हार-मुक्ताहारादिपूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रा-
प्यनापेतचेतसः उष्णवेदना क्षतितीव्रा बहुकृत्वाः पर-
वशादाप्ता इवं पुनस्तपो मम कर्मक्षयकारणमिति
तद्विरोधिनी क्रियां प्रत्यनादराच्चारित्ररक्षणमुष्ण-
सहनमिति सामान्नायते । (स. बा. ६, ६, ७) ।

४. उष्णचरित्तोऽपि न जलावगाहन-स्नान-भ्यजन-
वातादि बाष्कमेव, नैवातपन्नाद्युष्णभागायाऽऽद-
तेति, उष्णमापतितं सम्यक् सहेत, एवमनुष्ठितोष्ण-
परीषहजयः कृतो भवति । (आच. हरि. बु. पृ.
६५७) ।

५. दाहप्रतीकारकाहृशाभावाच्चारित्ररक्षण-
मुष्णसहनम् । (स. श्लो. ६-६) । ६. उष्णं निदा-
धादितापात्मकम्, तदेव परीषहः उष्णपरीषहः ।

(उत्तरा. सा. बु. पृ. ८२) । ७. उष्णं पूर्वोक्तप्रका-
रेण सन्निधानात् [चारित्रमोहनीय-वीर्यान्तरायापे-
क्षासातावेदनीयवयात्] शीताभिलाषकारणादित्य-
ज्वरादिसन्तापः, × × × क्षमजम् [तत्सहनमुष्ण-
परीषहजयो भवति] । (सूत्रा. बु. ५-५७) । ८.

तरुणतरविकिरणपरितापशुष्कपर्णव्यपेतच्छायातरुण्य-
द्वयान्तरे शम्यत्र वा क्वापि गच्छतो निवसतो वाय-
शानादितपोविशेषसमुत्पादितान्त-प्रचुरदाहस्य महोष्ण-
खर-पक्षवातसम्पर्कजनितगलतालुशोषस्यापि अत्रा-
णिपीडापरिहारबुद्धितो जलावगाह-स्नानगानाध्या-
सेवनं तदुष्णपरीषहसहनम् । (पंचसं. भलन. बु. ४,
२१, पृ. १८८) । ९. प्रीष्मे शूष्यदशोषदेहिमिकरे
भार्तण्डचक्षुषांशुभिः, संतप्तास्मत्तनुस्तृपानशन-रक्षके-
शादिजातोष्णजम् । शोष-स्वेद-विदाहलेदमवशेना-
प्तं पुरापि स्मरन्, तन्मुक्त्यै निजप्राध्यापनरतिः
स्यादुष्णजिष्णुर्वती ॥ (आचार. सा. ७-७) । १०.
प्रनियतविहृतिर्वनं तदाव्यज्वलदनशान्तमितः प्रबुद्ध-
शोषः । तपतपनकरालिताभ्यक्षिन्नः स्मृतनरकोष्ण-
महातिरुष्णसाट् स्यात् ॥ (अन. व. ६-६२) ।

११. दाहप्रतीकारकाकाराहितस्य शीतद्रव्यप्राप्यनानु-
स्मरणोपेतस्य चारित्ररक्षणमुष्णसहनम् । (आच.
सा. डी. ४०) । १२. यो मुनिनिर्मलति निरम्भसि
तपतपनरविमपरिशुष्कनिपतितच्छदरहितच्छायशु-
विपिनास्तरे स्वेच्छया स्थितो भवति, असाध्यपित्तो-
त्पादितान्तदाहस्य भवति, दावानलदाहपक्षवातास्ता-
मनसजनितकण्टकाकुदशोषवच भवति, उष्णप्रती-
कारहेतुभूतबल्लनुभूतवृत्तपानकादिकस्य न स्मरति,
जन्तुपीडापरिहृतिसावधानमनाद्य यो भवति, तस्यो-
ष्णपरीषहजयो भवति पवित्रचारित्ररक्षणं च भवति ।
(स. बुद्धि. श्रुत. ६-६) । १३. उष्णं निदाधादिता-
पात्मकम् । (उत्तरा. जे. बु. २, पृ. १७) ।

१ निवर्ति, निर्जल शरीर प्रीष्मकालीन सूर्य की
किरणों से सुख कर पत्तों के चिर जाने से छाया-
हीन हुए बुद्धों से संयुक्त मन के मध्य में स्वेच्छा से
स्थित; अनशन धार्मिक के कारण उत्पन्न दाह से
पीड़ित; दावानल शरीर लोखन वायु (यू) के द्वारा
बिसका गया व तालु सुख गया है, ऐसा साधु पूर्व-
नुभूत प्रतीकार के कारणों का स्मरण करके भी
प्राणीपीडा के परिहार में वृत्तचित्त होता हुआ
उसके प्रतीकार का विचार न करके अपने चारित्र्य
का रक्षण करता है । इस प्रकार के कष्ट के सह्य
करने को उष्णपरीषहजय कहते हैं ।

उष्ण धोमि—उष्णः सतापपुद्गलप्रचयप्रदेशो वा ।
(सूत्रा. बु. १२-५८) ।

जीवों की उत्पत्ति के आचारानुसृत उष्ण स्थलं धामे

पुद्गलों के समुदाय को उच्च योनि कहते हैं ।

उच्चस्पर्शनाम—यदुदाज्जन्तुशरीरं हुतमुजादिवदुष्यं भवति तदुच्चस्पर्शनाम । (कर्मवि. ३. स्त्रो. ५. ४, पृ. ३१) ।

जिसके उच्च से प्राणी का शरीर अग्नि के समान उच्च होता है उसे उच्चस्पर्श नामकर्म कहते हैं ।

ऊर्ध्वकपाट (उद्धकपाट)—ऊर्ध्वं च तत् कपाटं च ऊर्ध्वकपाटम् । ऊर्ध्वं कपाटमिव लोकः ऊर्ध्वकपाटलोकः । जेण लोगो बोहसरज्जुउत्सेहो, सत्तरज्जुबंदो, मज्जे उवरिमपेरेंते च एगरज्जुबाह्लो, उवरि बम्हलोपुदेंसे पंचरज्जुबाह्लो, मूले सत्तरज्जुबाह्लो, अण्णएथ जहाणुवद्धिदाह्लो; तेण उद्धट्ठिमकाओवमो । (बब. पु. १३, पृ. ३७६) ।

लोक ऊँकि नीचेह राज्ज ऊँचा, सात राज्ज विस्तारवाला तथा अप्य च उपरिम भाग में एक राज्ज, ऊपर ब्रह्मलोक के पास पाँच राज्ज और नीचे सात राज्ज बाहुल्य वाला है, अतएव उसे ऊर्ध्वस्थित कपाट के समान होने से ऊर्ध्वकपाट कहा जाता है ।

ऊर्ध्वतासामान्य—१. परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता भुवि च स्वासादिषु । (परीक्षामुल ४-५) ।

२. ऊर्ध्वतासामान्यं क्रमभाविषु पयपिष्वेकत्वान्वयप्रत्ययप्राज्ञं द्रव्यम् । (युक्त्यन्व. टी. १-३६, पृ. ६०) ।

३. पूर्वापरपरिणामसाधारणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यं कटक-कंकणाद्यनुगामिकांचनवत् । (प्र. न. त. ५-५) ।

४. यत्परापरपर्यायव्यापि द्रव्यं तदूर्ध्वता । मृषया स्वास-कोशादिविवर्तपरिवर्तिनी ॥ (आचा. सा. ४-४) ।

५. ऊर्ध्वतासामान्यं च परापरविवर्तव्यापि मुत्स्नाविद्रव्यम् । (रत्नाकराच. ३-५; मयप्र. पृ. १००) ।

६. ऊर्ध्वमुत्सेक्षिताऽनुगताकारप्रत्ययेन परिच्छिद्यमानमूर्ध्वतासामान्यम् । (रत्नाकराच. ५-३) ।

७. ऊर्ध्वतादिसामान्यम् पूर्वापरगुणोदयम् । (ब्रह्मा. त. २-४) ।

८. ऊर्ध्वतासामान्यं च पूर्वापरपरिणामे साधारणद्रव्यम् । (स्था. ट. ५. २१) ।

१. पूर्वापरकालभाषी पर्यायीं में व्याप्त रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं । जैसे—उत्तरोत्तर होने वाली स्वास, कोश व कुशुल आदि पर्यायीं में सामान्यकल्प से अक्षस्थित रहने वाला मृद् (मिट्टी) द्रव्य ।

ऊर्ध्वदिग्धत—ऊर्ध्वा दिग् ऊर्ध्वदिग्, तत्सम्बन्धि

तस्यां वा व्रतं ऊर्ध्वदिग्धतम्, एतावती दिग्धर्ध्वं पर्वताचारोहणादवगाहनीया, न परतः । (आच. वृ. अ. ६, पृ. ८२७; आ. प्र. टी. भा. २८०) ।

१. ऊर्ध्वं (पर्वत आदि) विना सम्बन्धी प्रमाण का जो नियम किया जाता है, उसे ऊर्ध्वदिग्धत कहते हैं ।

ऊर्ध्वप्रचय—१. समयविशिष्टवृत्तिप्रचयस्तदूर्ध्वप्रचयः । × × × ऊर्ध्वप्रचयस्तु विकोटिस्थितत्वेन

सांशरवाद् द्रव्यवृत्तेः सर्वद्रव्याणामनिवारित एव । अयं तु विशेषः—समयविशिष्टवृत्तिप्रचयः शेषद्रव्याणामूर्ध्वप्रचयः समयप्रचय एव कालस्योर्ध्वप्रचयः । (प्रब. सा. अमृत. वृ. २-४६) ।

२. प्रतिसमयवातिनां पूर्वोत्तरपर्यायाणां मुक्ताफलमालावत्सन्तानः ऊर्ध्वप्रचय इत्यूर्ध्वतासामान्यमित्यायतसामान्यमिति कमानेकान्त इति च भण्यते । (प्रब. सा. अ. वृ. २-४६) ।

१. समयसमूह का नाम ऊर्ध्वप्रचय है । ऊँकि प्रत्येक द्रव्य परिणयनशील होने से प्रत्येक समय में पूर्व पर्याय को छोड़कर नवीन पर्याय से परिणत हुआ करता है, अतएव यह ऊर्ध्वप्रचय जहाँ द्रव्यों के पाया जाता है । इतना विशेष है, काल को छोड़कर अन्य पाँच द्रव्यों का ऊर्ध्वप्रचय जहाँ समयकल्प ही है, कारण कि काल के परिणयन में अन्य कोई कारण नहीं है, जबकि अन्य द्रव्यों के परिणयन में काल कारण है ।

ऊर्ध्वरेणु—१. अट्टसपहसिण्हायो सा एगा उद्धरेणु । (मणवती ६-७, पृ. ८२) ।

२. ऊद्धमहस्तिर्येकं स्वतः परतो वा प्रवर्तते इति ऊर्ध्वरेणुः । (अनुयो. वृ. ६६-१६०, पृ. ५४) ।

३. अष्टौ वलक्षणवल्लिणिका ऊर्ध्वमथस्तिर्येकं वा कथमपि चलन् यो लभ्यते, न शेषकाल स ऊर्ध्वरेणुः । (ध्योतिष्क. मलय. वृ. २-७८) ।

४. तच्च जालप्रविष्टसूर्यप्रभाभिष्यङ्गः स्वतः परतो वा ऊर्ध्वमथस्तिर्येकं चलनधर्मा रेणुर्ऊर्ध्वरेणुः । (संग्रहणी वे. वृ. २४६) ।

१. आठ वलक्षणवल्लिणिकाओं के समुदाय को ऊर्ध्वरेणु कहते हैं ।

ऊर्ध्वं लोक—१. उवरिमलोयायारो उच्चिमुरवेण होइ सरिसत्तो । (सि. प. १-१३८) ।

२. उवरि पुण मुरयंठाणो । (पउमव. ३-१६, पृ. ६) ।

३. ऊर्ध्वलोकस्तु मुदङ्गाकारः । (आच. ह. वृ. मल. हिम. दि. ६४) ।

१. उवरिमलोयायारो उच्चिमुरवेण होइ सरिसत्तो । (सि. प. १-१३८) ।

२. उवरि पुण मुरयंठाणो । (पउमव. ३-१६, पृ. ६) ।

३. ऊर्ध्वलोकस्तु मुदङ्गाकारः । (आच. ह. वृ. मल. हिम. दि. ६४) ।

१ चव्य लोक के ऊपर जो ऊँचे किये हुए पर्वत के समान लोक है उसे ऊर्ध्वलोक कहते हैं।

ऊर्ध्वव्यतिक्रम—१. तथा ऊर्ध्व पर्वत-तरु-शिल-रादेः × × × योऽसौ भागो नियमितः प्रदेशः, तस्य व्यतिक्रमः। (योगशा. स्त्रो. विव. ३-६७)। २. ऊर्ध्व गिरि-तरुशिलरादेर्व्यतिक्रमः। (सा. च. ५, ५)। ३. शैलाद्यारोहणमूर्ध्वव्यतिक्रमः। (त. वृत्ति सूत. ७-३०)। ४. वृक्ष-पर्वताद्यारोहणमूर्ध्वव्यतिक्रमः। (कार्तिके. टी. ३४१-४२)। ५. उर्ध्वर्षात्री-मरारोहे भवेदूर्ध्वव्यतिक्रमः। (लाटीसं. ६-११८)। १ ऊँचे पर्वत और वृक्ष के शिखर आदि क्षेत्र में जो जाने का नियम किया गया है उसके उल्लंघन करने को ऊर्ध्वव्यतिक्रम कहा जाता है। यह एक विषय का अतिचार है।

ऊर्ध्वशायी—१. स्थित्वा शयनं चोर्ध्वशायी। (ज. धा. विजयो. ३-२२५)। २. उद्भीमुख शयनमूर्ध्व-शायी। (भ. धा. मूला. टी. ३-२२५)।

बड़े होकर शयन करने को ऊर्ध्वशायी कहते हैं।

ऊर्ध्वसूर्यगमन—उद्दसूरी य ऊर्ध्व गते सूर्य गम-नम्। (भ. धा. विजयो. ४ मूला. २२२)।

सूर्य के ऊपर स्थित होने पर—जो पहर में—गमन करने को ऊर्ध्वसूर्यगमन कहते हैं।

ऊर्ध्वव्यतिक्रम—१. पर्वताद्यारोहणादूर्ध्वव्यतिक्रमः। (स. सि. ७-३०; हलो. व. ७-३०)। २. तत्र पर्वताद्यारोहणादूर्ध्वव्यतिक्रमः। पर्वत-मरुभूम्यादी-नामारोहणादूर्ध्वव्यतिक्रमो भवति। (त. बा. ७, ३०, २)। ३. पर्वत-मरुभूम्यादीनामारोहणादूर्ध्वव्यतिक्रमः। (बा. सा. पृ. ८)। ४. पर्वत-तरुभूम्यादीनामारोह-णादूर्ध्वव्यतिक्रमो भवति। (त. बुल्लो. वृ. ७-३०)।

१ पर्वत आदि ऊँचे स्थानों पर जाने-आने की प्रहम की हुई मर्यादा के उल्लंघन करने को ऊर्ध्वव्यतिक्रम कहते हैं।

ऊवर—ऊवरं नाम यत्र तुणादेरसम्भवः। (धा. प्र. टी. ५७)।

जिस भूमि पर घास आदि कुछ जो उत्पन्न न हो, उसे ऊवर भूमि कहते हैं।

ऊह, ऊहा—१. भवतुहीतार्थस्यानविगतविशेषः उद्यते तर्क्यते अनया इति ऊहा।। (बब. पु. १३, पृ. २४९)। २. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्ति-ज्ञानमूहः 'इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति न भवत्ये-

वेति च'। (परीक्षाभाष्य ३-७)। ३. विज्ञातमर्थ-वलम्ब्याभ्येषु व्याप्त्या तथाविधवितर्कणमूहः। (मीतिबा. ५-५०)। ४. उपलम्भानुपलम्भसम्बन्ध-विकालीकलितसाध्य-साधनसम्बन्धाद्यलम्बनमिदम-स्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहाऽपरनामा तर्कः। (प्र. न. त. ३-५)। ५. ऊहो विज्ञातमर्थ-वलम्ब्याभ्येषु तथाविधेषु व्याप्त्या वितर्कणम्। × × × भववा ऊहः सामान्यज्ञानम्। (योगशा. स्त्रो. विव. १-५१, पृ. १५२; मलितवि. पंवि. नृ. वृ. ४३; धर्मसं. भाव. १-११, पृ. ६)। ६. उपलम्भानुप-लम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानम् ऊहः। (प्रमाणमी. १, २, ५)।

१ अवग्रह से गृहीत पदार्थ का जो विशेष अंश नहीं जाना गया है, उसका विचार करने को ऊहा जाता है। यह ईहा मतिज्ञान का नामान्तर है। २ उपलम्भ (अन्वय) और अनुपलम्भ (व्यतिरेक) के निमित्त से होने वाले 'यह (बुन) इसके (अग्नि के) होने पर ही होता है और उसके न होने पर नहीं होता' इस प्रकार के व्याप्तिज्ञान को ऊह वा ऊहा कहते हैं।

ऋजुक मन(उज्जुक-मण)—जो जथा मत्तो द्विदो तं तथा चित्तयो मणो उज्जुगो नाम। (बब. पु. १३, पृ. ३३०)।

जो पदार्थ जिस रूप से स्थित है उसका उसी रूप से चिन्तन करने वाला मन ऋजुक मन कहलाता है।

ऋजुता—अथ ऋजुता—ऋजुरवक्रमनोवाक्काय-कर्म, तस्य भावः कर्म वा ऋजुता, मनोवाक्काय-विक्रियाविरह इत्यर्थः, मायारहितत्वमिति भावत्। (योगशा. स्त्रो. विव. ४-६३)।

मायाचार से रहित मन-वचन-काय की सरल प्रवृत्ति को ऋजुता कहते हैं।

ऋजुमति—१. ऋज्वी निर्वर्तिता प्रमुणा च। कस्मान्निर्वर्तिता? (त. बा.—कस्मात्? निर्वर्ति-त-) वाक्काय-मनस्कृतार्थस्य परकीयमनोगतस्य विज्ञानात्। ऋज्वी मतिर्यस्य सोऽयं ऋजु मतिः। (स. सि. १-२३; त. बा. १-२३)। २. उज्जु मती—उज्जुमती, सामण्यागाहिणि ति भणितं होति। एष मणोपज्जयविसिद्धो अरथं उपलम्भइ ति भणितं होति। षटोऽणेष चित्तो ति जाणइ। (मन्वी. जूण पृ.

१३) । ३. रिड साधनं तन्मत्तग्राहिणी रिडमई मयो नाणं । पायं विसेसविमुहं चउमेतं चित्तिवं पुण ॥ (विसेषा. ७८४; प्र. सारो. १४६६) । ४. ऋज्वी मतिः ऋजुमतिः, सामान्यग्राहिका इत्यर्थः, मनःपर्यायज्ञानविशेषः । (आच. नि. हरि. वृ. ६६, वृ. ४७; स्वात्मन अमय. वृ. २-१, वृ. ४७) । ५. मननं मतिः, संवेदनम् इत्यर्थः, ऋज्वी सामान्यग्राहिणी मतिः, घटोज्जेन चिन्तितः इत्यध्यवसायनिबन्धनमनोद्वयप्रतिपत्तिरित्यर्थः, × × × अथवा ऋज्वी सामान्यग्राहिणी मतिरस्य सोऽयम् ऋजुमतिः, तद्वाच्ये वृत्तते । (मन्वी. हरि. वृ. वृ. ४५) । ६. ऋजुमतिः घटादिमात्रचिन्तनद्रव्यज्ञानाद् ऋजुमतिः, सैव मनःपर्यायज्ञानम् । (त. भा. हरि. वृ. १-२४) । ७. परकीयमतिगतोऽर्थः उपचारेण मतिः । ऋज्वी अथवा, × × × ऋज्वी मतिरस्य स ऋजुमतिः । उज्जुवेण मनोमर्धं उज्जुवेण बाध-कायगदमत्तमुज्जुवं ज्ञानंती, तन्निबन्धनमनुज्जुवं अत्यवधारणंती मनःपञ्चवशाणी उज्जुमदि ति भण्णे । (अम. पु. ६, वृ. ६२-६३) । ८. निर्वर्तितसारीदादिकृतस्यार्थस्य वेदनात् । ऋज्वी निर्वर्तिता ज्ञेया प्रगुणा च प्रकीर्तिता ॥ (सरो. भा. १, २३, २) । ९. ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञानं निर्वर्तित-प्रगुणवाक्काय-मनस्कृतार्थस्य परमनोगतस्य परिच्छेदकत्वात् त्रिविधम् । (प्रमाण. वृ. ६६) । १०. या मतिः सामान्यं वृत्ताति सा ऋज्वीत्युपदिश्यते । × × × येन सामान्यं घटमात्रं चिन्तितमवगच्छति तच्च ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञानम् । × × × ऋजुमतिरेव मनःपर्यायज्ञानम्, घटादिमात्रचिन्तितपरिज्ञानमिति । (त. भा. सिद्ध. वृ. १-२४) । ११. ऋज्वी साक्षात्कृतेष्वनुमिते वा ऽर्थेष्वत्यन्तविशेषविषयतया गुण्या मतिविषयपरिच्छित्तिरस्य तद्वृत्तमतिः । (कर्मस्तव जौ. वृ. ६-१०) । १२. × × × उज्जुमदी तिबिहा । उज्जुमन-वयमे काये गदत्वसितया त्ति नियमेण ॥ (जौ. जी. ४३८) । १३. ऋज्वी सामान्यग्राहिणी मतिः ऋजुमतिः 'घटोज्जेन चिन्तितः' इत्यादि सामान्याकाराध्यवसायनिबन्धनभूता कतिपयपर्यायविक्षिप्तमनोद्वयपरिच्छित्तिरिति । (मन्वी. अमय. वृ. वृ. १०७) । १४. ऋज्वी प्रगुणा निर्वर्तिता वाक्काय-मनस्कृतार्थस्य परमनोगतस्य विज्ञानम्, × × × अथवा ऋज्वी मतिरस्य ज्ञानविशेषत्वात् ऋजुमतिः ।

(मन्वी. वृ. १२-१८७) । १५. ऋज्वी सामान्यवी मनोमात्रग्राहिणी मतिः मनःपर्यायज्ञानं येषां ते तथा (ऋजुमतयः) । (अथ. सु. अमय. वृ. १५, वृ. २८; प्रमाण. वृ. वृ. ३४३) । १६. प्रगुणनिर्वर्तित-मनोवाक्-कायगतसूक्ष्मद्रव्यात्मनः ऋजुमतिमनःपर्यायः । (अथ. अमय. वृ. ६१, वृ. ८२) । १७. मननं मतिविषयपरिच्छित्तिरित्यर्थः । ऋज्वी अत्यन्तविशेषविषयतया गुण्या मतिरस्य तद्वृत्तमतिः । (अतक मत्त. हेम. वृ. ३७-३८, वृ. ४४) । १८. ऋज्वी प्रायो घटादिमात्रग्राहिणी मतिः ऋजुमतिः, विपुलमतिमनःपर्यायज्ञानापेक्षया किञ्चिदवृत्ततरं मनःपर्यायज्ञानामेव । (आच. नि. अमय. वृ. ७०, वृ. ७८) । १९. वाक्काय-मनःकृतार्थस्य परमनोगतस्य विज्ञानात् निर्वर्तिता पञ्चद्वारिता व्याघोटा ऋज्वी मतिरस्यते, सरला च मतिः ऋज्वी कथ्यते । × × × ऋज्वी मतिविज्ञानं वस्य मनःपर्यायस्य स ऋजुमतिः । (त. वृत्त. अम. १-२३) । २०. अनेन चिन्तितः कुम्भ इति सामान्यग्राहिणी । मनोद्वयपरिच्छित्तिरस्यैवावृत्तः श्रुतः ॥ (मौलप्र. ३-८५२) । २१. ऋजुमतयस्तु सर्वतः संपूर्णमनुष्ठ-क्षेत्रस्थितानां संक्षिप्तान्द्रियाणां मनोगतं सामान्यतो घट-पटादिपदार्थमात्रम् एव जानन्ति । (कल्पसूत्र. वृ. ६-१४२) ।

१ पर के मन में स्थित व मन, बचन और काय से किये गये अर्थ के ज्ञान से निर्धारित सरल बुद्धि को ऋजुमतिमनःपर्याय या मनःपर्यायज्ञान कहते हैं । अनुसूत्र—१. ऋजुं प्रगुणं सूचयति तन्मत्तवीति ऋजुसूत्रः, पूर्वपरिचितकालविषयानतिशय्य वर्तमानकालविषयानादत्ते, अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्त्येन व्यवहाराभावात् । तच्च वर्तमानं समयमात्रम् । तद्विषयपर्यायमात्राद्यमनुसूत्रः । (त. सि. १-३३) । २. ततो साम्प्रतानामर्थानामभिधानपरिज्ञानमनुसूत्रः । (त. भा. १-३३) । ३. वच्यपञ्चग्राही उज्जुसूत्रो नयविही नुण्येव्यो । (आच. नि. ७५७; अनुवी. भा. १३८, वृ. २६४) । ४. सूत्रपातवृत्तत्वात् ऋजुसूत्रः । यथा ऋजुः सूत्रपातस्तथा ऋजु प्रगुणं सूचयति ऋजुसूत्रः । पूर्वपरिचितकालविषयानतिशय्य वर्तमानकालविषयमादत्ते, अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्त्येन व्यवहाराभावात् समयमात्रमस्य निश्चितम् । (त. भा. १, ३३, ७) । ५. ऋजुसूत्रस्य

पदार्थो प्रधानं × × × । (संक्षेप. ४३); भेदं प्रा-
मान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्रमयो मतः । (संक्षेप.
७१) । ६. अक्षरं स च भेदानां ऋजुसूत्रो विचार-
यन् ॥ कार्यकारणसन्तानसमुदायविकल्पतः । (प्रभा-
वर्त्त. ८, ८१-८२) । ७. तत्र ऋजु—वर्तमानम-
तीतानागत-वक्रपरित्यागात् वस्त्वखिलम् ऋजु, तत्सु-
चयति गमयतीति ऋजुसूत्रः । यद्वा ऋजु वक्रविपर्या-
यमिमुक्तम्, श्रुतं तु ज्ञानम्, ततश्चाभिमुखं ज्ञानमस्येति
ऋजुश्रुतः, शेषज्ञानान्म्युपगमात् । अयं हि नयः वर्त-
मानं स्वस्तिग-वचन-नामादिभिन्नामप्येकं वस्तु प्रति-
पद्यते, शेषमवस्तित्वेति । (भाष. नि. हरि. बृ. ७५७,
पृ. २८४; अन्वयो. हरि. बृ. पृ. १२४-२५) । ८. ऋजु
वर्तमानसमयाम्युपगमादतीतानागतयोर्विनिष्ठाभ्युत्पन्-
त्वेनाकुटिलं सूत्रयति ऋजुसूत्रः । (अन्वयो. हरि. बृ.
पृ. १०५) । ९. ऋजु सममकुटिलं सूत्रयतीति ऋजु-
सूत्रः । (त. भा. हरि. बृ. १-३५); साम्प्रतविषय-
प्राहकं वर्तमानमेवपरिच्छेदकम् ऋजुसूत्रनवं प्रक-
न्तमेव समासतः संक्षेपेण जानीयात् । (त. भा. हरि.
बृ. १-३५) । १०. अपूर्वास्त्रिकालविषयानतिशय्य
वर्तमानकालविषयमादत्ते यः स ऋजुसूत्रः । कोऽत्र-
वर्तमानकालः ? आरम्भात् प्रभृत्या उपरमावेव
वर्तमानकालः । (अव. पु. ६, पृ. १७२); उज्जुदो
दुबिहो सुदो असुदो वेति । तस्य सुदो विसर्गक-
स्यपञ्चमो पञ्चमस्य विवदृमाणस्येत्यो अप्यनो
विषयो ओसारिदसारिच्छ-तश्चावलक्षणसामर्थ्यो ।
× × × तस्य जो सो असुदो उज्जुदणमो सो
वक्ष्यपासियवैवणपञ्चयविसमो । (अव. पु. ६, पृ.
२४४) । ११. ऋजु प्रगुणं सूत्रयति सूत्रयतीति ऋजु-
सूत्रः । (अव. पु. १, पृ. २२३) । १२. वक्रं भूतं
भविष्यन्तं त्वमत्सूत्रपातवत् । वर्तमानार्थपर्यायं
सूत्रयन्मुसूत्रकः ॥ (ह. पु. ५८-५९) । १३. ऋजु-
सूत्रं क्षणव्यसि वस्तु तत्सूत्रयेयुः । प्राधान्येन गुणी-
भावाद् द्रव्यस्थानगणासतः । (अ. वसो. १, ३३,
६१) । १४. ऋजु प्रगुणम्, तच्च विनिष्ठानुत्पन्नतया-
द्रीतानागतवक्रपरित्यागेन वर्तमानकालक्षणभावि
यद्वस्तु, तत्सूत्रयति प्रतिपादवत्साधयतीति ऋजुसूत्रः ।
(संक्षेप. बृ. २, ७, ८१, पृ. १८८) । १५. जो वद्वटमाण-
काले अत्यपञ्चायपरिणवं अस्थं । संतं साहृदि सर्वं तं
पि नवं रिजुणवं काण ॥ (कार्तिके. २७४) । १६.

ऋजु सममकुटिलं सूत्रयति, ऋजु वा श्रुतम् प्रावनो-
ऽस्येति सूत्रपातनवद्वा ऋजुसूत्रः, यस्मादतीतानागत-
वक्रपरित्यागेन वर्तमानपदवीमनुधावति, अतः साम्प्र-
तकालावच्छेदपदार्थत्वात् ऋजुसूत्रः । (त. भा. सिद्ध.
बृ. १-३५; ज्ञानसार. बृ. १६ ३); सतां विद्यमानानां
न क्षणव्यादीनामसताम्, तेषामपि साम्प्रतानाम्, वर्त-
मानानामिति यावत्, अर्थानां वट-पटादीनाम् अभिधानं
शब्दः परिज्ञानं अवबोधो विज्ञानमिति यावत्, अभि-
धानं च परिज्ञानं अभिधानपरिज्ञानं यत् स भवति
ऋजुसूत्रः । एतदुक्तं भवति—तानेव व्यवहारमयभि-
मताम् विवेचानाश्रयन् विद्यमानान् वर्तमानक्षण-
वर्तितोऽभ्युपगच्छन्निभधानमपि वर्तमानमेवाभ्युपैति
—नातीतानागते, तेनानभिधीयमानत्वात् कस्यचिद-
र्थस्य, तथा परिज्ञानमपि वर्तमान (ज्ञा. सा. वृत्ति—
परिज्ञानं न्यपवर्तमान-मेवाश्रयति)—नातीतमागानि
वा, तत्त्वभावानवधारणात् । अतो वस्तुभिधानं
विज्ञानं चात्मीयं वर्तमानमेवाविवच्छन्मध्यवसायः स
ऋजुसूत्र इति । (त. भा. सिद्ध. बृ. १-३५;
ज्ञानसार. बृ. १६-३, पृ. ६०) । १७. ऋजुसूत्रः
कुटिलातीतानागतपरिहारेण वर्तमानक्षणावच्छिन्-
नवस्तुसत्तामात्रमृजुं सूत्रयति, अन्यतो व्यवच्छिनति ।
(त. भा. सिद्ध. बृ. ३-३१, पृ. ४०२) । १८. ऋजुसूत्रः
स विज्ञेयो येन पर्यायमात्रकम् । वर्तमानकसम-
विषयं परिगृह्यते ॥ (त. सा. १-७) । १९. ऋजु
प्राञ्जलं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः । (आलाप. पृ.
१४६) । २०. जो एससमयवट्टी गेण्हइ दव्वे बुवत्-
पञ्चमो । सो रिउसुतो सुदुमो सर्वं पि सर्वं जहा
(बृ. न.—सुदुमो सर्वं सह जहा) अयिं ॥ मणु-
वाइयपञ्चाधो मणुसुत्ति समद्विदीसु वट्टतो । जो
मणइ तावकालं सो बूतो होइ रिउसुतो ॥ (ब. न.
अ. ३८-३९; बृ. न. अ. २११-१२) । २१. सर्वस्य
सर्वतो जेवं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजु प्राञ्जलं
वर्तमानसमयमात्रं सूत्रयति प्रकृतयतीति ऋजुसूत्रो
नयो मतः । (व्यावृ. ६-७१) । २२. देश-काला-
न्तरसम्बद्धस्वभावरहितं वस्तुतत्त्वं साम्प्रतिकम् एक-
स्वभावं अकुटिलं ऋजु सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः ।
(सम्प्रति. अमय. बृ. ३, पृ. ३११); क्षणिकविश-
प्तिमात्रावलम्बो सुद्वपर्यायास्ति (स्तिक) भेदः ऋजु-
सूत्रः । (सम्प्रति. अमय. बृ. ३, पृ. ३६६) ।

२३. अतीतानागतकोटिभिर्निर्मुक्तं वस्तु समयमात्रं ऋजु सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः । (बृहत्. पृ. ६-६७) ।
 २४. ऋजु प्राञ्जलं वर्तमानक्षणमात्रं सूत्रयतीत्युच्यते, 'सुखक्षणः संप्रत्यस्ति' इत्यादि । इत्यस्य सतोऽप्यनर्पणात्, अतीतानागतक्षणयोश्च विनष्टानुत्पन्नत्वेनासम्भवत् । (प्र. क. मा. ६-७४, पृ. ६७८) ।
 २५. शुद्धपर्यायग्राही प्रतिपक्षसापेक्षः ऋजुसूत्रः । (प्र. र. मा. ६-७४) । २६. ऋजु भवक्रममिमुक्तं श्रुतं श्रुतज्ञानं यस्येति ऋजुश्रुतः ऋजु वा अतीतानागत-वक्ष्यपरित्यागात् वर्तमानं वस्तु, सूत्रयति गमयतीति ऋजुसूत्रः, स्वकीयं साम्प्रतं च वस्तु, नान्यदित्यभ्युपगमपरः । (भारताय ब्रह्म. कृ. सू. १८६, पृ. १४२) ।
 २७. ऋजु—अतीतानागतपरकीयपरिहारेण प्राञ्जलं वस्तु—सूत्रयति अभ्युपगच्छतीति ऋजुसूत्रः । अयं हि वर्तमानकालमात्रेण वस्तु अभ्युपगच्छति नातीतम्, विनष्टत्वान्नाप्यनागतमनुत्पन्नत्वात् । वर्तमानकालमात्रेण स्वकीयमेव गच्छते, स्वकीयसाधकत्वात् स्वधनवत् । परकीयं तु नेच्छति, स्वकार्याप्रसाधकत्वात् परधनवत् । (अनुयोग. मल. हेम. कृ. सू. १४, पृ. १८) । २८. ऋजु प्रगुणम् धकुटिलमतीतानागतपरकीयवक्ष्यपरित्यागात् वर्तमानक्षणविवर्ति स्वकीयं च सूत्रयति निष्ठाकृतं दर्शयतीति ऋजुसूत्रः । (भाष. मलय. कृ. ७४१, पृ. ३७४; प्र. सारो. कृ. ८४७) । २९. पूर्वान् व्यवहारमयगुहीतान् अपरांश्च विषयान् निःकालगोचरानतिश्रम्य वर्तमानकालगोचरं शुक्लति ऋजुसूत्रः । अतीतस्य विनष्टत्वे अनागतस्यासंजातत्वे व्यवहारस्याभावात् वर्तमानसमयमात्र-विषयपर्यायमात्रग्राही ऋजुसूत्रः । (त. वृत्ति श्रुत. १-३३) । ३०. वर्तमानसमयमात्रविषयपर्यायमात्र-ग्राही ऋजुसूत्रनयः । (कार्तिके. टी. २७४) ।
 ३१. ऋजु वर्तमानक्षणस्यापि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूचयन्मित्राग्रामः ऋजुसूत्रः । (जैनतर्क. पृ. १२७; मयप्र. पृ. १०३; स्या. मं. टी. पृ. २८; प्र. न. त. ७-२८) । ३२. एतस्यार्थः—भूत-मविष्यद्वर्तमानक्षण-सद्विशिष्टलक्षणकौटिल्यविमुक्तत्वाच्च सरलमेव द्रव्यस्याप्राधान्यतया पर्यायमात्रं क्षणक्षणमात्रं प्राधान्यतया दर्शयतीति ऋजुसूत्रः । (नयप्रदीप पृ. १०३) ।
 ३३. भावित्वे वर्तमानत्वव्याप्तिर्बीरविक्षेपता । ऋजुसूत्रः श्रुतः सूत्रे शब्दांस्तु विक्षेपतः ॥ इत्यतेऽनेन नैकभावस्यान्तरसमागमः । क्रिय-निष्ठाभिदाधार-

द्रव्याभावाद्यवश्यते ॥ (नयोपदेश २६-३०) ।
 ३४. अनेन ऋजुसूत्रनयेन एकत्र यमिणि अवस्थान्तर-समागमो भिन्नावस्थावाक्यपदार्थान्वयो नेष्यते न स्वीक्रियते । कुतः ? क्रिया साम्यावस्था, अस्या च निष्ठा सिद्धावस्था, तयोर्वा भिदा भिन्नाकाशसम्बन्ध-स्तदाधारस्यैकद्रव्यस्याभावात् । (नयोपदेश बहो. टी. ३०) । ३५. अतीतानागतपरकीयमेवपुण्यत्व-परित्यागादनुसूत्रेण स्वकार्यसाधकत्वेन स्वकीयवर्तमानवस्तुन एवोपयोगमात्रस्य तुल्यांशध्रुवांशलक्षणद्रव्याभ्युपगमः । (नयप्रहृष्ट, पृ. ८१) ।
 १ तीनों कालों के पूर्वपर विषयों को छोड़ कर जो केवल वर्तमान कालभावी विषय को ग्रहण करता है उसे ऋजुसूत्रनय कहते हैं । अतीत पदार्थों के नष्ट हो जाने से, तथा अनागत पदार्थों के उत्पन्न न होने से ये दोनों ही व्यवहार के योग्य नहीं हैं । इसीलिए यह नय वर्तमान एक समय मात्र को विषय करता है ।
 ऋजुसूत्रनयभास—१. सर्ववैकल्यविषयी तदाभासस्त्वलौकिकः । (लघोप. ६-७१) । २. क्षणिक-कान्तनयस्तदाभासः । (प्र. र. मा. ६-७४) ।
 ३. सर्वथा गुण-प्रधानभावाभावप्रकारेण एकत्वविषयी एकत्वनिराकारकः ऋजुसूत्राभासः । (व्यायकु. ६, ७१) । ४. सर्वथा द्रव्यापलापी तदाभासः । (प्र. न. त. ७-३०) ।
 १ नीयता और प्रधानता का अपलाप करने—एकान्त रूप से—एकत्व (अनेव) का निराकरण करने वाले नय को ऋजुसूत्रनयभास कहते हैं ।
 ऋज्वी (गोचरसूत्रि)—तत्र तस्यामेकां विद्यम-भिद्विष्टोपाध्याद् निर्गतः प्राञ्जलेनैव यथा समक्षेण-व्यवस्थितवृहत्पंक्तौ निशां परिभ्रमन् तावद् वाति यावत् पंक्तौ चरमवृहन् । ततो निशामगृह्यन्नेवा-पर्याप्तेऽपि प्राञ्जलस्यैव गत्या प्रतिनिवर्तते सा ऋज्वी । (बृहत्क. कृ. १६४६) ।
 सम क्षेत्रों में अवस्थित किसी एक दिशा सम्बन्धी वृहत्पंक्ति में निशा सेमे का क्रमिग्रह करके निशाला गुप्ता साधु उस पंक्ति के अन्तिम वृहत् तक जावे और निशा के पर्याप्त न मिलने पर भी पुनः उसी मार्ग से लौचे अपने स्थान को लौट जावे । वह क्षेत्र-अभिग्रहमें निविष्ट आठ गोचरभूमियों में प्रथम गोचरभूमि है ।

श्रुत— $\times \times \times$ श्रुतं प्राणिहितं वचः । (ह. पु. ५८-१३०) ।

जो वचन प्राणियों के लिये हितकर हो उसे श्रुत (सत्य) कहते हैं ।

श्रुतु (रिउ, उडु) — १. दो मासामृतुः । (त. भा. ४-१५; त. वा. ३-३८; जीवाजी. मलय. बु. ३, २, १७८) । २. $\times \times \times$ मासदुर्गेण उडु $\times \times \times$ ।

(ति. व. ४-२८६) । ३. दो मास उडु । (मय-वती पू. ८२५; अनुयो. सू. १३७; बन्धूद्री. १८) ।

४. दो मास उडसत्ता । (जीवस. ११०) । ५.

श्रुतुस्तु मासद्वय एक उक्तः $\times \times \times$ । (बराण. २७-६) । ६. वे मासे उडु । (वच. पु. १३, पृ. ३००) । ७. मासद्वयमृतुः । (त. भा. सिद्ध. बु. ४-१५) । ८. बिहिं मासहिं उडुमाशु निबद्धत ।

(म. पु. पुष्प. २-२३) । ९. मासद्वयमृतुः । (वचा. का. जय. बु. २५) । १०. रिउ एक्का वेहिं मासेहिं ॥

(वाचसं. ३१४) । ११. इमां मासाभ्यामृतुः ।

(नि. सा. बु. ३-३१) ।

१ दो मासों की एक श्रुतु होती है ।

श्रुतुमास — १. सावनमासस्त्रिषवहोरात्र एव, एव च कर्ममास श्रुतुमासवचोभ्यते । (त. भा. सिद्ध. बु. ४-१५) । २. स (श्रुतुः) च किल लोककृष्णः

षष्ठ्यहोरात्रप्रमाणो द्विमासात्मकस्तस्यार्चमपि मासो-

ज्ययवे समुदायोपचारात् श्रुतुदेवार्थात् परिपूर्णत्रिष-

वहोरात्रप्रमाणः, एव एव श्रुतुमासः कर्ममास इति

वा सावनमास इति वा व्यवह्रियते । (व्यव. सू. भा. २-१५, पृ. ७) । ३. श्रुतुमासः पुनस्त्रिषवहो-

रात्रात्मकः स्फुटः । (लोकप्र. २८-३११, व २८, ३३८) ।

१ तीस दिन-रात को श्रुतुमास कहते हैं । सावन-

मास तीस दिन-रात का ही होता है, इसे कर्ममास

व श्रुतुमास भी कहा जाता है ।

श्रुतुसंवत्सर — यस्मिंश्च संवत्सरे त्रीणि शतानि

षष्ठ्यधिकानि परिपूर्णान्यहोरात्राणां भवति, एव

श्रुतुसंवत्सरः । श्रुतुवो लोकप्रसिद्धाः वसन्तादयः,

तत्प्रधानः संवत्सरः श्रुतुसंवत्सरः । (सूर्यप्र. बु. १०, २०, ५६) ।

पूरे तीन सौ साठ दिन वाले वर्ष को श्रुतुसंवत्सर

कहते हैं ।

श्रुद्धि — भोगोवभोग-ह्य-हरिष-मणि-रवणसंपया संप-

यकारणं च इद्री नाम । (वच. पु. १३, पृ. ३४८) ;

अणिमा महिमा सहिमा पति पागम्भं इसितं वसितं

कामरुषितमिच्छेवमाविद्याभो अणोयविद्याभो इद्रीभो

नाम । (वच. पु. १४, पृ. ३२५) ।

भोग और उपभोग की सावक धोड़ा, हाथी, मणि

एवं रत्न आदि सम्पदा को, तथा उक्त सम्पदा के

कारणों को श्रुद्धि कहते हैं ।

श्रुद्धिगारव — श्रुद्धिगारवं शिष्य-पुस्तक-कमण्डलु-

पिच्छ-पट्टादिमिरातमोद्भावनम् । (भा. प्रा. टी. १५७) ।

शिष्य, पुस्तक एवं कमण्डलु आदि के द्वारा अपने

बहुपन्न के प्रगट करने को श्रुद्धिगारव कहते हैं ।

श्रुद्धिगौरव — १. तत्र श्रुद्ध्या — नरेन्द्रादिपूज्याचा-

र्यादित्वाभिलाषलक्षणया — गौरवम् श्रुद्धिप्राप्त्यभि-

मानाप्राप्तिसंप्राप्तेनद्वारेणऽऽत्मनोऽशुभभावगौरवम् ।

(साध. हरि बु. पृ. ५७६) । २. श्रुद्धित्यागासहता

श्रुद्धिगौरवं परिवारे कृतादरः, परकीयमात्मसात्क-

रोति प्रियवचनेन उपकरणदानेन । (म. भा. विजयो. ६१३) । ३. बन्धनामकुर्वतो महापरिकरकृत्यनुव-

र्ण्यभ्यमणसंभो भक्तो भवत्येवमभिप्रायेण यो बन्धनां

विदधाति तस्य श्रुद्धिगौरवदोषः ॥ (मूला. बु. ७, १०७) । ४. तत्र श्रुद्ध्या नरेन्द्रादिपूज्याचार्यत्वादि-

लक्षणया गौरवम्, श्रुद्धिप्राप्त्यभिमान-तदप्राप्तिप्राव-

नद्वारेणऽऽत्मनोऽशुभभावगौरवमित्यर्थः ॥ (समवा. अक्षय. बु. ३) । ५. भक्तो गणो मे भावीति बन्दारोऽश्रुद्धि-

गौरवम् ॥ (अन. व. ८-१०३) ।

१ नरेन्द्र या पूज्य आचार्यादि पक्षों की प्राप्ति की

अभिलाषारूप श्रुद्धि से जो गौरव — उसकी प्राप्ति

से अभिमान तथा अप्राप्ति में उसकी प्रार्थना

के निमित्त से अपने अशुभ भावों की मुक्तता

— होती है उसे श्रुद्धिगौरव कहा जाता है । ५ मेरे

साधुसत्त से बन्धना करने पर साधुसत्त मेरा भक्त हो

जायगा, इस प्रकार के विचार से बन्धना करने को

श्रुद्धिगौरव दोष कहते हैं ।

श्रवभनाराच — १. यत्र तु कीलिका नास्ति तदृष-

भनाराचम् । (कर्मस्तथ गो. बु. ६-१०) । २.

श्रवभः परिवेष्टनपट्टः, नाराचधुमयतो मर्कटबन्धः,

$\times \times \times$ यस्तुः कीलिकारहितं सहनत तत् श्रवभ-

नाराचम्, तन्निबन्धनं नाम श्रवभनाराचनाम ।

(वच्छ क. मलय. बु. ६, पृ. १२४) । ३. रिसहो पट्टो

य कीलिका वृत्तं । (संघहृषी सु. पु. ११७) ।

४. यत्पुनः कीलिकारहितं संहननं तत् श्रवमनाराधयम् । (प्रज्ञाप. मलय. पु. २३-२६३; जीवाजी. मलय. पु. १-१३; सप्तसि. मलय. पु. ५-१३१; संघहृषी डे. पु. ११७) ।

१ कीलिका रहित संहनन को श्रवमनाराध-संहनन कहते हैं ।

श्रुति—१. श्रवयः श्रुतिप्राप्ताः, ते वतुविधाः—राज-ब्रह्म-देव-वरमन्त्रेणात् । तत्र राजव्यो विक्रिया-कीलिकाप्राप्ता भवन्ति, ब्रह्मव्यो बुद्धघोषवि श्रुति-युक्ता कीर्त्यन्ते, देवव्यो गगनगमनद्विंसयुक्ता कथ्यन्ते, परमव्यः केवलज्ञानिनो निगद्यन्ते । (चारित्रसार पु. २२) । २. रेवणात्मनेसारासीनामृषिमाहुरमनीयि-यः । (उपासका. ८६१) ।

१ श्रुतिप्राप्त साधुओं को श्रुति कहते हैं, जो चार प्रकार के हैं—१ राजवि—विक्रिया व शकी-श्रुतिप्राप्त श्रुति । २ ब्रह्मवि—बुद्धि व शीघ्रवि-श्रुतिप्राप्त श्रुति । ३ देववि—आकाशगमन श्रुति से युक्त श्रुति । ४ परमवि—केवलज्ञानी ।

एकलोकस्पर्श—१. अं द्रव्यमेकलोकं पुंसि सो सव्यो द्यक्लोकफासो नाम । (ब. क. ५, ३, १४-पु. १३, पु. १६) । २. एकलोकं प्रागासपदेते द्विद-अन्तर्गतयोगलक्षणां समवाय संजोएण वा ओ फासो सो एयक्लोकफासो नाम । बहुप्राणं वव्या-यं अयक्लमेय एयक्लपुसणद्वारेण वा एयक्लोक-फासो वत्तव्यो । (ब. पु. १३, पु. १६) ।

२ एक आकाशप्रदेश में स्थित अनन्तान्त पुद्गल-स्पर्शों को समवाय अथवा संयोग से ओ परस्पर स्पर्श होता है, इसे एकलोकस्पर्श कहते हैं । बहुत इच्छों का एक साथ एक-लोकस्पर्श के द्वारा ओ परस्पर स्पर्श होता है उसे भी एक-लोकस्पर्श कहा जाता है ।

एकलोकभावविज्ञानोपयोग—१. धीमुक्ष-स्वस्तिक-मन्त्रावर्तान्यतमोपयोगोपकरण एकलोकः । (स. वा. १-२२, पु. ८३, पं. २५-२६) । २. जस्त धोहि-माणस्त जीवसरीरस्त एयदेशो करणं होयि तमो-हिमाणमेगवलेतं नाम । (ब. पु. १३, पु. २६५) । १ जिस अवधिज्ञान के उपयोग का धीमुक्ष, स्वस्तिक व मन्त्रावर्त आदि चिह्नों में से कोई एक उपकरण होता है उसे एकलोक-अवधि या एकलोकविज्ञानो-

पयोग कहते हैं ।

एकत्वप्रत्यभिज्ञान—१. वर्धन-स्मरणकारणं संक-लनं प्रत्यभिज्ञानम् ॥ तदेव तत्सद्वृत्तं तद्विषयं तत्प्रतिषेधोपाया ॥ यथा स एवायं देवदत्तः ॥ गोसद्वृत्तो गवयः ॥ गोविलसगो मयिषः ॥ इदमद्वयं दूरम् ॥ बुद्धोऽयमित्यादि ॥ (परीक्षामुख ३, ५ से १०) । २. अनुभव-स्मृतिहेतुकं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् । × × × यथा स एवायं जिनदत्तः, × × × गोसद्वृत्तो गवयः, गोविलसगो मयिष इत्यादि । अत्र हि पूर्वस्मिन्नुदाहरणे जिनवत्तत्त्व पूर्वोत्तरदशाद्वयव्यापकमेकत्वं प्रत्यभिज्ञानस्य विषयः । तद्विषयेकत्वप्रत्यभिज्ञानम् । (भ्यामयी. ३, पु. ५६) । १ प्रत्यक्ष और स्मृति के निमित्त से जो संकलना-त्मक (बोझ) ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रत्य-भिज्ञान कहते हैं । जो प्रत्यभिज्ञान 'यह वही है' इस प्रकार से पूर्व व उत्तर दशाओं में व्याप्त रहने वाले एकत्व (अनेक) को विषय करता है वह एकत्व-प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है ।

एकत्वभावना—देखो एकत्वानुप्रेक्षा । एकत्वैव जीव उत्पद्यते, कर्मणि उपार्जयति, भुङ्क्ते वेत्यादि चिन्तनमेकत्वभावना । (सम्बोधन. पु. १६, पु. १८) । जीव अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही कर्मों का उपार्जन करता है, और अकेला ही उन्हें भोगता है; इत्यादि विचार करने का नाम एकत्वभावना है ।

एकत्वविक्रिया—सन्नैकत्वविक्रिया स्वचारीरादपृथ-ग्भावेन सिंह-व्याघ्र-हंस-कुरादिवभावेन विक्रिया । (स. वा. २, ४७, ६) ।

अपने शरीर से अभिन्न सिंह-व्याघ्रादिकल्प विक्रिया के करने को एकत्वविक्रिया कहते हैं ।

एकत्ववितर्कावीचार—१. जेणेगमेव दम्भं जेणे-गेनकेण अण्णवरणं । लीणकसाओ मायइ तेमेमुत्तं तमं मज्झिं ॥ जम्हा सुवं वित्तकं अण्णं पुण्णं अत्यगयकुसलो । मायदि भाणं एवं सविबुद्धं तेण तं उभाणं ॥ अत्थाय वज्जणाय व जोयाण व संकमो दु बीचारी । तत्स भभावेण तमं भाणमवीचारमिदि बुत्तं ॥ (अ. वा. १८८३-८५; ब. पु. १३, पु. ७६ उद्.) । २. स एव पुनः समूलपुनं (स. वा.—समूलपुनं) मोहनीयं निदिषयन् अनन्तगुणविशुद्धि-योगविशेषनामित्य बहुतराणां ज्ञानावरणसमुद्गी-

भूतानां प्रकृतीनां सत्त्वं निरुन्धन् स्थितेह्रास-क्षयी च कुर्वन् श्रुतज्ञानोपयोगो (त. वा.—गवान्) निवृत्ताय-व्यञ्जन-योगसंक्रान्तिरविचलितमना क्षीणक-बायो वैद्व्यमभिरव निरुपलेधो ध्यात्वा पुनर्न निवर्तते इत्युक्तं एकत्ववितर्कम् । (स. सि. ६-४४; त. वा. ६-४४) । ३. एगभावो एयत्तं, एगम्मि चेवं सुय-ण्णपयस्ये उवत्तो भायइ ति वृत्तं भवइ । अहवा एगम्मि वा जोगे उवत्तो भायइ । वितर्कको सुयं; अविचारं नाम अत्ताधो अत्तन्तरं न संकमइ, वंज-णाधो वंजणन्तरं जोगाधो वा जोगन्तरं । तस्य निव-रित्तिणं—सुयणाणे उवत्तो अत्तन्ति य वंजणमि य अविचारि । भायइ बोइसपुब्बो वित्तियं अणं विग-तरणो ॥ अत्थसंकमणं चेव तहा वंजणसंकमं । जोग-संकमणं चेव वित्ति ए अण्णे न विज्जइ ॥ (ब्रह्मसू. अ. १, पृ. ३४) । ४. जं पुण सुणिप्पकं पिवाय-सरण्णईवमिव चित्तं । उप्पाय-ट्टिदिमंगादियाण-मेगम्मि पज्जाए ॥ अविचारमत्व-वंजण-जोगन्तरधो विद्वयसुक्कं । पुब्बगयसुयालंबणमेयत्तवियकमवि-यारं ॥ (आणकसायण ७६-८०; लोकप्र. पु. ४४२ उद्.) । ५. एकस्य भावः एकत्वम्, वितर्को द्वादशा-ङ्गम्, असङ्क्रान्तिरवीचारः एकत्वेन वितर्कस्य अर्थ-व्यञ्जन-योगानामवीचारः अर्थकान्तिर्यस्मिन् ध्याने तदेकत्ववितर्कावीचारं ध्यानम् । (अथ. पु. १३, पृ. ७६; वा. सा. पु. ६२) । ६. एकत्वेन वितर्कस्य श्रुतस्य द्वादशाङ्गादेः अविचारोऽर्थ-व्यञ्जन-योगेष्वा-सङ्क्रान्तिर्यस्मिन् ध्याने तदेकत्ववितर्कावीचारं ध्या-नम् । (अथ. पु. १, पृ. ३४४) । ७. एकत्वेन वितर्कोऽस्ति यस्मिन् वीचारवर्जिते । तदेकत्व-वित-र्कावीचारं शुक्लं तदुत्तरम् । (ह. पु. ५६-६५) । ८. एकत्वेन वितर्कस्य स्याद् यत्राऽविचारिष्णुता । सवितर्कमवीचारमेकत्वादिपदाभिधम् ॥ (न. पु. २१, ७१) । ९. स एवाऽऽमूलतो मोहक्षपणाऽऽमूर्णमा-म्लः । प्राप्नान्तगुणां शुद्धिं निरुन्धन् सन्ध्यात्मनः ॥ ज्ञानामृतिसहायानां प्रकृतीनामशेषतः । ह्लासयन् क्षयधंसासां स्थितिबन्धं समन्ततः । श्रुतज्ञानोप-युक्तात्वा धीतवीचारमानसः । क्षीणमोहोऽप्रकम्पा-त्मा प्राप्तक्षाधिकसंयमः ॥ ध्यातृत्ववितर्काख्यं ध्यानं वात्यधश्चरम् । दधानः परमां शुद्धिं दुरवा-प्यामलोऽभ्यतः ॥ (त. श्लो. ६-४४, ६-६) । १०. पीडितमोहविलए क्षीणकबाए य वृत्तिये काने ।

ससत्त्वमि थिलीणो सुक्कं काएवि एयत्तं ॥ (कातिके. ४८५) । ११. अविकम्प्यमनस्त्वेन योऽ-सङ्क्रान्तिनिःस्पृहम् । तदेकत्ववितर्काख्यं श्रुतज्ञानोप-योगवत् ॥ (त. वा. सिद्ध. पु. ६-४३ उद्.) । १२. द्रव्यमेकं तत्रैकेन योगेनान्यतरेण च । ध्यायति क्षीणमोहो यत्तदेकत्वमिदं भवेत् ॥ श्रुतं यतो वितर्कः स्याच्चतः पूर्वार्थवितर्कः । एकत्वं ध्यायति ध्यातुं सवितर्कं ततो हितम् ॥ अर्थ-व्यञ्जन-योगानां विचारः संकमो मतः । वीचारस्य ह्यसद्भावाद्-वीचारमिवं भवेत् ॥ (त. सा. ७, ४८-५०) । १३. अवीचारो वितर्कस्य यत्रैकत्वेन संस्थितः । सवितर्कमवीचारं तदेकत्वं विदुर्बुधाः ॥ (आत्मा-श्लो. ४२-१४) । १४. द्रव्यसंप्रदृष्टीकायाम्— निजशुद्धात्मद्रव्ये वा निर्विकारारामसुखसंनिधि-पयसि वा निरुपाधिस्वसंवेदनगुणे वा यत्रै-कस्मिन् प्रवृत्तं तत्रैव वितर्कसंज्ञेन स्वसंस्थित-क्षणभावश्रुतबलेन स्थिरीभूय वीचारं गुण-द्रव्य-पर्यायपरावर्तनं करोति यत्तदेकत्ववितर्क-वीचार (कातिके—वितर्कावीचार) संज्ञ क्षीणकबाय-गुण-स्थानसम्भवं द्वितीयं शुक्लध्यानम् । (बु. ब्रह्मसू. टी. ४८; कातिके. टी. ४८५ उद्.) । १५. कि चार्थप्रमुखोप्यसङ्क्रममिहैकत्वश्रुतालम्बनम्, प्राहैक-त्ववितर्कणाविचारणामिदं द्वितीयं जिनः । (आत्म-प्रबोध ६५) । १६. एवं श्रुतानुसारादेकत्ववितर्क-मेकपर्यायम् । अर्थ-व्यञ्जन-योगान्तरेष्वसङ्क्रमण-मन्यत् तु ॥ (योगशा. ११-७; न. पु. बद्. श्लो. पु. २, पु. ११ उ.) ; उत्पाद-स्थिति-भङ्गादिपर्याया-णां यदेकयोगः सन् । ध्यायति पर्यायमेकं तत्स्यार्थैक-त्वमविचारम् ॥ (योगशा. ११-१८) । १७. एक-त्वेन न पर्यायान्तरतया जातो वितर्कस्य यद्, यो वीचार इहैकस्तु नि वचस्वेकत्र योगेऽपि च । नार्थ-व्यञ्जन-योगजालचलनं तत्सार्थानामेत्यदो ध्यानं चातिविघातजातपरमाहृत्यं द्वितीयं मतम् ॥ (आत्मा. सा. १०-४६) । १८. निजालम्ब्यमेकं वा पर्याय-मयवा गुणम् । निश्चल चिन्त्यते यत्र तदेकत्वं विदु-र्बुधाः ॥ (युज. क. ७६, पु. ४७) । १९. अनेकेषां पर्यायानामेकद्रव्यावसम्भनाम् । एकस्मैव वितर्को यः पूर्वगतश्रुतावयवः ॥ स च व्यञ्जनरूपोऽर्थरूपो वैक-तमो भवेत् । यत्रैकत्ववितर्काख्यं तद् ध्यानमिह वणि-तम् ॥ (लोकप्र. पु. ४४२); न च स्याद् व्यञ्ज-

भावार्थ तथाऽर्थाद् व्यञ्जनयेऽपि वा । विचारो-
ऽनं तदेकत्ववितर्कमविचारि च ॥ मनःप्रभृतियोगा-
नामन्येकस्मात् परम नो । विचारोऽनं तदेकत्ववि-
तर्कमविचारि च ॥ (लोकप्र. ३०, ४८६-६०) ।

२ ओहकर्म का समूल नाश करने का इच्छुक होकर
अमनसपूर्वी विमुक्ति सहित योगविशेष के द्वारा
ज्ञानावरण की सहायक बहुलसी प्रकृतियों के बन्ध
का निरोध और उनकी स्थिति के ह्रास व लय का
करने वाला, भूतज्ञानोपयोग से सहित तथा धर्म,
व्यञ्जन और योग की संकल्पित-रहित जो केवल एक
द्रव्य, गुण वा पर्याय का चिन्तन करता है—ऐसे
जीवकथाय गुणस्थानवर्ती मूर्तिके जो निश्चल क्षुब्ध-
स्थान होता है उसे एकत्ववितर्कविचार भ्याम
कहते हैं ।

एकत्वानुप्रेक्षा—देखो एकत्वभावना । १. सयणस्त
परियणस्त य मज्जे एक्को ख्वंतघो दुहिदो । वज्जदि
मच्छु-वसगदो ण जणो कोई समं एदि ॥ एक्को
करेदि कम्मं एक्को हिंददि य दीहसंसारे । एक्को
जायदि मरदि य एवं चित्तेहि एयत्तं ॥ (मूला. ८,
८-६) । २. एक्को करेदि कम्मं एक्को हिंददि य
दीहसंसारे । एक्को जायदि मरदि य तस्स फलं भुंजदे
एक्को ॥ एक्को करेदि पावं विसयणिमित्तेण तिव्व-
सोहेण । गिरय-तिरिएसु जीवो तस्स फलं भुंजदे
एक्को ॥ एक्को करेदि पुणं धम्मणिमित्तेण पत-
ताणेण । मणुव-देवेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥
एक्कोऽहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्षणो । सुद्धे-
यसमुपादेयमेवं चित्तेहि संजदो ॥ (आवशा. १४-१६
व २०) । ३. जन्म-जरा-मरणानुवृत्तिमहादुःखानुभवं
प्रति एक एवाहं न कश्चिन्मे स्वः परो वा विद्यते ।
एक एव जायेऽहम्, एक एव जिये, न मे कश्चित्
स्वजनः परजनो वा व्याधि-जरा-मरणादीनि दुःखा-
न्यपहरति, बन्धु-मित्राणि स्मभानं नातिवर्तन्ते, धर्म-
मेव मे सहायः सदा अनुयायीति चिन्तनमेकत्वानु-
प्रेक्षा ॥ (स. सि. ६-७) । ४. एक एवाहं न मे क-
श्चित् स्वः परो वा विद्यते । एक एवाहं जाये, एक
एव जिये, न मे कश्चित् स्वजनसंज्ञः परजनसंज्ञो वा,
व्याधि-जरा-मरणादीनि दुःखान्यपहरति प्रत्यंकारी
वा भवति, एक एवाहं स्वकृतकर्मफलमनुभवामीति
चिन्तयेत्, एवं ह्यस्य चिन्तयतः स्वजनसंज्ञकेषु स्नेहा-
नुरागप्रतिबन्धो न भवति परसंज्ञकेषु च द्वेषानु-

बन्धः । ततो निःसङ्कतामभ्युपगते मोक्षार्थं मतेत
इत्येकत्वानुप्रेक्षा । (स. भा. ६-७) । ५. इक्को
जीवो जायदि एक्को गम्भस्सि गिण्णुदे देहं । इक्को
वाल-खुवाणो इक्को दुद्धो जरागहिप्पो ॥ इक्को
रोई सोई इक्को तप्पेदि माणसे दुक्खे । इक्को मरदि
वराओ णरय-दुहं सहदि इक्को वि ॥ इक्को संचदि
पुणं एक्को भुंजेदि विविह-पुर-सोक्खं ॥ इक्को खबोदि
कम्मं इक्को वि य पायए मोक्खं ॥ सुयणो पिच्छंतो
वि ह्ण दुक्खल्लेसं पि सक्कदे गहिदुं । एवं जाणंतो
वि ह्णो पि ममत्तं ण छंढे ॥ (कार्तिके. ७४-७७) ।
३ जन्म, जरा और मरण रूप महान् दुःख का सहने
वाला मैं एक ही हूँ—इसके लिये न मेरा कोई स्व
है और न पर भी है; मैं प्रकृता ही जन्म लेता हूँ
और प्रकृता ही मरता हूँ—कोई भी स्वजन और
परजन मेरे रोग, जरा एवं मरण धादि के कष्ट
को दूर नहीं कर सकता है; बन्धुजन व मित्रजन
आदि के अधिक स्मरण तक जाने वाले हूँ—आगे
कोई भी साथ जाने वाला नहीं है; मैं बर्ष एक
ऐसा धनव्यय है जो मेरे साथ आकर भवांतर में भी
सहायक हो सकता है; इत्यादि प्रकार निरन्तर
विचार करना, इसका नाम एकत्वानुप्रेक्षा है ।

एकवेशच्छेद—निर्विकल्पसमाधि रूपसामायिकस्थं-
वेशेन च्युतिरेकदेशच्छेदः । (प्र. सा. जय. पु. ३-१०) ।
निर्विकल्प समाधि रूप सामायिक के एक अंश के
विनाश को एकवेशच्छेद कहते हैं ।

एकपादस्थान—एगपादं एयेन पादेनावस्थानम् ।
(अ. भा. विजयो. २२३) ।

एक पद से स्थित होकर तत्पश्चात्तरण करना, इसका
नाम एकपाद (कायश्लेषविशेष) है ।

एकप्रत्यय (ज्ञान) — १. एकभिधान-व्यवहारनि-
बन्धनः प्रत्यय एकः । (ध. पु. ६, पृ. १५१);
एकार्थविषयः प्रत्ययः एकः (अवग्रहः) । (ध. पु.
१३, पृ. २३६) । २. बहुलकम्यवित्तविज्ञानं बहुलं कं
च क्रमाद्ययः । (आ. सा. ४-१७) ।

जो प्रत्यय एक नाम और व्यवहार का कारण होता
है वह एकप्रत्यय कहलाता है ।

एकजन्मन—छाणं जीवणिकायाणं सरीरसमबाधो
एयंबंणं धाम । (ध. पु. १४, पृ. ४६१) ।

पुनर्विषयिकायादि छह जीवसमूहों के सरीरसमबाध
का नाम एकजन्मन है ।

एकभक्त—१ उदयस्थाने काले णालीतियवज्जिय-
म्हि मज्झम्हि । एकस्मिं दुष ति ए वा मुहुत्तकालेय-
भक्तं तु ॥ (मूला. १-३५) । २. उदयकालं नाडी-
निकप्रमाणं वर्जयित्वा अस्तमनकालं च नाडीनिक-
प्रमाणं वर्जयित्वा शेषकालमध्ये एकस्मिन् मुहूर्ते द्वयो-
र्मुहूर्तयोस्त्रिषु वा मुहूर्तेषु यदेतदशनं तदेकभक्तसंज्ञ-
कं जनमिति । × × × अथवा नाडीनिकप्रमाणे
उदयास्तमनकाले च वर्जिते मध्यकाले त्रिषु मुहूर्तेषु
भोजनक्रियाया या निष्पत्तिस्तेदकभक्तमिति । अथवा
ग्रहोरात्रमध्ये द्वे भवतवेले, तत्र एकस्यां भवतवेला-
याम् आहारग्रहणमेकभक्तमिति । (मूला. वृ. १-३५) ।
३. उदयास्तोभयं त्यक्त्वा त्रिनाडीभोजनं सकृत् ।
एक-द्वि-त्रिमुहूर्तं स्यादेकभक्तं दिने मुनेः । (आषा.
सा. १-४७) ।

२ उदय और अस्तमनकाल सम्बन्धी तीन-तीन नाडी
(घटिका) प्रमाण काल को छोड़ कर शेष काल में
एक, दो अथवा तीन मुहूर्तों में भोजन करना एक-
भक्त कहलाता है । अथवा उदय व अस्तमन
सम्बन्धी तीन घटिकाओं को छोड़कर मध्य के तीन
मुहूर्तों में भोजनक्रिया के करने को एकभक्त कहते
हैं । अथवा दिन-रात में दो बार भोजन किया
जाता है, उसमें एक ही बार भोजन करता, इसे
एकभक्त कहा जाता है ।

एकभिक्षानियम (मूलक)—१. जइ एव ण
रएज्जे काळं रिसगिहम्मि चरियाए । पविसत्ति एय-
मिक्खं पविसत्तिणियमणं ता कुज्जा ॥ (बुधु. आ.
१०६) । २. यस्त्वेकभिक्षानियमो गत्वाऽद्यादनुमुन्य-
सी । भुक्त्यभावे पुनः कुर्यादुपवासमवश्यकम् ॥ (सा.
ध. ७-४६) ; एकस्यां एकमुहूर्तसम्बन्धिन्यां भिक्षायां
नियमः प्रतिज्ञा यस्य स एकभिक्षानियमः । (सा. ध.
स्वो. टी. ७-४६) ।

२ एक ही घर पर भिक्षा के नियम वाले भुत्सक
को एकभिक्षानियम वाला भुत्सक कहते हैं । यह
भुत्सकों के आहार करने के अनन्तर भिक्षार्थ नगर
में जाता है और एक ही घर में आहार ग्रहण
करता है व भोजन के प्रभाव में उपवास करता है ।
एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिज्ञा — उपवासत्रयं कृत्वा
चतुर्धा रात्रौ ग्राम-नगरादेर्बहिर्विसे समधाने वा
प्राङ्मुखः उदङ्मुखश्चैत्याभिमुखो भूत्वा चतुरंगुल-
मात्रपद्मास्तरो नासिकाग्रनिहितदृष्टिस्त्यक्तकायस्ति-

ष्ठेय, सुष्टु प्राणिहितचित्तश्चतुर्विधोपसर्गग्रहो व
चलेन्म पतेत् यावत् सूर्य उदेति, सैषा एकरात्रिकी
भिक्षुप्रतिज्ञा । (ध. आ. विज्जयो. ४०१; मूलारा.
४०३) ।

जो तीन उपवास करके चौथी रात्रि में ग्राम-नगरादि
के बाहिर किसी भी स्थान में अथवा स्नानान में
पूर्वाभिमुख, उत्तराभिमुख अथवा जिनचेत्याभिमुख
होकर पाँचों के बीच बार अंगुल प्रमाण अन्तर
रखते हुए नासिका पर दृष्टि रख कर स्थित
होता है व शरीर से निर्ममत्व होकर प्राणिहित में
निमग्न होता हुआ चारों प्रकार के उपसर्ग को सहता
है तथा सूर्य का उदय होने तक निश्चलतापूर्वक
उसी प्रकार से स्थित रहता है, वह एकरात्रिकी
भिक्षुप्रतिज्ञा का निर्वाहक होता है ।

एकविध प्रत्यय—१. एकजातिविषयत्वादेतत्-(बहु-
विध-)प्रतिपक्षः प्रत्ययः एकविधः । (ध्व. पु. ६,
पु. १५२) ; एकजातिविषयः प्रत्ययः एकविधः ।
(ध्व. पु. १३, पु. २३७) । २. बहुलैकजातिविज्ञानं
स्याद् बहुलैकविधं यथा । वर्णा नृणां बहुविधाः
गौर्जात्येकविवेति च ॥ (आषा. सा. ४-१८) ।

१ जो ज्ञान बहुत जातिभेदों को विषय करने वाले
बहुविधप्रत्यय से वृत्त होकर एक ही जाति के
पदार्थ को ग्रहण करता है, उसे एकविध प्रत्यय कहा
जाता है ।

एकविध बन्ध—एकस्याः सातावेदनीयसंज्ञायाः
प्रकृतेर्बन्धः एकविधबन्धः । (आतक वे. स्वो. पु.
२२) ।

एक मात्र सातावेदनीय प्रकृति के बन्ध को एकविध
बन्ध कहते हैं ।

एकविधावग्रह—१. एयपारमग्हणमेयविहावग्न-
हो । × × × एगजाईए द्विदएयस्स बहण वा गह-
णमेयविहावग्नहो । (ध्व. पु. ९, पु. २०) । २.
अल्पविशुद्धिभोगेन्द्रियादिपरिणामकारण आत्मा
तत्तादिसम्भानामेकविधावग्रहणादेकविधमवबुद्धति ।
(त. वा. १, १६, १६) । ३. एकजातिग्रहणमेक-
विधावग्रहः । (मूला. वृ. १२-१८७) ।

१ एक प्रकार के पदार्थ के जानने का नाम एक-
विधावग्रह है । यह एक जाति का पदार्थ चाहे एक
हो चाहे बहुत हो, उसका ज्ञान एकविधावग्रह ही
कहलाता है ।

एकविहारी—तप-मुक्त-संत-एत-भाव-संचरण-वि-
दिसमयो य । पवित्रा-प्रागमवलिषो एयविहारी
प्रविशन्तो ॥ सच्छन्दनदागदी सयण-पिसयणादाण-
मिक्ख-बोसरणे । सच्छन्दजंपरोचि य मा मे सत्तु वि
एंगामी । (बुला. ४, २८-२९) ।

जो तप, धृत, तत्त्व, एकत्व, भाव, संहनन एवं धैर्य
आदि गुणों से संयुक्त होकर तप से बृद्ध और प्रागम
को जाता हो ऐसे साधु को एकविहारी होने की
अनुज्ञा प्राप्त है । किन्तु जो सयन, आसन, ग्रहण,
मिक्षा और मल-मूत्र का त्याग, इन कार्यों में स्व-
च्छन्द होकर प्रवृत्ति करता है व मनमाने ढंग से
बोलता है वह एकविहारी नहीं हो सकता है ।

एकसिद्ध—१. एकसिद्धा इति एकस्मिन् समये
एक एव सिद्धः । (नन्दी. हरि. बृ. पु. ५१; आ. प्र.
टी. ७७) । २. × × × हिया इग समय एग सिद्धा
य । (नवतत्त्वप्र. ५६) । ३. एकस्मिन् एकस्मिन्
समये एका एव सन्तः सिद्धा एकसिद्धाः । (प्रज्ञाप.
अल्प. बु. १-७, पु. २२; सार्व. सन्. टी. ११,
५४. पु. ४२५) ।

१ एक समय में जो एक ही मुक्त होता है, उसे
एकसिद्ध कहते हैं ।

एकसिद्धकेवलज्ञान — एकसिद्धकेवलज्ञान नाम
यस्मिन् समये स विवक्षितः सिद्धस्तस्मिन् समये
यद्यन्यः कोऽपि न सिद्धस्ततस्तस्य केवलज्ञानमेक-
सिद्धकेवलज्ञानम् । (आद्य. नि. मतप्र. बु. ७८, पु.
८३) ।

जिस समय में विवक्षित कोई एक जीव सिद्ध होता
है उस समय में यदि अन्य कोई सिद्ध नहीं होता है
तो उसके केवलज्ञान को एकसिद्धकेवलज्ञान कहा
जाता है ।

एकस्थिति—एया कम्मसं द्विदी एयद्विदी णाम ।
(अयम. ३, पु. १९१) ।

कर्म की एक स्थिति को एकस्थिति कहते हैं ।

एकस्वभाव—१. भेदसंकल्पनायुक्त एकस्वभाव
प्राहितः । (अध्यानु. त. १३-३) । २. भेदकल्पना-
रहितशुद्धव्याधिकनये भेदकल्पनायुक्त एकस्वभावः
कथितः । (अध्यानु. त. टी. १३-३) ।

२ भेद की कल्पना से रहित शुद्ध व्यापिक नय में
भेदकल्पना से रहित को एकस्वभाव कहा जाता है ।
एकाग्रचिन्तानिरोध—१. अग्रं मुखम्, एकग्र-

प्रमत्येत्येकाग्रः, नानाधावलम्बनेन चिन्ता परित्यज्य-
वती, तस्या अन्त्याशेषमुख्येभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्नेन
नियम एकाग्रचिन्तानिरोध इत्युच्यते । (स. सि.
६-२७) । २. एकमग्रं मुखं यस्य सोऽग्रमेकाग्रः,
चिन्ताया निरोधः चिन्तानिरोधः, एकाग्रे चिन्तानि-
रोधः एकाग्रचिन्तानिरोधः । (त. भा. ६-२७) ।
३. एकाग्रेति वा नानामुल्लेखेन निवृत्तये । क्वचि-
च्चिन्तानिरोधस्याध्यानत्वेन प्रभावितम् ॥ × × ×
एकमग्रं मुखं यस्य सोऽग्रमेकाग्रः, चिन्ताया निरोधः
[चिन्तानिरोधः], एकाग्रश्चासौ चिन्तानिरोधश्च स
इत्येकाग्रचिन्तानिरोधः । (त. श्लो. ६, २७, १) ।
४. एकस्मिन्नेन प्रधाने वस्तुन्यात्मनि परमं वा
चिन्तानिरोधो निश्चलता चिन्तान्तरनिवारणं ईका-
ग्रचिन्तानिरोधः । (त. सुखबो. बु. ६-२७) । ५.
एकमग्रं मुखमवलम्बनं इदं पर्यायः तदुभयं स्मृतं
सूक्ष्मं वा यस्य स एकाग्रः, एकाग्रस्य चिन्तानिरोधः
आत्मार्यं परित्यज्यापरचिन्तानिवर्धः, × × ×
चिन्तायाः अपरसमस्तमुख्येभ्यः समग्रावलम्बनेभ्यो
व्यावर्त्य एकस्मिन् अग्रे प्रधानवस्तुनि नियमनं
निश्चलीकरणमेकाग्रचिन्तानिरोधः स्यात् । (त.
वृत्ति मुक्त. ६-२७) ।

१ अग्र का अर्थ मुख या प्रधान होता है, अनेक विषयों
के आलम्बन से चिन्ता अस्वाभावमान होती है, इसी-
लिये उस चिन्ता को अन्य सब विषयों की ओर से
हटा कर एक प्रमुख विषय में लगाया, इसे एकाग्र-
चिन्तानिरोध (ध्यान) कहा जाता है ।

एकाग्रमन—जहा उ पावयं कम्मं रागदोससमग्गि-
यं । जवेइ तवसा मिक्खु तमेगग्गमणो मुण ॥
(उत्तरा. ३०-१, पु. ३३७) ।

जो साधु तप के द्वारा राग-द्वेष से उपाजित पाप
कर्म को नष्ट करता है उसे एकाग्रमन जानना
चाहिये ।

एकादशी प्रतिमा—एकादशमासान् त्यक्तसङ्को
रजोहरणादिमुनिवेषधारी कृतकेषोत्पाटः स्वायत्तेषु
शोकुलादिषु वस्नु 'प्रतिमाप्रतिपन्नाय अमणोपास-
काय भिक्षां दत्त' इति वदन् धर्मलाभ शब्दोच्चारण-
रहितं सुसाधुवत् समाधरतीत्येकादशी । उक्तं च—
एकारसोऽह निस्तगो घरे लिंगं पडिगहं । कयसोप्री
सुसाहुव्व पुव्वुत्तमुणसायरो ॥ (योगशास्त्र श्लो.
विश्व. ३-१४८, पु. ३७२) ।

को उपासक ग्राह्य थात लोक परिग्रह से रहित होकर भूमि के वैष्णवक्य राजोहरादि को धारण करता है, कैलाशमें करता है, स्वाधीन भोक्तुल आदि में रहता है, तथा 'अर्वासाध' शब्द का उच्चारण न करके 'प्रतिमाप्रतिपन्न अग्रणोपासक को भिन्ना बो' ऐसा कहता है; इस प्रकार जो उसमें साधु के समान आचरण करता है; वह ग्राह्यही प्रतिमा का-वाच्य होता है।

एकान्त—जं तं एयान्तं तं लोगमज्झादो एगसेहि वेक्खमाणे अंतामावादो एयान्तं । (अ. पु. ३, पृ. १९) ।

लोक के मध्य से एक ओर आकाशप्रवेशार्थक के बेलने पर भूमि अस्त सम्भव नहीं है, अतः इसे एकान्त कहा जाता है।

एकान्त-असात—जं कम्मं असादत्ताए बडं असंछुडं अपडिच्छुडं असादत्ताए वेदिज्जवि तमेयंत-असादं । (अ. पु. १९, पृ. ४६८) ।

जो कर्म असातस्वक से बन्ध को प्राप्त होकर संश्लेष व प्रतिश्लेष से रहित होता हुआ असातस्वक से बंधा जाता है—अनुभव में आता है—उसे एकान्त-असात कहते हैं।

एकान्त मिथ्यात्व—१. तत्र इदमेव इत्यमेवेति धर्मिधर्मयोर्मिनिवेश एकान्तः । (स. सि. ८-१; स. भा. ८, १, २८) । २. अतिय चेव जलिय चेव, एगमेव अणेगमेव, सावयवं चेव जिग्वयवं चेव, शिञ्जमेव अणिज्जमेव, इच्छाद्वयो एयंताहिनिवेशो एयंतमिच्छंतं । (अ. पु. ८, पृ. २०) । ३. एकान्तमिथ्यात्वं नाम वस्तुनो जीवादेनित्यत्वमेव स्वभावो न चानित्यत्वादिकम् । (अ. भा. विज्जयो. १-२३) । ४. यत्रामिसनिवेशः स्यादत्यन्तं धर्मिधर्मयोः । इदमेवेत्यमेवेति तदैकान्तिकमुच्यते ॥ (स. सा. ५-४) । ५. क्षणिकोऽक्षणिको जीवः सर्वदा सगुणोऽगुणः । इत्यादिभाषमाणस्य तदैकान्तिकमिच्छते ॥ (अभि. भा. २-६) । ६. इदमेवेत्यमेवेति सर्वधा-धर्मधर्मिणोः । आहिका सेमुषी प्राज्ञैरैकान्तिकमुदाहृतम् ॥ (अ. भा. ५-२६) । ७. सर्व-बाज्जस्स्येव भास्स्येवैकमेवाऽनेकमेव नित्यमेवाऽनित्यमेव वक्तव्यमेवाऽवक्तव्यमेव जीवादिवस्तु इत्यादि-प्रतिपक्षनिरपेक्षसर्वधानियम एकान्तः, तच्छ्रद्धानमेका-

न्तमिथ्यात्वम् । (यो. जी. म. प्र. टी. १५) । ८.

इदमेव इत्यमेवेति धर्मिधर्मयोर्विषये अभिप्रायः, पुन-नेवेवं सर्वमिति, नित्य एवानित्य एवेति वाऽभिनिवेश एकान्तमिथ्यादर्शनम् । (स. भुति भुत. ८-१) ।

९. जीवादि वस्तु सर्वथा सदेव सर्वथाऽसदेव, सर्वथा एकमेव सर्वथा अनेकमेवेत्यादि प्रतिपक्ष-निरपेक्षैकान्ताभिप्राय एकान्तमिथ्यात्वम् । (यो. जी. जी. प्र. टी. १५) ।

२ वदार्थ अस्तित्व ही है अथवा नास्तित्व ही है, एक ही है अथवा अनेक ही है, साध्यत्व ही है अथवा निरवयव ही है, तथा नित्य ही है अथवा अनित्य ही है; इत्यादि प्रकार के एक ही धर्म के अभिनिवेश या आग्रह को एकान्तमिथ्यात्व कहते हैं।

एकान्तसात—जं कम्मं सादत्ताए बडं असंछुडं अपडिच्छुडं सादत्ताए वेदिज्जवि तमेयंतसादं । (अ. पु. १९, पृ. ४६८) ।

जो कर्म सातस्वक से बन्ध को प्राप्त होकर संश्लेष व प्रतिश्लेष से रहित होता हुआ सातस्वक से बंधा जाता है—अनुभव में आता है—उसे एकान्त-सात कहते हैं।

एकाग्रग्रह—एकस्तेव वत्तुवल्लो एवावग्गहो । × × × एववत्तुग्गाहो अग्रवो एवावग्गहो उच्चवि । × × × विहि-पडिसेहारुदमेयं वत्तु, तस्स उवल्लो एवावग्गहो । (अ. पु. ६, पृ. १६) ।

विधि-प्रतिषेधात्मक एक ही वस्तु के उपलम्भ को—जानने को—एकाग्रग्रह कहते हैं।

एकाग्र(स)न—१. एकं असणं ग्रहवा वि प्रासणं जत्थ निष्पलपुयस्स । तं एकासणमुत्तं इग्वेसा-भोयणे नियमो ॥ (प्राप्ताख्यात्मक. १०७) । २. एकस्थानं स्थितभोजनम् । (प्राय. स. टी. १, २) । ३. एकस्थानं सकृद्व्युक्तम् । (अभि. भा. १-६१) । ४. एकं सकृदधानं भोजनम्, एकं बाऽऽसनम् पुताचलनतो यत्र तदेकाशनमेकासनं च । (योगशा. स्तो. विच. ३-१३०) ; एकासणं पञ्चकक्षाद वउ-विहुं पि प्राहारं असणं पाणं साहमं साहमं अण्णत्थ-णाभोणेण सह सागारेण सागारि अगारेणं घाउटण-पसारणेणं गुरु अम्भुद्धानेणं पारिद्वाकणियागारेणं अहृत्तरागारेणं सव्वसमाहिवति अगारेणं बोसिरइ । (योगशा. स्तो. विच. उ. ३-१३०, पृ. २५२) ।

१ जिस नियमविशेष में एक भोजन सबका पुर्तों पर स्थिर रहते हुये भोजन के लिये एक भासन को स्वीकार किया जाता है उसे एकासन या एकासन कहते हैं।

एकासंख्यात—अं तं एयासंख्येज्यं तं लोयावा-
सस्स एगदिसा । कुदो ? सेदिभागारेण लोयस्स एग-
दिसं पेक्खमाणे पदेसगणणं पट्ठच्च संसातीदादो ।
(अ. पु. ३, पु. १२५) ।

अक्षेप्यमित स्वरूप से लोक की एकदिसा की ओर देखने पर ब्रूँ कि प्रवेशों की गणना सम्भव नहीं है, अतएव उसे एकासंख्यात कहा जाता है।

एकेन्द्रिय—१. इन्द्रियानुवादेण एहदिओ $\times \times \times$
नाम कथं भवदि ? । खओवसमियाए नडोए । (अ.
सं. पु. २, १, १४-१५ पु. ७, पु. ६१) । २. \times
 $\times \times$ पुडविकाइयादीया । मणपरिणामविरहिदा
जीवा एणंदिया भणिवा ॥ (पञ्चा. का. ११२) । ३.
एकेन्द्रियजातिनामकमौदयादेकेन्द्रियः । (अ. पु. १,
पु. २४८) ; एदेण एककेण इदियेण जो जाणदि
पस्सदि सेवदि जीवो सो एहदिओ नाम । (अ. पु.
७, पु. ६२) । ४. पृथिवीकायिकादयो हि जीवाः स्वर्ण-
नेन्द्रियावरणक्षयोपशमात् शेषेन्द्रियावरणोदये नोह
न्द्रियावरणोदये च सत्येकेन्द्रिया भवनसः । (पंचा. का.
अनुत. वृ. ११२) । ५. एकस्य स्वर्णनेन्द्रियज्ञानस्या-
वरणक्षयोपशमात्तवेकविज्ञानभाजः एकेन्द्रियाः । (कर्म-
स्तव गो. वृ. ६-१०, पु. ८४ ; अतक. मत. हेम.
वृ. ३७-३८, पु. ३७) ।

३ जो जीव इस एक स्वर्णन इन्द्रिय के द्वारा जानता
वेकता है व सेवन करता है वह एकेन्द्रिय कहलाता
है। यह एकेन्द्रिय सबस्वा एकेन्द्रिय जातिनामकर्म
के उदय से कृपा करती है। ४ स्वर्णनेन्द्रियावरण के
क्षयोपशम और शेष इन्द्रियावरणों व नोहन्द्रिया-
वरण के उदय से युक्त पृथिवीकायिकादि पांच
प्रकार के जीव एकेन्द्रिय जीव कहे जाते हैं।

एकेन्द्रिय जातिनाम—१. यदुदयादात्मा एकेन्द्रिय
इति शब्धते तदेकेन्द्रियजातिनाम । (स. सि. ८-११ ;
त. भा. ८, ११, २ ; अ. भा. मूला. टी. २०६६) ।
२. एहदियाणमेहदियेह एहदियभावेण जस्स कम्मस्स
उदएण सरित्तं होदि तं कम्ममेहदियभाविनाम ।
(अ. पु. ६, पु. ६७) । ३. एगिदियेसु जीवो
जस्सिह उदयेण होह कम्मस्स । सा एगिदियजार्ह,

$\times \times \times$ ॥ (कर्मवि. प. ८७) ।

१ जिस कर्म के उदय जीव 'एकेन्द्रिय' कहा जाता
है उसे एकेन्द्रियजाति नामकर्म कहते हैं।

एकेन्द्रियसंख्यि—पातिदियावरणक्षयोपशमेण सनु-
प्यणा सत्ती एहदियलद्धी नाम । (अ. पु. १४,
पु. २०) ।

स्वर्णनेन्द्रियावरण के क्षयोपशम से जीव को जो
स्वर्ण के जानने की शक्ति प्राप्त होती है उसका
नाम एकेन्द्रियसंख्यि है।

एलभूक—यस्त्वेतक इवाभ्यन्तमुक्तया अन्न-
नाममेव करोति स एलभूकः । (गु. गु. पट्. पट्ठी.
वृ. २२) ।

भेद की तरह अन्नभक्षण करने वाले व्यक्ति को
एलभूक (आवाक) कहते हैं। ऐसा व्यक्ति क्षि-
पीका के योग्य नहीं होता है।

एवम्भूतमय—१. येनात्मना भूतस्तेवैवाभ्यन्तसाम-
तीति एवम्भूतः । (स. सि. १-३३ ; त. भा. १,
३३, ११) । २. बंधन-भरण तदुभयं एवम्भूतो विसे-
सेह । (अनुयो. वा. १३८, पु. २६६ ; अन्न. नि.
७५८) । ३. व्यञ्जनायंयोरन्योपेक्षायां प्रवृत्त्येवमभूतः ।
(त. भा. १-३५) । ४. $\times \times \times$ एवम्भूतः किमा-
भयः ॥ (अधोव. ४४) । ५. एवं नह सद्धयो संतो
भूधो तदलहाऽभूधो । तेणंबसुयनधो सहरथरो
विसेसेण । (विशेषा. २७४२) । ६. व्यञ्जनेऽनेन
व्यनत्तीति वा व्यञ्ज्यं शब्दः, धर्मस्तु सद्गोचरः,
तच्च तदुभयं च, तदुभयं शब्दाभ्यन्तसाम्यम्, एवम्भूतः

—यथाभूतो नयो विशेषयति । इदमत्र हृदयम्—
शब्दमर्थेन विशेषयति, धर्मं च शब्देन, 'वट चेष्टा-
याम्' इत्यत्र चेष्टया वटशब्दं विशेषयति, वटशब्दे-
नापि चेष्टायाम्, न स्थानभरणक्रियायाम्, ततश्च यथा
योचिन्तस्तकव्यवस्थितः चेष्टावानधो वटमात्रेणोद्भूते
तदा स वटः, तदाचकच शब्दः, अन्यथा वृत्तवन्त-
रस्येव चेष्टाऽयोयावद्वटत्वं तद्व्यवनेऽत्रावाचकत्वम् ।
(आच. नि. हरि. वृ. ७५८, पु. २८४ ; अनुयो. हरि.
वृ. वा. १३८, पु. १२४-२६) । ७. व्यञ्ज्यं शब्दः
तदभिधेयोऽर्थः तद्योऽर्थव्यञ्जनायंयोः, एवंतथायाव-
दवाच्य वाचकप्रवृत्तिनिमित्तभावे, भूतो धर्मा
एवम्भूत इति । यथा वटशब्दो न वृट्प्रवृत्त्यर्थः,
प्रवृत्तिनिमित्तभावात् ; एवं नाचेष्टावृत्त्यर्थवाचको-

अथैव हेतोः, अर्थोऽपि तत्क्रियाशून्यो न स इति, तथाऽर्थमात्रत्वाभावात् । अतो यदैव बोधिन्मस्तका-
दिर्लक्ष्यं अनाद्यनिर्माद्यं चेष्टते तदैव षट्, षट्वाच-
कोऽपि षट्संख्योऽयं तदैवेत्यध्यवसाय एवभूतः ।
× × × तथामेव—अनन्तरनयपरिगृहीतषट्पादी-
नयः—यौ व्यञ्जनभाषी, तयोर्व्यञ्जनार्थयोरोन्यो-
पेक्षार्थग्राहित्वमिति स्वप्रवृत्तिनिमित्तभावेन यथा
व्यञ्जनं तथाऽर्थो यथार्थः तथा व्यञ्जनम्, एवं सति
वाच्य-वाचकसम्बन्धो नाभ्यधा, प्रवृत्तिनिमित्त-
भावेनेत्यध्यवसायः एवभूतः । (स. भा. हरि. बु. १-३५) ।
८. तथामेव—अनन्तरनयपरिगृहीतषट्पादी-
नानाम्—यौ व्यञ्जनभाषी तयोरोन्योपेक्षार्थग्राही
योऽन्यवसायः स एवभूतः परमार्थः, व्यञ्जनं वाच-
कः शब्दः, अर्थोऽभिधेयौ वाच्यः । अथ का पुनरन्यो-
पेक्षा ? यदि वेदा व्यञ्जनं तथाचो यथा चार्थ-
स्तथा व्यञ्जनम्, एवं हि सति वाच्य-वाचकसम्बन्धो
षट्ते, अन्वयो न; योऽप्येक्याविशिष्टमेव वस्तुत्व-
रूपं ज्ञातिपक्षे इति । (स. भा. सिद्ध. बु. १-३५) ।
९. तत्क्रियापरिणामोऽवैतल्येति विनिश्चयात् ।
एवभूतेन नीयेत क्रियान्तरपरारम्भः ॥ (स. बलो. १, ३३, ७८) । १०. एवं जेवे ज्वनादेवभूतः ।
× × × पदमेकमेकार्थस्य वाचकमित्यध्यवसाय
एवभूतनयः । × × × पवगतवर्णभेदाद् वाच्यभेद-
त्वाध्यवसायकोऽयमेवभूतः । (अच. पु. १, पु. ६०) ;
जिरयमर्थं संपतो जइया अणुहवइ मारयं दुक्कं ।
तइया सो जेरइधो एवभूतो जणो भवदि ॥ (अच. पु. ७, पु. २६ उद्.) ; वाचकगतवर्णभेदेनार्थस्य
गवाद्यर्थभेदेन गवादिसम्बन्धः च भेदकः एवभूतः ।
(अच. पु. ६, पु. १८०) । ११. एकभवननादेवभूतः ।
× × × एक एव वर्ण एकार्थवाचक इति पदगत-
वर्णनामार्थ एकार्थ इत्येवभूताभिप्रायवान् एवभूत-
नयः । (अच. पु. १, पु. २४२) । १२. यदेन्दति
तदैवेनौ नोन्येति क्रियाक्षणे । वाचकं मन्यते त्वेवै-
वंभूतो यथार्थनाम् ॥ (ह. पु. ५८-५९) । १३. जं
कं करेइ कम्मं वेही मणवयणकायविट्ठाहि । तं तं
कु जायवुत्तो एवभूतो हवे स जणो ॥ पण्णवण
भाविबूदे अत्थे जो सो ह्व भेदपण्णामो । अहं तं एवं-
भूतो संभयदो मुणह अत्थेसु ॥ (स. म. च. ४३ ब ४५ ;
बु. म. च. २१६ ब २१६) । १४. शब्दो येनात्मना
नैवस्तेनैवाध्यवसायेत् । यो नवो युनवो नान्यस्त-

नेवभूतमन्यभुः ॥ (स. ता. १-५०) । १५. एव-
मित्येव विवक्षितक्रियापरिणामप्रकारेण भूतं परिणत-
मर्थं योऽभिप्रैति स एवभूतो नयः । (प्र. क. भा. ६-७४, पु. ६८०) । १६. तत्क्रियापरिणामकाशः
तदित्यंभूतो यथा कुर्वत एव कारकत्वमिति । (मूला.
बु. ६-६७) । १७. क्रियाश्रयेण भेदप्रकरणमित्यं-
भावः (एवभूतः) । (प्र. र. भा. ६-७४) । १८.
पुनरित्यंभूतो नाम नयः—क्रियाश्रयो विवक्षितक्रिया-
प्रधानः सत्यर्थंभेदकः । यथा—यदैवेन्दति तदैवेन्द्रः,
नामिषेचको न पूजक इति । अन्यथापि तद्भावे
क्रियाशब्दप्रयोगमियमो न स्यात् । (संघीय. अथय.
बु. ४४, पु. ६४) ; क्रियाशब्दमेवादर्थभेदकदेवभूतः ।
(संघीय. अथय. बु. ७२) । १९. एवमिति तथाभूतः
सत्यो षटादिरर्थो नान्यथाप्येवमभ्युपगमपरः एवभूतो
नयः । अयं हि भावनिक्षेपादिविशेषणोपेतं व्युत्पत्त्यर्थ-
विष्टमेवार्थमिच्छति, जलाहरणविषेष्टावन्तं षटमि-
वेति । (स्थानी. अथय. बु. १८६, पु. १५३) ।
२०. यदैव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं षेट्पादिकं तस्मिन्
षटादिके वस्तुनि तदैवासी युवतिमस्तकाश्च उचका-
द्याहरणक्रियाप्रभूतो षटो भवति, न निर्व्यापारः,
एवभूतस्यार्थस्य समाश्रयणादेवभूताभिधानो नवो
भवति । (सुप्र. की. बु. २, ७, ८१ पु. १८६) ।
२१. शब्दाभिधेयक्रियापरिणतवेलायामेव 'तद्बस्तु'
इति भूतः एवभूतः । × × × एकस्यापि ज्वने-
वर्ण्यं सदा तन्नोपपद्यते । क्रियाभेदेन भिन्नात्वा-
देवभूतोऽभिमान्यते । (सम्प्रति. अथय. बु. ३, पु. ३१४ उद्.) ।
१ जो इव्व जित प्रकार को क्रिया से परिणत हो,
उसका उतरी प्रकार से निश्चय कराने वाले नव को
एवभूत नय कहते हैं ।
एकभूतनयाभास—१. क्रियानिरपेक्षात्वेन क्रिया-
वाचकेषु काल्पनिको व्यवहारस्तदाभासः । (प्र. र. भा. ६-७४) । २. क्रियाज्ञाविष्टं वस्तु शब्दवाच्य-
तया प्रतिक्षिपंतु तदाभासः । (प्र. म. त. ७-४२) ।
३. क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपंतु
तदाभास इति । स्वकीयक्रियारहितं तद्वत्स्वपि शब्द-
वाच्यतया प्रतिक्षिपति तच्छब्दवाच्यमिदं न भवत्ये-
वंतादृश एवभूतनाभासः । उदाहरणं यथा—विशि-
ष्टवेष्टाशूर्यं षटाक्ष्यवस्तु न षटशब्दवाच्यम्, षट-
शब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात् पटवदित्यादि-

रिति । अनेन हि वाक्येन स्वक्रियारहितस्य षटावैवं-
स्तुनो षटाविसृष्ट्याभ्युत्थानिवेधः क्रियते, स च
प्रमाणवाचित इत्येवंभूतनयमासतयोक्तमिति । (नव-
प्रदीप पृ. १०४) ।

१ क्रियावाचक शब्दों में क्रिया-निरपेक्ष काल्पनिक
व्यवहार को एषन्भूतनयमास कहते हैं ।

एषण—किमेषणम् ? असण-पाण-सादिव-सादियं ।
(नव. पु. १३. पृ. ५५) ।

असण, पाण, साध और स्वास्वय चार प्रकार के
आहार को एषण कहते हैं ।

एषणासमिति—१. कव-कारिदागुभोदनरहितं तह
पातुं पत्तवं च । दिणं परेण भत्तं संभुत्ती एषणा-
समिदी ॥ (मि. सा. ६३;) । २. छादालदोस-
गुदं कारणवुत्तं विषुद्वजवकोडी । सीदादी समभुत्ती
परिबुद्धा एषणा समिदी ॥ (भूला. १-१३) ।

३. उगम-उप्पायण-एषणाहि पिबमुवचि सेज्जं च ।
सोचितस्स य मुणिणो विजुज्जम् एषणासमिदी ॥
(भ. भा. ११६७; भूला. ५-१२१) । ४. अन्न-पान-
रजोहरण-पात्र-बीबरादीना धम्मसाधनानामाश्रयस्य

रजोद्वगमोत्पादनैवणादोषवर्जनमेवणासमितिः । (त.
भा. ६-५) । ५. अन्नादाबुद्ध्यमादिविदोषवर्जनमेवणा-
समितिः । अतगास्स गुणरत्नसंघयसंवाहिसरीर-

शकटि समाधिपत्तनं निनीवतोऽक्षप्रक्षणमिव शरीर-
धारणनीधमिव जाठराग्निदाहोपशमनिमित्तमन्ना-

शनस्त्वादयतो देश-कालसामर्थ्यादिविशिष्टमगहितम
भ्यवहरत् उद्गमोत्पादनैवणा-संयोजन-प्रमाण-कार-

णाङ्कार-भूमप्रत्ययनवकोटिपरिवर्जनमेवणासमिति-
रिति समाख्यायते । (त. भा. ६, ५, ६) । ६ एषणा

गवेवणादिभेदा शङ्कादिलक्षणा वा, तस्यां समिति-
रेवणासमितिः । × × × उक्तं च—एषणासमिति-

तिर्नाम गोचरगतेन मुनिना सम्यगुपपत्तेन नवकोटि-
परिशुद्धं ग्राह्यमिति । (आच. हरि. पृ. पु. ६१६) ।

७. तत्रासमितस्य षण्णामपि कायानामुपचातः स्याद्
अतस्तत्संज्ञानार्थमेवणासमितिः समस्तेन्द्रिययोग-

लक्षणा । (त. भा. हरि. च सिद्ध. पृ. ७-३);
सम्पदेवणा गवेवणा आगमविधिना पिण्डादीनाम् ।

× × × एतद् वपरिहारेणान्न-पानादिग्रहणमेवणा-
समितिः । उक्तं च—उत्पादनोद्गमैवणभूमाङ्कार

च. पिण्डबुद्धिविधानेन शरीरस्थितये तु यत् । आहा-
रग्रहणं सा स्यादेवणासमितिर्नतेः ॥ (ह. पु. २,
१२४) । ६. अन्नादाबुद्ध्यमादिविदोषवर्जनमेवणासमि-

तिः । उद्गमादयो हि दोषा उद्गमोत्पादनैवण—
संयोजन-प्रमाणाङ्कार-कारण-भूमप्रत्ययास्तेषां नवभिः

कोटिभिः वर्जितं एवणासमितिर्नित्यं । (त. स्तो. ६-५) । १०. पिण्डं तथोपधि शय्यानुद्गमोत्पाद-
नादिना । साधोः सोधयतः बुद्धा ह्येवणासमितिर्न-

वेत् ॥ (त. सा. ६-६) । ११. एतदोषैः (उद्ग-
मादिवद्वत्त्वारिषदोषैः) परिवर्जितमाहारग्रहणमेव-

णासमितिः । (आ. सा. पृ. ३१) । १२. उद्-
गमोत्पादसंज्ञैस्तेषुमाङ्काराविर्गस्तथा । दोषैर्मलैर्वि-

निर्मुक्तं विष्णुसंकादिवर्जितम् ॥ शुद्धं काले परेदंत-
मनुद्दिष्टमयाचितम् । अवतोऽन्नं मुनेर्मेवा एवणा-

समितिः परा ॥ (आनार्थ ३८, १०-११) । १३.
वद्वत्त्वारिषदोषोना प्रासुकान्नादिकस्य वा । एवणा-

समितिभुक्तिः स्वाध्याय-ध्यानहेतवे ॥ (आभा. सा. १-२४) । १४. एषणायाः समितिरिवणासमितिः,
लोकजुगुप्सादिपरिहीनविशुद्धपिण्डग्रहणम् । (भूला.

पृ. १-१०) । १५. एषणा विशुद्धपिण्डग्रहणलक्षणा,
तस्यां या समितिः । (योगसा. स्तो. विच. १-२६);

द्विचत्त्वारिषतामिक्षादोषैर्विषमभूतितम् । मुनिर्वेद-
नमादत्ते सेवणासमितिसंता ॥ (योगसा. १-३८) ।

१६. विष्णाङ्कारादिसङ्काप्रमुखपरिकरैरुद्गमोत्पाद-
दोषैः, प्रत्यायं बीरचर्याजितममलमधःकर्मगुग्मभाव-

शुद्धम् । स्वान्यानुग्राहि देहस्थितिपटु विधिवद्भक्षमन्यै-
श्च अन्त्या, कालेऽन्नं मात्रयाधनम् समितिमनुषजत्ये-

वणायास्ततोभूत् । (अन. च. ४-१६७) । १७.
बायालमेवणाभो भोयणदोसे य पंच सोहेह । सो एस-

णाइसमिगो । × × × ॥ (उपदे. भा. २६८; गृ.
गृ. षट्. पृ. ३, पृ. १४ ज.) । १८. वद्वत्त्वारिष-

ता दोषैरन्तरायैर्मलैरुप्युतम् । आहार शुद्धतः साधो-

रेवणासमितिर्नवेत् ॥ (अ. सं. भा. ६-६) । १९.
गवेवणग्रहणप्रासंघणादोषैरुद्दिष्टयान्न-पानादेः रजो

हरण-मुल्लवस्त्रिकाद्यौघिकोपधेः शय्या-पीठ-फलक-

चर्मवस्त्राद्यौघाद्वहिकोपधेयं विशुद्धस्य यद् ग्रहणं सा

एवणा समितिः । (वर्चसं. भा. स्तो. पृ. ३-४७,
पृ. १३१) । २०. एवणासमितिः—वर्षणाऽमृष्ट-

स्वोद्गमोत्पादादिविदोषरहितस्य भोजनस्य पुनः पुनः
चोचितस्य प्रासुकस्य भोजनस्य ग्रहणं वा समितिर्नव-

क्रि.सा. तृतीया समितिः । (भा. प्रा. टी. ३६) ।
२१. सम्यग्ब्रह्मासमितिस्थिते—शरीरवर्धनमात्रेण प्राप्तमवाधितममृतसंज्ञं उद्गमोत्पादनादिदोषरहित-
मजिर्णहृत्वादिभिरव्युष्टं परार्थं निष्पन्नं काले भोजन-
ग्रहणं सम्यग्ब्रह्मासमितिर्भवति । (त. बुत्ति भुत्त.
८-५) । २२. षट्चत्वारिंशदोषपरिबर्जितम् आहार-
ग्रहणं वैश्व-कालसामर्थ्यादिविशिष्टं भगहितं नवकोटि-
परिशुद्धं एवमासमितिः । (कार्तिके. टी. ३६६) ।
२३. एवमा समितिर्नाम्ना संक्षेपात्संज्ञादपि ।
आहारशुद्धिराख्याता सर्वव्रतविशुद्धये ॥ (साटीसं.
५-२३१) ।

१ कृत, कारित व अनुभोवना दोषों से रहित कृतरे
के द्वारा दिये गये प्राप्तक व प्रशस्त भोजन को ग्रहण
करना, इसका नाम एवमासमिति है । ३ उद्गम,
उत्पादन और एवम (प्रधान) दोषों से रहित आहार,
उपवि एवं शास्त्रा आदि के शुद्धिपूर्वक ग्रहण करने
को एवमासमिति कहते हैं ।

ऐकान्तिक सिध्यात्व—देखो एकान्तसिध्यात्व ।

ऐवंपर्यंशुद्ध—ऐवं परं प्रधानमस्मिन् वाक्य इतीदं-
परम्, तद्भाव ऐवंपर्यं वाक्यस्य तात्पर्यं शक्तिरित्य-
र्थस्तेन शुद्धम् आगमतत्त्वम् । (बोधसंज्ञा बुत्ति १,
१०) ।

जो वाक्य अपने तात्पर्यरूप अर्थ से शुद्ध हो, अर्थात्
अपने अभिप्राय को स्पष्ट व्यक्त करे, उसे ऐवंपर्यं-
शुद्ध (आगमतत्त्व) कहते हैं ।

ऐन्द्रध्वज—१. महानैन्द्रध्वजोऽन्यस्तु सुरराजैः कृतो
महः । (म. पु. ३८-३२) । २. ऐन्द्रध्वज इन्द्रादिभिः
क्रियमाणो बलि-स्नपनं सन्ध्यात्रयेऽपि जगत्त्रयस्वा-
ग्निः पूजामिवेककरणम् । (भा. सा. पु. २१; कार्तिके.
टी. ३६१) । ३. $\times \times \times$ सेन्द्राब्जैः साध्या त्विन्द्र-
ध्वजो महः ॥ (सा. ब. २-२६) । ४. भद्रत्रिमेव
चैत्येषु कल्याणेषु च पंचसु । सुरैर्विनिर्मिता पूजा
भवेद् ऐन्द्रध्वजात्मिका ॥ (भा. ब. ५५६) ।
५. इन्द्राब्जैः क्रियते पूजा सेन्द्रध्वज उदाहृता ॥
(चर्मसं. भा. ६-३१) ।

१ इन्द्रादि देवताओं के द्वारा की जाने वाली महती
पूजा को ऐन्द्रध्वज कहते हैं ।

प्रौद्यो—प्रौद्यो वं सामग्य सुप्रामिहानं चउम्भिहं वं
व । अत्रभयं अम्भीनीं प्राय उम्भना य पत्तेशं ॥
(बोधसं. नि. १-२७) । २. तन्वीः सामान्यं भुता-

विधानम् । (बोधसं. नि. हरि. पु. १-२६) । ३.
प्रौद्यं द्रव्यं समूहः संपातः समुद्यः पिण्डः अन्वेषः
प्रभिनः सामान्यमिति पयविशब्दाः । (अब. पु. १,
पु. ६) ; प्रौद्यविहं सो दम्बद्विगणयपदुप्यायनो, सं-
द्वित्यादो । (अब. पु. ४, पु. ३२२) ; प्रौद्येन
पिण्डेन अन्वेषेदेति एयद्वो । (अब. पु. ४, पु. १४४) ।
प्रौद्येन द्रव्याधिकनयावलम्बनेन $\times \times \times$ । (अब. पु.
४, पु. ६) ; संज्ञितवयनकलावो दम्बद्विगणिवंशो
प्रौद्यो नाम । (अब. पु. ५, पु. २४३) ।

१ सामान्य भुत का जो कवन है उसे प्रौद्य कहा
जाता है । वह बार प्रकार का है—अध्वन, अक्षीज,
प्राय और अपना । ३ द्रव्याधिक नय के आशय से
जो कवन किया जाता है वह प्रौद्य कहलाता है ।
प्रौद्य, द्रव्य, समूह, संपात, समुद्य, पिण्ड, अन्वेष,
प्रभिन सामान्य; ये पयवि शब्द हैं ।

प्रौद्यभव—प्रौद्यभवो नाम भद्रकम्माणि भद्रकम्मव-
गिदजीवपरिणामो वा । (अब. पु. १६, पु. ५१२) ।
आठ कर्मों को अथवा आठ कर्मों से उत्पन्न हुये
जीव के परिणाम को प्रौद्यभव कहते हैं ।

प्रौद्यमरण—प्रौद्यमरणं प्रौद्यः संज्ञेयः पिण्ड इत्य-
नन्तरम् । जहा सम्बन्धीयानं वि णं आउकसए
मरणं ति । (उत्तरा. पु. ५, पु. १२६-२७) ।

प्रौद्य से—सामान्य से—द्रव्य का निर्देश करना,
प्रौद्यमरण कहलाता है । जैसे—प्राय का जय होने
पर सभी का मरण होता है ।

प्रौद्यसंज्ञा—१. प्रौद्यसंज्ञा तु अम्यक्तोपयोगरूपा
वलिचितानारोहणादिलिङ्गा ज्ञानावरणशीलास्पक्ष-
योपशमसमुत्पत्ता । (प्राचार. टी. पु. १, १, १, १,
पु. १२) । २. ज्ञानोपयोगरूपा प्रौद्यसंज्ञा संवरज्जन-
मार्गं परिहृत्या वृत्त्याधारोहत्या सतावेरिव । (गु.
पु. बह. स्तो. पु. १६, पु. ४७) ।

१ ज्ञानावरण कर्म के अल्प अयोपशम से जो अम्यक्त
ज्ञानोपयोगरूप संज्ञा होती है उसे प्रौद्यसंज्ञा कहते
हैं । इसका निश्चय ज्ञातसमूह के आरोहण आदि
रूप सिंग के द्वारा होता है ।

प्रौद्योहेशिक—सामान्येन स्व-परविभागकरणा-
भावरूपेण स्वायं एव पाकादौ किमद्विभागमिज्ञादान-
शुद्ध्या कतिपयतत्त्वव्यापिकप्रलोपेण निवृत्तमोषोह-
ेशिकम् । (चर्मसं. भा. स्तो. पु. १-२२, पु. ३६) ।
स्व और पर का विभाग किये बिना अपने लिये

अहिंसा ॥ (अम. सारो. १४६७) ।

शरीर के सभी सुषुप्ति अवस्थाओं के अन्तर्गत रोषों के मूढ करने में समर्थ होते हैं उन साधुओं को शीघ्रबुद्धिमान कहते हैं ।

अभिसम्भरण—देखो अवसन्न व आसन्न भरण ।

अभ्युत्पत्तिकी (अभ्युत्पत्तिकी, उत्पत्तियाँ)—

१. अभ्युत्पत्तिकी भवतरेषु विषयानां समुत्पत्तिद्वारा । (सि. व. ४-१०२०) । २. अभ्युत्पत्तिकी अदृष्टादुत्पत्तिपूर्वकं वस्तुमुत्पन्नं तत्क्षण एव समासादितोप-

पत्तनाभ्याहतफला । (सि. भा. हरि. वृ. ६-६, वृ. ४६३) । ३. पूर्वकं अविदुषु प्रत्यक्षेऽभ्युत्पत्तिविषयसु-

ह्रियत्वा । अन्त्याह्वयफलजोषा बुद्धी उत्पत्तिश्च नाम ॥ (आम. नि. ६३६; वृ. वृ. वद. स्तो. वृ. पु. २८; कन्वी. वा. ६०, वृ. १४४; उपवेशपत्र ३६) । ४.

तत्त्व जन्मंतरे च उज्ज्वलविमलमविमले विषयाना-

वद्धारिदुबालसंगस्य देवेत्युत्पत्तिश्च मनुस्सेषु अवि-

षट्संस्कारेषु पुण्यस्य एव भवन्ति पठन-सुणन-पुच्छनवा-

चरित्तवाचारविरहित्यस्य पण्णा अभ्युत्पत्तिया नाम । (अम. पु. ६, वृ. ८२) । ५. उत्पत्तिरेव प्रयोजनं

अस्याः सा अभ्युत्पत्तिकी बुद्धिः । (आम. नि. अलघ. वृ. ६३, वृ. ५१६) ।

४ पूर्व जन्म में चार प्रकार की निर्मल वृत्ति के बल से विषय के साथ जिसने आश्रयग्रस्त को अवधारण

किया है, पश्चात् जो अरकर देवों में उत्पन्न हुआ और फिर उस पूर्व संस्कार के साथ अनुभूति में

उत्पन्न हुआ, उसके इस अव में पढ़ने, सुनने व पुछने आदि व्यापार के बिना ही जो सहज स्वभाव से

प्रकट बुद्धि उत्पन्न होती है उसे अभ्युत्पत्तिकी प्रज्ञा कहते हैं ।

अभ्युत्पत्तिकी छेवना (उत्पादना छेवना—रसीए ईवाउह्वमकेउमदीजमुत्पत्ति पविमारीहो भूमि-

रूप-अहिरवरिसादधो व उत्पादना छेवना नाम, एते-समर्थः राष्ट्रमङ्ग-नृपपातादितर्कणात् । (अम. पु. १४, वृ. ४३६) ।

राशि में इन्द्रायुध और धूमकेतु आदि की उत्पत्ति, प्रसिमारोष, भूकम्प और शरिरवर्षा आदि का होना;

इसका नाम अभ्युत्पत्तिकी छेवना है । कारण यह कि इन उपग्रहों के द्वारा राष्ट्रविनाश और राजा के

क्षान का अनुमान होता है ।

अभ्युत्पत्तिकी लिङ्ग—उत्कर्षण सर्वत्र त्यागः सकल-

परिग्रहस्तोत्सवः, उत्सवो त्यागे सकलसम्पत्तिरिच्छाये भवं लिङ्गमीत्युक्तम् । (अ. भा. विचयो. वृ. कुला. ७७) ।

सकल परिग्रह के त्यागपूर्वक गृहीत वषाभ्यास के कीर्तिसंगिक लिङ्ग कहते हैं ।

श्रीवैयक्य अज्ञान—१. ज्ञानावरणकर्मण उदयात् पदार्थानिर्बोधो भवति तदज्ञानमीदृशम् । (अ. सि. २-६) । २. ज्ञानावरणोदयादज्ञानम् । ज्ञान-

भावस्यात्मनः तदावरणकर्मोदये सति मादकोषो भवति, तदज्ञानमीदृशम्, जनसमूहस्वगतविचर-

तेजोऽभिप्रेत्यविततम् । तद्वशा—एकेन्द्रियस्वरूपन-

द्राण-श्रोत्र-चक्षुषामिन्द्रियाणां प्रतिनिधत्ताभिनिर्बो-

धिकज्ञानावरणस्य सर्वथातिस्पर्धकस्योदयात् रस-

गन्ध-स्पर्श-स्पर्शाज्ञानं वतदीदृशम् । × × × (अ. वा. २, ६, ५) । ३. ज्ञानं तु केवलज्ञानस्युदये च

हवेति ताव अज्ञानम् । (अ. नि. १८) । ४. अज्ञाना-

वरणज्ञानान्यस्योदयादुपपत्तितम् । जीवस्याज्ञानवा-

सान्यमन्यवानुपपत्तितः ॥ (अ. अतो. २, ६, ६) । ५. ज्ञानावरणकर्मोदयात् पदार्थानिर्बोधो भवति तदज्ञानमीदृशम् । (अ. सि. २-६) । ६. अज्ञानं यत्पुनरज्ञानमर्थादीदृशम् स्मृतम् । तदस्ति अज्ञानात्म-

यथा निश्चेतनं वदुः ॥ (पञ्चाध्यायी २-१०१६); अज्ञानं जीवभावो यः स स्वादीदृशः स्फुटम् । लब्धजन्मोदयादज्ञानावरणकर्मणः ॥ (अज्ञाना-

ध्यायी २-१०१६) ।

१ ज्ञानावरण कर्म के उदय से जो पदार्थों का अज्ञान नहीं होता है उसे श्रीवैयक्य अज्ञान कहते हैं ।

श्रीवैयक्य असंयत—१. चारित्र्यमोहस्य सर्वसंयत-स्पर्धकस्योदयात् असंयत श्रीवैयक्यः । (अ. सि. २-६; अ. वृत्ति अत. २-६) । २. चारित्र्यमोहो-

द्वयानिवृत्तिपरिणामोऽसंयतः । चारित्र्यमोहस्य सर्व-

थातिस्पर्धकस्योदयात् प्राप्नुयुषातेन्द्रियविषये हेमा-

मिलानिवृत्तिपरिणामरहितोऽसंयतः श्रीवैयक्यः । (अ. वा. २, ६, ६) । ३. वृत्तिमोहोदयात् पुंशो-

ऽसंयतत्व प्रचसते । (अ. श्लो. २, ६, १०) । ४.

असंयतत्वमस्यास्ति भावोऽप्योदृशिको अतः । पाकाच्चारित्र्यमोहस्य कर्मणो अव्यवस्थानाम् ॥ (अज्ञाना-

ध्यायी २-१११६) ।

२ चारित्र्यमोहनीय कर्म के सर्वप्रथम स्वर्णकर्म के उदय से जो प्राप्तिपरीक्षित और इन्द्रियविषय से

किरित्त नहीं होती है, यह श्रीवैदिक असंयत भाव है।

श्रीवैदिकी श्रुति—१. कर्मोदयसामान्यापेक्षोऽसिद्ध श्रीवैदिकः । (स. सि. २-६) । २. कर्मोदयसाधारण्यमपेक्षोऽसिद्धः । अनादिकर्मव्यवहनसत्तानपरत्तव-
स्थात्मानः कर्मोदयसामान्ये सति असिद्धत्वपर्यायो
अवतीत्यवैदिकः । (स. बा. २, ६, ७) । ३. कर्म-
भावोदयावेवासिद्धत्वं प्रणिगद्यते । (स. श्लो. २, ६,
१०) । ४. कर्माण विप्ययुक्तो जाय न ताव तु
असिद्धतः । (भा. वि. १८) । ५. कर्मोदयसाधारण्य-
पेक्षयाऽसिद्धः सोऽप्यवैदिकः । (स. बृत्ति श्रुत. २-६) ।
६. असिद्धत्वं नवेद् भावो नूनमवैदिको यतः । व्यस्ता-
द्वा स्यात्समस्ताद्वा जातः कर्मण्यकोदयात् ॥ (पञ्चा-
म्यायी २, ११३८) ।

१. कर्मोदय सामान्य की अपेक्षा होने वाली असिद्धत्व
अवस्था को श्रीवैदिक असिद्ध भाव कहते हैं ।

श्रीवैदिकी गुण—कर्मणामुदयानुत्पन्नो गुणः श्रीवै-
दिकः । (अव. पु. १, पृ. १६१) ।

कर्मों के उदय से उत्पन्न हुये गुण को श्रीवैदिक गुण
कहा जाता है ।

श्रीवैदिकी गुणयोग—तस्य यदि-सिग-कसायादीहि
श्रीवस्त जोगो श्रीवैदयगुणजोयो । (अव. पु. १०,
पृ. ४३३) ।

यदि, सिग, कीर कसाय आदि श्रीवैदिक भावों के
साथ जो जीवका सम्बन्ध होता है उसे श्रीवैदिक
सहितगुणयोग कहते हैं ।

श्रीवैदिकी भाव—१. तस्य उदयसि त्त उदये भवः
श्रीवैदिकः । अदुविहकम्मा पोम्मला संतावत्तातो
अधीणावसियमत्तिंता अप्पणो विपाणेण उदया-
वसियमाए वट्टमाणा उदिन्नामी त्त उदयभावो भन्न-
त्ति, उदयणिक्कण्णो नाम उदिण्णेण जेण अण्णो
विप्फादितो सो उदयणिक्कण्णो । सो दुविहो जीव-
दम्मे अवीवदम्मे वा । तस्य जीवे कम्मोदएण जो
जीवस्स भावो निव्वत्तितो, जहा णेरहते इत्यादि ।
(अनुयो. बृ. पु. ४२) । २. कर्मविपाक उदयः, उदय-
एव श्रीवैदिकः, स बाष्पानां कर्मप्रकृतीनामुदयः, तत्र
अवस्तेन वा निर्वृत श्रीवैदिकः । (अनुयो. हरि. बृ. पु.
३७) । ३. कर्मविपाकाविर्भाव उदयः, तत्प्रयोजन-
स्तन्निर्वृतो वा श्रीवैदिको भावः । (स. भा. हरि. व
सिद्ध. बृ. २-१) । ४. कर्मोदयजनितो भावो श्रीवै-

दिको नाम । (अव. पु. १, पृ. १८६) । ५. वे पुंनः
पुद्गलाः गति-कषायविपरिणामकारिणः तेषामुदयः
अनुभूयमानता वा स उदयस्तेन निर्वृतोऽप्यवसाय
श्रीवैदिक इति । (स. भा. सिद्ध. बृ. १-५) । ६.
कम्मोदयजकम्मिगुणो श्रीवैदिको तस्य होवि भावो
दु । (गो. क. वा. ८१५) । ७. उदयेन निर्वृत
श्रीवैदिकः । (पञ्चसत्त. अलय. बृ. २-३) । ८. सर्वः
सुभासुभमेदेन द्विप्रकारीऽपि उदयलक्षणः कर्मोदय-
निष्पन्नस्वरूप श्रीवैदिकः । (आव. भा. अलय. बृ.
१८६, पु. ५७८) ; कर्मण उदयेन निर्वृत श्रीवै-
दिकः । (आव. भा. अलय. बृ. २०२, पु. ५६३) ।
९. कर्मोदयाद् भावो भावो जीवश्रीवैदिकस्तु यः ।
(भा. सं. बाव. ६) । १०. नारकादौ कर्मण उदये सति
जीवस्य जायमानो भावः श्रीवैदिकः । (स. बृत्ति श्रुत.
२-१) । ११. कर्मणामुदयाद्यः स्याद् भावो जीवस्य
संयुतो । नाम्नाऽप्यवैदिकोऽन्वयात् परं बन्धाधि-
कारवान् । (पञ्चाप्यायी २-६६७) ।

४. कर्म के उदय से उत्पन्न भाव श्रीवैदिक भाव कहे
जाते हैं ।

श्रीवैदिकी मिथ्यादर्शन—१. मिथ्यादर्शनकर्मण
उदयात् तत्स्वार्थान्नानपरिणामो मिथ्यादर्शनवैदिक-
कम् । (स. सि. २-६) । २. दर्शनमोहोदयात्
तत्स्वार्थान्नानपरिणामो मिथ्यादर्शनम् । तत्स्वार्थ-
रहितस्वभावस्यात्मनस्तत्प्रतिबन्धकारणस्य दर्शनमोहो-
दयात् तत्स्वार्थेषु निरूप्यमाणेष्वपि न अज्ञानमुत्पद्यते
तन्मिथ्यादर्शनमवैदिकम् इत्याख्यायते । (स. भा.
२-६) । ३. मिच्छतकम्मस्स उदएण उप्पणमिच्छ-
तपरिणामो कम्मोदयजनिदो त्त श्रीवैदिको । (अव.
पु. १, पृ. १६४) । ४. दुष्टिमोहोदयात् पुंसो मिथ्या-
दर्शनमिप्यते । (स. श्लो. २, ६, ६) । ५. तत्स्वार्थ-
नामअज्ञानतक्षणपरिणामनिर्वर्तकमिथ्यात्वमोहकर्मो-
दयान्मिथ्यादर्शनमवैदिकम् । (स. बृ. श्रुत. २-६) ।

१. मिथ्यात्व कर्म के उदय से तत्स्वार्थ के धनज्ञानरूप
को परिणाम होता है उसे श्रीवैदिकी मिथ्यादर्शन
कहते हैं ।

श्रीवैदिकी भावलेखना—१. भावलेखना कषायोद-
यरजिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा श्रीवैदिकी । (स.
सि. २-६) । २. कषायोदयरजिता योगप्रवृत्तिर्-
व्या ॥ × × × भावलेखनाकषायोदयरजिता योग-

प्रवृत्तिरिति कृत्वा श्रीवैद्यकीत्युच्यते । (त. वा. २, ६, ८) । ३. कथायोदयतो योगप्रवृत्तिरुपदर्शिता । लेख्या जीवस्य कृष्णादिवस्त्रभेदा भावतोऽनर्थः ॥ (त. श्लो. २, ६, ११) ।

१ कथाय के उदय से अनुरजित योग की प्रवृत्ति को श्रीवैद्यकी भावलेख्या कहते हैं ।

श्रीवैद्यकी वेदना—अद्रुकम्मजणिदा श्रीदइया वेयणा । (अव. पु. १०, पृ. ८) ।

आठ कर्मों के उदय से उत्पन्न हुई वेदना को श्रीवैद्यकी वेदना कहते हैं ।

श्रीदारिककाययोग—१. पुत्र महमुदाहरालं एयदुं तं विद्याण तम्हि भव । श्रीरासिय त्ति वुत्तं श्रीरासियकाययोगो सो ॥ (प्रा. पञ्चसं. १-६३; अव. पु. १, पृ. २६१ उव्; गो. जी. २२६) । २. श्रीदारिककायेन योगः श्रीदारिककाययोगः—श्रीदारिककायावष्टम्भोपजातकियाभिसम्बन्धः श्रीदारिककाययोगः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-१) । ३. श्रीदारिकशरीरजनितवीर्याज्जीवप्रदेशपरिस्पन्धनिबन्धनप्रयत्न श्रीदारिककाययोगः । (अव. पु. १, पृ. २६६); श्रीदारिककाययोगो तिस्पन्धशरीरायष्टम्भवलेनोत्पन्नजीवप्रदेशपरिस्पन्धेन योगः श्रीदारिककाययोगः । (अव. पु. १, पृ. ३१६) । ४. उदारैः दोषपुद्गलापेक्षया स्थूलैः पुद्गलैर्निवृत्तमौदारिकम्, तच्च तच्छरीरं चेति समास्तस्तस्य काययोगः श्रीदारिकशरीरकाययोगः । (श्रीपपा. अमय. वृ. ४२, पृ. ११०) ।

५. उदारं प्रधानम्, उदारमेवौदारिकम् । प्राधान्यं चेह तीर्थकर-गणधरशरीरापेक्षया वेदितव्यम् । × × × अथवा उदारं सातिरेकयोजनसंज्ञमानत्वा-च्छेदशरीरेभ्यो बृहत्प्रमाणम्, उदारमेवौदारिकम् । × × × श्रीदारिकमेव श्रियमानत्वात्कायः, तेन सहकारिकारणभूतेन तद्विषयो वा योगः श्रीदारिककाययोगः । (अवशीति हरि. व मलय. वृ. ३४, पृ. १६३ व १६५; शाक. मल. हेम. वृ. २, पृ. ५) । ६. श्रीदारिककायार्था या आत्मप्रदेशानां कर्म-नो-कर्मकर्षणशक्तिः स एव काययोगः । (गो. जी. अ. प्र. व जी. प्र. टीका २३०) ।

३ श्रीदारिक शरीर के आश्रय से उत्पन्न हुई शक्ति से जो जीव के प्रवेशों के परिस्पन्धन का कारणभूत प्रयत्न होता है, उसे श्रीदारिककाययोग कहते हैं ।

ल. ३६

श्रीदारिक-कर्मणशरीरबन्धन—१. तेषामेवौदारिक-पुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च कर्मणपुद्गलैर्गृह्यमाणैः पूर्वगृहीतैश्च सह सम्बन्धो श्रीदारिक-कर्मणशरीरबन्धनम् । (कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. ७; पञ्चसं. मलय. वृ. ३-११) । २. येनौदारिकपुद्गलानां कर्मणशरीरपुद्गलैः सह सम्बन्धो विधीयते तत् श्रीदारिक-कर्मणशरीरबन्धननाम । (कर्मवि. वे. स्वो. वृ. ३६, पृ. ४८) ।

२ जिसके द्वारा श्रीदारिक पुद्गलों का कर्मणशरीर सम्बन्धी पुद्गलों के साथ सम्बन्ध विद्या जाता है उसे श्रीदारिक-कर्मणशरीरबन्धन नामकर्म कहते हैं ।

श्रीदारिक-कर्मणशरीर-नो-कर्मबन्ध—श्रीदारिक-कर्मणशरीर-नो-कर्मप्रदेशानामन्योन्यानुप्रवेशे श्रीदारिक-कर्मणशरीर-नो-कर्मबन्धः । (त. वा. ५, २४, ६) ।

श्रीदारिकशरीर और कर्मणशरीर नो-कर्मप्रदेशों के परस्पर में प्रवेशरूप बन्ध को श्रीदारिक-कर्मणशरीर-नो-कर्मबन्ध कहते हैं ।

श्रीदारिक-कर्मणशरीरबन्ध—श्रीरासियलक्षणं कम्मइयसंवाणं च एकस्मिन् जीवे द्विदाणं जो बंधो सो श्रीरासिय-कम्मइयशरीरबंधो नाम । (अव. पु. १४, पृ. ४२) ।

एक जीव में स्थित श्रीदारिक और कर्मण एकत्रों का जो बन्ध होता है उसका नाम श्रीदारिक कर्मणशरीरबन्ध है ।

श्रीदारिक-तैजस-कर्मणबन्ध—श्रीदारिकपुद्गलानां तैजसपुद्गलानां कर्मणपुद्गलानां च गृहीत-गृह्यमाणानां यो मिथः सम्बन्धस्तदौदारिक-तैजस-कर्मणबन्धन नाम । (कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. ७) ।

पूर्वगृहीत और गृह्यमाण श्रीदारिक तैजस व कर्मण पुद्गलों का जो परस्पर में सम्बन्ध होता है उसे श्रीदारिक-तैजस-कर्मणबन्ध कहते हैं ।

श्रीदारिक-तैजस-कर्मणशरीरनो-कर्मबन्ध—श्रीदारिक-तैजस-कर्मणशरीर-नो-कर्मप्रदेशानामन्योन्यानुप्रवेशे श्रीदारिक-तैजस-कर्मणशरीरनो-कर्मबन्धः । (त. वा. ५, २४, ६) ।

श्रीदारिकशरीर, तैजसशरीर और कर्मणशरीर के नो-कर्मप्रदेशों के परस्पर में प्रवेशरूप बन्ध को श्रीदारिक-तैजस कर्मणशरीर नो-कर्मबन्ध कहते हैं ।

श्रीदारिक-तैजस-कामंजशरीरबन्ध—श्रीरालिय-
तेया-कम्मइयसरीरलंघणं एकस्मि जीवे णिविद्वानं
जो मण्णोण्णेण बंधो सो श्रीरालिय-तेया-कम्मइय-
सरीरबंधो णाम । (बब. पु. १४, पृ. ४३) ।

एक जीव में स्थित श्रीदारिक, तैजस और कामंज
शरीर सम्बन्धी स्कन्धों का जो परस्पर में बन्ध
होता है, उसे श्रीदारिक-तैजस-कामंजशरीरबन्ध
कहते हैं ।

श्रीदारिक-तैजसबन्धननाम—१. येनोदारिकपुद्-
गलानां तैजसशरीरपुद्गलैः सह सम्बन्धो विधो-
यते तत् श्रीदारिक-तैजसबन्धनं नाम । (कर्मवि. वे.
स्थो. पु. ३६, पृ. ४८) । २. तेयावेवोदारिकपुद्-
गलानां पूर्वपुद्गीतानां पुद्गलानां च तैजसपुद्गल-
पुद्गलानां पूर्वपुद्गीतैश्च सह सम्बन्धो श्रीदारिक-तैजस-
बन्धनम् । (कर्मप्र. पयो. दो. १, पृ. ७; पंचसं.
मलय. पु. ३-११) ।

१ जिसके द्वारा श्रीदारिकशरीर सम्बन्धी पुद्गलों का
तैजसशरीर सम्बन्धी पुद्गलों के साथ सम्बन्ध किया
जाता है, उसे श्रीदारिक-तैजसबन्धन नामकर्म
कहते हैं ।

श्रीदारिक-तैजसशरीरबन्ध—श्रीरालियसरीरपो-
गलणं तेयासरीरपोगलणं च एकस्मि जीवे जो
परोप्परेण बंधो सो श्रीरालिय-तेयासरीरबंधो णाम ।
(बब. पु. १४, पृ. ४२) ।

एक जीव में स्थित श्रीदारिकशरीर सम्बन्धी पुद्गलों
का और तैजसशरीर सम्बन्धी पुद्गलों का जो
परस्पर में बन्ध होता है उसे श्रीदारिक-तैजसशरीर-
बन्ध कहते हैं ।

श्रीदारिकनाम—श्रीरालियं सरीरं उदणं होइ
जस्स कम्मस्स । तं श्रीरालियनामं × × × ॥
(कर्मवि. ग. ८६, पृ. ३६) ।

वित्त कर्म के उदय से श्रीदारिकशरीर होता है,
उसे श्रीदारिकनामकर्म कहते हैं ।

श्रीदारिकमिथ—यदौदारिकमारब्धं न च पूर्णाकृतं
भवेत् । तावदौदारिकमिथः कामंजेन सह ध्रुवम् ॥
(लोकप्र. ३-१३०८) ।

प्राप्त्य किंवा ध्रुवा श्रीदारिकशरीर जब तक पूर्ण
नहीं होता है तब तक वह कामंजशरीर के साथ
श्रीदारिकमिथ कहलाता है ।

श्रीदारिकमिथकाययोग—१. अंतोमुहसम्यक्

वियाण मिस्सं अपरिपुण्णं ति । जो तेण संपभोगो
श्रीरालियमिस्सकायजोगो सो ॥ (भा. पंचसं. १,
६४; बब. पु. १, पृ. १६१ उच्च.; गो. जी. २३१) ।

२. सः (श्रीदारिककाययोगः) एव कामंजसहचरित
श्रीदारिकमिथकाययोगः केवलिसमुद्घाते द्वितीय-षष्ठ-
सप्तमसमयेषु समस्ति । (स. भा. सिद्ध. पु. ६-१) ।

३. कामंजोदारिकस्कन्धाभ्यां जनितीयत्तिपरिस्प-
न्दनार्थः प्रयत्नः श्रीदारिकमिथकाययोगः । (बब. पु.
१, पृ. २६०) । कामंजोदारिकस्कन्धनिबन्धन जीव-
प्रदेशपरिस्पन्देन योगः श्रीदारिकमिथकाययोगः ।

(बब. पु. १, पृ. ३१६) । ४. × × × मिथोऽप-
र्याप्त इत्येते ॥ (पंचसं. अमित. १-१७२) । ५.
श्रीदारिकं मिथं यत्र, कामंजेनेति गम्यते, स अवस्थो-
दारिकमिथः । (शाक्य. जल. हेम. पु. २-३, पृ. ५) ।

६. तदेवान्तर्मुहूर्तपर्यन्तमपूर्णमपर्याप्तं तावन्मिथमि-
त्युच्यतेऽपर्याप्तकालसम्बन्धिसमयत्रयसम्बन्धिकांमंज-
काययोगाकुण्टकामंजवर्गणांशुभ्रुवत्वेन, परम गम-
दघा वाऽपर्याप्तम्, अपर्याप्तशरीरं मिथमित्यर्थः ।

ततः कारणादौदारिककायमिथेण सह तदर्थं वर्तमानो
यः संप्रयोग आत्मनः कर्म लोकमार्दानशक्तिप्रदेशपरि-
स्पन्दयोगः स शरीरपर्याप्तिनिष्पत्त्यभावेनोदारिक-
वर्गणास्कन्धानां परिपूर्णशरीरपरिणमनासमर्थं श्रीदा-
रिकमिथकाययोगः । (गो. जी. जी. प्र. टी. २३१) ।

३ कामंज और श्रीदारिक स्कन्धों से उत्पन्न हुई
शक्ति से जो जीवप्रदेशों के परिस्पन्दन के लिये प्रयत्न
होता है, उसे श्रीदारिकमिथकाययोग कहते हैं । वह
अपर्याप्त अवस्था में ध्रुवा करता है ।

श्रीदारिकशरीर—१. उदारं स्थूलम्, उदारं भव-
नोदारिकम्, उदारं प्रयोजनमस्येति वा श्रीदारिकम् ।
(स. सि. २-३६) २. उद्गतारमुदारम्, उत्कटार-
मुदारम्, उद्गम एव बोदारम्, उपादानात्प्रभृति
अनुसमयमुद्गच्छति वर्षते जीर्यते शीर्यते परिणमती-
त्युदारम्, उदारमेवोदारिकम् । × × × यथोद्गमं
वा निरतिशेषम्, दाह्यं ज्वेज भेजं दाह्यं हार्यमित्यु-
दाहरणादौदारिकम् । × × × उदारमिति च
स्थूलनाम स्थूलमुद्गतं पुष्टं बृहन्महदिति, उदार-
मेवोदारिकम् । (स. भा. २-४६) । ३. उदारात्
स्थूलवाचिनो भवे प्रयोजने वा ठब् । उदारं स्थू-
लमिति यावत्, ततो भवे प्रयोजने वा ठब् श्रीदारिक-
मिति यावत् । (स. भा. २, ३६, ५) । ४. उदारं

बृहत्, स्थूलद्रव्यमित्यर्थः, तन्निवृत्तमौदारिकम्; औदारिकशरीरनामकर्मोदयनिष्पन्नं बौदारिकम् । (त. भा. हरि. बृ. २-३७) । ५. असारस्थूलवर्णानिर्मणितमौदारिकशरीरम् । (त. भा. हरि. ब सिद्ध. बृ. ८-१२) । ६. तस्य ताव उदारं उरालं उरलं उरालियं वा उदारियं, तित्थगर-गणघरसरीराहं पटुच्च उदारम्, उदारं नाम प्रधानं, उरालं नाम विस्तरालं विशालं ति वा अं अणितं होति, × × × उरलं नाम स्वल्पप्रदेशोपचितत्वात् बृहत्त्वाच्च भिण्डवत्, उरालं नाम मांसास्थिस्नाय्वाद्यवयवबद्धत्वात् । (अनुयो. हरि. बृ. पृ. ८७) । ७. पुद्गलहृद-राशालं एयद्वे संविजाण तम्हि भवं । ओरालियं तमुच्च ओरालियकायजो सो ॥ (प्र. पंचसं. १-६३; गो. जी. २-३०) । ८. उदारैः पुद्गलैर्निवृत्तमौदारिकम् । (अब. नि. हरि. बृ. १४३४, पृ. ७६७) । ९. लुद्धाभवगृहणप्यहृदि जाव तिणि पलिदोवमसंविदपदेसकलाओ ओरालियसरीरं नाम । (अब. पु. १४, पृ. ७८) । १०. उरालैः पुद्गलैर्निवृत्तमौदारिकम्, उदारैर्निवृत्तमौदारिकं च । (पंचसं. स्वो. बृ. १-४, पृ. ३) । ११. उदार स्थूलं प्रयोजनमस्येत्यौदारिकम्, उदारे भवमिति वा । (त. श्लो. २-३६) । १२. उदार बृहदसारं यद् द्रव्यं तन्निवृत्तमौदारिकमसारस्थूलद्रव्यवर्णनासमारब्धमौदारिकप्रायोग्यपुद्गलग्रहणकारणपुद्गलविपाक्यौदारिकशरीरनामकर्मोदयनिष्पन्नम् । (त. भा. सिद्ध. बृ. २-३७) । १३. उदारे यो भवः स्थूले यस्योदारं प्रयोजनम् । औदारिकोऽस्त्यसौ कायः × × × ॥ (पंचसं. अमित. १-१७२) । १४. औदारिकवर्णनापुद्गलैः जातं औदारिकशरीरम् । (कर्मस्तब गो. बृ. ६-१०, पृ. ८४) । १५. उदारं प्रधानं यद्वा उदारं बृहत्प्रधानम्, उदारेभ्योऽौदारिकम् । (जीवाजी. मलय. बृ. १-१३) । १६. उदारं प्रधानम्, प्राधान्यं तीर्थकर-गणघरसरीराध्यधिकृत्य, ततोऽन्यस्यानुत्तरशरीरस्याप्यनन्तगुणहीनत्वात् । यद्वा उदार सातिरेक्योजनसहस्रमानस्यात्, शेषशरीरापेक्षया बृहत्प्रमाणम्, बृहत्ता चास्य वैकियं प्रति भवधारणीयतहजशरीरापेक्षया दृष्टव्या । × × × उदारेभ्य औदारिकम् । (प्रज्ञाप. मलय. बृ. २१-२६७, पृ. ४०६) । १७. स्थूलपुद्गलोपचितमूत्यौदारिकम् । (संग्रहणी के. बृ. २७२) । १८. उदारैः पुद्गलैर्जातं जिनवेहाध-

पेक्षया । उदारं सर्वतस्तुज्जमिति बौदारिकं भवेत् । (लोकप्र. ३-६६) । १९. औदारिकनामकर्मोदयनिमित्तम् औदारिकम्, चक्षुरादिग्रहणोचितं स्थूलं शरीरम् औदारिकशरीरमित्युच्यते । उदारं स्थूलमिति पर्यायः, उदारे भवं वा औदारिकम्, उदारं स्थूलं प्रयोजनमस्येति वा औदारिकम् । (त. वृत्तिभूत. २-३६) । २०. औदारिककायः औदारिकशरीरनामकर्मोदयसम्पादितः औदारिकशरीराकारः स्थूलपुद्गलस्कन्धपरिणामः । (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. २३०) ।

१ उदार का अर्थ स्थूल होता है, उदार में जो होता है अथवा जिसका प्रयोजन उदार या स्थूल है वह औदारिकशरीर कहलाता है । ४ उदार का अर्थ स्थूल द्रव्य होता है, उस स्थूल द्रव्य से जो शरीर निर्मित होता है उसे औदारिक शरीर कहते हैं । अथवा औदारिकशरीरनामकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले शरीर को औदारिकशरीर जानना चाहिए ।

औदारिकशरीरनाम—१. तत्प्रायोग्य- (औदारिकशरीरप्रायोग्य-पुद्गलग्रहणकारण मत् कर्म तदौदारिकशरीरनामोच्यते । (त. भा. हरि. ब सिद्ध. बृ. ८-१२) । २. जस कम्मस्स उदएण आहार-वग्गणाए पोमलक्खया जीवेणोगाहवेसिट्ठिदा रस-कहिर-मांस-मेवडि-मज्ज - सुक्कसहावओरालियसरी-रसरूणेण परिणमंति तस्स ओरालियसरीरमिदि सण्णा । (अब. पु. ३, पृ. ६६) । ३. यस्य कर्मण उदयादौदारिकवर्णनापुद्गलान् गृहीत्वा औदारिकशरीरत्वेन परिणमयति तदौदारिकशरीरनाम । (अब. सारो. बृ. १२६३; कर्मस्तब गो. बृ. ६-१०, पृ. ८४; शनक. मल. हेम. बृ. ३७-३८, पृ. ४८) । ४. यदुदयवशादौदारिकशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय औदारिकशरीररूपतया परिणमयति परिणमय्य च जीवप्रदेशे सट्ठान्योऽन्यागरूपतया सम्बन्धयति तदौदारिकशरीरनाम । (अष्ट कर्म. मलय. बृ. ६; प्रज्ञाप. मलय. बृ. २३-२६३, पृ. ४६८; पंचसं. मलय. बृ. ३-६, पृ. ११४; कर्मप्र. यशो. टी. ६, पृ. ४) । ५. यदुदयादाहारवर्णनागतपुद्गलस्कन्धा जीवगृहीता रस-कहिर-मांसादि-मज्जा-शुक्लवज्जाबौदारिकशरीरं भवति तदौदारिकशरीरनाम । (मूला. बृ. १२-१६३) ।

२ जिस कर्म के उदय से जीव के द्वारा ग्रहण किये गये आहारवर्गणाक्य पुद्गलस्कन्ध जीव के द्वारा ग्रहणाहित क्षेत्र में स्थित होते हुए रस, क्षिर, मांस, मेदा, हृद्दी, मज्जा शरीर शुक्ल स्वभाव वाले भौदारिक शरीररूप से परिणत होते हैं उसे भौदारिकशरीर नामकर्म कहते हैं।

भौदारिकशरीरबन्धननाम—१. जस्त कम्मस्स उदण्ण भोरासियसरीरपरमाणु अण्णोण्णबंघमागच्छति तमोरासियसरीरबंघणं नाम। (अब. पु. ६, वृ. ७०)। २. यस्य कर्मण उदयेनोदारिकशरीरपरमाणुओऽण्येवमन्धमागच्छन्ति तदोदारिकशरीरबन्धनं नाम। (मूला. वृ. १२-१६३)। ३. पूर्वग्रहीतेरौदारिकपुद्गलैः सह शुद्धमाणाणोदारिकपुद्गलानामुत्थितेन येन कर्मणा ब्रज्जात्मात्मा—परस्परसंस्तान् करोति—तदौदारिकबन्धनं नाम। (प्रब. सारो. वृ. १२६३)। ४. यदुदयादौदारिकशरीरपुद्गलानां पूर्वग्रहीतानां शुद्धमाणाणां च परस्परं तैजसाक्षिशरीरपुद्गलैश्च सह सम्बन्धः तदौदारिकबन्धनम्। (वृष्ट कर्म. मलय. वृ. ६, पृ. १२४; प्रभाष. मलय. वृ. २३-२६३, पृ. ४७०)। ५. पूर्वग्रहीतेरौदारिकपुद्गलैः सह परस्परं शुद्धमाणां भौदारिकपुद्गलान् उचितेन येन कर्मणा ब्रज्जाति—आत्माऽण्येन्यस्युपतान् करोति, तद् भौदारिकशरीरबन्धननाम। दाह-पाषाणादीनां जनु-रालाप्रभृतिस्तेष्वप्यनुत्पद्यम्। (कर्मवि. वे. स्वो. वृ. ३४, पृ. ४६)। १ जिस कर्म के उदय से भौदारिकशरीर के परमाणु परस्पर बन्ध को प्राप्त होते हैं, उसे भौदारिकशरीरबन्धन नामकर्म कहते हैं।

भौदारिकशरीरसंघातनाम—१. जस्त कम्मस्स उदण्ण भोरासियमलंघाण शरीरभावमुपगयाण बध्णयामकम्मोदण्ण एगबघणबद्धाणं भट्ठसं होदि तमोरासियसरीरसंघाव नाम। (अब. पु. ६, वृ. ७०)। २. यस्य कर्मण उदयेनोदारिकशरीरस्कन्धानां शरीरभावमुपगतानां बन्धननामकर्मोदयेनैकबन्धनबद्धानामौदार्यं भवति तथोदारिकशरीरसंघातनाम। (मूला. वृ. १२-१६३)। ३. यस्य कर्मण उदयादौदारिकशरीरपरिणतान् पुद्गलानात्मा संघातयति पिण्डयत्यन्योऽन्यसंनिधानेन व्यवस्थापयति तदौदारिकसंघातनाम। (प्रब. सारो. वृ. १२६०; कर्मवि. वे. स्वो. वृ. ३४, पृ. ४७)। ४. यदुदयादौदारिकपुद्गलस्य

यत्र योग्यास्तान् तत्र संघातयति $\times \times \times$ तदौदारिकसंघातनाम। (वृष्ट क. मलय. वृ. ६)। ५. यदुदयवशादौदारिकपुद्गला भौदारिकशरीररचनानुकारिसंघातरूपा जायन्ते तदौदारिकसंघातनाम। (प्रभाष. मलय. वृ. २३-२६३, पृ. ४७०)।

१ शरीरभाव को प्राप्त तथा बन्धननामकर्म के उदय से एकबन्धनबद्ध भौदारिकशरीर के स्कन्ध जिस कर्म के उदय से पुष्टता को प्राप्त होते हैं—छिन्नरहित एकरूप होते हैं, उसे भौदारिकशरीरसंघात नामकर्म कहते हैं।

भौदारिकशरीरांगोपांगनाम—१. जस्त कम्मस्स उदण्ण भोरासियसरीरस्स अंगोवग-पंचंगाणि उत्पज्जन्ति तं भोरासियसरीरसंगोवंगणाम्। (अब. पु. ६, पृ. ७३)। २. यस्य कर्मण उदयेनोदारिकांगोपांगानि भवन्ति तदौदारिकांगोपांगं नाम। (मूला. वृ. १२-१६४)। ३. यदुदयादौदारिकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागेन परिणतिरुपजायते तदौदारिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम। (प्रभाष. मलय. वृ. २३-२६३, पृ. ४६८; पंचसं. मलय. वृ. ३-६; प्रब. सारो. वृ. १२६३; कर्मस्तव. गो. वृ. ६-१०, पृ. ८५; शतक. मल. हे. वृ. ३७-३८, पृ. ४८; कर्मवि. वे. स्वो. वृ. ३६, पृ. ४६; कर्मप्र. यशो. टी. १, प. ४)।

१ जिस कर्म के उदय से भौदारिकशरीररूप से परिणत पुद्गलों के अंग, अर्थात् शरीर अंश अंग उत्पन्न होते हैं उसे भौदारिकशरीराङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं।

भौदारिकौदारिकबन्धननाम—१. पूर्वग्रहीतानामौदारिकपुद्गलानां स्वैरेवोदारिकपुद्गलैश्च शुद्धमार्गैः सह यः सम्बन्धः स भौदारिकौदारिकबन्धनम्। (पंचसं. मलय. वृ. ३-११, पृ. १२१; कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. ७)। २. पूर्वग्रहीतेरौदारिकशरीरपुद्गलैः सह शुद्धमाणाणोदारिकपुद्गलानां बन्धो येन कियते तद् भौदारिकौदारिकबन्धननाम। (कर्मवि. वे. स्वो. वृ. ३६)।

१ पूर्वग्रहीत भौदारिकशरीर के पुद्गलों का शुद्धमार्ग अर्थात् ही भौदारिक पुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है उसे भौदारिकौदारिकबन्धन कहते हैं। यह जिस कर्म के उदय से होता है वह भौदारिकौदारिकबन्धन नामकर्म कहलाता है।

श्रीदारिकौदारिकशरीरनोकर्मबन्ध — श्रीदारिकशरीरनोकर्मप्रदेशानामौदारिकशरीरनोकर्मप्रदेशैरन्योन्यानुप्रवेशादौदारिकौदारिकनोकर्मबन्धः । (त. व. ५, २४, ६) ।

श्रीदारिकशरीर के नोकर्मप्रदेशों का अन्य श्रीदारिकशरीरनोकर्मप्रदेशों के साथ परस्पर में परस्पर अनुप्रवेशक्य जो बन्ध होता है उसे श्रीदारिकौदारिकनोकर्मबन्ध कहते हैं ।

श्रीदार्य—श्रीदार्य कार्ष्ण्यपागाद्विज्येयमाशयमहस्त्वम् । शुद्धदीनादिष्णोचित्यवृत्ति कार्यं तदत्यन्तम् ॥ (षोडशक ४-३, पृ. २५) ।

कृपणता को छोड़कर उदार हृदय से जो पृथ एवं वीज प्रादि जनों के विषय में यथोचित व्यवहार किया जाता है उसे श्रीदार्यगुण कहते हैं ।

श्रीहेशिक—१. देवद-पासंवरथं किंविण्टुं चावि जं तु उह्दिदियं । कदमण्यसमुद्देशं चतुर्विहं वा समासेन ॥ जावदियं उद्देशो पासंखो त्ति य हवे समुद्देशो । समणो त्ति य आदेशो णिग्गंथो त्ति य हवे सनादेशो ॥ (मूला. ६, ६-७) । २. उद्देशं साध्वाद्याश्रित्य दानारम्भस्येत्पुद्देशः, तत्र भवमौद्देशिकम् । (वसव. हरि. वृ. ३-२, पृ. ११६) ।

३. भ्रमणानुद्दिश्य कृतं भक्ततादिकम् उद्देशिगमित्युच्यते । (भ. भा. विजयो. ४२१) । ४. आत्मार्यं यत्पूर्वसिद्धमेव लक्ष्मकवृणंकादि साधुमुद्दिश्य पुनरपि [संत] गुहादिना संस्क्रियते तदुद्देशिकं सामान्येन, विशेषतो विशेषसूत्रादवगम्यमिति । (प्राचा. शी. वृ. २, १, २६६, पृ. ३१७) । ५. उद्देशेन साधुसंकल्पेन निवृत्तमौद्देशिकं प्राधाकर्म । (जीतक. वृ. वि. व्याख्या, पृ. ५३) । ६. देवतार्यं पाखण्डार्यं कृपणार्यं बोद्दिश्य यत्कृतमनं तन्निमित्तं निष्पन्न भोजनं तदौद्देशिकम् । (मूला. वृ. ६-६); सामान्यमुद्दिश्य पाषण्डानुद्दिश्य भ्रमणानुद्दिश्य निरग्न्यानुद्दिश्य यत्कृतमनं तत्त्वतुविधिमौद्देशिकं भवेदन्नमिति । (मूला. वृ. ६-७) । ७. उद्देशः साध्वर्यं संकल्पः, स प्रयोजनमस्य औद्देशिकं यत्पूर्वकृतमोदनमोदक-क्षौदादि तत्साधुद्देशेन दध्यादिना गुहाराकेन च संस्कुर्वतो भवति । (योगशा. स्वो. विव. १-३८) ।

८. उद्देशिकं भ्रमणानुद्दिश्य कृतं भक्ततादिकम् । (भ. भा. मूला. ४२१) । ९. तदौद्देशिकमन्नं यद्देवतादीन-निष्क्रियः । सर्वपाषण्डपार्वस्यसाधून् बोद्दिश्य

साधितम् ॥ (अन. व. ५-७) । १०. यत्पुनर्बुद्धिमा स्वार्थकृतं पश्चाद्यत्पुद्देशेन पृथक् क्रियते तदौद्देशिकम् । (गु. पृ. षट्. स्वो. वृ. २०, पृ. ४८) ।

१. देवता, पाषण्ड—जैनमत से बहुभूत अनुष्ठान करनेवाले शेषधारी साधुजन—श्रीर कृपण(वीन)जन के उद्देश से किया गया भोजन श्रीहेशिक कहलाता है । (१) उद्देश—जो भी भोजन के लिए धार्येण उन सबको बुंगा, इस प्रकार के उद्देश से बनाया गया भोजन । (२) समुद्देश—पाषण्डियों के उद्देश से बनाया गया भोजन । (३) आदेश—प्राजीवक प्रादि अन्य साधुशेषधारी ग्रन्थवा ज्ञानों के उद्देश से बनाया गया भोजन । (४) समावेश—जो भी निरग्न्य भूमि धार्येण उन सबको आहार बुंगा; इस प्रकार के उद्देश से बनाया जाने वाला भोजन । उक्त चार प्रकार का भोजन श्रीहेशिक कहलाता है ।

श्रीनोदर्य—देशो भवमौदर्यं । १. ऊनमवमयुवरं यस्य स ऊनोदरस्तस्य भाव श्रीनोदर्यम् । (योगशा. स्वो. विव. ४-८६) । २. प्रमाणप्राप्तं भग्नहारी द्वात्रिंशत् कवलाः, स चैकादिकवलेकनवचतुविंशतिकवसान् यावत् प्रमाणप्राप्तात् किंचिद्भूतं श्रीनोदर्यम् । (योगशा. स्वो. विव. ४-८६, पृ. ३११) ।

प्रमाणप्राप्त आहार ३२ प्रास है । उसे एक-दो प्रासों से कम करते हुए चौबीस प्रास पर्यन्त ग्रहण करना, यह श्रीनोदर्य बाह्य तप कहलाता है । तत्स्वार्थभाव्य को सिद्धसेन गणी की वृत्ति (६-१६) के अनुसार अथमौदर्य (श्रीनोदर्य) तीन प्रकार का है—१ अल्पाहार अथमौदर्य—आठ प्रास प्रमाण । २ उपार्य अथमौदर्य—बारह प्रास (३-३-४=१२) प्रमाण । ३ किंचिद्भूताथमौदर्य—बत्तीस प्रास जो पुण्य का प्रमाणप्राप्त आहार है उसमें एक प्रास से कम ।

श्रीपक्रमिकी—उपक्रमणमुपक्रमः, स्वयमेव समीपे नवनमुदीरणाकरणेन वा समीपानयनम्, तेन निवृत्ता श्रीपक्रमिकी—स्वयमुदीर्यस्य उदीरणाकरणेन वा उदयमुपनीतस्य वेदनीयकर्मणो विपाकानुभवेन निवृत्ता इत्यर्थः । (प्रज्ञाप. मत्स्य. वृ. ३५-३२६, पृ. ५५७) ।

स्वयं समीप में होना अथवा उदीरणाकरण के द्वारा समीप में ले आना; इसका नाम उपक्रम है । इस उपक्रम से होने वाली वेदना श्रीपक्रमिकी कहलाती

है। अग्निप्राय यह है कि स्वयं उदय को प्राप्त हुए अथवा उदीरणाकरण के द्वारा उदय में लाये गये वेदनीय कर्म के फल के अनुभवन से रचित वेदना को श्रीपक्षमिकी वेदना कहा जाता है।

श्रीपचारिक विनय—देखो उपचारविनय। उपचारणम् उपचारः—अष्टानपूर्वकः क्रियाविशेषलक्षणो व्यवहारः, स प्रयोजनमस्त्योपचारिकः। × × × विनीयते क्षिप्यतेऽनेनाष्टप्रकारं कर्मेति विनयः। × × × विनीयते चास्मिन् सति ज्ञानावरणादिरजोराशिरिति विनयः। (त. भा. सिद्ध. बु. ६-२३)। उपचार का अर्थ है अष्टापूर्वक क्रिया तथा विशिष्ट क्रियारूप व्यवहार तथा जिसके द्वारा या जिसके होने पर आठ प्रकारका कर्म-रज विनष्ट होता है उसे विनय कहते हैं। उपर्युक्त उपचाररूप प्रयोजन जिससे सिद्ध होता है वह श्रीपचारिक कहलाता है।

श्रीपक्षमिक—उपमया निवृत्तमोपमिकम्, उपमाभन्तरेण यत्कालप्रमाणमनतिशयिना गृहीतुं न शक्यते तदोपमिकमिति। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ८४; अम्बूझी. शा. वृ. २-१८)।

उपमा से निमित्त काल को श्रीपक्षमिक काल कहा जाता है। अग्निप्राय यह है कि साधारण बुद्धि वाला प्राणी पल्व व सागर आदि उपमा के बिना जिस कालप्रमाण को नहीं जान सकता है उसे श्रीपक्षमिक काल कहते हैं।

श्रीपक्षम्योपलब्धि—१. पुत्रं पि अणुबलदो विप्यद् अत्थो उ कोइ भोवम्मा। जह गोरेवं गवयो किचि-विसेसेण पग्गिहीणो। (बुहत्क. ५२)। २. × × × अनेवं भावना—‘यथा गोस्तथा गवयः’ इति श्रुत्वा कालान्तरेणाटव्यां पर्यटन् गवयं दृष्ट्वा ‘गवयोऽयम्’ इति यदक्षरजातं लभते, एषा श्रीपक्षम्योपलब्धिः। (बुहत्क. वृ. ५२)।

पूर्वमें कभी नहीं जाना गया कोई पदार्थ उपमाके बल से जो जाना जाता है, इसे श्रीपक्षम्योपलब्धि कहते हैं। जैसे—‘गवय गो के समान होता है’ इस उपमान के आशय से पूर्व में अज्ञात गवय का ‘यह गवय है’। इस प्रकार जो अक्षरज्ञान हुआ करता है, इसी का नाम श्रीपक्षम्योपलब्धि है।

श्रीपक्षमिक अविपाकप्रत्ययिक जीवभावबन्ध—जो जो भोवसमिधो अविवागपचवदो जीवभावबन्धो नाम तस्स इमो पिन्दुदेशो—से उवसतकोहे उवसंत-

भाणे उवसंतमाए उवसंतलोहे उवसंतरागे उवसंतदोसे उवसंतमोहे उवसंतकसायवीयरायछुदुमरपे उवसमिधं सम्मतं उवसमिधं चारितं जे चामण्णे एवमादिथा उवसमिधा भावा सो सव्वो उवसमियो अविवागपचव-इधो जीवभावबन्धो नाम। (च. सं. ५, १, १७—पु. १५, पृ. १५)।

कोष, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष और मोह; इनमें से प्रत्येक के उपशान्त होने पर तथा उपशान्तकषाय-बीतराग-छषय के जो श्रीपक्षमिक सम्यक्त्व व श्रीपक्षमिक चारित्र तथा और भी जो इसी प्रकार के अन्य श्रीपक्षमिक भाव होते हैं उन सबको श्रीपक्षमिक अविपाकप्रत्ययिक जीवभावबन्ध कहते हैं।

श्रीपक्षमिकगुणयोग—भोवसमियसम्मत्त-संजमेहि जीवस्स जोगो भोवसमियगुणजोगो। (धव. पु. १०, पृ. ४३३)।

जीव का जो श्रीपक्षमिक सम्यक्त्व और श्रीपक्षमिक सयम के साथ सम्बन्ध होता है उसे श्रीपक्षमिकगुण-योग कहते हैं।

श्रीपक्षमिक चारित्र—१. क्लृप्तस्य मोहनीयस्योप-क्षमादोषमिकं चारित्रम्। (स. सि. २-३)। २. अष्टाविंशतिमोहविकल्पोपक्षमादोषमिकं चारित्रम्। अनन्तानुबन्धप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान-संज्व-लनविकल्पाः षोडशकषायाः, हास्य-रस्यरति-शोक-भय-अगुप्सा-स्त्री-पुनपुनकवेदभेदाः नवनोकषाया इति एव चारित्रमोहः पंचविंशतिविकल्पः। मिथ्यात्व-सम्यङ्मिथ्यात्व-सम्यक्प्रकृतिभेदात् त्रितयो दर्शन-मोहः। एषामष्टाविंशतिमोहविकल्पानां उपक्षमादोषमिकं चारित्रम्। (त. बा. २, ३, ३)। ३. चारित्रमोहोपक्षमादोषमिकचारित्रम्। (त. इलो. २, ३)। ४. उपक्षमश्रेण्या त्रिपक्षमकेषु उपक्षान्तकषाये चैकविंशतिचारित्रमोहप्रकृतीनामुपक्षमादुत्पन्नसंयमक-पं निर्मलतर सकलचारित्रमोपक्षमिको भावः। (सो. जी. म. प्र. टी. १४)। ५. षोडशकषायाणां नवनोकषायाणां च उपक्षमादोषमिक चारित्रम्। (स. वृत्ति अनु. २-३)।

१ समस्त मोहनीय के उपक्षम से जो चारित्र (यथा-ख्यात) प्राप्नुयुक्त होता है वह श्रीपक्षमिक चारित्र कहलाता है।

श्रीपक्षमिक भाव—१. आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भूतिरूपशमः। यथा कतकादिद्वय-

सम्बन्धादभसि पञ्चस्योपशमः । $\times \times \times$ उपशमः प्रयोजनमस्येत्योपशमिकः । (त. सि. २-१) । २. कर्मणोऽनुद्भूतस्त्ववीर्यवृत्तितोपशमोऽप्यप्रतिपञ्च-
वत् । यथा सकलुषस्याभसः कतकादिद्रव्यसंपर्कत्
प्रधःप्रपितमलद्रव्यस्य तत्कृतकालुष्याभावात् प्रसाद
उपलभ्यते, तथा कर्मणः कारणवशादनुद्भूतस्त्ववीर्यवृ-
त्तिता आत्मनो विशुद्धिरुपशमः । (त. भा. २, १, १);
 $\times \times \times$ स उपशमः प्रयोजनमस्येत्योपशमिकः । (त.
भा. २, १, ६) । ३. उपशमनमुपशमः—कर्मणोऽनु-
दय-क्षयावस्था, स प्रयोजनमस्येति भौपशमिकः, तेन
वा निर्वृत्त इति । (त. भा. हरि. बृ. २-१) ।
४. तेषां (कर्मणां) उपशमादौपशमिकः । (बब. पु.
१, पृ. १६१); कम्पुवसमेण समुद्भूदो भौवसमिप्रो
णाम । (बब. पु. ५, पृ. १८५); कम्पानमुवसमेण
उपपण्णो भावो भौवसमिप्रो । (बब. पु. ५, पृ.
२०५) । ५. तत्रोपशमः पुद्गलानां सम्यक्त्व-चारि-
त्रविधातिना कारणविशेषादनुदयो भस्मपटलाच्छादि-
तानिबत्, तेन निर्वृत्त भौपशमिक परिणामोऽध्य-
वसाय इत्युच्यते । (त. भा. सिद्ध. बृ. १-५);
तत्रोपशमनमुपशमः कर्मणोऽनुदयलक्षणवस्था भस्म-
पटलावच्छिन्नाग्निवत्, य प्रयोजनमस्येत्योपशमिकस्तेन
वा निर्वृत्तः । (त. भा. सिद्ध. बृ. २-१); उपशमे
भवः उपशमेन वा निर्वृत्तः भौपशमिकः । (त. भा.
सिद्ध. बृ. १-०-४) । ६. विपाक-प्रदेशानुभवरूपतया
द्विभेदस्याप्युदयस्य विष्वग्भगमुपशमस्तंन निर्वृत्तः
भौपशमिकः । (उत्तरा. नि. शा. बृ. पृ. ३३) । ७. उप-
शम एवोपशमिकः, स्वाधिक इष्टप्रत्ययः, यद्वा उपश-
मेन निर्वृत्तः भौपशमिकः क्रोधाद्युदयाभावफलरूपो
जीवस्य परमशान्तावस्थालक्षणः परिणामविशेषः ।
(प्रब. सारो. बृ. १२६०) । ८. मोहनीयकर्मोपशम-
स्वभावः शुभः सर्व एवोपशमिको भावः । (आव.
भा. मलय. बृ. १८६, पृ. ५७८); तथा उपशमेन,
कर्मण इति गम्यते, निर्वृत्त भौपशमिकः । (आव.
भा. मलय. बृ. २०२, पृ. २६३) । ९. शान्तदुर्बुत्त-
मोहत्वादौपशमिकमिधे । स्यातां सम्यक्त्व-चारित्रे
भावश्चोपशमात्मकः ॥ (शुण. कभा. ४३, पृ. ३२) ।
१०. कर्मणोऽनुदयरूपः उपशमः कथ्यते । यथा कत-
कादिद्रव्यसम्बन्धात् पञ्चै प्रधोगते सति जलस्य स्व-
च्छता भवति तथा कर्मणोऽनुदये सति जीवस्य स्व-
च्छता भवति । स उपशमः प्रयोजनं यस्य भावस्य सः

भौपशमिकः । (त. वृत्ति श्रुत. २-१) । ११. कर्म-
णां प्रत्यनीकानां पाकस्योपशमात् स्वतः । यो भावः
प्राणिनां स स्यादौपशमिकसंज्ञकः ॥ (पञ्चाध्यायी
२-६७२) ।

१ आत्मा में कारणवश कर्म की शक्ति का अनुद्भूत
होना—सत्ता में रहते हुए भी उदयप्राप्त न होना,
इसका नाम उपशम है । जैसे कतक धादि के
सम्बन्ध से जल में कीचड़ का उपशम—नीचे बैठ
जाना । जिस भाव का प्रयोजन प्रकृत उपशम हो
उसे भौपशमिक भाव कहते हैं ।

भौपशमिक सम्यक्त्व—१. सत्ताओं अनन्तानुबन्ध्या-
दिप्रकृतीनामुपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वम् । (त. सि.
२-३) । २. सत्प्रकृत्युपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वम् ।
(त. भा. २, ३, १) । ३. उवसमसेडिगयस्स होइ
उवसामियं तु सम्मत्तं । जो वा अकयतिपुंजो अज-
वियमिच्छो लहइ सम्मं ॥ (बृहत्क. ११८; आ. प्र.
४५; धर्मसं. ह. ७६८) । ४. तेसि वेव सत्तण्हं पय-
डीणमुवसमेणुपपण्णसम्मत्तमुवसमियं । (बब. पु. १,
पृ. १७२) । ५. दर्शनमोहस्योपशमादौपशमिकसम्य-
क्त्वम् । (त. दलो. २-३) । ६. अनादिमिध्या-
दृष्टेरकृतत्रिपुञ्जस्य यथाप्रवृत्तकरणक्षीणशेषकर्मणो
देशानसागरोपमकोटीकोटीस्थितकस्यापूर्वकरणभ्रन्त-
ग्रन्थेमिध्यात्कानुदयलक्षणमन्तरकरणं विधायानिर्वृत्ति-
करणेन प्रथमं सम्यक्त्वमुत्पादयत भौपशमिकं दर्शनम् ।
 $\times \times \times$ उपशमश्रेण्यां चोपशमिकम् । (आवा. शी.
बृ. ४, १, २१०, पृ. १५६) । ७. सत्तण्हं उव-
समदो उवसमसम्मो $\times \times \times$ । (शो. जी. २६) ।
८. अनन्तानुबन्धितुल्य-मिध्यात्व-सम्यक्त्वमिध्यात्व-
सम्यक्त्वानामुपशमाज्जातं विपरीताभिनिवेशविविक्त-
मात्मस्वरूपलक्षणं तत्त्वार्थश्चानामौपशमिकम् । (अ.
शा. मूला. १-३१) । ९. समाग्निमिध्यात्व-सम्यक्त्व-
मिश्रानन्तानुबन्धितानाम् । शुद्धेऽभसीव पञ्चस्य पुंस्योप-
शमिकं भवेत् । (अन. व. २-५४) । १०. अनन्ता-
नुबन्धितानां दर्शनमोहस्य चोपशमेन निर्वृत्तमौपशमि-
कम् । $\times \times \times$ यो वा उकृतत्रिपुञ्जः—तथाविष-
मन्दपरिणामोपेतत्वादनिर्वृतिसम्यक्त्वमिध्यात्वोभ-
यरूपपुञ्जत्रयोऽक्षपितमिध्यात्व-प्रक्षीणमिध्यात्वः \times
 $\times \times$ लभते प्राप्नोति यत्सम्यक्त्वं तदौपशमिकम् ।
(धर्मसं. मलय. बृ. ७६८) । ११. उदीर्णस्य मिध्या-
त्वस्य क्षये सत्यनुदीर्णस्य च उपशमो विपाक-प्रदेश-

रूपतया द्विविधस्याप्युदयस्य विष्कम्भनम्, तेन निर्बु-
त्तमौपशमिकम् । (धम्मसं. मलय. बु. १-८, पृ. १४;
(बह्वीति मलय. बु. १७, पृ. १३७) । १२. तत्रोपशमो
अस्मच्छन्नाग्निवत् मिथ्यात्वमोहनीयस्यानन्तानुबन्धि-
नां च क्रोधमानमायालोभानामनुदयावस्था । उप-
शमः प्रयोजनं प्रवर्तकमस्य श्रीपशमिकम् । (योगशा.
स्वो. धिव. २-२) । १३. मोहनीयकर्मणः अनन्ता-
नुबन्धिचतुष्टयं मिथ्यात्वत्रयं चेति सप्तानां प्रकृती-
नामुपशमादौपशमिकं सम्मत्त्वम् । (आरा. सा. टी.
४) । १४. अनादिकालसम्भूतमिथ्याकर्मोपशान्तितः ।
स्यादौपशमिकं नाम जीवे सम्मत्त्वमावृत्तः ॥ (गुण.
क्या. १०) । १५. अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालो-
भाश्चत्वारः सम्मत्त्वं मिथ्यात्वं सम्मग्मिथ्यात्वं च
एतासां सप्तानां प्रकृतीनाम् उपशमादौपशमिकं सम्म-
त्त्वम् उत्पद्यते । (त. वृत्ति भूत. २-४) ; तेषां
(सम्मत्त्व-मिथ्यात्व-सम्मग्मिथ्यात्वादीनां) उदया-
भावे अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानां चोदया-
भावे सति प्रथमसम्मत्त्वमौपशमिकं नाम । (त. वृत्ति
भूत. ६-१) । १६. तत्रोपशमिक अस्मच्छन्नाग्नि-
वत् मिथ्यात्वमोहनीयस्यानन्तानुबन्धिनां च क्रो-
धमानमायालोभानामनुदयावस्था (म) उपशमः प्रयो-
जनं प्रवर्तकमस्य श्रीपशमिकम् । (धम्मसं. मान. स्वो.
बु. ३३) । १७. मिथ्यात्वमिथ्यसम्मत्त्वं प्राक्कषाय-
चतुष्टयम् । तेषामुपशमाज्जातं तदौपशमिकं मतम् ॥
(ब. सं. आ. ४-६६) । १८. न विद्यतेऽन्तोऽप्रसानं
यस्य तदनन्तं मिथ्यात्वम्, तदनुबन्धन्तीत्येवंशीला
अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः, मिथ्यात्व-
सम्मग्मिथ्यात्व-सम्मत्त्वप्रकृतिनामदर्शनमोहत्रय चेति
सप्तप्रकृतीनां सर्वोपशमेनौपशमिकसम्मत्त्वम् । (मो.

जी. जी. प्र. टी. २६) ।

१ अनन्तानुबन्धी आदि—मिथ्यात्व, सम्मग्मिथ्यात्व
और सम्मत्त्व प्रकृति वे दर्शनमोहनीय की तीन;
तथा चारित्रमोहनीय की अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान,
माया और लोभ ये चार—इन सात प्रकृतियों
के उपशम से होने वाले सम्मत्त्व को श्रीपशमिक-
सम्मत्त्व कहते हैं ।

श्रीपशमिकी वेदना—तदुवसम-(अटुकम्बुवसम-)
जणिदा उवसमिया । (बव. पु. १०, पृ. ८) ।

आठ कर्मों के उपशम से जो वेदना उत्पन्न होती है,
वह श्रीपशमिकी वेदना कहलाती है ।

श्रीपशमिकी श्रेणी—श्रेणिरपि द्विप्रकारा श्रीपश-
मिकी क्षायिकी च । तत्रोपशमिकी अनन्तानुबन्धिनी
मिथ्यात्वादित्रयं ननुत्तक-स्त्रीवेदी हास्यादिषट्क पुं-
वेदः अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानारणाः संज्वलनाश्चे-
ति । अस्याश्चारम्भकोऽप्रमत्तसंयतो भवति । अपरे
बुधते—अविरत-वेश-प्रमात्ताप्रमत्तविरतानामन्यतमः
प्रारभते । × × × ततः प्रतिसमयमसंख्येयमागमुप-
शमयन् समस्तमनुहर्तेन शमयति । (त. भा. हरि.
च सिद्ध. बु. ६-१८) ।

अनन्तानुबन्धिचतुष्टय, मिथ्यात्वादि तीन, ननुत्तक
व स्त्री वेद, हास्यादि छह, पुंवेद, अप्रत्याख्यानारण,
प्रत्याख्यानारण और संज्वलन; इन कर्मप्रकृतियों
का जहाँ यथाक्रम से उपशम किया जाता है वह
उपशमश्रेणी कहलाती है । इस उपशमश्रेणी का
प्रारम्भक अप्रमत्तसंयत हुआ करता है । अन्य किन्हीं
आचार्यों के मतानुसार अविरत, वेशविरत, प्रमत्त-
विरत और अप्रमत्तविरत; इनमें से कोई भी उसका
प्रारम्भक होता है ।



लक्षणावली में उद्धृत ग्रन्थों की अनुक्रमणिका

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
१	अध्यात्मक.	अध्यात्मकमलमार्तण्ड	कवि राजमल्ल	बीर-सेवा-मन्दिर सत्गावा	ई. १९४४
२	अध्यात्मर.	अध्यात्मरहस्य (योगो- द्दीपगु शास्त्र)	प. आशाधर	बीर सेवा-मन्दिर दिल्ली	ई. १९४७
३	अध्यात्मसा.	अध्यात्मसार	उ. यशोविजय	जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर	वि. १९६५
४	अन. घ.	अनगारधर्मसूत	पं. आशाधर	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई	ई. १९१९
५	अन. घ. स्वी. टी.	अनगारधर्मसूत टीका	"	"	"
६	अनुयो.	अनुयोगद्वारसूत्र	भार्यरक्षित स्वविर	भ्रामभोदप समिति बम्बई	ई. १९२४
७	अनुयो. मल. हेम. वृ.	अनुयोगद्वार टीका	मलभारगच्छीय हेमचन्द्र	"	"
८	अनुयो. जू.	अनुयोगद्वार जूणि	"	शुद्धभवेवजी केसरीमलजी श्वे. संस्था रतलाम	ई. १९२८
९	अनुयो. हरि. वृ.	अनुयोगद्वार टीका	हरिभद्र सूरि	"	"
१०	अने. ज. प.	अनेकान्तजयपताका	"	सेठ भगुभाई तनुज मनसुख- भाई ग्रहमदाबाद	—
११	अमित. आ.	अमितगति आवाकाश (भागवन्दकृत टीका सहित)	आचार्य अमितगति	दि. जैन पुस्तकालय, सूरत	वी. नि. २४८४ वि. २०१५
१२	अष्टक.	अष्टकानि	हरिभद्र सूरि	जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर	वि.सं. १९६४
१३	अभि. रा.	अभिधान राजेन्द्रकोष (साल भाग)	श्री विजय राजेन्द्र सूरीस्वर	श्री जैन वेताम्बर समस्त संघ, रतलाम	ई. १९१३-३४
१४	अष्टश.	अष्टसती	अष्टाकलकदेव	भा. जैन सिद्धान्त प्र. संस्था	ई. १९१४
१५	अष्टस.	अष्टसहस्री	आ. विद्यानन्द	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई	ई. १९१५
१६	अष्टस. वृ.	अष्टसहस्री तात्पर्यविवरण	उ. यशोविजय	जैन ग्रन्थ प्रकाशन सभा, राजनगर	ई. १९३७
१७	आभा. सा., आ. सा.	आचारसार	वीरनन्द सिद्धान्तकवच- वर्ती	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	वि. १९७४

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
१८	भाषाया. सु.	भाषारानुसूच (प्रथम व द्वितीय अत.)	—	विश्वविक संहित्य प्रकाशक समिति, मुम्बई	वि. सं. १९२५
१९	भाषारा. नि.	भाषारानुसूच विमुक्ति	भद्रबाहु भाषार्य	"	"
२०	भाषारा. शी.	भाषारांग कृति	शीलाकाचार्य	"	"
२१	भाषात्रिम.	भाषार्यमुक्ति (क्रियाक.)	—	संघा. प. पन्नालाल जी सोनी	वि. सं. १९२३
२२	भास्मानु.	भास्मानुयासन	गुणमहाचार्य	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	ई. १९६१
२३	भास्मानु. वृ.	भास्मानुयासन कृति	प्रभाचन्द्राचार्य	"	"
२४	भा. मी.	भास्ममीमांसा (देवागम)	समन्तभद्राचार्य	भा. जैन वि. प्रकाशनी संस्था काशी	ई. १९१४
२५	भा. मी. वृ.	भास्ममीमांसा चरकृति	वसुनन्दी सैद्धांतिक, चक्रवर्ती	"	"
२६	भास्मस्व.	भास्मस्वकप	—	भा. वि. जैन ग्रन्थमाला, मुम्बई	वि. १९७९
२७	भा. सा.	भास्मसासार	देवसेनाचार्य	"	वि. १९७३
२८	भा. सा. टी.	भास्मसासार टीका	धीरत्नकीर्तिदेव	"	"
२९	भासाप.	भासापपद्धति	देवसेनाचार्य	"	वि. १९७७
३०	भास. सू.	भासव्यक सूत्र (अध्या. १)	—	दे. ला. जैन पुस्तको. कं. सुरत	वि. १९७६
३१	भास. नि.	भासव्यकमियुक्ति	भा. भद्रबाहु	"	"
३२	भास. भा.	भासव्यक भाष्य	—	"	"
३३	भास. वृ.	भासव्यक कृति	हरिभद्रसूरि	"	"
३४	भास. सु.	भासव्यकसूत्र (अध्या. २, ३, ४)	—	भागमोदसमिति मेहसाना	ई० १९१७
३५	भास. नि.	भासव्यक निरुक्ति	भा. भद्रबाहु	"	"
३६	भास. भा.	भासव्यक भाष्य	—	"	"
३७	भास. वृ.	भासव्यक कृति	हरिभद्रसूरि	"	"
३८	भास. सू.	भासव्यकसूत्र (भा. १, २)	—	भागमोदस समिति मुम्बई	ई. १९२८-१९३२
३९	भास. वृ.	भासव्यकसूत्र कृति	भा. मलवगिरि	"	"
४०	भास. सू.	भासव्यकसूत्र (भा. ३)	—	दे. ला. जैन पुस्तको. कं. सुरत	ई. १९३६

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काँस
४१	भा.क.	भाष्यकसूत्र कृति	भा. मनवागिरि	दे. ला. जैन पुस्तकीकटि सूरत	ई. १९१६
४२	भा.क. हरि. वृ. नि.स. हेम. टि.	भाष्यकसूत्र हरिभद्राविरचित कृति पर टिप्पण	मलवारगण्डर्व हेमचन्द्र सूरि	"	ई. १९२०
४३	इष्टोप.	इष्टोपदेश	पूज्यपादाचार्य	भा. दि. जैन ग्रंथमाला, केम्बई	वि. १९७६
४४	इष्टोप. टी.	इष्टोपदेश टीका	पं. आशाचर	"	"
४५	उत्तरा.	उत्तराध्ययन सूत्र	—	पुण्यनर्य केमचन्द, बलार	—
४६	उत्तर. जे. वृ.	उत्तराध्ययन सुबोधा कृति	नेमिचन्द्राचार्य	"	—
४७	उत्तरा. सू.	उत्तराध्ययन सूत्र (प्रथम विभाग)	—	जैन पुस्तकीकार संस्था, सूरत	ई. १९१६
४८	उत्तरा. नि.	उत्तराध्ययन निबृति	महबाहु	"	"
४९	उत्तरा. लं. वृ.	उत्तराध्ययन नि. कृति	शारिङ्गसूरि	"	"
५०	उपदे. प., उप. प.	उपदेशपद (प्रथम वि.)	हरिमद्र सूरि	श्रीमन्मुक्तिकमल जैन मोहन-माला, बड़ोदा	वि. १९७६
५१	उपदे. प. टी.	" टीका	मुनिचन्द्र सूरि	"	"
५२	उपदे. प., उप. प.	" (द्वितीय वि.)	हरिमद्र सूरि	"	वि. १९२६
५३	उपदे. प. टी.	" टीका	मुनिचन्द्र सूरि	"	"
५४	उपदे. लं.	उपदेशमाला	चमंडात गणी	श्रीचमंडे केशरीमल संस्था, जैन संस्था, रतलाम	ई. १९२५
५५	उपासकरी.	उपासकाध्ययन	लोकेश्वर सूरि	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९१४
५६	श्रीपिपा.	श्रीपिपासित सूत्र	—	श्रीचमंडे केशरीमल संस्था, रतलाम	ई. १९२७
५७	श्रीपनि. वृ.	श्रीपनिबृति (समाध्य)	कृतिकार श्रीपिपा	भा. विमलवान सूरिचर जैन ग्रन्थमाला, सूरत	ई. १९१७
५८	श्रीपपी.	श्रीपपीति के सूत्र	—	भागमोक्ष समिति, केम्बई	ई. १९१६
५९	श्रीपपा. लं. वृ.	श्रीपपातिकसूत्रकृति	कृतिकार अभयदेव	"	"
६०	श्रंगप.	श्रंगपण्णसी	शुभचन्द्राचार्य	भा. दि. जैन ग्रंथमाला समिति, केम्बई	वि. १९७६
६१	कर्मप्र.	कर्मप्रकृति	वाचक शिवसम सूरि	मुक्ताबाई ज्ञानभवनिर उमोई (गुजरात)	ई. १९३७
६२	कर्मप्र. वृ.	कर्मप्रकृति वृति	—	"	"

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
६३	कर्मप्र. मंलय. बु.	कर्मप्रकृति वृत्ति	मलयगिरि	मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डमोई (मुंबरात)	ई. १९३७
६४	कर्मप्र. यशो. टी.	कर्मप्रकृति टीका	उपाध्याय यशोविजय	"	"
६५	कर्मवि. ग.	कर्मविपाक	गणं महर्षि	जैन ध्यात्मानन्द सभा, भाव- नगर	वि. १९७२
६६	कर्मवि. पू. व्या.	कर्मविपाक व्याख्या	—	"	"
६७	कर्मवि. ग. परमा. बु.	कर्मविपाक वृत्ति	परमानन्द सूरि	"	"
६८	कर्मवि. दे.	कर्मविपाक	देवेन्द्रसूरि	"	ई. १९३४
६९	कर्मवि. दे. स्वो. बु.	कर्मविपाक वृत्ति	"	"	"
७०	कर्मस्त.	कर्मस्तव	—	"	वि. १९७२
७१	कर्मस्त. गो. बु.	कर्मस्तव वृत्ति	गोविन्द गणी	"	"
७२	कल्पसू.	कल्पसूत्र	भद्रबाहु	प्राचीन पुस्तकोद्धारक, सूरत	ई. १९३९
७३	कल्पसू. स. बु.	कल्पसूत्र वृत्ति	समयसुन्दर गणी	"	"
७४	कल्पसू. विनय. बु.	"	विनयविजय गणी	ध्यात्मानन्द जैन सभा, भाव- नगर	ई. १९१५
७५	कसाय. पा.	कसायपाहुड सुत्त	गुणधराचार्य	बीर शासन संघ, कलकत्ता	ई. १९५५
७६	कसाय. पा. बु.	कसायपाहुड वृत्तिसूत्र	यतिध्वभाचार्य	"	"
७७	जयध.	कसायपाहुड टीका (जयधवला)	वीरसेनाचार्य और जिनसेनाचार्य	दि. जैन संघ बीरसा-मधुरा	ई. १९४४ आदि
७८	कातिके.	जातिकेयापुत्रेक्षा	स्वामिकुमार	राजचन्द्र जैन सास्त्रमाला, अणत	वि. सं. २०१६
७९	कातिके. टी.	" टीका	शुभचन्द्राचार्य	"	"
८०	क्षत्रजू.	क्षत्रजूडामणि	बादीभसिंह सूरि	टी. एस. कुण्डस्वामी शास्त्री, सुजीर	ई. १९०३
८१	गद्यचि.	गद्यचिन्तामणि	"	"	ई. १९१६
८२	गुण. क.	गुणस्थानक्रमागोह	रत्नशेखर सूरि	भारतवर्तिलक ग्रन्थ सोसायटी, मद्रासदाबाद	वि. सं. १९७५
८३	गु. गु. व.	गुरुगुणषट्त्रिंशिका	"	जैन ध्यात्मानन्द सभा, भावनगर	वि.सं. १९७१
८४	गु. गु. व. स्वो. बु.	गुरुगुणषट्त्रिंशिका वृत्ति	"	"	"

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन कास
८५	गो. जी.	गोम्मतसार जीवकांड	भा. नेमिचन्द्र सि. च.	भा. जैनसिद्धान्त प्रकाशनी संस्था, कलकत्ता	—
८५	गो. जी. मं. प्र. टी.	गो. मन्दप्रबोधिनी टीका (ज्ञानमार्गणा पर्यन्त)	श्रमयचन्द्राचार्य	"	—
८७	गो. जी. जी. प्र. टी.	गो. जीवतत्त्वप्रकाशनी टीका	केशवर्णी [भ. नेमिचंद्र]	"	—
८८	गो. क.	गोम्मतसार कर्मकांड	भा. नेमिचन्द्र सि. च.	"	—
८९	गो. क. जी. प्र. टी.	गो. जीवतत्त्वप्रकाशनी टीका	केशवर्णी [भ. नेमिचंद्र]	"	—
९०	चन्द्र. च.	चन्द्रप्रमचरित्र	भा. वीरनन्दी	निर्णय सागर प्रेस, बंबई	ई. १९१२
९१	चा. सा. पृ.	चारित्रसार	चामुण्डराय	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बंबई	वि. सं. १९७४
९२	जम्बूद्वी.	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र	—	जैन पुस्तकोद्धारकंड, बम्बई	ई. १९२०
९३	जम्बूद्वी. शा. पृ.	जम्बूद्वीप वृत्ति	शान्तिचन्द्र	"	"
९४	जम्बू. च.	जम्बूद्वीपमित्रचरित	पं. राजमल्ल	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई	वि. सं. १९९३
९५	जं. दी. प.	जंबूद्वीप-पण्णति-संगहो	भा. पद्मनन्दि	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	" २०१४
९६	जीतक.	जीतकल्प सूत्र	जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण	जैन साहित्य संशोधक समिति ग्रहमदाबाद	ई. १९३६
९७	जीतक. जू.	जीतकल्पसूत्र वृत्ति	सिद्धसेन सूरि	"	"
९८	जीतक. वि. व्या.	जीतकल्प-विषयपदव्याख्या	श्रीचन्द्र सूरि	"	"
९९	जीम. च.	जीमन्धरचम्पू	कावि हरिचन्द्र	टी. एस. कुप्यूसवामी, तंजोर	ई. १९०५
१००	जीमस.	जीमसमास (मूल)	—	ऋषभदेव केशरीमल इवेता. संस्था, रतलाम	ई. १९२८
१०१	जीवाजी.	जीवाजीवाग्निगम	—	जैन पुस्तकोद्धारकंड, बम्बई	१९१९
१०२	जीवाजी. मलय. वृ.	जीवाजीवाग्निगम वृत्ति	भा. मलयगिरि	"	"
१०३	जैनर.	जैनसर्कपरिभाषा	भा. यशोविजय	जैनवर्म प्रसारक सभा, भावनगर	वि. सं. १९६५
१०४	ज्ञा. सा.	ज्ञानसार	पद्मसिंह मुनि	मा. दि. जैनग्रन्थमाला, बम्बई	" १९७५
१०५	"	ज्ञानसार सूत्र	उ. यशोविजय	भास्वानन्द सभा, भावनगर	वि. सं. १९७१
१०६	ज्ञा. सा. टी.	ज्ञानसार टीका	देवभद्र युनीश	"	"
१०७	ज्ञाना.	ज्ञानार्णव	शुभचन्द्र आचार्य	परमश्रुत प्रभावक मंडल, बंबई	ई. १९२७

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन वर्ष
१०८	अयोतिष्क.	अयोतिष्करण्डक	—	शुद्धमय्य केसरीवल्लभ स्वता. संस्था, रतनाम	ई. १९१४
१०९	अयोतिष्क मलय. वृ.	अयोतिष्करण्डक वृत्ति	मलयगिरि आचार्य	"	"
११०	त. सा.	तत्त्वसार	श्रीदेवसेन	भा. वि. जीम संज्ञाभाष्य, बम्बई	वि. सं. १९७५
१११	तत्त्वानु.	तत्त्वानुशासन	रामसेन मुनि	"	"
११२	त. भा.	तत्त्वार्थमाध्य (भा. १, २)	स्वोपज्ञ (उमास्वामी)	दे. सा. जीम पुस्तकालय, कट, बम्बई	वि. १९८०-८१
११३	त. भा. सि. वृ.	तत्त्वार्थमाध्यवृत्ति	विद्यसेन गणी	"	वि. १९८२
११४	त. भा. हरि. वृ.	"	हरिभाद्र सूरि	—	—
११५	त. बा.	तत्त्वार्थवार्तिक (भा. १, २)	प्रकलंकदेव	भारतीय ज्ञानपीठ कंठिया	ई. १९३४-३७
११६	त. वृत्ति	तत्त्वार्थवृत्ति	श्रुतसागर सूरि	"	ई. १९४८
११७	त. वृत्तो.	तत्त्वार्थवृत्तिकावर्तिक	विद्यानन्द आचार्य	नि. सागर बम्बई	ई. १९१४
११८	त. सा.	तत्त्वार्थसार (प्रथम गु.)	प्रभुतचन्द्र सूरि	"	ई. १९०५
११९	त. सुल्लवो.	त. सुल्लवो वृत्ति	मास्करनन्दी	ग्रोरियन्टल लायब्रेरी मैसूर	ई. १९४४
१२०	त. वृ.	तत्त्वार्थ सूत्र (प्र. गुच्छक)	उमास्वामी	निर्गंज सागर बम्बई	ई. १९०८
१२१	ति. प.	तिलोपपञ्चसी (प्र. भाग)	यतिवृषभाचार्य	जीम संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	ई. १९४५
१२२	"	" (द्वितीय भाग)	"	"	ई. १९४६
१२३	वि. सा.	त्रिलोकसार	नेमिचन्द्र सिद्धाश्रमचक्रव.	भा. वि. जीम संज्ञाभाष्य, बम्बई	वी. वि. २४४४
१२४	वि. सा. टी.	त्रिलोकसार टीका	माधवचन्द्र त्रिवेदीदेव	"	वी. वि. २४४४
१२५	वि. व. हा. व.	त्रिपण्डितशलाकापुरुषचरित्र (पर्व १, छापीलचरित्र)	हेमचन्द्राचार्य	जीमसंज्ञा प्रकाशक संस्था, (भावनगर)	वि. सं. १९४१
"	"	त्रिपण्डितशलाकापुरुषचरित्र (द्वि. पर्व, अजितनाथचरित्र)	"	"	वि. सं. १९४२
"	"	पर्व ३-६ (३-१२ तीर्थचरित्र) का चरित्र)	"	"	वि. सं. १९४२
"	"	पर्व ७ (जीम रामायण नमि- नाथ आदि का चरित्र)	"	"	वि. सं. १९४३
"	"	पर्व ८, ९ (नेमिनाथ आदि का चरित्र)	"	"	वि. सं. १९४४

क्र.सं.	सं.सं.	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन-वर्ष
१२३	वि. व. च. च.	पर्व १० (महाभारत भाषि का चरित्र)	हेमचन्द्राचार्य	जैनधर्म प्रसारक सभा (भावनगर)	वि. सं. १९९५
"	"	परिशिष्ट पर्व (स्वविरा-वली चरित्र)	"	"	वि. सं. १९९५
१२६	दशवै. सू.	दशवैकालिक सूत्र	शय्यम्भव सूरि	जैन पुस्तकोद्धार केंद्र, बम्बई	ई. १९१५
१२७	दशवै. नि.	दशवैकालिक नियुक्ति	मन्नाह	"	"
१२८	दशवै. नि.	दशवैकालिक वृत्ति	हरिभद्र	"	"
१२९	हरि. वृ.	दशवैकालिक वृत्ति	जिनदास गणि महत्तर	जैनमन्दिर केवारीमल बनेता, संस्था रतनाम	ई. १९३३
१३०	दशवै. वृ.	दशवैकालिक वृत्ति	नेमिचन्द्र सैद्धांतिक देव	जैन हितैषी पुस्तकालय बंबई	ई. १९००
१३१	दशवै. वृ.	दशवैकालिक वृत्ति	मोक्षकवि	परमश्रुतप्रकाशक मंडल बंबई	वी. नि. २४३२
१३२	द्वि. नि.	द्वि. नि. (तत्त्वानुवा-नादिसंग्रह में)	अमृतपतिसूरि	मा. दि. जैनग्रन्थालया समिति बम्बई	वि. सं. १९७५
१३३	द्वि. नि. वृ.	द्वि. नि. वृ. (तत्त्वानुवा-नादिसंग्रह में)	कुन्दकुन्दाचार्य	"	वि. सं. १९७७
१३४	धम्म. व. सं.	धम्म. व. सं.	पद्मनन्दी मुनि	"	वि. सं. १९७९
१३५	धर्म. व.	धर्म. व.	अमृतपतिसूरि	जैन हितैषी पुस्तकालय बंबई	ई. १९०१
१३६	ध. वि.	धर्मविशुद्धकरण	हरिभद्र सूरि	आयमोदय समिति, बम्बई	ई. १९२४
१३७	ध. वि. वृ.	धर्मविशुद्धकरण वृत्ति	मुनिचन्द्र सूरि	"	"
१३८	धर्म. व.	धर्मवर्माभ्युदय	कवि हरिचन्द्र	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	ई. १९६६
१३९	धर्म. वृ.	धर्मसंग्रह (दो भागों में)	उपाध्याय मानविजय	जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बंबई	ई. १९१५-१८
१४०	धर्म. वृ.	धर्मसंग्रह टीका	स्वोपन्न (मानविजय)	"	"
१४१	धर्म. वृ.	धर्मसंग्रह टीका	हरिभद्र सूरि	"	ई. १९१६
१४२	धर्म. वृ.	धर्मसंग्रह टीका वृत्ति	मल्लवर्मा	"	"
१४३	धर्म. वृ.	धर्मसंग्रह टीका वृत्ति	पं. मेघादी	डा. सुरजमान बकील, देवनन्द धाव. हरि. वृत्ति में (पृ. ५८२ से ६११ पर)	वी. २४३६
१४४	धर्म. वृ.	धर्मसंग्रह टीका वृत्ति	—	—	—
१४५	नन्दी. वृ.	नन्दी सूत्र	देवनाथक गणी	आयमोदय समिति, बम्बई	ई. १९१७
१४६	नन्दी. वृ.	नन्दी सूत्र वृत्ति	डा. मल्लवर्मा	"	"

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
१४७	नन्दी. ब्र.	नन्दीसूत्र पूर्णि	जिनदास गणि महत्तर	श्रु. के. जैन इन्वे. संस्था, रतलाम	ई. १८२८
१४८	नन्दी. हरि. ब्र.	नन्दीसूत्र वृत्ति	हरिमद्र सूरि	"	"
१४९	नयप्र.	नयप्रदीप	उ. यशोविजय	जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर	वि. १९६५
१५०	नयर.	नयरहस्य प्रकरण	"	"	"
१५१	नयोप.	नयोपदेश	यशोविजय गणी	आत्मवीर सभा, भावनगर	ई. १९१९
१५२	" स्वो. ब्र.	नयोपदेश वृत्ति	"	"	"
१५३	नवत	नवतत्त्वप्रकरण	—	सीमजी भीमसिंह माणकें, बंबई	ई. १९४९
१५४	नंदी ब्र.	नंदीसुख पुणि	जिनदास गणी	प्राकृत ग्रन्थ परिषद्-वाराणसी	ई. १९६६
१५५	नारदाध्ययन	नारदाध्ययन	—	—	—
१५६	नि. सा.	नियमसार	कुन्दकुन्दाचार्य	जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बंबई	ई. १९१६
१५७	नि. सा. ब्र.	नियमसार वृत्ति	पद्मप्रभ मलबारी देव	"	"
१५८	निर्वाणक.	निर्वाणकलिका	पादलिप्ताचार्य	नवमल कन्हैयालाल, रांका बंबई	ई. १९२६
१५९	नीलोत्पल.	नीलोत्पलपुणि	जिनदास गणि महत्तर	—	—
१६०	नीतिवा.	नीतिवाक्यामृत	सोमदेव सूरि	या. दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, बंबई	वि. १९७९
१६१	नीतिवा. टी.	नीतिवाक्यामृत टीका	—	"	"
१६२	नीतिसा.	नीतिसार	अट्टारक इन्द्रनन्दी	"	वि. सं. १९७५
१६३	न्यायकु.	न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भाग	प्रभाचन्द्राचार्य	"	ई. १९३८
१६४	"	" द्वितीय भाग	"	"	ई. १९४१
१६५	न्या. दी., न्यायदी.	न्यायदीपिका	अभिनव धर्मभूषण	वीर सेवा-मन्दिर	ई. १९४५
१६६	न्यायवि.	न्यायविनिश्चय	अष्टाकलंकरेव	सिद्धी जैनग्रन्थमाला, कलकत्ता	ई. १९३९
१६७	न्यायवि. वि.	" विवरण प्र. भा.	बादिराज सूरि	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९४९
१६८	"	" " द्वि. भाग	"	"	ई. १९५४
१६९	न्यायाव.	न्यायावतार	सिद्धसेन विद्याकर	इन्वे. जैन महासभा, बंबई	वि. सं. १९८५
१७०	न्यायाव. ब्र.	न्यायावतार वृत्ति	सिद्धवि गणी	"	"

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
१७१	पठमच.	पठमचरिय	विमलसूरि	जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर	ई. १९१४
१७२	पद्म. पं.	पद्मनन्दि-पंचविंशति	पद्मनन्दी मुनि	जैन संस्कृति संघ, सोलापुर	ई. १९६२
१७३	पद्म. पु.	पद्मपुराण (भा. १, २, ३)	श्रीगविवेणाचार्य	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९४४, ई. १९५६
१७४	परमा.	परमात्मप्रकाश	श्रीयोगीन्द्रदेव	परमश्रुतप्रसाद क मण्डल बम्बई	वि. सं. १९६३
१७५	परमा. वृ.	परमात्मप्रकाश वृत्ति	श्रीब्रह्मदेव	"	"
१७६	परीक्षा.	परीक्षामुख (प्र. र. मा. सहित)	श्रीमानिष्यमन्नाचार्य	बालचन्द्र शास्त्री, बनारस	ई. १९२८
१७७	पंचव.	पंचवस्तुकग्रन्थ	हरिभद्र सूरि	जैन पुस्तकालय संस्था, बम्बई	ई. १९२७
१७८	पंचव. वृ.	पंचवस्तुकवृत्ति	हरिभद्र सूरि	"	"
१७९	प्रा. पंचसं.	पंचमग्रह (प्राकृतवृत्ति, संस्कृतटीका व हि. धनु.)	भस्मात	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९६०
१८०	पंचसं.	पंचसंग्रह	चन्द्रवि महत्तर	आगमोदय समिति, बम्बई	ई. १९२७
१८१	पंचसं. स्तो. वृ.	पंचसंग्रह वृत्ति	"	"	"
१८२	पंचसं.	पंचसंग्रह (प्र. व द्वि. भाग)	"	मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर बम्बई (गुजरात)	ई. १९३८
१८३	पंचसं. स्तो. वृ.	पंचसंग्रह वृत्ति	"	"	"
१८४	पंचसं. मलय वृ.	"	मलयगिरि	"	"
१८५	पंचसं. अमित.	पंचसंग्रह (संस्कृत)	अमितगति	मा. दि. जैनग्रन्थमाला समिति बम्बई	ई. १९२७
१८६	पंचसू.	पंचसूत्र	भस्मान	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	वि. सं. १९७०
१८७	पंचसू. वृ.	पंचसूत्रवृत्ति	हरिभद्र सूरि	"	"
१८८	पंचाध्या.	पंचाध्यायी	कवि राजमल्ल	ग. वर्णी जैनग्रन्थमाला, बाराणसी	वी. नि. २४७६
१८९	पंचाश.	पंचाशकमुल	हरिभद्र सूरि	जैनवेत्ताम्बर संस्था, रतनाम	ई. १९२८
१९०	पंचाश. वृ.	पंचाशक टीका	भयदेव सूरि	—	—
१९१	पंचा. का	पंचास्तिकाय	कुन्दकुन्दाचार्य	परमश्रुत प्रभाकर मण्डल बम्बई	वि. सं. १९७२
१९२	पंचा. का. अमृत. वृ.	पंचास्तिकाय वृत्ति	अमृतचन्द्राचार्य	"	"
१९३	पंचा. का. अमृत. वृ.	पंचास्तिकाय वृत्ति	अमृतचन्द्राचार्य	"	"

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन कास
१६४	पाक्षिकसू.	पाक्षिक सूत्र	—	जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत	ई. १९११
१६५	" वृ.	पाक्षिकसूत्र वृत्ति	यशोदेव	"	"
१६६	पिण्डनि.	पिण्डनियुक्ति	भद्रबाहु	"	ई. १९१८
१६७	पिण्डनि. मलय. वृ.	पिण्डनियुक्तिवृत्ति	मलयगिरि	"	"
१६८	पु. सि.	पुरुषार्थसिद्धयुपाय	प्रभुचन्द्राचार्य	परमश्रुत प्रभावकमण्डल, बम्बई	वी.नि. २४३१
१६९	पु. उपायका.	पूज्यपादउपाकाचार	पूज्यपाद	कल्लव्या भरमण्या निटवे नाइणीकर कोल्हापुर	ई. १९०४
२००	सं. प्रकृति. वि. जयति.	प्रकृतिविच्छेद प्रकरण (स.)	जयतिलक	—	—
२०१	प्रज्ञाप.	प्रज्ञापना	श्यामाचार्य	श्यामभवेय समिति, मेहसाना	ई. १९१८
२०२	प्रज्ञाप. मलय. वृ.	प्रज्ञापना वृत्ति	मलयगिरि	"	"
२०३	प्रत्या. स्व.	प्रत्याख्यानस्वरूप	यशोदेव धाचार्य	शुद्धभवेय केशरीमलजी देवे. संस्था, रतलाम	ई. १९२७
२०४	प्र. न. त.	प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार	बादिदेवसूरि	यशो. इ.र. जैन पाठशाला, काशी	ई. १९०४
२०५	प्रमाणनि.	प्रमाणनिर्णय	बादिराजसूरि	मा. दि. जैन ग्रथमाला, बम्बई	वि. सं. १९७४
२०६	प्रमाणप. पृ.	प्रमाणपरीक्षा	विद्यानन्द स्वामी	जैन सिद्धान्त प्रवर्तिनी संस्था, काशी	ई. १९१४
२०७	प्रमाणमी., प्र. भी.	प्रमाणमीमांसा (स्वोपज्ञ वृत्ति सहित)	श्री हेमचन्द्राचार्य	निबन्ध ग्रथमाला, कलकत्ता	ई. १९३६
२०८	प्रमाणसं.	प्रमाणसंग्रह	शकलकदेव	"	"
२०९	प्रमाल.	प्रमालक्ष	—	मनसुखभाई, भगुभाई, छट्टमदाश	—
२१०	प्र. क. मा.	प्रमेयकमलमार्तण्ड	श्रीप्रभाचन्द्राचार्य	निर्णयसागर मुद्रणालय, बंबई	ई. १९४१
२११	प्र. र. मा.	प्रमेयरत्नमाला	अनन्तवीर्य धाचार्य	बालचन्द्र शास्त्री, बनारस	ई. १९२८
२१२	प्रव. सा.	प्रवचनसार	श्रीकुंदकुंदाचार्य	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बंबई	वि. सं. १९६९
२१३	प्रव. सा. असुत. वृ.	प्रवचनसार वृत्ति	प्रभुतचन्द्र	"	"
२१४	प्रव. सा. जय. वृ.	प्रवचनसार वृत्ति	जयमेन	"	"
२१५	प्रव. सारो.	प्रवचनसारोद्धार	नेमिचन्द्र सूरि	जीवनचन्द साकरचन्द जन्हेरी, बंबई	ई. १९२८
२१६	प्र. सारो. वृ.	प्रवचनसारोद्धार वृत्ति	सिद्धमेनसूरि	"	"

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
२१७	प्रशमर.	प्रशमरतिप्रकरण	उमास्वाति आचार्य	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई	ई. १९५०
२१८	प्रदनव्या.	प्रदनव्याकरणगंग	—	—	—
२१९	प्रदनो. मा.	प्रदनोत्तररत्नमालिका	राजवि भगोचर्य	जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई	ई. १९०८
२२०	प्रायश्चित्त-तु.	प्रायश्चित्ततुलिका	—	—	—
२२१	प्रायश्चित्त वि. वृ.	—	—	—	—
२२२	वन्धस्वा.	वन्धस्वामित्व (तृतीय कर्म ग्रन्थ)	—	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	वि. सं. १९७२
२२३	वन्धस्वा. वृ.	वन्धस्वामित्व वृत्ति	हरिमल्ल सूरि	"	"
२२४	वन्धस्वा.	वन्धस्वामित्व (तृ. क. ग्रन्थ)	देवेन्द्र सूरि	"	ई. १९३४
२२५	वृहत्क.	वृहत्कल्पसूत्र, नियुक्ति व भाष्यसहित (छह भाग)	आचार्य भद्रबाहु	"	ई. १९३३-४२
२२६	वृहत्क. वृ.	वृहत्कल्पसूत्रवृत्ति	मययगिरि-अंभकीति	"	"
२२७	वृहत्स.	वृहत्सर्वज्ञसिद्धि	अनन्तकीर्ति	भा. वि. जैन ग्रंथमाला समिति बम्बई	वि. सं. १९७२
२२८	वृ. द्रव्यस.	वृहद् द्रव्यसंग्रह	नेमिचन्द्रसंज्ञान्तिकदेव	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई	वी.नि. २४३३
२२९	वृ. द्रव्यस. टीका	" टीका	ब्रह्मदेव	"	"
२३०	बोधप्रा.	बोधप्राभूत	कुन्दकुम्हारचार्य	भा.दि. जैन ग्रंथमाला समिति बम्बई	वि. सं. १९७७
२३१	बोधप्रा. टी.	बोधप्राभूत टीका	भ. श्रुतसागर	"	"
२३२	भ. ध्या.	भगवती-भाराधना	शिवकोटि आचार्य	बलात्कार जैन पब्लिकेशन सोसायटी कारंजा	ई. १९३५
२३३	भ. ध्या. विजयो.	भगवती-भाराधनाटीका	अपराजितसूरि	"	"
२३४	भ. ध्या.मूला.	"	पं. आशाधर	"	"
२३५	भगवतीसू.	—	—	—	—
२३६	भगव.	भगवतीसूत्र (व्याख्या- प्रज्ञप्ति) प्रथम खण्ड	—	जिनायम प्र. सभा अहमदाबाद	—
२३७	भगव. वृ.	भगवतीसूत्र टीका	अभयदेव सूरि	"	वि. सं. १९७४
२३८	भगव.	भगवतीसूत्र (व्याख्या- प्रज्ञप्ति तु. खंड ७-१५श.)	—	नरहरिद्वारकावासपारेख महा मात्र पुस्तकालय वि., अहमदाबाद	वि. सं. १९८५
२३९	भगव.	भगवतीसूत्र (व्याख्या- प्रज्ञप्ति च. खं. १६-४१श.)	—	गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैन सा. प्र. ट. अहमदाबाद	वि. सं. १९८८

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
२४०	भगव. दा. वृ.	भगवती सूत्र वृत्ति	ज्ञानशेखर सूरि	—	—
२४१	भावत्रि.	भावत्रिप्रणी	श्रुतमुनि	भा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	वि. सं. १९७८
२४२	प्रा. भावसं. दे.	भावसंग्रह	देवसेनसूरि	"	—
२४३	भावसं. बाम.	, (संस्कृत)	बामदेवसूरि	"	—
२४४	भाषार.	भाषारहस्य	यशोविजयगणी	मनसुखभाई भगुभाई, अहमदाबाद	—
२४५	म. पु.	महापुराण (भा. १, २)	जिनसेनाचार्य	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९५१
२४६	म पु.	महापुराण (उत्तरपुराण)	गुणभद्राचार्य	"	ई० १९५४
२४७	म. पु. पुष्प.	महापुराण प्रथम खण्ड (१-३७ प.)	महाकवि पुष्पदन्त	भा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	ई. १९३७
२४८	"	" द्वि. खण्ड (३८-८० प.)	"	"	ई. १९४०
२४९	"	" तृ. खण्ड (८१-१०२ प.)	"	"	ई. १९४१
२५०	मूला.	मूलाचार (प्र. भा. १-७ अधिकार)	वट्टकेराचार्य	"	वि. सं. १९७७
२५१	मूला. वृ.	मूलाचार वृत्ति	वसुनन्दाचार्य	"	"
२५२	मूला.	मूलाचार (द्वि. भा. ८-१२ अधि.)	वट्टकेराचार्य	"	वि. सं. १९८०
२५३	मूला. वृ.	मूलाचार वृत्ति	वसुनन्दाचार्य	"	"
२५४	मोक्षपं.	मोक्षपञ्चाशिका	—	"	वि. सं. १९७५
२५५	मोक्षप्रा.	मोक्षप्राभूत	कुन्दकुन्दाचार्य	"	वि. सं. १९७७
२५६	मोक्षप्रा. श्रुत. वृ.	मोक्षप्राभूत वृत्ति	भ. श्रुतसागर	"	"
२५७	यतिधर्मवि.	यतिधर्मविशिका	—	—	—
२५८	यशस्ति.	यशस्तिस्तक (पूर्व खण्ड १-३ भाषावाच)	सोमदेवसूरि	निर्णयसागर, जैस, बम्बई	ई. १९०१
२५९	यशस्ति. वृ.	यशस्तिस्तक वृत्ति	अष्टारक श्रुतसागर	"	"
२६०	यशस्ति.	यशस्तिस्तक (उ. खण्ड)	सोमदेवसूरि	"	ई. १९०३
२६१	युक्त्यनु.	युक्त्यनुशासन	समन्तभद्राचार्य	भा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	वि. सं. १९७७
२६२	युक्त्यनु. टी.	युक्त्यनुशासन टीका	विद्यानन्दाचार्य	"	"

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
२६३	योगद्व.	योगदृष्टिसमुच्चय व योग-विन्दु (स्वो. वृत्ति सहित)	हरिमद्र सूरि	जैन ग्रन्थ प्रकाशक संस्था, अहमदाबाद	ई. १९४०
२६४	योगवि.	योगवैशिक	"	आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रसारक मण्डल, भागरा	ई. १९२२
२६५	"	योगवैशिका व्याख्या	यशोविजय गणी	आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रसा- रक मण्डल, भागरा	"
२६६	योगशा.	योगशास्त्र (सू. प्रकाश के १२० इलाक तक)	हेमचन्द्राचार्य	—	—
२६७	योगशा.स्वो. विव.	योगशास्त्रविवरण	"	—	—
२६८	योगशा.	योगशास्त्र	"	जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर	ई. १९२६
२६९	योगशा.स्वो. विव.	योगशास्त्र विवरण	"	"	"
२७०	योगशा.	योगशास्त्र (युजराती आधान्तर सहित)	"	श्रीभीमसिंह माणिक बम्बई	ई. १८९९
२७१	योगिभ.	प्रा० योगिभक्ति (क्रियाक.)	—	प०पन्नालालजी सोनी	वि.स. १९९३
१७२	"	स० योगिभक्ति	—	"	"
२७३	रत्नक.	रत्नकरणश्रावकाचार	आचार्य समन्तभद्र	या. दि. जैन ग्रन्थमाला बंबई	वि. स. १९८२
२७४	रत्ना. टी.	रत्नाकरणश्रावकाचार टीका	प्रभाचन्द्राचार्य	"	"
२७५	रत्नाकरा.	रत्नाकरावतारिका	श्रीरत्नप्रभाचार्य	श्रेष्ठ हृष्यचन्द्र भूषाभाई, बाराणसी	वी.नि. २४३७
२७६	रायप.	रायपसेणी	—	Khadayat Book Depott Ahmedabad	—
२७७	लघीय.	लघीयसूत्रय	अट्टाकलंकदेव	मा. दि. जैनग्रन्थमाला, बंबई	वि.सं. १९७२
२७८	लघीय. अभय. वृ.	लघीयसूत्रय वृत्ति	अभयचन्द्र	"	"
२७९	लघुस.	लघुसर्वशसिद्धि	अनन्तकीर्ति	"	"
२८०	लघिसंसा.	लघिसंसार (क्षपणसार- गमित)	मेमिचन्द्राचार्य सि.च.	परमश्रुत प्रभावक मण्डल बंबई	ई. १९१६
२८१	लघितवि.	लघितविस्तरा	हरिमद्रसूरि	जैन पुस्तकोद्धार संस्था बंबई	ई. १९१५
२८२	लघितवि.मु.	लघितविस्तरार्पणिका	मुनिचन्द्र	"	"
२८३	लाटीसं.	लाटीसंहिता	राजमल्ल कवि	या.दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	वि.सं. १९८४
२८४	लोकप्र.	लोकप्रकाश (भाग १, २, ३)	विनयविजय गणी	व. ला. जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई	ई. १९२६, २८, १९३२
२८५	वरांगम.	वरांगमचरित्र	जटासिंहनुदी	या.दि. जैनग्रन्थमाला समिति, बम्बई	वी.नि. २४६५

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
२८६	वसुधा.	वसुनन्दिश्रावकाचार	वसुनन्दी	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९५२
२८७	वाग्म.	वाग्मटालकार	वाग्मट कवि	निर्णयसगर प्रेस, बम्बई	ई. १८६५
२८८	विपाक.	विपाकसूत्र	—	मुजूर ग्रन्थरत्न-कार्यालय अहमदाबाद	ई. १९३५
२८९	विपाक.	विपाकसूत्र-वृत्ति	अभयदेव सूरि	"	"
२९०	प्रथम. वृ. विवेकवि.	विवेकविलास	जिनदत्तसूरि	परी. बालाभाई रामचन्द्र अहमदाबाद	वि.स. १९५४
२९१	विशेषा.	विशेषावश्यक भाष्य (भा. १, २)	जिनद्वगणि-अमाश्वमण	शुद्धभदेव केशरीमल दवेता. संस्था, रतलाम	ई. १९३६, १९३७
२९२	विशेषा. को. वृ.	विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति	कोटधायं	"	"
२९३	व्यव., व्यव. मलय. वृ.	व्यवहार सूत्र (निर्मुक्ति, भाष्य और मलयगिरि विरचित वृत्ति सहित १-१० उद्देश)	—	—	—
२९४	शतक. दे.	शतक (पंचम कर्मग्रन्थ)	देवेन्द्रसूरि	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	ई. १९४१
२९५	शतक. दे. स्वो. वृ.	शतक वृत्ति	"	"	"
२९६	शतक.	शतकप्रकरण	शिवसार्म सूरि	बीरसमाज, राजनगर	ई. १९२२
२९७	शतक. मल. हे. वृ.	शतकप्रकरण वृत्ति	मलघारीय हेमचन्द्र	"	"
२९८	शतक. चू.	शतकप्रकरण वृत्ति	—	—	—
२९९	शास्त्रवा.	शास्त्रवातसमुच्चय	हरिभद्र सूरि	जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर	वि. सं. १९६४
३००	आद्यगु.	आद्यगुणविवरण	महोपाध्याय जिन- मण्डनगर्भी	आत्मानन्द सभा, भावनगर	वि. सं. १९७०
३०१	आ. प्र. वि.	आद्यप्रकरणविशिका	—	—	—
३०२	आ. प्र.	आवकप्रज्ञप्ति	हरिभद्र सूरि	ज्ञानप्रसारकमण्डल, बम्बई	वि. सं. १९६१
३०३	आ. प्र. टी.	आवकप्रज्ञप्ति टीका	"	"	"
३०४	वृ. श्रुतम.	बृहत् संस्कृत श्रुतमन्त्रि (क्रियाक.)	—	पं. पन्नालालजी सोनी	वि. सं. १९६३
३०५	श्रुत.	श्रुतस्कन्ध	—	—	—
३०६	प. ख.	षट्पञ्चास्य (भा. १-१६)	भीमगवत् पुण्यवन्त भूतबन्धि आचार्य	जैन साहित्योद्धारक फण्ड, अमरावती	ई. १९३६ से १९५८
३०७	घम. पु.	, टीका (प. खं.)	वीरहेनाचार्य	"	"

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
३०८	वडशी.	वडशीति कर्मग्रन्थ	जिनवत्सलमणि	आत्मानन्द सभा, भावनगर	वि.सं. १९७२
३०९	वडशी.हरि.वृ.	वडशीति वृत्ति	हरिभद्र	"	"
३१०	वडशी.मलय.	"	मलयगिरि	"	"
३११	वडशी.वे.	वडशीति (चतुर्थ क.प्र.)	देवेन्द्रसूरि	"	ई. १९३४
३१२	वडशी.दे	वडशीति वृत्ति	"	"	"
३१३	वडशी.वृ.	वडशीति वृत्ति	हरिभद्र सूरि	जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर	वि. १९६४
३१४	वडशी.स.	वडशीति समुच्चय	हरिभद्र सूरि	"	वि.सं. १९६८
३१५	वडशी.क.	वडशीति कर्मग्रन्थ (सप्ततिका)	चन्द्रवि भट्टसर	"	वि.सं. १९६८
३१६	वडशी.क.मलय	" वृत्ति	मलयगिरि	"	"
३१७	वडशी.वृ.	वडशीति वृत्ति	हरिभद्र सूरि	जैन शैक्षणिक संस्था, रत्नपुर	वि. सं. १९६२
३१८	वडशी.वृ.	वडशीति वृत्ति	यशोभद्रसूरि	"	"
३१९	सप्तति.	सप्ततिकाप्रकरण	चन्द्रवि भट्टसर	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	ई. १९४०
३२०	सप्तति.	सप्ततिका प्रकरण वृत्ति	मलयगिरि	"	"
३२१	सप्तति.मलय.वृ.	सप्ततिका प्रकरण वृत्ति	मलयगिरि	"	"
३२२	सप्तति.मलय.वृ.	सप्ततिका प्रकरण वृत्ति	मलयगिरि	"	"
३२३	सप्तति.मलय.वृ.	सप्ततिका प्रकरण वृत्ति	मलयगिरि	"	"
३२४	सप्तति.मलय.वृ.	सप्ततिका प्रकरण वृत्ति	मलयगिरि	"	"
३२५	सप्तति.मलय.वृ.	सप्ततिका प्रकरण वृत्ति	मलयगिरि	"	"
३२६	सप्तति.मलय.वृ.	सप्ततिका प्रकरण वृत्ति	मलयगिरि	"	"
३२७	सप्तति.मलय.वृ.	सप्ततिका प्रकरण वृत्ति	मलयगिरि	"	"
३२८	सप्तति.मलय.वृ.	सप्ततिका प्रकरण वृत्ति	मलयगिरि	"	"
३२९	सप्तति.मलय.वृ.	सप्ततिका प्रकरण वृत्ति	मलयगिरि	"	"
३३०	सप्तति.मलय.वृ.	सप्ततिका प्रकरण वृत्ति	मलयगिरि	"	"

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
३३१	स. सि.	सर्वायसिद्धि	पूज्यपाद	भा. ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९५८
३३२	सग्रहणी.	सग्रहणीसूत्र	श्रीचन्द्र सूरि	जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बंबई	ई. १९१५
३३३	" दे. वृ.	सग्रहणी वृत्ति	देवभद्र मुनीश	"	"
३३४	सा. घ.	सागारधर्ममृत	पं. आशाधर	भा. दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई	वि. स. १९७०
३३५	" स्त्रो.टी.	" टीका	"	"	"
३३६	सिद्धिबि.	सिद्धिबिनिश्चय (भाग १-२)	प्रकलंकदेव	भा. ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९५६
३३७	" वृ.	सिद्धिबिनिश्चय वृत्ति	अनन्तवीर्य	"	"
३३८	सुभा. स	सुभाषितरत्नसंदोह	अमितगत्याचार्य	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई	ई. १९०३
३३९	सूत्रक	सूत्रकनाम्न	—	जी गोखी जी पार्श्वनाथ जैन देरासर पेढो, बम्बई	ई. १९५०-५१
३४०	" नि.	" निर्वृत्ति	मद्रबाहु	"	"
३४१	" श्री. वृ.	" वृत्ति	शीलाकाचार्य	"	"
३४२	सूर्यप्र.	सूर्यप्रज्ञप्ति	—	—	—
३४३	" मलय. वृ.	" मलय वृत्ति	मलयगिरि	—	—
३४४	स्थाना.	स्थानाङ्गसूत्र	—	सेठ माणिकलाल खुन्नीलाल व कान्तिराल खुन्नीलाल ग्रह.बा	ई. १९३७
३४५	" अभय. वृ.	स्थानाङ्गसूत्र वृत्ति	अभयदेव सूरि	"	"
३४६	स्या. म.	स्यादादर्भजरी	हेमचन्द्र सूरि	परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई	ई. १९३५
३४७	स्वा. र. वृ.	स्व. रात्ररत्नाकर प्र. परि.	वादिदेव सूरि	मोतीलाल लाघा जी, पूना	वी. नि. २४५३
३४८	स्वयम्भू. वृ.	स्वयम्भूस्त्रोत्र	समन्तभद्राचार्य	श्रीश्री सत्काराम नेमिचंद, लीलापुर	—
३४९	स्वरूपस.	स्वरूपसंवाचन	प्रकलंक देव	भा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	वि. स. १९७२
३५०	स्वरूपस.	स्वरूपसंवेदन	"	प्रकाशचन्द शीलचन्द जैन सराफ, दिल्ली	—
३५१	ह. पु.	हरिवंशपुराण	जिनसेनाचार्य	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९६२

ग्रन्थकारानुक्रमिका

ग्रन्थकारों में अधिकांश का समय अनिश्चित है। यहां उमका निर्वेस अनुमान के आधार से किया जा रहा है।

संख्या	ग्रन्थकार	समय (विक्रम मवत्)	संख्या	ग्रन्थकार	समय (विक्रम संवत्)
१	अकलंकदेव	८-९वीं शती (ई. ७-१०-७८०)	१९	उमास्वाति	२-३री शती
२	अजितसेन	१४वीं शती	२०	कुन्वकुन्वाचार्य	प्रथम शती
३	अनन्तकीर्ति	१०-११वीं शती	२१	कुमारकवि (भा. प्र.)	१४५० के लगभग
४	अनन्तवीर्य (सिद्धिचि. के टीकाकार)	११वीं शती	२२	कौट्याचार्य	सम्भवतः हरिभद्र के पूर्ववत्
५	अनन्तवीर्य (प्र. र. मा.)	११-१२वीं शती	२३	क्षेमकीर्ति (बृहत्. के टीकाकार)	१३-१४वीं शती (वि. सं. १३३२ में टी. समाप्त)
६	अपराजित सूरि	९वीं शती	२४	गर्वाचि	सम्भवतः १०वीं शती
७	अभयचन्द्र (लबीय. टी.)	१३-१४वीं शती	२५	गुणधराचार्य	प्रथम शती
८	अभयचन्द्र (मन्दप्र.)	१३-१४वीं शती (ई. १२७९ में स्वर्णवास)	२६	गुणभद्र	९-१०वीं शती
९	अभयदेव सूरि (सम्पति. टीका)	१०-११वीं शती	२७	गुणरत्न सूरि	१४वीं शती (१४५९)
१०	अभयदेव सूरि (आयमों के टीकाकार)	१२वीं शती	२८	गोविन्द गणि	१३वीं शती (सम्भवतः १२८८ के पूर्व)
११	अमितमति (प्रथम)	१०-११वीं शती	२९	चक्रदेवराचार्य	११९७ में शतक का माध्य पूर्ण किया)
१२	अमितमति (द्वितीय)	११वीं शती (१०५० में सु. र. सं. और १०७० में ब. प. रबी)	३०	चन्द्रवि महत्तर	सम्भवतः १०वीं शती
१३	अमृतचन्द्र सूरि	१०वीं शती	३१	चामुण्डराय	१०-११वीं शती
१४	अमोघवर्च (प्रथम)	९वीं शती (जिनसेन के समकालीन)	३२	जटासिंहनन्दी	८वीं शती
१५	आर्यरक्षित स्वविर	वि. की २री शती	३३	जयतिलक	१५वीं शती का प्रारम्भ
१६	आश्राधर	१३वीं शती (ई. ११८८ से १२५०)	३४	जयसेन	१२वीं शती
१७	इन्द्रनन्दी (छेदविष्णु)	१०वीं शती	३५	जिनदत्तसूरि (विश्वेकवि.)	१३वीं शती (जयसिंह के राज्य में ई. १२३१)
१८	इन्द्रनन्दी (नीतिसार)	१३वीं शती	३६	जिनदास गणि महत्तर	६५०-७५० (जिनयद्र के पराजित व हरिभद्र के पूर्व)

संख्या	ग्रन्थकार	समय (विक्रम संवत्)	संख्या	ग्रन्थकार	समय (विक्रम संवत्)
३७	जिनमहत्तमस्य (भाष्यकार)	७वीं शती (६५०-६६० के पूर्व)	६०	पद्मनन्दी (पद्म. पञ्च.)	१२वीं शती
३८	जिनमहत्तमस्य सूरि	१५वीं शती (१४६६)	६१	पद्मप्रभ मल्लिकार्जुनी	१३वीं शती (१२४२)
३९	जिनवल्लभ मणि	१२वीं शती	६२	पद्मसिंह मुनि	११वीं शती (१०८६)
४०	जिनसेन (हरि. पु.)	६वीं शती (शक सं. ७०५)	६३	परमानन्द सूरि	१२-१३वीं शती
४१	जिनसेन (महापुराण)	६वीं शती (शक सं. ७०० से ७५०)	६४	पादलिप्त सूरि	अज्ञात
४२	बानसोत्तर	अज्ञात	६५	पुष्पवन्त	प्रथम शती
४३	देवगुप्त सूरि	११वीं शती (१०७३)	६६	पुष्पपाद (उपा.)	१६वीं शती
४४	देवगुप्त (पुष्पपाद)	५-६ शती	६७	प्रभाचन्द्र (प्र. क. मा.)	११वीं शती (ई. ६८० से १०५५)
४५	देवमहत्तम सूरि	१३वीं शती (धीरचन्द्र सूरि के विषय)	६८	प्रभाचन्द्र (र.क. भाषि के टीकाकार)	१३वीं शती (भाषाकार के पूर्व)
४६	देवद्विजणी	५वीं शती (इन्होंने बी. नि. ६८० के आसपास झुलका सकलन किया)	६९	प्रभाचन्द्र (भूतच. टीका)	अज्ञात
४७	देववाचक मणि	छठी शताब्दी (५२३ के पूर्व)	७०	ब्रह्मदेव	११-१२वीं शती
४८	देवसेन	१०वीं शती (६६० में वर्णनसार रचा)	७१	ब्रह्म हेमचन्द्र (भूतस्कन्ध के कर्ता)	सम्भवतः १२-१३वीं शती
४९	देवेन्द्रसूरि	१३-१४वीं शती (वि. सं. १३२७ में स्वर्णवास)	७२	अबबाहु (द्वितीय)	छठी शती (बराहमिहिर के सहोदर)
५०	द्रोणाचार्य	११-१२वीं शती	७३	नास्करनन्दी	१३-१४वीं शती
५१	धर्मदासयणि	६१३ के पूर्व	७४	भूतबलि	प्रथम शती
५२	धर्मसूत्र मणि	१४-१५वीं शती	७५	भोजकवि	१८वीं शती (१७८५ से १८०६)
५३	नेमिचन्द्र सिद्धान्तच. (गोस्मटसार)	११वीं शती	७६	मल्लिकार्जुन हेमचन्द्र	१२वीं शती
५४	नेमिचन्द्र (द्रव्यसं.)	११-१२वीं शती	७७	मलयगिरि	१२-१३वीं शती (हेमचन्द्र सूरि के समकालीन)
५५	नेमिचन्द्र (गो. के टीका-कार)	१६वीं शती	७८	महासेन (स्व. सं.)	६वीं शती
५६	नेमिचन्द्र (उत्तरा. टी.)	१२वीं शती (वि. सं. १२२६ में टीका समाप्त की)	७९	मानिक्यनन्दी	११-१२वीं शती (६६३ से १०५३ ई.)
५७	नेमिचन्द्र (प्रव. सारी.)	१२वीं शती (आम्रदेव के विषय धीर जिनचन्द्र सूरि के प्रसिद्ध)	८०	माधवचन्द्र त्रैविद्य	१३वीं शती
५८	पद्मनन्दी (धर्मरत्ना.)	अज्ञात	८१	मानविजय महोपा.	१८वीं शती
५९	पद्मनन्दी (सम्प्रदायी.)	सम्भवतः ११वीं शती	८२	मुनिचन्द्र (उ.प.टी.)	१२वीं शती (११७४ में उ.प.प. व. ११८१ में धर्मविष्णुकी टीका रची)

संख्या	ग्रन्थकार	समय (विक्रम संवत्)	संख्या	ग्रन्थकार	समय (विक्रम संवत्)
८३	मुनिचन्द्र (ललितवि. पंजिका)	१२वीं शती (११६८ से ११७६)	१०३	विमलसूरि	प्रथम शती
८४	मेधावी	१६वीं शती (१५४१)	१०८	वीरलम्बी (चन्द्रप्र.)	११वीं शती (नेमिचन्द्र सि. च. के मुद्रमाई)
८५	यतिवृषभ	छठी शती	१०९	वीरलम्बी (भा. सा.)	१२-१३वीं शती
८६	यशोदेव (प्रत्या. स्व.)	१२वीं शती	११०	वीरसेन	९वीं शती (सकसं. ७१७ से ७४५)
८७	यशोभद्र (बोड. वृ.)	१२वीं शती (११८२)	१११	शम्भुशिव सूरि	जम्बूद्वीप के बाद प्रभव और तत्पश्चात् शम्भु- शिव हुए
८८	यशोविक्रम	१८वीं शती	११२	शान्तिचन्द्र (ज. डी. प्र.)	१७वीं शती (सं. १६६० में टीका पूरी की)
८९	योगीन्द्रदेव	७वीं शती (ई. छठी श.)	११३	शान्तिसूरि (बादिवेताल)	११वीं शती (वि. सं. १०६६ में स्वर्णनाशी हुए)
९०	रत्नकीर्ति (भार. सा. टी.)	१५वीं शती	११४	शिवसर्ग	सम्भवतः वि. की ५वीं शती
९१	रत्नप्रभ	१२-१३वीं शती	११५	शिवार्च	२-३री शती
९२	रत्नशेखर सूरि	१५वीं शती (१४४७, बज्र- सेन सूरि के शिष्य)	११६	शीलाकाचार्य	६-१०वीं शती
९३	रविद्वेष	७-८वीं शती	११७	शुभचन्द्र (ज्ञाना.)	संभवतः १०-११वीं शती
९४	राजमल	१७वीं शती (१६३५)	११८	शुभचन्द्र (काति. टी.)	१७वीं शती (१५७३ से १६१३)
९५	रामसेन	१०वीं शती	११९	श्यामाचार्य	विक्रम पूर्व प्रथम शती (बी. नि. ३७६ के पश्चात्)
९६	रघुकेर	१-२री शती	१२०	श्रीचन्द्रसूरि	१२-१३वीं शती (जीतक. वि. पदभ्याख्या सं. १२२७ में पूर्ण की)
९७	वर्षमान सूरि (भा. वि.)	११वीं शती (जितेश्वर सूरि के गुरु १०८०)	१२१	श्रुतमुनि (भा. वि.)	१४वीं शती (१३६८)
९८	बसुनन्दी	१२वीं शती	१२२	श्रुतसागर	१६वीं शती
९९	वाग्मट	१२वीं शती	१२३	समन्तभद्र	२री शती
१००	वादिदेव सूरि	१२वीं शती (ई. १०८६ से ११३०)	१२४	संनवास गणि	७वीं शती (जिनभद्र के पूर्ववर्ती)
१०१	वादिराज	११वीं शती	१२५	सिद्धसेन (सम्प्रति.)	६-७वीं शती
१०२	वादीमसिंह	१०-११वीं शती	१२६	सिद्धसेन सूरि (न्यायाच.)	७-८वीं शती
१०३	वामदेव	१५वीं शती का पूर्वार्ध	१२७	सिद्धसेन गणि	९वीं शती
१०४	विद्यानन्द	९वीं शती (ई. ७७५-८४०)	१२८	सिद्धिचि गणि (न्याय. वृ.)	१०-११वीं शती
१०५	विनयविजय गणि	१७वीं शती (१६६६)			
१०६	विमलदास	पञ्चम संवत्सर वैशाख शुक्ल ८, कुरुक्षेत्राचार			

१२६ सिद्धसेन सूरि (जी. क. १२२७ के पूर्व कृति)	१२४ हरिभद्र सूरि	८-११वीं शती
१३० सिद्धसेन सूरि (प्र. सारो. १३वीं शती (१२४८ या टीका) १२७८)	१३५ हरिभद्रसूरि (वच. वृत्ति)	१२वीं शती
१३१ सोमदेव सूरि	१३६ हेमचन्द्रसूरि (कविकाव. स.)	११४५-१२३० (ई. १०८८-११७३)
१३२ स्वामिकुमार	सम्भवतः १०-११वीं शती	
१३३ हरिचन्द	१३७ हेमचन्द्रसूरि (मलभारीय)	१२वीं शती (अभयदेव के पश्चात्)

शताब्दीक्रम के अनुसार ग्रन्थकारानुक्रमिका

प्रथम शताब्दी	सातवीं शताब्दी
१ गुणकुन्द	१६ संघदास गणि
२ गुणचर	२० जिनभद्र समाश्रमण
३ पुण्यवन्त	सातवीं-आठवीं शताब्दी
४ भूतबली	२१ जिनदास गणि महत्तर
५ बटुकेर	आठवीं शताब्दी
६ विमल सूरि	२२ कोटपाचार्य
द्वितीय शताब्दी	२३ जटासिंहमन्दी
७ धार्मरक्षित स्वधिर	२४ रविचण
८ समन्तमद्र	२५ सिद्धसेन (स्यायाव. के कति)
द्वितीय-तृतीय शताब्दी	आठ-नौवीं शताब्दी
९ उमास्वाति	२६ धकशंकदेव
१० शिवार्य	२७ हरिभद्र सूरि
पाँचवीं शताब्दी	नौवीं शताब्दी
११ शिवशर्म	२८ अपराजित सूरि
पाँचवीं-छठी शताब्दी	२९ यमोचनवर्ष (प्रथम)
१२ देवद्वि गणि	३० जिनसेन (ह. पु.)
छठी शताब्दी	३१ जिनसेन (म. पु.)
१३ देवमन्दी (पुण्यपाव)	३२ महादेव (भ. स.)
१४ देवलोचक गणि	३३ विशालन्द
१५ भद्रबाहु (द्वितीय)	३४ मीरसेन
१६ यतिगुप्त	३५ सिद्धसेन गणि
छठी-सातवीं शताब्दी	नौ-दसवीं शताब्दी
१७ योगीन्दुदेव	३६ गुणमद्र
१८ सिद्धसेन विद्वाकर	३७ धीरकाचार्य

बसवीं शताब्दी

- १८ अनन्तकीर्ति
- १९ अमयदेव सूरि (ग्रन्थ-टीकाकार)
- ४० अमितगति (प्रथम)
- ४१ अमृतचन्द्र
- ४२ इन्द्रनन्दी (वेदपिण्ड)
- ४३ गर्गपि
- ४४ अन्नपिमहत्तर
- ४५ देवसेन
- ४६ रामसेन

प्यारहवीं शताब्दी

- ४७ अनन्तवीर्य (सिद्धिपि. टीकाकार)
- ४८ अमितगति (द्वितीय)
- ४९ कामुच्छराय
- ५० देवगुप्त सूरि
- ५१ नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती
- ५२ पद्मनन्दी (ज. बी. प.)
- ५३ पद्मसिंह मुनि
- ५४ प्रभाचन्द्र (प्र. क. मा.)
- ५५ वर्धमान सूरि
- ५६ वादिराज
- ५७ वादीभसिंह
- ५८ कीरनन्दी (चन्द्र.)
- ५९ शान्तिसूरि वाग्बिज्ञेता
- ६० शुभचन्द्र (ज्ञानार्थक)
- ६१ सिद्धिपि गणि
- ६२ सोमदेव सूरि
- ६३ स्वामिभुमार

प्यारह-बारहवीं शताब्दी

- ६४ अनन्तवीर्य (प्र. र. मा.)
- ६५ शोणाचार्य
- ६६ नेमिचन्द्र (ग्रन्थसंग्रह)
- ६७ ब्रह्मदेव
- ६८ माणिक्यनन्दी

बारहवीं शताब्दी

- ६९ अमयदेव सूरि (भाग्य. टी.)
- ७० जयसेन
- ७१ जिनवल्लभ गणि

- ७२ नेमिचन्द्र (उत्तरा. वृ.)
- ७३ नेमिचन्द्र (प्रथ. सारो.)
- ७४ पद्मनन्दी (प. पं. वि.)
- ७५ मुनिचन्द्र
- ७६ यशोदेव (प्रस्था. स्थ.)
- ७७ यशोमय (बोध. वृ.)
- ७८ बसुनन्दी
- ७९ वाग्मट
- ८० वाग्बिज्ञेव सूरि
- ८१ हरिचन्द्र (बसवीति वृ.)
- ८२ हेमचन्द्र मतधारणच्छीय

बारह-तेरहवीं शताब्दी

- ८३ ज्ञानेश्वराचार्य
- ८४ परमानन्द सूरि
- ८५ रत्नप्रभ
- ८६ कीरनन्दी (भाषांतरार)
- ८७ श्रीचन्द्र सूरि
- ८८ हेमचन्द्र सूरि
- ८९ हेमचन्द्र (श्रुतस्क.)

तेरहवीं शताब्दी

- ९० आशाधर
- ९१ इन्द्रनन्दी (नीतिसार)
- ९२ गोविन्द गणि
- ९३ जिनदत्त सूरि (वि. वि.)
- ९४ देवभद्र सूरि
- ९५ पद्मप्रभ मतधारी
- ९६ प्रभाचन्द्र (रत्नक. टी.)
- ९७ भलवगिरि
- ९८ माणिक्यचन्द्र वैजिष्ठ
- ९९ सिद्धसेन सूरि (बीत. वृत्ति)
- १०० सिद्धसेन सूरि (प्र. सारो. वृ.)
- १०१ हरिचन्द्र

तेरह-बीसवीं शताब्दी

- १०२ अमयचन्द्र (लक्ष्मी. टीका)
- १०३ क्षेमकीर्ति
- १०४ देवेन्द्र सूरि
- १०५ शास्करनन्दी

बौद्ध-संज्ञावली

- १०६ अजितसेन
१०७ अमयचन्द्र (गो. सं. प्र. टीका)
१०८ मेमिचन्द्र (गो. वी. त. प्र. टी.)
१०९ अतसुनि (भावविमर्ग)

बौद्ध-संज्ञावली

- ११० धर्मभूषण

बौद्ध-संज्ञावली

- १११ कुमार कवि
११२ गुणरत्न सूरि
११३ जयतिलक
११४ जिनमण्डन सूरि
११५ रत्नकीर्ति
११६ रत्नसेखर
११७ भावदेव

बौद्ध-संज्ञावली

- ११८ भूषणपात्र (उपासकाचार)
११९ मेधावी
१२० अतसागर

बौद्ध-संज्ञावली

- १२१ सुभचन्द्र (काति. टी. व. अंगव.)

बौद्ध-संज्ञावली

- १२२ राजमल
१२३ विनयविजय गणि
१२४ शान्तिचन्द्र

बौद्ध-संज्ञावली

- १२५ भोजकवि
१२६ मानविजय
१२७ यशोविजय उपाध्याय

विशेष १. दशवैकालिक के कर्ता शम्भुसूत्र सूरि नन्दीसूत्र-गत स्वविराजली के अनुसार सुभर्म गणधर की चौथी पीढ़ी में हुए हैं।

२. प्रज्ञापना के कर्ता श्यामाय उक्त स्वविराजली के अनुसार सुभर्म गणधर की तेरहवीं पीढ़ी में हुए हैं।

३. उपदेशमाला के कर्ता धर्मदास गणि के समय का निश्चय नहीं किया जा सका। वे उक्त ग्रन्थ के टीकाकार जयसिंह (वि. सं. ६१३) के निश्चित पूर्ववर्ती हैं।

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

- पुरातन जैनवाच्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुक्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अशंकित, डा० कालीदास नाथ, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-स्रोत के विद्वानोंके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साहज्य, सजिल्द। १५-००
- आत्मपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, प्राप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००
- स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुक्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... २-००
- स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अमोक्षी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुक्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अशंकित सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०
- आध्यात्मकमलमालासंक्षेप : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०
- युक्त्यनुशासन : नस्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की आसाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुक्तारजी के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अशंकित, सजिल्द। ... १-२५
- श्रीपुरपादसंन्यास्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ७५
- शासनचतुष्टयशिक्षा : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ७५
- सभीषीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाधार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुक्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००
- जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अग्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अशंकित, सजिल्द। ... ४-००
- समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : आध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००
- अनित्यभावना : प्रा० पद्मनन्दीकी महत्त्वकी रचना, मुक्तारजी के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित २५
- सत्त्वार्थसूत्र : (ब्रह्मचर्या) —मुक्तारजी के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... २५
- अवयवबेलगोल और दक्षिण के ग्रन्थ जैन तीर्थ। ... १-२५
- महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-बोधिका, महावीर पूजा अत्येक का मूल्य १९
- आध्यात्मरहस्य : पं० आधाधर की सुन्दर कृति मुक्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००
- जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अग्रकाश के १२२ अग्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पद्यपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००
- न्याय-बोधिका : प्रा. प्रमिन्न धर्मसूत्रण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। ७-००
- जैन साहित्य और इतिहास पर विचार प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द ५-००
- कसायपाण्डुमुसुत : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व की गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण भूमिसूत्र लिखे। सम्पादक पं. हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साहज्य के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... १०-००
- Reality : प्रा० पुण्यपाद की सर्वावसिद्धि का ग्रंथी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ९-००
- जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया ५-००

वीर सेवा मन्दिर

पुस्तकालय

काल नं० ०३०-८ वालय

लेखक सिद्धान्त शास्त्री, बालचन्द्र

शीर्षक ११

